THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180624

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP 557 -13-7-71—3,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 TSIS Accession No. P.G H2768

Author तुलसीदास

Title श्रीराम चरितमानस : अयोध्या काण्ड

This book should be returned on or before the date last marked below

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-समेत

श्रीगोस्वामीतुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

'सिद्धान्त-भाष्य'

२

[अयोध्याकाण्ड]

भाष्यकार

श्री श्रीकान्तशरण

समस्त तुलसी साहित्य के विशद व्याख्याकार

श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्याजी

सम्पादक

आचार्य श्रीरामलोचनशरण

मैथिली श्रीरामचरितमानस के रचयिता

पुस्तक-भंडार, पटना-४

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार,
पटना—४



सर्वस्वत्व प्रकाशकाधीन

मुद्रक
श्री हिमालय प्रेस,
पटना—४

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

की

विषय-सूची

अयोध्याकाण्ड (पूर्वार्द्ध)

विषय			*पृष्ठ-संख्या*
मङ्गलाचरण	...	...	६१५
यौवराज्याभिषेक-प्रकरण	...	...	९१८
राज-रस भंग-प्रकरण	...	...	९४५
कद्रू और विनता की कथा	...		९६४
पुरवासि-विरह-विषाद-प्रकरण		...	१०३३
श्रीराम-लक्ष्मण संवाद-प्रकरण		..	१०८६
विपिन-गवन-प्रकरण	...	...	१०९३
श्रीलक्ष्मण-गीता	...	...	११३२
"सुरसरि उतरि निवास प्रयागा"-प्रकरण	...	...	११५६
'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन'-प्रकरण	...	...	११६८
मुख्य 'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन'-प्रसंग	...	...	११९०
चौदह-स्थान-प्रदर्शन	...	...	१२००
'चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण	...	...	१२०६
'सचिवागवन नगर नृप मरना'-प्रकरण	...	...	१२२२

अयोध्याकाण्ड (उत्तरार्द्ध)

'भरतागवन-प्रेम-बहु'-प्रकरण	...	...	१२४५
करि-नृप-क्रिया	...	...	१२६६
'संग पुरबासी । भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी'-प्रकरण		...	१२६७
दुर्वासा और अम्बरीष की कथा	...	...	१३६०
दुर्वासा और पांडव की कथा	...	...	१३६१
नाम-महिमा	...	...	१४१७
'पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये'-प्रकरण (वसिष्ठ-भरत-गोष्ठी)		...	१४२८
चित्रकूट-प्रथम-दरबार	...	..	१४३६
भरत-भाषण (१)	...	...	१४४१
श्रीराम-भाषण	..	...	१४४६
भरत-भाषण (२)	...	...	१४५३

Post Graduate Library
College of Arts & Commerce, O. U.

श्रीजनक-आगमन १५५८
श्रीजनक-भरत-गोष्ठी १५००
चित्रकूट द्वितीय दरबार (सार्वजनिक सभा) १५०७
श्रीरामजी का भाषण १५२४
भरतजी का कूप में तीर्थ-जल-स्थापन और चित्रकूट-भ्रमण ... १५३३
चित्रकूट तृतीय दरबार १५३८
भरतजी का अयोध्या लौटना १५४६
भरतजी के द्वारा पादुका की स्थापना १५५३
'भरत-रहनि'-प्रकरण १५५५

संकेत-सूची

अ०—अयोध्याकाण्ड तथा अध्याय
अर०—अरण्यकाण्ड
उ०—उत्तरकाण्ड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किन्धाकाण्ड
गी०—गीतावली रामायण
गीता - श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै० + तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
बा०—बालकाण्ड
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्
का०, कठ०—कठोपनिषत्
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्
मुं०, मुंड०—मुण्डकोपनिषत्
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी० - श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०— कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकाण्ड
सुं०—सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा
मनु०—मनुस्मृति
महा०—महाभारत
स०—सर्ग
वि०—विशेष
वि० पु०—विष्णुपुराण

नोट—दो० = दोहा, दोहा की संख्या से आगे की चौपाइयाँ भी उसीसे सम्बद्ध मानी गई हैं। कोई-कोई दोहे की संख्या से उससे पूर्व की चौपाइयाँ ही लेते हैं। इस ग्रन्थ में वैसी गणनाएँ भी कहीं-कहीं लिखी गई हैं। छन्द प्रायः जिस दोहे के पूर्व होते हैं; उसीके साथ गिने गये हैं। पर, कहीं-कहीं दोहे के आगे दिये हुए छन्द भी दोहे के साथ ले लिये गये हैं। अतः, उभय प्रकार की गणनाएँ ठीक ही हैं।

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड)

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ॥१॥

शब्दार्थ—शर्वः = शृणाति सर्वाः प्रजाः संहरति प्रलये संहारयति वा भक्तानां पापानि अर्थात् जो प्रलय में सम्पूर्ण प्रजा का संहार करता है, अथवा भक्तों के पापों का संहार करता है। सर्वगतः = व्यापक, जो सबमें प्राप्त हो। निभः = तुल्य, समान वा प्रकाश प्रभा।

अन्वय—(यस्य) वामाङ्के भूधरसुता, मस्तके देवापगा, भाले बालविधुः च गले गरलं विभाति, यस्योरसि व्यालराट् (शोभते), सः अयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वदा सर्वाधिपः शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः माम् सर्वदा पातु ॥

अर्थ—जिनकी बाईं गोद में श्रीपार्वतीजी, मस्तक पर गंगाजी, ललाट पर द्वितीया का चन्द्र और कंठ में हलाहल विष सुशोभित है, जिनके वक्षःस्थल पर नागराज सोहते हैं, ऐसे वे भस्म-विभूषित देवताओं में श्रेष्ठ, सर्वकाल में सबके स्वामी, सबके संहारकर्त्ता एवं भक्तों के पापों के नाशक, व्यापक, कल्याण-स्वरूप चन्द्रमा के समान कान्तिवाले श्रीमहादेवजी मेरी सदा रक्षा करें ॥१॥

विशेष—इस काण्ड में बहुत-से सम-विषम तथा सुख-दुःखकर प्रसंग स्थान-स्थान पर आवेंगे, जो चित्त को अधीर करनेवाले हैं, जैसे राज्याभिषेक की तैयारी, फिर वनवास, राजा की प्रीति और कैकेयी की कठोरता इत्यादि प्रसंगों में अधीरता हो जाने से ग्रन्थकार को उनकी निर्विघ्न समाप्ति कठिन जान पड़ी, इनमें सावधानता के लिये शिवजी की वन्दना साभिप्राय विशेषणों से करते हैं। पर्वत जड़ है, उसकी पुत्री को गोद में रक्खा और देवता चेतन हैं, उनकी नदी (गंगाजी) को सिर पर शोभित किया, ये दोनों सम-विषम हैं। जटा-भस्म आदि से विरक्त-वेष सूचित है, साथ ही दो स्त्रियों को गोद में और सिर पर रक्खा है। 'चन्द्रमा' अमृतमय और 'गरल' मृत्युमय है अर्थात् एक शीतल और दूसरा गर्म है। 'विभूति-भूषण' से त्याग 'सुरवर' से ऐश्वर्य, 'सर्वगत' से अगुणत्व और 'शशिनिभ' से सगुणत्व इत्यादि सभी सम-विषम साज एक साथ धारण किये हुए शिवजी सावधान रहते हैं। ऐसे समर्थ के मंगलाचरण से ग्रन्थकार अपने में वही शक्ति चाहते हैं, जिससे उक्त सम-विषम के वर्णन में सावधानता रहे। 'शंकर' शब्द

विशेष्य है, मुख्य नाम है, इसका अर्थ 'कल्याण करनेवाला' है, अर्थात् कवि निर्विघ्न चरित्र-वर्णन में कल्याण मानते हैं।

'भूधरसुता' और 'देवापगा' दोनों शिवजी की शक्तियाँ हैं, यथा—"देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु ! दास तुलसी त्रास हरणि भवभामिनी।" (वि० १८), यहाँ गंगाजी का प्रसंग है। पार्वतीजी तो प्रसिद्ध ही हैं। इस तरह दोनों शक्तियों के साथ शिवजी की वन्दना की गई है। इस श्लोक के आधे में शिवजी के आश्रितों का और आधे में शिवजी का वर्णन है, वैसे ही मानस के इस काण्ड के आधे में (१५६ दोहों में) श्रीराम-यश और आधे में (१५६ दोहों में) श्रीभरतजी के चरित हैं। इनके बीच के १४ दोहों में 'पितु क्रिया प्रसंग' है। इसके अनुसार ही मंगलाचरण है।

यह श्लोक 'शार्दूल-विक्रीड़ित' छन्द का है। इसके लक्षण बा० मं० श्लोक ६ में देखिये। इससे जनाया कि मेरी रक्षा में शिवजी श्रीरामजी की तरह रक्षा करने में समर्थ हैं। 'वामाङ्के' की जगह 'यस्याङ्के' भी पाठान्तर मिलता है, पर इसमें पुनरुक्ति सम्भावित होती है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुज-श्रीरघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥२॥

अन्वय—या अभिषेकतः प्रसन्नतां न गता, तथा वनवास-दुःखतः न मम्ले (मम्लौ), श्रीरघुनन्दनस्य सा मुखाम्बुजश्रीः सदा मे मञ्जुल मङ्गलप्रदा अस्तु ॥

अर्थ—जो राज्याभिषेक (की प्राप्ति-समाचार) से प्रसन्नता को नहीं प्राप्त हुई, और वनवास के दुःखद समाचार से मलिन भी नहीं हुई, रघुनन्दन श्रीरामजी के मुख-कमल की वही श्री (कान्ति) सदा मेरे लिये सुन्दर मंगल की देनेवाली हो।

विशेष—यह श्लोक 'वंशस्थवृत्त' का है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ अक्षर होते हैं, प्रत्येक चरण में क्रमशः 'ज, त, ज, र' गण रहते हैं। ग्रन्थकार प्रथम मानस के आचार्य-रूप शिवजी की वन्दना करके इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीरामजी का वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण करते हैं।

इस काण्ड में राज्याभिषेक और वनवास दोनों कहे गये हैं, इनमें पुरवासियों ने प्रथम अत्यन्त सुख और पीछे अत्यन्त दुःख माना, पर श्रीरामजी की ही मुख-कान्ति एकरस रही, यथा—"मुखाम्बुज श्रीः···"—मुख को कमल कहा गया। खिलना (फूलना) और सम्पुटित होना कमल के धर्म हैं। वैसे ही राज्य-श्रवण पर इस मुख-कमल को खिलना (प्रसन्न होना) और फिर वनवास-श्रवण पर दुःख से खिन्न होने में सम्पुटित होना स्वाभाविक था, पर नहीं हुआ, यथा—"राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥" (दो० १४८)। अतः, वही ध्यान ग्रन्थकार चाहते हैं कि इन दोनों सम-विषम के वर्णन में मुझे इस ध्यान से दृढ़ता रहेगी और उभय लीलाओं के वर्णन में उदासीनता न होगी, यह सामर्थ्य मुझे यथार्थ-रूप में उन्हींसे मिलेगा।

'मम्ले' की जगह 'मम्लौ' भी पाठान्तर है, 'म्लै' धातु का प्रयोग प्रचलित व्याकरण में प्रायः परस्मैपदी में ही होता है, तदनुसार 'मम्लौ' चाहिये, इसीसे सम्भवतः पाठान्तर किया गया हो। श्रीगोस्वामी जी ऋषि हैं, महर्षि वाल्मीकिजी के अवतार हैं, वाल्मीकिजी के बहुत-से आर्ष प्रयोगों की तरह इनका भी यह आर्ष प्रयोग है। इन्होंने इस धातु को आत्मनेपदी मानकर 'मम्ले' पाठ रक्खा है। अथवा यह भी हो सकता है कि लेखकों की भूल से 'मम्लौ' का 'मम्ले' हो गया हो।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥३॥

अर्थ—नील-कमल के सदृश श्याम और कोमल जिनके अंग हैं, श्रीसीताजी जिनके बायें भाग में विराजमान हैं और दोनों हाथों महान् (प्रभावशाली = अमोघ) बाण और सुन्दर धनुष हैं, उन रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

विशेष—इस श्लोक के प्रथम तीन चरण 'इन्द्रवज्रा' के और चौथा 'उपेन्द्रवज्रा' के हैं। 'इन्द्रवज्रा' के गण 'त, त, ज, ग, ग' तथा 'उपेन्द्रवज्रा' के 'ज, त, ज, ग, ग' होते हैं। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मेल से १६ वृत्त बनते हैं। इसके चारो चरण ११-११ वर्णों के होते हैं। इसमें शक्ति-सहित श्रीरामजी की वन्दना है, इसके प्रत्येक चरण में एक-एक लीला कहकर संक्षेप में सब लीलाएँ कह दी गई हैं।

'नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं'—इसमें बाल-रूप वर्णित है, क्योंकि कोमल अंग जन्म-समय पर रहता है, साथ ही बाल-लीला भी सूचित की।

'सीतासमारोपितवामभागम्'—इसमें श्रीसीताजी का वाम भाग में विराजमान होना कहकर विवाह-लीला भी जना दी। यहाँ तक बालकाण्ड हुआ।

'पाणौ महासायकचारुचापं'—इसमें वीर-रूप के सम्बन्ध की रण-लीला एवं वन-लीला आ गई। अतः, अयोध्याकाण्ड से लंकाकाण्ड तक के चरित्र आ गये।

'नमामि रामं रघुवंशनाथम्'—इसमें रघुवंश की गादी के स्वामित्व परक राज्यासीन-रूप के वर्णन से उत्तरकाण्ड के राज्य लीला के भी चरित आ गये। इस तरह सम्पूर्ण चरितों के साथ ध्यान है।

चारो चरणों में क्रमशः रूप, धाम, लीला और नाम के लक्ष्य भी हैं—'नीलाम्बुजश्यामल'···, यथा—"काम कोटि छवि स्याम सरीरा। नील कंज ···" (बा० दो० १९८)—रूप। 'सीतासमारोपित···', यथा—"राजाराम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥" (दो० २७२)—धाम। 'पाणौ महासायक···'—लीला, क्योंकि इसीसे दुष्ट विनाशन, धर्म संस्थापन और साधु-परित्राण आदि लीला के कार्य हुए हैं। 'नमामि रामं ···'—नाम। चारो चरणों में क्रमशः ज्ञानी, जिज्ञासु, आर्त्त और अर्थार्थी भक्तों के ध्यान भी गर्भित हैं।

इस काण्ड के मंगलाचरण में तीन श्लोक आये हैं, क्योंकि श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ये तीनों साथ-साथ वन को गये और बराबर साथ रहे हैं। आगे श्रीसीताजी का हरण होने पर अरण्य और किष्किन्धा में दो-दो ही श्लोक रहेंगे। फिर सुन्दर से तीन देंगे, क्योंकि उसमें ही श्रीसीताजी का पता लग जायगा। यह ग्रन्थकार का उपासनात्मक परम रहस्य है।

दोहा—**श्रीगुरु-चरन - सरोजरज, निज मन मुकुर सुधारि।**
बरनउँ रघुबर-बिमल-जस, जो दायक फल चारि॥

अर्थ—श्रीगुरुमहाराज के चरण-कमलों की धूलि से अपने मन-रूपी दर्पण को स्वच्छ करके मैं रघुवर के निर्मल यश का वर्णन करता हूँ, जो चारो फलों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का देनेवाला है॥

विशेष—(१) गुरुपद-रज की वन्दना एक बार बालकाण्ड के प्रारम्भ में हो चुकी है, इस काण्ड में फिर की गई, आगे और किसी काण्ड में नहीं है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि इस काण्ड के 'का सुनाई बिधि काह सुनावा।' आदि के सम-विषम चरित-चित्रण पर ग्रन्थकार के हृदय में बार-बार खलबली होती है कि कैसे पार लगेगा, इसलिये प्रथम श्रीशिवजी की वन्दना की, फिर श्रीरामजी की मुखश्री का लक्ष्यकर उनकी सशक्ति वन्दना की, इतने पर आगे के श्रीभरत-चरित की भी अगमता दृष्टिगोचर हुई, यथा—"पुर नर भरत प्रीति मैं गाई।" (अर० दो० १), अर्थात् इस काण्ड के पूर्वार्द्ध में पुरजनों के प्रेम के साथ श्रीरामचरित है और उत्तरार्द्ध में श्रीभरतचरित है। अतः, सम्पूर्ण काण्ड में भागवतचरित का ही प्राधान्य है।

भागवतचरित बड़ा अगम है, यथा—"कविकुल अगम भरत गुनगाथा।" (दो० २३२) और श्रीभरतजी भागवत-शिरोमणि हैं, इनका चरित तो बहुत ही अगम है, यथा—"धरमराज नय ब्रह्म बिचारू।···" से "भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (अ० दो० २८७-८८) तक अर्थात् जब श्रीरामजी भी नहीं वर्णन कर सकते, तब बेचारे ग्रन्थकार का साहस कैसे पड़े? इसलिये फिर से गुरु-चरण-रज की शरण ली, क्योंकि "जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥" (दो० २), इस बल से श्रीभरतचरित-वर्णन का श्रेय भी वश में होगा, अर्थात् प्राप्त होगा। हुआ भी, क्योंकि इस काण्ड की रचना का-सा सौन्दर्य अन्य काण्डों में नहीं आया। अगली अर्द्धाली देखिये, फल-श्रुति देखिये—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम-पद-प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥" अर्थात्—'सीय-राम-पद-प्रेम' साथ ही 'भव-रस-बिरति' भी होगी, वह 'अवसि होइ' अर्थात् अवश्य होगी। ऐसा महत्त्व अन्य काण्डों का नहीं है।

(२) 'रघुबर-बिमल-जस'—यहाँ रघुबर शब्द श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनों के लिये है, क्योंकि उत्तरार्द्ध के चरित का भी मंगलाचरण तो यहाँ ही होना चाहिये। 'रघुबर' शब्द चारो भाइयों का भी वाचक है, यथा—"नामकरन रघुबरन्हि के नृप सुदिन सोधाये।" (गी० बा० ६), इसलिये यह व्यापक शब्द दिया गया है। श्रीरामचरित-वर्णन के लिये एक बार श्रीगुरु-पद-रज से मन को निर्मल कर चुके हैं, यथा—"जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।···तेहि कर बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम चरित भव मोचन॥" (बा० दो० १), अब यहाँ श्रीरामयश की अपेक्षा गुह्यतर श्रीभरतचरित के लिये 'मन मुकुर' को और भी साफ किया कि जिससे उसकी सूझ हो। भागवत-सेवन का फल तत्काल ही प्राप्त होता है। इसलिये तुरत ही उसका फल देना भी कहा गया है—'जो दायक फल चारि'। यह भी भाव है कि यह फल का देना पूर्वार्द्ध के श्रीरामचरित परक है, क्योंकि उत्तरार्द्ध के भरत-चरित को फल-श्रुति अन्त में कही गई है—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम ·"—पूर्वार्द्ध की फल-श्रुति आदि में ही कह दी गई।

'श्री गुरु'—'श्री' विशेषण गुरु-वन्दना के प्रकरण में पूर्व भी दिया था—"श्रीगुरु पद नख" (बा० दो० १), वैसे यहाँ भी है। दूसरे यह 'श्री' का देनेवाला है—'सकल बिभव बस करहीं' ऊपर कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी के जीवन-चरित के अनुसार ग्रन्थकार के इस रामचरित-मानस के प्रथमाचार्य श्रीशिवजी हैं, दूसरे श्रीस्वामी नरहरिदासजी हैं, जैसे बालकाण्ड के प्रारम्भ में प्रथम संस्कृत में शिवजी की गुरु रूप में वन्दना की है—'वन्दे बोधमयं नित्यं...' और फिर 'बंदौं गुरुपद कंज···' से श्रीनरहरिदासजी की, वैसे यहाँ प्रथम श्लोक में श्रीशिवजी की वन्दना है, यथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।" (बा० मं०) और यहाँ भाषा के प्रारम्भ में श्रीस्वामी नरहरिदासजी की वन्दना है।

यौवराज्याभिषेक-प्रकरण

जबते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥१॥

शब्दार्थ—मंगल=बाह्य आनन्द सम्बन्धी उत्सव। मोद=मानसिक आनन्द। बधाये=मंगल गान।

अर्थ—जबसे श्रीरामजी विवाह करके घर आये, तबसे नित्य नये मंगल, आनन्द और उत्सव होते हैं॥१॥

विशेष—(१) मानस के रूपक में कहा गया है—"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना।" (बा० दो० ३६), तदनुसार घाट-रचना में नीचे की सीढ़ी को दबाकर दूसरी सीढ़ी बनाई जाती है। यहाँ प्रथम सोपान के चरित-प्रसंग से मिलाकर दूसरे के चरित्र की रचना, दूसरी सीढ़ी का बनाना है। बालकाण्ड में—"आये ब्याहि राम घर जबते" (दो० ३६०), पर चरित-प्रसंग छूटा था, वहीं से और उन्हीं शब्दों को लेकर यहाँ से

प्रारम्भ किया गया है—"जबते राम ब्याहि घर आये।" अतः, वहाँ से सम्बन्ध मिलाया और बीच का वर्णित-प्रसंग दबाव में चला गया।

इस काण्ड में प्रायः आठ-आठ चौपाइयों पर दोहे दिये गये है (अपवाद रूप में दो-एक स्थल पर सात ही अर्द्धालियों पर दोहे आये हैं) और २४-२४ दोहों के पीछे पचीसवें पर हरगीतिका छन्द और एक सोरठा दिया है। केवल एक स्थल पर अर्थात् १२५ वें दोहे को छोड़कर १२६ वें पर छन्द और सोरठा दोनों दिये गये हैं, वह क्रम-भंग भी साभिप्राय है। वहाँ श्रीरामजी का श्रीवाल्मीकिजी से संवाद है, यथा—"तात बचन पुनि मात हित ··।" यह श्रीरामजी का वचन है और "श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह ···" यह श्रीवाल्मीकिजी का बचन है, केवल इसी छन्द में 'तुलसी' शब्द सम्भोग-सूचक नहीं है, क्योंकि श्रीरामजी के सामने ही वाल्मीकिजी बोल रहे हैं और वे ही यहाँ तुलसी-रूप में भी अवतीर्ण हुए हैं, तब नाम क्यों दें, इस रीति से ग्रन्थकार ने अपनेको महर्षि वाल्मीकि का अवतार जनाया है।

इसी काण्ड में इस तरह परिचय देने का तात्पर्य यह है कि वाल्मीकि-रूप में ग्रन्थकार को भरत-चरित्र-चित्रण में सन्तोष नहीं हुआ था, उसीके लिये आपने दूसरा अवतार लिया और अयोध्याकाण्ड को अति विचित्र और अनूठा बनाया। पूर्वार्द्ध में १५६ दोहों में पुरनर प्रीति प्रधानता के साथ श्रीराम-चरित की प्रधानता है और उत्तरार्द्ध के १५६ दोहों में श्रीभरतजी के प्रीतिमय चरित की प्रधानता है। अतः, अरण्य के आदि में—"पुरनर भरत प्रीति मैं गाई।" कहा गया है। बीच में चौदह दोहों में पितु-क्रिया का वर्णन है। अतः, इस काण्ड को अधिकांश में नियमबद्ध बनाया है। इसे रूपक अलंकार से प्रारम्भ किया। काण्ड भर में बहुत बड़े-बड़े रूपक देते हुए अन्त में रूपक ही पर समाप्त भी किया है। इस रचना में अन्यत्र की अपेक्षा प्रसाद गुण भी बहुत है। पुनः श्रीरामजी का ऐश्वर्य-प्रसंग भी इस रामचरितमानस में स्पष्ट-रूप से बहुत स्थलों पर कहकर ग्रन्थकार ने अपने पूर्वजन्म की त्रुटि को पूरा किया है।

(२) 'नितनव मंगल मोद···'—माताओं ने देवता-पितर की मनौतियाँ मानी थीं। अब मनोरथ की सिद्धि हुई, तो उन देव-पितरों के उद्देश्य में भी तरह-तरह के उत्सव-आनन्द होते हैं, यथा—"देव-पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी की॥" (बा० दो० ३५०)। पुनः श्रीरामजी के ब्याह के उपलक्ष में भी जहाँ-तहाँ नित्य-नये उत्सव-आनन्द होते हैं, यथा—"जहँ तहँ राम ब्याह सब गावा॥" (बा० दो० ३६०), तथा—"मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस यहि भाँति। उमँगी अवध अनंद भरि, अधिक अधिक अधिकाति॥" (बा० दो० ३५९), 'राम ब्याहि घर आये'—श्रीरामजी ने पुरुषार्थ से धनुष तोड़ा, तब इनका और तीनों भाइयों के भी ब्याह हुए। अतः, इन्हें ब्याह करके आना कहा गया, राजा का ब्याह करके लाना नहीं कहा गया, क्योंकि राजा ने विवाह निश्चित नहीं किया था। पूर्व भी कहा है—"आये भवन ब्याहि सब भाई।" (बा० दो० ३५३), इत्यादि।

श्रीपार्वतीजी का प्रश्न था—"राज तजा सो दूषन काही।" (बा० दो० १०९), उसीका उत्तर इस काण्ड भर में है। पुनः भुशुण्डीजी के मूलरामायण के अनुसार इस काण्ड में—"बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा। पुनि नृप बचन राज-रस-भंगा॥"···से—"भरत रहनि···" (उ० दो० ६४), तक के प्रसंग आये हैं। उनमें से पहला—'राम अभिषेक प्रसंग' यह चल रहा है। शेष के उत्तर आगे दिये जायँगे।

भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहि सुख-बारी॥२॥
रिधि-सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध-अंबुधि कहँ आई॥३॥
मनिगन पुर-नर-नारि-सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥४॥
कहि न जाइ कछु नगर-बिभूती। जनु इतनिय बिरंचि-करतूती॥५॥

शब्दार्थ—रिधि (ऋद्धि) = बढ़ती, कुबेर की पत्नी, समृद्धि। सिधि (सिद्धि) = अणिमादि सिद्धियाँ। ऋद्धि-सिद्धि = समृद्धि और सफलता, ये दोनो गणेशजी की दासियाँ भी मानी जाती हैं। 'इतनिय' = इतनी ही। अंबुधि = समुद्र।

अर्थ—चौदहो लोक भारी-भारी पहाड़ हैं, पुण्य-रूपी मेघ जिनपर सुख-रूपी जल की वर्षा करते हैं ॥२॥ ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति रूपी सुहावनी नदियाँ उमड़-उमड़कर श्रीअयोध्या-रूपी सागर को आईं ॥३॥ नगर के सुजाति (उत्तमाचरणवाले) स्त्री-पुरुष (इस सागर के) अच्छी जाति के मणि-गण हैं, जो सब भाँति से पावन अमूल्य और सुन्दर हैं ॥४॥ श्रीअवध नगर का ऐश्वर्य कुछ कहा नहीं जाता, मानों ब्रह्मा की कारीगरी इतनी ही है ॥५॥

विशेष—(१) 'भुवन चारि दस ···'—राजा दशरथ परम सुकृती हैं, इनके पुण्याचरण एवं शासन से सारी प्रजा धर्माचरण में निरत है, इसीसे सर्वत्र सुख पूर्ण है। इनकी राजधानी श्रीअवध तो मानों सुख के रहने का स्थान ही है। इनकी ऋद्धि-सिद्धि निःसीम है। इसे ही रूपक द्वारा ग्रन्थकार विस्तार से कहते हैं। अन्त में भी रूपक पर ही काण्ड की समाप्ति की है—"जिमि जल निघटत सरद प्रकासे।···" बीच में भी बहुत रूपक आये हैं। 'भूधर भारी' भुवन भारी हैं, तदनुसार भूधर भी भारी कहा, पुनः, इन्हीं से नदियों का निकलना और उन्हें सागर तक पहुँचना भी कहेंगे, जो नदियाँ भारी पहाड़ से निकलती हैं, वे ही समुद्र तक जा पाती हैं, यथा—"मानहु रोष तरंगिनि भारी ॥ पाप पहार प्रगट भइ सोई।" से "चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥" (दो० ३३)।

'सुकृत मेघ बरषहिं···'—श्रीचक्रवर्त्तीजी के सुकृत पुण्य मेघ-रूप हैं, वे ही चौदहो भुवनों में सुख बरसा रहे हैं। अतः, इनके सुकृत भारी हैं, यथा—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। है नहि कतहूँ होनेउँ नाहीं ॥" (बा० दो० २९३)।

(२) 'रिधि-सिधि संपति···'—धर्ममय सम्पत्ति सुहाई होती है, अधर्ममय अर्थात् औरों को दुःख देकर बटोरी हुई सम्पत्ति भयावनी होती है, यथा—"पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥" (दो ३३)।

'उमगि अवध अंबुधि···'—मेघ-द्वारा भारी वर्षा होने पर पृथ्वी के गढ़े, तालाब आदि भर जाते हैं, पृथ्वी भी प्रयोजन भर सोख लेती है, शेष जल उमड़कर नदियों-द्वारा बह चलता है और समुद्र में जा पहुँचता है। जैसे समुद्र पूर्ण रहता है, वैसे ही श्रीचक्रवर्त्तीजी को प्रजा से धन-संचय की कामना नहीं रहती। प्रजा प्रयोजन भर धन रखकर शेष सब स्वयं राजा को पहुँचाती है। इसीलिये 'आई' कहा गया है, यथा—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥ जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥ तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये। धरम-सील पहिं जाहिं सुभाये ॥" (बा० दो० २९३)। दोहावली ५१० में कही हुई उत्तम नीति से ही राजा के यहाँ स्वतः कर आता था, इसका 'सिद्धान्त-तिलक' भी देखिये। 'आई' से यह भी भाव है कि समुद्र ही का जल अप्रकट रीति से मेघ बनकर सर्वत्र वृष्टि के रूप में प्राप्त होता है, फिर सबको तृप्त कर नदियों-द्वारा समुद्र ही में आ मिलता है, वैसे ही राजा के ही सुकृत से सर्वत्र सुख हुआ और यहाँ भी आया। 'अवध अंबुधि'—इस रूपक से अवध को निरुपम कहा है, यथा—"गगनं गगनाकारं सागरं सागरोपमा।" तथा—"संत सभा अनुपम अवध ···" (बा० दो० ३९)। यहाँ तक बाहर की आय का रूपक कहा, अब भीतर की बात कहते हैं—

(३) 'मनिगन पुर-नर-नारि ·····'—समुद्र में रत्न होते हैं, उनमें वर्ण-भेद होता है, कितने दूषित भी होते हैं और कितने अमूल्य भी, क्योंकि समुद्र प्राकृत है और अयोध्या दिव्य है, यहाँ के स्त्री-पुरुष सभी श्रेष्ठ आचरणवाले, पवित्र और अमूल्य (प्रतिष्ठित) एवं सभी प्रकार से सुन्दर हैं। अयोध्या में पापाचरण का लेश भी नहीं है। इसीसे सभी 'सुजाति' ही कहे गये हैं। समुद्र में चेतन प्राणी जलचर भी होते

हैं, जड़ मणि ही इससे कहा है कि जलचर समुद्र के जल में आसक्त होते हैं, पर मणि रत्न है, जड़ है, वह अनासक्त रह सदा तेजःपूर्ण रहती है। वैसे अयोध्यावासी यद्यपि 'सब विधि सब पुरलोग सुखारी' हैं तथापि वे उन सुखों से जड़वत् अनासक्त हैं, केवल 'रामचंद मुखचंद निहारी' रहते हैं, इसीसे रत्नवत् विवेक रूपी दीप्ति से दीप्तमान रहते हैं, इस विवेक से श्रीरामजी में ही आसक्त रहते हैं, यथा—"चले साथ सब मंत्र दृढ़ाई। सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥" (दो० ८३), ये मणिवत् अमूल्य भी हैं, यथा—"उमा अवध बासी नर, नारि कृतारथ रूप॥" (उ० दो० ४७)। वाल्मी० १।५-७ में विस्तार से राजा दशरथ की दिव्य राज्य-श्री का वर्णन है। इस ग्रन्थ में भी उ० दो० २८-२३ में दिव्य विभूति का वर्णन है। यहाँ 'सुजाती' के अनुरोध से कोई-कोई कुजाती में कैकेयी, मन्थरा को लेते हैं, यह अनुचित है, क्योंकि इन दोनों में कु ति तो सरस्वती की प्रेरणा से आगे होगी। अभी सब शुद्ध हैं।

(४) 'कहि न जाइ ·····जनु इतनिय ·····'—उपर्युक्त ऋद्धि-सिद्धि आदि को यहाँ 'विभूती' पद से व्यक्त किया। जगत् के रचयिता ब्रह्माजी हैं। अतः, ग्रन्थकार कहते हैं कि बस, अब आगे ब्रह्मा की करतूत नहीं है। श्रीअवधजी की रचना में ही इति-श्री हो गई, इससे अधिक वे कुछ नहीं रच सकते। इस रीति से विभूति को अकथनीय सूचित किया। यह वर्णन प्राकृत दृष्टि से है, यथार्थ में श्रीअवध में त्रिपाद विभूति का ऐश्वर्य है, इसमें ब्रह्मा की गति ही नहीं है, यथा—"देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन दिन दिन देवतनि को बृंद॥ नगर रचना सिखन को विधि तकत बहु बिधि बंद। निपट लागत अगम ज्यों जल-चरन्हि गमन सुछंद॥" (गी० उ० २३)। आगे पुरवासियों की पारमार्थिक वृत्ति का वर्णन करते हैं।

सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद - मुख - चंद निहारी॥६॥
मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ-बेली॥७॥
राम-रूप-गुन - सील - सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥८॥

दोहा—सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस।
आप अछत जुवराज-पद, रामहिं देउ नरेस॥१॥

शब्दार्थ—सखी = बराबरवाली, संगिनी। सहेली = अनुचरी, सेवा भाव के साथ संगिनी। अछत = रहते हुए। जुवराज-पद = भावी राज्याधिकार। देउ = दे दें, (जैसे होउ, करउ = हो, करे होवा है।)

अर्थ—श्रीरामजी का चन्द्र-रूपी मुख देखकर सब पुरवासी सब तरह से सुखी हैं॥६॥ सब माताएँ और उनकी सखियाँ तथा सहेलियाँ (अपनी) मनोरथ-रूपी बेलि (लता) को फली हुई देखकर आनन्दित हैं॥७॥ श्रीरामजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को देख-सुनकर राजा दशरथ उत्कृष्ट आनन्द को प्राप्त होते हैं॥८॥ सबके हृदय में ऐसी अभिलाषा है, सब शंकरजी को मनाकर उनसे प्रार्थना करते हैं कि आपके रहते हुए राजा श्रीरामजी को युवराज-पद दे दें।

विशेष—(१) ऊपर विभूति (भोग्य) को कहकर अब उसके भोक्ताओं का वर्णन करते हैं। 'सब विधि सब·····रामचंद मुख चंद निहारी।'—श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा है, पुरजनों के साथ नगर समुद्र-रूप है। समुद्र नदियों के जल से नहीं बढ़ता, किन्तु पूर्ण चन्द्र देखकर बढ़ता है, वैसे ही नगर के लोग 'रिधि सिधि संपति' से सुखी नहीं हैं, किन्तु श्रीरामजी के मुख-चन्द्र-दर्शन से सुखी हैं, यथा—"राका ससि रघुपति पुर, सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान॥" (उ० दो० ३)। 'मुख-चंद' मात्र से यह सन्देह रहता कि मुख ही भर आह्लाद-कारक है, शेष अंग नहीं,

इसलिये 'राम' नाम के साथ भी 'चंद' शब्द दिया गया है कि आपका सर्वांग आह्लादमय है, क्योंकि 'चदि—आह्लादने' धातु से चन्द्रमा शब्द बनता है, इसीसे चन्द्रमा आह्लाद-रूप है। श्रीराम-मुख-चन्द्र के ये चकोरवत् अनन्य हैं, इनके लोक-परलोक सभी इस मुख-चन्द्र पर निछावर हैं, यथा—"बालक बृद्ध बिहाइ गृह, लगे लोग सब साथ।" (दो० ८४)—इस प्रसंग में बालक और गृह-त्याग में लोक-विभव और वृद्ध-त्याग में परलोक-विभव का त्याग कहा गया है।

ऊपर 'पुर-नर-नारि', 'मनिगन' कहे गये थे, यहाँ वे समुद्र कहे गये—यह विरोध नहीं है, क्योंकि वह रूपक वहीं अर्द्धाली ४ पर ही समाप्त हो गया। यह दूसरा रूपक है।

(२) 'मुदित मातु सब·····'—पुर-लोगों के सुख कहकर अब रनिवास और राजा के सुख कहते हैं। माताओं का मनोरथ है। अतः, स्त्री-वाचक 'बेलि' का रूपक लिखा है। बेलि किसी वृक्ष आदि के आश्रित होकर फूलती-फलती है, वैसे ही माताओं ने मनोरथ-पूर्ति के लिये बहुत-सी मनौतियाँ मानी थीं, यथा—"देव-पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी की॥" (बा० दो० ३५०), प्रथम आगमी-द्वारा माताओं ने सुन रक्खा था—"कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।" (गी० बा० १४), पुनः विश्वामित्रजी ने भी कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान" (बा० दो० २०७), तबसे माताओं के मनोरथ होते थे कि पुत्रों के अनुरूप दुलहिनें मिलें, वे कामनाएँ पूरी हुईं। ये ही मनोरथ-रूपी लता में फल लगना है, यथा—"राम सीय-छबि देखि जुवति जन कहहिं परस्पर बाता। अब जानेउँ साँचहू सुनहु, सखि कोबिद बड़ो बिधाता॥" (गी० बा० १०८), "उमँगि-उमँगि आनंद बिलोकति बधुन्ह सहित सुतचारी।" (गी० बा० १०७)।

बहुओं के सहित पुत्रों को देखना ही फल लगना और मुदित होना राजा के प्रति भी कहा गया है, यथा—"बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये। तनु पुलक पुनि-पुनि देखि अपने सुकृत-सुरतरु-फल नये॥···मुदित अवध पति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि। जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि॥" (बा० दो० ३२५)। राजा को यह आनन्द जनकपुर में ही मिल चुका था, रानियों को यहाँ आने पर मिला। अतः, उनके लिये भी वही 'मुदित' शब्द आया है।

कोई-कोई 'फलित' की जगह 'फुलित' पाठ उत्तम मानते हैं। कारण यह कि बेलों में फूल लगना और वृक्षों में फल लगना उत्तम है। पुनः फलना सन्तान होना है, वह इस काण्ड में नहीं कहा गया। इसका उत्तर यह है कि 'फुलित' शब्द इस ग्रन्थ भर में कहीं नहीं है। राजा के प्रति फल लगना और मुदित होना कहा गया था, वही सुख माताओं का ज्यों-का-त्यों दिखाना है। पुनः त्रेतायुग में कलियुग की तरह तुरन्त ही ब्याह के पीछे सन्तान नहीं होती थी कि उसका मनोरथ अभी से किया जाय। राजा के साठ हजार वर्ष पर और श्रीरामजी आदि के दस हजार वर्ष बीतने पर सन्तानें हुईं थीं। लताओं के फूलने पर थोड़े ही काल पीछे फल लगते हैं। अतः, मनोरथ रूपी बेलों में बहुओं का अनुकूल होना फूलना और सन्तान होना फलना, यह रूपक यहाँ नहीं है। 'फलित' ही पाठ समीचीन है।

(३) 'राम-रूप-गुन-सील···'—रानियों को 'मुदित' और राजा को 'प्रमुदित' कहा गया है, क्योंकि वे रूप एवं जोड़ी की शोभा पर दृष्टि रखती थीं और राजा गुण, शील, स्वभाव को भी देखते थे। रूप, यथा—"रूपसिंधु सब बंधु लखि,···" (बा० दो० ३३५), गुण, यथा—"गुन सागर नागर बर बीरा।" (बा० दो० २४०), 'सील', यथा—सीलसिंधु सुनि गुरु आगवनू।" (दो० २४२), वि० १०० देखिये। 'स्वभाव', यथा—"अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥ (उ० दो० १२३), इत्यादि। प्रथम रूप कह कर तदाश्रित रहनेवाले गुण-शील और स्वभाव का कहा जाना उपयुक्त है। पुनः तीनो भाइयों के रूप आदि से 'मुदित' और श्रीरामजी के रूप आदि पर 'प्रमुदित' होते थे, क्योंकि—

"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १९७), तथा—"सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः। स्वशरीराद्विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः॥ तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः। स्वयम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः॥" (वाल्मी० २।१।५-६), पुनः श्रीरामजी के गुण आदि से इनमें राज्याधिकार की योग्यता देखकर भी 'प्रमुदित' होते हैं, यथा—"राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू।" (दो० १), आगे कहा है। इन रूप आदि का विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।१।६ से २।२।५४ तक है। इसमें राजा दशरथ अपने पुत्र के गुण सुनकर बहुत प्रसन्न हुए थे, यथा—"अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम। यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ॥" (वाल्मी० २।२।२), तथा—"एकमेव हि लोकेऽस्मिन्नात्मनो गुणवत्तरम्। इच्छन्ति पुरुषाः पुत्रं लोके नान्यं कथञ्चन॥" (महा० द्रोण० १९४।५), अर्थात् यह लोक में रीति है कि लोग अपने पुत्र को ही अपने से अधिक गुणवान् देखना चाहते हैं, दूसरों को नहीं।

पुरजनों को 'सुखारी' माताओं को 'मुदित' और राजा को 'प्रमुदित' कहकर उत्तरोत्तर अधिक सुखी होना दिखाया गया है।

(४) 'सबके उर अभिलाष ' '—पहले सबके सुख पृथक्-पृथक् कहे गये, यहाँ इस मनोरथ में सबका एकमत कहते हैं। 'मनाइ महेस' अर्थात् वे महान् ईश (समर्थ) हैं। अतः, सब कुछ कर सकते हैं और थोड़े ही में प्रसन्न भी होते हैं, यथा—"औढर दानि द्रवत पुनि थोरे।" (वि० ७), 'जुबराज पद, रामहिं ' '—श्रीरामजी ही को युवराज पद चाहते हैं, क्योंकि—(क) श्रीरामजी के रूप, गुण आदि की अधिकता का प्रभाव इनपर भी है। (ख) ये सबके प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। (ग) कुल रीति से भी इन्हें ही योग्य समझते हैं—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल-रीति सुहाई॥" (दो० १४), (घ) अभी यदि राजा इन्हें युवराज पद दे देंगे, तो फिर राजा के पीछे ये ही राजा होंगे, इसलिये 'आप अछत' भी कहा है।

'देउ नरेस' अर्थात् राजा के ही देने से मिलेगा, तो फिर महेश से क्यों मनाकर कहते हैं, राजा ही से क्यों नहीं कहते? इसका उत्तर यह है कि प्रजा को राजा से कहने में संकोच है। कहीं ऐसा कहने से राजा यह न समझें कि हमसे प्रजा को दुःख है, तब तो दूसरे को राजा बनाना चाहती है, यथा—"कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति। भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम्॥" (वाल्मी० २।२।२५), यद्यपि राजा का यह वचन परीक्षा के लिये है, तो भी इस तरह का सन्देह होना युक्त है।

यह भी कहा जाता है कि दशरथ महाराज कैकय राज से प्रतिज्ञा-बद्ध थे कि कैकेयी के पुत्र को राज-पद दिया जायगा। प्रजा डरती है कि उसके विरुद्ध श्रीरामजी के लिये कहने से राजा हमें अधर्मी समझेंगे और भरत के प्रतिकूल मानेंगे। इससे सब हृदय में ही शिवजी से मनाते हैं कि वे राजा ही की मति ऐसी कर दें। परन्तु, यह भाव इस ग्रन्थ के विरुद्ध है, इसमें कहीं भी उस प्रतिज्ञा की चर्चा नहीं है। यदि प्रतिज्ञा रहती तो क्या मन्थरा और कैकेयी को इसका पता नहीं था? प्रत्युत इन्हें तो इससे बड़ा आश्रय मिलता, पर इन दोनों ने कहीं उस प्रतिज्ञा की चर्चा नहीं की, केवल दो वरदानों ही पर बल दिखाया है। जब इन दो को नहीं मालूम था तो प्रजा कैसे जान सकती थी? पुनः यदि प्रतिज्ञा की बात सत्य मानी जाय तो जिस राजा दशरथ ने सत्य-रक्षण में श्रीरामजी को भी वन दिया और उसी सम्बन्ध में प्रेम पण पर शरीर त्याग दिया। वे यहाँ सत्य को कैसे लात मारते? फिर साथ ही ब्रह्मर्षि वसिष्ठ आदि अधर्मी सिद्ध होते हैं। अतः, जो सारी रामायण को सत्य मानेगा, वह उस प्रतिज्ञा को नहीं मान सकता। सबसे बड़ी बात यह समझने की है कि यदि राजा छिपाकर स्वार्थ साधते होते तो वे कैकेयी से वरदान देने की प्रतिज्ञा में क्यों फँसते, राम शपथ क्यों करते? वे तो सतर्क रहते। यह भी शास्त्र नियम है कि जो प्रतिज्ञा करके उसका त्याग करता है, उसके पहले के सारे सुकृत नष्ट हो जाते हैं, यथा—"सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ।" (बा० दो० २५१), भाग० ८।१६।३५ में भी प्रतिज्ञा पूर्ण न करने पर नरक की प्राप्ति कही है।

यदि राजा दशरथ भ्रष्टप्रतिज्ञ हो गये थे, तो वे स्वर्ग कैसे गये ? उनके देह-त्याग पर भी उनके सुकृत की सराहना क्यों हुई ? यथा—"पितहु मरन कर मोहि न सोकू ॥ सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाए।" (दो० २१०), किसी भी शास्त्र में इनके भ्रष्टप्रतिज्ञ होने की निन्दा क्यों नहीं हुई ? इत्यादि बातें विचारणीय हैं।

एक समय सब सहित समाजा। राजसभा रघुराज बिराजा ॥१॥
सकल - सुकृत - मूरति नरनाहू। रामसुजस सुनि अतिहि उछाहू। २॥
नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे। लोकप करहिं प्रीति रुखराखे ॥३॥
तिभुवन तीनिकाल जगमाहीं। भूरि - भाग दसरथ-सम नाहीं ॥४॥
मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सब तासू ॥५॥

अर्थ—एक समय रघुकुल के राजा श्रीदशरथ महाराज अपने सम्पूर्ण समाज के साथ राज-सभा में विराजमान थे। १॥ राजा सारे पुण्यों की मूर्त्ति थे, उन्हें श्रीरामजी का सुयश सुनकर अत्यन्त ही उत्साह (आनन्द) होता था ॥२॥ (उस समय) सब राजा इनकी कृपा चाहते रहते थे, लोकपाल-गण इनका रुख रखते हुए प्रीति करते थे, (क्योंकि इनकी सन्तान से उनकी रक्षा होगी, यह वे लोग जानते थे) ॥३॥ तीनो लोकों में, भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल में एवं जगत् भर में दशरथजी के समान कोई और अत्यन्त भाग्यशाली नहीं ॥४॥ मंगल के मूल श्रीरामजी इनके पुत्र थे। अतः, इनके लिये जो कुछ कहा जाय, सब थोड़ा ही है ॥५॥

विशेष—(१) 'एक समय···'—जनकपुर से आने पर बारह वर्ष तक श्रीअवध में बसने के अनन्तर चैत महीने में जिस दिन पुनर्वसु के चन्द्रमा थे और उसके दूसरे दिन पुष्य पड़ता था, यथा—"स्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः। रामो···" (वाल्मी० २।४।२), "चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पित काननः।" वाल्मी० २।३।४), चैत के शुक्लपक्ष में प्रायः सप्तमी से दशमी तक पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र पड़ते हैं। तथा—"उषित्वा द्वादश समा···तत्र त्रयोदशे वर्षे···अभिषेचयितुं रामं···।" (वाल्मी० २।४७।४-५)।

'राज सभा रघुराज···'—इसमें विशेष रघुवंशी थे। सब 'राजते' थे, पर राजा विशेष राजते (सोहते) थे, राजा दशरथ के जीते जी रघुवंशियों की यह अन्तिम सभा है। सभा नित्य हुआ करती थी, पर यह एक समय की बात है, यथा—"प्रात काल सरजू करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन ॥" (उ० दो० २५)।

(२) 'सकल सुकृत मूरति···'—राजा का जीवन सुकृतमय है, यथा—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥" (बा० दो० २९३), "सुकृत अवधि दोउ राज।" (बा० दो० ३०९), और इनमें सब सुकृतों का फल-रूप उत्कृष्ट श्रीराम-स्नेह भी है, यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (बा० दो० २६), इससे ये सुकृत की मूर्त्ति कहे गये। राजा सुकृत-मूर्त्ति होने ही से आनन्दित थे, पर उन्हें श्रीराम-सुयश सुन-सुनकर अत्यन्त आनन्द होता था, क्योंकि यह राजा का अभीष्ट था कि मेरा पुत्र ऐसा यशस्वी हो और इन बातों से उसमें राज्याधिकार की योग्यता हो।

(३) 'नृप सब रहहिं कृपा···'—इससे राजा की धाक लोकपालों पर भी दिखाई गई कि वे इनका रुख रखकर प्रीति करते थे, अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी राजा से दबते रहते थे। प्रीति बराबर में ही होती है। 'रुख राखे'—से राजा के प्रभाव से लोकपालों की अधीनता जनाई, यथा—"सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥" (दो० २४), अर्थात् रुख रखकर प्रीति स्वामी में होती है। 'नृप

सब' से भूलोक और 'लोकप करहि···' से स्वर्ग लोक की अधीनता कही, पातालवासियों की नहीं कही, क्योंकि वे तामसी स्वभाव के हैं। अतः, वे न तो कृपा के अधिकारी हैं और न प्रीति के।

शंका—रावण ने सारे संसार को जीत रक्खा था, यथा—"भुजबल बिस्वबस्य करि" (बा० दो० १८२), तथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्त्ती·· " (बा० दो० १८१)। फिर उसके रहते हुए, राजा दशरथ की उपर्युक्त धाक कैसे सम्भव है ?

समाधान—सब राजा लोग रावण से डरते थे, पर वे हृदय से उसके अधीन न थे, रावण जिन्हें नहीं जीत सका था; उनमें एक चक्रवर्त्ती दशरथजी भी थे। रावण जबसे तेजस्वी वानर वालि और नर सहस्रार्जुन से हारा था, तबसे वह नरों और वानरों से स्वयं डरता था। राजा दशरथ ने अपने तेज से शनैश्चर को पराजित किया है—यह कथा पद्मपुराण में है। अतः, रावण इनसे डरता था, वह रावण-विजय बहुत पहले के समय-समय की है। इससे भी राजाओं का इनकी कृपा का अभिलाषी होना योग्य ही था। लोकपालों को तो यह मालूम ही था कि अब शीघ्र ही इनकी ही सन्तान से रावण का विनाश होगा, यह श्रीदशरथजी के पूर्वज राजा अनरण्य के शाप से प्रसिद्ध था—वाल्मी० ७।६।३०। इससे वे प्रीति करते थे।

(२) 'तिभुवन तीनिकाल जगमाहीं।'—त्रिभुवन कहकर फिर जगत् भी कहा गया, क्योंकि तीन भुवनों से यहाँ—भूः (भूलोक), भुवः (पितृलोक) और स्वः (स्वर्ग = देवलोक) ही अभीष्ट हैं। प्रथम तीन भुवन कहकर फिर चौदहों भुवन सूचक जगत् भी कहा है कि कहीं भी इनके समान बड़-भागी नहीं है, यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं।" (दो० २०८)। अथवा 'जग' पद को 'त्रिभुवन' पद का ही विशेषण मान लेने से तीनों लोक रूपी जगत्—यह अर्थ भी हो सकता है। प्रथम राजा को सुकृत की मूर्त्ति कहा, उससे अधिक अन्य राजाओं का इनके वशवर्त्ती होने में जनाया; उससे अधिक महत्त्व लोकपालों की अधीनता में सूचित किया, आगे इससे भी अधिकता कहते हैं कि—"मंगल मूल राम सुत···" अर्थात् प्रभु ने भी वश होकर इनका पुत्रत्व स्वीकार किया, तब इनके तुल्य बड़भागी कोई नहीं है। 'तीनिकाल', यथा—"भयेउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥" (दो० १९२)।

'मंगल मूल राम···', यथा—"मंगल भवन अमंगल-हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर-बिहारी॥" (बा० दो० १११), अर्थात् परात्पर ब्रह्म का अवतार इन्हीं चक्रवर्त्ती के आँगन में हुआ है, यथा—"कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु। राम लखन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुअन सुचि जासु॥" (दो० १९३), तथा—"जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आइ। जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ॥" (दो० २०९)।

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥६॥
श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥७॥
नृप जुबराज राम कहँ देहू। जीवन-जनम-लाहु किन लेहू॥८॥

दोहा—यह बिचार उर आनि नृप, सुदिन सुअवसर पाइ।
प्रेम पुलकि तनु मुदित मन, गुरुहिं सुनायेउ जाइ॥२॥

शब्दार्थ- सुभाय = स्वाभाविक। सम = सीधा। कहँ = को। लाहु = लाभ। किन = क्यों नहीं।

अर्थ—राजा ने स्वाभाविक ही हाथ में दर्पण ले लिया और उसमें मुख देखकर अपने मुकुट को सीधा किया॥६॥ (देखा कि) कानों के पास के बाल श्वेत हो गये हैं, मानों उन्हें बुढ़ापा ऐसा उपदेश

कर रहा है ॥७॥ कि राजन् ! रामजी को युवराज पद देकर अपने जीवन और जन्म का लाभ क्यों नहीं ले लेते ? ॥८॥ राजा ने यह विचार हृदय में निश्चित करके अच्छा दिन और अच्छा अवसर पा प्रेम से पुलकित शरीर हो और प्रसन्न मन से गुरु (वसिष्ठ) जी के पास जाकर उन्हें यह विचार सुनाया ॥२॥

विशेष—(१) 'राय सुभाय मुकुर कर···'—पूर्व कहा था—'एक समय सब सहित समाजा। राजसभा···' वह प्रसंग छोड़कर राजा का विभव कहने लगे, वहीं से फिर प्रसंग लिया। 'सुभाय' अर्थात् बिना किसीकी प्रेरणा के, दर्पण दृष्टि में पड़ा, तो उसे उठा लिया और देखने लगे। हो सकता है कि किसीने मुकुट कुछ टेढ़ा देखा हो, तो दर्पण रख दिया हो और उसपर दृष्टि पड़ने पर राजा ने उठाकर देखा हो। राजसभा में राजकार्य का समय है, यहाँ दर्पण देखने का समय नहीं, प्रभु की इच्छा से ऐसी प्रवृत्ति हुई, इसीसे 'सुभाय' कहा गया। भावी लीला के अनुरोध से प्रभु ने भी वैसी इच्छा की।

(२) 'श्रवन समीप भये ··'—कहा जाता है कि बुढ़ापे में प्रथम कान के पास के बाल सफेद होते हैं, यथा—"कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकप्रवादः ॥" ऐसा ही रघुवंश में भी कहा गया है—"तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति। कैकेयी शङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥" (सर्ग १२।२) इस श्लोक में 'जरा' का उपदेश करना और यहाँ 'जरठपन' का उपदेश करना कहा गया है। 'नृप' और 'राय' के सम्बन्ध से 'जरठपन' इस पुँल्लिग शब्द का प्रयोग उत्तम हुआ है, फिर सभा में इतने बड़े महाराज को स्त्री से उपदेश किया जाना भी ठीक नहीं होता, यहाँ 'जरा' स्त्रीलिंग न देने में ग्रन्थकार की विलक्षण सावधानता है। कान के पास ही गुप्त मन्त्र दिया जाता है, यथा—"कह लंकेस मंत्र लगि काना ॥" (लं० दो० १०)। पुनः उपदेश देना जरठ का काम है, यथा—जाना जरठ जटायू एहा।··· कह सुनु रावण मोर सिखावा ॥" (अर० दो० २८), "विषया परनारि निसा···जरठाइ दिशा रविकाल उग्यो, अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे॥" (क० उ० ३१), इसलिये यहाँ भी 'जरठपन' ने उपदेश दिया।

(३) 'नृप जुवराज राम···'—यही उपदेश है, 'देहू' और 'लेहू' से दोनों कामों को अपने अधीन जनाया। 'किन लेहू' अर्थात् आप ही ने ढील दे रक्खी है। यदि जीवन और जन्म की सफलता चाहते हैं तो अब विलम्ब न करें। केश देखकर राजा के हृदय में ये विचार आप-ही-आप व्यक्त हुए, इसे ही उपदेश मान लिया। यही जीवन-जन्म का लाभ है, यथा—"पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ ॥" (दो० ३)।

(४) 'यह बिचार उर आनि···'—कोई नई बात सहसा प्रकट नहीं करनी चाहिये, इसलिये अभी इसे राजा ने हृदय ही में रक्खा, यथा—"मत्तश्च गुणवत्तरः ॥ महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम्। अनेन वयसा दृष्ट्वा कथं स्वर्गमवाप्नुयाम्॥" (वाल्मी० २।१।३९-४०), अर्थात् (राजा दशरथ विचारते हैं कि) मुझसे भी गुणों में बढ़कर अपने पुत्र (श्री रामजी) को इस सम्पूर्ण पृथ्वी के राज्यासन पर बैठा देख, मैं इस अवस्था में कैसे स्वर्ग जाऊँ ? इस विचार को अभी हृदय में ही रक्खा है, गुरुजी के मुख से कहलाकर तब प्रकट करेंगे, जिससे कार्य में मंगल हो, बाधा न हो। पुरवासियों ने भी ऐसा विचार हृदय में रक्खा है—"सबके उर अभिलाष अस" (दो० १) 'सुदिन'—श्रीरामजी के राज्याभिषेक देने की आज्ञा माँगने के योग्य और 'सुअवसर'—गुरुजी के सावकाश का, अथवा उक्त दोनों ही कामों के लिये गुरुजी के पास जाने का विचार किया। श्रीगुरुजी से सम्मत करके कोई भी उत्तम कार्य करना इस कुल की रीति है। 'प्रेम पुलकि तनु···'—प्रेम और मोद मन में है, पुलक तन में है और प्रेम से भरे हुए वचन भी कहने आये। इस तरह यहाँ राजा के मन, वचन और कर्म (तन) तीनों की प्रवृत्ति दिखाई गई।

'मुदित मन'—इस ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र उत्तम कार्यारम्भ में हर्ष तथा उत्साहसूचक शब्द 'मुदित', 'हरषि' आदि कहे गये हैं, यह कार्यारम्भ में शकुन है।

कहइ भुआल सुनिय मुनिनायक । भये राम सब बिधि सब लायक ॥१॥
सेवक सचिव सकल पुरबासी । जे हमरे अरि मित्र उदासी ॥२॥
सबहिं राम प्रिय जेहि बिधि मोही । प्रभु-असीस जनु तनु धरि सोही ॥३॥
बिप्र सहित परिवार गोसांई । करहिं छोह सब रउरेहि नांई ॥४॥

शब्दार्थ—उदासी = शत्रु-मित्र-भाव से रहित, विरक्त । सोही = सोह रही है ।

अर्थ—राजा कहते हैं—हे मुनिराज ! सुनिये, अब राम सब प्रकार से सब (कामों) में योग्य हो गये ॥१॥ सेवक, मन्त्री एवं सभी पुरवासी और जो कोई भी हमारे शत्रु, मित्र एवं उदासीन हैं ॥२॥ रामजी सभी को वैसे ही प्रिय हैं, जैसे हमको । हे प्रभो ! मानों आपकी आशिष ही शरीर धारण करके सोह रही है ॥३॥ हे गोसाईं ! सपरिवार सब ब्राह्मण आपके समान ही उनपर स्नेह करते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कहइ भुआल···'—'मुनिनायक' यह विशेषण स्वार्थ-दृष्टि से भी यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि वसिष्ठजी में यथार्थ ही है, क्योंकि ये ब्रह्मर्षि हैं और ब्रह्माजी के पुत्र हैं । विश्वामित्रजी ब्रह्माजी से ब्रह्मर्षि पद पाकर भी इनके मुख से कहलाने में गौरव समझते थे—"ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु···" (वाल्मी० १।६५।२४) ।

'भये राम सब बिधि···'—'भये' यह भूतकालिक क्रिया है, अर्थात् बहुत पहले ही से योग्य हो चुके हैं । श्री जनकपुर-यात्रा के कार्यों से ही इनकी योग्यता प्रसिद्ध हो गई । परशुराम से साम, और ताटका, सुबाहु, मारीच आदि के वध से दंड-विधि की निपुणता प्रसिद्ध है । दान और भेद, पूर्ण समर्थ के लिये आवश्यक नहीं हैं, आगे प्रसंगवशात् विभीषण आदि के प्रसंग में मर्यादा के साथ इन्हें भी दिखावेंगे । विवाह से अभी तक १२ वर्ष हो चुके । 'सब लायक'—राज्य के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है, उनसे ये पूर्ण हैं, यथा—"संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः । बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येणापि शचीपतेः ॥ तथा सर्व प्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः । गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तैः सूर्य इवांशुभिः ॥" (वाल्मी० २।१।३२-३३), अर्थात् तीनों लोक श्रीरामजी को मानते थे, उनमें पृथ्वी के समान क्षमा, बृहस्पति के समान बुद्धि और इन्द्र के समान पराक्रम था । जैसे प्रदीप्तसूर्य किरणों से प्रकाशमान हैं, वैसे प्रजा के प्यारे और पिता को हर्षित रखनेवाले श्रीरामजी अपने गुणों से सुशोभित थे ।

(२) 'सेवक सचिव सकल···'—पहले अपना सम्मत कहकर तब सब मन्त्री, प्रजा आदि की प्रसन्नता भी कहते हैं । इसका भाव यह कि जिसपर ये सब अनुकूल हों, वही राज्याधिकार के योग्य होता है । 'जे हमरे अरि मित्र उदासी ।"—शत्रु आदि हमारे हैं, राम से तो सभी स्नेह करते हैं, यथा—"जासु सुभाव अरिहु अनुकूला ।" (दो० ३१) । "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी ।" (बा० दो० २१५), राक्षस शत्रु हैं, इन्द्रादि देवता मित्र और सन्त लोग उदासीन हैं ।

(३) 'सबहिं राम प्रिय···', यथा—"कोसलपुरबासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल । प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल ॥" (बा० दो० २०४), तथा—"अस को जीव जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ॥" (दो० १६१), 'प्रभु असीस जनु···'—हमारे भाग्य ऐसे कहाँ थे ? यह तो आपके आशीर्वाद का फल है कि सर्व-प्रिय और सुयोग्य पुत्र हुए । 'असीस'—"धरहु धीर होइहहिं सुत चारी । त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी ॥" (बा० दो० १८८) । आपकी असीस सर्व-प्रिय है, वैसे पुत्र भी हुए, मानों वे आशीर्वाद ही मूर्त्तिमान् हैं ।

(४) 'बिप्र सहित परिवार···'—ब्राह्मणों को उपर्युक्त—'सेवक सचिव सकल पुरबासी' से पृथक कहा, क्योंकि गुरु और विप्र तो साक्षात् भगवान् के रूप ही हैं, यथा—"मम मूरति महिदेवमयी है ।"

(वि० १३९), "बंदउँ गुरु पद ' कृपासिंधु नर रूप हरि ।" (बा० मं०) । इस तरह गुरु-विप्र का भी स्नेह कहकर बड़ाई की, प्रत्यक्ष कहा भी नहीं ।

ब्राह्मणों का स्नेह करना बहुत बड़ी बड़ाई है, यह क्योंकर प्राप्त हुई, इसका साधन आगे कहते हैं—

जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥५॥
मोहि सम यहु अनुभयेउ न दूजे । सब पायेउँ रज पावनि पूजे ॥६॥
अब अभिलाष एक मन मोरे । पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे ॥७॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू । कहेउ नरेस रजायसु देहू ॥८॥

दोहा—राजन राउर नाम जस, सब अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिप मनि, मन-अभिलाष तुम्हार ॥३॥

अर्थ—जो लोग गुरु-चरण की धूल को सिर पर धारण करते हैं, वे मानों सारे ऐश्वर्यों को अपने वश में कर लेते हैं ॥५॥ मेरे समान इसका अनुभव और किसीने नहीं किया, (मैंने जो कुछ पाया है वह) सब आपके पवित्र चरणों की धूल की पूजा करने ही से पाया है ॥६॥ मेरे मन में अब एक ही अभिलाषा (रह गई) है, (वह भी) हे नाथ ! आपके ही अनुग्रह से पूरी हो जायगी ॥७॥ राजा का स्वाभाविक स्नेह देखकर मुनि प्रसन्न हुए और बोले कि हे राजन् ! आज्ञा दीजिये ॥८॥ हे राजन् ! आपके नाम और यश ही सब (एवं सब-के-सब) मनोरथों को देनेवाले हैं । हे राजाओं के मुकुटमणि ! आपके मन की अभिलाषा फल की अनुगामिनी है ॥३॥

विशेष—(१) 'ते जनु सकल बिभव···'—सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के लिये समस्त साधन हैं, वे सब विभव जब इस एक ही से वश में हो जाते है, तब यह एक ही उन सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्य साधनों से प्राप्त ऐश्वर्य समय पर नष्ट भी हो जाते हैं, पर इससे—'बस करहीं' अर्थात् सदा अक्षय रूप में बना रहना जनाया । अतः, इस रज में वशीकरण शक्ति है, यथा—"किये तिलक गुन गन बस करनी ।" (बा० दो० १) । यहाँ 'विभव' का प्रसंग है । अतः, यही कहा है ।

(२) 'मोहि सम यहु अनुभयेउ···'—यहाँ अपनेको उदाहरण में रखकर उक्त वचनों को प्रमाणित करते हैं । अनुभयेउ = अनुभव किया । 'सब पायेउ'—ऐश्वर्य, क्षेम, श्रीराम आदि ऐसे पुत्र एवं उनके योग्य बहुएँ, इत्यादि । 'न दूजे' अर्थात् मेरे समान भाग्यवान और नहीं है, यथा—"जे गुरु पद अंबुज अनुरागी । ते लोकहु बेदहु बड़ भागी ॥ राउर जापर अस अनुरागू । को कहि सकइ भरत कर भागू ॥" (दो० २५८) । तात्पर्य यह कि मेरे समान गुरु-कृपा-पात्र दूसरा शिष्य नहीं हुआ और न आप ऐसे कृपालु गुरु ही किसीको मिले हैं ।

(३) 'अब अभिलाष एक···'—बस, यही एक वांछा और रह गई है, जिसके लिये श्रीचरणों को कष्ट देने आया हूँ । 'एक' से इसकी प्रधानता भी ध्वनित है, क्योंकि इसकी ही प्राप्ति पर राजा अपने को कृतार्थ मानते हैं, यथा—"पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ ।" (दो० ३), तथा—"न किञ्चिन्मम कर्त्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।" (वाल्मी० २।८।१५), अर्थात् राजा दशरथ श्रीरामजी से कहते हैं कि केवल तुम्हारे अभिषेक को छोड़कर मुझे अन्य कोई भी काम करना शेष नहीं रहा । इसके विपर्यय रूप में भी संसार का कार्य हुआ, पुनः वनवास से लौटने पर ११ हजार वर्ष प्रजा सुखी होकर कृतार्थ रही । 'पूजिहि'—राजा का दृढ़ विश्वास है कि पूर्व की अभिलाषाओं की भाँति यह भी पूरी होगी ।

(४) 'मुनि प्रसन्न लखि···'—राजा ने बिना मुनि की प्रसन्नता पाये मनोरथ नहीं कहा । वे मुनि का रुख देख रहे हैं । मुनि प्रसन्न हुए, क्योंकि प्रेम एवं आनन्द की रोमांच आदि दशाएँ देखने में आईं ।

वे राजा के सहज स्नेह से प्रसन्न होकर बोले कि हे राजन् ! जो कहिये, वही करें। 'नरेस' सम्बोधन के अनुसार 'नर' के सम्बन्ध से वसिष्ठजी इन्हें राजा मानकर 'आयसु' कहकर उनकी इच्छा पूरी करने के लिये प्रस्तुत है कि हमारे योग्य जो कार्य हो, कहिये। राजा ने गुरु को ईश्वरतुल्य माना, तो गुरु ने भी 'नरेस' कहकर नरमात्र पर शासक सिद्ध करते हुए, 'रजायसु' देना कहा है, जिसका अर्थ है—'राज-आयसु' अर्थात् राजा की आज्ञा। अतः, यही अर्थ ठीक है। पुनः अरबी के 'रजा' शब्द से बने हुए 'रजाय' और 'रजायस' शब्द भी पद्य में कहे जाते हैं। यहाँ इसके दो अर्थ है—१. आज्ञा, २. मरजी, इच्छा। इसका दूसरा अर्थ लेने में उपर्युक्त अर्थ (गुरु होकर आज्ञा कैसे माँगी ?) की खटक मिट जाती है।

(५) 'राजन राउर नाम जस···'—वसिष्ठजी गुरु होते हुए राजा के मन्त्री भी हैं, मन्त्रियों के लिये नीति है कि राजा की प्रशंसा करके तब मन्त्र कहें। इस नीति का पालन इस ग्रन्थ में वाल्मीकिजी, अगस्त्यजी, जाम्बवानजी एवं हनुमानजी आदि सभी ने किया है। तदनुसार वसिष्ठजी ने यहाँ कहा है कि आपके नाम लेने और यश-स्मरण से सब-के-सब मनोरथ पूरे होते हैं, यथा—"दसरथ नाम सुकामतरु, फलै सकल कल्यान। धरनि, धाम, धन, धरम, सुत, सद्गुन रूप निधान॥ (दोहावली २१८)। फिर आपके लिये क्या कहना है ? आपकी अभिलाषा होने के पहले ही फल प्राप्त रहता है, यहाँ 'अत्यन्नातिशयोक्ति अलंकार' है। यह बात राजा में चरितार्थ भी है, जैसे इनकी पुत्र की अभिलाषा साठ हजार वर्ष पर हुई और अन्धतापस का शाप इन्हें युवराज-अवस्था में ही हो चुका था 'कि तुम्हारी मृत्यु पुत्र के वियोग से होगी' जिसका आशय यह था कि पुत्र होगा, तब तो उससे वियोग की दशा आवेगी। राजा ने इस प्रशंसा को गुरु का अनुग्रह माना और निश्चय किया कि गुरुजी अनुकूल हैं। मुझे मनोरथ कहना चाहिये।

यहाँ 'अनुगामी' को 'अभिलाष' का ही विशेषण मानना चाहिये, क्योंकि जब राजा के नाम-यश में ही संसार के मनोरथ की पूर्त्ति का महत्त्व है, तब साक्षात् स्वरूप में कितनी विशेषता चाहिये, यह उपर्युक्त अर्थ में बनती है।

यहाँ पर गुरुजी को त्रिकालदर्शी कह भविष्य घटना को जानते हुए दशरथजी से छिपाने का अर्थ करना ठीक नहीं। वसिष्ठजी भी जीव हैं उनकी सर्वज्ञता ईश्वर-सापेक्ष्य और परिमित है। जब ध्यान धरते, तब ईश्वर के जनाये से जानते। गुरुजी ने सामान्य रीति से राजा के प्रस्ताव का समर्थन किया है। आगे भरतजी के उराहना देने पर कि श्रीमान् के रहते ऐसा अनर्थ हो गया ! गुरुजी ने रोकर कहा है—'सुनहु भरत भावी प्रबल···'। भाव यह कि मेरी चलती तो यह न हो पाता। दशरथजी-ऐसे अनुरागी शिष्य से गुरुजी छल नहीं कर सकते।

सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहँसि मृदुबानी॥१॥
नाथ राम करियहि जुबराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू॥२॥
मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन-लाहू॥३॥
प्रभुप्रसाद सिव सबइ निबाहीं। यह लालसा एक मन माहीं॥४॥
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥५॥

शब्दार्थ—रहँसि = (सं० रहस्) गुप्त भेद, क्रीड़ा। सुख, (क्रि० अ० रहसना, रहस-ना) = आनन्दित होना, हर्षित होकर। समाज = सामग्री, तैयारी। रहउ = रहे।

अर्थ—अपने मन में सब प्रकार गुरुजी को प्रसन्न जान राजा दशरथ हर्षित होकर कोमल वाणी बोले॥१॥ हे नाथ ! राम को युवराज कर देना चाहिये, ऐसा कृपा करके कहिये (और यह भी) कि तैयारी (सामग्री एकत्र) करो॥२॥ मेरे जीते जी यह उत्सव हो जाय, और सब लोग अपने नेत्रों का

लाभ उठावें ॥३॥ आपके अनुग्रह से शिवजी ने सभी कुछ पूरा कर दिया। बस, अब यही एक लालसा मेरे मन में (रह गई) है ॥४॥ (इतना हो जाय तो) फिर मुझे चिन्ता नहीं, शरीर रहे—या चला जाय, जिससे पीछे मुझे पछतावा न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'सब बिधि गुरु प्रसन्न ·····'—गुरुजी मन, वचन, कर्म से प्रसन्न हैं—'मुनि प्रसन्न लखि·····'—मन, 'रजायसु देहू (सो करूँ)'—कर्म और प्रशंसा की—यह वचन की प्रसन्नता है।

'बोलेउ राउ रहसि ···'—'रहसि' शब्द का मूल रूप यदि 'रभस्' एवं 'रभसः' संस्कृत का लिया जाय, तब 'हर्ष से' अर्थ होगा, अथवा 'हरषि' के वर्ण-विपर्यय द्वारा 'रहसि' शब्द माने, तब भी 'हर्ष से' होगा। वर्ण-विपर्यय द्वारा बने हुए शब्द का होना यहाँ युक्त है। इस काण्ड में यह शब्द कई बार आया है और सर्वत्र परिणाम में हर्ष का विपर्यय ही हुआ है, यथा—"मुनि रहसेउ रनिवास।" (दो० ७), "रहसी चेरि घात भलि फाबी।" (दो० १६), "रहसी रानि राम रुख पाई।" (दो० ४२)। इन सब स्थलों पर मनोरथ-सिद्धि नहीं ही हुई।

(२) 'नाथ राम करिअहि·····'—'नाथ' अर्थात् स्वामी। आप स्वामी हैं, मैं आपकी आज्ञानुसार कार्य करनेवाला हूँ। राम को युवराज आप ही करें और मुझे आज्ञा दें। 'कृपा करि'—आपकी कृपा ही से सिद्ध होगा, यथा—"पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।" (दो० २), 'करिय समाजू'—'समाजू' शब्द 'सौंज' का पर्याय है इसका अर्थ है, सामग्री, साज-सामान, उपकरण, यथा—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू।" (दो० १८६)।

(३) 'मोहि अछत यह होइ···'—उपर्युक्त—'नाथ राम करिअहि·····' का अर्थ इसमें स्पष्ट किया कि राजा गुरुजी के द्वारा जुवराज दिया जाना पुष्ट करते हैं, नहीं तो कहते कि मैं जीते-जी उन्हें युवराज बना दूँ। यद्यपि यह कार्य राजा ही का है—जैसे आगे वसिष्ठजी कहेंगे—"भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहिं जूवराजू॥" (दो० ९), तथापि यह राजा की गुरु-भक्ति है कि वे गुरु को ही सब कार्य में प्रधान रखते हैं, यथा—"विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥ वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवान्नृपिः॥" (वाल्मी० १।७०।१६-१७)। पूर्व पुरवासियों ने शिवजी से प्रार्थना की थी, वह शिवजी ने पूरी की। अतः, उन्हीं शब्दों से कहा है, यथा—"आप अछत जुवराज पद, रामहिं देउ नरेस॥" (दो० १), वही यहाँ—'मोहि अछत यह···लहहिं लोग सब···' है।

'मोहि अछत ·····'—का तात्पर्य यह कि इस समय राजा को बहुत अशकुन हो रहे हैं, इसीसे वे शीघ्रता कर रहे हैं, यथा—"अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्नान्पश्यामि राघव। सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः॥ अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः। आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः॥ प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे। राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति॥ (वाल्मी० २।८।१७-१९), अर्थात् मैंने आज अशुभ स्वप्न देखा है, वज्रपात के साथ बड़े शब्द से उल्का को गिरते देखा है। मेरा जन्म-नक्षत्र सूर्य, मंगल और राहु, इन दारुण ग्रहों से आक्रान्त हो गया है—यह ज्योतिषियों ने बतलाया है। प्रायः ऐसे निमित्तों के उत्पन्न होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा और कोई भारी विपत्ति आती है। इसीसे राजा ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल का मुहूर्त्त तिलक के लिये ठीक किया।

(४) 'प्रभु प्रसाद सिव·····'—गुरु की कृपा से ईश्वर की भी कृपा होती है, वैसे ही कहते हैं।

'यह लालसा एक·····'—यही 'एक' लालसा है, वह भी आपके अनुग्रह से पूर्ण होगी, यह पूर्व ही कह चुके हैं—'पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।' इससे फिर नहीं कहा।

(५) 'पुनि न सोच तनु·····'—अर्थात् राम-राज्य होने पर शरीर जाय तो पछतावा नहीं होगा, अन्यथा रहेगा, यथा—"तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥" (दो० ३५), तथा—"नृप कर जोरि कहेउ गुरु पाहीं। तुम्हरी कृपा असीस, नाथ! मेरी सबै महेस निबाहीं॥ राम होहिं

जुवराज जियत मेरे यह लालच मन माहीं। बहुरि मोहिं जियबे मरिबे की चित चिन्ता कछु नाहीं ॥" (गी० अ० १)।

सुनि मुनि दसरथ-बचन सुहाये। मंगल-मोद-मूल मन भाये ॥६॥
सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं ॥७॥
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। राम पुनीत - प्रेम - अनुगामी ॥८॥

दोहा—बेगि बिलंब न करिय नृप, साजिय सबइ समाज।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुवराज ॥४॥

अर्थ—दशरथजी के मंगल और आनन्द के मूल सुहावने वचन सुनकर मुनि के मन को अच्छे लगे ॥६॥ (गुरुजी ने कहा—) हे राजन्! सुनिये, जिनके विमुख (होने से लोग) पछताते हैं और जिनका भजन किये बिना (हृदय की) जलन नहीं जाती ॥७॥ वे ही स्वामी आपके पुत्र हुए हैं, श्रीरामजी पावन प्रेम के अनुगामी हैं ॥८॥ हे राजन्! विलम्ब न कीजिये, शीघ्र ही सब सामग्री सजाइये। शुभ दिन और सुमंगल तभी है, जब श्रीरामजी युवराज हों ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि दसरथ-बचन ·····'—वचन कोमल होने से 'सुहाये' हैं, इसके होने से मंगल होगा, इस उत्सव के स्मरण से मुनि के हृदय में आनन्द भर गया, इससे 'मंगल मोद मूल' कहा।

(२) 'सुनु नृप जासु बिमुख·····' यथा—"मन पछितैहै अवसर बीते। दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु करम बचन अरु हीते।" (वि० १९८), तथा—"बरषा को गोबर भयो, को चहै को कर प्रीति। तुलसी तू अनुभवहि अब, राम बिमुख की रीति ॥" (दोहावली ७३)। राम-विमुख होने पर कैकेयी पछतायगी, यथा—"गरइ गलानि कुटिल कैकेयी। काहि कहइ केहि दूषन देई ॥" (दो० २७२), लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥ अवनि जमहि जाचत कैकेई। महि न बीच बिधि मीच न देई ॥ लोकहु बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थल नरक न लहहीं ॥" (दो० २५१), यहाँ पर यह भी कहा जाता है कि श्रीदशरथजी तो श्रीरामजी के अनुकूल ही हैं फिर क्यों पछताना पड़ा है—'तोर कलंक मोर पछिताऊ।···' इसका समाधान भी करते हैं कि राजा भरतजी के विमुख थे, वे रामजी के परम स्नेही थे, इससे रामजी की प्रतिकूलता से पछताना पड़ा है।

श्रीरामजी ने श्रीभरतजी की अनुपस्थिति से राज्य नहीं लिया, यह हेतु युक्त है, पर इसमें राजा दशरथ दोषी नहीं हैं। वे श्रीभरतजी से विमुख नहीं थे। उन्होंने कहा है—"मारे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी ॥" (दो० ३०), उन्हें श्वेत केश देखकर एवं दुःस्वप्न आदि की घबराहट में शीघ्रता करनी पड़ी, जिससे श्रीभरतजी को नहीं बुला सके।

राजा को पछताना क्यों पड़ा? पछताने में उनके हृदय में भरत-विमुखता हेतु नहीं है, प्रत्युत उन्हें राम-राज्य न दे सकने का और उसके विरुद्ध में कहे हुए कैकेयी के वचनों पर ही पछतावा था, यथा—"न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षभैः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥ कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम ॥ (वाल्मी० ६।११९।१३-१४), अर्थात् (स्वर्ग से आकर राजा दशरथ ने दिव्य शरीर से श्रीरामजी से लंका में कहा है—) हे श्रीरामजी! तुम्हारे बिना यह स्वर्ग मुझे अच्छा नहीं लगता और न देवों के द्वारा होनेवाला सम्मान ही अच्छा लगता है। यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। तुम्हें वन भेजने के लिये कैकेयी ने जो बातें कही थीं, वे सब बातें मेरे मन

में आज भी बैठी हुई हैं। जिससे जलन जाती है, वह श्रीराम-नाम का जप-रूप भजन है, यथा—"राम-नाम के जपे जाइ जिय की जरनि (वि० १८४)।

(३) भयेउ तुम्हार तनय·····'—आपके पवित्र प्रेम के कारण भगवान् आपके पुत्र होकर अनुगामी हुए हैं, यथा—"जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आइ।" (दो० २०९), तथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे" (बा० दो० ३४१), 'पुनीत प्रेम' इनके मनु-रूप की अनन्य भक्ति को कहा है, क्योंकि उसीसे भगवान् पुत्र हुए हैं।

(४) 'बेगि बिलंब न करिय·····' राजा ने कहा था कि—"कहिय कृपा करि करिय समाजू।" उसपर गुरुजी कहते हैं कि—'बेगि बिलंब न···' अर्थात् शीघ्रता कीजिये, क्योंकि राम-राज्याभिषेक देखने की लालसा इनकी भी तो है, यथा—"महाराज भलो काज विचार्‌यो बेगि बिलंब न कीजै। बिधि दाहिनो होइ तो सब मिलि जनम लाहु लुटि लीजै॥" (गी० अ० १)। राजा ने गुरुजी से भी अपने दुःस्वप्न आदि कहे थे, इससे गुरुजी शीघ्रता करा रहे हैं। 'सुदिन सुमंगल तबहिं जब···'—पहले श्रीरामजी का महत्त्व कह आये कि ये सबके स्वामी हैं, तो ग्रह आदि के भी स्वामी हैं। अतः, इनकी इच्छा के अनुकूल कार्य में कोई बाधक नहीं हो सकता। अतः, इनके विषय में सुदिन-सुमंगल-संग्रह की आवश्यकता ही क्या? ये जब ही युवराज हों, तभी सुदिन आदि अनुकूल रहेंगे, यथा—"जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल।" (बा० दो० १९०)।

यहाँ गुरुजी के वचन सन्दिग्ध निकल रहे हैं, वसिष्ठजी सर्वज्ञ हैं, पर ईश्वर के मर्म के जानने में नहीं, क्योंकि जीव हैं, जीव की सर्वज्ञता ईश्वर-सापेक्ष और परिमित होती है, अपरिमित और स्वतन्त्र नहीं। जैसे नारदजी शीलनिधि की कन्या (दैवी-माया) के मर्म को नहीं जान पाये और लक्ष्मणजी ने श्रीहनुमानजी की लंका-दाह आदि लीलाओं को उनके आने के प्रथम ही जान लिया, गी० लं० १६ देखिये, पर माया सीता के मर्म को नहीं जाना। तथा—"बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (दो० १२६), यह वाल्मीकिजी ने कहा है। गुरुजी यदि आगे की लीला का मर्म जानते तो श्रीदशरथजी जैसे—शुद्ध भक्त से कुछ नहीं छिपाते, आगे स्वयं भरतजी से कहा है—"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।" (दो० १७१)। हाँ, इस आगे की विषम घटना से कुछ सावधान हो गये, तभी आगे कहा है—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" (दो० २५८)। श्रीरामजी की माया से प्रेरित गुरुजी के वचन ऐसे निकल रहे हैं कि जिनसे उनका ऋषित्व भी बना रहे और अपनी लीला भी बने, क्योंकि ऋषियों के वचन अन्यथा हो जायँ तो उनका ऋषित्व नहीं रहता, इसीलिये नारदजी के शाप को भगवान् ने स्वीकार किया है।

यहाँ गुरुजी के वचनों में यह भाव भी गर्भित है कि अभी जो सुदिन आदि शोधे गये हैं, इसमें श्रीरामजी युवराज न होंगे। जब वे होंगे, तभी के सुदिन आदि जानिये।

मुदित महीपति मंदिर आये। सेवक सचिव सुमंत्र बोलाये॥१॥
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाये। भूप सुमंगल बचन सुनाये॥२॥
प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहिं राय देहु जुवराजू॥३॥
जो पाँचहिं मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥४॥

शब्दार्थ—जयजीव = जय हो और जियो, यह एक प्रकार का अभिवादन है। पाँचहिं = पंच, सर्वसाधारण, लोक, समाज आदि, वा जिससे सलाह ली जाय। मत = सलाह।

अर्थ—राजा आनन्द-पूर्वक घर आये और उन्होंने सेवकों से सुमन्त्र आदि मन्त्रियों को बुलवाया ॥१॥ उन लोगों ने 'जयजीव' कहकर राजा दशरथ को सिर झुका कर प्रणाम किया, राजा ने सुन्दर मंगल के वचन सुनाये ॥२॥ कि आज बहुत प्रसन्न होकर गुरुजी ने मुझसे कहा है कि राजन्! राम को युवराज-पद दो ॥३॥ आप सब पंचों को जो यह मत अच्छा लगे तो हृदय से हर्ष-पूर्वक रामजी का तिलक करें ॥४॥

विशेष—(१) 'मुदित महीपति मंदिर ···'—राजा ने गुरुजी से आज्ञा माँगी थी कि—'कहिय कृपा करि करिय समाजू' वैसी ही आज्ञा मिली—'साजिय सबइ समाज'। अतः, मनोरथ-सिद्धि समझकर मुदित हैं। 'सेवक सचिव ···'—यहाँ सलाह लेनी है। सेवकों से सलाह नहीं ली जाती। अतः, 'सेवकों से सचिव आदि को बुलवाया' यह अर्थ किया गया है। 'सुमंत भी मन्त्री ही है। किन्तु सबमें प्रधान हैं। अतः, इनका नाम पृथक् भी लिया गया।

'भूप सुमंगल बचन सुनाये'—रामजी के यौवराज्याभिषेक-सम्बन्धी वचन ही सुमंगल-वचन हैं, यथा—"सुदिन सुमंगल तबहि जब, राम होहि जुबराज।" (दो० ४), एवं—"सुदिन सुमंगल दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥" (दो० १४)।

(२) 'प्रमुदित मोहिं कहेउ गुरु ···'—'प्रमुदित', यथा—"सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी।" (दो० ३), यद्यपि गुरुजी ने इनके विचार के अनुसार आज्ञा दी है, तथापि उत्तम कार्य में अहंभाव नहीं चाहिये और उन्हें गुरुओं की आज्ञा से करना चाहिये, यथा—"कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन। नहछू जाइ करावहु ' गोद लिये कौसल्या बैठीं रामहि बर हो।" (रामलला नहछू ९)। मन्त्री लोग इस भाव को जान गये कि युवराज-पद देना राजा ही का कार्य है, बिना इनकी रुचि जाने गुरुजी ने नहीं कहा होगा, इसीसे उन्होंने कहा है—"जग मंगल भल काज बिचारा।" इसमें मन्त्री लोग राजा का ही विचार कह रहे हैं।

(३) 'जौ पाँचहि मत लागइ ···'—राजा ने प्रथम स्वयं विचार करके निश्चय किया, फिर उसे गुरुजी से भी पूछा, अब मन्त्रियों से परामर्श कर रहे हैं, यहाँ भी निर्णय करके तब सभा में प्रकाशित करेंगे—"राम राज अभिषेक हित, बेगि करहु सोइ सोइ।" (दो० ५), यह राजा की नीति-निपुणता है, कहा भी है—"जद्यपि नीति निपुन नर नाहू।" (दो० २६), गुरुजी की आज्ञा लेकर मन्त्रियों से परामर्श का प्रयोजन यह है कि अभी यह विचार एक पक्ष का है, मध्यस्थ विचार दूसरा है, वह उत्तर-प्रतिउत्तर से मँजा होने से अधिक उज्ज्वल होता है, गुरु की आज्ञा सुनकर मन्त्री लोग उसीके अनुरूप कुछ विशेषता का ही विचार करेंगे, यथा—"यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्। अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥" (वाल्मी० २।२।१६), इसमें 'एषा' से युवराज पद देना अभीष्ट है।

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी ॥५॥
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी ॥६॥
जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिहि नाथ न लाइय बारा ॥७॥
नृपहिं मोद सुनि सचिव सुभाखा। बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा ॥८॥

दोहा—कहेउ भूप मुनिराज कर, जोइ जोइ आयसु होइ।
राम-राज - अभिषेक-हित, बेगि करहु सोइ सोइ ॥५॥

शब्दार्थ—बिरव (सं० विरुह, वीरुध) = छोटा पौधा। बारा (सं० वार) = विलम्ब। बौंड़ = लता।

अर्थ—मन्त्री इस प्रिय वाणी को सुनते ही प्रसन्न हो गये, मानों मनोरथ-रूपी पौधे में पानी पड़ (बरस) गया ॥५॥ मन्त्री लोग हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि हे जगत्-पति ! करोड़ों वर्ष तक आप जियें ! ॥६॥ आपने संसार-भर के मंगल का अच्छा कार्य विचारा है, हे नाथ ! शीघ्र ही कीजिये, विलम्ब न लगाइये ॥७॥ मन्त्रियों का सुन्दर भाषण सुनकर राजा को ऐसा आनन्द हुआ कि मानों लता बढ़ते समय सुन्दर शाखा (का आश्रय) पा गई हो ॥८॥ राजा दशरथ ने कहा कि मुनिराज श्रीवसिष्ठजी की जो-जो आज्ञाएँ हों, राम-राज्याभिषेक के लिये उन सबको शीघ्र करो ॥५॥

विशेष—(१) 'मंत्री मुदित सुनत ···'—पूर्व कहा गया—'सेवक सचिव सुमंत बोलाये' और यहाँ मुदित होना मन्त्रियों का कहा गया, इससे सेवकों से मन्त्रियों का बुलवाना ही अर्थ पुष्ट हुआ, जो वहाँ किया गया था। 'अभिमत बिरव परेउ ···'—इन सबका अभिमत पूर्व कहा गया—"सबके उर अभिलाष अस···" वही बिरवा उनके हृदय-स्थल पर प्रथम ही से लगाया हुआ था, पर वह सूख रहा था, राजा के अनुकूल वचन-रूपी जल से फिर लहलहा उठा और मारे हर्ष के राजा को आशीर्वाद और धन्यवाद देने लगे, यथा—"इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम्। वृष्टिमन्तं महामेघं नन्दन्त इव बर्हिणः ॥" (वाल्मी० २।२।१६-१७), अर्थात् राजा के वचन सुनकर सब राजाओं ने वैसी ही प्रसन्नता प्रकट की जैसी बरसते हुए मेघ को देखकर मोर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। 'परेउ जनु पानी'—'पानी पड़ना' वर्षा के जल पड़ने को कहते हैं और यह मनोरथ-भंग का मुहावरा भी है, यथा—'अमुक के मनोरथ पर पानी पड़ गया' वैसे ही यह चर्चा चलना ही विघ्न का कारण हुआ, नहीं तो अभी तक मनोरथ कर-करके आनन्दित होते थे।

(२) 'बिनती सचिव करहिं···'—बिनती'—राजा ने इनसे सलाह पूछी थी, ये विनय-पूर्वक अपनी स्वीकृति हार्दिक प्रसन्नता, आशीर्वाद और धन्यवाद से प्रकट करते हैं। जियहु जगतपति ··· आप करोड़ों वर्ष जियें—यह दीर्घायु के लिये मुहावरा है, यथा—"जियहु सुखी सय लाख बरीसा।" (दो० १९५) भाव यह कि बहुत आयु हो और मरने पर भी युग-युग यश जागता रहे, यशस्वी मनुष्य मरने पर भी जीता ही रहता है, यथा—"कीर्तिर्यस्य स जीवति।" प्रसिद्ध है।

'जगतपति' क्योंकि—'जगमंगल भल काज बिचारा।' है, जिससे जगत्-भर का पालन (विशेष रूप में) होगा। अथवा पुत्र के जगत् भर के राज्य करते हुए भी वह राज्य आपका ही है। 'बेगिहि'—गुरुजी ने 'बेगि बिलंब न करिय' कहा था, वैसे ही इन्होंने भी कहा।

'बिनती' शब्द से वाल्मी० २।२।२३ से ५४ तक का अभिप्राय जना दिया, अर्थात् जब श्रीरामजी को युवराज-पद देने में सभी एक साथ सहमत हो गये, तब राजा ने सबका अभिप्राय प्रकट करने के लिये ऊपर से रुष्ट होकर कहा कि क्या हमारे शासन में आपलोगों को कष्ट था कि दूसरे राजा के लिये तुरन्त स्वीकृति मिल गई ? इसपर सबने प्रार्थना-पूर्वक कहा कि आप लोकोत्तर-गुणी हैं, किन्तु आपके पुत्र में तो बहुत ही कल्याणकारी गुण हैं, उन्हें हमलोग कहते हैं, आप सुनें। उन गुणों के सुनने पर राजा बहुत प्रसन्न हुए। 'कर जोरी', यथा—"तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः।" (वाल्मी० २।३।१), जियहु जगत-पति···', यथा—"चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः। यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥" (वाल्मी० २।६।२४), अर्थात् पापरहित राजा दशरथ की बड़ी अवस्था हो, उन्हींके अनुग्रह से आज हम श्रीरामजी को राज्याभिषिक्त देखेंगे।

(३) 'नृपहिं मोद सुनि···'—गुरुजी के वचन से यह लता बढ़ रही थी, अब मन्त्रियों के वचन-रूप सुन्दर शाखा का सहारा भी मिल गया। अतः, पूर्त्ति की अधिक आशा होने से प्रसन्नता हो रही है। मन्त्रियों के अभिमत को 'बिरवा' और राजा के अभीष्ट-सुख को 'बौंड़' कहा गया, ये दोनों चौमासे भर रहते हैं, वैसे ही यह आनन्द भी थोड़े ही काल का है।

(४) 'बेगि करहु सोइ सोइ'—प्रथम गुरुजी ने 'बेगि बिलंब न करिय' कहा, तब मन्त्रियों ने भी 'बेगिहि नाथ' कहा, वैसे ही यहाँ राजा भी कहते हैं—'बेगि करहु' तथा अवधपुर वासियों ने भी ऐसा ही कहा है—"हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥" (वाल्मी० २।२।५८), अर्थात् हम-लोगों के हितकारी उदार अपने पुत्र श्रीरामजी को प्रसन्न मन से यौवराज्य पद पर शीघ्र अभिषिक्त कर दीजिये। यह क्यों ? इसका उत्तर आगे दो० ६ चौ० ५-८ में 'जनमे एक संग···' से 'प्रभु सप्रेम पछितानि···' तक विचारना चाहिये।

हरषि मुनीस कहेउ मृदुबानी। आनहु सकल सुतीरथ-पानी ॥१॥
औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना ॥२॥
चामर चरम बसन बहु भाँती। रोम पाट पट अगनित जाती ॥३॥
मनिगन मंगलबस्तु अनेका। जो जग जोग भूप-अभिषेका ॥४॥

शब्दार्थ—औषध = सर्वौषधि, यथा—पुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम्। शटीचम्पकमुस्तञ्च सर्वौषधि-गणः स्मृतः ॥" (पुरोहित दर्पण) अर्थात् जटामसी, वच, कूट, शिलाजीत, हलदी, दारुहलदी, कचूर, चम्पा और मोथा। प्रत्येक शुभ कर्म में सर्वौषधि के जल से स्नान करने का विधान है। मूल = मोथी, मुरेठी (मुलहठी), शतावर, आदि। फूल = गुलाब, चमेली, चम्पा आदि समयानुसार। फल = जायफल, इलायची आदि। पाना (पर्ण) = तुलसी, आम, पान आदि पत्ते। चामर = चँवर, मुरछल। रोम-पाट-पट = रोमपट, पाटपट और पट (ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्र।)

अर्थ—मुनि-श्रेष्ठ ने प्रसन्न होकर कोमल वाणी से कहा—सब श्रेष्ठ तीर्थों के जल लाओ ॥१॥ (नाना) ओषधि, मूल, फूल, फल, पत्र एवं पान आदि अनेक मांगलिक-पदार्थों के नाम गिनाकर बतलाये ॥२॥ चँवर, मृग आदि के चर्म, बहुत प्रकार के वस्त्र, अगणित जातियों (प्रकार) के ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्र ॥३॥ अनेकों मांगलिक मणिगण एवं और भी बहुत प्रकार के मांगलिक पदार्थ (बतलाये), जो-जो जगत् में राज्याभिषेक के योग्य हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'हरषि मुनीस कहेउ···'—हर्ष-पूर्वक कार्यारम्भ शकुन है, इसलिये मुनि हर्ष के साथ कोमल वाणी से कहते हैं, क्योंकि इस कार्य में इनकी हार्दिक प्रीति है। 'पानी'—सुतीर्थ के सम्बन्ध से 'जल' कहना चाहिये, पर 'पानी' ही इस हलके नाम से कहा गया, क्योंकि यह अभिषेक में नहीं लगेगा, पानी ही (कूप) में डाला जायगा। 'सकल सुतीरथ पानी', यथा—"गङ्गायमुनयोः पुण्यात्सङ्गमादाहृतं जलम् ॥ याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च। प्राग्वाहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाः समाहिताः ॥ ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः। सलाजाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥" (वाल्मी० २।१५।५-७)।

(२) 'ओषध मूल फूल···'—'नाना' सबके साथ है। 'चरम'—चर्म पर सातो द्वीपों का नकशा बनाया जाता है, उसे सिंहासन पर रखकर और उसपर राजा को बैठाकर राज-तिलक किया जाता है। 'मनिगन मंगल ···'—मोती, विद्रुम, पन्ना, पुखराज, पिरोजा आदि दोष-रहित, यथा—"मंगलमय मुकुता मनि गाथे।" (बा० दो० ३२६)।

यहाँ के पदार्थ प्रयोजन के क्रम से कहे गये हैं, जैसे प्रथम तीर्थ-जल से स्नान, फिर ओषधिमय जल से स्नान तब तिलक की वस्तुएँ, मंगल पदार्थ, भूषण, वस्त्र, आदि।

बेदबिदित कहि सकल बिधाना। कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना ॥५॥
सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा ॥६॥
रचहु मंजु मनि-चौकइँ चारू। कहहु बनावन बेगि बजारू ॥७॥

पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा। सब बिधि करहु भूमि-सुर-सेवा ॥८॥

दोहा—ध्वज पताक तोरन कलस, सजहु तुरग रथ नाग।
सिर धरि मुनिबर बचन सब, निज निज काजहिं लाग ॥६॥

शब्दार्थ—रोपहु (आरोपण)=लगाओ। तोरन—१ वन्दनवार, २ बाहरी फाटक, जो राजा की सवारी जाने के मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूर पर सजाये जाते हैं। यहाँ दोनों ही अर्थ हैं।

अर्थ—वेदों से प्रसिद्ध सब विधान कहकर, तब कहा कि श्रीअवध नगर में बहुत प्रकार के चँदोओं एवं मंडपों की (चित्र-विचित्र) रचना करो ॥५॥ फलदार आम, सुपारी और केले के वृक्ष नगर के चारों ओर और गलियों में लगाओ ॥६॥ मनोहर मणियों से सुन्दर चौकें पुरवाओ, शीघ्र ही बाजार सजाने को कहो ॥७॥ गणेशजी, गुरुजी और कुल देवता की पूजा करो और सब प्रकार एवं सब विधानों से ब्राह्मणों की सेवा करो ॥८॥ ध्वजा, पताका, वन्दनवार, कलश, घोड़े, रथ और हाथी, इन सबको सजाओ। मुनिराज वसिष्ठजी के वचनों को शिरोधार्य कर सब अपने-अपने कामों में लग गये ॥६॥

विशेष—(१) 'बेदबिदित कहि···'—ऊपर वेद-विधि कह चुके, अब यहाँ से लोक रीति कहते हैं, क्योंकि दोनों ही कहना है, यथा—"लोक-बेद-मत मंजुल कूला।" (बा० दो० ३८)।

'सफल रसाल पूग फल केरा'—मनोरथ की सफलता के उद्देश्य से सफल वृक्ष लगाये जाते हैं, यथा—"सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला।" (बा० दो० ३४३)।

(२) 'रचहु मंजु मनि-चौकइँ चारू'—'चौकइँ' (चौकें) बहुवचन हैं, क्योंकि ये बहुत प्रकार की और जगह-जगह पर पूरी जाती हैं, यथा—"चौकइँ चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥" (दो० ७), "सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार।" (पद २), 'मंजु मनि' से सुन्दर गजमुक्ता का अर्थ है, यथा—"गज मनि रचि बहु चौक पुराई।" (उ० दो० ८)। 'चारू' यह 'चौकइँ' पद के साथ है। 'कहहु बनावन बेगि···'—बाजार पंचायती एवं बहुत बड़ा है। अतः, अपने-अपने द्वार पर सब सजा लें, ऐसा कहने को कहा गया और 'बेगि' भी कहा गया, क्योंकि समय थोड़ा है, प्रातःकाल ही मुहूर्त्त है।

(३) 'पूजहु गनपति गुरु···'—गणेशजी प्रथम पूज्य हैं और विघ्न विनाशक हैं। अतः, प्रथम ही कहा है। 'गुरु' वसिष्ठजी स्वयं हैं, एवं और भी गुरु वर्ग के लोग। 'कुल देवा'—श्रीरंगजी हैं, यथा—"आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्।" (वाल्मी० ७।१०८।२७)। देवता लोग परोक्ष हैं, अतएव 'पूजहु' कहा है और 'भूमि सुर' प्रत्यक्ष हैं। अतः, इनकी सेवा करना कहा गया है। 'सब बिधि'—भोजन, वस्त्राभूषण, दान, मान आदि से प्रसन्न करना, क्योंकि—"मंगल मूल बिप्र परितोषू।" (दो० १२५)।

(४) 'निज-निज काजहिं ··' यथा—"जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा।" आगे कहा है, अर्थात् सबको उनके अधिकार के योग्य आज्ञा दी गई थी।

जो मुनीस जेहि आयसुदीन्हा। सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा ॥१॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगलकाजा ॥२॥
सुनत राम-अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा ॥३॥

अर्थ—मुनीश्वर वसिष्ठजी ने जिसे जो आज्ञा दी, उसने उस कार्य को (इतना शीघ्र कर डाला, कि) मानों प्रथम ही से कर रक्खा है ॥१॥ राजा ब्राह्मणों, साधुओं और देवताओं को पूज रहे हैं,

श्रीरामजी के हित लिये ये मंगल कार्य कर रहे हैं ॥२॥ श्रीरामजी के सुहावने राज्य-तिलक का समाचार सुनते ही श्रीअयोध्याजी में धमाधम बधाइयाँ बजने लगीं ॥३॥

विशेष—(१) 'सो तेहि काज प्रथम···'—एक तो राजा की आज्ञा, फिर गुरुजी ने शीघ्र करने को कहा और सेवकों की अत्यन्त श्रद्धा है। अतः, उत्साह से कार्य शीघ्र हुए। ग्रन्थकार भी वैसी शीघ्रता से कह रहे हैं, तथा—"इन्द्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहि करि रहेऊ। (बा० दो० १८२)। 'करत राम हित···'—विप्र-साधु-सुर की पूजा ही मंगल कार्य है, यथा—"मुद मंगल मय संत समाजू।" (बा० दो० १), "मंगल मूल विप्र परितोषू।" (दो० १२५)।

यहाँ तक बाहर का वर्णन है। 'अभिषेक सुहावा' क्योंकि 'सबके उर अभिलाष अस···' था।

राम-सीय-तनु सगुन जनाये। फरकहिं मंगल अंग सुहाये ॥४॥
पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत-आगमन-सूचक अहहीं ॥५॥
भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥६॥
भरत-सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुनफल दूसर नाहीं ॥७॥
रामहिं बंधु-सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥८॥

दोहा—येहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास।
सोभत लखि बिधु बढ़त जनु, बारिधि बीचिबिलास ॥७॥

शब्दार्थ—जनाये = प्रकट हुए, सूचना दी, यथा—"फरकि बाम अँग जनु कहि देही।" (मुं० दो० ३४)। अवसेरी = चिन्ता, प्रतीक्षा, विलम्ब। रहसेउ = हर्षित हुआ।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी के शरीर शकुन को प्रकट कर रहे हैं, उनके शुभ अंग फड़क रहे हैं ॥४॥ पुलकित होकर प्रेम से वे आपस में कहते हैं कि ये शुभ शकुन भरत के आने की सूचना देनेवाले हैं ॥५॥ बहुत दिन हो गये, अत्यन्त चिन्ता थी, इन शकुनों से विश्वास होता है कि प्यारे से मिलन होगा ॥६॥ भरत के समान जगत् में हमें कौन प्यारा है? अतः, शकुन का फल यही है, दूसरा नहीं ॥७॥ श्रीरामजी को भाई भरत की चिन्ता दिन-रात रहती है, जैसे कछुए के हृदय में अपने अंडों की चिन्ता) हो ॥८॥ इसी अवसर पर इस परम मंगल (—समाचार) को सुनकर सारा रनिवास हर्षित हुआ, जैसे चन्द्रमा को बढ़ते देखकर सागर की लहरों का विलास बढ़ता हुआ सोहता है ॥७॥

विशेष—(१) 'राम-सीय-तनु सगुन···'—श्रीरामजी का मंगल अंग दाहिना और श्रीसीताजी का बायाँ है, यथा "फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।" (बा० दो० २३०), "मंजुल मंगल मूल, बाम अंग फरकन लगे।" (बा० दो० २३६)। इन उभय पक्षों के शुभ अंग फड़कने से प्रिया-प्रियतम का मिलाप हुआ है। ऐसे ही—"प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देही॥" (मुं० दो० ३४), तथा —"भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहि बार।" (उ० दो० १) का फल भी प्रिय-मिलाप ही है। इससे निश्चय होता है कि शुभ अंगों के फड़कने का फल यही होता है, इसीसे आगे कहते हैं—'इहइ सगुन फल' है। 'दूसर नाहीं'—राज्य-तिलक प्राप्ति आदि नहीं।

शकुन श्रीसीतारामजी के शरीर में ही हुए और इन्हींको जान पड़े, क्योंकि इसका फल इन्हींको मिलना है, नगर के लोगों का मनोरथ भंग होगा। अतः, उन्हें शकुन नहीं देख पड़े।

(२) 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी' में अतिव्याप्ति थी कि किस प्रिय से भेंट होगी? इसे आगे अर्द्धाली से निवृत्त किया—'भरत-सरिस प्रिय को···', यथा—"तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ ते प्यारे॥"

(दो० १६८), "प्रान समान राम-प्रिय अहहू ॥" (दो० १८३) । "सुनहुँ भरत रघुबर मन माहीं । प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥" (दो० २०७), "भरत सरिस को राम सनेही । जग जपु राम-राम जपु जेही ॥" (दो० २१७), इत्यादि कौसल्याजी, वसिष्ठजी, भरद्वाजजी और बृहस्पतिजी के वचन हैं ।

(३) **'अंडन्हि कमठ हृदय'·····'**—कछुआ अपने अंडों को पानी से बाहर बालू में रखता है और स्वयं जल में रहते हुए, स्मरण से ही उनका सेवन करता है, यथा—"कुटिल करम लै जाय मोहिं जहँ-जहँ अपनी बरियाई । तहँ-तहँ जिनि छिन छोह छाड़िये कमठ अंड की नाईं ॥" (वि० १०३) । इसी तरह श्रीरामजी श्रीअवध में रहते हैं और श्रीभरतजी ननिहाल (केकय देश) में रहते हैं, पर यहीं से उन्हें क्षण भर को नहीं भूलते और कृपा से उनका पालन करते हैं । (यह माधुर्य-दृष्टि का प्रीति-पूर्वक भक्त पर स्नेह है, अन्यथा वे तो सबके अन्तर्यामी ही हैं, उन्हींके आधार पर संसार है ।)

प्रीति के तीन भेद हैं—मर्कट, मार्जार और कमठ की तरह । मर्कट (बन्दर) से मार्जार (बिल्ली) की प्रीति श्रेष्ठ और उससे भी श्रेष्ठ कमठ (कछुए) की प्रीति कही गई है । जैसे श्रीभरत का प्रेम उच्च कोटि का है, वैसे ही श्रीरामजी का स्मरण भी है । द्रप्त-प्रपन्न की प्रीति भगवान् में मर्कट के बच्चे की-सी होती है, बच्चा माँ को पकड़े हुए निश्चिन्त रहता है । आर्त्त-प्रपन्न की प्रीति बिल्ली के बच्चे की-सी होती है । वह माँ पर निर्भर रहता है । माँ उसे स्वयं ग्रहणकर ले जाती है । कमठ की प्रीति उसके बच्चे के प्रति स्वतः रहती है । ऐसे जिसे स्वतः भगवान् ही सतत स्मरण करते हैं—"राम जप जेही" (दो० २१७) । अतः, भगवान् की यह प्रीति भक्त भरतजी के लिये अति उत्तम है ।

(४) **'सोभत लखि बिधु बढ़त ·····'**—सागर का जल नित्य दो बार चढ़ना-उतरता है, इसे ज्वार-भाटा कहते हैं । चन्द्र और सूर्य के आकर्षण ही इसके हेतु हैं । अमावस्या और पूर्णिमा को दोनों की परस्पर अनुकूलता रहती है, इसलिये इन तिथियों में अधिक ज्वार उठता है । पूर्णिमा को चन्द्रमा और सूर्य पृथ्वी के सन्मुख रहते हैं, इससे उस दिन आकर्षण-शक्ति की अधिकता होती है । सप्तमी और अष्टमी को दोनों शक्तियों के परस्पर प्रतिकूलता से ज्वार बहुत कम उठता है । यहाँ एक साथ ही सब रनिवास का उत्साह विविध मनोरथों के साथ बढ़ना और शोभा देना उत्प्रेक्षा का विषय है । श्रीराम-राज्याभिषेक-सम्बन्धी परममंगल पूर्णचन्द्रमा है । सब रनिवास सागर और उनका विविध मनोरथ के साथ रहना (उत्साहित होना, पुलकित होना, हर्षना) विविध-तरंगों की वृद्धि का विलास है । जैसे पूर्णिमा को समुद्र सोहता है, वैसे ही रनिवास सोहता है, यथा—"कौसिक रूप पयोनिधि पावन । प्रेम बारि अवगाह सुहावन ॥ राम रूप राकेस निहारी । बढ़त बीचि पुलकावलि भारी ॥" (बा० दो० २६१) यह रूपक यहाँ से मिलता है । पीछे कैकेयी राहु की तरह ग्रसेगी और वनयात्रा-रूप कृष्णपक्ष हो जायगा । यहाँ उपमा का इतना ही तात्पर्य है ।

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये । भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये ॥१॥
प्रेम-पुलकि तनु मन अनुरागीं । मंगलकलस सजन सब लागीं ॥२॥
चौकइँ चारु सुमित्रा पूरी । मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी ॥३॥

अर्थ—पहले जाकर जिन्होंने यह समाचार सुनाया, उन्होंने बहुत भूषण और वस्त्र पाये ॥१॥ (रानियों का) शरीर प्रेम से पुलकित है और उनके मन में अनुराग पूर्ण है, वे सब मंगल-कलश सजाने लगीं ॥२॥ श्रीसुमित्राजी ने सुन्दर चौकें पूरीं, जो तरह-तरह की मणियों की एवं नाना भाँति की और अत्यन्त सुन्दर थीं ॥३॥

विशेष—(१) **'प्रथम जाइ जिन्ह·····भूषन बसन भूरि ·'**—महर्षिजी ने लिखा है, यथा—तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥४६॥ त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् । सा हिरण्यं

च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च। व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्याप्रमदोत्तमा ॥४७॥" (वाल्मी० २।३), अर्थात् राजा के वचन (रामजी के प्रति राज्य देने का) सुनकर श्रीरामजी के मित्रों ने श्रीकौसल्याजी से कहा, इस प्रिय सन्देश-कथन पर माता ने उन्हें सोना, गौ और नाना रत्न देने की आज्ञा दी। रानियाँ बहुत हैं और समाचार सुनानेवाले भी 'जिन्ह' और 'तिन्ह' से बहुत कहे गये हैं। सबको श्रीरामजी समान प्रिय हैं। अतः, जिनके पास जिसने पहले पहुँचकर मंगल समाचार कहा, उसीने बहुत भूषण-वस्त्र पाये। पीछे सुनानेवाले सामान्य पाये, विमुख कोई नहीं हुआ, रनिवास को ऊपर समुद्र कहा गया है, समुद्र तरंगों के द्वारा रत्नों को बाहर डाल देता है, यथा—"सागर निज मरजाद रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं॥" (उ० दो० २२), इसी तरह रनिवास आनन्द और उत्साह के साथ भूषण-वस्त्र लुटा रहा है।

(२) 'मंगलकलस सजन सब लागी।'—यह 'परम मंगल' है और समय थोड़ा है, और भी बहुत मंगल सजना है। सभीको उत्साह है, इससे 'सब' का लगना कहा है।

(३) 'चौकइँ चारु सुमित्रा·····'—चौकें आटे-अबीर और लाल चावल से भी पूरी जाती हैं, पर यहाँ 'मनिमय' कहा है अर्थात् रंग-विरंग की मणियों के चूर्ण से पूरी गईं। 'अतिरूरी'—क्योंकि ऐसी ही गुरुजी की आज्ञा है—"रचहु मंजु मनि चौकइँ चारू।" (दो० ५)।

शंका—गुरुजी ने प्रथम—'रचहु मंजु मनि चौकइँ चारू।' कहकर तब 'कलस सजहु' कहा था, पर यहाँ पहले 'कलस' का ही सजना कहा गया, पीछे चौकें पूरना, यह क्यों ?

समाधान—श्रीसुमित्राजी मंगल-रचना में आचार्या एवं अग्रगण्या हैं, यथा—"मंगल मुदित सुमित्रा साजे।" (बा० दो० ३४५), वहाँ इन्हींके प्रारम्भ करने पर सब लगी थीं, वैसे ही कलश सजने से मंगल साज प्रारम्भ हुआ तो सुमित्राजी ने प्रारम्भ करवाया। फिर ये चौक पूरने में लगीं, क्योंकि इसकी रचना में इनसे निपुण कोई न थी और चौकों को विशेष विचित्र रचने को गुरुजी ने कहा है।

आनँद-मगन राममहतारी। दिये दान बहु बिप्र हँकारी ॥४॥
पूजी ग्रामदेवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा ॥५॥
जेहि बिधि होइ राम-कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू ॥६॥
गावहिं मंगल कोकिलबयनी। बिधुबदनी मृग-सावक-नयनी ॥७॥

दोहा—**राम-राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नरनारि।**
लगे सुमंगल सजन सब, बिधि अनुकूल बिचारि ॥८॥

शब्दार्थ—नागा = अधकुल नाग देव, ये मांगलिक समझे जाते हैं, इनके नाम—एलापत्र, अनन्त (शेष), पद्म, शंकु, अयुकम्बल, वासुकि, कर्कोटक और तक्षक (भक्तमाल-नाभाकृत २७), मंगल कार्यों में इनके पूजन का विधान है। ग्रामदेवि = वह देवी-देवता जो ग्राम स्थापन के समय बाहर प्रायः पच्छिम ओर स्थापित किये जाते हैं। इस तरह का अयोध्याजी में 'चुटकी देवी' का स्थान है। बलि भागा = देवताओं के यज्ञ का भाग, नैवेद्य, यथा—"बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि सस चहइ नाग अरि भागू॥" (बा० दो० २६६), "बलि पूजा चाहै नहीं।" (वि० १०७)।

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौसल्याजी आनन्द में मग्न हैं, उन्होंने बहुत-से ब्राह्मणों को बुलाकर बहुत दान दिये ॥४॥ ग्राम-देवियों, देवताओं और नागों की पूजा की और फिर (कार्य सफलता पर) भी बलि-भाग देने को कहा ॥५॥ (वर माँगती हैं—) जिस तरह श्रीरामजी का कल्याण हो, दया करके वही वरदान दीजिये ॥६॥ कोकिला की-सी सरस मधुरी वाणीवाली, चन्द्रमुखी और हिरण के बच्चों की-सी

आँखोंवाली स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं ॥७॥ श्रीरामजी का राज्याभिषेक सुनकर स्त्री-पुरुष हृदय से प्रसन्न हुए। ब्रह्माजी को अपने अनुकूल विचारकर सब सुन्दर माङ्गलिक सामग्री सजाने लगे ॥८॥

विशेष— (१) 'आनँद-मगन राम·····'—और माताओं को 'रहसेउ' कहा गया कि उन्हें हर्ष हुआ, कौसल्याजी तो श्रीरामजी की अपनी माँ हैं, अतएव आनन्द में डूब ही गईं। इससे दान ही देना अच्छा समझा।

(२) 'पूजी ग्रामदेवि सुर नागा।'—राजा 'विप्र साधु सुर' पूजते हैं और ये 'ग्रामदेवि···' आदि। स्त्रियाँ देवी की पूजा प्रायः करती ही हैं। 'ग्रामदेवि' से भूलोक, 'सुर' से स्वर्ग और 'नागा' से पाताल लोक, इस तरह तीनो लोकों के देवताओं की पूजा की और मनौती मानी, यथा—"तत्र तां प्रणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्। वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम्॥···प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्॥" (वाल्मी० २।४।३०-३३), अर्थात् अभिषेक की बात सुनकर श्रीरामजी ने माता को देखा कि वे देवालय में बैठी हुई रेशमी वस्त्र पहने मौन होकर प्रणाम करती हुई कल्याण की याचना कर रही हैं। ···जनार्दन पुरुष का प्राणायाम के द्वारा ध्यान कर रही हैं।

(३) 'जेहि बिधि होइ ·'—'कल्यानू' से यहाँ राज्य-श्री की प्राप्ति ही का तात्पर्य है, जैसे उपर्युक्त 'अयाचतीं श्रियम्' है, उसे ही वहीं पर आगे—"येयमित्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति॥" (वाल्मी० २।४।४१) से स्पष्ट किया है।

बालकाण्ड दो० ३५० में कहा गया है—"देव पितर पूजे बिधि नीकी।···सबहिं बंदि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना॥ अंतरहित सुर आसिप देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥" पर यहाँ देवगण आशीर्वाद नहीं दे रहे हैं, क्योंकि इस समय देवता गण अपने स्वार्थ के वश होकर प्रतिकूल हैं—"बिघन मनावहिं देव कुचाली।" (दो० १०)। लीला के अनुरोध से श्रीरामजी की प्रेरणा तो प्रधान है ही, नहीं तो सर्वत्र सूचना पहुँच गई, पर श्रीरामजी को प्राणों से अधिक प्रिय माननेवाली कैकेयी माता के यहाँ प्रथम-प्रथम कुटिला मन्थरा ही ने समाचार क्यों कहा!

(४) 'गावहिं मंगल कोकिल···'—पूर्व वा० दो० ३६५ में भी रानियों का मंगल सजना, पुनः—'मुदित करहिं कल मंगल गाना।' कहा गया था, यहाँ 'बिधु बदनी' भी कहा गया है, क्योंकि यहाँ देवी के मंडप में मुँह खोले बैठकर गा रही हैं।

(५) 'राम-राज-अभिषेक सुनि···'—पूर्व—"सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥" (दो० ६) पर जो प्रसंग छोड़ा था, वहीं से पुनः मिलाते हैं। पूर्व इनलोगों ने—"सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस।" (दो० १), पर जो मनौती मानी थी, उसके लिये अब मुहूर्त्त भी निश्चित होना सुन रहे हैं। अतः, विधाता को अपने अनुकूल समझते हैं। (पर वास्तव में विधाता इनके प्रतिकूल हैं)।

तब नरनाह बसिष्ठ बोलाये। रामधाम सिख देन पठाये॥१॥
गुरु-आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा॥२॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥३॥
गहे चरन सियसहित बहोरी। बोले राम कमल-कर जोरी॥४॥

अर्थ—तब राजा ने वसिष्ठजी को बुलाया और शिक्षा देने के लिये उन्हें श्रीरामजी के महल में भेजा॥१॥ गुरुजी का आगमन सुनते ही रघुनाथजी ने द्वार पर आकर उनके चरणों में सिर नवाया॥२॥ आदरसहित अर्घ्य देकर उनको अपने घर में लाये और सोलहो प्रकार से पूजन करके उनका सम्मान

किया ॥३॥ फिर श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी ने उनके चरण पकड़े (प्रणाम किया) और कमल के समान हाथों को जोड़कर उन्होंने कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'तब नरनाह बसिष्ठ ···'—वसिष्ठजी राजा के गुरु, मन्त्री और पुरोहित भी हैं, गुरुत्व कार्य में वसिष्ठजी के पास राजा स्वयं जाते हैं। मन्त्री के कार्य में मुनि ही नियत समय पर सभा में आते हैं और पुरोहिती के काम में वे बुलाये जाते हैं, यथा—"गुरु बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा।" (बा० दो० १९२), "भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी॥" (बा० दो० १९६), वैसे ही यहाँ भी पुरोहिती का ही कार्य है, यथा—"पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत्॥" (वाल्मी० २।५।१)। 'तब' अर्थात् जब 'विप्र साधु सुर' के पूजन से निवृत्त हुए। 'नरनाह'—नरमात्र को बुला सकते हैं। 'रामधाम'—यह 'कनक भवन' है, इसका विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।१५।३०-४८ में है। 'सिख देन'—आज के उपयुक्त नियम एवं संयम की शिक्षा देने के लिये।

(२) 'गुरु आगमन सुनत ···'—'रघुनाथा'—रघुकुल धर्मिष्ठ हैं, ये तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं, फिर क्यों न ऐसा धर्माचरण करें। अतः, इन्होंने द्वार पर आकर प्रणाम किया, इसमें शील स्वभाव भी दिखाया, यथा—"सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीन दयाला॥ ··· दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥" (दो० २४२), कहा भी है "गुरुभ्य आसनं देयं कर्त्तव्यं चाभिवादनम्। गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया॥" (महा० शान्ति० १९३।१६), अर्थात् गुरुजनों को आसन देना और प्रणाम करना उचित है। मनुष्य गुरुजनों की पूजा करके परम आयु, यश और सम्पत्ति से युक्त होते हैं तथा—"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥" (महा० उद्योग० २८।१), अर्थात् जब कोई (ज्ञान से एवं अवस्था से) बूढ़ा मनुष्य घर पर आता है तब युवा मनुष्य का प्राणवायु ऊपर को जाता है। उसको उत्थान और प्रणाम करने से वह वायु फिर लौटकर भीतर आ जाता है।

(३) "सादर अरघ देइ ··'—'सादर—'स्वयं हाथ पकड़कर रथ से उतारा।" (वाल्मी० २।५।७), और पट पाँवड़े देते हुए लिवा लाये। 'सोरह भाँति' यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्॥ मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राभ्याभरणानिच। सुगन्धं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम॥" ये षोड़शोपचार पूजा के भेद हैं।

(४) 'गहे चरन सिय सहित ···'—'बहोरी' एक बार पहले द्वार पर प्रणाम कर चुके हैं, अब श्रीसीताजी के साथ प्रणाम किया। श्रीसीताजी रानी हैं। अतः, बाहर नहीं जा सकीं, गुरुजी के आने पर पूजा की सामग्री में लगी थीं। पूजा हो जाने पर श्रीरामजी के साथ प्रणाम किया। श्रीचित्रकूट में भी लिखा है—"सीय आइ मुनिबर पग लागी।" (दो० २४५)।

सेवक-सदन स्वामि - आगमनू। मंगलमूल अमंगल - दमनू॥५॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइय काज नाथ असि नीती॥६॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयेउ पुनीत आजु यह गेहू॥७॥
आयसु होइ सो करउँ गोसाँई। सेवक लहइ स्वामि - सेवकाई॥८॥

दोहा—सुनि सनेह-साने बचन, मुनि रघुबरहिं प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस॥६॥

शब्दार्थ—लहइ = शोभा पाता है, यथा—"भलो भलाइ हि पे लहइ ···" (बा० दो० ५)।

अर्थ—(यद्यपि) सेवक के घर स्वामी का आगमन मङ्गलों की जड़ और अमङ्गलों का नाशक है॥५॥ तथापि उचित तो यह था कि हे नाथ! सेवक को कार्य के लिये प्रीति पूर्वक बुला भेजते, ऐसी

रीति है ॥६॥ हे प्रभो ! अपनी प्रभुता छोड़कर आपने मुझपर स्नेह किया, जिससे आज यह घर पवित्र हुआ ॥७॥ हे गोसाईं ! जो आज्ञा हो वही करूँ, (क्योंकि) सेवक स्वामी की सेवा से ही शोभा पाता है ॥८॥ ऐसे स्नेह में सने हुए वचनों को सुनकर मुनि वसिष्ठ रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी की प्रशंसा करने लगे—हे राम ! ऐसी बात तुम क्यों न कहो ? तुम इस सूर्यवंश के भूषण हो ॥९॥

विशेष—(१) 'तदपि उचित जन बोलि सप्रीती'—गुरु को अधिकार है कि वे शिष्य को डाँट-कर भी बुलावें, पर गुरु जब प्रीति के साथ बुलावें तो उनकी बड़ी कृपा एवं प्रसन्नता है।

(२) 'प्रभुता तजि प्रभु···'—'प्रभुता', यथा—"बड़ बसिष्ठ सम को जगमाहीं। (दो० २४२), श्रीवसिष्ठजी माधुर्य दृष्टि से इनके पुरुषों (बाप-दादों) के भी गुरु हैं और ऐश्वर्य दृष्टि से अखिलेश्वर के गुरु हैं। आपने स्नेहवश अपनी प्रभुता को छोड़कर वात्सल्य भाव से शिष्य के घर पधारकर उसको पवित्र किया। 'आजु'—इस घर में आज प्रथम ही आये हैं। नीति तो यह है कि सेवक स्वामी के घर जाय, पर प्रेम में इस नियम को आपने त्याग दिया।

(३) 'हंस-बंस अवतंस'—सूर्यवंश सदा से हंसवत् विवेकी होता आया, तुम उस कुल के भूषण हो, ऐसे उत्तमाचरण एवं नम्रता तुम्हारे योग्य ही हैं। दोनों ओर के प्रेम और प्रशंसा के बर्ताव सराहनीय हैं।

बरनि राम-गुन-सील - सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ॥१॥
भूप सजेउ अभिषेक - समाजू। चाहत देन तुम्हहिं जुवराजू। २॥
राम करहु सब संजम आजू। जौ बिधि कुसल निबाहइ काजू ॥३॥

अर्थ—मुनिराज श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करके प्रेम से पुलकित होकर बोले ॥१॥ राजा ने राज्याभिषेक का सामान सजाया है, वे तुमको युवराज-पद देना चाहते हैं ॥२॥ (इस-लिये) हे राम ! आज सब प्रकार का संयम (परहेज) करो, जो (जिससे) विधाता कुशलपूर्वक इस कार्य को निबाह दे ॥३॥

विशेष—(१) 'भूप सजेउ अभिषेक···'—तिलक के लिये प्रस्ताव राजा ने ही किया है, गुरुजी ने अनुमोदन मात्र किया है। अतः, राजा का ही सजना कहा।

(२) 'राम करहु सब संजम आजू।'—'संजम'—गुरुजी ने मन्त्र के द्वारा श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी को उपवास का संकल्प कराया। गुरुजी के जाने पर श्रीरामजी ने पत्नी के साथ स्नान करके विधिपूर्वक हवन किया, बचे हुए हवि का भोजन किया। कुश के बिछौनों पर मौनी एवं पवित्र चित्त होकर पत्नी-सहित लेटे और पहर रात रहे उठे, इत्यादि—ऐसा वाल्मी० २।६।१-५ में लिखा है। 'आजू'—आज ही से संयम करो कल प्रातःकाल तो मुहूर्त्त ही है। 'जौ बिधि···' क्योंकि ऐसे कार्यों में प्रायः विघ्न हुआ ही करते हैं। यह गुरुजी ने वात्सल्य-वश ब्रह्मा से एक तरह से प्रार्थना की है। परन्तु भावी-वश वचन ऐसे निकले कि जिससे कार्य में सन्देह प्रकट हो रहा है, क्योंकि श्रीरामजी की हार्दिक रुचि कुछ और ही है।

गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम-हृदय अस बिसमय भयेऊ ॥४॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥५॥
करनबेध उपबीत बिवाहा। संग संग सब भये उछाहा ॥६॥
बिमलबंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ॥७॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर आये लखन, मगन प्रेम आनंद ।
सनमाने प्रिय बचन कहि, रघुकुल - कैरव-चंद ॥१०॥

शब्दार्थ—बिसमय = आश्चर्य, इससे शंका और आश्चर्य दोनों ही मिले रहते हैं । केलि = खेल ।

अर्थ—गुरुजी शिक्षा देकर राजा दशरथ के पास गये, (इधर) श्रीरामजी के हृदय में ऐसा विस्मय हुआ ॥४॥ कि हम सब भाई एक साथ उत्पन्न हुए, भोजन करना, सोना, लड़कपन के खेल, कनछेदन, जनेउ और विवाह आदि सभी उत्सव साथ-साथ हुए ॥५-६॥ इस निर्मल (सूर्य) वंश में यह एक (बड़ी) अनुचित बात हो रही है कि भाइयों को छोड़कर एक बड़े ही का राज्याभिषेक होता है ॥७॥ प्रभु का प्रेम के साथ यह सुन्दर पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता को हरण करे ॥८॥ उसी समय प्रेम और आनन्द में मग्न लक्ष्मणजी आये, रघुकुल रूपी कुई के प्रफुल्ल करनेवाले चन्द्रमा-रूप श्रीरामजी ने प्रिय-वचन कहकर उनका सम्मान किया ॥१०॥

विशेष—(१) 'जनमे एक संग सब ··संग-संग · सब'—और सब संस्कार तो साथ-साथ हुए, स्पष्ट हैं, जन्म के विषय में पायस के विभाग को लेना चाहिये, जिसे राजा ने एक साथ ही किया था ।

(२) 'बिमल बंस यह अनुचित एकू ।'—'एकू' अर्थात् अभी तक इस वंश में और कोई अनुचित कार्य नहीं हुआ, परन्तु यही 'एक' ऐसा बड़ा अनुचित है जिससे यह वंश कलंकित होगा कि एक भाई भरत को सूचना तक नहीं दी गई, जिससे लोकापवाद होगा कि भाई को बिहाइ (हटाकर) चुपके-से राज्य ले लिया, जिससे हमारी भी निन्दा होगी ।

भाव यह कि चारो भाई रहते, हमें युवराज, भरतजी को सहायक, लक्ष्मणजी को कोषाध्यक्ष और शत्रुघ्न को सेनाध्यक्ष आदि बनाया जाता तो अच्छा होता ।

देखिये, भावी की चाल कि एकाएक राजा को श्वेत केश देखकर युवराज-पद देने की वृत्ति हुई । "साथ ही घोर अशकुन होने लगे, जिससे वे घबराकर अत्यन्त शीघ्रता के कारण भरतजी के मामा एवं भरत-शत्रुघ्न तथा जनकजी को न बुला सके । (यही अनर्थ का कारण हो गया), राजा ने सोचा कि ये लोग पीछे सुनकर प्रसन्न होंगे ।" (वाल्मी० २।१।४२-४८) । इधर श्रीरामजी सोचने लगे कि ऐसे दूषित पद को हम न ग्रहण करेंगे । पार्वतीजी ने कहा था—"राज तजा सो दूषन काही ।" (वा० दो० १०९), इसका उत्तर यही अर्द्धाली है—'बिमल बंस यह अनुचित एकू ।···' श्रीरामजी अपने लीला-विधान के अनुरूप सबकी प्रवृत्ति कर देते हैं, जैसे नारदजी को मोहवश किया और उनसे शाप लेकर लीला की । कहा भी है—"त्वदाश्रितानां···" (आलवन्दार स्तोत्र), यहाँ 'हरि इच्छा भावी बलवाना ।' प्रत्यक्ष है ।

(३) 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई । हरउ···'—ऊपर 'बिसमय भयऊ' कहा था, उसीका कार्य यहाँ 'पछितानि सुहाई' से प्रकट हुआ । प्रभु के इस प्रेम-पूर्वक पछताने को सुन्दर कहकर ग्रन्थकार सराहना कर रहे हैं, साथ ही इसका फल भी कह रहे हैं कि यह भक्तों के मन की कुटिलता को हरेगो । वह इस प्रकार कि भगवान् का श्रीमुख वचन है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११), यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पण मुख कांति ।" (वि० २३३), "नाहमात्मानमाशासे भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥ ·····साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि ॥" (भा० ९।४।६४-६८), इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि भगवान् भक्तों के हृदय के अनुकूल ही उनके सम्मुख रहते हैं । भरतजी श्रीरामजी के बिना सब ऐश्वर्य सहित अपनेको व्यर्थ मानते हैं—"बादि मोरि सब बिनु रघुराई ।" (दो० १७१), उसी तरह श्रीभरतजी के बिना श्रीरामजी इस राज्यश्री को व्यर्थ मानते हैं । भक्त भगवान्

ः साथ (अर्पण करके) ही कोई वस्तु ग्रहण करते हैं। वैसे भगवान् भी भक्तों के साथ ही कोई भी सुख हण करते हैं। यह अन्योन्य सापेक्ष्य है।

यह व्यवस्था इस 'पछितानि' से रह जाती है, अन्यथा भक्तों के मन में यह कुटिलता आती कि ाब भरत ऐसे भक्त के साथ भी श्रीरामजी ने प्रीति का निर्वाह नहीं किया, उनसे छिपकर पिता को सन्न कर अकेले राज्य ले लिया तब हमलोगों को कौन भरोसा है कि वे प्रीति निवाहेंगे। स्वामी को ार्थी समझना ही कुटिलता है।

श्रीरामजी ने सर्वत्र भक्तों के साथ उत्तम प्रीति का निर्वाह किया है, जैसे आपको प्रिया-वियोग ा अत्यन्त दुःख था, पर पहले भक्त सुग्रीव का स्त्री-विरह छुड़ा, उसे सुखी करके तब पीछे अपने सुख ा उपाय किया, ऐसे ही विभीषणजी का प्रथम राज्य-श्री देकर तब आपने श्रीसीताजी को बुलाया। और, ीछे अपना राज्य ग्रहण किया।

यह भी भाव है कि भक्तों के मन में यदि कभी अपने भाई-बन्धु के प्रति स्वार्थ-साधना रूप ुटिलता आ जायगी, यथा—"स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह" (बा० दो० १३६), अर्थात् स्वार्थ-साधना ही ुटिलता है। तब वे अपने इष्ट के इस स्वभाव का स्मरण करेंगे तो वह कुटिलता दूर हो जायगी, क्योंकि ाक्तों को स्वामी का-सा आचरण रखना चाहिये, यथा—"रामति रामभक्ताः" "कृष्णति कृष्णभक्ताः" र्थात् श्रीराम-कृष्ण के भक्त उनके आचरणवाले होते हैं, ये व्याकरण में उदाहरण हैं।

(४) 'तेहि अवसर आये लखन··· ' '—यहाँ श्रीरामजी की दृष्टि कुल-व्यवहार सुधार पर ः—'बिमल बंस यह अनुचित··· ··' अतएव 'रघुकुल कैरव चंद' कहा है, ऐसे ही कुल-सम्बन्धी व्यवस्था र अन्यत्र भी कहा है—"राम कसन तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस।" (दो० ९), "सनमाने सब वि कुल दीपा।" (दो० २९५)। 'प्रिय बचन', यथा—"श्रीरामजी मुसकाते हुए श्रीलक्ष्मणजी से बोले—लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथ्वी का शासन करो, तुम मेरे दूसरे अन्तरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें ाप्त हुई है। लक्ष्मण! वांछित भोग और राज्य फल भोगो। मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिये ः।" (वाल्मी० २।४।४३-४४)।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर प्रमोद नहिं जाइ बखाना ॥१॥
भरत-आगमन सकल मनावहिं। आवहु बेगि नयन-फल पावहिं ॥२॥
हाट बाट घर गली अथाई। कहहिं परसपर लोग लोगाई ॥३॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा ॥४॥
कनक-सिंहासन सीयसमेता। बैठहिं राम होइ चित-चेता ॥५॥

शब्दार्थ—आवहु = यह विधि क्रिया का रूप है, पर इसमें इंगित बोधक क्रिया का अर्थ लिया जाता है, जैसे ःउ' = दें। 'हरउ' = हरें, वैसे 'आवहु' = आवें, ऐसे प्रयोग प्रायः सर्वत्र हैं। लोगाई = स्त्रियाँ। अथाई = चबूतरा ा बैठक, यथा—"गोप अथाइन्ह ते उठे···" (बिहारी-सतसई)। केतिक बारा = कितनी देर है, वा किस समय है।

अर्थ—तरह-तरह के बाजे अनेकों प्रकार से बज रहे हैं, श्रीअवधपुर के अत्यन्त आनन्द का वर्णन हीं किया जा सकता ॥१॥ सब लोग भरतजी का आना मना रहे हैं कि शीघ्र आवें और आँखों का फल ावें ॥२॥ बाजार, मार्ग, घर, गली और अथाई में स्त्री-पुरुष आपस में (यही) कह रहे हैं ॥३॥ कि ुभ लग्न कल किस समय है? (वा, कल के सुन्दर लग्न को कितनी देर है?) जिस समय विधाता ुमारी अभिलाषा पूरी करेगा ॥४॥ जब सोने के सिंहासन पर श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी बैठेंगे और ुमारी मनभाई बात एवं चित्त का चाहा होगा ॥५॥

विशेष—(१) बाजहिं बाजन बिविध ''—पुर जनों का प्रसंग—"राम-राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नर-नारि। ''' (दो० ८) पर छोड़ा था, वहीं से यह प्रसंग मिलाया। 'बिविध बिधाना'—'भेरि संख'''झाँझ बिरव डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥" (बा० दो० ३४३), तथा—"बिबिध बिधान बाजने बाजे।" (बा० दो० ३४५) भी देखिये।

(२) 'आवहु बेगि ''—क्योंकि रात ही भर में आ जाना चाहिये, पर वे कैकय देश में हैं, और बुलावा नहीं जा सका, तो दैवी गति से ही आवें तो आ सकते हैं, इसलिये सब देवताओं को मनाते हैं।

(३) 'कालि लगन भलि '''—यह लगन भली है, यथा—"कबहिं लगन मुद मंगल कारी॥ सुकृत सील सुख सीव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥" (दो० ५१)।

(४) 'कनक सिंहासन सीय '''—यही इनकी उपर्युक्त अभिलाषा है, सिंहासन राजाओं या देवताओं के बैठने का आसन या चौकी, इसके 'हत्थों' पर सिंह का आकार बना हुआ होता है। यह काठ, सोना, चाँदी, पीतल आदि का होता है, यहाँ का सुवर्ण और रत्नों का है, इसलिये 'कनक' विशेषण भी कहा गया है। इसीको रत्न-सिंहासन भी कहते हैं। उत्तरकाण्ड में इसका विशेष वर्णन होगा, यथा—"तुरत दिव्य सिंघासन माँगा" "रबि सम तेज सो बरनि न जाई।" (उ० दो० ११), क्योंकि वहीं इसपर बैठेंगे भी, यहाँ तो बैठेंगे नहीं, इसलिये नाम मात्र कह दिया गया है।

राज-रस-भंग-प्रकरण

सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥६॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहिं चंदिनि राति न भावा॥७॥
सादर बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं॥८॥

दोहा—बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिय सोइ आज।
राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुर-काज॥११॥

अर्थ—सब लोग (आपस में) यही कह रहे हैं कि (वह) कल कब होगा? (और) कुचाली (खोटी चालवाले) देवता विघ्न मना रहे हैं॥६॥ उन्हें अयोध्याजी का बधावा (उत्सव) नहीं अच्छा लग रहा है, जैसे चोर को चाँदनी रात अच्छी नहीं लगती॥७॥ सरस्वती को बुलाकर (उसका आवाहन करके) देवता विनय करते हैं, बार-बार उसके पाँवों पर पड़ते हैं॥८॥ (कहते हैं कि) हे माता! हमारी बड़ी भारी विपत्ति को देखकर आज वही कीजिये, जिससे श्रीरामजी राज्य छोड़कर वन को जायँ और सब देवताओं के सब कार्य सिद्ध हों॥११॥

विशेष—(१) 'कब होइहि काली', यथा—"तदाह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः॥" (वाल्मी० २।५।१९), अर्थात् अयोध्यावासी अत्यन्त उत्सुकता से अकुला गये हैं। रात का बीतना भारी हो रहा है। काली=कल, क्रि० वि० (सं० कल्य=प्रत्यूष, प्रभात)=दूसरे दिन का सवेरा—हिं० श० सा०।

'देव कुचाली'—सब तो उत्सव को चाह रहे हैं और ये देवता विघ्न। अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के मंगल कार्य को नष्ट करके अमंगल चाहते हैं। अतः, 'कुचाली' हैं।

(२) 'तिन्हहिं सोहाइ न '''चोरहिं चंदिनि '''—पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय और उत्तरार्द्ध उपमान रूप है। चाँदनी रात सबको भाती है, पर चोरों को नहीं भाती, क्योंकि उसमें वे पकड़े जाकर जेल में पड़ेंगे।

यहाँ राम-राज्याभिषेक का उत्सव सबको भाता है, पर देवताओं को नहीं, क्योंकि इससे श्रीरामजी राज्य के कार्य में लग जायँगे, ये लोग रावण के बन्दीगृह में ही पड़े रहेंगे, यथा—"लोकप जाके बंदीखाना" (लं० दो० ८८)। चाँदनी रात स्वच्छ होती है, वैसे ही राम-राज यश विरुद से उज्ज्वल है। यश की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है।

अलंकार—'प्रतिवस्तूपमा' है, क्योंकि पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में उपमेय और उपमान के एक ही धर्म दो शब्दों ('सोहाइ न' और 'न भावा') से कहा गया है।

(३) 'सारद बोलि बिनय···'—अपनेसे कुछ उपाय बनते न देखकर सरस्वती का आवाहन किया। पहले प्रार्थना की, पर उसका रुख न पाया, तब पाँव पकड़कर पड़ जाते हैं, उसे संकोच में लाने के लिये उपाय कर रहे हैं। 'पाँव लै पड़ना' मुहावरा है जो उपर्युक्त अर्थ में ही कहा जाता है। सभा के बीच में मान छोड़ पाँव पड़ते हैं।

(४) 'बिपति हमारि बिलोकि···'—सरस्वती इनके स्वार्थ के लिये नगर-भर को विपत्ति देना नहीं चाहती, इसलिये उसे दिखाते हैं कि अवधवासियों से हमारी विपत्ति बड़ी है, क्योंकि वे लोग इस विपत्ति में अपने घर में तो रहेंगे और हमलोगों को तो कहीं ठिकाना नहीं मिल रहा है, यथा—"सुर पुर नितहिं परावन होई।" (बा० दो १७९), रावण की बेगारी करनी पड़ती है—"दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।" (लं० दो० २७), "लोकप जाके बन्दीखाना।" (लं० दो० ८९), 'सकल सुरकाज'—अयोध्यावासी थोड़े हैं और देवता (हम) लोग ३३ कोटि हैं। अतः, उनकी अपेक्षा हमारी विपत्ति बड़ी है। बड़ी के समक्ष में छोटी पर ध्यान न दो। 'राम जाहिं बन राज तजि'—एक तो राज्य का त्याग करें, दूसरे वन जायँ, तभी देव-कार्य होगा, "गुरु गृह बसहु राम तजि गेहू।···" आदि न हो, यह भाव भी है। वन जाने पर यहाँ साधुओं पर बाधा देखेंगे तो अवश्य रावण आदि का वध करेंगे "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" (गीता० ४।११), आपका अवतार ही है। आगे वन में जाने पर वैसा ही हुआ भी है। मुनियों के अस्थि-समूह देखकर आपने 'निसिचरहीन करउँ महि' यह प्रतिज्ञा ही की है। वन जाना प्रधान है। अतः, प्रथम कहा। 'मातु'—ब्रह्मा जगत् मात्र के पितामह हैं, शारदा उनकी पत्नी है। अतः, देवताओं की भी माता है। माता के जब बच्चे दोनों पाँव पकड़कर विनती करें और दुःख सुनावें, तब उसे दया एवं संकोच आ ही जाता है। 'आज'—क्योंकि रात ही भर में सब कुछ करना है, यथा—"होइ अकाज आज निसि बीते।" (दो० २१), सवेरे तिलक हो जाने पर कुछ न होगा।

सुनि सुरबिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज-बिपिन-हिमराती ॥१॥
देखि देवि पुनि कहहिं निहोरी। मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी ॥२॥
बिसमय - हरष - रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम-प्रभाऊ ॥३॥
जीव करमबस-सुख-दुख-भागी। जाइय अवध देवहित लागी ॥४॥

अर्थ—(सरस्वती) देवताओं की प्रार्थना सुनकर खड़ी-खड़ी पछता रही हैं, (कि हा !) मैं कमल-वन के लिये हिम (हेमन्त ऋतु की) रात हुई ॥१॥ यह देखकर देवता गण फिर प्रार्थना-पूर्वक 'सदा कृतज्ञ रहूँगा'—यह (निहोरा) दिखाते हुए कहते हैं कि माता ! तुम्हें कुछ भी दोष नहीं लगेगा ॥२॥ (क्योंकि) श्रीरामजी तो दुःख-सुख से रहित हैं, ऐसी श्रीरामजी की सब महिमा को तो तुम (स्वयं) जानती हो ॥३॥ और जीव कर्म-वश दुःख-सुख के भोक्ता होते ही हैं। अतः, देव-हित के लिये अवध जाओ ॥४॥

विशेष—(१) 'ठाढ़ि पछितातीं'—देवता लोग स्वार्थ-वश अकुला उठे हैं। इससे आवाहन करके इसे आसन भी नहीं दिया और दुःख सुनाने लगे, वह खड़ी ही रह गई। पछता रही है कि मैं बेकार आई, अब न तो ऐसा निष्ठुर कार्य ही करते और न इन दुखियों को कोरा उत्तर ही देते बनता है।

'भइउँ सरोज बिपिन हिम राती।'—अवधपुर-वासी कमल वन हैं और वे श्रीरामरूप सूर्य के उदय रूप तिलक द्वारा प्रफुल्ल हैं। श्रीरामजी का दक्षिण दिशा के वन को जाना सूर्य का दक्षिणायन होना है। इससे पुरवासियों को विरह से जलाना पाला डालना है, ये सब हिमऋतु की रात्रि की उपमा के भाव हैं।

(२) 'देखि देव पुनि कहहिं···'—'देखि', सरस्वती को पश्चात्ताप करते देखकर देवों ने समझा कि यह लौटना ही चाहती है। अतः, फिर से निहोरा प्रकट करते हुए कहने लगे कि हम सब आजन्म कृतज्ञ रहेंगे, फिर हे माता, इसमें तुम्हारी कुछ भी बुराई न होगी, क्योंकि वन जाने का श्रीरामजी का रुख है, यथा—"तब किछु कीन्ह राम रुख जानी।" (दो० २१७), यह बृहस्पतिजी ने कहा है। (बुराई तो मन्थरा-कैकेयी की होगी)।

(३) 'बिसमय हरष रहित···'—विस्मय (विषाद) और हर्ष आदि विकार अज्ञ जीव में होते हैं, श्रीरामजी तो ब्रह्म हैं, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥ राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥" (बा० दो० ११५), श्रीराम ब्रह्म में हर्ष-विषाद नहीं है, यथा—"बिसमउ हरष न हृदय कछु···" (दो० १६५), "सुनि मन भयउ न हरष हरासू।" (दो० १४८), "तुलसिदास दुखसुखातीत हरि···" (गी० सुं० १७)। यहाँ देवगण ऐश्वर्य दृष्टि से कह रहे हैं और जो "राम हृदय अस बिसमउ भयऊ।" (दो० ९) कहा गया, वह माधुर्य दृष्टि में है, जैसे "एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते···" (कि० दो० ७) पर भ्रम कहा गया है। 'तुम्ह जानहु सब राम-प्रभाऊ'—श्रीरामजी के सब-प्रभाव को सरस्वती ही क्या, ब्रह्मादि देवता भी नहीं जान सकते, वेद भी नेति-नेति कहकर रह जाते हैं, यथा—"सारद सेष महेष बिधि, आगम निगम पुरान। नेति-नेति···" (बा० दो० १२) और गीता १०।१२-१५ एवं—उ० दो० ६०-६१ भी देखिये। पर यहाँ देवता लोग स्वार्थान्ध होने से चाटु (चापलूसी) वचन स्तुति रूप में कह गये, सरस्वती को प्रशंसा आदि से अनुकूल करना है।

श्रीरामजी के विषय में कहकर अब प्रजा के विषय में कहते हैं—

'जीव करम बस दुख···'—प्रकृति के गुणों से प्रकृति ही के परिणाम-रूप देह-द्वारा जीवों के कर्म होते हैं। पूर्व कर्मानुसार और वह भी ईश्वर की प्रेरणा से, जीव इच्छा मात्र करता है, इसीसे कर्त्ता कहा भी जाता है। पर वह जीव अहंकार से मोहित होने से, अपनेको स्वतन्त्र कर्त्ता मान लेता है, इसीसे दुःख-सुख का भागी होता है, यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि···" (गीता ३।२७), तथा—"कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥" (गीता १३।२०), पुनः—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८), यथा—"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१)। सुख-दुःखों के अनुभव होने का कारण भी अज्ञान ही है, यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १४९), तथा—"स्वकर्म प्रत्ययाँल्लोकान् सर्वे गच्छन्ति वै नृप।" (महा० अनुशा० १।८१), अर्थात् सब कोई अपने-अपने कर्मों से स्वर्ग और नरक आदि लोकों को प्राप्त होते हैं। एवं—"प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः॥" (महा० आश्व० ४३।२१), अर्थात् देवताओं का लक्षण प्रकाश और मनुष्यों का लक्षण कर्म है। 'देव हित लागी'—हम सब देवता हैं और तुम देवी हो, इस धरू सम्बन्ध से भी हमारा ही हित करना आपका कर्त्तव्य है।

बारबार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध-मति पोची॥५॥
ऊँच निवास नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥६॥
आगिल काज बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥७॥
हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥८॥

दोहा—नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस-पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ॥१२॥

शब्दार्थ—पँकोची = संकोच में डाला। पोचि = नीच, ओछी। पेटारी (सं० पेटिका) = प्रायः बाँस की खँपाचियों के बने हुए सन्दूकनुमा कूबरयुक्त ढक्कनदार डब्बे। फेरि = पलटकर।

अर्थ—जब देवताओं ने बार-बार पाँवों को पकड़-पकड़कर उसे संकोच में डाल दिया तब वह यह सोचकर चली कि देवताओं की बुद्धि नीच है ॥५॥ निवास तो इनका उच्च (लोकों में) है, पर कर्म इनके नीच हैं, ये दूसरे की नहीं देख सकते ॥६॥ (परन्तु) फिर आगे के कार्य विचार कर कि चतुर कवि लोग मेरी चाह करेंगे ॥७॥ वह हृदय से हर्षित हो दशरथजी के नगर में आई, मानों दुस्सह दुःख देनेवाली कोई ग्रह दशा आई हो ॥८॥ मन्थरा नाम की मन्द बुद्धि कैकेयी के यहाँ एक दासी थी, सरस्वती उसे अपयश की पिटारी बनाकर और उसकी बुद्धि फेर कर चली गई ॥१२॥

विशेष—(१) 'बार-बार गहि चरन···'—बार-बार चरण पकड़ना अत्यन्त दीनता एवं शरणागति है। अतः, वह संकोच में पड़ गई, क्योंकि—"सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि॥" (सुं० दो० ४३)। 'बिबुध मति पोची'—कहने को बिबुध (विशेष-बुद्धिमान्) है, पर इनकी बुद्धि बड़ी ओछी है, यथा—"जो सेवक साहिबहि सकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥" (दो० २६७)।

(२) 'ऊँच निवास नीच···'—देवता ऊँचे अर्थात् स्वर्ग में तो रहते हैं, पर मत्सर से भरे हैं—"स्वर्गहु मिटइ न सावत" (वि० १८५)। मत्सर आसुरी वृत्तिवाले असुरों (पातालवासियों) की प्रकृति का विकार है। यहाँ 'मति पोची' पद से देवों के हृदय की मलिनता और 'नीच करतूती' पद से कर्म की बाह्य मलिनता कही गई है।

(३) 'आगिल काज बिचारि·····'—प्रथम इसे भय था कि ऐसा करने से जगत् में मेरी पूजा-प्रतिष्ठा उठ जायगी, इससे देवताओं को बुरा-भला कहा, परन्तु विचार करने पर अनुभव हुआ कि श्रीरामजी के वन जाने से विस्तृत लीला होगी, उसे चतुर कवि लोग लिखना चाहेंगे, तब मेरा आवाहन करेंगे और मैं सबकी जिह्वा पर बैठकर श्रीराम-चरित्र कहूँगी, यथा—"भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥" (बा० दो० १०)। इससे जगत् में मेरा भी यश होगा, तब वह हर्ष पूर्वक चली।

(४) 'दसरथ पुर आई'—यह दशा दशरथजी और उनके पुर पर ही बीतेगी, इसलिये दशरथ पुर कहा, राम पुर न कहा, क्योंकि उसमें अनर्थ नहीं हो सकता। 'ग्रह दसा दुसह·····'—सरस्वती मंगल रूपा है, किन्तु आज क्रूर बनकर आई है, इसलिये उसे दुस्सह ग्रह दशा की उपमा दी गई। 'ग्रह दसा' किसी भी ग्रह की एवं किसी भी क्रूर ग्रह की दशा में लग सकती है, पर 'दुसह' कहने से शनि की साढ़े साती दशा से तात्पर्य है, आगे कहा भी है—"अवध साढ़ साती जनु बोली।" (दो० १६)।

'नाम मंथरा मंद मति···'—इसका नाम और मति दोनो ही मन्द हैं। 'चेरी कैकइ केरि'—वह कैकेयीजी के पिता के घर से आई हुई दासी है। कैकेयी के साथ ही कैकय देश से आई थी और सदा कैकेयी जी के साथ ही रहती थी, यथा—"ज्ञाति दासी यतो जाता कैकेय्या सुसहोषिता।" (वाल्मी० २।७।१)। ऐसी दासी का बर्ताव घर के अन्य लोगों के साथ जैसा रहता है, यह भारतवर्ष के गृहस्थों में प्रकट है। इसका तो नाम ही मन्थरा था, जिसका अर्थ है, मथने (बिलोने)-वाली, उथल-पुथल मचानेवाली, मन्द बुद्धि। फिर इसके लक्षण भी वैसे ही थे, यथा—"काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि

पुनि चेरि……" (दो० १४), अपने नीच स्वभाव के कारण इसे कौसल्याजी से चिढ़ थी। अतः, सरस्वती ने इसे ही योग्य पात्र चुना, क्योंकि बुद्धि के योग्य ही माया भी लगती है, यथा—"भरत जनक मुनि जन सचिव, साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहिं, जथाजोग जन पाइ॥" (दो० ३०२)। अवध में यही एक कुजाति एवं कुबुद्धि थी और दूसरे देश की थी, इसीसे इसे ही अपयश की पिटारी बनाई। सन्दूक न कह कर पिटारी ही कहा है, क्योंकि पिटारी का ऊपरी ढकन कूबर युक्त (उठा हुआ) होता है, वैसे यह भी कुब्जा (कूबरी) थी। पिटारी में स्त्रियाँ भूषण-वस्त्र रखती हैं, इसके पेट में सरस्वती ने अपयश के (देनेवाले) अवगुण भर दिये। पेटारी जो खोलता है, वही उसमें रक्खे पदार्थ पाता है, वैसे ही कैकेयी इससे बात करती हुई इसे खोलेगी, वही अपयश पायेगी। महा० वन० २७६।६-१० में लिखा—"तेषां समक्षं गन्धर्वी दुन्दुभी नाम नामतः। शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये॥ पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुन्दुभी ततः। मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत्तदा॥" अर्थात् उन सबके समक्ष दुन्दुभी नाम की गधर्न्वी को ब्रह्माजी ने आज्ञा दी कि कार्य-सिद्धि के लिये जा, तब वही कुबड़ी मन्थरा नाम से हुई।

शंका—ऐसी कुरूपा को कैकेयीजी ने दासी क्यों बनाया था?

समाधान—रानियाँ प्रायः सुन्दरी दासी नहीं रखतीं, कि ऐसा न हो कभी सौत बन बैठे। कैकेयीजी की और भी दासियाँ कुरूपा थीं, यथा—"कैकय्या गृहं…… कुब्जा वामनिका युतम्।" (वाल्मी० २।१०।११-१३)। 'गई गिरा'—सरस्वती चली गई, क्योंकि वह अवध पर विपत्ति देख न सकती थी।

'चेरी कैकइ केरि' का यह भी भाव है कि "कैकेयी की माता ने अपने पति के मारने में कसर नहीं उठा रक्खी थी, इसीसे अन्त में वह निकाली गई। माँ के गुण कैकयी में भी होने ही चाहिये।" (वाल्मी० २।३५।१७-२८), [इसीसे सरस्वती ने दूसरा पात्र इसे ही चुना है—"गई गिरामति धूति।" (दो० २०६),] पुनः, जैसी कैकेयी है, वैसी उसकी दासी को भी होनी ही चाहिये। 'मति फेरि'—शारदा मति फेरने में प्रवीण है, यथा—"सारद प्रेरि तासु मति फेरी।" (बा० दो० १७६), "रावन कुंभकरन बर माँगत सिव बिरंचि बाचा छले।" (गी० सुं० ४१), उसी प्रकार यहाँ अपने स्वामी श्रीरामजी के रुख एवं प्रेरणा से यह हर्षपूर्वक आई कि स्वामि-कार्य होगा, यथा—"सारद दारुनारि सम स्वामी, राम सूत्रधर अंतरजामी॥" (बा० दो० १०४)।

दीख मंथरा नगर बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥१॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू॥२॥
करइ बिचार कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाज कवनि बिधि राती॥३॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती॥४॥

अर्थ—मन्थरा ने देखा कि नगर सजाया गया है, सुन्दर मंगलाचार हो रहे हैं और बधावे बज रहे हैं॥१॥ तब उसने लोगों से पूछा कि क्या (किस विषय का) उत्सव है? जब सुना कि रामजी का तिलक है, तब उसके हृदय में जलन हुई॥२॥ वह दुर्बुद्धि कुजातिवाली विचार करने लगी कि किस उपाय से आज रात ही में कार्य हानि (विघ्न) हो?॥३॥ जैसे कोई कुटिला किरातिनी (भीलनी) मधु (शहद) का छत्ता लगा हुआ देखकर दावँ (घात) विचारे कि इसे किस तरह से ले लूँ?

विशेष—(१) 'पूछेसि लोगन्ह'—लोग रचना कर रहे थे, उन्हींसे पूछा। यह स्त्री है, स्त्रियों से ही पूछती, पर स्त्रियाँ महलों के भीतर थीं। 'कुबुद्धि कुजाती'—एक तो यह स्वयं 'मंदमति' थी, फिर सरस्वती ने और भी मन्द कर दिया। अयोध्या में यही एक 'कुजाती' थी, और तो सब सुजाति थे, यथा—"मनिगन पुर-नरनारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर…" (दो० १)।

(२) 'देखि लागि मधु कुटिल·····'—'कुटिल' दीप-देहली है। 'मधु कुटिल' यह मधु सारंग मक्खियों का होता है। यह बड़ी सावधानी से रात में निकाला जाता है। 'कुटिल किराती'—किराती अवध में दो कही गई हैं—मन्थरा और कैकेयी। कैकेयी सीधी किरातिनी है—"बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।" (दो० ८३), और मन्थरा टेढ़ी किरातिनी है, क्योंकि कुबड़ी है।

यहाँ अयोध्या वन है, यथा—"नगर सफल बन···" (दो० ८३), राजमहल छत्ता है, राम-राज्याभिषेक मधु (जो सब सुकृत रूप फूलों का रस है), पुरवासी लोग मधुमक्खियाँ हैं—"बिकल मनहुँ माखी मधु छीने।" (दो० ७५), मन्थरा कुटिल किरातिनी है (टेढ़ी अंग और तिरछी निगाह से घात ताकना अच्छा बनता है) 'गँव तकइ'—दावँ ताक रही है, इतने में दावँ चित्त में आ गई कि भरतजी ननिहाल में हैं। अतः, कहने का दाँव है। उन्हें बाहर भेजकर कौसल्या चुपके से अपने पुत्र को राज्य दिलाती हैं। सारंग मधु बड़े गँव से कम्बल ओढ़कर रात में निकाली जाती है, वैसे ही यह रात में कैकेयी रूप कम्बल की ओट से गुरु-मन्त्री एवं पुरवासियों की आँखें बचाकर राम-राज्य रूपी मधु निकाल भरतजी को देने का प्रयत्न विचारती है।

भरतमातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी ॥५॥
ऊतर देइ न लेइ उसासू। नारि-चरित करि ढारइ आँसू ॥६॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्हि लखन सिख अस मन मोरे ॥७॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि ॥८॥

दोहा—सभय रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल।
लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी-उर साल ॥१३॥

शब्दार्थ—अनमनि (अन्यमनस्क) = उदास, दुःखी। हसि = है (तू)। उदास = ऊर्ध्व श्वास। गाल = बड़बड़ाने का स्वभाव। गाल बड तोरे = गर्व सहित बकवाद करने की आदत तेरी है। साल = दुःख।

अर्थ—भरतजी की माता के पास बिलखती हुई गई। रानी ने हँसकर पूछा—क्यों दुःखी है? ॥५॥ वह कुछ जवाब नहीं देती, ऊर्ध्व साँसें ले रही है और स्त्री-चरित्र करके आँखों में आँसू बहा रही है ॥६॥ हँसकर रानी ने कहा कि तेरे बड़े गाल हैं, मेरे मन में ऐसा जान पड़ता है कि तुझे लक्ष्मण ने शिक्षा दी है (दंड दिया है) ॥७॥ इतने पर भी चेरी मन्थरा नहीं बोली, क्योंकि वह बड़ी पापिनी है, ऐसी साँसें छोड़ रही है, मानों काली सर्पिणी हो ॥८॥ रानी ने डरकर कहा, अरी, बोलती क्यों नहीं? (अपने बिलखाने का कारण क्यों नहीं कहती?) राम, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं? (इन सबका) कुशल क्यों नहीं कहती? कुबड़ी मन्थरा के हृदय में यह सुनकर बड़ी पीड़ा हुई ॥१३॥

विशेष—(१) 'भरतमातु पहिं·····'—भरत की माता कहा है, क्योंकि अभी इसका हृदय भरत के हृदय की तरह शुद्ध है। 'बिलखानी' का ही अर्थ 'अनमनि' है, अर्थात् मन का और भाँति हो जाना। दुख से मुँह बनाये हुए उदास रहना।

(२) 'दीन्ह लखन सिख अस·····'—इसने कुछ अंड-बंड बका होगा, इसपर लक्ष्मण ने ठोंका-पीटा होगा, यह रानी का अनुमान है। वह जानती है कि मेरी दासी पर आँख उठानेवाला और कोई नहीं हो सकता। राम तो परम सुशील हैं। हाँ, लक्ष्मण किसीके अन्याय को नहीं सह सकते। अतः, उन्होंने दंड दिया होगा।

(३) 'तबहुँ न बोल चेरि·····'—सर्पिणी मर्मस्थल देखकर डँसती है, वैसे ही यह सोचती

है कि जब रानी को मेरी दशा से भय हो, तब मेरे वचनों का प्रभाव पड़ेगा, इसीसे अभी नहीं बोलती, क्योंकि अभी तो रानी हँस रही है। अतः, मेरे वचन हँसी में उड़ा देगी। 'बड़ि पापिनि'—क्योंकि अपने अन्नदाता का ही नाश करेगी। 'छाड़इ स्वास करि···'—काले सर्प अधिक विषैले होते हैं, उनसे भी अधिक काली नागिन होती है। अभी लम्बी साँस लेती हुई फुफकार रही है, रानी को डँसेगी। अपयश होना एवं विधवा होना उसका मरना है, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ९४)।

नागिन को फुफकार से लोग डर जाते हैं, वैसे ही रानी भी भयभीत हो गई—'सभय रानि कह···'।

(४) 'भा कुबरी उर-साल'—रानी तो उसकी दशा देखकर और उसके न बोलने पर डर गई कि कोई भारी दुर्घटना तो नहीं हो गई। अतः, प्रथम प्राणों से भी अधिक प्रिय श्रीरामजी का, तब पति का एवं और पुत्रों का कुशल पूछा, इससे उसे और भी पीड़ा हुई, क्योंकि जिनसे प्रतिकूल होकर वह आई है, रानी उन्हीं राम और राजा का कुशल प्रथम पूछ रही है। यहाँ साथ ही पाँच नाम कहे गये हैं, परन्तु 'उर साल' होना श्रीरामजी और राजा के ही प्रति है, यथा—"हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई॥" (बा० दो० २३६)—इसमें 'हृदय सराहत' के कर्त्ता श्रीरामजी ही हैं 'दोउ भाई' में लक्ष्मण नहीं। ऐसे और भी प्रसंग हैं।

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बल पाई॥१॥
रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू। जेहि जनेस देइ जुबराजू॥२॥
भयेउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥३॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मन छोभा॥४॥

अर्थ—(मन्थरा ने कहा) हे माई! मुझे क्यों कोई शिक्षा देगा? किसका बल पाकर मैं मुहँजोरी करूँगी?॥१॥ आज राम को छोड़कर और किसका कुशल है कि जिन्हें राजा युवराज-पद दे रहे हैं॥२॥ (अब तो) कौसल्याजी को विधाता बहुत ही दाहिने हो गये हैं जिसे देखते हुए उनके हृदय में गर्व नहीं समाता॥३॥ (नगर की) सब शोभा जाकर क्यों नहीं देखती हो कि जिसे देखकर मेरा मन दुःखी हो गया है?॥४॥

विशेष—(१) 'कत सिख देइ हमहिं·····'—'माई' का भाव यह कि आप माता की तरह हमारा पोषण एवं पक्ष करती थीं, तो मैं किसीको कुछ कह भी देती थी, अब किसके बल पर गाल करूँगी और क्यों मारी जाऊँगी? भाव यह कि अब तो तुम्हारा बल रह ही नहीं गया। तुम तो स्वयं दासी बनने जा रही हो, यथा—"जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर करहु न आन उपाई॥" (दो० १८)। पर यह स्पष्ट नहीं कहती, क्योंकि रुख अनुकूल नहीं पाती। अभी ईर्ष्या उपजाने का उपाय कर रही है, यह—'दीन्हि लखन सिख···' का उत्तर है।

(२) 'रामहिं छाँड़ि कुसल केहि···' यह—'कहसि किन, कुसल राम महिपाल' का विषैला उत्तर है। इसमें भरतजी का अकुशल गुप्त है। अभी डरती है, कैकेयी की भी मति फिरने पर स्पष्ट कहेगी—"भरत बंदि गृह सेइहैं।'। 'जनेस'—सब प्रजा को मिलाकर राजा युवराज पद दे रहे हैं।

(३) 'भयेउ कौसिलहि बिधि अति··· '—'अति दाहिन' अर्थात् विधाता दाहिने तो पूर्व से ही थे कि वे सबमें जेठी पटरानी थीं, फिर उनका पुत्र भी सब पुत्रों में बड़ा हुआ और अब तो उन्हींके पुत्र का राज्याभिषेक भी हो रहा है। अतः, उनके विधाता 'अति दाहिन' हो गये। इससे उनका गर्व हृदय में नहीं समाता। 'देखत'—विधि के दाहिने होने का कार्यरूप-राज-तिलक की सजावट देखकर। अभी तक

तुम्हें गर्व था—"गरबित भरत मातु बल पी के।" (दो० १७) । अब उनको गर्व हुआ और वह इतना अधिक है कि उनके हृदय में नहीं समाता।

प्रायः स्त्रियाँ सौत का उत्कर्ष नहीं सह सकतीं, उसपर भी सौत के गर्व को तो किसी तरह सह ही नहीं सकतीं। मन्थरा ने द्वेष उपजाने में यही साधन रक्खा, इसी में यह सफल भी होगी—"जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥" (दो० ३२)।

'सब सोभा'—कौसल्याजी के महल की, अन्य रानियों के महलों की, रामजी के महल की तथा सारे नगर की शोभा देखो (एक आप ही का महल सजावट-हीन रह गया है, यह व्यक्त करती है, क्योंकि आपके विरुद्ध यह हो रहा है)। 'मोर मन छोभा', यथा—"राम-तिलक सुनि भा उर दाहू।" (दो० ३२), तथा—"अत्तव्यं सुमहद्वै वि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्। रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति॥२०॥ साऽस्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता। दह्यमानाऽनलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता॥२१॥" (वाल्मी २।७), अर्थात् मन्थरा कैकेयी से कहती है कि अब तुम्हारा सत्यानाश का समय आ गया। राजा रामजी को यौवराज्य दे रहे हैं, मैं उसीसे अगाध भय में मग्न एवं दुःख और शोक युक्त हूँ, जलती हुई तुम्हारे हितार्थ आई हूँ।

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानतिहहु बस नाह हमारे॥५॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप-कपट-चतुराई॥६॥
सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी॥७॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥८॥

दोहा—काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि, भरतमातु मुसुकानि॥१४॥

शब्दार्थ—तुराई (तूल + आई) = रूई भरी वस्तु, तोशक, दुलाई। झुकी = क्रोध आने पर प्रतिद्वन्द्वी की तरफ को झुकना, झुक पड़ना, क्रुद्ध होना, यह मुहावरा है। अरगानी = चुप, अलग, यथा—"अस कहि राम रहे अरगाई।" (दो० २५८), "तहँ राखे जननी अरगाई।" (अर० दो० ८२)। घर-फोरी = घर में फूट लगानेवाली। खोरा = लँगडा, दोष-युक्त (खोटा)।

अर्थ—पुत्र (भरत) परदेश में है और तुम्हें कुछ चिन्ता नहीं। तुम जानती हो कि पति (राजा) तो मेरे वश में हैं ही॥५॥ तुम्हें पलँग और तोशक पर सोना बहुत प्यारा है, राजा की कपट-चातुरी को लक्ष्य नहीं करती हो॥६॥ प्रिय वचन सुन उसे मलिन मनवाली जानकर रानी उसपर क्रुद्ध हुई (और बोली) बस, अब चुप रह॥७॥ अरी घर-फोड़ी! यदि फिर कभी ऐसा कहेगी तो तेरी जीभ पकड़कर खिंचवा लूँगी॥८॥ काने, लँगड़े और कुबड़े, ये (स्वभावतः) कुटिल और कुचाली जाने जाते हैं, उनमें भी विशेषकर स्त्री और फिर चेरी!—भरत की माता इतना कहकर मुसकुराने लगीं॥१४॥

विशेष—(१) 'पूत बिदेस न सोच··· ···'—कौसल्याजी से ईर्ष्या का ढंग बाँधकर अब राजा में कपट आरोपण करती हुई, भरत के प्रति वात्सल्य जगा रही है। भाव यह कि तुम्हारी सौत (कौसल्या) की सम्मति से राजा ने भरत को ननिहाल भेज दिया है—'पठये भरत भूप···' आगे कहेगी। भरत को हटा दिया कि न तो वह रहेगा, न कोई झगड़ा उठेगा। तुम्हें चिन्ता ही नहीं है, तब भरत बेचारे किसी ओर के न हुए। इस तरह ईर्ष्या और क्रोध को दृढ़ कर रही है। 'जानति हहु '—तुम अपनी ओर से जानती भर हो कि राजा मेरे वश में हैं, पर बात ऐसी नहीं है, राजा तुम्हारी सौत के वश हैं—"रचि

प्रपंच भूपहिं अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराइ ॥" (दो० १७)। स्त्री के लिये पति और पुत्र दो ही आधार हैं, तुम दोनों ओर से गई।

(२) 'नींद बहुत प्रिय सेज···'—बहुत सोना प्रमाद है, राजाओं को सावधान रहना चाहिये। यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥" (अर० दो० २०)। पहले कहा था कि तुम्हें पुत्र का सोच नहीं, उसे ही पुष्ट कर रही है कि यदि सोच होता तो नींद कैसे आती ? 'प्रिय सेज तुराई' से यह भी ध्वनित है कि मन्थरा के वहाँ जाने पर कैकेयी शय्या पर लेटी या सोई हुई थी, यथा—"शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥" (वाल्मी० २।७।१३)।

'लखहु न भूप-कपट···'—कपट बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है, पर तुम तो भोली-भाली ठहरी और राजा कपट में चतुर हैं, यथा—"मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ।" (दो० १७), अर्थात् राजा ऊपर से ही मीठी-मीठी बातें करते हैं, पर मन के मैले हैं, कपट से भरे हैं।

(३) 'सुनि प्रिय बचन···'—"रामहिं छाड़ि कुमल ··जेहि जनेस देइ जुवराजू ॥" यह प्रिय वचन है, क्योंकि राम-तिलक तो ये चाहती ही थीं, यथा—"भामिनि भयेउ तोर मन भावा।" (दो० २६), "राम तिलक जौ साँचेहु काली। देउँ माँगु मनभावत आली ॥" (दो० १४), तथा—"न मे परं किञ्चिदितस्त्वया पुनः प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचो वरम्। तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं परं वरं ते प्रददामि तं वृणु ॥ (वाल्मी० २।७।२६), अर्थात् (कैकेयी मन्थरा से राम-तिलक सुनकर एक उत्तम भूषण देना कहती है कि) हे प्रिये ! इस वचन से श्रेष्ठ दूसरा कुछ मुझे प्यारा नहीं है। अतः, तू और जो माँगे, वह दूँ। घर फोड़नेवाले के ढंग में कहा और उसका प्रबन्ध बाँधा, इससे 'मलिन मन' जाना।

(४) 'पुनि अस···तब धरि जीभ···'—'घर फोरी' सम्बोधन है, यथा—"धरेउ मोर घर-फोरी नाऊँ।" (दो० १६)। घर फोड़नेवाले की जीभ उखाड़ लेनी चाहिये, यह नीति भी जनाई।

(५) 'काने खोरे कूबड़े···'—ये तीनों मन के कुटिल और तन से कुचाली होते हैं। 'मुसुकानि'—क्योंकि यह कूबड़ी, स्त्री और चेरी तीनों दोषों से युक्त है। 'तिय बिसेषि ··'—यदि पुरुषों में ये दोष हों, तो वे कुटिल और कुचाली होते हैं, स्त्री में हों तो और अधिक। वह स्त्री भी यदि चेरी हो, तब तो कहना ही क्या ! 'भरत मातु'—क्योंकि अभी भरत के अनुकूल हृदयवाली है।

रानी का अन्त में मुसकाना ही दासी के जाल में फँसने का कारण हुआ, नहीं तो इसी फटकार पर सारी लीला ही समाप्त हो जाती। यहाँ 'हँसा सो फँसा' यह कहावत सिद्ध हुई। देखिये, मय-सभा में द्रौपदीजी दुर्योधन पर हँसी थीं (महा० सभा० ५०।३१), उसके हँस देने पर ही सारा महाभारत हुआ, वैसे ही इस 'मुसकानि' से ही वनलीला एवं रणलीला और सारी रामायण की रचना होगी।

प्रियबादिनि सिख दिन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोप न मोही ॥१॥
सुदिन सुमंगल-दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई ॥२॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुल-रीति सुहाई ॥३॥
राम-तिलक जौ साँचेहु काली। देउँ माँगु मन-भावत आली ॥४॥

अर्थ—हे प्रिय बोलनेवाली मन्थरे ! तुझे मैंने शिक्षा दी है, मुझे स्वप्न में भी तेरे ऊपर क्रोध नहीं है ॥१॥ वही दिन शुभ दिन और सुन्दर मंगलों का देनेवाला होगा, जिस दिन तेरा कहा (कि राजा राम को युवराज पद दे रहे हैं) सत्य होगा ॥२॥ बड़ा भाई स्वामी और छोटा भाई सेवक हो, यह इस सूर्य-वंश की सुहावनी रीति है ॥३॥ कल सत्य ही यदि श्रीरामजी का तिलक है, तो सखी ! तू मनभायी वस्तु माँग ले, मैं दे दूँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रियबादिनि'—क्योंकि राम-तिलक-रूप प्रिय वचन सुनाया। 'सिख'—कि मालिक के घर में फूट नहीं डालनी चाहिये, इतने ही के लिये इसने डाँटा है और जो तूने प्रिय वचन सुनाया, उससे अब मैं तुझपर कभी भी कुपित नहीं होने की। 'फुर जेहि दिन होई' आगे भी—'जौ साँचेहु काली' कहती है, क्योंकि इन्हें विश्वास नहीं हो रहा है। ऐसी प्रसन्नता की बात होती तो राजा मुझसे पहले ही कहते, क्योंकि यही तो मेरा अभीष्ट था।

(२) 'जेठ स्वामि सेवक लघु···', यथा—"ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥" (मनु० ९।१०५), अर्थात् ज्येष्ठपुत्र ही पिता के सम्पूर्ण धन को ग्रहण करे, शेष सब उस ज्येष्ठ भाई को पिता के तुल्य जानकर उसकी अधीनता में रहें, तथा—"ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत। स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात्स चैतान्प्रतिपालयेत्॥ कनिष्ठास्तं नमस्येरन्सर्वे छन्दानुवर्त्तिनः॥ तमेव चोपजीवेरन्यथैव पितरं तथा॥" (महा० अनुशा० १०५।१६-१८), अर्थात् पिता के मरने पर ज्येष्ठ भाई पिता के तुल्य है, क्योंकि वही इन्हें वृत्ति देनेवाला है। वही इनका पालन करता है। अतः, छोटे भाई बड़े के आज्ञाकारी होकर रहें, उसे नमस्कार करें और उसके आश्रित रहें। 'सुहाई' से यह भी सूचित किया कि—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।" (दो० १७४) की रीति सामान्य है। इस कुल में 'सुहाई' हो चली आ रही है। अतः, यह कुल दोष-रहित है। दिनकर के प्रकाश में सब चलते हैं, वैसे ही इस कुल की रीति देख और लोग भी चलते हैं।

(३) 'देउँ माँगु मन-भावत आली'—और माताओं ने प्रथम यह समाचार सुनानेवालों को बहुत-बहुत 'भूषन बसन' दिये थे। कौसल्याजी ने—'दिये दान बहु बिप्र हँकारी।' पर इनकी तरह किसीने 'मनभावत' देने को नहीं कहा। क्यों न हो, इन्हें तो श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" आगे कहती हैं। 'आली'—प्रिय सन्देश देने के कारण दासी को 'सखी' का पद दिया। उपर्युक्त 'सुनि प्रिय बचन···'—देखिये।

कौसल्या-सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥५॥
मो पर करहिं सनेह बिसेषी। मैं करि प्रीति-परीछा देखी॥६॥
जौ बिधि जनम देइ करि छोहू। होहु राम-सिय पूत-पतोहू॥७॥
प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे। तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे॥८॥

दोहा—भरत-सपथ तोहि सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमय करसि, कारन मोहि सुनाउ॥१५॥

अर्थ—रामजी को कौसल्याजी के ही समान सब माताएँ सहज स्वभाव से प्यारी हैं॥५॥ मुझपर तो वे विशेष स्नेह करते हैं, मैंने परीक्षा करके उसकी प्रीति देख ली है॥६॥ विधाता यदि कृपा करके जन्म दें, तो यह भी कृपा करके दें कि रामजी पुत्र और सीताजी पतोहू हों॥७॥ मुझे श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं, फिर उनके तिलक से तुझे दुःख कैसे हो रहा है॥८॥ तुझे भरतजी की शपथ है, कपट और छिपाव छोड़कर सत्य कह। आनन्द के समय तू खेद कर रही है, इसका कारण मुझे सुना॥१५॥

विशेष—(१) 'कौसल्या-सम सब···'—यह—'भयेउ कौसिलहिं बिधि अति दाहिन।' का उत्तर है। आगे दो० २५१ चौ० २ पर वाल्मी० २।२६।३२ का प्रमाण भी देखिये।

'सहज सुभाव'—जन्म-काल से ही स्वाभाविक (बनावट नहीं)। शास्त्र से जानकर कि माता से विमाता को अधिक मानना चाहिये, यह नहीं।

(२) 'मो पर करहिं सनेह बिसेखी', यथा—"मानी राम अधिक जननी ते, जननी गस न गही।" (गी० उ० ३७), "कहैं मोहिं मैया, कहउँ मैं न, मैया भरत की, बलैया लैहौं भैया तेरी मैया कैकेई है ॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी, काय मन बानी हूँ, न जानी कै मतेई है ॥" (क० अ० ३)। 'मैं करि प्रीति-परीछा देखी'—कैकेयीजी ने कब एवं कैसे परीक्षा ली है, इसकी खोज लोग किया करते हैं, व्यवहार से हार्दिक भाव स्वतः प्रकट हो जाया करते हैं, यथा—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।' (दो० २६३), तथा—"आकारश्छाद्यमानोऽपि न शक्यो विनिगूहितुम्। बालाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥" (वाल्मी० ६।१७।६४), अर्थात भीतर के भाव के समान ही मनुष्य की आकृति हो जाती है। आकार को कोई छिपाना भी चाहे तो छिपा नहीं सकता। आकार ही मनुष्य के भीतर के छिपे भाव प्रकाशित कर देता है। किसीने कहा भी है—"अखियाँ देत बताय सब हिय को हेत-अहेत। जैसे निर्मल आरसी भली-बुरी कहि देत ॥" अतएव प्रीति-परीक्षा के प्रति किसी घटना-विशेष की खोज व्यर्थ है।

शंका—श्रीरामजी की प्रीति तो परीक्षा करके देखी, सीताजी की कैसे जानी ?

समाधान—सीताजी पतिव्रता हैं, इससे पति के अनुसार ही वृत्तवाली जानकर, यथा—"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥" (दो० २५१)। "सीय लखन रिपु दवन राम-रुख लखि सबकी निबही ॥" (गी० उ० ३७)।

(३) 'जौ बिधि जनम ··'—भाव यह कि जन्म-जन्म इनका यह सुख मुझे बना रहे।

(४) 'तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे'—यहाँ 'जो अवलोकि मोर मन छोभा' के प्रति कहती हैं—तू मेरी दासी है, तो तुझे भी राम प्राणों से प्रिय होने चाहिये। उनका तिलक सुनकर हर्ष होना चाहिये था, पर क्षोभ हुआ, यह क्यों ? यही पूछने में रानी चूक गई, अन्यथा उसे उत्तर देने की कोई बात ही नहीं मिलती, यहीं कैकेयीजी में 'सुर-माया' का स्पर्श हुआ।

(५) 'भरत सपथ तोहि ·'—यह (मन्थरा) भरत के ननिहाल की है और उनका पक्ष भी लिये हुई है—'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे।' अभी कह आई, इसीसे 'भरत सपथ' कहा कि जिससे सत्य कहे। यहाँ 'सुरमाया' का अंकुर समझना चाहिये जो मन्थरा के वचन-रूपी जल से बढ़ेगा।

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥१॥
फोरइ जोग कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा ॥२॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई ॥३॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती ॥४॥

अर्थ—(मन्थरा ने कहा) एक ही बार (के कथन) में सारी आशा पूरी हो गई, अब (उसी मुँह से) दूसरी जीभ लगाकर फिर कुछ कह सकूँगी ॥१॥ यह मेरा अभागा कपाल फोड़ने ही के योग्य है, जो भले के लिये भी कहते हुए आपको दुःखदायी लगा ॥२॥ जो झूठी-साँची बात बनाकर कहते हैं, हे माई ! वे ही तुम्हें प्यारे लगते हैं और मैं तो कड़ुवी हूँ ॥३॥ मैं भी अबसे ठकुरसुहाती ही कहूँगी, और नहीं तो दिन-रात चुप ही रहा करूँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'जीभ करि दूजी'—का भाव यह कि जैसी बात से जीभ कढ़वाने की आज्ञा हुई थी, वैसी ही बातें मुझे फिर कहनी हैं, तो एक जीभ तो निकाली ही जायगी, दूसरी बनवाकर रख लूँ तब तो कहने का साहस करूँ !

(२) 'फोरइ जोग कपार अभागा'—यह वस्तुतः कैकेयी का आभाग कह रही है, यथा—"अरे;

सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥" (वाल्मी० २।८।४), अर्थात् शत्रु सौति के पुत्र की वृद्धि मृत्यु के समान हो रही है। पर उसको कैसे कहे ? इसलिये अपना ही अभाग कहती है कि अभागा कपाल तो तभी हो गया कि जब राम-तिलक सुना, अब मैं तुम्हें भी नहीं सुहाती, तब यह फोड़ने ही योग्य है। इसे रखकर क्या करूँगी (स्त्री-स्वभाव से दोनों हाथ सिर पर पटककर कहा है) अर्थात् मैंने तो तुम्हारे हित का वचन कहा, पर फल उल्टा मिला। तुम्हारा दोष नहीं, मेरा ही अभाग्य है। कैकेयीजी ने जीभ निकालना कहा था, उसपर कहती है कि जीभ तो आपका भला ही कहती है, इसका क्या दोष ? दोष मेरे भाग्य का है। अतः, उसका स्थल कपाल ही फोड़ने योग्य है। 'भलेउ कहत दुख···' में 'विषम तृतीय' अलंकार है।

(३) 'कहहिं झूठि फुरि···'- जो झूठ को सत्य बनाकर कहते हैं, वे तुम्हें प्रिय हैं, पर मैं तो सत्य ही कहती हूँ, इसीसे कड़ुवी (अप्रिय) हूँ। यथा—"सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥" (वाल्मी० ३।३७।३२), अर्थात् राजन् ! प्रिय बोलनेवाले मनुष्य सदा मिलते हैं, पर अप्रिय हितकर वचन बोलनेवाला और सुननेवाला दोनों दुर्लभ हैं- यह मारीच ने रावण से कहा है। झूठ-फुर = झूठ-सच—यह मुहावरा है।

(४) 'हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती'—'ठकुरसोहाती' अर्थात् उपर्युक्त झूठ-सच, मुँहदेखी, खुशामदी। यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती ॥" (ल० दो० ८), भाव यह कि मैं भी अब तुम्हारी-सी कहूँगी, जिसमें भला देखूँगी, उसे कहूँगी और जिसमें बुरा देखूँगी, उसके विषय में सदा चुप लगाये रहूँगी, क्योंकि दिन-रात रहना तो तुम्हारे पास है। अनभल कहने से मौन रहूँगी, क्योंकि—"अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ···।" आगे कहा है। 'दिन-राती' में यह भी आशय है कि बस, यही आज का दिन और रात मौन रहूँगी, फिर तो राम-राज्य हो जाने पर न तुम्हारी ठकुराई रहेगी और न मुझे ठकुरसुहाती कहने की नौबत ही आवेगी।

इस तरह मन्थरा ने अपनेको सत्यवादिनी सिद्ध करने एवं रानी को अपने पर प्रतीति उत्पन्न कराने के लिये विषाद प्रकट करते हुए अपना अभाग्य कथन किया। यह कैकेयी के 'सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ' का उत्तर है। कैसे ढंग से पुष्ट कर रही है ? नारि-चरित देखने योग्य है !

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ॥५॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानि। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ॥६॥
जारइ जोग सुभाव हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥७॥
तातें कछुक बात अनुसारी। छमिय देबि बड़ि चूक हमारी ॥८॥

दोहा—गूढ़ कपट-प्रिय बचन सुनि, तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया-बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतियानि ॥१६॥

शब्दार्थ—होब कि = इसमें 'कि' का अर्थ संस्कृत किम् का रूप माने तो 'क्या' होता है और फारसी 'कि' का रूप माने तो १. एक संयोजक शब्द, २. तत्पश्चात् ३ 'अथवा' 'या' होता है। मिथिला देश में 'कि' क्या के अर्थ में बोला जाता है। अनुसारी = चलाई, छेड़ी, कही। अधरबुधि = अधर (नीच) बुद्धिवाली। पतियानि = विश्वास किया।

अर्थ—ब्रह्मा ने कुरूप बनाकर मुझे पराये के वश किया, जो बोया है सो काटा, जो दिया है सो पाया ॥४॥ राजा कोई भी हो, मेरी क्या हानि है ? हे रानी ! अब मैं चेरी (दासी) छोड़कर और क्या होऊँगी ॥६॥ हमारा स्वभाव जलाने के लायक है कि मुझसे तुम्हारा अहित देखा नहीं जाता ॥७॥ मैंने इसीसे कुछ बात चलाई। हे देवि ! क्षमा करो, हमारी बड़ी भूल हुई ॥८॥ स्त्री होने तथा नीच बुद्धि एवं देव-

माया वश होने के कारण, गूढ़, कपट भरे हुए एवं प्रिय वचनों को सुन कर रानी कैकेयी ने वैरिणी मन्थरा को सुहृद (हितैषिणी) जानकर उसपर प्रतीति की ॥१६॥

विशेष—(१) 'करि कुरूप बिधि···'—एक तो विधाता ने टेढ़ी-कुबड़ी बनाया, फिर स्त्री और उसपर चेरी करके आप ऐसी स्वामिनी के वश किया जो हित कहने पर भी दंड देने को कहे। क्या करू ? परवश होकर सुनना ही पड़ता है, सब अपने बुरे कर्मों का फल है। यह—'काने खोरे कूबरे, कुटिल ··' का उत्तर है।

(२) 'कोउ नृप होउ ··' यह—"जेठि स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर···" का उत्तर है। 'चेरि छाड़ि अब···'—चेरी से नीची और कौन पदवी है, जो मिलने पर मेरी हानि होगी। भाव, चाहे राम राजा हों, चाहे भरत, मैं तो चेरी ही रहूँगी। 'रानी' सम्बोधन से जनाती है कि राम के राजा होने पर क्या तुम रानी रहोगी ? अर्थात् तुम रानी न रहोगी, किन्तु चेरी होगी, तब हानि तुम्हारी ही होगी। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि भरत भी राजा हों तो क्या, मैं अब चेरी से रानी हूँगी ? चेरीपने में ही आयु बीत चली। तब रामजी ही राजा हों, मेरी तो हानि नहीं है। हाँ, तुम्हारी हानि अवश्य है, जो रानी से चेरी बनोगी। यहाँ 'हानी' कहने ही का प्रसंग है, इससे प्रथम अर्थ ही विशेष संगत है।

(३) 'जारइ जोग सुभाव···'—इससे सूचित करती है, तुम्हारा भारी अनहित होनेवाला है, जिसे मैं रोकना चाहती हूँ। स्वभाव को दोष देने का भाव यह कि जिसका अनहित हो, वह उसीमें हित मानता है, तो दूसरे को क्या पड़ी है जो उसके लिये बुरी-भली सुने ? पर यह मेरा स्वभाव ही जलाने योग्य है। 'ताते'—उसी स्वभाव वश। 'कछुक बात'—भाव, अभी तो उसमें बहुत कहना है, तुम थोड़े ही में बिगड़ पड़ी। इससे भारी अनिष्ट का भय भी दिखाया। 'छमिय देवि ··' क्षमा चाहकर सूचित करती है कि अब न कहूँगी और न आप पूछें, जो हो गया, हो गया। इस दोष को क्षमा करें। प्रतीति कराने का पूरा ढंग बना लिया।

(४) 'गूढ़ कपट-प्रिय बचन···'—रानी ने कहा था कि 'सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ', उसीका उत्तर यहाँ तक दिया कि कपट को गुप्त कर अर्थात् वचनों में गुप्त करके कपट के वचनों को सत्य की तरह प्रिय बनाकर कहा। कपट की बातें कितनी भी छिपाकर कही जायँ, पर वे उघर जाती हैं, यथा—"कपट सार सूची सहस, बाँधि बचन पखवास। किये दुराव चहे चातुरी, सो मठ तुलसीदास ॥' (दोहावली ४१०), तब कैकेयी ने क्यों न जाना ? इसका कारण उसे—'तीय अधरबुधि' और 'सुरमाया बस' कहकर बतलाया है। 'सुरमाया' अर्थात् देवमाया वश। देवता ब्रह्माजी भी हैं, उनकी माया सरस्वती है, उसे आगे स्पष्ट भी कहा गया है, यथा—'गई गिरा मति धूरि" (दो० २०६)। जान पड़ता है कि जब रानी ने कहा—'प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे।' तब देवताओं ने फिर इसपर भी माया डालने का प्रबन्ध किया होगा। 'अधर बुधि' का अर्थ यहाँ नीच बुद्धि है—हिं० श० सा०। इसीसे तो नीच के मत में पड़ी, यथा—"कौन कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई।" (दो० २३)। रानी तो बाहर जाती नहीं, नीच दासियों के कथनानुसार समझती और मानती हैं, इससे 'नीच बुद्धि' कही गई।

सादर पुनि पुनि पूछति ओही। सबरी-गान मृगी जनु मोही ॥१॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भावी। रहसी चेरि घाति जनु फाबी ॥२॥
तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ ॥३॥
सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि-छोली। अवध-साढ़साती तब बोली ॥४॥

शब्दार्थ—ओही = उससे। फाबी = (फबना अनुकूल होना) = अनुकूल हुई। सजि = सजाकर, जमाकर। गढ़ि छोली = सुडौल बनाकर, अपने अनुकूल बनाकर। साढ़साती = शनैश्चर की दुःखद दशा, जो साढ़े सात वर्ष रहती है।

अर्थ—आदर पूर्वक फिर-फिर उससे पूछ रही है मानों शबरी के गान पर हरिनी मोह गई हो ॥१॥ जैसी भावी है, वैसी ही उसकी बुद्धि भी फिर (पलट) गई है। चेरी प्रसन्न हुई, मानों दाँव (गवँ) अनुकूल हुआ ॥२॥ तुम तो पूछ रही हो पर मैं कहते डरती हूँ, क्योंकि मेरा नाम तुमने 'घरफोड़ी' रक्खा है ॥३॥ बहुत प्रकार से अपने अनुकूल बनाकर, बहुत तरह से विश्वास जमाकर, तब अयोध्या के लिये 'साढ़साती' दशा की भाँति (कष्टकारिणी) मन्थरा बोली ॥४॥

विशेष—(१) 'सादर पुनि पुनि ···'—कहाँ तो पहले भारी निरादर किया था—'झुकी रानि···' 'पुनि अस कबहुँ···' और कहाँ अब इतना आदर से पुनः पुनः पूछ रही है, यही उसमें मोहना है। उसीको उत्तरार्द्ध में उपमा से कहते हैं—'सबरी गान···'—मृगी को फँसाने के लिये भीलनी हिरन के ही सींग को घिसकर उससे मीठे राग अलापती है। उस राग से मोहित होकर मृग पास में आकर खड़े हो जाते हैं। उन्हें यह सुध नहीं रह जाती कि यह हमें फँसा लेगी, पीछे भीलनी गुप्त रक्खे हुए फन्दे से उन्हें फँसा लेती है। वैसे ही रानी मन्थरा के 'गूढ़ कपट-प्रिय बचन' सुनकर मोह गई है और फिर-फिर पूछ रही है। उसे यह ध्यान नहीं है कि इन बचनों में पड़ने से मुझे दुःख होगा, यथा—"अनृतैर्वत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे। गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥" (वाल्मी० २।१२।११), अर्थात् तू ने मुझे झूठी बातें कहकर उसी प्रकार भुलावा दिया, जिस प्रकार बहेलिया गीत गा-गा कर हिरण को अपने जाल में फँसा लेता है।

(२) 'तसि मति फिरी अहइ···'—पहले निरादर किया था, फिर इतना आदर क्यों करने लगी? इसीका समाधान करते हैं कि जैसी भावी है, वैसी ही बुद्धि फिर गई, यथा—"हरिइच्छा भावी बलवाना।" (वा० दो० ५५), यथा—"यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्। बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥" (महा० सभा० ८।८), अर्थात् देवता जिसका पराभव चाहते हैं, उसकी बुद्धि नष्ट कर देते हैं, उसे विपरीत ही देख एवं समझ पड़ता है। 'जनु फाबी'—बुद्धि तो भावी से फिरी, पर मन्थरा ने यही जाना कि मेरा दाँव लग गया, मेरे फेरने से रानी की मति फिरी है, इसी सफलता पर उसे हर्ष हुआ।

(३) 'सजि प्रतीति बहु बिधि···'—मन्थरा ने अपने बचनों की प्रतीति कैकेयी के हृदय में बहुत तरह से सज दी। प्रथम प्रतीति कुडौल थी, तभी रानी ने फटकारा था। उसे बुद्धि रूपी बसूले से—मेरा अभागा कपाल फोड़ने योग्य है कि भला कहने पर भी तुम्हें दुःख हुआ। कोई राजा हो, तो मेरी क्या हानि? इत्यादि बचन रूपी छेनी से गढ़ छोलकर सुडौल किया। पुनः मेरा स्वभाव जलाने योग्य है कि तुम्हारा अनभल नहीं देखा जाता, इत्यादि बचनों से खरादकर साफ किया, पुनः 'छमबि देवि ··' इस साधु भाव से रानी के उर में प्रतीति को सज दिया। 'अवध साढ़साती तब बोली।'—फलित ज्योतिष के अनुसार जन्मराशि में, दूसरे स्थान में और बारहवें स्थान में अर्थात् इन तीन राशियों में शनि-ग्रह की स्थिति साढ़े सात वर्षों तक रहती है, क्योंकि शनि प्रत्येक राशि को ढाई-ढाई वर्षों तक भोगते हैं। इस विपत्ति के काल को 'साढ़े साती' कहते हैं। शनैश्चर की दशा चढ़ते-उतरते में ६ महीने शान्त रहती है। सात वर्ष दुस्सह दुःखदायी रहती है। ये ही, दोनों वरों के योग से (७+७)=१४ वर्ष हुए। यह अवध को उजाड़ने पर है, यथा—"अवध उजारि कीन्ह कैकेई।" (दो० २८)। यह भी गुप्त ध्वनि है कि साढ़े सात ही दिनों पर राजा की मृत्यु होने से अयोध्या अनाथ होगी।

प्रिय सियराम कहा तुम्ह रानी। रामहिं तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥५॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समय फिरे रिपु होहिं पिरीते ॥६॥
भानु कमल-कुल - पोषनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा ॥७॥

जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाय बर बारी ॥८॥

दोहा—तुम्हहिं न सोच सोहागबल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ ॥१७॥

शब्दार्थ—फिरे=पलटने पर, बुरे होने पर। पिरीते=प्यारे, मित्र। सोहाग (सौभाग्य)=पति का स्नेह।

अर्थ—रानी! जो तुमने कहा कि सीताजी और रामजी मुझे प्रिय हैं, और रामजी को तुम प्रिय हो—यह वचन सत्य है ॥५॥ (परन्तु ऐसी) बात पहले थी। अब वे दिन गये, समय पलटने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥६॥ सूर्य कमल के कुल (समूह) का पालन करनेवाला है, पर बिना जल (जर=जल, रलयोरभेदः) के वह उसीको जलाकर भस्म कर देता है ॥७॥ तुम्हारी जड़ सौत (सपत्नी) उखाड़ना चाहती है, उसे उपाय रूपी श्रेष्ठ बारी लगाकर रूँधो (रक्षा करो) ॥८॥ तुमको सौभाग्य (पति-स्नेह) के बल पर सोच नहीं है (क्योंकि) राजा को अपने वश में जानती हो। (पर) राजा मन के मैले और मुँह के मीठे हैं, और आपका स्वभाव सीधा है ॥१७॥

विशेष—(१) 'प्रिय सिय राम कहा···'—रानी ने कहा था कि—'प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे' और 'मो पर करहिं सनेह बिसेषी।' इन वचनों का समर्थन करते हुए युक्ति से फिर खंडन करेगी, अन्यथा एकबारगी खंडन से रानी चिढ़ जाती।

(२) 'रहा प्रथम अब ते दिन···'—पहले राम बच्चे थे, तब प्रीति करते थे, अब वे दिन गये। अब तो राजा हो रहे हैं तो राजनीति से काम लेंगे, जिसे कंटक समझेंगे, उसकी प्रीति दूर कर देंगे, यथा—रिपुरिन रंच न राखब काऊ।" (दो० २८८)। जब अपने बुरे दिन आते हैं, तब प्रिय भी शत्रु हो जाते हैं, तथा—सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राखि सीम रिपु नाउ। बूड़त लखि, पग डगत लखि, चपरि चहूँदिसि धाउ ॥" (दोहावली ५२०), एवं—"बहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः। प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि ॥" (महा० शान्ति० १४०।१८), अर्थात् जब तक अपना दुर्दिन रहे, शत्रु को कन्धे पर भी ले चलना चाहिये, अपना अच्छा समय आने पर उस शत्रु को पत्थर पर घट पटकने की भाँति नष्ट कर देना चाहिये, यथा—"कुदिना हितजन अनहित रे थिक जगत सुभाव।" (विद्यापति-पदावली)।

(३) 'भानु कमल-कुल···'—यह वचन—'यह दिनकर कुलरीति सुहाई।' का उत्तर है, यहाँ 'भानु' श्रीरामजी, कैकेयी, भरत और मन्थरा कमलकुल तथा कैकेयी का सोहाग बल (पति-स्नेह) जल है। जब श्रीरामजी युवराज होंगे तब राजा का स्नेह उनकी माता कौसल्याजी में होगा। तब ये ही रामजी तुम्हें क्रोधाग्नि से भस्म कर देंगे। जैसे सूर्य जलहीन कमल को किरणों से भस्म करते हैं, यथा—"तुलसी अंबुज अंबु बिनु, तरनि तरसु रिपु होइ।" (दोहावली ५२४)।

कैकेयीजी ने 'दिनकर कुल रीति' को 'सुहाई' कहा था, वही बात लेकर मन्थरा इस कुल के पुरुषा सूर्य का ही दृष्टान्त देती है कि कमल सूर्य का परम मित्र है। यह सूर्य के उदय में प्रफुल्लित और अस्त में सम्पुटित होता है, अर्थात् सुख में सुखी और दुःख में दुखी होता है। तो भी बिना जल के कमल को सूर्य भस्म ही कर देते हैं, यह तो स्वयं पुरुषा की चाल है, तब भानुकुल भानु श्रीरामजी का व्यवहार समझ लो।

(४) 'जरि तुम्हारि चह···'—सब सौतें कौसल्याजी की सेवा करती हैं, केवल तुम्हीं पति-स्नेह-बल से नहीं करती हो। इससे कौसल्याजी को ईर्ष्या है, यथा—"राजहि तुम्ह पर प्रेम बिसेषी। सवति-सुभाव सकइ नहिं देखी ॥" (दो० १७)। तुम्हारा गर्वरूप वृक्ष पति-स्नेह-रूपी जड़ के आधार पर है, उसे तुम्हारी सौत उखाड़ना चाहती है, यथा—"गरबित भरत-मातु बल पी के ॥" (दो० १७)। वे अपने पुत्र

को राज्याधिकार दिलाकर राजा को अपने वश में कर लेंगी, तब राजा का स्नेह तुमपर नहीं रह जायगा, बस, तुम्हारी जड़ गई। उस समय तुम्हारा गर्व रूप वृक्ष नहीं रह जायगा, फिर दासी बन कर सौत की सेवा करनी पड़ेगी।

यदि अपने गर्व रूप वृक्ष की रक्षा चाहो, तो कोटेदार बारी (टट्टर) से इसे रूँधो अर्थात् घेर दो। भरतजी को युवराज और रामजी को वन देना, यही श्रेष्ठ बारी है, सौतें आप ही विपत्ति में पड़ जायँगी। भरत युवराज की माता होने से राजा भी तुम्हारे ही अधीन रहेंगे तब सौतें तुम्हारी ही दासी बनकर सेवा करेंगी।

(२) 'तुम्हहि न सोच सोहाग बल'''—यथा—"अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे। चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे॥" (वाल्मी० २।७।१५), अर्थात् हे सुन्दरी! तुम अपने जिस सौभाग्य के बल पर भूली हुई हो, वह तुम्हारा सौभाग्य ग्रीष्मऋतु में नदी के सोते की भाँति अब क्षीण हो चला है। तुम राजा को अपने वश जानती भर हो, पर वे मन के मैले (कपटी) हैं। अपने मन की एक बात भी तुम्हें नहीं जनाते, केवल मुँह के मीठे हैं, ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातों से तुम्हें रिझाये रहते है। तुम सीधे स्वभाव की हो, इससे उनके कपट को नहीं लख पाती और उनके विश्वास में आ जाती हो। 'मन मलीन '''. यथा—"धर्मवादी शठो भर्त्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः। शुद्धभावे न जानीषे तेनैव मनिसन्धिता॥" (वाल्मी० २।७।२४), अर्थात् तुम्हारे पति ऊपर से तो धर्मवादी हैं और भीतर के धूर्त्त हैं वे बोलते मधुर हैं, पर मन उनका कठोर है, तुम मन की साफ हो, उसीसे तुम्हारे ऊपर दुःख आ पड़ा है (यदि कपट न रखते होते तो राम-राज्य की बात आपसे भी कहते, समझ लो)।

चतुर गँभीर राम-महतारी। बीच पाइ निज बात सँवारी॥१॥
पठये भरत भूप ननिआँरे। राम-मातु मत जानब रौरे॥२॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीके। गरबित भरत-मातु बल पी के॥३॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई॥४॥

शब्दार्थ—बीच पाइ = अवसर पाकर। रउरे = आप। सालु = कसक, दुःख, (सालना = दुःख देना।)

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौसल्या चतुर और गम्भीर हैं, उन्होंने अवसर पाकर अपनी बात सवार ली॥१॥ राजा ने (जो) भरत को ननिहाल भेज दिया है, इसमें तुम रामजी की माता कौसल्या का मत (सलाह) समझो॥२॥ (कौसल्याजी के मन में है कि) सब सौतें अच्छी तरह मेरी सेवा करती है, पर केवल भरतजी की माता पति के बल पर अहंकार में भरी रहती हैं॥३॥ हे माई! इसीसे कौसल्या को तुम्हारी कसक है (तुम उन्हें खटक रही हो)। वे कपट में चतुर हैं, इससे खुल नहीं पड़तीं, अर्थात् उनका सौतियाडाह वा कसक जान नहीं पड़ती॥४॥

विशेष—(१) 'बीच पाइ निज बात '''—रामजी की माता भीतर से चतुर हैं, कार्य का प्रबन्ध करती हैं, और ऊपर से गम्भीर हैं, कोई लख नहीं पाता। देखो न, अवसर पाते ही अपना मतलब गाँठ लिया, यथा—"सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते। यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः॥" (वाल्मी० २।८।१), 'राम महतारी'—श्रीरामजी परम चतुर हैं, यथा—"विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।" (वाल्मी० २।८।८), अर्थात् श्रीरामजी राजनीति में परम चतुर तथा समयानुसार तुरत कार्य करनेवाले हैं। वैसी ही चतुर उनकी माता का होना युक्त ही है। बीच पाना आगे कहती हैं—

(२) 'पठये भरत भूप ननिआँरे ''—यह मन्थरा अपना पक्ष साधने के लिये झूठ कह रही है। भरतजी के मामा युधाजित ब्याह के समय ही उन्हें लेने को आये और उन्होंने चक्रवर्त्तीजी से बड़ा आग्रह

किया, तब (कैकेयी की भी सम्मति से) राजा ने भेजा है, यथा—"बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायि तस्वया।" (वाल्मी० २।८।२८)। राजा का भरत-शत्रुघ्न पर पूर्ण प्रेम था—वाल्मी० २।१।४-५ देखिये।

(३) 'सेवहिं सकल सवति मोहिं···'—कौसल्या जेठी और पटरानी हैं, इससे सब सौतें धर्म समझकर उनकी सेवा करती हैं, कुबड़ी ईर्ष्या बढ़ाने के लिये नीचता दिखा रही है।

यहाँ तक मन्थरा ने क्रमशः श्रीरामजी, राजा और कौसल्याजी के प्रति कैकेयी का स्नेह दूर करने का प्रयास किया, क्योंकि तीनों से विरोध हुए बिना उसका पक्ष-पोषण नहीं हो सकता था। बार-बार 'राम मातु', 'राम महतारी' आदि से जनाती है कि जैसे रामजी हैं, वैसी ही उनकी माता भी। श्रीरामजी पर कैकेयीजी का अत्यन्त प्रेम है, इसलिये कपट-सम्बन्ध में बार-बार उन्हें दिखाती है।

राजहिं तुम्ह पर प्रेम बिसेखी। सवति-सुभाव सकइ नहिं देखी ॥५॥
रचि प्रपंच भूपहिं अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराई ॥६॥
यह कुल उचित राम कहँ टीका। सबहिं सुहाइ मोहि सुठि नीका ॥७॥
आगिल बात समुझि डर मोही। देउ दैव फिरि सो फल ओही ॥८॥

दोहा—रचिपचि कोटिक कुटिलपन, कीन्हेसि कपट प्रबोध।
कहेसि कथा सत सवति कै, जेहि बिधि बाढ़ बिरोध ॥१८॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु) = अत्यन्त, बहुत ही। फिरि = फिर कर। ओही = उसीको। रचिपचि = गढ़कर, बैठाकर। कोटिक = करोड़ों, बहुतसे। सत = सैकड़ों, बहुत। शत, कोटि एवं सहस्र शब्द अनन्तवाची हैं, बहुत के अर्थ में इनका प्रयोग होता है।

अर्थ—(यदि कैकेयीजी समझें कि मैं नहीं ईर्ष्या रखती तो वे क्यों ईर्ष्या करती होंगी, उसपर कहती है—) राजा का तुमपर विशेष प्रेम है, सौत के स्वभाव से कौसल्या उसे नहीं देख सकतीं ॥५॥ इसलिये आडम्बर रचकर राजा को अपना करके उन्होंने श्रीरामजी के लिये तिलक का लग्न निश्चित कर लिया है ॥६॥ इस कुल की रीति से श्रीरामजी को तिलक होना उचित है, यह सभी को रुचता है और मुझे भी बड़ा अच्छा लगता है ॥७॥ (परन्तु, आगे होनेवाली बात विचार कर मुझे भय है, वह फल विधाता फिरकर उसीको दे ॥८॥ बहुत-सी कुटिलपन की बातें गढ़कर और जमाकर उसने कैकेयी को कपट का प्रकर्ष बोध कराया अर्थात् समझाया-बुझाया और, सैकड़ों सौतों की ऐसी कथाएँ कहीं, जिस तरह विरोध बढ़े ॥१८॥

विशेष—(१) 'राजहि तुम्ह पर प्रेम बिसेषी।···'—पहले तो इसने कहा था—"मन मलीन मुहँ मीठ नृप ···" अब कह रही है कि 'राजहि तुम्ह पर···' यह दोनों बातें विरुद्ध हो रही हैं, इसपर इसका कपट लख पड़ता है, यथा—"कपट सार सूची सहस, बाँधि बचन पर बास। कियो दुराव चहै चातुरी, सो सठ तुलसी दास ॥" (दोहावली ४१०), परन्तु रानी कैकेयी 'सुर माया बस' एवं भावीवश हो रही है, इससे इसने नहीं लख पाया, यथा—"सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचाल···" (दो० २०६)। 'रचि प्रपंच भूपहि·····' भरत को अलग भेजवाकर रामजी से सेवा करवा कर उनमें राजा की प्रीति दृढ़ कराई, फिर धर्म का आडम्बर बाँधा कि राम ज्येष्ठ हैं, कुल-रीति एवं धर्म-शास्त्र से इन्हें ही राज्य का अधिकार है। आप धर्मात्मा है। अतः, उचित कर्त्तव्य करें। भरत के आने पर पक्षा-पक्षी न हो जाय। अतः, चुपके से रामजी को युवराज पद दे दें।

(२) 'आगिल बात समुझि ·····'—'हर्ष समय बिसमय करासि, कारन···'—अब इसका उत्तर

दे रही है—'आगिलि बात' को आगे कहेगी—"रामहिं तिलक कालि जो भयऊ।·····' से "तौ घर रहहु न आन उपाई ॥" तक तथा—"भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः। राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥" (वाल्मी० २।८।२२), अर्थात् रामजी के राजा होने पर उनके पुत्र राजा होंगे। भरजी तो सदा के लिये राज-वंश से निकाले जा रहे हैं, तथा—"दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया। राम-माता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत् ॥" (वाल्मी० २।८।३७), अर्थात् तुम अपने सौभाग्य के अभिमान से पहले जो-जो दुर्व्यवहार कौसल्याजी के साथ कर चुकी हो, उन सबका बदला राम-माता कौसल्या (राम-राज्य पर) क्या तुमसे नहीं लेंगी ?

'देउ दैव फिरि सो ·····'—पहले कहा था—"भयेउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन।" उसीको लेकर कहती है कि ब्रह्मा उनसे फिर जायँ और तुम्हें 'अति दाहिन' हो जायँ। अतः, जो फल कौसल्या तुम्हें देना चाहती थीं, वही उन्हें मिले और वे ही तुम्हारी दासी बनकर रहें (यह दसो अँगुलियाँ फोड़कर कौसल्या को शाप दे रही है)। यही स्मरण करके कैकेयीजी भी कहेंगी—"जस कौसिला मोर भल ताका। तस·····"।

(३) 'रचि पचि कोटिक कुटिलपन·····'—कैकेयीजी के हृदय में सीधापन था, उसे सौतिया-डाह द्वारा निकाल कर उसकी जगह कुटिलपन की बातें रचकर अच्छी तरह पच (जमा) दीं। उसे कपट का पूरा ज्ञान करा दिया और उसीके अनुकूल विरोध बढ़ानेवाली सौतों की कथाएँ कहीं। सौतों की कथाएँ—"चित्रकेतु कर घर उन घाला।" (बा० दो० ७८), "ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ।" (बा० दो० २५)—देखिये, पुनः कद्रू विनता की कथा भी कही, जो आगे है। एवं शर्मिष्ठा-देवयानी की कथा कही, तथा चन्द्रमा के २७ स्त्रियाँ थीं, जब वह रोहिणी पर रीझा, तब सब सौतों ने ईर्ष्या वश दक्ष से उसे शाप दिलवा दिया, इत्यादि कथाएँ कहीं।

भावीबस प्रतीति उर आई। पूछ रानि पुनि सपथ देवाई ॥१॥
का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना ॥२॥
भयेउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥३॥
खाइय पहिरिय राज तुम्हारे। सत्य कहे नहिं दोष हमारे ॥४॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई ॥५॥

अर्थ—होनहार के वश कैकेयी के मन में (मन्थरा पर) प्रतीति हुई, तब रानी फिर शपथ दे-देकर पूछने लगी ॥१॥ (मन्थरा ने कहा) क्या पूछती हो ? अहो ! तुमने अब भी नहीं जाना ? अपने हित और अनहित (मित्र और शत्रु) को तो पशु भी पहचान लेते हैं ॥२॥ तिलक की सामग्री सजते पाख (पक्ष = १५) दिन हो गये और तुमने मुझसे आज सूचना पाई ॥३॥ मैं तुम्हारे राज्य में खाती हूँ, पहनती हूँ, (इसलिये) मुझे सत्य कहने में कोई दोष नहीं (लगेगा) ॥४॥ जो मैं कुछ बात बनाकर झूठ कहूँ तो विधाता मुझे दंड देंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'भावीबस प्रतीति··· '—जिन बातों पर पहले रानी इसकी जीभ उखड़वाने को कहती, उन्हीं पर कैसे प्रतीति हो गई। उसपर कहते हैं कि प्रथम भावीवश मति का फिरना कहा गया—"तसि मति फिरी अहइ जसि भावी···।" अब उसीसे विश्वास भी होना कहा, अन्यथा इतने बड़े विश्वासियों के प्रति अनर्थ पर प्रतीति न होती, यथा—"हरि इच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५) तथा—"हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।" (अर० दो० २७)।

'पुनि सपथ—यही 'भरत सपथ' जिसकी चर्चा पूर्व में एक बार कर आये हैं।

(२) 'का पूछहु तुम्ह·····'—राजा के मन में कपट न होता और वे तुम्हारे हित होते तो इतनी बड़ी तैयारी भी तुमसे छिपा रखते ! अर्थात् मैं ही तुम्हारी हितकारिणी हूँ। 'निज हित-अनहित···, यथा—"हित अनहित पशु पच्छिउ जाना। मानुष तन गुन ज्ञान निधाना ॥" (दो० २६३), तथा—"अनर्थ-दर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुद्ध्यसे। शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥" (वाल्मी० २।८।२१) अर्थात् मन्थरा कैकेयीजी से कहती है कि अनर्थ को अर्थ समझनेवाली अरी मूर्खा ! शोक से महासागर में डूबती हुई भी अपने को नहीं समझती है !

(३) 'भयेउ पाख दिन·····'—तैयारी तो आज ही से हो रही है, यथा—"सकल कहहिं कब होइहि काली।" (दो० ०), "कालि लगन भलि केतिक बारा।" (दो० २०)। पर आग भड़काने के लिये १५ दिन कह रही है, यह झूठ है, वा जितनी तैयारी उसने देखी है, वह उसको समझ में १५ दिनों से कम में नहीं हो सकती। अतः, रानी सत्य समझेगी, इससे कहा। पाख का अर्थ दो भी हो सकता है, जैसे मुनि से सात का, वेद से चार का और रस से छः का बोध होता है, उसी प्रकार पाख (पक्ष) से भी दो का बोध होता है। पर यहाँ राजा पर एकदम क्रोध जगाने के विचार से एक पखवारा (१५ दिन) ही अर्थ है। इसके आगे के वचन भी इसीके अनुकूल हैं—"जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि ॥ पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।···" (दो० २०), यद्यपि इसने अभी ही जाना है, तथापि झूठ कहकर आग भड़का रही है। इसके वचनों से समझ पड़ता है कि इसने भी कई दिनों बाद कहा है।

'मोहि सन आजू'—राजा यदि तुम्हारे सुहृद होते तो पहले ही तुमसे स्वयं कहते और १५ दिन हो गये, उन्होंने अभी तक नहीं कहा। कहें क्यों ? उन्हें तो चुपके-से कार्य साधना था। मैं न कहती तो तिलक हो भी जाता, तब तुम जानती, फिर क्या कर लेती ? इसीमें हित-अनहित जान लो, यथा—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।·····हित-अनहित पसु पंछिउ जाना।·····" (दो० २६३)।

(४) 'खाइय पहिरिय राज····'—ये वचन—'भरत सपथ तोहिं···' एवं—'पुनि सपथ देवाई' के उत्तर में हैं। 'सत्य कहे नहिं दोष···' अर्थात् सत्य कहने में भी दोष होता है, यथा—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (मनु० ४।१३८), अर्थात् सत्य भी प्रिय बोलना चाहिये, अप्रिय हो तो न कहना चाहिये। इसमें कौसल्या का अहित है, पर मैं तो तुम्हारा खाती-पहनती हूँ, तुम्हारे राज्य में हूँ, इस सत्य से तुम्हारा हित होगा। यह मेरी स्वामिभक्ति है, दोष नहीं। दूसरे की हानि हो, तो हो।

(५) 'जौ असत्य कछु···'—बहुत झूठ भी कह रही है। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं, शत्रुघ्नजी के द्वारा दंड देंगे, यथा—"हुमगि लात तकि कूबर मारा।·····लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी ॥" (दो० १६२)।

रामहिं तिलक कालि जौ भयऊ। तुम्हकहँ बिपति बीज बिधि बयऊ ॥६॥
रेख खचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी ॥७॥
जौ सुतसहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई ॥८॥

दोहा—कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख, तुम्हहिं कौसिला देव।
भरत बंदि-गृह सेइहहिं, लखन राम के नेव ॥१६॥

शब्दार्थ—देव = देंगी। नेव = नायब, सहायक। सेइहहिं = भोगेंगे।

अर्थ—यदि कल श्रीरामजी को तिलक हो गया तो निश्चय है कि ब्रह्मा ने तुम्हारे लिये विपत्ति का

बीज बो दिया ॥६॥ मैं लकीर खींचकर बल-पूर्वक कहती हूँ कि हे भामिनि ! तुम दूध की मक्खी हो जाओगी ॥७॥ तब फिर यदि पुत्र के साथ सेवा करोगी, तो घर में रह सकेगी, और उपाय से नहीं ॥८॥ (जिस प्रकार) कद्रू ने विनता को दुःख दिया था, (उसी प्रकार) कौसल्याजी तुम्हें दुःख देंगी, भरतजी बन्दीगृह में पड़े रहेंगे और लक्ष्मणजी रामजी के सहायक होंगे ॥१६॥

विशेष—(१) 'रामहिं तिलक कालि जौ·····'—'जौ' यह सन्दिग्ध है, अर्थात तिलक होने न पावेगी, मैंने उपाय सोच रक्खा है, कदाचित् हो जाय, तो··· ।

(२) 'रेख खचाइ कहउँ·····'—रेखा खींचकर, वा पत्थर की लीक, इत्यादि मुहावरा है, जिसका भाव है कि यह बात अमिट एवं अखंडनीय है—"पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची ।" (दो० २०), 'भामिनि भइहु दूध की माखी'—'भामिनि' प्रायः मानवती स्त्री को कहते हैं । भाव यह कि अब तक तुम मानवती रही, अब मान गया, दूध की माखी हो जाओगी । जैसे उजले दूध में पड़ी हुई काली मक्खी दूर से देख पड़ती है और तुरत निकालकर फेंक दी जाती है, फेंकते हुए भी उसके कितने अंग-भंग हो जाते हैं, वैसे सब एक रंग हैं, राम-तिलक की तैयारी में लगे हैं, एक तुम्हीं भिन्न हो, तुम उसी तरह सबकी दृष्टि में खटकोगी और उसी तरह निकालकर बाहर की जाओगी ।

रात को दूध में पड़ी हुई जीती मक्खी पी जाने से वह विष हो जाती है, वैसे ही स्नेह-रूप दूध में रात को तुम्हारे प्रेम पान के द्वारा राजा के प्राण जायँगे—यह सरस्वती की उक्ति गुप्त है ।

(३) 'जौ सुत सहित करहु·····'—यदि रानी कहे कि क्या मेरा घर में हिस्सा नहीं है ? उस-पर कहती है—'जौ' अर्थात तुमसे सेवा न हो सकेगी, यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई । जियत न करबि सवति सेवकाई ॥" (दो० २०), भाव यह कि कौसल्याजी ने तुम्हें अपनी दासी बनाने के लिये ही यह राम-तिलक का प्रपंच रचा है, इसीके अनुकूल वह दृष्टान्त भी देती है ।

(४) 'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख·····'—इनकी कथा नीचे लिखी जाती है—

कद्रू और विनता की कथा

"कद्रू और विनता, ये दोनों दक्ष प्रजापति की कन्याओं में से हैं । इनका कश्यप मुनि के साथ विवाह हुआ । इन दोनों ने पतिदेव से प्रार्थना की—कद्रू ने वीर्यवान् सहस्र नाग-रूप पुत्रों के लिये और विनता ने बल, प्रभाव, सुन्दरता और तेजी में कद्रू के पुत्रों से श्रेष्ठ केवल दो ही पुत्रों के लिये वर माँगे । कश्यपजी ने 'एवमस्तु' कहा । इन्हें गर्भरक्षा के लिये सावधान कर कश्यप मुनि वन को पधारे । बहुत दिनों पर कद्रू ने सहस्र और विनता ने दो अण्डे प्रसव किये । पाँच सौ वर्षों तक अण्डों को गर्म भाँड़ों में रक्खा की गई । कद्रू के सहस्र पुत्रों (नागों) का जन्म हुआ, परन्तु विनता के दोनों अण्डे वैसे ही रह गये । तपस्विनी विनता ने लज्जित होकर पुत्र पाने के लोभ से एक अण्डे को स्वयं तोड़कर देखा कि अब तक पुत्र का पूर्वार्द्ध शरीर मात्र सम्पन्न हो पाया है, शेषार्द्ध अभी प्रकाशित नहीं हुआ । सुना जाता है, उस पुत्र (अरुण) ने क्रोधित होकर विनता को यह शाप दिया कि माता ! तुमने पुत्र देखने के लोभ से मेरे अंग बिगाड़ दिये हैं । अतः, जिसपर तुम स्पर्धा कर रही हो, उसी (कद्रू)-की दासी बनकर तुम्हें पाँच सौ वर्षों तक रहना पड़ेगा । माता ! यदि तुम इस दूसरे अण्डे को भी फोड़कर अंगहीन न करोगी तो यही यशस्वी पुत्र तुम्हें दासीपने से छुड़ायेगा, यदि तुम इससे कल्याण चाहती हो तो पाँच सौ वर्षों तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो, माता को इस प्रकार शाप दे अरुणजी आकाशमार्ग में जाकर सूर्यदेव के सारथी का काम प्रारम्भ किया । प्रातःकाल वे सदा सूर्य के रथ पर दिखाई देते हैं । पुनः उचित समय पर सर्पभोजी गरुड़जी भी उत्पन्न हुए ।" (महा० आदि० अ० १६) ।

"समुद्र मन्थन से उच्चैःश्रवा अश्वराज उत्पन्न हुआ । कद्रू और विनता में उसकी पूँछ के रंग के

विषय में वाद हुआ। कद्रू काली कहती थी और विनता श्वेत। दोनों ने बाजी लगाई कि जो हारे वह दूसरी की दासी होकर रहे। 'कल घोड़ा देख लिया जायगा' यह निश्चित कर घर पधारीं।

कद्रू ने अपने सहस्रपुत्रों से कहा कि तुमलोग काले रोमयुक्त हो उच्चैःश्रवा को आवृत कर काला कर दो, अन्यथा मुझे दासी होना पड़ेगा। पुत्रों ने अस्वीकार किया, तब कद्रू ने उन्हें शाप दिया कि जन्मेजय के सर्प-यज्ञ में भस्म हो। पीछे उन पुत्रों ने माता की रुचि पूरी कर प्रसन्न करने के लिये उस घोड़े की पूँछ में लपट कर काली दिखा दिया, उससे कद्रू जीत गई। विनता दासी होकर रहने लगी।

इधर उचित समय पर गरुड़जी उत्पन्न हुए। इनके तेज से चकित हो अग्नि आदि देवगण स्तुति करने लगे। तब गरुड़जी ने अपने तेज को सूक्ष्म कर लिया। गरुड़जी ने अरुण को पीठ पर बैठा कर माता विनता के पास गये। वहाँ इन्होंने माता का दासीत्व देखा। कद्रू की सेवा विनता और कद्रू के पुत्र नागों की सेवा गरुड़जी करते थे। गरुड़ जी ने माता से कारण पूछा तो उसने छल से अपने हारने की बात कह दी।

गरुड़जी ने सर्पों से कहा कि मैं कौन सा काम कर दूँ, जिससे माता दासीत्व से छूट जाय। सर्पों ने बलपूर्वक अमृत लाने को कहा। (महा० आदि० २७-२८)।

"गरुड़जी माता से आज्ञा लेकर अमृत लाने चले। वहाँ रखवाले देवों से घोर युद्ध हुआ। इन्द्र ने गरुड़जी से मित्रता का अनुरोध किया। इन्द्र ने सर्पों को हानिकर कह अमृत देने से मना भी किया। गरुड़जी ने कहा, मैं अमृत कलशे को वहाँ रख दूँगा। आप उसी क्षण उसका हरण कर लें। इन्द्र इसपर प्रसन्न हो गरुड़जी से वर माँगने को कहा. गरुड़जी ने कद्रू और सर्पों के छल वर्तावों का स्मरण कर यही माँगा कि मैं समर्थ होते हुए भी यह माँगता हूँ कि 'महाबली सर्पगण मेरे भोजन की सामग्री बनें' इन्द्र ने 'तथास्तु' कहा।

गरुड़जी माता के पास जा पहुँचे और उन्होंने सर्पों से कहा कि मैं तुम्हारे निमित्त अमृत लाया हूँ और उसे कुश पर रखता हूँ। तुम स्नान और मंगलाचरण कर अमृत पिओ। अब मेरी माता सेवकाई से छूट जाय। सर्पों ने गरुड़जी से 'तथास्तु' कहा और विनता को दासीत्व से छुड़ाकर वे सर्प नहाने गये। उसी समय इन्द्र वह अमृत कलशा ले स्वर्ग चले गये। इधर आकर सर्पों ने देखा कि वह अमृत-कलश तो चोरी चला गया। तब सर्पों ने सोचा—"हमने छल से विनता को दासी बनाया था। वैसे ही गरुड़ ने भी प्रतिकार कर माता को छुड़ाया है।" अमृत स्पर्श से कुश भी पवित्र हुआ। सर्पगण उन कुशों को चाटने लगे, इससे उनकी जीभ कट कर दो भागों में हो गई और वे दो जीभवाले हो गये।' (महा० आदि० अ० ३२-३४)।

इस दृष्टान्त से जनाया कि वहाँ तो गरुड़ समर्थ थे। अतः, उन्होंने माता को दासीत्व से छुड़ाया, पर यहाँ तो भरत प्रथम ही जेल में डाल दिये जायँगे। लक्ष्मण 'नायब' होंगे। वे यही सलाह देंगे कि शत्रु को कभी स्वतन्त्र न रहने दो। उनके डर से कोई भरत के छुड़ाने की पैरवी भी नहीं कर सकेगा। तब तो तुम्हें आजन्म दासीत्व में ही रहना पड़ेगा।

कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी ॥१॥
तनु पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी ॥२॥
कहि कहि कोटिक कपट-कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी ॥३॥
कीन्हिसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। फिरि न नवइ जिमि उकठि कुकाठू ॥४॥
फिरा करम प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली ॥५॥

शब्दार्थ—सहमि = डरकर। पसेउ = पसीना। कुपाठ = बुरी बातें। 'पाठ पढ़ाना' मुहावरा है। उकठि कुकाठू = जो बबूल आदि कुत्सित वृक्ष खड़े-खड़े सूखकर ऐंठ जाय, वह काठ किसी तरह भी नहीं झुकाया जा सकता, उसे 'उकठा-कुकाठ' कहते हैं।

अर्थ—यह कड़ुवी वाणी सुनते ही कैकेयीजी डरकर सूख गईं, कुछ कह नहीं सकतीं ॥१॥ उनके शरीर में पसीना हो आया और वे केले के पत्ते की तरह काँप उठीं। तब कुबड़ी ने दाँतों के नीचे जीभ दबाई ॥२॥ फिर अनेकों कपट की कहानियाँ कह-कह कर उसने रानी को प्रबोध किया और कहा कि धैर्य धरो ॥३॥ रानी को कुपाठ पढ़ाकर कठोर कर दिया जिससे वह उकठे कुकाठ की भाँति फिर नहीं झुके ॥४॥ रानी का कर्म (भाग्य) फिर गया, इसीसे इसे कुचाल (वा, कुचाली मन्थरा) प्रिय लगी और यह उस बगुली को हंसिनी मानकर उसकी सराहना करने लगी ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकय सुता सुनत कटु·····'—जब तक कैकेयीजी की भरतजी के प्रति अनुकूल बुद्धि थी, तब तक ग्रन्थकार उसे 'भरत मातु' कहते आये, अब वह मन्थरा के अनुकूल हुई, मन्थरा कैकय देश की है और अवधवासियों के प्रतिकूल है, इससे कैकय राज-सम्बन्धी नाम देने लगे। 'कटु बानी'—पुत्र के साथ तुम्हें कौसल्याजी की सेवा करनी होगी। कौसल्याजी दुःख देंगी, भरत बन्दीगृह में डाले जायँगे, ये सब कटु वचन और भयंकर हैं इसीसे रानी डरी।

(२) 'दमन जीभ तब चाँपी'—डर के मारे रानी पवन लगने से केले के पत्ते की तरह काँप उठी, पसीना चल पड़ा, इसपर मन्थरा ने दाँतों के नीचे जीभ दबाई, इसका भाव—अरे, यह क्या आश्चर्य हो गया! मन्थरा डर गई कि कहीं रानी रो उठें, तो लोग दौड़ पड़ें और मेरा भण्डा फूटे, अथवा इसके प्राण ही न निकल जायँ। इस मुद्रा से कैकेयीजी को भी सावधान करती है कि अभी किसी तरह बात प्रकट होने से काम बिगड़ जायगा। अतः, जीभ से कोई वैसा शब्द न हो। 'तन पसेव ···'—तन से, 'कहि न सकै कछु'—वचन से और 'सहमि सुखानी' इसमें मन से भयभीत होना है। अतः, तन, मन, वचन से डरी।

(३) 'कहि-कहि कोटिक···'—धैर्य धरने के लिये समझाया और उदाहरण के रूप में बहुत-सी कपट की कहानियाँ कहीं कि अमुक-अमुक ने धैर्य किया और अमुक प्रकार से कपट से उपाय किया तब उनके काम बने और अमुक-अमुक अधीर हो गये, तब उनके काम बिगड़े। मैं सब काम सुधार लूँगी। देखिये, "दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के देवता हैं। देव दैत्यों को हरा देते थे। तब दिति ने पति कश्यप से प्रार्थना करके गर्भ धारण किया कि वह देवों को हरा सके, एवं इन्द्रहन्ता पुत्र हो। चाहे वह बड़ी भारी तपस्या करने पर भी प्राप्त हो। कश्यपजी ने उसे वैसा ही वर दिया, परन्तु तुझे एक हजार वर्ष पवित्रता से निबाहने पड़ेंगे। दिति ने प्रसन्न हो, स्वीकार किया। वह कुशप्लव नामक वन में घोर तपस्या करने लगी।

इन्द्र बड़ी भक्ति के साथ उसकी सेवा करने लगे। वस्तु लाते और श्रमित होने पर पैर दाबते थे। जब एक हजार वर्ष में दस वर्ष रह गये, तब दिति ने इन्द्र से कहा कि दस वर्ष में तुम अपने भाई को देखोगे, यद्यपि मैं उसे तुम्हारे जीतने के लिये पैदा कर रही हूँ तथापि तुम उसके साथ तीनों लोक जीत कर राज्य करोगे।

एक दिन दोपहर को दिति को नींद आ गई और वह पैतनि की ओर सिर करके उल्टी सो गई। उसे अपवित्र दशा में देख इन्द्र उसके उदर में प्रवेश कर अपने पैने वज्र से गर्भस्थ बालक के सात खण्ड कर डाले। रोते हुए उन सातों को पुनः काटने लगे तब दिति ने विनयपूर्वक मना किया। इन्द्र ने बाहर हो क्षमा माँगी। दिति ने माना कि मेरे ही दोष से गर्भ के टुकड़े हुए। अतः, ये सातो उंचासो पवनों के स्थान-पाल हों। मारुत संज्ञा से प्रसिद्ध हों। एक ब्रह्मलोक में, दूसरा इन्द्रलोक में और तीसरा आकाश मे विचरें। शेष चार तुम्हारे आज्ञाकारी रहें।" (वाल्मी० १।४६-४७)।

इस प्रकार इन्द्र का कपट से स्वार्थ साधन कहकर ऐसी ही और भी कई कहानियाँ कहीं।

(४) 'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ ···'—'पाठ पढ़ाना' मुहावरा है, इसका अर्थ है कि अपने स्वार्थ के अनुकूल किसीको बहकाना। पहले रानी इतनी कठिन नहीं थी, इससे दृढ़ कर दिया कि जिससे राजा के समझाने से नम्र न हो और भेद न खोल दे, नहीं तो मेरे प्राण जायँगे। पुनः अभीष्ट भी सिद्ध न होगा। उकठा हुआ काष्ठ जल में भिगाने से तथा आँच दिखाने से भी नहीं झुकता, वैसे ही यह रानी राजा एवं सखियों की विनती एवं शिक्षा से न दया करेगी और न वसिष्ठ आदि के शापभय से ही नम्र होगी।

(५) 'फिरा करम प्रिय लागि···'—पहले बुद्धि फिरी—'तसि मति फिरी अहइ···' अब 'करम फिरा' अर्थात् भाग्य भी फिरा, तभी कुचाल प्रिय लगी। 'फिरा करम' यह कर्म, 'प्रिय लागि कुचाली' यह मन और 'बकिहि सराहइ' यह वचन है अर्थात् रानी मन, वचन, कर्म इन तीनों से नष्ट हुई।

'मानि मराली'—वह हिंसा रत होने से बकी है, पर रानी उसे हंसिनी की तरह विवेकिनी कहकर सराहती है कि तू बड़ी सूक्ष्म-दर्शिनी है कि सबके कपट को भाँप लिया, यहाँ श्रीरामजी, श्रीकौसल्याजी और राजा दशरथ के प्रति प्रेम-रूप दूध को तो मन्थरा-रूप हंसिनी ने पी लिया (न रहने दिया)। कैकेयी के प्रति इनके कपट रूपी जल ही रख छोड़ा (सिद्ध किया), उसी गुण की प्रशंसा कैकेयी करती है।

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी ॥६॥
दिन प्रति देखहुँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोहबस अपने ॥७॥
काह करउँ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ ॥८॥

दोहा—अपने चलत न आज लगि, अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि, दैव दुसह दुख दीन्ह ॥२०॥

अर्थ—(कैकेयी ने कहा) हे मन्थरा ! सुन, तेरी बात सत्य (ठीक) है, मेरी दाहिनी आँख नित्य ही फड़कती है ॥६॥ मैं रात में प्रत्येक दिन कुत्सित स्वप्न देखती हूँ, पर अपने अज्ञानवश तुझसे नहीं कहती ॥७॥ हे सखी ! मैं क्या करूँ ? मेरा सीधा स्वभाव है, इसीसे मैंने कभी किसीको दाहिना बायाँ (हित-अहित) नहीं समझा ॥८॥ अपनी चलती में आज तक मैंने किसीका अहित नहीं किया, फिर न जाने किस पाप से ब्रह्मा ने मुझे एक साथ ही यह दुःसह दुःख दिया ॥२०॥

विशेष—(१) 'बात फुरि तोरी'—'भरत बंदि गृह सेइहै' 'जौ सुत सहित करहु सेवकाई' 'भामिनि भइउ दूध के माँखी' और 'तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ।' आदि तेरे वचन सत्य हैं, क्योंकि—'दहिनि आँखि···' एवं 'कुसपने'—पति से रहित और पुत्र से विमुख होने के लिये कुत्सित स्वप्न सत्य-सत्य हो रहे हैं, और दाहिनी आँख भी फड़कती है, पर ये अज्ञान से उसका कारण मन्थरा के कथन से राम-तिलक मान रही हैं। स्त्री का दाहिना अंग फड़कना अशुभ है। 'मोहबस अपने' अर्थात् अपने अज्ञान-वश, अज्ञान यह कि आँख वात आदि कारण से फड़कती होगी, स्वप्न झूठे होंगे। अतः, अमंगल की कल्पना क्यों करूँ ?

(२) 'काह करउँ सखि सूध···'—मन्थरा ने कहा था—'राउर सरल सुभाउ' और 'निज हित अनहित पसु पहिचाना' उन्हीं बातों को प्रमाणित करती हुई कहती हैं कि मेरा सूधा स्वभाव है, मैंने दाहिना-बायाँ (हित-अहित) किसीको न जाना, भाव, अपनी तरह सबको निष्कपट शुद्ध स्वभाव जानती रही।

(३) 'अपने चलत न आज···'—राजा इनके वश थे, यथा—"कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। ·· सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। ···" (दो० २५), इत्यादि। इससे इनका पूर्ण अधिकार था, उस अपनी चलती को कह रही हैं। दुःख किसी पाप के फल रूप में होता है और उसको ब्रह्मा जानते हैं, इससे कहती

हैं कि न जाने ब्रह्मा ने किस पाप के फल में दुःख दिये। 'दुसह दुख'—सवति की अधीनता एवं उसकी सेवा करनी तथा पुत्र का बन्दीगृह में पड़ना, आदि।

नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति-सेवकाई ॥१॥
अरिबस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही ॥२॥
दीन बचन कह बहु बिधि रानी। सुनि कुबरी तिय माया ठानी ॥३॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहाग तुम्ह कहँ दिन दूना ॥४॥
जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका ॥५॥

शब्दार्थ—भरब = बिताऊँगी, गँवाऊँगी। बरु = भले ही। ठानी = की, फैलाया। ऊना = न्यूनता, हीनता।

अर्थ—मैं नैहर में भले ही जाकर जन्म के दिन बिताऊँगी, पर जीते जी सौत की सेवकाई न करूँगी ॥१॥ दैव जिसे शत्रु के वश करके जिलाता है, उसके जीने से बढ़कर मरना भला है (वा, उसे जीना न चाहिये) ॥२॥ रानी ने बहुत तरह के दीन वचन कहे, उन्हें सुनकर कुबड़ी त्रिया-चरित्र करने लगी ॥ ३ ॥ (और बोली कि) मन में हीनता मानकर ऐसा कैसे कहती हो? तुम्हें सुख-सोहाग दिन-दूना होगा ॥४॥ जिसने अपना ऐसा अनभल सोचा है, वही इसका परिपक्व फल पावेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'नैहर जनम भरब···'—'भरब' अर्थात् जन्म का सुख रूप फल तो गया, अब केवल दिन काटना है, क्योंकि नैहर में ससुराल का-सा सुख एवं अधिकार कहाँ? वहाँ तो भावज आदि वचन मारेंगी। यह—'जौ सुत सहित करहु सेवकाई।' का उत्तर है। 'जीवन चाही' अर्थात् जीवन से बढ़कर, यथा—"कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि कठोरा।" (बा० दो० २५७) देखिये। यह अव्यय बंगला भाषा का है। इसका शुद्ध रूप 'चाहिया' है जिसका अर्थ है 'अपेक्षाकृत अधिक' या 'बढ़कर।'

'अरिबस दैव···'—महाभारत हो जाने पर जब धृतराष्ट्र युधिष्ठिर के साथ रहते थे, युधिष्ठिर उत्तम रीति से सेवा करते थे। पर उनके हृदय में अपने सौ पुत्रों के घातक भीमसेन से द्वेष था। तब विदुरजी ने कहा कि शत्रु के अधीन जीवन धारण बहुत ही निन्द्य है, तब वे वन चले गये।

'तिय-माया ठानी'—त्रिया-चरित्र यह है कि स्त्रियाँ आँचल उठाकर शत्रु को शाप देती हुई कोसती (कोसती) हैं। वैसी ही मुद्रा करके आगे के वचन कहती है—

(२) 'अस कस कहहु ··'—वास्तविक अर्थ कहा गया, उसपर सरस्वती की सत्य वाणी सिद्धि के लिये विविध प्रकार के अर्थ किये जाते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह त्रिया-चरित्र अर्थात् स्त्रियों की माया है। अतः, सब वचन सरासर झूठ है। 'दिन-दूना' पर कहा जाता है कि दो दिन भी नहीं, अर्थात् बस, आज ही भर है, वा 'दिन' अर्थात् भोर होते-होते ही (सुख-सोहाग) दोनों न रहेंगे, इत्यादि अर्थ केवल वाग्विलास हैं।

(३) 'जेहि राउर अति··'—जिसने तुम्हारे लिये गड्ढा खोदा, वह स्वयं उसमें पड़ेगा, यथा—'जो-जो कूप खनै गो पर को सोइ पामर तेहि कूप परै" (वि० १३७)।

जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि ॥६॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची ॥७॥
भामिनि करहु त कहउँ उपाऊ। है तुम्हरी सेवा-बस राऊ ॥८॥

दोहा—परउँ कूप तुअ बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि ।
कहसि मोर दुख देखि बड़, कस न करब हित लागि ॥२१॥

अर्थ—हे स्वामिनि ! मैंने जबसे यह कुमत सुना है, तबसे मुझे दिन में भूख नहीं लगती है और रात में नींद नहीं आती है ॥६॥ मैंने गुणियों (गणकों, ज्योतिषियों) से पूछा, तो उन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा कि भरत भुआल (राजा) होंगे—यह बात सच्ची है ॥७॥ हे भामिनि ! यदि आप करें तो मैं उपाय कहूँ, क्योंकि आपकी सेवा से राजा आपके वश में हैं ॥८॥ (रानी ने कहा)—मैं तेरे वचन पर कुँए में गिर सकती हूँ और अपने पुत्र और पति का भी त्याग कर सकती हूँ । तू मेरा बड़ा दुःख देखकर कहती है, (तो भला) अपने हित के लिये उसे क्यों नहीं करूँगी ॥२१॥

विशेष—(१) 'भूख न बासर नींद न ···'—इसे सुने हुए अभी कुछ ही घड़ियाँ हुईं, तब ये सब वचन कैसे सत्य होंगे ? दिन के ही घंटे दो घंटे बीते हैं, यामिनी (रात) तो आई ही नहीं । त्रिया-चरित्र रूपी माया में सब बातें युक्त हैं । कैकेयीजी से प्रकट करती है कि आपके प्रति कुमत सुनने पर 'पाख दिन' से न मैंने कुछ खाया है और न सोया है, मुझे ऐसी चिन्ता हो गई है, यथा—"निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच ।" (दो० २५२), "अति सोच बस नींद परइ नहिं राति ।" (अर० दो० २२) । 'पूछेउँ गुनिन्ह···'—'गुनिन्ह' और 'तिन्ह' पदों से बहुत ज्योतिषियों से पूछना और उनका कहना पाया जाता है । अयोध्या में राम-विमुख ज्योतिषी कोई नहीं है और न यह कहीं पूछने ही गई, तिलक सुनते ही तो आग-बबूला होकर यहाँ दौड़ी आई । अतः, 'भरत भुआल' होना भी झूठा ही है । इसपर सरस्वती कृत अर्थ भी कहा जाता है कि 'भू' (पृथिवी) 'आल' (आलयवाले) = नन्दीग्राम में भूमि खोदकर रहेंगे, यह सत्य है । पर 'तिय माया' का प्रसंग ही आ रहा है । अतः, झूठ ही कह रही है । 'है तुम्हरी सेवा बस राऊ', यथा—"दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः । त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् । तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत् ॥ न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।" (वाल्मी० २।९।२४-२६), अर्थात् तुम पति को अत्यन्त प्यारी है, यह निस्सन्देह है । तुम्हारे लिये वे आग में भी कूद सकते हैं । वे न तुम्हें क्रुद्ध कर सकते हैं और न क्रुद्ध देख ही सकते हैं, तुम्हारे लिये वे प्राण भी दे सकते हैं । अतः, तुम्हारा कहा वे न टालेंगे ।

(२) 'परउँ कूप तुअ···'—ऊपर त्रिया-चरित्र से कौसल्या को शाप और कैकेयी को आशिष दे चुकी, (इस तरह रानी को धैर्य दिया) अब आगे के लिये कर्त्तव्य कहती है, किन्तु पहले वचनबद्ध करा लेती है कि जिससे कहे हुए उपाय व्यर्थ न जायँ । प्रथम 'भामिनि' सम्बोधन से ध्वनित कर दिया है कि तुम मानवती हो, मान-लीला से ही काम बनेगा । रानी उसके लिये कहती है—'किसीके कहने से कुँए में गिरना' यह मुहावरा है, भाव यह कि प्राण तक दे सकती हूँ, रानी ने प्राणों से कम पुत्र और उससे कम पति का प्रेम माना है, वैसे ही वे क्रमशः कह रही हैं । यद्यपि ये वचन कटिबद्ध होने के सूचक कहे गये हैं, पर कैकेयी में यथार्थ घटित होंगे । मन्थरा के कहने पर कोप-भवन में जाना, नगर में शोक होना और इसे अपयश होना, इस कुँए में गिरना और मरना है, यथा—"सोक कूप पुर परिहि मरिहि नृप, सुनि सँदेस रघुनाथ सिधायक ।" (गी० अ० ३), पति और पुत्र ने भी आगे इसे त्याग ही दिये हैं, यथा—"कैकेयि··· केवलार्थपरां हित्वां त्यक्त धर्मात्यजाम्यहम् ॥" (वाल्मी० २।८२।३१), "लोचन ओट बैठु मुँह गोई ।" (अ० दो० ३५)—यह राजा के त्यागने का प्रमाण है, तथा—"तज्यो···भरत महतारी ।" (वि० १७४), "कैकई जब लौं जियत रही । तब लौं बात मातु सों मुँह भरि कबहुँ न भरत कही ॥" (गी० उ० ३७) । यह पुत्र भरतजी के त्यागने का प्रमाण है ।

कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट-छुरी उर-पाहन टेई ॥१॥
लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलिपसु जैसे ॥२॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहु मधु माहुर घोरी ॥३॥

शब्दार्थ—करि = करके। कबुली = कबूली हुई, मनौती मानी हुई बलि, राजी किया हुआ बलिपशु। टेई = तेज करती, पहँटती। बलिपसु = देवी को माना हुआ पशु।

अर्थ—कुबड़ी मन्थरा कैकयी को मनौती मानी हुई (बलि पशु) करके कपट-रूपी छूरी को हृदय-रूपी पत्थर पर तेज करती है ॥१॥ पर, रानी अपने निकट के (भावी) दुःख को इस तरह नहीं देखती है कि जिस प्रकार बलि-पशु हरी घास चरता है (पर वह नहीं जानता कि अभी ही उसका बलि-दान रूप में वध होगा) ॥२॥ सुनने में तो उसकी बातें कोमल हैं, पर वे कठोर परिणामवाली हैं, मानों वह शहद में विष को घोलकर इसे दे रही है ॥३॥

विशेष—'कुबरी करि कबुली···'—'कबुली' के साथ 'बलिपसु' भी अध्याहार से आवेगा, आगे स्पष्ट भी लिखा है। 'कबुली' का भाव—'परउँ कूप···' इस दोहे के अर्थ में है। कपट-उपदेश छूरी है और हृदय में उसका विचार करना पाषाण पर टेवना है, तथा—"रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥" (वाल्मी० २।९।४), अर्थात् श्रीरामजी के स्वार्थ का नाश करती हुई कैकेयी से बोली। यह कैकेयीजी को नहीं सूझता है कि इस उपदेश से यह मेरा नाश करेगी। भरत-राज के सुख का अनुभव हरी घास का चरना है, वह इसीमें मग्न है। यहाँ पर आशा देवी है, यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समरपई, बिमुख भये अभिराम ॥" (दोहावली २५८), "हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै सुत सिर छत्र धरैगो ॥" (गी० अ० ६०)। बलिदान में मृत्यु होती है, वैसे इसे अपयश होगा, यही मृत्यु है, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥" (दो० ९४), 'निकट'—टेवने भर की देर है, कोप साज सजते ही बलि का कार्य प्रारम्भ हो जायगा। मन्थरा का निष्ठुर हृदय पाषाण है। 'मधु माहुर'—कोमल वाणी 'मधु' और विषवत उपदेश 'माहुर' है, तथा—"रामार्थमुपहिंसन्ती कुब्जा वचनमब्रवीत् ॥" (वाल्मी० २।९।१०), अर्थात् श्रीरामजी के स्वार्थ का नाश करती हुई मन्थरा बोली।

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं ॥४॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आज जुड़ावहु छाती ॥५॥
सुतहि राज रामहिं बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥६॥
भूपति राम-सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥७॥
होइ अकाज आज निसि बीते। बचन मोर प्रिय मानहु जीते ॥८॥

दोहा—बड़ कुघात करि पातकिनि, कहेसि कोप-गृह जाहु।
काज सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु ॥२२॥

शब्दार्थ—थाती = धरोहर, अमानत। 'छाती जुड़ाना' मुहावरा है, चित्त प्रसन्न करने का। कोपगृह = कोप-भवन, जिसमें रानियाँ मान करने पर जा पड़ती हैं, यह शयनागार के पास रहता है, इसकी सजावट भी कोप प्रकट करने के योग्य ही होती है। सहसा = एकाएक। पतियाहु (सं० प्रत्ययन) = प्रतीति करो वा कर लेना।

अर्थ—दासी मन्थरा कहती है कि हे स्वामिनि! तुमको स्मरण है कि नहीं? जो तुमने एक कथा

मुझसे कही थी ॥४॥ अपने धरोहरवाले दो वरदान राजा से आज माँग लो और अपनी छाती ठंढी करो ॥५॥ पुत्र भरत को राज्य और राम को वनवास दो और सौतों का सब आनन्दोल्लास ले लो ॥७॥ जब राजा रामजी की सौगन्ध कर लें तब वर माँगना, जिसमें वचन न टले ॥८॥ जो आज की रात बीत गई तो कार्य बिगड़ जायगा, मेरे वचन प्राणों से भी प्रिय मानना ॥८॥ उस पापिनी मन्थरा ने कैकेयी पर बुरी घात लगाकर उससे कहा कि कोप-भवन में जाओ, सावधानी से सब कार्य बना लेना, एकाएक (बिना राम-शपथ के) राजा पर विश्वास मत कर लेना (अन्यथा वे इनकार कर देंगे) ॥२२॥

विशेष—(१) 'दुइ बरदान भूप···'—'थाती' प्रथम धरोहर को स्मरण कराना, तब माँगना। 'माँगहु आज ··'—आज ही भर उसका मिलने का समय है, राम-तिलक हो जाने पर फिर न हो सकेगा। 'जुड़ावहु छाती'—क्योंकि—"कैकय सुता हृदय अति दाहू।" (दो० २३), दुइ बरदान—"दक्षिण दिशा के दंडक वन में वैजयन्त नाम का नगर है, जहाँ तिमि ध्वज (संवर) नाम का असुर रहता था, वह बड़ा वीर एवं मायावी था। देवताओं से पराजित न होकर इन्द्र से लड़ने को तैयार हुआ। इन्द्र के साथ रहते हुए राजा दशरथ से और असुरों से वहाँ घोर युद्ध हुआ, राजा घायल हुए और मूर्च्छित हो गये। उस समय (सारथी बनकर) तुम उनको रणभूमि से दूर ले गई (क्योंकि तुम साथ गई थी) और घायल पति की रक्षा की। उस समय प्रसन्न होकर राजा ने तुम्हें वर देने को कहा। तुमने कहा कि जब चाहूँगी, माँग लूँगी। हे देवि, यह तुम्हींने हमसे कहा था।" (वाल्मी० २।९।११-१८)।

(२) 'सुतहि राज रामहिं···'—पहले श्रीभरतजी के लिये राज्य माँगकर तब श्रीरामजी के लिये वनवास माँगना, नहीं तो श्रीरामजी के वनवास की बात सुनते ही राजा मूर्च्छित हो जायँगे, तब दूसरा वर कौन देगा ? श्रीरामजी के वन जाने से सौतों का आनन्दोल्लास सब चला जायगा। पुनः श्रीरामजी के यहाँ रहने पर प्रजा बहुत उनके पक्ष में होकर भरत-राज में बाधक होगी, तथा देवों और दैत्यों के समान झगड़े होते रहेंगे, इसलिये उन्हें वन भेजने को कहा।

(३) 'भूपति राम-सपथ जब···'—'जब' अर्थात् वे राम-शपथ शीघ्र न करेंगे, क्योंकि राम उन्हें प्राण-प्रिय हैं, यथा—"तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई ॥" (दो० २७), इसमें 'करि आई' अर्थात् भावी वश मुख से कही गई, नहीं तो—"राम-सपथ मैं कीन्ह न काऊ।" (दो० २८२), यह कौसल्याजी ने कहा है। 'तब माँगेहु'—शपथ किये बिना चुप रहना।

(४) 'होइ अकाज आज···'—तुमको—'नींद बहुत प्रिय···' है, ऐसा न हो कि कहीं सो जाओ। 'बचन मोर प्रिय···'—प्रथम राम-तिलक के विषय में कहा था कि—'तोर कहा फुर जेहि दिन होई।' अर्थात् उस वचन के फुर होने में सन्देह था, वैसा इस वचन को न समझना, किन्तु प्राणों से भी अधिक प्रिय समझकर इसकी रक्षा करना, अर्थात् इसके अनुसार ही चलना। अथवा पूर्व की तरह मुझे 'घरफोरी न मान लेना जिससे मेरे वचन व्यर्थ हो जायँगे। रानी ने इसके वचन माने हैं, यथा—"होत प्रात मुनि बेष करि···"—यह आगे कहा है।

(५) 'बड़ कुघात करि पातकिनि···'—पापिनी है, क्योंकि इसने अपने अन्नदाता पर ही बुरा घात किया है। कोप-भवन में जाने को कहा, जिससे राजा स्वयं वहाँ जायँ और प्रसन्न करने की चेष्टा करें तब थाती का स्मरण कराना एवं वर माँगना ठीक होगा। 'सहसा जनि पतियाहु' क्योंकि राजा कपट में चतुर हैं, यथा—"लखहु न भूप कपट चतुराई।" (दो० १३) अतएव कार्य की पूर्णता बिना शीघ्र विश्वास न कर लेना।

कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी ॥१॥
तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा ॥२॥

जौ बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चखपूतरि आली ॥३॥
बहु बिधि चेरिहि आदर देई। कोप-भवन गवनी कैकेई ॥४॥

शब्दार्थ—चखपूतरि—आँख की पुतली, आँख की पुतली की तरह अति प्रिय मानकर रक्षा करना, यथा—"राखेहु नयन पलक की नाई।" (बा० दो० ३५४), "नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।" (दो० ५८)।

अर्थ—रानी ने कुबड़ी मन्थरा को प्राणप्रिय समझकर बार-बार उसकी बड़ी बुद्धि का बखान किया ॥१॥ कि तेरे समान मेरा कोई भी हितैषी संसार में नहीं है, मुझ बही जाती हुई को तू आधार हुई ॥२॥ विधाता यदि कल मेरा मनोरथ पूरा कर दें, तो हे सखी! तुझे मैं अपनी आँख की पुतली करूँगी ॥३॥ (इस भाँति) बहुत तरह से चेरी का आदर करके कैकेयी कोप-भवन को चली गई ॥४॥

विशेष—(१) 'बार-बार बड़ि बुद्धि बखानी।', यथा—"आसन्याः शम्बरे मायाः शहस्रम-सुराधिपे ॥४५॥ सर्वास्त्वयि निविष्टास्ता भूयश्चान्या सहस्रशः। तवेदं स्थगु यद्दीर्घं रथचक्रमिवायतम् ॥४६॥ मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।" (वाल्मी० २।९); अर्थात् शम्बरासुर के पास जो हजारों मायाएँ थीं। केवल वे ही नहीं, प्रत्युत और भी हजारों मायाएँ तुझमें हैं। पहिये की नाह की तरह तेरे इस उठे हुए कूबर में हैं। इसमें बुद्धि और राजनीति की चालें और चतुराइयाँ भरी हुई हैं। हृदय में बुद्धि नहीं समाई तब उसने पीठ की ओर कूबर उठाकर जगह बना ली है। 'तोहि सम हित न मोर···' यथा—"त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥" (वाल्मी २।९।३९)

(२) 'बहे जात कइ भइसि अधारा'—सौतों के ईर्ष्या एवं कपट बर्ताव रूपिणी नदी में पड़कर मैं विपत्ति सागर को बही जाती थी, तूने ही हाथ पकड़कर बचाया। बहते हुए को तृण का सहारा भी बहुत कहा जाता है, तू तो सम्यक् आधार हुई। कहा भी है—"तुलसी तृन जल कूल को, निरधन निपट निकाज। कै राखै, कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ॥" (दोहावली ५४४)। तृण की तरह तू भी यद्यपि कोई विशेष पदवाली न थी, पर तो भी तूने ही मुझे बचाया।

(३) 'करउँ तोहि चखपूतरि···'—कैकेयीजी ने समझा है कि यह बड़ी सूक्ष्मदर्शिनी है। अतः, यदि मेरा मनोरथ पूरा होगा तो मैं इसे आँख की पुतली करूँगी, अर्थात् इसे दासी पद से मन्त्री का कार्य करनेवाली प्रधान सखी का पद दूँगी, इसीकी आँख से देखूँगी। यह भी भाव है। इसी पद के अनुसार बन-ठनकर आने पर लक्ष्य करके शत्रुघ्नजी ने इसे पीटा भी है। पर यहाँ मनोरथ तो बुरी तरह से पूरा हुआ, उसी तरह मन्थरा चखपूतरि भी बनाई गई। आँख की पुतली काली होती है, वैसे इसके मुख में कालिख लगी।

(४) 'बहु बिधि चेरिहि···'—आदर देना, यथा—"कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना···" से "पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥" (वाल्मी० २।९।३७-५२)। आदर देना कृतज्ञता रूप में है, यह भी हेतु है कि जिससे यह मन्त्र अभी गुप्त रक्खे, जब तक कि कार्य-सिद्धि न हो। नीच के आदर करने का दुःखद फल होता है, वही इन्हें मिलेगा। यहाँ रानी ने मन, वचन और कर्म से आदर दिया—'प्रानप्रिय जानी'—मन से, बार-बार बड़ि बुद्धि बखानी।'—वचन से और 'बहु बिधि चेरिहि आदर देई'—इसमें हाथ से स्पर्श करना, पीठ पर हाथ फेरना आदि कर्म से आदर करना है।

बिपति बीज बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकइ केरी ॥५॥
पाइ कपट-जल अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा ॥६॥
कोप-समाज साजि सब सोई। राज करत निज कुमति बिगोई ॥७॥
राउर नगर कोलाहल होई। यह कुचालि कछु जान न कोई ॥८॥

नाते में अन्त तक निर्वाह हो जाय ॥६॥ नगर निवासियों में सब किसीके हृदय में ऐसी ही अभिलाषा है, (परन्तु) कैकेयी के मन में अत्यन्त जलन हो रही है ॥७॥ बुरी संगति में पड़कर कौन नहीं नष्ट होता ? नीच के मत में पड़ने से चतुरता नहीं रह जाती ॥८॥ सायंकाल में राजा दशरथ आनन्दपूर्वक कैकेयीजी के महल में गये, मानो निष्ठुरता के समीप स्नेह देह धरकर गया हो ॥२४॥

विशेष—(१) 'जेहि जेहि जोनि···'—'जेहि जोनि' से योनि का नियम नहीं, 'तहँ-तहँ' से स्थल का भी, अर्थात् चाहे किसी भी योनि में और कहीं भी कर्मवश जन्म हो। ये मुक्ति आदि नहीं चाहते, केवल भक्ति चाहते हैं, यथा—"अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने ॥" (उ० दो० ११८), तथा—"मो को अगम, सुगम तुम्ह को प्रभु ! तउ फल चारि न चहिहौं ॥ खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ॥" (वि० २३१), तथा—"कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया। मङ्गलाचरितैर्दानैं रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥" (भाग० १०।४७।६७), अर्थात् कर्मों के कारण भ्रमण करते हुए ईश्वर की इच्छा से मुझे जहाँ कहीं भी कोई योनि मिले, वहाँ मेरे मंगलाचरण एवं दानादि सुकृतों के फल रूप में भी यही मिले कि मेरी प्रीति श्रीकृष्ण में बनी रहे। अभियुक्तों ने भी कहा है, यथा—"तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे। इतरावसथेषु मा स्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥" (आलवन्दार स्तोत्र ४८, स्वामी यामुनाचार्य), अर्थात् आपके सेवकों के घर में कीट होकर भी जन्म चाहता हूँ, अन्यत्र ब्रह्मा का शरीर भी नहीं चाहता।—कि० दो० १० 'जेहि जोनि जनमउँ ' का विशेष भी देखिये। 'ईस' अर्थात् शिवजी, क्योंकि ये राम-भक्ति के दाता हैं, यथा—"संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि।" (उ० दो० ४५)। 'सिय नाहू' का भाव यह कि श्रीसीताजी का जैसे पति में अनन्य भाव है, वैसी ही सर्वात्मना अनन्यता मुझमें भी हो, यथा—"मनक्रम बचन राम-पद-सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥" (अर० दो० ९)। 'होउ नात'—क्योंकि—"मानउँ एक भगति कर नाता ॥" (अर० दो० ३४), यह श्रीमुख वचन है। 'यहि ओर' का दूसरा भाव भी है कि जैसे श्रीरामजी निबाहते हैं, वैसे इस (मेरी) ओर से भी निबहे।

इन सखाओं की इस प्रार्थना से सिद्ध है कि सख्य-भाव में भी सेवक-स्वामी का सम्बन्ध और सेवा करना होता है, यथा—"लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस।" (वाल्मी० ६।४०।१०), यह सख्य भाववाले सुग्रीव का वचन रावण से है।

(२ 'कैकय-सुता-हृदय ···'—'सब काहू' से पृथक् उत्तरार्द्ध में कैकेयी को कहा, अवधवासियों से पृथक् किया, उसका नाम भी कैकय देश सम्बन्धी दिया।

(३) 'को न कुसंगति पाइ·····'—कैकेयी के पतन का कारण नीति की दृष्टि से कवि कहते हैं, यथा—"संत संत अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३०)। सुसंग-कुसंग का विस्तार सहित वा० दो० १ से ७ तक में कहा गया है। यहाँ कैकेयीजी भी नीच की संगति एवं सलाह से नष्ट हुईं। इससे प्रथम ये बुद्धिमती थीं और श्रीरामजी को प्राण-समान प्रिय माननेवाली थीं। तब और कौन है, जो कुसंग से नष्ट न हो ? यथा—"बुद्धिश्च हायते पुंसां नीचैस्सह समागमात्। मध्यस्थैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥" स्कन्द पु० माहे० कुमा० ४०।२८), अर्थात् नीचों के संग से पुरुषों की बुद्धि नष्ट होती है, मध्य श्रेणी के साथ से मध्यम और श्रेष्ठ के साथ श्रेष्ठ बुद्धि होती है।

(४) 'साँझ समय सानंद ·'—निष्ठुरता के पास जाने से स्नेह का नाश होता है, वैसे ही राजा का भी नाश होगा, क्योंकि निष्ठुरता तलवार की धार के समान है, यथा—"मूठि कुबुद्धि धार निठुराई।" (दो० ३०)।

राजा कैकेयी के महल में आज सन्ध्या समय को क्यों गये ? उत्तर—श्रीराम-राज्याभिषेक का प्रिय

संवाद स्वयं प्रथम इन्हींसे कहने के लिये आये, यथा—प्रियार्हा प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी।" (वाल्मी० २।१०।११), तथा—"भामिनि भयउ तोर मन भावा।···रामहिं देउँ कालि जुवराजू।" (दो० २६)—यह आगे इन्होंने कहा भी है। राजा ने समझा कि यह सुनकर रानी प्रसन्न होकर मान छोड़ कर तुरत मिलेगी, क्योंकि राम-तिलक के लिये इसने कई बार कहा था। पुनः भावी के अनुसार प्रवृत्ति होना भी है ही, यथा—आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ॥" (बा० दो० १५९)। पुनः प्रायः नित्य ही इस समय यहीं पर भोजन-शयन होता था, इससे भी गये। 'गवन निठुरता ··' यह उपक्रम है, इसका उपसंहार है—'भूप प्रीति कैकइ कठिनाई।' पर होगा।

कोप-भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुड़ परइ न पाऊ॥१॥
सुरपति बसइ बाँह-बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥२॥
सो सुनि तिय-रिस गयेउ सुखाई। देखहु काम - प्रताप - बड़ाई॥३॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥४।

शब्दार्थ—अगहुड = अगाड़ी, आगे। अँगवनिहारे = (अंग ग्रहण हारे) अंगीकार करनेवाले, सहनेवाले।

अर्थ—(रानी का) कोप-भवन (में होना) सुनकर राजा सकुच (सूख) गये, मारे डर के आगे उनका पाँव ही नहीं पड़ता॥१॥ जिनके बाहुबल के भरोसे इन्द्र (असुरों से निर्भय) बसते हैं, पृथ्वी के सभी राजा लोग सदा जिनका रुख देखते रहते हैं॥२॥ वे ही राजा दशरथ स्त्री का कोप (क्रोध) सुनकर सूख गये। यह कामदेव के प्रताप की बड़ाई तो देखिये?॥३॥ कि जो शूल, वज्र और तलवार (के घाव) अपने शरीर पर लेने एवं सहनेवाले हैं, उन्हें भी कामदेव ने पुष्प बाण से मार गिराया॥४॥

विशेष—(१) 'भय बस'—डर का कारण कवि आगे कहते हैं—'ते रति नाथ सुमन सर·····' तथा—"तुलसी नृपति भवितव्यता बस काम-कौतुक लेखई।" (दो० २५), तथा—"सवृद्धमतरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम॥" (वाल्मी० २।१०।२३)। कामी को प्रिया के कोप का भय होता ही है। 'सुनि'—पूर्व कहा गया कि "यह कुचालि कछु जान न कोई।" (दो० २२), इससे सिद्ध है कि मन्थरा ने ही कहा है। नित्य रानी आगे आकर लेती थी, आज नहीं आई, तब राजा ने पूछा होगा, मन्थरा यही कहने को वहाँ रही होगी। 'देखहु काम··· ···'—यहाँ प्रत्यक्ष बीत रही है। अतः, सुनने एवं प्रमाण आदि से समझाने की आवश्यकता नहीं।

'सुरपति बसइ···', यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई॥" (दो० ९७), "लोकप करहिं प्रीति रुखराखे।" (दो० १), इससे स्वर्ग लोक और 'नरपति सकल'—इससे मर्त्य लोक तथा असुरों को मारते हैं, इससे पाताल लोक की अधीनता सिद्ध है। तीनों लोक अधीन हैं, तथा—"त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥" (दो० १)।

(२) 'सूल कुलिस असि ··' राजा राक्षसों के युद्ध में इन शस्त्रों को सहनेवाले हैं, 'कुलिस' से वज्र के समान आयुधों से तात्पर्य है। वा, त्रिशूल के सहनेवाले जलन्धर आदि, वज्र के सहनेवाले मेघनाद और विष्णु की तलवार को सहनेवाले रावण आदि भी इस कामबाण से मार गिराये गये हैं, एक ये (राजा दशरथ) ही नहीं कि आश्चर्य हो।

सभय नरेस प्रिया पहिं गयेऊ। देखि दसा दुख दारुन भयेऊ॥५॥
भूमि-सयन पट मोट पुराना। दिये डारि तनु भूषन नाना॥६॥
कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अनअहिवात सूच जनु भाबी॥७॥
जाइ निकट नृप कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी॥८॥

अर्थ—राजा डरते हुए अपनी प्यारी कैकेयीजी के पास गये, उसकी दशा देखकर उन्हें घोर दुःख हुआ ॥५॥ (देखते हैं कि) भूमि पर लेटी हुई है, मोटा-पुराना कपड़ा पहन रक्खा है, शरीर पर के नाना प्रकार के भूषण उतारकर डाल (बिथरा) दिये हैं ॥६॥ इस कुमति कैकेयी का यह कुवेष धारण करना कैसा सोह रहा है, मानों भावी उसके विधवापन की सूचना दे रही है ॥७॥ राजा दशरथ ने उसके पास जाकर कोमलवाणी से कहा कि हे प्राणप्रिये ! किसलिये क्रोधित हुई हो ॥८॥

विशेष—(१) 'सभय नरेस ···'—उपर्युक्त —'भयबस अगहुड़···' से प्रसंग मिलाया। प्रथम कोपभवन में जाना सुनकर भय था, अब दशा देखकर दारुण दुःख हुआ।

(२) 'दिये डारि तनु···'—क्रोध के मारे भूषण इधर-उधर फेंक दिये गये हैं। 'अनअहिवात' अर्थात् रानी विधवा की तरह पड़ी हैं, इस तरह विधवाओं का लक्षण भी जनाया।

(३) 'प्रान प्रिया केहि ··'—रिसाने का कारण पति की प्रतिकूलता एवं किसी प्रयोजन की पूर्ति करना होता है, उसमें 'प्रानप्रिया' शब्द से अपनी अनुकूलता जनाई। यह भी कि तुम्हारे दुःख में मुझे दुःख हो रहा है। पुनः प्रयोजन के लिये 'केहि हेतु' कहते हैं, इसपर भी आगे कहेंगे कि सर्वस्व तो तुम्हारे अधीन है।

छन्द—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग-भामिनि विषम भाँति निहारई॥
दोउ वासना रसना दसन वर मरम ठाहर देखई।
तुलसी नृपति भवितव्यता-बस काम-कौतुक-लेखई॥

सो०—बार बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक-बचनि।
कारन मोहि सुनाउ, गजगामिनि निज कोप कर॥२५॥

शब्दार्थ—निवारई = निवारण करती है, झटक देती है, मना करती है कि हमें न छुओ। मरम ठाहर = मर्मस्थान, सुकुमार अंग जहाँ आघात लगने से अधिक पीड़ा होती है। लेखई = समझते हैं, मानते हैं, यथा—"भयउँ एक मैं इन्ह के लेखे।" (लं० दो० ९५)।

अर्थ—हे रानी ! किसलिये रिसानी हो, (ऐसा कह राजा ने हाथ से उसका स्पर्श किया) हाथ से छूते ही वह स्वामी को रोकती है और इस तरह देखती है, मानों नागिनि क्रोध के साथ तीक्ष्ण दृष्टि से देख रही हो॥ दोनों वासनाएँ दो जीभें हैं, दोनों वरदान दाँत हैं, वह काटने के लिये मर्मस्थान देख रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा भावीवश होने से इसे (इसके इस स्पर्श निवारण आदि को) कामदेव की क्रीड़ा ही मान रहे हैं॥ राजा बार-बार कहते हैं, हे सुमुखि ! हे सुलोचनि !! हे कोकिल-वयनी !!! हे गजगामिनि !!! मुझे अपने क्रोध का कारण सुना ॥२५॥

विशेष—(१) 'निवारई। मानहुँ सरोष···'—जैसे क्रुद्ध नागिनि छूते ही फुफकार मारकर काटने की चेष्टा करती और जीभ लपलपाती है। वैसे ही इसने स्पर्श करते हुए उनके हाथ को झटक दिया। इसका विषम तरह से देखना, जीभ लपलपाना है। दोनों वरों की वासनाएँ दो रसनाएँ हैं, और दोनों वर दाँत हैं, दाँतों के एक तालु के दाँत ही में विष रहता है, वैसे ही राम-वनवाले एक ही वर से राजा के प्राण जायँगे। नागिनि के और दाँतों से थोड़ा घाव हो जाता है, वैसे ही भरत-राज्य से थोड़ा ही दुःख

होगा। 'मरम ठाहर'—'भूपति राम-सपथ जब करई।' का अवसर है। 'काम कौतुक लेखई'—राजा ने मान-लीला का खेल समझा, पर यहाँ कुछ और ही है। भावीवश यथार्थ न जान पाया।

(२) 'सुमुखि सुलोचनि···'—यहाँ रानी के लिये चार विशेषण दिये गये है कि तुम्हारा मुख सुन्दर है, नेत्र, बोली एवं चाल भी सुन्दर हैं, अर्थात् तुम पतिव्रता हो। अतः, तुम्हें चाहिये कि आगे चलकर सुन्दर मुख दिखाकर मधुर प्रिय वचन बोलो और सुन्दर अवलोकन से पति को प्रसन्न करो, यथा—"उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय वचन कहे।" (गी० अर० १०), रानी नित्य इस रीति से बर्त्ताव करती थीं, पर आज एक बर्त्ताव भी नहीं किया। राजा इन्हीं बातों को कह रहे हैं कि इनके त्याग के कारण कहो।

पूर्व मन्थरा को किरातिनी कहा गया और पुरवासियों को मधुमक्खी। राम-तिलक रूपी मधु के छीन जाने से वे सब दुखी हुए। मधु के पुनः होने से दूसरे छत्ते में मक्खियाँ फिर सुखी हो जाती हैं, वैसे ही १४ वर्ष पर राम-तिलक होने से वे सब फिर सुखी हो जायँगे। पर नागिन का डसा हुआ मर जाता है, वैसे ही यहाँ नागिनि रूपा कैकेयी के द्वारा राजा के प्राण ही जायेंगे।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ॥१॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू ॥२॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर-नारी ॥३॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू ॥४॥
प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे ॥५॥

अर्थ—हे प्रिये! किसने तेरा अहित किया है? किसके दो सिर हैं? यमराज किसे लेना चाहते है? ॥१॥ कहो, किस दरिद्र को राजा कर दूँ? कहो, किस राजा को देश से बाहर निकाल दूँ? ॥२॥ तेरा शत्रु यदि अमर भी हो, तो उसको मार सकता हूँ, कीड़ों-मकोड़ों की तरह बेचारे स्त्री-पुरुष (मनुष्य) क्या हैं? ॥३॥ हे बरोरू (श्रेष्ठ जंघोंवाली, सुन्दरी)! तुम मेरा स्वभाव जानती हो कि मेरा मन तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा का चकोर है ॥४॥ हे प्रिये! जो कुछ मेरे प्राण, पुत्र, परिजन और प्रजा हैं, वे सब तेरे अधीन है ॥५॥

विशेष—(१) 'अनहित तोर···'—कई बार पूछने पर भी कारण न कहा, क्योंकि वह तो राम-शपथ की प्रतीक्षा कर रही है, जैसा कि मन्थरा ने सिखा रक्खा है, यथा—"भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥" (दो० २१), तब राजा ने अनुमान से कहा—'केहि दुइ सिर···' अर्थात् एक सिरवाला तो तुम्हारा अहित कर नहीं सकता, क्योंकि वह जानता है कि मैं उसका सिर तुरत काट लूँगा। हाँ, दो सिर हों, तो चाहे वह उतनी देर बच जाय, जब तक मैं उसका दूसरा सिर भी न काट लूँ, यथा—"हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।" (वि० १३७), "दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहँ···" (बा० दो० ८४)।

'केहि जम चह लीन्हा'—अर्थात् उसकी मौत आ गई, यमराज का प्रतिकार नहीं हो सकता, वैसे ही वह एवं उसके पक्ष का कोई भी मुझसे प्रतिकार नहीं कर सकते, उन्हें अवश्य ही मार डालूँगा।

(२) 'सकउँ तोर अरि···'—तुम्हारा अहित करनेवाला अमर ही क्यों न हो, वा देवताओं में से कोई क्यों न हो, मैं उसे भी मार सकता हूँ, यथा—"जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाये।··· लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाये। सूखि गे गात चले नभ बात, परे भ्रम बात न भूतल आये ॥" (क० लं० ३७)।

'कहु केहि रंकहिं···' अर्थात् तुम्हारी रीझ और खीझ दोनों का पालन कर सकता हूँ।

पहले अहित करनेवाले का अनुमान करके दंड देना कहा, फिर प्रसन्नता-पूर्ति के लिये रंक को राजा करना। पुनः खीझ के प्रतिकार को कहते हैं, पर वह नहीं बोली, तब अपने पुरुषार्थ की दृढ़ता एवं सत्यता के लिये—'सकउँ तोर अरि ···' अर्थात् अगम बात भी कर सकता हूँ।

यहाँ तक के वचन राजा ने मानवती के मनाने में कहे हैं, इससे यह नहीं है कि राजा ने स्त्री-वश न्याय की अवहेलना की है, प्रत्युत "स्त्रीषु नर्म विवाहे च···" (भाग० ८।१९।४३), इस नियम से स्त्री को प्रसन्न करने के लिये ये वचन कहे गये हैं। अतः, ये यथार्थ नहीं हैं। आगे—'जानसि मोर सुभाउ···' से जो वचन कहे गये हैं, उन्हींपर राम-शपथ भी की गई है।

'जानसि मोर सुभाव···'—अब अपनी बात कहते हैं, सब मेरे वश में हैं, और मैं तुम्हारे मुखचन्द्र में अनन्य हूँ, कौसल्या आदि नक्षत्रों में नहीं। मैं को कह आगे मम की (मेरी) बात कहते हैं—

'प्रिया प्रान सुत···'—मुख्य प्राण, उससे कम पुत्र, फिर क्रमशः सर्वस्व, परिजन और प्रजा को कम जनाया कि ये सब तुम्हारे वश में हैं। यथा—"देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।" से "सब सुत-प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।" तक (बा० दो० २०७), तथा—"अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः। न ते किञ्चिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे॥" (वाल्मी० २।१०।३४), अर्थात् मैं स्वयं और मेरे आश्रित सब तुम्हारे वशवर्त्ती हैं, तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी करने का मुझसें सामर्थ्य नहीं है।

जौं कछु कहउँ कपट करि तोहीं। भामिनि राम-सपथ सत मोहीं॥६॥
बिहँसि माँगु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता॥७॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेखू॥८॥

दोहा—यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृग, मनहुँ किरातिनि फंद॥२६॥

अर्थ—जो मैं इसमें कुछ कपट करके तुमसे कहता होऊँ तो, हे भामिनि! रामजी की मुझे सौ शपथें हैं॥६॥ हँसकर (प्रसन्नता से) मन को भानेवाली बात माँग लो और सुन्दर शरीर पर भूषण सजो॥७॥ अपने हृदय में विचार कर घरी-कुघरी (अवसर-कुअवसर) तो देखो, हे प्रिये! कुवेष का शीघ्र त्याग करो॥८॥ यह सुनकर और अपने मन में इस शपथ को बहुत बड़ी समझकर मन्दमति कैकेयी हसकर उठी और शरीर पर भूषण सजने लगी, मानों मृग को देखकर भीलनी (उसको फसाने के लिये) फन्दा सज रही हो॥२६॥

विशेष—(१) 'जौं कछु कहउँ कपट···'—राजा बहुत कह गये, तब उन्होंने विचारा कि कहीं रानी इन्हें चाटु वचन ही न समझें, इसलिये पुष्टि के लिये शपथ करते हैं कि रामजी की सैकड़ों शपथें हैं, अर्थात् जो मैं झूठ कहता होऊँ, तो मुझे रामजी की सौ शपथों का पाप हो। और मेरे सुकृत, स्नेह नाश हो जायँ, यथा—"तोहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (दो० २७), 'राम सपथ सत'—शत शब्द यहाँ बहुत के अर्थ में है। महर्षिजी ने भी तीन बार राम-शपथ करना लिखा है—"शत्रुओं से अजेय और सबसे मुख्य श्रीरामजी की शपथ करके कहता हूँ कि तू जो चाहती है कह। जिन श्रीरामजी को देखे बिना एक घड़ी भी नहीं जी सकता, उन्हींकी शपथ करके कहता हूँ कि तेरा काम मैं करूँगा। अपने से एवं अपने और तीन पुत्रों से जिन श्रीरामजी को अधिक मानता हूँ, तेरे वचन की पूर्त्ति के लिये मैं उन्हींकी शपथ करता हूँ।" (वाल्मी० २।११।६-८), तीन बार का तात्पर्य भी बहुत से

है, तीन की संख्या से बहुवचन माना जाता है। 'भामिनि' पद मानवती स्त्री का बोधक है, वह यहाँ यथार्थ है।

(२) 'बिहँसि माँगु···भूषन सजहि···'—वह रुष्ट है। अतः, राजा ने उसे सब कुछ अर्पण कर उसे राम-शपथ द्वारा पुष्ट किया, तब कहते हैं कि अब तो हँसकर माँगो। 'मनोहर गाता'—तुम्हारे शरीर तो यों ही मेरे मन को हरते हैं, फिर भी अपनी प्रसन्नता से भूषण सजो (पहनो)। प्रथम राजा ने 'सुमुखि' आदि चार विशेषणों से चार अंगों की ही सुन्दरता कही थी। अब सर्वांग की मनोहरता कहते हैं। इस तरह अपनी पूर्ण आसक्ति एवं दीनता दिखाई। 'मनभावति बाता' अर्थात् जो तुम सदा से चाहा करती थी, वही माँग लो, राजा जानते हैं कि यह राम-तिलक ही चाहती थी, उसीके लिये रूठी है, यथा—"भामिनि भयउ तोर मन भावा।···रामहिं देउँ कालि जुवराजू॥" आगे कहते ही हैं। भावीवश राजा को धोखा हुआ, इसीसे राम-शपथ मुख से निकल आया और मन भाया माँगने को भी साथ ही कहा। इसीपर तो रानी कहेगी—"माँगेउँ जो कछु मोहि सुहाना।" (दो० ३६)।

(३) 'घरी कुघरी समुझि···'—राम-तिलक का शुभ अवसर है। अतः, यह शुभ घड़ी है, यह मंगल सजाने के योग्य है। इसमें क्रोध नहीं किया जाता, इसमें शृंगार सजो, क्रोध और कुवेष के लिये कुघड़ी होती है। राजा शुभ घड़ी की सूचना देते हुए कुवेष छुड़ाना चाहते हैं। इसीसे उन्होंने आगे कहा ही है—'भामिनि भयेउ तोर···'। 'बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू।'—क्योंकि मेरे रहते हुए यह विधवा का-सा वेष है, इससे मुझे दारुण दुःख हो रहा है, यथा—"देखि दसा दुख दारुन भयऊ।" (दो० २४)

(४) 'यह सुनि मन गुनि सपथ···'—शपथ को 'बड़ि' कहा, क्योंकि मन्थरा ने एक ही बार की राम-शपथ का बहुत महत्त्व समझाया था और यहाँ सौ बार की शपथ की गई। इस शपथ का महत्त्व वाल्मी० २।११।६-८ में उत्तम रीति से कहा है, वहाँ तीन बार शपथ कर उसे विशेष पुष्ट किया है, यहाँ तो सौ शपथें कह रहे हैं। ऐसी शपथ पर भी स्वामी का सद्भाव न मानकर उन्हें नाश करने चली, इससे 'मति मंद' कहा है, क्योंकि राजा ने सब कुछ तो दे ही दिया था और उसे शपथ से पुष्ट भी कर दिया, तो माँगने को रहा क्या ? जो माँगेगी। 'बिहँसि उठी'—लेटी थी, हँसकर उठी, क्योंकि मन चाही बात हुई। 'बिहँसि माँगु' के अनुसार 'बिहँसि उठी'। 'भूषन सजति बिलोकि···'—राजा मृग, कैकेयी किरातिनि और उसके भूषण फन्द हैं, उन्हीं भूषणों के पहनने से राजा प्रसन्न होंगे, तभी वर देने के लिये वचनबद्ध होंगे, वहाँ फँसना होगा। स्त्री के भूषण पुरुष के लिये फाँसी हैं ही। कहा भी है—"वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः। प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः॥" (वाल्मी० २।११।२२), अर्थात् राजा को कैकेयी ने केवल वचन से वश में कर लिया जैसे किरातिनि हिरण को मारने के लिये उसे जाल में बाँध लेती है। यहाँ कैकेयी भी राजा को फँसा कर मारेगी, उनके प्राण लेगी। (प्रचस्कन्द विनाशाय = अपने विनाश के लिये)।

कुछ लोग कहते हैं कि राजा दशरथ ने सामान्य धर्म रूप सत्य के रक्षण में ब्रह्म का निरादर किया है, इससे उन्हें स्वर्ग में ही रहना पड़ा। उन्हें यहाँ विचारना चाहिये कि कैकेयी राम-शपथ ही देख रही थी। इसीपर उसने वर माँगे हैं। वह निश्चित जानती थी कि राजा सत्यमात्र की रक्षा में श्रीरामजी का त्याग न करेंगे। अब यदि राजा उसे वर न दें तो श्रीरामजी का ही अकल्याण होता है, ऐसा विचार कर चौदह वर्ष उनका वन का कष्ट सहाना स्वीकार किया, पर प्रतिज्ञा भंग नहीं होने दी।

स्वर्ग में रहने का समाधान लं० दो० ११० चौ० १-८ में देखिये।

पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥१॥
भामिनि भयेउ तोर मन भावा। घर-घर नगर अनंद बधावा॥२॥

रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू ॥३॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयेउ पाक बरतोरू ॥४॥
ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई। चोर-नारि जिमि प्रगटि न रोई ॥५॥

शब्दार्थ—दलकि उठेउ = चौंक उठी, उद्विग्न हो उठी, दलकना = असह्य ठेस लगना। बरतोरू = रगड़ आदि से शरीर का रोम (बाल) टूटने से प्रायः उस जगह फोडा हो जाता है, वही बलतोड़ है। यह छू जाने से एवं इसमें किंचित् ठेस लगने से असह्य दुःख होता है, वेदना होती है। गोई = छिपाई।

अर्थ—अपने हृदय में उसको सुहृद जानकर राजा प्रेम से पुलकायमान हो सुन्दर कोमल वाणी से फिर कहने लगे ॥१॥ हे भामिनि! तुम्हारा मनभाया हुआ, नगर में घर-घर आनन्द बधाई बज रही है ॥२॥ राम को कल ही युवराज पद दे रहा हूँ, हे सुलोचनी! मंगल साज सजो ॥३॥ यह सुनते ही उसका कठोर हृदय दहल उठा, मानो कोई पका हुआ बलतोड़ छू गया हो ॥४॥ ऐसी पीड़ा भी उस कैकेयी ने हँसकर छिपा ली, जैसे 'चोर नारि' प्रकट (दूसरों के जानने में) नहीं रोती ॥५॥

विशेष—(१) 'सुहृद जिय जानी'—राजा ने उसे जो-जो आज्ञा दी, वही-वही उसने किया। इन्होंने 'बिहँसि माँगु' कहा था, तब वह 'बिहँसि उठी' पुनः 'भूषन सजहि' कहा तब वह 'भूषन सजति' इससे अपने अनुकूल जानकर राजा ने उसे सुहृद जाना। राजा स्वयं सुहृद हैं, इससे उसे भी वैसी ही जाना—दो० २२७ देखिये। 'जिय जानी'—राजा ने जाना है, पर वह सुहृद भाव से नहीं हँस रही है और न भूषण ही सजती है, किन्तु राजा को फँसाने के लिये यह कर रही है—'…बिलोकि मृग मनहु किरातिनि फंद' कहा ही है।

(२) 'भामिनि भयेउ तोर …'—राजा प्रसन्न होकर उसका मनभाया स्वयं कह रहे हैं, उसे 'मन भावत' माँगने को कहा था, उसने कहने में देरी की, तब अपने अनुमान से राजा स्वयं कह रहे हैं—'रामहि देउँ…' यही तो पहले सदा से वह चाहती थी, यथा—"राम-तिलक जौ साँचेहुँ काली। माँगु देउँ मन भावत आली ॥" (दो० १४), 'घर-घर नगर…' सब कोई सज रहे हैं, तुम्हारे तो प्रिय पुत्र का ही तिलक है।

(३) 'रामहि देउँ कालि … सजहि……'—राजा अपनी तरफ से उसे अत्यन्त प्रसन्नता की बात सुना रहे हैं कि बस, कल ही देता हूँ, विलम्ब नहीं है। अतः, आज तुम मंगल-साज सजो। प्रथम कहा था—"प्रमुदित पुरनर-नारि सब, सजहिं सुमंगल चार।" (दो० २३), वैसे यहाँ रानी को सजने को कहते हैं। इससे 'सुमंगल चार' ही 'मंगल साज' है।

राजा ने पहले कहा था—'भूषन सजहि …' तब रानी भूषन सजने लगी थी, किन्तु अभी मंगल साज सजने को कहा, तब उसने न किया। इसपर राजा समझ जाते कि भूषण सजना इसका कपट से है इसलिये बिहँसकर इस मर्म को छिपाया कि जिससे राजा समझें कि राम-राज्य को सुनकर प्रसन्न हुई है पीछे मंगल भी सजेगी। उसीको आगे ग्रन्थकार कहते हैं—

(४) 'दलकि उठेउ सुनि हृदय …'—उसका कठोर हृदय ही 'पाक बरतोर' है जो अभी थोड़ी ही समय का है, इससे कठोर है, बलतोड़ भी प्रथम कठोर ही होता है, पीछे पकने पर गुल-गुलाता है। दूसरे की हानि करनेवाले का हृदय निर्दयता से कठोर होता ही है। बलतोड़ में पीड़ा पहले भी रहती है, पर छू जाने पर असह्य पीड़ा होती है, जिससे मनुष्य काँप उठता है, वैसी ही पीड़ा हुई और वह काँप उठी, सामान्य पीड़ा तो पहले से ही थी। मन्थरा ने कहा था—"रामहि तिलक कालि जौ भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीच बिधि बयऊ ॥" (दो० १८), उसीको राजा ने सुनाया, जिससे असह्य पीड़ा हुई।

(५) 'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई।'—असह्य पीड़ा में रोया जाता है, पर इसने मर्म छिप

के लिये बिहँस दिया। अन्यथा राजा राम-तिलक की विरोधिनी जान जाते और वे सावधान हो जाते। हँसने से जाना कि राम-तिलक पर प्रसन्न हुई है।

'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई'—यहाँ कैकेयी पति से ही हृदय की पीड़ा छिपा रही है। अतः, 'चोर नारि' का अर्थ यह है कि जो स्त्री चोरी करके परपति पर आसक्त होकर उससे सुख भोगना चाहती हो, परन्तु किसी कारणवश उसकी मृत्यु हो जाय, तो उस समाचार को सुनकर वह भीतर-ही-भीतर रोती है, क्योंकि प्रकट रोने से चोरी खुल जाय और वह अपने पति से दंड-भागिनी हो। वैसे ही कैकेयी अपने पति राजा दशरथ से चोरी करके राज्य-वैभव पर प्रेमासक्त होकर उसकी प्राप्ति से सुख उठाना चाहती है। जब राजा ने कहा—"रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥" तब उक्त राज्य वैभव रूपी उप-पति की मृत्यु जान उसे असह्य पीड़ा हुई, परन्तु पति राजा यदि इस पीड़ा को जान जायँ, तो इसका कपट खुल जाय और यह दण्डनीय हो। अतएव बिहँसकर इसने उस भाव को छिपा लिया, जिससे राजा न जान सके, यथा—"लखहि न भूप कपट चतुराई।" आगे कहा ही है—

लखहि न भूप कपट चतुराई। कोटि-कुटिल-मनि गुरू पढ़ाई॥६॥
जद्यपि नीतिनिपुन नरनाहू। नारि-चरित जलनिधि अवगाहू॥७॥
कपट-सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥८॥

दोहा—माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ, तेउ पावत संदेहु॥२७॥

शब्दार्थ—नयन मुँह मोरी = नेत्रों से कटाक्ष करके मुख से भी नाज-नखरे के साथ मटक कर। कबहुँ न = कभी भी नहीं, यथा—"नाहिन राम राज के भूखे।" (दो० ४९), 'नाहिन' = नहीं ही। देहु न लेहु = देते लेते नहीं, यह मुहावरा है। इसका अर्थ 'देते नहीं' इतना ही होता है।

अर्थ—राजा उसकी कपट चातुरी को नहीं लख (लक्ष्य कर) पाते, क्योंकि वह करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि (कुबड़ी ऐसी) गुरु की पढ़ाई हुई है॥६॥ यद्यपि राजा नीति में प्रवीण हैं, तथापि स्त्री-चरित्र समुद्र की तरह अथाह है॥७॥ फिर कपट (झूठा) स्नेह बढ़ाकर नेत्र और मुँह मोड़कर (मटकाकर) हँसकर वह बोली॥८॥ हे प्रिय (प्रिय-स्वामिन्)! आप 'माँगु माँगु' तो कहा ही करते हैं, पर कभी कुछ देते लेते नहीं। आपने मुझे दो वरदान देने को कहा था, उनके भी पाने में (मुझको) सन्देह हो रहा है॥२७॥

विशेष—(१) 'लखहि न भूप कपट·····'—उसको कपट चातुरी राजा भी नहीं लख पाते। क्यों? इसका उत्तर उत्तरार्द्ध में है कि यह ऐसे गुरु की पढ़ाई हुई है कि जो करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि है, तन और मन दोनों से टेढ़ी है। पढ़ाया है—"काज सँवारेहु सजग होइ, सहसा जनि पतियाहु॥" (दो० २२)। यदि कहा जाय कि नीति-निपुण राजा से तो कपट नहीं छिप सकता तो इसपर आगे कहते हैं—

(२) 'जद्यपि नीतिनिपुन···'—नीतिज्ञ से कपट नहीं छिपता, पर यहाँ छिप रहा है। राम-तिलक सुनकर इसके भीतर पीड़ा हुई और ऊपर से हँस दिया, यही 'कपट चतुराई' है। इसे नीति की दृष्टि से राजा लख सकते थे कि जिस-जिसने राम-तिलक सुना है, सब प्रसन्न होकर मंगल सजाने लगे हैं, यथा—"तेहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास।" तब—"प्रेम पुलकि तन मन अनुरागी। मंगल साज सजन सब लागी॥" (दो० ७), तथा—"राम राज अभिषेक सुनि, हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल

सजन सब, बिधि अनुकूल बिचारि ॥" (दो० ८), परन्तु कैकेयी ने राजा के कहने पर भी—"सजाहि सुलोचनि मंगल साजू ।" इसकी चर्चा न की और न इसपर राजा को धन्यवाद ही दिया। तब लख लेते कि इसका हृदय अवश्य मैला है, पर न लख सके, क्योंकि—'नारिचरित जलनिधि अवगाहू ।' 'नारि चरित' वही उपर्युक्त 'कपट कुटिलाई' है और—'बोली बिहँसि' नयन मुँह मोरी ।' है कि जिससे मोहित होने से राजा चूक गये। यही नारि-चरित की अगाधता में डूब जाना है। श्रीभरतजी ने भी कहा है—"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥ सरल सुसील धरम-रत राऊ। सो किमि जानइ तीय सुभाऊ ॥" (दो० १६१)।

(३) 'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी···'—स्नेह ऊपर दिखाने भर को है कि जिससे राजा प्रसन्न होकर वर दे दें। 'कपट सनेह बढ़ाइ'—मन का धर्म है, 'बोली बिहँसि'—वचन का और 'नयन मुँह मोरी'—कर्म का कपट है। तीनों में कपट ही भरा है। 'बोली बिहँसि'—इस प्रसंग में इसका कई बार हँसना कहा गया है—"बिहँसि उठी मति मंद", "ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई", "बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी ।", "बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली" इत्यादि हँस-हँसकर इसने राजा को मोह लिया और अपना प्रयोजन साध लिया ॥

'तेउ पावत संदेहु'—ऐसा कहकर यह राजा से निस्सन्देह होने के लिये उन्हें वचनबद्ध कराना चाहती है, भावीवश वैसा ही होगा। पुनः जो दो वर यह माँगेगी उनमें एक वर (राम-वनवास का) राजा ने खुशी से नहीं ही दिया, श्रीरामजी ने बलात् पूरा किया कि हठ करके चले गये। कैकेयी जानती है कि राजा का सुकृत-सुयश भले ही चला जाय, पर वे रामजी को वन जाने को न कहेंगे, यथा—"अजस होउ जग सुजस नसाऊ।·· ···लोचन ओट राम जनि होहीं ॥" (दो० ४४), यह राजा के वचन हैं। पुनः—"सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ ॥" (दो० ७८)। ये कैकेयी के वचन हैं। अतः, सन्देह करना उसके हृदय से युक्त भी है।

जानेउँ मरम राउ हँसि कहई। तुम्हहिं कोहाब परमप्रिय अहई ॥१॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ। बिसरि गयेउ मोहि भोर सुभाऊ ॥२॥
झूठेहु हमहिं दोष जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू ॥३॥
रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई ॥४॥

शब्दार्थ—कोहाब = रूठना। मकु = चाहे, भले ही। कै = के बदले में। बरु = चाहे, भले ही।

अर्थ—राजा ने हँसकर कहा—मैंने तुम्हारा अभिप्राय समझा, तुम्हें रूठना (मान करना) परम प्यारा है (रूठती हो कि जिससे हम मनावें) ॥१॥ (उन दोनों वरों की) थाती रखकर तुमने फिर कभी माँगा ही नहीं, भोला स्वभाव होने के कारण वह मुझे भूल गया ॥२॥ मुझे झूठा ही दोष मत दो, दो के बदले में चाहे चार माँग लो। रघुकुल की रीति सदा से चली आती है कि प्राण चाहे चले जायँ, पर वचन नहीं टलता ॥४॥

विशेष—(१) 'जानेउँ मरम राउ हँसि·· '—राजा हँसे कि रानी ने क्रोध इतना किया था, पर इसका कारण तो कुछ नहीं है। रक्खी हुई थाती तो जब चाहती, यों ही माँग लेती। 'कोहाब परम प्रिय' से जनाया कि और भी बहुत बार इन्होंने मान किया था, राजा ने जाना कि इस बार की भी वैसा ही (क्रीड़ा का) मान है, नहीं तो दो के चार देने को न कहते।

(२) 'थाती राखि न···'—तुम्हें कोहाना (मान करना) परम प्रिय है, इसीसे नहीं माँगा कि

माँग लेंगी, तो फिर किस बहाने से मान करेंगी। अन्यथा थाती किसीकी भी कोई नहीं रोकता, मैं कैसे न देता ? 'मोहि भोर सुभाऊ'—मुझे भी भूल गया था, नहीं तो मैं ही स्मरण कराता। 'भोर सुभाऊ' का यह भी भाव है कि हम जानकर वचन का त्याग नहीं करते।

(३) 'झूठेहुँ हमहिं दोष···'—रानी ने कहा था—"माँगु माँगु पै···" उसीपर कहते हैं कि न देने का दोष मुझपर झूठा ही आरोपण करती हो। तुमने थाती माँगी नहीं और हम भूल गये तो झूठा होने का दोष हममें नहीं लग सकता। अच्छा, लो, दो तो तुम्हारे ही हैं, दो और हम अपनी ओर से अपनी भूल के बदले में देते हैं, इस तरह चार ले लो। दोष देने से हमारे कुल में कलंक लगेगा।

कैकेयी ने चारो नहीं माँगे, क्योंकि स्त्री को दो ही वर माँगने का अधिकार है, यथा—"एकमाहुर्वैश्य-वरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रियौ वरौ। त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः॥" (महा० सभा० ७१।३६), अर्थात् द्रौपदीजी ने कहा है कि वैश्य को एक वर, क्षत्रिय और स्त्री को दो वर, राजा को तीन और ब्राह्मण को सौ वर माँगने का अधिकार है। दो के चार कहने पर कहीं वह अविश्वास करे, इससे कुलरीति कहते हैं—

(४) 'रघुकुल-रीति सदा···'—जबसे यह कुल उत्पन्न हुआ तबसे इसमें परम्परा से सत्य का आदर होता आया, अन्यत्र ऐसा असम्भव है, पर इस कुल की रीति निबहती ही आई। भाव यह कि हम रघुवंशी हैं। अतः, वचन से न टलेंगे, 'प्रान जाइ बरु···'—वचन प्राणों से अधिक प्रिय हैं, यथा—"नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना।" (दो० १७३), देखिये, भावीवश राजा स्वयं अपनेको बाँधते जाते हैं, वचन से न हटने के कारण आगे कहते हैं—

अलंकार—'स्वभावोक्ति' क्योंकि यहाँ कुल का स्वाभाविक गुण कहा गया है।

नहिं असत्य सम पातक-पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥५॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये॥६॥
तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत - सनेह - अवधि रघुराई॥७॥
बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहँग कुलह जनु खोली॥८॥

दोहा—भूप-मनोरथ सुभग बन, सुख-सुबिहंग समाज।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति, बचन भयंकर बाज॥२८॥

शब्दार्थ—गुंजा = घुँघची। करिआई = कर पड़ा (क्योंकि तू और तरह प्रसन्न नहीं होती थी)। कुबिहँग = बाजपक्षी। कुलह (फा० कुलाह) = टोपी, बाज की आँख का ढक्कन। सुबिहंग = शुक-सारिका, आदि।

अर्थ—झूठ के समान (अन्य) पापों के समूह नहीं हैं, क्या करोड़ों घुँघचियाँ (मिलकर भी) पहाड़ के बराबर हो सकती हैं ? ॥५॥ सत्य ही समस्त सुहावने पुण्यों की जड़ है, वेदों और पुराणों में यह बात प्रसिद्ध है और मनुजी ने भी कहा है ॥६॥ इतने पर भी मैं उन श्रीरामजी की शपथ कर पड़ा हूँ, जो रघुराज श्रीरामजी सुकृत और स्नेह की सीमा हैं ॥७॥ (इस प्रकार) बात पक्की कराके वह कुमति कैकेयी हँसकर बोली, मानों उसने कुमत-रूपी बाज की टोपी खोली हो ॥८॥ राजा का मनोरथ मानों सुन्दर वन है, उनका सुख सुन्दर चिड़ियों का समूह है, उसपर भीलनी रूपिणी कैकेयी अपने वचन रूपी भयंकर बाज को छोड़ना चाहती है ॥८॥

विशेष—(१) 'नहिं असत्य सम पातक·····'—घुँघचियों की ढेरी पर्वत के समान नहीं हो सकती। अथवा, गुंजा रत्ती की तौल में वर्त्ता जाता है, वह सेर, पसेरी और मन के बराबर तो हो ही नहीं

सकता, फिर पहाड़ की बराबरी कैसे कर सकता है? सब पाप रत्ती-रत्ती भर है, तो असत्य पहाड़ के समान भारी है, इतना अन्तर है, तथा—"न ह्यसत्यात्परोऽधर्म इति होवाच भूरियम्। सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥" (भाग० ८।२०।४), अर्थात् बलि ने शुक्राचार्य से कहा है कि इस पृथ्वी ने भी कहा है—'असत्य से बढ़कर और कोई अधर्म नहीं है, मैं असत्य-परायण पुरुष के अतिरिक्त और सभी को धारण करने में समर्थ हूँ। पुनः—"अनृते नोक्त पूर्वं मे हसताऽपि कदाचन॥" (महा० आदि २१९। १०), अर्थात् महात्मा लोग हँसी में भी झूठ नहीं बोलते।

(२) 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये'—असत्य का स्वरूप कहकर अब सत्य को कहते हैं कि यह सब पुण्यों से बड़ा एवं सबकी जड़ है, जड़ के बिना वृक्ष नहीं रह सकता है, वैसे ही सत्य के बिना सुकृत नहीं रह सकता, यथा—"सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ।" (बा० दो० २५१), तथा—"नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्। श्रुतिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥" (महा० शान्ति० १६२।२४)।

सत्य परमात्मा का स्वरूप है, सत्ता-विद्यमानता, सर्वत्र उपस्थितिः, तस्य भावं सत्यम्, अर्थात् सर्वत्र व्यापक ब्रह्म ही सत्य रूप है, असत्य में आत्मा का हरण एवं हनन का दोष है। मिथ्या भाषण करते हुए दुष्यन्त पर कटाक्ष करती हुई शकुन्तला देवी ने कहा है, यथा—"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा॥" (महा० आदि० ७४।२७), अर्थात् जो मनुष्य हृदय में कुछ और बाहर कुछ और प्रकट करता है, उस आत्माऽपहारी चोर ने कौन ऐसा भारी पाप है जो नहीं किया। मनु० ४।२५५ में भी यही श्लोक कुछ शब्दों के भेद से कहा गया है, तथा—"यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्गमः॥" (मनु० ८।९२), अर्थात् तुम्हारे हृदय में जो (यह सब का संयम करने वाला) यम (दण्डधारी) वैवस्त और (तेजोरूप) देव (परमात्मा) बैठा हुआ है, उसके (साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं है) उसकी स्थिति मान्य है तो गङ्गा या कुरुक्षेत्र मत जाओ (अर्थात् सत्य बोलनेवाले को पाप-शोधन करके लिये गङ्गा आदि तीर्थ में जाने की आवश्यकता नहीं है)। महा० आदि० ७४।१०४-१०६ में भी सत्य की महिमा कही गई है।

पुनः 'धृञ्—धारणे,' धातु से धर्म शब्द बनता है, अर्थात् जिससे प्रजाओं का धारण हो, वह धर्म है, सत्य के बिना प्रजा नहीं रह सकती। राजा एवं उसके कर्मचारी न्यायाधीश और पुलिस एवं साक्षी आदि सभी सत्य छोड़ दें, तो प्रजा न रह सके, क्योंकि सत्य के बिना कोई भी पारस्परिक व्यवहार ही नहीं चल सकता। इससे भी सत्य, धर्म एवं सुकृत का मूल कहाता है, तथा—"धर्मशीला जनपदाः सुसन्तोषाश्च साधवः। न च मिथ्या प्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा॥" (महा० आदि० ६३।१०), अर्थात् इस देश के लोग धर्मशील, सदा सन्तुष्ट और साधु हैं, क्योंकि हँसी में भी कोई झूठ नहीं बोलता। एवं—"प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्॥५६॥ यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः। अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम्॥५७॥ धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥५८॥" (महा० कर्ण० ६९), अर्थात् मनुष्यों की उन्नति के लिये मुनियों ने धर्म के लक्षण कहे हैं। अतः, जो अहिंसा से युक्त हो, वही धर्म है यह निश्चित बात है। मुनियों ने हिंसकों की हिंसा रोकने के लिये ही धर्म के अनेक वचन लिखे हैं। जो धारण करता है, वही धर्म कहाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है, इसलिये उसे धर्म कहा जाता है।

(३) 'तेहि पर राम सपथ·····'—'करि आई' अर्थात् अचानक दैवात् मुँह से निकल आई। जैसे असत्य और सत्य की बड़ाई की—"नहि असत्य सम पातक पुंजा।" "सत्य मूल सब सुकृत·····" वैसे ही राम-शपथ की भी बड़ाई करते हैं- "सुकृत सनेह अवधि···"—सब सुकृत का फल राम-स्नेह है—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (बा० दो० २६)। स्नेह से श्रीरामजी प्राप्त होते हैं। अतः, वे इसके भी फलरूप हैं। जैसे नदियों की अवधि समुद्र है, वैसे ही सुकृत और स्नेह की अवधि श्रीरामजी हैं,

यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (बा० दो० ३०९)। "परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फलःताके चाखो मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० २६)। 'तेहि पर'—'रघुबंशी यों भी मूठ नहीं बोलते, फिर असत्य के भारी पाप का भय है, पुनः सुकृत मूल सत्य की रक्षा के लिये वेद-पुराण एवं मनु की आज्ञा है, उसपर भी राम-शपथ की गई, जो अन्तिम पुष्टि है।

(४) 'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि···' 'बात दृढ़ाइ'—श्रीरामजी की शपथ कराना, बात का दृढ़ करना है, क्योंकि अब वचन टल नहीं सकता, यथा—"भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥" (दो० २१), वह इसी घात में थी, इसीसे दुर्बुद्धि कही गई। 'हँसि बोली'—मनमानी संयोग बना हुआ देखकर प्रसन्न होकर बोली, इसीपर उत्प्रेक्षा है कि वह हँसकर बोली, ओष्ठ खुला, मानों हिंसा के लिये बाज की कुलही खुली। कुमति-कैकेयी का कुमत—"सुतहिं राज रामहिं बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥" (दो० २१), यही कुबिहंग (बाज) है, दोहे में इसे ही 'बचन भयंकर बाज' कहकर स्पष्ट करेंगे। इनको कपट से छिपाये थी, अब प्रकट करेगी। शिकार के सम्मुख आने पर बाज की टोपी खोली जाती है, यहाँ राजा शिकार हैं, उनका राम-शपथ करके प्रतिज्ञा-बद्ध होना सम्मुख आना है। इन वचनों से जो दशा होगी, उसे दोहे में स्पष्ट करते हैं—

(५) 'भूप मनोरथ सुभग बन···'—'सुभग बन' कल्पवृक्ष का वन है, यथा—"मोर मनोरथ सुर तरु फूला।" (दो० २८), राम-तिलक का मनोरथ है। अतः, 'सुभग' है। इस मनोरथ में जो नाना प्रकार के सुख हैं (अर्थात् राम राज्य में अमुक-अमुक सुख होंगे) यही नाना प्रकार के शुक, सारिका, चातक, कोकिल आदि पक्षियों का समाज है। जैसे भीलनी नाना पक्षियों को लेने के लिये भयंकर बाज छोड़ती है, वैसे ही कैकेयी राजा के सुखों को लेने के लिये भयंकर वचन छोड़ती है। बाज दो पक्षों से युक्त होता है, वैसे इसके वचन में दो वर रूपी दो पक्ष हैं। कैकेयी वर माँग कर राजा के सुखों को लेगी।

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥१॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥२॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी॥३॥

अर्थ—हे प्राणःप्यारे! सुनिये, मेरे जी को भानेवाला एक वर तो यह दीजिये कि भरतजी को राज्य-तिलक हो॥१॥ और मैं हाथ जोड़कर दूसरा वर माँगती हूँ, हे स्वामिन्! मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिये॥२॥ कि रामजी तपस्वी वेष में विशेष उदासीन रहते हुए, चौदह वर्ष तक वन में रहें॥३॥

विशेष—(१) 'सुनहु प्रान प्रिय भावत···'—राजा ने कैकेयी को—'प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।' कहा था, इसीसे उसने भी 'प्रान प्रिय' कहा था। पुनः राजा ने कहा था—'बिहँसि माँगु मन भावति बाता।' इसीसे उसने भी—'भावत जी का' कहा और बिहँसकर बोली भी—'कुमति हँसि बोली' ऊपर कहा ही है। 'देहु एक बर भरतहिं टीका'—'एक' और 'दूसर' गिनती से माँग रही है, क्योंकि राजा ने चार माँगने को कहा था, तो दो पीछेवाले उन्होंने स्वयं बढ़ा दिये। वे इसके अधिकार से बाहर हैं, ऊपर प्रमाण दे आये हैं। पहला-दूसरा तो उसके प्रथम की थाती हैं और सेवा से प्राप्त हैं। अतः, अपने ही दो वरों को गिनकर माँगती है। प्रथम भरतजी का राज माँगा, क्योंकि राम-वनवास सुनते ही तो राजा अचेत हो जायँगे, तो फिर भरत-राज्य नहीं ही मिलेगा। मन्थरा ने इसी क्रम से कहा भी था, यथा—"सुतहिं राज रामहि बनवासू।" (दो० २१)।

(२) माँगउँ दूसर बर कर जोरी।'—दूसरा वर कठिन है, इसलिये स्वार्थ-साधन के लिये हाथ

जोड़ा और विशेष प्रार्थना की। पहले वर से धन लिया और इस दूसरे से तन (प्राण) लेना चाहती है, प्राण देना कठिन है, इसलिये विशेष प्रार्थना करती है। हाथ जोड़कर यह भी दिखाती है कि ये वे ही हाथ हैं, जिनसे सारथ्य कर्म करके मैंने देवासुर-संग्राम में आपके प्राण बचाये हैं, उनके बदले के दोनों वर देकर आप मेरे प्राण बचावें, क्योंकि—"होत प्रात मुनि-बेष धरि, जो न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माँहिं।" (दो० ३३), तथा—"तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम्। अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता॥" (वाल्मी० २।११।२१), अर्थात् यदि धर्मानुसार प्रतिज्ञा करके आप वे दोनों वर मुझे न देंगे तो मैं इस अपमान के कारण आपके सामने ही मर जाऊँगी।

(३) 'तापस बेष बिसेषि उदासी···'—पहले वर से योग (राज्य प्राप्ति) किया, अब उसके क्षेम का प्रबन्ध कर रही है कि रामजी विशेष उदासीन वृत्ति से १४ वर्ष वन में रहें। वह सोचती है कि केवल वनवास माँगने से काम न चलेगा। सब प्रजा उनके पक्ष में हैं, सब-के-सब वहीं जाकर रहेंगी, तो अवध उजाड़ हो जायगा और वन ही अवध हो जायगा। फिर भरतजी यहाँ किसे लेकर राज्य करेंगे? इसलिये विशेष-उदासीन वृत्ति से रहने का वर माँगती है, क्योंकि भरद्वाज, वसिष्ठ आदि भी उदासीन एवं तपस्वी हैं, यथा—"सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (दो० २०९), पर ये सब नगर में जाते हैं, शिष्यों एवं अन्य मुनियों के साथ भी रहते हैं और आवश्यक सामग्री भी सब रखते हैं, कैकेयी चाहती है कि ये विशेष उदासीन रहें, न विशेष लोगों में रहें और न किसी ग्राम-नगर में जायँ, यथा—'पिता बचन मैं नगर न आवउँ' (लं० दो० १०४)।

कैकेयी के हृदय में डर है कि राम यदि ग्राम-नगर में जायँगे, तो इनके बहुत-से मित्र हो जायँगे। उनसे वे कहीं भरत का अनिष्ट न करा दें। इसलिये एकान्त में और वन में रहें, किसीसे प्रीति और विरोध के भाव मन में न लावें और राज्य-सुख की चेष्टा से भी रहित रहें। इस तरह १४ वर्ष तक रहने से राज्य की चाह न रह जायगी और कोई उनका साथी भी नहीं रह जायगा। फल-मूलादि भोजन एवं कभी-कभी उनके भी न मिलने पर उपवास से निर्बल भी हो जायँगे, तो लड़ाई करने के योग्य न रहेंगे। और इधर उतने दिनों में भरत का पूर्ण अधिकार प्रजा पर हो जायगा। प्रजा, मन्त्री और अनुयायी राजा लोग अनुकूल हो जायँगे। भरत राज्य-कार्य में भी निपुण हो जायँगे। पुनः नीति-शास्त्र की दृष्टि से इतने दिनों के पीछे रामजी का पैत्रिक सम्पत्ति पर अधिकार भी न रह जायगा, यथा—"चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्। रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः॥···एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति। भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥ येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति। अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति॥ संग्रहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्।" (वाल्मी० २।९।३१-३५), अर्थात् १४ वर्ष में भरतजी जम जायँगे, उनका प्रजा पर प्रभाव हो जायगा, आगे आनन्द से रहेंगे। रामजी प्रजा के अप्रिय हो जायँगे, उन्हें प्रजा भूल जायगी, शत्रु के न रहने पर भरतजी राजा हो जायँगे। फिर जब तक रामजी लौट कर आवेंगे, भीतर-बाहर भरतजी की जड़ जम जायगी। भरतजी भी आत्मवान् हैं, वे प्रजा को अपने पक्ष में मिला लेंगे, इत्यादि।

चौदह वर्ष ही के लिये वन क्यों माँगा? इसपर और भी मत है—(क) कैकेयी सरस्वती की प्रेरणा से कह रही है, "गई गिरा मति धूति।" (दो० २०६), वह (सरस्वती) जानती है कि रावण-वध इतने ही काल में होगा तो अधिक के लिये क्यों कहलावे, उसे तो इतने ही के लिये पछतावा था—"भइउँ सरोज बिपिन हिम राती।" (दो० ११), उसे अवधवासियों का दुःख असह्य था। (ख) मन्थरा ने कहा था—"भयेउ पाख दिन सजत समाजू।" अर्थात् १५ वें दिन इसे खबर मिली थी। अतः, बीते हुए १४ दिन की चोरी से उत्सवानन्द भोगने के बदले १४ वर्ष के लिये वन का दुःख देती है। (ग) जब राजा

कैकेयी के पास गये, तबसे १४ घड़ी अभिषेक का मुहूर्त्त शेष रहा, उन एक-एक घड़ी के बदले में एक-एक वर्ष के लिये वनवास दिया।

(४) 'मनोरथ मोरी'—यद्यपि मनोरथ पुँल्लिग शब्द है, पर ग्रन्थकार ने प्रायः प्रश्न और मनोरथ को स्त्रियों के सम्बन्ध में स्त्रीलिंग के रूप में ही कहा है, यथा—"प्रस्न उमा कइ सहज सुहाई।" (बा० दो० ११०), "फलित बिलोकि मनोरथ बेली।" (दो० १), पुनः कहीं-कहीं अनुप्रास के योग से एवं दीनतापरक होने से उसमें नाजुक भाव रखते हुए भी 'मनोरथ' को स्त्रीलिंग के रूप में कहा है, यथा—"मंजु मनोरथ मोरि।" (बा० दो० १४)।

सुनि मृदुबचन भूप-हिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू ॥४॥
गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥५॥
बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥६॥

शब्दार्थ—सचान = बाज। लावा = बटेर। बिबरन = बदरंग, शरीर का रंग उड़ जाना।

अर्थ—राजा के हृदय में कोमल वचन सुनकर शोक हुआ, जैसे चन्द्र-किरण के छूते ही चकवा पक्षी विकल हो जाता है ॥४॥ राजा डर गये, उनसे कुछ कहते नहीं बना, मानों वन में बटेर पक्षी पर बाज ने झपट्टा मारा हो ॥५॥ राजा बिल्कुल बदरंग (फीके) हो गये, मानों किसी ताल (ताड़) के वृक्ष पर बिजली गिर पड़ी हो ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु बचन भूप ···'—कैकेयी ने राजा से दो वर माँगे हैं, उनसे राजा की क्या-क्या दशाएँ हुईं, उन्हींको कवि तीन दृष्टान्तों से कहते हैं—'मृदु बचन' से प्रथम वर का वचन भरतजी के लिये तिलक लिया जायगा, क्योंकि भरतजी राजा को श्रीरामजी की तरह प्रिय हैं, यथा—"मोरे भरत राम दोउ आँखी। सत्य कहउँ ···" (दो० ३०)। अतः, इनका तिलक सुनने में मृदु लगा, फिर उससे ही हृदय में शोक हुआ, जैसे चन्द्रमा की किरणें चकवा को तन में शीतल लगती हैं, पर उनसे उसके हृदय में शोक होता है, क्योंकि उसमें उसका चकवी से वियोग होता है और वह चकवी के साथ रहने में सुख मानता है, उसकी हानि का शोक होता है (रात में चकवा-चकवी एक साथ नहीं रहते, यह उनका प्राकृतिक नियम है, चन्द्र-किरण भी रात में होती है)। वैसे ही राजा ने श्रीरामजी को राज्य देने में सुख माना था—'सुख सुबिहँग समाज' ऊपर कहा गया। भरत का तिलक माँगने से उस सुख की हानि का शोक हुआ। अतः, राजा चकवे की तरह विकल हुए, प्रमाण—"भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥ जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे।" (दो० २९)।

शंका—इस (आक्षेप) का खंडन तो राजा ने आगे स्वयं किया है—"एकहि बात मोहिं दुख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा॥" (दो० ३१), अर्थात् दूसरे वर से दुःख है।

समाधान—कैकेयी ने सब दुःख का कारण भरत राज्य के वर को ही कहा है, उसका खंडन राजा ने किया है। सामान्य दुःख के पीछे विशेष दुःख होता है तब पहला भूल जाता है। भरत-राज्य माँगने पर सामान्य दुःख हुआ, उसे भी राजा ने जनाया है, यथा—"मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहउँ नृप नीति।" (दो० ३१), अर्थात्—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥' (दो० १४) के अनुसार कुल-रीति एवं राज-नीति के विरोध का दुःख है। राजा ने सभा में घोषणा की थी कि रामजी को युवराज पद देंगे, अब मन्त्री एवं गुरु, आये हुए राजा तथा प्रजावर्ग क्या कहेंगे? शोक ग्रस्त इन्हें मैं कैसे देखूँगा—वाल्मी० २।१२।६३-६६। इसका शोक है, तथा—"इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्त सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥" (वाल्मी० २।१२।१९), अर्थात् न्याय सम्पन्न इक्ष्वाकु वंश में यह महान् अन्याय प्राप्त हो रहा है, यह तुम्हारी बुद्धि के विकृत होने से हो रहा है। पुन

—"तेहि ते परेउँ मनोरथ छूछे।" (दो० ३१), अर्थात्—"भूपमनोरथ सुभग बन, सुख सुबिहंग समाज।" (उपर्युक्त) के सुख की हानि 'छूछे' शब्द से सूचित की है, स्पष्ट न कहने का कारण यह है कि इसके प्रारम्भ में ही—'बानी सविनय तासु सुहाती' कहा है, इसीसे तो—'मोरे भरत राम दुइ आँखी।' कहने में छोटे 'भरत' का नाम पहले कहा है। यदि कहा जाय कि एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु मृदु और शोककर कैसे हुई ? तो उत्तर यह है, ऐसा होता है, यथा—"तन सँकोच मन परम उछाहू।" (बा० दो० २६३)।

प्रथम वर का शोक था ही, पुनः दूसरे वर से जो दशा हुई, उसे - 'गयेउ सहमि नहिं कछु···' से सूचित किया, इसमें तो प्राण ही जाने की दशा है, इससे राजा डर गये, डर के मारे कुछ बोल न सके, यथा—"रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्त्तं व्याकुलेन्द्रियः।" (वाल्मी० २। १२।५१-५२), अर्थात् श्रीरामजी का वनवास होना और राज्यवैभव श्रीभरतजी का होना समझकर राजा इन्द्रियों से व्याकुल हो गये, वे एक मुहूर्त्त बोल नहीं सके। जैसे वन में बाज लवा पर झपटे और वह डर जाय, बोल भी न सके। (बाज के झपटने से लवा ऐसा डर जाता है कि चूँ भी नहीं कर पाता)। यहाँ वरदान-रूपी पंजे में राजा आ गये। अतः, प्राण जाने के डर से बोल न सके। लवा के प्राण जाते हैं वैसे इस वर से राजा के प्राण जायँगे।

तीसरी उपमा से यह दिखाते हैं कि उपर्युक्त 'हिय-सोक' और 'सहम' से राजा के शरीर की क्या व्यवस्था हुई ?—'बिबरन भयेउ निपट···'—ताड़ के वृक्ष पर बिजली गिरती है तो उसका शिरोभाग टूट जाता है और पेड़ झुलस जाता है, फिर वह पेड़ नष्ट ही हो जाता है, उसमें नवीन अंकुर नहीं होते। वैसे ही राजा का शरीर झुलसे (भुने) हुए की तरह बदरंग हो गया। शिरोभंग की तरह वे द्युतिहीन हो गये। अब जीने की आशा न रह गई, तथा—"तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम्। दुःखशोकमयीं घोरां राजा न सुखितोऽभवत्॥ स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम्। ध्यात्वा रामेति निःश्वस्यच्छिन्नस्तरुरिवापतत्॥" (वाल्मी० २।१२।५३-५४), अर्थात् हृदय को अप्रिय वज्र के समान दुःख और शोकमयी भयंकर वाणी सुन राजा का सुख चला गया। फिर कैकेयी का निश्चय और अपना राम शपथ का करना स्मरण कर राजा 'हा राम, हा राम' कह कटे हुए वृक्ष की तरह गिर पड़े।

दोनों वरों के कारण हृदय (मन) में शोक हुआ, फिर डर के मारे वचन भी बन्द हो गया, पुनः तन भी विवरण हो गया, अर्थात् तन, मन और वचन तीनों से दुःखी हुए।

यहाँ कैकेयी के वचनों को उपमा 'ससिकर', 'बाज' और 'दामिनि' की दी गई, इन तीनो की प्रवृत्ति आकाश से होती है, अर्थात् चन्द्र-किरणें और बिजली आकाश से नीचे को आती हैं। बाज भी नभचर है, और ऊपर से नीचे को झपटता है। इस तरह तीनो आकाशवालों के ही दृष्टान्त दिये गये, क्योंकि इनका उपमेय-रूप वचन आकाश की कर्मेन्द्रिय वाक् का विषय है एवं वचन शब्द-रूप है और शब्द आकाश की तन्मात्रा एवं गुण भी है।

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन॥७॥
मोर मनोरथ सुरतरु-फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥८॥
अवध उजारि कीन्ह कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥९॥

दोहा—कवने अवसर का भयेउ, गयेउँ नारि बिस्वास।
जोग-सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अबिद्या नास॥२९॥

अर्थ—सिर पर हाथ रख और दोनों नेत्रों को मूँदकर राजा इस प्रकार सोचने लगे, मानों सोच ही

ह धारण कर सोच रहा हो ॥७॥ (वे मन में सोचते हैं कि) मेरा मनोरथरूपी कल्पतरु फूल चुका था, परन्तु) उसके फलते समय जैसे हथिनी ने उसका जड़-समेत नाश किया हो वैसे (कैकेयी ने) मेरे मनोरथ का जड़-समेत नाश कर दिया ॥८॥ कैकेयी ने अयोध्या को उजाड़ कर दिया और विपत्ति की अचल (दृढ़) नींव डाल दी ॥९॥ किस अवसर में यह क्या हो गया ? स्त्री पर विश्वास रखने से मैं गया नाश हुआ)। (मेरी वही दशा हुई) जैसे योग की सिद्धि एवं फल-प्राप्ति के समय अविद्या माया यती योगी) का नाश करती है ॥२९॥

विशेष—(१) 'माथे हाथ मूँदि दोउ···'—यह अत्यन्त शोक की मुद्रा है, शोक एवं भय की व्याकुलता में प्रायः ऐसा ही लोग करते हैं, यथा—"हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मगमाहीं ॥" (बा० दो० ५४), "मूँदे नयन सहमि सुकुमारी।" (दो० २४५) "मूँदेउँ नयन त्रसित जब भयेऊ।" (उ० दो० ७९), सिर पर हाथ धरने का भाव यह कि भाग्य और अभाग्य भाल पर और हस्त में लिखा रहता है, इसीसे सिर पर हाथ धरकर सोचते हैं कि मैं अभागी हूँ, मैं हतभाग्य हो गया।

'तनु धरि सोच लाग···'—ऊपर राजा का मन, वचन, तन (कर्म) से शोकमय होना कहा गया, अब सिर पर हाथ धर और आँख मूँदकर सोचने लगे, तब मूर्त्तिमान शोक की तरह हो गये। शोक का रूप नहीं होता। अतः, उत्प्रेक्षा से उसको अधिकता कही गई।

यह करुणरस की दशा क्रमशः बढ़ी, पहले रानी को कोप-भवन में सुनकर राजा के मन में भावी अमंगल का खटका हुआ, तब शोक का भाव इस अवलम्बन से उभरा, फिर वरदान उद्दीपन का कारण हुआ, तब विकलता का संचार हुआ, राजा सहम गये, फिर सात्त्विक भावों के उदय होने से वदन फीका एवं द्युतिहीन हो गया और यहाँ इस मुद्रा से शोक की मूर्त्ति ही हो गये।

(२) 'मोर मनोरथ सुर तरु···'—राजा के हृदय में राम-तिलक का मनोरथरूपी कल्पवृक्ष अंकुरित हुआ। उसके विषय में गुरु, मन्त्री, परिजनों की सम्मति होना, उस वृक्ष का बढ़ना है—"अभिमत बिरव परेउ जनुपानी।" (दो० ४), तिलक की तैयारी होना फूलना और तिलक होना फलना है। फल (राम-राज्याभिषेक) से सबकी मनोवांछा की पूर्त्ति होती एवं आगे सब दिन हुआ करती, यथा—"माँगे वारिद देहि जल, रामचंद्र के राज।" (उ० दो० २३), इत्यादि विस्तार से कहा गया है। परन्तु फलने न पाया। 'हतेउ समूला'—जड़ या ठूँठ रहता है, तो वृक्ष में फिर से अंकुर फूटते हैं और बढ़कर फिर उसमें डाल-पत्ते आदि होते हैं, पर यहाँ जड़-समेत उखाड़ डाला गया, अर्थात् अब मेरे आगे राम-तिलक किसी तरह नहीं हो सकता। क्योंकि राम-वन-गमन से तो मैं जीता रहूँगा नहीं, यह निश्चित है। अतः, मनोरथ-सहित मैं नष्ट हुआ। 'समूला' इसके मूल राजा स्वयं हैं, क्योंकि पहले इन्होंने इसकी चर्चा गुरुजी के यहाँ की है। अतः, 'समूला' से अपना भी नाश स्पष्ट कह रहे हैं, यथा—"व्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता ॥" (दो० ३४)—इसमें राजा स्वयं कल्पतरु कहे गये हैं और यहाँ उनका मनोरथ कल्पतरु है, दोनों जगह नाश करनेवाली कैकेयी 'करिनि' कही गई. क्योंकि इसने पशु का-सा काम किया। विचार का लेश भी इसमें नहीं है, नहीं तो अपने घर में लगा हुआ कल्पवृक्ष, फिर फूलते-फलते समय, देवता और मनुष्य को तो बात ही क्या, राक्षस भी न उखाड़ेगा और न दूसरे को उखाड़ने देगा; किन्तु इस घरवाली ही ने उखाड़ फेंका। राजा को वचनबद्ध करके बल प्राप्त किया, इसीसे हथिनी की तरह उखाड़ फेंकने में समर्थ हुई।

(३) 'अवध उजारि कीन्हि···'—मेरा ही मनोरथ नष्ट हुआ हो, सो नहीं, प्रत्युत अवध-भर को उजाड़कर डाला, क्योंकि राम-वन-गमन से अवधवासी उनके ही पीछे भागेंगे, अवध में कोई न रह जायगा। जब वे किसी तरह रहेंगे भी तब भूषण-भोग आदि त्यागकर रहेंगे, जिससे शोक-पूर्ण

कर दिया ॥७॥ कैकेयी अत्यन्त कड़वे वचन कह रही है, मानों जले पर नमक लगाती है॥८॥ धर्म की धुरी धारण करनेवाले (श्रेष्ठ धर्मिष्ठ) राजा ने धैर्य धरकर नेत्रों को खोला और सिर पीटकर आह भरी ऊर्ध्व श्वास लिया (मन में कहा कि) इसने मुझे कुठौर (मर्मस्थल) में तलवार से मारा ॥३०॥

विशेष—(१) 'देन कहेहु अब जनि···'—उपर्युक्त—'देहु उतर अनु-करहु कि नाहीं' का लक्ष्य लेकर नाहीं करने पर अपयश का भय दिखाती है कि जिससे राजा नाहीं न करें।

(२) 'सत्य सराहि···'—सत्य की सराहना, यथा—"सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। बेद-पुरान बिदित मनु गाये॥" (दो० २७), आपने समझा था कि यह चबेना एवं वैसी कोई तुच्छ वस्तु माँग लेगी, इसी धोखे से आप सत्य-सन्ध बने बैठे थे, कोई भूखा दरिद्री हो, तो भले ही चबेना माँग ले, पर रानी तो जब माँगेगी, तब राज्य ही माँगेगी॥ फिर आगे शिवि आदि के उदाहरण देकर सूचित करती है कि दानी तो वे लोग थे, आप तो मुट्ठी भर चबेना ही देनेवालों में हैं अर्थात् कृपणों में हैं, दानी वे ही थे, जिन्होंने तन, धन सब दे डाले।

अलंकार—'छेकोक्ति' है, क्योंकि यहाँ 'जानेहु···' यह लोकोक्ति उपमान की भाँति अपने अभिप्राय की पुष्टि में कही गई है।

(३) 'सिबि दधीचि बलि···'—राजा शिवि—ये उशीनर महाराज के पुत्र थे। देवताओं की प्रेरणा से इनकी परीक्षा लेने इन्द्र और अग्नि आये। अग्नि ने कबूतर का और इन्द्र ने बाज का रूप धारण किया। कबूतर भागता हुआ सिंहासन पर राजा शिवि की गोद में जा पड़ा और कहा कि मैं प्राण-रक्षा के लिये आया हूँ। मैं वेदपाठी, ब्रह्मचारी एवं मुनि हूँ, आप मेरी रक्षा करें, इस आक्रमक बाज को न दें।

फिर बाज ने कहा कि यह कबूतर पूर्व सृष्टि में तुम्हारा रक्षक था। अब तुम इसके रक्षक बन मेरे भोजन में विघ्न न करो। राजा ने दोनों का परिचय पूछा और फिर शरण-रक्षक धर्म की व्याख्या की। तदनुसार कहा कि मैं इसे न दूँगा, इसके बदले में मांस-भात आदि जो कहो, दूँगा। बाज ने अस्वीकार किया। राजा ने कहा कि मैं प्राण दे दूँगा, पर इसे न दूँगा; वैसा तुम मेरे लिये कहो। बाज ने कहा, 'इसके बराबर अपनी दाहिनी जंघा का मांस दो।' तब राजा ने जंघा का मांस काटकर रक्खा, पर कबूतर भारी हुआ। और भी मांस दिया, पर वह भारी ही रहा, सब शरीर का मांस दे अन्त में राजा स्वयं तराजू पर बैठ गया। 'शिवि राजा के द्वारा कपोत की रक्षा हुई' ऐसा कह बाज अन्तर्धान हो गया। तब राजा ने कबूतर से दोनों के परिचय पूछे। तब उसने कहा कि मैं अग्नि और बाज इन्द्र थे। हमलोग तुम्हारे शील की परीक्षा लेने आये थे। तुमने जो मांस काटकर दिया है, यह तुम्हारे अंग का मनोहर शुभ चिह्न होगा। स्वर्ण वर्ण एवं सुगन्ध युक्त यह राज-चिह्न होगा। कटे हुए अंग से तुम्हारे 'कपोतरोमा' नामक पुत्र होगा, वह तेजस्वी और कुल का यश बढ़ानेवाला होगा—महा० वन० अ० १९७।

यह कथा इसी प्रकार महा० वन० अ० १३०-१३१ में भी कुछ ही शब्द-भेदों के साथ है। वहाँ के संवादों में कुछ ही हेरफेर हैं।

दधीचि ऋषि—वृत्रासुर से पराजित हो देवगण ब्रह्माजी के पास गये। ये स्तुति करने लगे। ब्रह्माजी ने इनके अभीष्ट को जान लिया और उपाय कहा—'एक उदार बुद्धिवाले दधीचि नामक ऋषि हैं, तुमलोग जाकर उनसे वर माँगो। वे परम धर्मात्मा हैं। अतः, प्रसन्न हो जब वर देंगे, तब मुनि से कहना कि आप तीनो लोकों के हित के लिये अपनी हड्डी ही दीजिये। वे देह छोड़कर हड्डी देंगे, तब उससे वज्र बनाकर वृत्र का वध कर सकोगे।

देवगण नारायण को आगे कर दधीचि मुनि के आश्रम पर गये, वह आश्रम सरस्वती नदी के तीर पर था, बड़ा रमणीक था। वहाँ उन्होंने तेज और लक्ष्मी से पूर्ण महर्षि दधीचि को ब्रह्मा और सूर्य के समान प्रकाशमान देखा।

देवताओं ने प्रणाम कर परिचय दे ब्रह्मा के कथनानुसार वर माँगा। महर्षि ने प्रसन्न होकर ईप्सित वर दिया और अपनी इच्छा से शरीर छोड़ दिया। तब देवों ने उनकी हड्डी ग्रहण की। फिर विश्वकर्मा ने उससे वज्र बनाया और इन्द्र को दिया। (इन्द्र ने उसीसे वृत्रासुर को मारा था)—महा० वन० अ० १००।

भाग० ६।६–१० में भी इनकी कथा विस्तार से है, वहाँ ये अथर्ववेदीय ऋषि कहे गये हैं।

महा० शान्ति० अ० ३४२-३६ में ये ऋषि भृगु वंश में उत्पन्न कहे गये हैं। पुनः महा० शल्य० अ० ५१।३३ में कहा गया है कि प्रजापति के पुत्र भृगु ने बहुत तपस्या करके महातेजस्वी दधीचि को लोक का सार लेकर बनाया था। ये पर्वत के समान भारी और ऊँचे थे। इनके तेज से इन्द्र सदा डरा करते थे। वहीं पर यह भी कथा है कि इनके पुत्र सारस्वत मुनि हुए, जिन्होंने बालक होते हुए भी बड़े-बड़े ऋषियों को वेद पढ़ाया है। वे ऋषि अकाल में वेद भूल गये थे। महाभारत के इन तीनों प्रसंगों में इनकी विस्तृत-विस्तृत कथाएँ हैं। यहाँ मैंने प्रयोजन मात्र अंश ही लिया है। पद्मपुराण सृष्टि खंड में भी यह कथा उपर्युक्त रीति से ही है।

राजा वलि—राजा वलि श्रीप्रह्लादजी के पौत्र थे। वे उन्नतिशील हुए। उन्होंने देवों को जीत लिया, वे हारकर स्वर्ग छोड़ चले गये एवं अदृश्य हो गये। तब देवमाता अदिति ने पति कश्यप से अपना दुखड़ा कह सुनाया। उन्होंने पयोव्रत के साथ हरि की आराधना बतलाई और कहा कि इससे भगवान् प्रसन्न हो इच्छापूर्ण करेंगे। बारह दिन में ही भगवान् प्रकट हुए। इससे स्तुति कर कामना कही। भगवान् ने कहा, 'मैं तुम्हारा पुत्र हो तुम्हारे और पुत्रों की रक्षा करूँगा।' भादों शुक्ला द्वादशी को आपने अवतार लिया, फिर सबके समक्ष आप वामन रूप हो गये। तब उनका विधिवत् यज्ञोपवीत हुआ। वह रूप भगवान् का अप्रमेय तेजस्वी हुआ (उस समय वलि एक सौ अश्वमेध यज्ञ कर चुके थे)। आपने सुना कि भृगुवंशी ब्राह्मणगण राजा वलि के यहाँ यज्ञ करा रहे हैं। श्रीवामनजी भी वहाँ पधारे। इनका सूर्यवत् तेज देख सब चकित हुए। वामनजी दण्ड, कमण्डलु एवं छत्र लिये हुए वहाँ गये। ब्राह्मणों ने स्वागत किया और वलि ने इनका पूजन किया और फिर मनोरथ कहने को प्रार्थना की। अनुमान से उसने जाना कि कुछ माँगने ही आये हैं। कहा कि स्वेच्छित माँगिये।

वामन भगवान् ने पहले उनके सत्यवादी एवं वीर कुल की प्रशंसा की। फिर उन्होंने अपने ही (छोटे-छोटे) पैरों की नाप से तीन पग पृथ्वी माँगी। वलि ने कुछ अधिक माँगने का हठ किया। पर वामन भगवान् उसी तीन पग पर ही अटल रहे। तब वलि ने दान करने के लिये जलपात्र लिया। गुरु शुक्राचार्य ने उसे समझाया कि ये भगवान् हैं, छल से तुम्हारा राज्य लेना चाहते हैं। तुम मत दो, जीविका-रक्षार्थ प्रतिज्ञा त्याग में दोष नहीं होता। परन्तु वलि उसीपर अटल रहे। अपनी अवज्ञा पर गुरु ने इन्हें भ्रष्टश्री होने का शाप भी दे दिया। वलि डरे नहीं, उन्होंने सहर्ष भूमि-दान दिया। अपनी रानी के साथ भगवान् के चरण धोकर चरणामृत लिया।

इतने में वामन भगवान् बढ़ने लगे। उनके विराट् रूप में सारा जगत् दीखने लगा। उन्होंने एक पग से वलि की सारी पृथ्वी नाप ली। दूसरा चरण बढ़ाने में उसमें स्वर्ग आदि ऊपर के (सत्य लोक पर्यन्त) आ गये। तीसरे चरण के लिये कुछ न बचा। तब भगवान् के रुख से गरुड़जी ने नागपाश से वलि को बाँध लिया। भगवान् ने वलि से तीसरे पद की पूर्त्ति का अनुरोध किया, अन्यथा होने पर नरक का भय दिखाया। इस परीक्षा में भी वे दृढ़ रहे। वलि ने कहा कि आप अपना तीसरा चरण मेरे सिर पर रखिये। इस प्रकार मेरा यश सुरक्षित रहेगा। इस निग्रह से आपने मेरा हित किया है। श्रीप्रह्लादजी भी आये और प्रसन्न हुए। वलि की दृढ़ निष्ठा पर प्रसन्न हो भगवान् ने कहा कि यह सावर्णि मन्वन्तर में इन्द्र होगा। तब तक यह सुतल लोक में वास करे। वलि से कहा कि यहाँ तुम निर्भय हो असुरों के साथ रहो। मेरा चक्र तुम्हारी रक्षा में रहेगा। तुम नित्य मुझे अपने द्वार पर

इसी रूप में देखोगे। इस दर्शन से तुम्हारा संसर्गज आसुर भाव नष्ट हो जायगा—यह कथा भाग० ८।१५-२३ के अनुसार सूक्ष्म में है। विनय-पत्रिका ५२ के 'छलन बलि···' इस चरण की व्याख्या में यह आध्यात्मिक भावों के साथ कुछ विस्तार में है।

'जो कछु भाषा'—अर्थात् इन लोगों ने जो कुछ कहा, वही किया, तन-धन बचाने की चेष्टा नहीं की और न शोक ही किया। शिवि-दधिचि ने तन और बलि ने धन दिया। यहाँ भरत को राज्य देने में धन और श्रीरामजी को वन देने में तन का त्याग करना होगा, इसलिये इन्हीं उदाहरणों को कहा।

(४) 'अति कटु बचन कहति···'—कैकेयी के वचन यद्यपि धर्ममय हैं, पर वह इन उदाहरणों को प्रशंसा रूप में रखकर राजा की निन्दा कर रही है कि ये दानी थे और आप तो चबेना ही देना जानते हैं। अतः कृपण हैं। आप तन-धन के त्यागने में मोह कर रहे हैं, इत्यादि निन्दा करना, अति कटु वचन कहना, जले पर नमक लगाना है। प्रथम जलना कहा गया—"बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥" (दो० १८), प्रथम जलाया, अब अधर्मी भी बनाती है। अति कटु वचन कह रही है, क्योंकि अत्यन्त क्रुद्धा है, यथा—"आगे दीखि जरति रिसि भारी।" (दो० ३०), इसीसे अति कटु वचन कह रही है, यथा—"क्रोध के परुष वचन बल, मुनिवर कहहिं बिचारि।" (अर० दो० ३८), किसी दुःखी को और भी दुखाना जले पर निमक छिड़कना कहा जाता है। राजा राम-वनवास के वर-दान से अति दुःखी थे, उसपर अधर्मी, कृपण आदि भी कहकर निन्दा करती हुई और दुखाती है। यही जले पर नमक छिड़कना है। यहाँ 'सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा अलंकार' है।

(५) 'धरम धुरंधर धीर···'—यद्यपि रानी वामांगी है, अत्यन्त स्नेही होती हुई भी शत्रुवत् वचन कह रही है। पति को स्त्री पर दंड देने का स्वतः अधिकार है। फिर भी ये राजा हैं, सब तरह के दंड दे सकते हैं, पर सह रहे हैं, यह धर्म की मर्यादा दिखाते हैं। अतः, कवि राजा के इस गुण की प्रशंसा करते हैं कि राजा धर्म-धुरन्धर हैं, कैकेयी का अधर्मी बनाना सर्वथा झूठा है। राजा को यद्यपि शोक से नेत्र खोलने एवं बोलने का भी सामर्थ्य नहीं है, तथापि धैर्य धारण कर आँख खोली कि न बोलने से मुझे झूठा कहेगी।

(६) 'सिर धुनि लीन्हि···'—भारी दुःख में लोग सिर पीटते हैं, वैसे ही राजा भी कर रहे हैं। और कोई उपाय न बनने से ऊर्ध्व श्वास ले रहे हैं, यथा—"ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य" (वाल्मी० २।१२।५४), 'असि' मारना कहते हैं, इसीसे आगे असि (तलवार) का ही रूपक कहा जायगा। 'कुठाय'—मैं राम को राज्य देता रहा और यह उनका वनवास माँग रही है। यह मर्मस्थल पर तलवार मारना है। अब तो सत्य जायगा अथवा जीवन—यही तलवार का आघात है। ऐसी जगह आघात किया, जहाँ उपाय भी नहीं हो सकता, क्योंकि राम-शपथ करवाकर दृढ़ कर लिया है, अब मन्त्री आदि भी क्या कर सकते हैं? भरत को बुलाकर भी इसे समझाने का समय नहीं है, क्योंकि इसने 'होत प्रात मुनि बेष धरि, जौ न राम बन जाँहि···' (दो० ३३), ऐसी हठ की है, इसीसे ऊर्ध्व-श्वास ले रहे हैं।

आगे दीखि जरति रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी॥१॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥२॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा॥३॥
बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती॥४॥
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥५॥

शब्दार्थ—मूठि = मुठिया, हथियार का वह भाग जो हाथ में रहता है। सान (शाण) = वह पत्थर की चक्की जिस पर शस्त्र आदि तेज किये जाते हैं, शाण धरना = तेज करना। हाँती = तोड़कर।

अर्थ—(राजा ने) कैकेयी को भारी क्रोध से जलती हुई आगे (सम्मुख) देखा, मानों क्रोध-रूपी नंगी तलवार है ॥१॥ जिसकी कुबुद्धि मूठ और निष्ठुरता धार है, जिसे कूबरी मन्थरा ने भली-भाँति शाण पर रखकर तेज किया है ॥२॥ राजा ने देख लिया कि यह बड़ी कराल (भयंकर) और कठोर है। अतः, मेरा सत्य अथवा जीवन लेगी ॥३॥ राजा कड़ी छाती करके विनय-सहित (विशेष नम्रतापूर्वक) वाणी से बोले, जो उसको रुचे ॥४॥ हे प्रिये! तुम डर, विश्वास और प्रीति को तोड़ करके कुत्सित प्रकार के वचन कैसे कहती हो? ॥५॥

विशेष—(१) 'आगे दीखि जरति रिस भारी।'—कटु वचन सुनकर राजा ने आँख खोली, तो देखा कि उसकी भौंहें चढ़ीं, आँखें लाल, ओष्ठ फड़कते और मुख-चेष्टा लाल है। इस प्रकार भारी क्रोध से जलती है। 'मनहुँ रोष तरवारि उघारी।'—रोष तलवार है, प्रणय (प्रीति) रूप म्यान है, जिसमें रक्खी हुई थी। अब म्यान से पृथक् हो गई, यथा—"भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती।" आगे कहा है। रोष भारी है, अतः भारी तलवार है, इसीसे मारेगी। म्यान है ही नहीं, इससे नहीं कहा गया। ऊपर 'असि मारेसि मोहि कुठाय'—उसमें इसके वचन को तलवार कहा गया और यहाँ 'मनहुँ रोष तलवार···' से इसके तन (रूप) को तलवार कहा गया। रूप से कर्म हुआ, इस तरह कर्म और वचन को तलवार कहा गया; मन को नहीं, क्योंकि उससे प्रहार नहीं होता। अतः, दो ही को 'असि' कहा।

(२) 'मूठि कुबुद्धि धार···'—'कुबुद्धि' यह कि सौत के पुत्र को राज्य न होने पावे, प्रत्युत वन भेजकर उसे दुःखी करूँ, यही दृढ़-रूप से पकड़े हुई है। रोष तलवार है। पति, सौत-पुत्र एवं परिवार आदि किसीके दुःख की पीड़ा इसे नहीं है, यही निष्ठुरता धार है। मन्थरा शाण धरनेवाली है, क्योंकि उसीको कर्त्ता कहा गया है, यथा—"कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" "कुबरी···कपट छुरी उर पाहन टेई।" "कोटि कुटिल मनि गुरु पढ़ाई।" इत्यादि। 'कहि कहि कोटिक कपट कहानी।' शाण का यन्त्र और "काज सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु॥" यह शाण धरने की क्रिया है, क्योंकि कपट कहानियों के उदाहरण से निष्ठुरता दृढ़ की गई है और इस-इस तरह तुम कार्य सँवारना, यह शाण धरना, (उस धार को) तेज करना है।

(३) 'लखी महीप कराल···'—जब प्रीति-रूप म्यान से पृथक् हो गई, तब राजा ने देखा। देखने में कराल (भयंकर) है और काटने में कठोर है। 'भारी रिसि' को ही 'भारी असि' कहा गया था। भारी क्रोध देखकर भय लगता ही है। कठोरता यह कि समझाने-बुझाने से नम्र न होगी। समझाना-बुझाना आदि दाल हैं, इन्हें काट बहावेगी।

(४) 'सत्य कि जीवन लेइहि···'—पहले आशा थी कि सामान्य मान होगा तो मना लेंगे, पर अब निश्चय हो गया कि यदि रामजी को रक्खें तो सत्य लेगी, अन्यथा जीवन (प्राण) लेगी। करालता देखकर सम्भव है कि पीठ दिखानी पड़े, अर्थात् सत्य छूटे, यदि सामना करें, तो कठोरता से प्राण ही लेगी, क्योंकि रामजी को वन देने में दया न करेगी।

(५) 'बोले राउ कठिन करि···'—राजा धर्मवीर हैं। अतः, सोचा कि सत्य न जाय, जीवन भले ही चला जाय। इससे तलवार की चोट सहने के लिये छाती कड़ी की कि प्राण दे दूँगा पर सत्य न छोड़ूँगा। पहले कैकेयी ने धोखा देकर भारी आघात किया, श्रीरामजी के वनवास का वर माँगना ही प्रहार है, तब राजा घायल हो गये थे—"दामिनि हनेउ मनहुँ तर तालू।" कहा गया, अब सावधान हुए, इस तरह कि जब कैकेयी शिवि आदि के उदाहरण देकर अधर्मी बनाने लगी तब छाती कड़ी करके बोले। उसने कहा

कि दो, या तो 'नहीं' करो, यदि राजा नहीं बोलते तो 'नहीं' होती है, इससे बोले। 'बानी सबिनय तासु सुहाती'—राजा ने साम नीति से काम लिया। इसलिये कि कहे सुने मान जाय तो दूसरा वर और कुछ माँग ले तो मेरा सत्य और जीवन दोनों रह जायँ।

(६) 'प्रिया बचन···भीर प्रतीति···'—'प्रिया' अर्थात् तुम तो प्रियवादिनी हो, तुम्हें कुभाँति वचन नहीं कहना चाहिये, किन्तु जो हमें प्रिय लगे वही बोलना चाहिये। 'भीर' शब्द संस्कृत के 'भी' शब्द से बना हुआ है। डर के अर्थ में यहाँ संगत है, यथा—"हरहु बिषम भव भीर।" (उ० दो० १३०)। कटु वचन ही कुभाँति वचन है। इनसे डर, प्रतीति और प्रीति का नाश होता है। स्वामी से तीनों का बर्ताव चाहिये, यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।" (वि० २६८), पहले तुम तीनों प्रकार बरतनेवाली प्रिया थी, पर आज निडर, अविश्वासिनी और निष्ठुर होकर और भाँति वचन बोल रही हो, यह क्यों ? अथवा हमारा डर, कौसल्याजी की प्रतीति और रामजी की प्रीति को नष्ट करके—यह भी भाव कहा जाता है।

मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी ॥६॥
अवसि दूत मैं पठइब प्राता। अइहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता ॥७॥
सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई ॥८॥

दोहा—लोभ न रामहि राज करि, बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति ॥३१॥

अर्थ—मेरे तो भरतजी और रामजी दोनों आँखें हैं। मैं शङ्करजी को साक्षी करके सत्य कहता हूँ ॥६॥ मैं अवश्य ही प्रातःकाल दूत भेजूँगा, सुनते ही दोनों भाई शीघ्र आवेंगे ॥७॥ सुन्दर दिन (मुहूर्त्त) शोधकर सब सामग्री सजाकर डंके की चोट पर (धूमधाम से) भरतजी को राज्य दे दूँगा ॥८॥ रामजी को राज्य का लोभ नहीं है, भरतजी पर उनकी बहुत प्रीति है। मैं ही बड़े-छोटे का मन में विचार करके राजनीति (का बर्ताव) कर रहा था ॥३१॥

विशेष—'मोरे भरत राम दुइ आँखी।'—आँखवालों को दाहिनी और बाईं आँखें समान प्रिय होती हैं, वैसे भरतजी और रामजी दोनो ही मुझे समान प्रिय हैं। यह वचन—'भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल···' के उत्तर में है। कैकेयी के विश्वास के लिये शिवजी की साक्षी देते हैं कि वे त्रिनेत्र हैं, सूर्य-चन्द्रमा नेत्र से दिन-रात देखते हैं और अग्नि नेत्र से दंड देते हैं, यदि मैं बनाकर कहता हूँगा, तो वे दंड देंगे, संहारकर्त्ता देव हैं। अतः, शील न करेंगे। 'भरत' छोटे हैं तब भी प्रथम उन्हें कहा, क्योंकि यहाँ 'तासु सुहाती' कर रहे हैं और उसने भरतजी को राज्य माँगकर उन्हें ज्येष्ठ की जगह में मान लिया है। अतः, उसकी सिद्धि जान वह प्रसन्न होगी।

(२) 'अवसि दूत मैं पठइब···'—उसके विश्वास के लिये 'अवसि' और 'प्रात' कहा। पुनः उत्तरार्द्ध में—'अइहहिं बेगि सुनत···' कहा अर्थात् शीघ्र ही आवेंगे तब तो तुम्हें प्रतीति हो ही जायगी। हम ऐसी चिट्ठी लिखेंगे कि शीघ्र ही दोनों भाई आ जायँगे। 'दोउ भ्राता'—क्योंकि दोनों सदा साथ ही रहते हैं, यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत शत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु-सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (बा० दो० १९७), दोनों साथ ही गये भी हैं। अथवा यह भी भाव है कि पहले एक (भरतजी) के बिना बुलाये शीघ्रता से कार्य ठान दिया गया तो सिद्ध न हुआ। अतः, अब उन दोनों को ही साथ बुलावेंगे कि किसी तरह के विघ्न की शंका न रहे।

(३) 'सुदिन सोधि सब साज···'—कल प्रातःकाल के मुहूर्त्त में वे दोनों यहाँ नहीं आ सकते, क्योंकि दूर कैकेय देश में हैं। बस, सुदिन प्राप्ति का ही विलम्ब समझो, शोधकर उत्तम मुहूर्त्त में भरतजी का तिलक करेंगे, जिससे उसमें कोई विघ्न न हो। 'सब साजि सजाई' अर्थात् भरत के अभिषेक में कम उत्साह नहीं है, बड़े उत्साह से तैयारी करके तिलक करेंगे। 'बजाई'—यह न समझो—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४), का स्मरण करके छिपकर चुपचाप तिलक कर दें, सो नहीं, धूम-धाम से गाजे-बाजे के साथ राज-तिलक करेंगे, यद्यपि—"बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावै टीका ॥" (दो० १७४), यह भी है, पर उसमें 'सुहाई' पद है, इसमें वह बात नहीं है। अतः, हम इसमें अपयश एवं कुल-कलंकित होने से न डरेंगे।

(४) 'लोभ न रामहिं राज कर ··'—पहले वर का सुन्दर विधान-पूर्वक देना कहकर अब दूसरे वर के प्रति कहते हैं—वह समझती है कि भरतजी के राजा होने पर रामजी ईर्ष्या करेंगे, क्योंकि उन्हें राज्य छूटने का दुःख होगा। उसपर कहते हैं कि रामजी को राज्य का लोभ नहीं है, प्रत्युत भरतजी पर उनकी बहुत प्रीति है। अतः, भरतजी के राजा होने पर वे प्रसन्न होंगे, ईर्ष्या न करेंगे। 'बहुत भरत पर प्रीति'—प्रीति और भाइयों पर भी है, पर भरतजी पर बहुत प्रीति है, यथा—"तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥" (दो० २०७), यह भरद्वाजजी ने श्रीभरतजी से कहा है। "तात भरत···प्रान समान राम प्रिय अहहू ॥" (दो० १८३)। 'मैं बड़ छोट बिचारि···'—'मैं' अर्थात् कौसल्याजी एवं रामजी की सम्मति इसमें नहीं थी। मैं ही केवल राजनीति के अनुकूल तिलक करता था, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु···" अच्छा, अब श्रीरामजी का तिलक न सही, श्रीभरतजी ही का होगा। दोहे के पूर्वार्द्ध में श्रीरामजी की शुद्धता और उत्तरार्द्ध में राजा ने अपनी शुद्धता दी है।

राम-सपथ-सत कहउँ सुभाऊ। राम-मातु कछु कहेउ न काऊ ॥१॥
मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे ॥२॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गये भरत जुवराजू ॥३॥
एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा ॥४॥
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचहु साँचा ॥५॥

अर्थ—मैं श्रीरामजी की सौ बार शपथें करके स्वभाव से ही कहता हूँ कि श्रीरामजी की माता ने (रामजी के तिलक के विषय में) कभी मुझसे कुछ नहीं कहा ॥१॥ मैंने तुझसे बिना पूछे ही यह सब कुछ किया, इसीसे मेरे मनोरथ निष्फल हुए ॥२॥ अब क्रोध को दूर करो और मंगल के साज साजो, भरतजी कुछ ही दिन बीतने पर युवराज हो जायँगे ॥३॥ तुम्हारी एक ही बात से मुझे दुःख हुआ है जो तुमने दूसरा वर बड़ी अड़चन का माँगा है ॥४॥ उसकी आँच से अभी भी मेरा कलेजा जल रहा है, यह क्रोध से है या हँसी से है या सत्य ही सत्य है ॥५॥

विशेष—(१) 'राम-सपथ-सत कहउँ·····'—कैकेयी को तीन व्यक्तियों पर शंका है—राजा, कौसल्याजी और श्रीरामजी पर, इसे राजा समझ गये हैं। अतः, तीनों की शुद्धता कहते हैं, अपनी और श्रीरामजी की शुद्धता कह चुके। अब कौसल्याजी के विषय में श्रीरामजी की सैकड़ों शपथें करके कहते हैं, क्योंकि सौत समझ इनपर उसे भारी सन्देह होगा, राम-शपथ से वह सत्य समझेगी, क्योंकि वह जानती है कि श्रीरामजी राजा को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। अतः, उनकी झूठी शपथ राजा न करेंगे। 'राम मातु' अर्थात् जैसे श्रीरामजी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, वैसे उनकी माता भी शुद्धा हैं। उन्होंने कभी और कुछ भी इसकी चर्चा तक नहीं की थी।

(२) 'मैं सब कीन्ह तोहि···'—श्रीरामजी और कौसल्याजी का दोष नहीं, दोष सब मेरा ही है कि मैंने तुमसे न पूछ लिया। यद्यपि राजा रानी से भी पूछने एवं कहने ही आये थे तथापि पहले न पूछ लिया। इससे मनोरथ ही निष्फल हुआ। 'सब कीन्ह'—तिलक का निश्चय, मंगल सजाना, आदि। उसके भय से राजा उसे दोष नहीं देते कि तुमने भी तो कहा था—'भामिनि भयउ तोर मन भावा।' सब दोष अपने ही सिर ले लेते हैं, क्योंकि 'तासु सुहाती' प्रथम ही कहा गया।

(३) 'रिसि परिहरु अब मंगल····'—रिस से जर रही है—'आगे दीखि जरत रिस भारी।' अतः, इसे त्यागने को कहते हैं, क्योंकि जिसपर क्रोध होता है, उसके गुण भी अवगुण की तरह भासते हैं, भाव रिस छोड़ देगी, तब कौसल्याजी और श्रीरामजी में अवगुण न जान पड़ेंगे। राजा अपने सबकी शुद्धता कह कर इसे ही दोषी सूचित करते हैं कि तू रिस के वश है, इसीसे सबमें दोष देखती है। 'मंगल-साजू'—मंगल साज सजाने में कई दिन लगेंगे, अभी से मंगल सज चलो, जिससे भरतजी के आने पर तिलक में विलम्ब न हो। 'कछु दिन गये···'—थोड़े ही दिनों में शीघ्र ही तिलक होगा। राजगृह (कैकय देश) से श्रीभरतजी को अयोध्या आने में सात दिनरात लगे थे, यथा—"तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि॥" (वाल्मी० २।७१।१८), भरतजी राजमार्ग होकर आये थे, क्योंकि इनके साथ बहुत दल-बल था और अयोध्या से दूत सीधे मार्ग से बहुत पहाड़ आदि लाँघते शीघ्रता में गये थे।

(४) 'एकहि बात मोहि दुख·····'—उसने कहा था—'भरत कि राउर···जो सुनि···' उसपर कहते हैं कि भरतजी के लिये राज्य माँगने से दुःख नहीं लगा, किन्तु दूसरे वर से ही दुःख है। इसने तो 'असमंजस' पैदा कर दिया। इस वर से राजा इतने डरे हैं कि इसका नाम तक जिह्वा से नहीं कहते। असमंजस के विषय में वाल्मी० २।१२-१३ में बहुत कुछ कहा है कि लोक मुझे क्या कहेगा। सब निन्दा करेंगे। स्त्रीजित् कहकर व्यंग्य कहेंगे। पुत्र पिता में स्नेह छोड़ देंगे और पिता पुत्र में। श्रीरामजी के वन जाने से कोई भी अयोध्यावासी न जियेगा, इत्यादि।

(५) 'अजहुँ हृदय जरत·····'—भाव यह कि प्रथम इसे सुनते ही जल गये, यथा—"दामिनि हनेहुँ मनहुँ तरु तालू।" अब भी उसे समझकर उसकी विरहाग्नि से हृदय जल ही रहा है। 'रिस परिहास कि···'—कैकेयी के लक्षणों से राजा को तीनों बातें जान पड़ीं, उन्हींका निर्णय करते हैं। 'रिस', यथा—"आगे दीखि जरत रिस भारी॥" 'परिहास'—"बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।" 'साँचेहुँ साँचा'—"देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥" इत्यादि से तीन तरह की प्रतीति हुई। 'रिस' प्रत्यक्ष है। अतः, प्रथम कहा। रिस के आवेश में लोग अनुचित कह डालते हैं, यथा—"क्रोध···जेहि बस जन अनुचित करहिं···" (बा० दो० २७७), अथवा हमारी परीक्षा लेने के लिये कि देखें इनका भरतजी में कैसा प्रेम है हँसी की हो, या सत्य ही माँग रही हो। राजा प्रथम के दो (रिस और परिहास) हेतुओं से रानी को हठ छोड़ने का अवसर देते हैं।

'कि साँचेहु साँचा'—यथा—"नहिं किञ्चिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम। अकारोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधाम्यहम्॥" (वाल्मी० २।१२।२०), अर्थात् मुझे विश्वास नहीं होता (कि तुम ऐसा माँग रही हो), क्योंकि तुमने आज तक मेरा कोई अपराध नहीं किया और न कोई प्रतिकूल बर्ताव ही किया है।

कहु तजि रोष राम-अपराधू। सब कोउ कहइ राम सुठि साधू॥६॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहिं भयेउ संदेहू॥७॥
जासु सुभाव अरिहु-अनुकूला। सो किमि करिहि मातु-प्रतिकूला॥८॥

दोहा—प्रिया हास रिस परिहरहि, माँगु बिचारि बिबेक।
जेहि देखउँ अब नयन भरि, भरत-राज-अभिषेक ॥३२॥

अर्थ—क्रोध त्यागकर तुम रामजी का अपराध कहो। सभी कोई कहते हैं कि रामजी बहुत ही अच्छे स्वभाव के हैं ॥६॥ तू भी उनकी सराहना करती और स्नेह करती थी। अब तेरा यह सुनकर मुझे सन्देह हुआ ॥७॥ जिसका स्वभाव वैरी को भी अनुकूल है, वह माता के प्रतिकूल काम कैसे कर सकता है ? ॥८॥ हे प्रिये ! हँसी और क्रोध छोड़ो, विवेक से विचार-पूर्वक वर माँगो, जिससे मैं अब नेत्र भरके भरतजी का राज्याभिषेक देखूँ ॥३२॥

विशेष—(१) 'कहु तजि रोष राम···'—क्रोध अन्धकारमय रात की तरह है, उसमें कुछ नहीं सूझता, यथा—"घोर क्रोध तम निसि जो जागा।" (कि० दो० २०), क्रोधवश अनुचित कहकर लोग पछताते हैं। अतः, क्रोध छोड़कर रामजी का अपराध कहो। क्रोध छोड़कर विचारने से रामजी में अपराध न देख पड़ेंगे, क्योंकि—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।' अर्थात् सामान्य साधु से कभी अपराध हो भी जाता है, यथा—"काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृत बस चुकइ भलाई ॥" (बा० दो० ६), पर 'सुठि साधू' से तो अपराध होता ही नहीं, यथा—"बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥" (बा० दो० २), तथा—"सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा।···तस्मिन्नार्जव सम्पन्ने देवि देवोपमे कथम्। पापमाशंससे रामे महर्षि-सम-तेजसि ॥···क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्म कृतज्ञता।·····" (वाल्मी० २।१२।२८-३३)।

(२) 'तुहूँ सराहसि करसि·····'—मुख से सराहती थी और हृदय से स्नेह करती थी। अब इस दूसरे वर का माँगना सुनकर मुझे तेरे पूर्व स्वभाव पर सन्देह हो गया कि तेरी वह सराहना झूठी थी और स्नेह भी झूठा ही था, क्या ? किस कारण से तूने रामजी के लिये वनवास माँगा। हाँ, यह हो सकता है कि रामजी ने कुछ तुम्हारे प्रतिकूल बर्ताव किया हो, पर यह कैसे हो सकता है ! क्योंकि—

(३) 'जासु सुभाव अरिहु अनुकूला। सो···'—रामजी का स्वभाव शत्रु के साथ भी अनुकूल है, यथा—"अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (दो० १८२), "बैरिहु राम बड़ाई करहीं।" (दो० १९९) "उमा राम मृदु चित करुना कर। बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर ॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी ॥" (लं० दो० ४४), तब वे माता के प्रतिकूल कैसे करेंगे ? यथा—"तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता ॥" (दो० ४२), यह आगे कैकेयीजी ने ही कहा है, इस तरह राजा ने श्रीरामजी की सुठि साधुता पुष्ट की और जनाया कि तू ही क्रोधवश उनमें दोष देख रही है।

(४) 'प्रिया हास रिसि परिहरहि···'—जब रामजी का कोई दोष नहीं सिद्ध हुआ, तब उपर्युक्त—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' को लेकर कहते हैं कि हँसी से हो वा रिसि से यह हठ हो तो उसे छोड़ो क्योंकि तुम प्रिया हो और इस दूसरे वर से मुझे असह्य दुःख हो रहा है। हमारा अप्रिय तुम्हें न करना चाहिये। यदि 'साँचेहु साँचा' ही हो तो विवेक से विचार कर माँगो, क्योंकि वन को निकाला जाना, वध की जगह में दंड विधान है, वैसा रामजी का कोई दोष नहीं, तब तो यह अविवेक है। इससे तुम्हारी और हमारी भी निन्दा होगी। रानी वर माँग चुकी है, बदलने में संकोच होगा, इसलिये हँसी का हेतु दिखाते हैं कि इस बहाने हठ छोड़ दे और दूसरे वर में और कुछ माँग ले।

(५) 'जेहि देखउँ अब···'—अब तो भरतजी का तिलक पक्का ही हो गया, किन्तु दूसरा वर नहीं बदलोगी तो फिर तुम्हारे प्रिय पुत्र भरतजी का राज्याभिषेक हम कैसे देखेंगे ? अपने पुत्र का अभिषेक

देखने के लिये मुझे जीवनदान दो, इसलिये दूसरा वर बदल दो, क्योंकि राम-वनवास से तुम्हारा कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः, यह माँगना तो निरा अविवेक है। यदि यही माँगोगी तो फिर मैं तो किसी तरह भी जीता न रहूँगा, फिर भरतजी का राज-तिलक कैसे देखूँगा? 'नयन-भरि' अर्थात् पूर्ण-उत्साह-सहित देखना चाहता हूँ, मेरी पूर्ण रुचि है।

जियइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियइ दुख दीना ॥१॥
कहउँ सुभाव न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥२॥
समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवन राम-दरस-आधीना ॥३॥
सुनि मृदुबचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई ॥४॥

अर्थ—चाहे बिना पानी के मछली भले ही जिये और बिना मणि के सर्प दुःख से दीन बना हुआ जीता रहे ॥१॥ (परन्तु) मैं स्वभाव ही से सत्य कहता हूँ, मेरे मन में छल नहीं है। मेरा जीवन राम (दर्शन) के बिना नहीं है ॥२॥ हे चतुर प्रिये! हृदय में विचारकर देखो, मेरा जीवन राम-दर्शन के अधीन है ॥३॥ राजा के कोमल मधुर वचन सुनकर दुर्बुद्धि कैकेयी बहुत ही जल रही है, मानों अग्नि में घृत की आहुतियाँ पड़ रही हों ॥४॥

विशेष—(१) 'जियइ मीन बरु बारि···'—मछली जल बिना नहीं जी सकती, यथा—"जल बिनु थल कहाँ मीच बिनु मीन को।" (दो० १७८), मछली का जल में सच्ची एवं पवित्र प्रीति दोहावली ३१७-३२० में देखिये। सर्प मणि-बिना तड़पते हुए जीता है, यथा—"मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७), यही पूर्व-जन्म का वर है—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥" (बा० दो० १५०)। अतः, स्वभावतः मुख से कहा गया। इनकी प्रकृति चाहे बदल जाय, अर्थात् पानी बिना मछली जिये और मणि बिना सर्प आनन्द-पूर्वक जिये। पर—

(२) 'कहउँ सुभाव न छल···'—उपर्युक्त दो दृष्टान्तों की सत्यता में सन्देह करेगी कि मुझे वैधव्य का भय देकर स्वार्थ साधते हैं। उसपर कहते हैं कि मैं छल से नहीं कहता, किन्तु यह यथार्थ ही है। यद्यपि और मनुष्य के लिये मीन की तरह वियोग में तुरन्त मरना भले ही असम्भव हो, पर मेरे विषय में सत्य ही है।

(३) 'समुझि देख जिय प्रिया···'—चतुरों के लिये संकेत-मात्र पर्याप्त है, वे स्वयं समझ लेते हैं। ऐसे ही तुम तो प्रिया प्रवीणा हो, मेरी प्रवृत्ति रामजी के विषय में जैसी है इसको विचारकर जान सकती हो कि मैं राम-बिना नहीं जी सकता। यथा—"नृप कि जिइहि बिनु राम।" (दो० ४९), यह पुरवासियों का अनुमान है और तुम तो प्रवीणा हो फिर क्यों न समझोगी।

मीनवाले दृष्टान्त को उपर्युक्त—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' से जनाया और सर्प के दृष्टान्त को यहाँ—'जीवन राम दरस आधीना' से कहा कि मैं राम के दर्शन से ही जीता हूँ।

अभी तक राजा ने इसे 'प्रिया' कहा और प्रवीणा कहकर समझने को कहा, पर इसने नहीं समझा तो अब आगे प्रिया न कहेंगे। इस प्रसंग में तीन बार इसे 'प्रिया' कह चुके।

(४) 'सुनि मृदु बचन कुमति···'—राजा ने मृदु वचनों से प्रवीणा आदि कहकर समझना कहा। इसने न सुना तो कवि उसे 'कुमति' कहते हैं और तदनुसार 'अति जरई' ठीक ही है। पहले जलती थी—'आगे दीखि जरत सिर भारी।' फिर मृदु वचनों को सुनकर अत्यन्त जलने लगी, क्योंकि राजा ने कहा—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं' एवं 'जीवन राम दरस आधीना'। इसपर उसने लगाया कि अभी तो 'मोरे भरत राम दुइ आँखी' कहा था। भरत-दरस अधीन जीवन क्यों नहीं है। अतः, 'मन मलीन मुँह मीठ

Post Graduate Library

नृप' मन्थरा का कहना ठीक ही था। कुमति ने यह नहीं समझा कि 'राम-दरस-अधीन' जीवन तो राजा का पूर्व वरदान से स्वाभाविक था। 'मनहुँ अनल आहुति ···' कैकेयी का क्रोध अग्नि है, राजा के मृदु वचन (स्नेह भरे) घृत हैं जो घृत की तरह गुणद, पवित्र, चिकने और कोमल हैं। रानी ने कपट भरा माना इससे आहुति पाने से अग्नि की तरह इसका क्रोध बढ़ा, यथा—"लखन उतर आहुति सरिस, भृगुबर कोप कृसानु। बढ़त देखि···' (बा० दो० २७६)।

कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया ॥५॥
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं ॥६॥
राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने ॥७॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका ॥८॥

दोहा—होत प्रात मुनि-बेष धरि, जौ न राम बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माहिं ॥३३॥

शब्दार्थ—माया = छल, चालबाजी। प्रपंच = झंझट, माया, टालमटोल के वाग्जाल। भल ताका = बुरा चाहा (व्यंग्य से ऐसा कहने का मुहावरा है)। साका = ख्याति, कीर्ति-स्मारक।

अर्थ—वह कैकेयी कहने लगी कि आप करोड़ों उपाय क्यों न करें, यहाँ आपकी माया नहीं लगेगी ॥५॥ वर दीजिये या तो 'नहीं' करके अपयश लीजिये, मुझे बहुत प्रपंच बढ़ाना नहीं सुहाता ॥६॥ श्रीरामजी साधु हैं, तुम चतुर साधु हो और श्रीरामजी की माता कौसल्या भली (साधु) हैं, मैंने सबको पहचान लिया ॥७॥ कौसल्याजी ने जैसा मेरा भला ताका वैसा ही फल मैं उन्हें साका (ख्याति) करके दूँगी (संसार भर में प्रकट करके दूँगी कि वे जन्म-भर न भूलें) ॥८॥ प्रातःकाल होते ही रामजी मुनि वेष धारण करके जो वन को न जायँगे तो हे नृप ! मन में यह समझ रखिये कि मेरा मरना और आपका अपयश होगा ॥३३॥

विशेष—(१) 'कहइ करहु किन कोटि···'—राजा ने अपनी, श्रीरामजी की और श्रीकौसल्याजी की शुद्धता में जो-जो बातें कही हैं, उन्हींको 'कोटि उपाया' कहती है। भरतजी रामजी के समान ही प्रिय हैं, बिना राम के मैं नहीं जी सकता, राम-बन के बदले और कुछ माँग ले, इत्यादि माया (प्रपंच) है, यथा—"बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा ॥" (बा० दो० १५९)—इस प्रकार के छल की कल्पना वह राजा के वचनों में करती है।

'इहाँ न लागिहि राउरि माया'—जो जिसका भेद न जाने उसपर उसकी माया लगती है। हम तुम्हारी चालें जान चुकी हैं, यथा—"मन मलीन मुँह मीठ नृप (दो० १७), यह गुरु मन्थरा ने सिखा रक्खा है। इसपर कहा जाता है कि इसपर ब्राह्मी माया (सरस्वती) लगी हुई है तो नर-माया उसपर नहीं लग सकती, वह ठीक नहीं, क्योंकि न तो कैकेयी ही अपनेको ब्राह्मी माया से मोहित मानती है और न राजा के वचन ही मायामय हैं, राजा ने तो शुद्ध भाव से यथार्थ कहा है।

(२) 'देहु कि लेहु अजस···'—इसे प्रयोजन से ही काम है, इससे 'देहु' प्रथम कहती है। ऊपर इसने 'माया' कहा था, उसीको यहाँ 'प्रपंच' कहा है, अर्थात् हमें बहुत वाग्जाल फैलाने से काम नहीं है या दो या नहीं कर दो, बस।

'राम साधु तुम साधु···'—यह—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू' के प्रति है, 'सब पहिचाने'—मन्थरा ने सबकी पहचान करवाई है, यथा—"प्रिय सिय राम कहा ···" से "बिनु जर जारि करइ सोइ

छारा ॥" (दो० १६) तक अर्थात् रामजी बैरी हैं। "जरि तुम्हारि चह सौति उखारी।" (दो० १६), अर्थात् कौसल्या वैरिणी हैं। "मन मलीन मुँह मीठ नृप।" (दो० १७), अर्थात् राजा कपटी हैं। रामजी साधु हैं तभी तो भाई को बन्दीखाने में डालने के विचार से उससे चुराकर अपना तिलक कराते थे। तुम सयाने साधु हो तभी तो कपटमय व्यवहार है कि ऊपर से हमसे मीठे बने थे और भीतर गला काटने के प्रबन्ध में थे। कौसल्या हमसे चुरा कर बेटे के तिलक का मंगल-साज सजाती थीं, ऐसे लोग शीघ्र पहचान में नहीं आते, पर मैंने अच्छी तरह पहचान लिया कि सब गँव के साधु हैं। यहाँ 'पदार्थावृत्ति' एवं 'व्याजनिन्दा' अलंकार हैं।

(३) 'जस कौसिला मोर भल···'—जैसा उन्होंने मेरे साथ किया वैसा ही मैं उनके साथ करूँगी। वे मेरी जड़ उखाड़ना, मुझे दासी बनाना और मेरे पुत्र को निकालकर अपने पुत्र को राज्य दिलाना चाहती थीं। वैसा ही सब मैं भी उनके प्रति करूँगी, उनके पुत्र को निकालकर अपने पुत्र को राज्य दूँगी। 'करि साका' यह अधिक करूँगी कि उन्होंने चोरी से सब कुछ मेरे साथ किया है और मैं डंके की चोट पर उसका फल चखाऊँगी कि सर्वदा संसार में कीर्त्ति बनी रहेगी। यह मन्थरा की बातों को लेकर कह रही है, यथा—"जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका ॥" (दो० २०)।

(४) 'होत प्रात मुनि बेष···'—राजा ने कहा था—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' उसीपर कहती है कि तुम रामजी के बिना नहीं जी सकते और मैं रामजी के घर रहने से न जोऊँगी। राजा ने कहा था—'समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना' उसीपर कहती है—'नृप समझिय मन माहिं।' राजा ने कहा था—'जीवन राम दरस आधीना' उसपर कहती है—'होत प्रात मुनि···' अर्थात् मैं उन्हें न देखूँ, ऐसी शीघ्रता से वे बन को जायँ, यथा—"अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः। पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥" (वाल्मी० २।१२।४७), अर्थात् यदि आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करेंगे और रामजी को राज्य दे देंगे तो मैं बहुत-सा विष पीकर आपके सामने शरीर त्याग कर दूँगी। 'मोर मरन राउर अजस'—मेरे मरने के साथ ही आपका अपयश होगा, जिससे मुझसे कोटि गुणा फल भोगेंगे, यथा—संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥" (दो० ९४)। अतः, 'नृप समझिय' अर्थात् मन में समझ लीजिये कि आपके लिये क्या अच्छा है। सत्य की रक्षा में एक ही बार मरना होगा और भ्रष्ट-प्रतिज्ञ होकर जीने से कोटि मरण का दुःख होगा। राजा अपयश से डरते हैं, इसीसे वह इसका भय बार-बार दिखाती है—"देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू ॥" (दो० २९), "देहु कि लेहु अजस करि नाहीं।" (दो० ३२), पुनः यहाँ भी 'राउर अजस' कहा है।

रानी को मरने का बल है। स्त्रियों को क्रोध अत्यन्त हो जाता है तो कुएँ-तालाब में डूब मरती हैं या छत पर से कूदकर प्राण देती हैं, या फाँसी लगाकर मरती हैं, वैसे यह भी मरने का ही बल दिखाती है।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी ॥१॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई ॥२॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन-प्रचारा ॥३॥
ढाहत भूप-रूप तरुमूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला ॥४॥

शब्दार्थ—तरंगिनि = लहर लेनेवाली अर्थात् नदी। जोई = देखी। प्रचार = प्रेरणा, रह-रहकर स्मरण होना।

अर्थ—कुटिल कैकेयी ऐसा कहकर उठकर खड़ी हुई, मानों जोश रूपी नदी बढ़ी ॥१॥ वह नदी पाप-

रूपी पहाड़ से निकली है और क्रोध-रूपी जल से भरी हुई है। अतः, देखी नहीं जाती (अर्थात् भयंकर है) ॥२॥ दोनों वरदान इस नदी के दोनों किनारे हैं, कैकेयी का कठिन हठ कठिन धारा है और कुबरी मन्थरा की बातों की प्रेरणा भँवर है ॥३॥ यह नदी राजा दशरथ-रूपी वृक्ष को जड़ से ढाहती (गिराती) हुई, विपत्ति-सागर की ओर (उससे मिलने) को बह चली ॥४॥

विशेष—(१) 'अस कहि कुटिल भई···'—यहाँ कैकेयी के कर्म की भीषणता दिखाने के लिये कवि ने नदी का सांग रूपक बाँधा है। नदी टेढ़ी होती है, वैसे ही यह भी 'कुटिल' है। 'भई उठि ठाढ़ी' अर्थात् मुझे जो कुछ कहना था, कह दिया, अब उसमें अदल-बदल नहीं हो सकता। व्यर्थ प्रपंच की बातें कौन सुने, ऐसी जगह से टल जाना ही भला है, इससे मैं जाती हूँ, ऐसा कहती हुई, उठ खड़ी हुई। इसका जोश-पूर्वक उठकर खड़ा होना, उत्प्रेक्षा का विषय है।

(२) 'मानहु रोष-तरंगिनि बाढ़ी'—उठकर खड़ी होने पर वह ऊँची हो गई, इससे बढ़नेवाली नदी की उपमा है। नदी जलमय और कैकेयी रोषमय है। बढ़ी हुई नदी में बार-बार तरंगें उठा करती हैं, वैसे इसके रोष की तरंगें क्षण-क्षण में उठती हैं, यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई।" (दो० २५), "देखि कुभाँति कुमति मन माँखा।" (दो० २९), "आगे दीखि जरत रिस भारी।" (दो० ३०), पुनः यहाँ—"मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।" कहा है। 'भई उठि ठाढ़ी' और 'रोष तरंगिनि' कहने से नख से शिखा तक रोष से भरी सूचित किया। 'बाढ़ी' से स्वच्छन्द-गामिनी भी जनाया।

(३) 'पाप-पहार प्रगट भइ सोई'—भारी नदी भारी पहाड़ से निकलती है, वैसे ही रोष-नदी इस (कैकेयी) को पाप-वासना से हुई कि कौसल्या मेरा अमुक-अमुक बुरा चाहती हैं, यह इसका निर्मूल मानसी पाप है। [कोई-कोई राजा के पाप को पहाड़ कहते हैं—"सो सब मोर पाप परिनामू।" (दो० ३५), यह पाप पूर्व का है—"तापस अंध साप सुधि आई।" (दो० १५४),] यहाँ तो पाप से क्रोध का होना कहा है और—"लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।" (बा० दो० २७७), अर्थात् क्रोध से पाप होता है। दो जगह परस्पर विरोधी बातें हैं, इनका तात्पर्य यह कि क्रोध से पाप और पाप से क्रोध होते हैं, यहाँ बीज-वृक्ष न्याय है। ये दोनों ही अन्योन्य सापेक्ष्य हैं। 'भरी क्रोध जल जाइ न जोई'—रोष नदी है और वह क्रोध-जल से भरी है, यहाँ रोष और क्रोध एक नहीं हैं, तात्पर्य यह कि इसके सर्वांग में जोश (झगड़े की उमंग) पूर्ण है, नदी जलमय होती है, वैसे ही यह क्रोध से भरी है। नदी की भारी बाढ़ देखकर डर लगता है, वैसे क्रोधी को देखकर भी डर लगता है, यहाँ राजा डर गये हैं। इसीसे 'जाइ न जोई' कहा है।

(४) 'दोउ बर कूल कठिन हठ धारा।'—नदी दोनों किनारों के बीच में चलती है, वैसे ही इसका क्रोध दोनों वरों की प्राप्ति के लिये है, यथा—"इहाँ न लागिहि राउरि माया।" एवं "होत प्रात मुनिबेष धरि···" ऐसा कह रही है। वर मिल जायँ, तब शान्त हो जायगी। 'कठिन हठ'—यह हठ किसीके समझाने से छूटनेवाला नहीं है, ऐसे ही नदी की प्रबल धारा भी कोई नहीं रोक सकता। कठिन धारा दोनों कूलों (किनारों) से टकराई हुई चलती है, वैसे ही इसका हठ दोनों वरों के अनुरोध में है। 'भँवर कूबरी बचन प्रचारा'—कुबरी के वचनों को स्मरण कर-करके हठ और भयंकर हो जाता है, जैसे भँवर से धारा भीषण हो जाती है। 'कूबरी बचन', यथा—"काज सँवारेहु सजग होइ. सहसा जनि पतिआहु।" (दो० २२), "बचन मोर प्रिय मानेहु जीते।" (दो० २१), "रामहिं तिलक कालि जौं भयऊ।···" "भूपति राम सपथ जब करई।···" तथा उसने जो राजा, श्रीरामजी और श्रीकौसल्या के विषय में कपट-द्वेष आदि की बातें कही हैं, वे हृदय में भँवर की भाँति फिर रही हैं। भँवर में जो पड़ता है, मर जाता है, वैसे ही कैकेयी पड़ गई है तो विधवा होगी, यही इसका मरना है।

(५) 'ढाहत भूप रूप तरुमूला'—धारा के वेग से तट के वृक्ष जड़-समेत उखड़कर नदी के साथ बह चलते हैं। यहाँ राजा ही इस नदी के तट के वृक्ष हैं, उनकी जड़ श्रीरामजी हैं, क्योंकि इनका 'जीवन राम दरस आधीना।' है। श्रीरामजी को वन भेजना और उससे राजा की मृत्यु होना, जड़-समेत वृक्ष का ढहाना है। रोष तरंगिनी-रूप से कैकेयी विपत्ति-सागर में गिरने चली, राजा-रूप वृक्ष को भी बहा ले गई। यह विधवा होगी, पुत्र त्यागेगा, राज्य छूटेगा और कोई इसका मुँह न देखना चाहेगा। अपयश से मरने से भी अधिक दुःखी होगी, यथा—"अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीच बिधि मीच न देई॥" (दो० २५१), 'अनुकूला'—अर्थात् सीधी बह चली, जिससे शीघ्र ही दुःखसागर में गिरेगी, प्रातःकाल भर में ही सब कुछ होगा।

लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची॥५॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥६॥
माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम-बिरह जनि मारसि मोही॥७॥
राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती। नाहिंत जरिहि जनम भरि छाती॥८॥

दोहा—देखी ब्याधि असाधि नृप, परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन, राम राम रघुनाथ॥३४॥

अर्थ—राजा ने जान लिया कि बात 'साँचेहु साँची' ही है, सत्य ही स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु मस्तक पर नाच रही है॥४॥ कैकेयी के चरण पकड़ उसे बैठाकर उन्होंने विनती की कि सूर्यकुल (रूपी वृक्ष) के लिये तू कुल्हाड़ी मत हो॥६॥ मेरा सिर माँग ले, मैं तुझे अभी दे दूँ, पर राम-विरह से मुझे मत मार॥७॥ जैसे-तैसे रामजी को रख, नहीं तो तेरी छाती जन्म भर जलेगी॥८॥ राजा ने देखा कि यह व्याधि असाध्य है, तब वे सिर पीटकर भूमि पर गिर पड़े और बड़े आर्त्त स्वर से राम, राम, रघुनाथ, ये वचन कहने लगे॥३४॥

विशेष—(१) 'लखी नरेस बात फुरि साँची'—पहले राजा ने तीन प्रकार के अनुमान किये थे—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' उनमें यहाँ को इसकी बातों से अब निश्चय कर लिया कि न तो इसने रिस की है और न परिहास ही किया है। यह तो 'साँचेहु साँचा' वाली बात है। जैसे वहाँ 'साँचेहु साँचा' कहा गया था, वैसे यहाँ 'फुरि साँची' है। अथवा 'साँची' को उत्तरार्द्ध के साथ ही रक्खें, तब भी ठीक ही है, पर उपर्युक्त अर्थ में 'साँची' को दीपदेहली मानकर 'फुरि' और उत्तरार्द्ध, दोनों के साथ अर्थ किया गया है, यह अधिक संगत है, पुनरुक्ति नहीं है, किन्तु विषय को विशेष पुष्टि के लिये दोहराया गया है, ऐसा मुहावरा है। यहाँ कैतवापह्नुति अलंकार है। 'मिस' पद स्पष्ट करता है, यथा—"रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये। बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम्॥" (वाल्मी० २।१२।८१-८२), अर्थात् तेरे साथ विहार करते हुए, मैं तुझे अपनी मौत नहीं जान पाया, जैसे एकान्त में कोई बालक काले साँप के साथ खेलता हुआ उसे अपनी मृत्यु नहीं जानता, वाल्मी० २।१२।१०७ 'विनाशकामा··' में भी ऐसा ही कहा गया है।

(२) 'गहि पद बिनय कीन्हि बैठारी।'—पूर्व कहा गया—'कुटिल भई उठि ठाढ़ी।' अतः, पैर पकड़कर बैठाना कहा गया। आर्त्तदशा में स्त्री के भी पैर पकड़े—"रहत न आरत के चित चेतू॥" (दो० २६८)। विनय उत्तरार्द्ध में करते हैं, कि दिनकर कुल रूप वृक्ष से जगत् भर का उपकार होता है। अतः, इसे न काट। प्रथम विनय की थी, तो अपने जीने के लिये कहा था—'जियइ मीन बरु···' इसपर वह अधिक जल उठी थी—'सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई।' इससे इस विनय में कुल की रक्षा के

लिये प्रार्थना करते हैं, इसपर यदि वह कहे कि आपने स्वयं तो सत्य की प्रशंसा करके वर देने को कहा और अब नहीं देते हैं, मिथ्यावादी हैं और मुझे कुल-कुठारी बनाते हैं, उसपर अपनी सत्यता के प्रति कहते हैं—'माँगु माथ अबहीं··· ··' 'गहि पद' यथा—"अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते। शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत्॥" (वाल्मी० २।१२।३६), "स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे।" (वाल्मी० २।१२।११३)।

यहाँ कैकेयी को राजा के रूप, मनोरथ, अयोध्या और कुल को नाश करनेवाली कहा गया, क्रमशः प्रमाण, यथा—"बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनी हनेउ···", "मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥", "अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।" और "जनि दिनकर कुल होसि कुठारी।"

(३) 'माँगु माथ अबही देउँ तोही'—श्रीराम-वनवास के बदले मेरा सिर माँग ले। यदि वह कहा चाहे कि एक बार देने को कहा था, वह दिया नहीं जाता, तो सिर कैसे दिया जायगा? उसपर कहते हैं—'अबहीं देउँ' अर्थात् तुम्हारे कहने भर की देर है, देने में नहीं, क्योंकि राम-वनवास से तो दिनकर कुल भर का नाश होगा और मुझे भी तड़प-तड़प कर मरना होगा। राजा ने लख लिया—'तिय मिस मीच सीस पर···' इससे कहते हैं कि तू मृत्यु रूपा है ही, अतएव मेरा सिर माँग ले। मैं प्रसन्न होकर तुरत देता हूँ। भाव यह कि सत्य धर्म की रक्षा में प्राण देना मुझे सुगम है। राम-वनवास तो दिया ही नहीं जाता—'बर दूसर असमंजस माँगा॥ अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।" (दो० ३१)। अतः, राम-विरह से मुझे मत मार।

(४) 'राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती।'—भाव यह कि आदर से चाहे निरादर से रख, यथा—"गुरु गृह बसहिं राम तजि गेहू। नृप सन असबर दूसर लेहू॥" (दो० ४९), 'राखु' अर्थात् तेरे रखने से ही रह सकते हैं, क्योंकि वे धर्मात्मा हैं। वरदान की बात सुनते ही वन को चल देंगे। अतः, तू ही उन्हें घर में रख एवं रक्षा कर। 'नाहिंत जरिहि ··'—यह भय भी दिखाया।

(५) 'देखी व्याधि असाधि·····'—रोग की चिकित्सा प्रथम की जाती है, वैसे ही राजा ने की, उसके पैरों पड़े, विनती की, सिर तक देने को कहा, पर उसका हठ रूप रोग असाध्य जान पड़ा, क्योंकि अन्त में अपना मरना और जन्म भर उसकी छाती जलना कहा कि इस भय से भी हठ छोड़ दे, पर वह टस-से-मस न हुई। तब राजा ने समझ लिया कि यह महौषधि भी व्यर्थ हुई, तो यह रोग असाध्य है, यथा—"व्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी।" (दो० ५०)। अतः, भावी विरह समझकर शोक से पश्चात्ताप करते हुए सिर पीट कर पृथ्वी पर गिर पड़े और परम करुण स्वर से राम, राम, रघुनाथ—यह परम आर्त वचन कहने लगे। पहले आर्त्त वचन कहते थे, जब इसने नहीं माना तब परम आर्त्त वचन कहने लगे। असाध्य व्याधि पर जब वैद्य जवाब दे देते हैं, तब लोग यही कहते हैं कि अब 'राम-राम' कहो, वैसे ही यहाँ राजा भी 'राम, राम' कह रहे हैं। ऐसे अवसर पर प्रायः लोग सिर पीटते हैं। (भाग्य एवं कर्म को दोष देते हैं), पृथ्वी पर लोटते हैं और परमात्मा का स्मरण करते ही हैं। यहाँ उपर्युक्त—'ढाहति भूप रूप तरु मूला' का चरितार्थ हुआ।

व्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥१॥
कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी॥२॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महँ माहुर देई॥३॥

शब्दार्थ—पाठीन=पढ़िना, पढ़िना नाम की मछली। कटु-कठोर=मर्म वचन आगे दोहे में स्पष्ट है।

अर्थ—राजा व्याकुल हो गये। उनका सारा शरीर ढीला पड़ गया, मानों किसी हथिनी ने कल्प-

वृक्ष को उखाड़ कर गिरा दिया हो ॥१॥ राजा का गला सूख गया, मुख से वाणी नहीं निकलती, मानों बिना पानी के पढ़िना मछली दीन होकर तड़प रही हो ॥२॥ कैकेयी फिर भी कड़वे और कठोर (मर्म वचन) इस प्रकार बोली, मानों वह घाव में विष भर रही हो ॥३॥

विशेष—(१) 'ब्याकुल राउ सिथिल·····करिनि·····'—राजा को कैकेयी ने कृपण कहा था—'जानेहु लेइहि माँगि चबेना।' आगे भी कहेगी—'दानि कहाउब अरु कृपिनाई।' इसपर कवि ने उसे असत्यवादिनी ठहराते हुए राजा को राम-विरह की व्याकुलता में भी कल्पवृक्ष कहा, क्योंकि वे सब-के-सब मनोरथ-पूरक हैं, यथा—"मोर मनोरथ सुरतरु फूला।" (दो० २८), पर कहा गया। इस (कैकेयी)-के भी मनोरथ को पूरा किया ही है, क्योंकि 'नहीं' न किया और श्रीरामजी से घर रहने को वाणी से न कहा। अतः, सत्य-प्रतिज्ञ हैं। यहाँ राजा के शरीर को कल्पवृक्ष कहा और कैकेयी को हथिनी, क्योंकि जैसे हथिनी का प्रयोजन पेट भरने से रहता है, वह डाल-पत्ते आदि से ही हो जाता है, पर वह पशु-स्वभाव से पेड़ को ही उखाड़ फेंकती है, पेड़ बना रहे तो आगे भी उससे डाल, पत्ते, फल-फूल हों, उसे भी खाने को मिले, औरों का भी हित हो, यह बात पशु होने से वह नहीं जानती। वैसे ही कैकेयी का पहले वर था, उससे अपना पेट भरती, पर इसने कल्पवृक्ष रूप राजा को ही मारकर जगत् भर को हानि पहुँचाई और स्वयं तो विपत्ति में पड़ेगी ही। अतः, यहाँ पर इसे पशु कहा गया है। आगे श्रीभरतजी इससे भी अत्यन्त तुच्छ कहेंगे—"अस को जीव-जंतु जग माहीं।···को तू अहसि सत्य कहु मोही॥" (दो० १६१)।

यहाँ राजा दशरथ के रूप को कल्पवृक्ष कहा है। ऐसे ही आपके नाम और यश भी हैं, यथा—दसरथ नाम सुकामतरु, फलइ सकल कल्यान। धरनि धाम धन धरम सुख, सुत गुन-रूप-निधान॥ (रामाज्ञा प्रश्न ७।३।५ एवं दोहावली २१८), तथा—"राजन राउर नाम जस सब अभिमतदातार।" (दो० ३), आपके धाम के प्रति भी कहा गया है—"सब बिधि सब पुरलोग सुखारी।" (दो० १)

(२) 'कंठ सूख मुख आव न·····'—प्रथम राजा को व्याकुल कहा, अब व्याकुलता की दशा कहते हैं कि शोक से कंठ सूख गया है, इससे वाणी नहीं निकलती, यहाँ राजा पाठीन हैं, रामजी जल हैं, राजा व्याकुल हैं, जैसे थोड़ा जल रह जाने पर मछली व्याकुल होती है—"जल संकोच बिकल भइ मीना।" (कि० दो० १५), वैसे यहाँ जल रूप श्रीरामजी का अब बहुत थोड़े काल का ही संयोग रह गया है, यही थोड़े जल का रह जाना है। यहाँ 'पाठीन' पद मछली मात्र का बोधक है। पढ़िना मत्स्य भारी शरीर का होने से अधिक व्याकुल होता है, इसी दशा को प्रकट करने के लिये 'पाठीन' पद दिया गया है। मीन के दृष्टान्त से राजा की मृतप्राय दशा जनाई, क्योंकि मछली जल बिना तुरत मरणासन्न हो जाती है और फिर नहीं जीती।

'पुनि कह कटु कठोर···'—जब प्रथम वर की बात पर राजा सहम गये और कुछ न बोल सके थे—"भयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।" (दो० २८), तब कैकेयी रुष्ट होकर कटु वचन कहने लगी थी, यथा—"देखि कुभाँति कुमति मन माखा।" "अति कटु बचन कहति कैकेयी।" वैसे ही इस समय भी जब राजा कुछ न बोल सके—'मुख आव न बानी' तब फिर 'कटु-कठोर' कहने लगी। तात्पर्य यह कि राजा के चुप रह जाने पर वह समझती है कि वर देना नहीं चाहते, इसीसे कटु वचनों से पीड़ित करके 'हाँ' कराना चाहती है। पहले जले पर निमक छिड़काना कहा गया था—"मानहु लोन जरे पर देई" क्योंकि उससे प्रथम जलना कह चुके थे—"दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।" (दामिनि अग्नि रूपा है।) फिर उस जले पर निमक छिड़कना कहा—"तजहु सत्य जग अपजस लेहू।" वैसे ही यहाँ घाव पर माहुर देना कहते हैं, यहाँ भी घाव का रूपक प्रथम कहा गया है—"मनहुँ रोप तरवारि उघारी।"

एवं "असि मारेसि मोहि कुठाय" उसका प्रभाव पड़ा कि रामवनवास का निश्चय हो गया। यही राजा के मर्म-स्थल में घाव होना है। अब राजा की शोक-मग्नता पर इन्हें कृपण बनाती है—"दानि कहाउब अरु कृपनाई।" यही उस घाव पर माहुर देना है, ये वचन राजा को घाव में माहुर के समान कटु लगेंगे। घाव में माहुर लगने से असह्य पीड़ा होती है, घाव सड़ जाता है और रोगी शीघ्र ही मरता है। वही हाल इन वचनों से राजा का होगा। वज्रवत् कठोर हृदय से ये वचन निकल रहे हैं। उसे राजा के शोक का कुछ भी ध्यान नहीं है। अतः, उसके वचन कटु कठोर कहे गये हैं।

जौ अंतहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥४॥
दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥५॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रउताई ॥६॥
छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू ॥७॥
तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी ॥८॥

दोहा—मरम बचन सुनि राउ कह, कहुँ कछु दोष न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर ॥३५॥

अर्थ—जो परिणाम में यही करना था, तो किस बल पर तुमने 'माँगो, माँगो' कहा था? ॥४॥ हे राजन्! क्या (विरोधी) दो बातें एक ही समय (एक साथ ही) हो सकती हैं—ठठ्ठा मारकर (हर्ष से) हँसना और (क्रोध से) गाल फुलाना ॥५॥ दानी कहाना और कृपणता करना, क्षेम-कुशल और रावतपना (वीरता), ये क्या एक साथ हो सकते हैं? ॥६॥ या तो वचन ही छोड़िये और या तो धैर्य धारण कीजिये, स्त्रियों की नाईं विलाप मत कीजिये ॥७॥ सत्य प्रतिज्ञ के लिये शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, धन और पृथ्वी तृण के समान कहे गये हैं ॥८॥ ऐसे मार्मिक (चुभनेवाले) वचन सुनकर राजा दशरथ ने कहा—(कुछ भी) कह, इसमें तेरा दोष कुछ नहीं है, मेरा काल तुझे पिशाच की तरह लगा है, वही यह वचन कहलाता है ॥३५॥

विशेष—(१) 'जौ अंतहु अस···'—'अंतहु' आदि में भी आपका ऐसा ही न देने का स्वभाव था, यथा—"माँगु-माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।" (दो० २७), अन्त में भी अर्थात् माँगने पर भी जो नहीं ही देना था, तो 'माँगु-माँगु' क्यों कहा? यह भी भाव यहाँ पर कहा जाता है। पर उपर्युक्त अर्थ में 'अंतहु' का अर्थ 'परिणाम' है, वह अधिक संगत है।

(२) 'दुइ कि होइ एक समय भुआला···'—ठट्ठा मारकर हँसने में मुँह खुल जाता है, गाल पचक जाते हैं और ओष्ठ खुल जाते हैं। गाल फुलाने में ओष्ठ मिले रहते हैं, मुँह बन्द हो जाता है। गाल पचके रहें और फूलें भी, ओष्ठ मिले रहें और अलग भी, मुँह बन्द भी रहे और खुला भी, ये सब द्वन्द्व बातें एक साथ नहीं होतीं, ऐसे ही दानी बनना और कृपण होना और वीर बनना फिर कुसल-क्षेम चाहना भी एक साथ नहीं हो सकते। एक समय में दो में से एक ही हो सकता है, अर्थात् हम और कौसल्या एक साथ प्रसन्न नहीं हो सकतीं। दानी बनते हैं तो भरतजी को राज्य दीजिये और वीर बनते हैं तो प्राण का लोभ छोड़िये और राम को वनवास दीजिये। रोइये नहीं, धैर्य धरिये। 'भुआला'—जबसे क्रुद्ध हुई, इसने 'पिय' आदि मधुर सम्बोधन छोड़ दिये। स्वार्थान्ध क्रोधी को अपना-पराया नहीं सूझता, यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयेउँ काल बस बीर।" (लं० दो० ६३)। इसीसे यह राजा को 'तुम' 'राउर' 'भुआल' इत्यादि ही कहती है। 'दानि कहाउब···'—प्रथम 'दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू।'

इसपर लक्ष्य करके दानी कहाना कहती है और अब दो माँगने पर एक को भी दुःख से स्वीकार करते हो, दूसरे पर 'हाँ' नहीं कहते, यह कृपणता मान रही है।

अलंकार—'छेकोक्ति', क्योंकि 'दानि कहाउब···' की पुष्टि में ही 'हँसब ठठाई···' और 'होइ कि ···' ये दोनों लोकोक्तियाँ कही गई हैं।

(३) 'छाँड़हु बचन कि धीरज···'—वचन छोड़ो तो राम को रख लो और जो वचन रक्खो तो धैर्य धारण करो, स्त्रियों की तरह रोओ मत। स्त्रियाँ सहज में ही रो देती हैं, क्योंकि 'अबला' हैं, बलहीन रोवेगा ही। वैसे राजा का—"कहत परम आरत बचन, राम, राम रघुनाथ॥" (दो० ३४), पर अभी रोना है। उसीपर तिरस्कार करती है।

(४) 'तनु तिय तनय धाम···'—कैकेयी ने जो कहा कि—'छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू।' उसीपर डरी कि कहीं वचन छोड़ने ही पर न उद्यत हो जायँ। इसलिये वचन रखने ही को पुष्ट करती है—"सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी" और "सत्य संध तुम रघुकुल माहीं।" (दो० २९), अर्थात् आप रघुवंशी हैं फिर स्वयं भी सत्यसंध हैं, आपने स्वयं कहा है—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरु बचन न जाई॥" (दो० २७), तब आपको तन, तिय, तनय आदि पर ममता नहीं चाहिये, 'तन' को प्रथम कहा, क्योंकि शेष सब इसके ही आश्रित हैं। सत्यसन्ध राजा ऐसा ही करेंगे भी, यथा—"बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ।" (बा० दो० १६), तन त्याग के साथ तत्सम्बन्धियों का त्याग स्वतः हो गया।

(५) 'मरम बचन सुनि राउ···'—इस वचन के उपक्रम में—'पुनि कह कटु कठोर···' कहा गया, उसे ही उपसंहार में 'मरम बचन' कहा गया। मर्म अर्थात् घाव कर देनेवाले वचन वे हैं, जिनसे राम-वनवास पुष्ट किया, उनसे राजा के हृदय में घाव हो गया, पुनः कृपण बनानेवाले वचनों से माहुर भर रही है, कृपण बनाना माहुर भरना हुआ, अब उससे राजा की मृत्यु होगी, इसीपर कहते हैं—

(६) 'लागेउ तोहि पिसाच ···'—अर्थात् हमारा काल ही ऐसे कटु-कठोर एवं उल्टे-पुलटे वचन कहा रहा है, जैसे पिशाच वश होने से लोग बकते हैं, यथा—"बातुल भूत बिवस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥" (बा० दो० ११४), यथा—"भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे। शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा॥" (वाल्मी० २।१२।५७), अर्थात् भूत लगे हुए के समान तुम मेरे सामने ऐसी बातें बोल रही हो, लज्जित नहीं होती। तुम्हारे शील का इतना नाश हो गया है। यह बात मैं पहले नहीं जानता था।

चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे॥१॥
सो सब मोर पाप-परिनामू। भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू॥२॥
सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम-प्रभुताई॥३॥
करिहहिं भाई सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम-बड़ाई॥४॥
तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥५॥

शब्दार्थ—भूपतहि = भूपता को, भूपने को, राज्य-पद को। सुबस = स्वतन्त्र-रूप से, शोभा-युक्त सहित।

अर्थ—भरतजी भूलकर भी राज्यपद को नहीं चाहते, विधाता की प्रेरणा से तेरे हृदय में ही कुबुद्धि बसी हुई है॥१॥ यह मेरे पापों का फल है, जिससे बिना अवसर विधाता टेढ़े हो गये॥२॥ अयोध्यापुरी फिर भी स्वतन्त्र-रूप से शोभायुक्त होकर बसेगी और सब गुणों के धाम श्रीरामजी की प्रभुता होगी (वे राजा होंगे)॥३॥ सब भाई उनकी सेवा करेंगे, तीनो लोकों में श्रीरामजी की प्रशंसा होगी॥४॥ परन्तु तेरा कलंक और मेरा पछतावा तो मरने पर भी नहीं मिटेगा (और) कभी भी नहीं जायगा॥५॥

विशेष—(१) 'चहत न भरत भूपतहि भोरे···'—कैकेयी के वर माँगने पर राजा ने कहा था—"देउँ भरत कहँ राज बजाई।" (दो० ३०), क्योंकि राजा ने सोचा था कि यह जो दूसरा न माँगे, तो मैं जीता रहूँगा और भरतजी को राज्य दूँगा, पर भरतजी न लेंगे तो इसे भी विरोध न रहेगा और मेरा वचन भी रह जायगा। जब कैकेयी ने नहीं ही माना तब राजा ने ठीक-ठीक कह दिया।

(२) 'सो सब मोर पाप परिनामू···'—पाप के फल भोगाने के लिये विधाता वाम हो गये, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१), विधि के वाम होने से तेरे हृदय में कुमति बस गई, यथा—"बिधि बस कुमति बसी जिय तोरे।" और इसी कुमति से मेरा काल तुझसे ऐसे वचन कहला रहा है। यह 'पाप' कौन है? यह आगे सुधि होने पर राजा स्वयं कहेंगे—"तापस अंध साप सुधि आई।" (दो० १५४), काल पर किसीका वश नहीं चलता। वैसे ही इसपर राजा का वश नहीं चलता। 'कुठाहर'—तिलक की तैयारी हो चुकी, प्रातःकाल ही तिलक करना मात्र शेष था, ऐसे अवसर पर विधि को विपरीत न होना था, पर परम हर्ष के अवसर पर महान् शोक कर दिया। पुनः भरतजी भी इस अवसर पर नहीं हैं और मुहूर्त्त के भीतर आ भी नहीं सकते, नहीं तो अवरेव मिट जाता।

(३) 'सुबस बसिहि फिर '—पहले अयोध्या सुहावनी थी, किन्तु अब उजाड़ हो जायगी, यथा—"अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।" (दो० २८), वही दशा आगे होगी, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥" (दो० ८२), फिर श्रीरामजी के लौटने पर 'सुहाई' होगी, यथा—'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी॥" (उ० दो० २), 'सब गुन धाम राम···'—श्रीरामजी दिव्य गुणों के धाम हैं, यथा—"दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः···" (वाल्मी० २।२।२८)। उनका राज्य होगा और तीनो लोकों में उनकी बड़ी बड़ाई होगी, यथा—"राम राज बैठे त्रयलोका। हर्षित भयेउ···" (उ० दो० १९), "सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-मुमुखि सनाहैं।" (गी० उ० १३)।

(४) 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।'—भाव इस कुल की उत्तम रीति ही बरती जायगी, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४), यही होगा, यथा—"सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥" (उ० दो० २४)।

(५) 'तोर कलंक मोर पछिताऊ···'—पछतावा यह कि मैं रामजी को राज्य न दे पाया, यथा—"पुनि न सोच तन रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥" (दो० ३), 'मुयेहु' अर्थात् जीते-भर तो रहेगा ही, मरने पर भी बना रहेगा, यह लंका विजय पर दिव्य रूप से आने पर राजा ने स्वयं कहा है, यथा—"कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥" (वाल्मी० ६।११९।१४) अर्थात् आप (श्रीराम)-के वन भेजने के लिये कैकेयी ने जो-जो वचन कहे हैं, वे मेरे हृदय में आज भी बैठे हैं (अर्थात् हम बराबर पछताते ही रहे)। 'न जाइहि काऊ'—कीर्ति-रूप से कल्पान्त में भी बना रहेगा तथा हमारे हृदय में सदा बना रहेगा, जैसे काकभुशुंडीजी को गुरुजी के अपमान का शूल २७ कल्प तक बना रहा, यथा—"एक सूल मोहिं बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥" (उ० दो० १०९), तथा—"सुखी हरिपुर बसत होत परीच्छितहिं पछिताय।" (वि० २२०)।

अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन-ओट बैठु मुँह गोई॥६॥
जब लगि जियउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥७॥
फिरि पछितइहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥८॥

दोहा—परेउ राउ कहि कोटि बिधि, काहे करसि निदान।
कपट सयानि न कहति कछु, जागति मनहुँ मसान ॥३६॥

शब्दार्थ—निदान=अन्त, नाश, यथा—"देहि अगिनि तन करहि निदाना।" (सुं० दो० ११)।

अर्थ—अब जो तुझे अच्छा लगे वही कर, मेरी आँखों की ओट में, मुँह छिपाकर, बैठ (अर्थात् मैं तेरा मुँह देखना नहीं चाहता) ॥६॥ मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जबतक जीता रहूँ, तबतक फिर तू कुछ न कहना ॥७॥ अरी अभागिनी! तू अन्त में फिर पछतायगी कि जो तू 'नहारू' के लिये गाय को मारती है ॥८॥ राजा करोड़ों प्रकार से यह कहकर कि क्यों नाश करती है, पृथ्वी पर गिर पड़े, वह कपट में प्रवीणा है, इससे कुछ बोलती नहीं, (इस प्रकार चुप साधे वह) बैठे-बैठे मानों श्मशान जगा रही है ॥३६॥

विशेष—(१) 'अब तोहि नीक लाग···'—जो अच्छा लगा एवं लगे वही कर, अर्थात् भरतजी को राज्य दे और रामजी को वन भेज। 'लोचन ओट' अर्थात् जिस मुँह से राम-वनवास माँगा है वह मेरी आँख के सामने न पड़े, भाव राम-विमुख का मुख न देखना चाहिये। अब इसे राजा ने त्याग दिया—

राजा ने कैकेयी को चारों नीतियों से समझाया, यथा—"गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।"—साम, "माँगु माथ अबहीं देउँ···"—दाम, "चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥"—भेद और—"लोचन ओट बैठु मुँह गोई।"—दंड है, क्योंकि सज्जनों की दृष्टि में त्याग और वध समान है, यथा—"त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्॥" (वाल्मी० ७।१०६।१३)।

(२) 'जब लगि जियउँ कहउँ···'—यदि तू हठात् यहाँ से नहीं ही हटे तो जबतक जिऊँ फिर न कुछ कहना। त्याग देने से अब आज्ञा न देकर हाथ जोड़ा। 'जब लगि जियउँ' अर्थात् अब अल्पकाल में ही मरण होगा। भाव इसपर भी कदाचित् हठ छोड़ दे। बार-बार इसने कटु वचन कहे हैं, इसलिये अब हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि जैसे तेरा मुँह देखना नहीं चाहता, वैसे ही मैं तेरी बोली भी सुनना नहीं चाहता।

(३) 'फिरि पछितइहसि अंत···'—राजा का यह अन्तिम वचन इसे शाप की तरह लगा, यथा—"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥" (दो० २५१), 'अभागी'—क्योंकि विधवा होगी, पुत्र भी त्यागेगा, राज्य-सुख भी गया।

(४) 'मारसि गाय नहारू लागी।'—कैकेयी ने कहा है—"तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी॥" (दो० ३४), अर्थात् वर देकर फिर प्राणों का लोभ कैसा? इसके उत्तर में राजा ने कहा है—"चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस···" यही प्रसंग यहाँ तक है, तदनुसार अर्थ होगा कि तू नहारू (नाहर) अर्थात् सिंह के खाने के लिये गाय को मार रही है। अन्त में तुझे पछताना पड़ेगा। सिंह गाय का मांस खाता है, यथा—"गोमुख नाहरनिके न्याय (वि० २२०), अर्थात् गाय-बाघ (सिंह) का विरुद्ध भाव कहा भी जाता है। यहाँ भरतजी सिंह, राजा गाय, श्रीरामजी गाय के प्राण और राजा का शरीर-रूप राज्य ही मांस है। सिंह अपना ही मारा हुआ शिकार खाता है, वह मुर्दाखोर नहीं होता। इसी प्रकार श्री भरत जी अपने ही भाग (प्रारब्ध) को भोगनेवाले हैं, वे दूसरे का भाग राज्य न ग्रहण करेंगे। अतएव भरत-रूपी सिंह के लिये मुझ गऊ के प्राण-रूपी श्रीरामजी को निकालकर राज्य-रूपी मांस देना चाहती है। भरतजी जब राज्य न ग्रहण करेंगे, तब तुझे पछताना ही पड़ेगा। सिंह स्वयं शिकार मार सकता है, वैसे भरतजी स्वयं बाहु-बल से और राज्य ग्रहण कर सकते हैं। 'गाइ' की उपमा में लिंग-विरोध है पर इसकी तरह अन्यत्र भी बहुत उपमाएँ हैं। यथा—"फनिकन्ह जनु···" (बा० दो० ३५७)।

इसके और भी बहुत तरह के अर्थ किये जाते हैं, पर मुझे उपर्युक्त ही ठीक जान पड़ा है। और अर्थ अन्य टीकाओं में देखे जा सकते हैं, विस्तारभय से उन्हें यहाँ नहीं लिखा।

(५) 'परेउ राउ कहि कोटि बिधि···' राजा का एक बार पहले भी भूमि में गिरना कहा गया है—"परेउ धरनि धुनि माथ" (दो० ३४), उसके पीछे कैकेयी ने फिर कटु-कठोर वचन कहा, तब उसे भावी व्यवस्था कहकर समझाने को बैठ गये थे। पुनः व्याकुल होकर गिर पड़े। अतः, फिर—'परेउ राउ' कहा गया। अब सुमन्त्रजी आवेंगे तो पड़े हुए ही पावेंगे—'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ।' फिर वे उठाकर बैठावेंगे—'सचिव उठाइ राउ बैठारे।' यह कहा जायगा।

(६) 'कपट सयानि न कहति···'—'मसान जगाना' मुहावरा है, योगिनी या भूत-प्रेत को सिद्धि करनेवाले तन्त्र-शास्त्र के अनुसार श्मशान (मरघट) में जाकर मुर्दे के शव एवं उसकी खोपड़ी पर बैठकर रात-भर मन्त्र जपते हुए मौन रहते हैं, वहाँ प्रेत बहुत भाँति के शब्द करते हैं, डरवाते हैं और प्रार्थना भी करते हैं। इन बाधाओं में साधक असावधान हो गया, एवं बोल दिया, तो कार्य सिद्धि न होकर वह प्रायः पागल हो जाता है। यदि निर्विघ्न समाप्ति हो जाय तो योगिनी एवं भूत-प्रेत आदि के वश होने की सिद्धि होती है।

यहाँ घर श्मशान है, यथा—"घर मसान परिजन जनु भूता।" (दो० ८२), राजा प्रेत हैं, यथा—"भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेत निवास" (दो० १४७)। श्मशान जगानेवाले से प्रेत विनती करते हैं, वैसे यहाँ राजा कैकेयी से विनती करते हैं—"परेउ राउ कहि कोटि बिधि··" पर श्मशान जगानेवाला नहीं बोलता, वैसे कैकेयी नहीं बोलती। प्रेत की प्रार्थना जगानेवाला मान ले, तो उसका विघ्न हो, वैसे ही कैकेयी राजा की विनय मान ले तो इसके भी मनोरथ में विघ्न हो। वहाँ रात-भर के अनुष्ठान से सिद्धि होती है, वैसे यहाँ भी सन्ध्या समय ही राजा इसके महल में आये, थोड़ी ही देर में इसने वर माँगा, तब से रात पूरी होते ही सवेरे इसकी भी अभीष्ट-सिद्धि होगी। 'कपट सयानि'—राजा ने कहा है—"जब लगि जियउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥" ऊपर से तो इस आज्ञा का पालन करना जनाती है और भीतर से इसका अभिप्राय यह है कि हमारा काम तो उसीसे हो गया, जो राजा ने कहा है—'अब तोहि नीक लाग करु सोई।' अब फिर कुछ बोलने का प्रयोजन ही नहीं। बस, राम यहाँ आवें और मैं उन्हें वन भेजूँ, इसीसे चुप साधे बैठी है। राजा के कहने पर भी (लोचन ओट बैठु) नहीं हटी, क्योंकि सोचती है कि मेरे हट जाने पर ऐसा न हो कि राजा किसी तरह मन्त्रियों को जना दें और वे बाहर ही चुपके से राम को गद्दी दे दें अथवा उन्हें सावधान कर दें, इत्यादि कारणों से उसे 'कपट सयानि' कहा है।

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥१॥
हृदय मनाव भोर जनि होई। रामहि जाइ कहइ जनि कोई॥२॥
उदय करहु जनि रबि रघुकुल गुरु। अवध बिलोकि सूल होइहि उरु॥३॥
भूप-प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई॥४॥

अर्थ—राजा राम-राम रटते हुए व्याकुल हैं मानो बिना पंख के कोई पक्षी बेचैन हो॥१॥ वे अपने हृदय में मना रहे हैं कि सवेरा न हो और कोई जाकर रामजी को कह न दे॥२॥ हे रघुकुल में श्रेष्ठ सूर्य! आप अपना उदय मत करें, (अन्यथा) आपके हृदय में अयोध्या (के दुःख) को देखकर शूल (दुःख) होगा॥३॥ राजा की प्रीति और कैकेयी की निष्ठुरता, दोनों ही सीमा (को प्राप्त) हैं। ब्रह्मा ने दोनों को (स्वयं) रचकर बनाया है॥४॥

विशेष—(१) 'जनु बिनु पंख बिहंग···'—राजा सब उपाय करके हार गये, तब अत्यन्त दीन हो गये, वही दशा इस उपमा से दिखाई, यथा—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ५९)।

(२) 'हृदय मनाव भोर···', यथा—"न प्रभातं तवेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते।" (वाल्मी० २।३३।१७), अर्थात् हे नक्षत्रभूषित निशे! मैं तेरा प्रभात काल नहीं चाहता। मनाते हैं कि भोर न हो, क्योंकि भोर होते ही कैकेयी रामजी को वन भेजेगी, वह कह चुकी है—"होत प्रातमुनि बेष···" हृदय की प्रार्थना विशेष होती है, राजा व्याकुल होने से बोल भी नहीं सकते। पुनः कैकेयी पास बैठी है और वह भोर होने की प्रतीक्षा में है। अतः, प्रकट में उसके विरुद्ध कहने पर वह फिर कटु वचन कहेगी।

'कहइ जनि कोई' अर्थात् मैं तो वचन से न कहूँगा, न अवधवासी ही कोई कहेगा, रही कैकेयी, यही कहेगी अथवा कहलायेगी, किन्तु वह शत्रु है, इससे उसका नाम न लेकर 'कोई' से सूचित करते हैं। किसे मनाते हैं? यह आगे स्पष्ट है—

(३) 'उदय करहु जनि रबि···'—आप इस कुल के गुरु (पुरुषा) हैं। अतः, अपने कुल की रक्षा करनी चाहिये, इसलिये आप अपना उदय न करें, जिससे दिन ही न हो, क्योंकि दिनकर आप ही हैं। अन्यथा इस अपने कुल की व्याकुलता को देखकर आपके भी हृदय में विशेष पीड़ा होगी। कुल-मात्र ही नहीं, किन्तु 'अवध बिलोकि···' अर्थात् अयोध्या-भर व्याकुल हो जायेगी, जिसे आप देख न सकेंगे, (जिस अवध के कौतुक-आनन्द में एक मास का बीतना नहीं जान पड़ा, उसीकी दुर्दशा कैसे देखी जायगी। सूर्य ने सुना क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है, यह सब श्रीरामजी की इच्छा से हो रहा है। अतः, तदनुसार ही सबकी प्रवृत्ति हो रही है। बृहस्पति ने कहा ही है—"तब किछु कीन्ह राम रुख जानी।" (दो० २१७)।

(४) 'भूप-प्रीति कैकइ···'—यहाँ रात्रि-भर के चरित्र का उपसंहार कर रहे हैं, यथा—"बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा।" आगे कहते हैं। इसका उपक्रम—"गवनु निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह॥" (दो० २४), और उपसंहार में भी—"भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि···" कहा है। 'उभय अवधि'—तात्पर्य यह कि ऐसी प्रीति के प्रति निष्ठुरता नहीं रह सकती। पुनः ऐसी निष्ठुरता के प्रति प्रीति नहीं रह सकती, किन्तु दोनों पक्षों की दोनों ही बातें आदि से अन्त तक निबह गईं। राजा ने प्रीति त्याग कर क्रोध नहीं किया और उसने क्रोध छोड़ कर प्रीति नहीं की। इसीपर कहते हैं कि इन्हें ब्रह्माजी ने रचकर बनाया है।

बिलपत नृपहि भयेउ भिनुसारा। बीना - बेनु - संख-धुनि द्वारा॥५॥
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं जनु लागहिं सायक॥६॥
मंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि बिभूषन जैसे॥७॥
तेहि निसि नींद परी नहि काहू। राम-दरस - लालसा - उछाहू॥८॥

दोहा—द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रवि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति, कारन कवन बिसेखि॥३७॥

शब्दार्थ—भिनुसारा (सं० भानु सरण)=सवेरा। सहगामिनि=पति के साथ परलोक को गमन करनेवाली, सती, पंकज आदि की तरह योग-रूढ़ि-द्वारा यह अर्थ है।

अर्थ—विलाप करते-करते राजा को सवेरा हो गया, वीणा, बाँसुरी और शंख की ध्वनि द्वार पर हो रही है॥५॥ भाट लोग विरुदावली पढ़ने और गवैये गुण-गान करने लगे, राजा को सुनते ही वे

मानों बाण-सरीखे लगते हैं ॥६॥ ये सब मंगल राजा को कैसे नहीं सुहाते जैसे पति के साथ सती होने के लिये जानेवाली स्त्री को भूषणादि (साज शृंगार) नहीं प्रिय लगते ॥७॥ उस रात में किसीको नींद नहीं आई, (क्योंकि) सबको रामजी के दर्शनों की लालसा और उत्साह है ॥८॥ द्वार पर सेवकों और मन्त्रियों आदि की भीड़ है, सूर्योदय देखकर वे सब कह रहे हैं कि आज अवधपति श्रीदशरथजी महाराज अभी तक नहीं जागे, न जाने कौन विशेष कारण है ? ॥३७॥

विशेष—(१) 'मंगल सकल सोहाहिं न···'—वीणा, वेणु, और शंख-ध्वनि, भाट आदि का पढ़ना एवं गायकों का गाना, ये सब मंगल हैं, राजा को नित्य प्रातःकाल जगाने के लिये होते हैं। आज राजा इन्हें सुनना नहीं चाहते, पर बरबस कान में पड़ते हैं, तो बाण की नाईं लगते हैं, राजा को हृदय से नहीं सुहाते, जैसे सहगामिनी को विभूषण।

पति के मृतक होने पर सती होनेवाली स्त्री को और लोग सोलहो शृंगार सजाते हैं, पर उसे नहीं सुहाता, क्योंकि जिसके लिये भूषणादि सजना था, वह तो चला (मर) ही गया। वैसे, और लोग मंगल कर रहे हैं, पर वे राजा को नहीं सुहाते, क्योंकि ये जानते हैं कि जिसके लिये मंगल हो रहे थे, वे रामजी तो वन को चलेंगे। पुनः परिणाम में सती को अग्नि में जलकर मरना है, वैसे राजा को विरह-अग्नि में जलकर मरना है, तो सती के भूषण साज की तरह इन्हें मंगल कैसे सुहावें ?

(२) 'तेहि निसि नींद परी नहिं ·'—राम-दर्शन की लालसा है और उनके राज्याभिषेक देखने का उत्साह है, यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होहिं चित चेता॥ सकल कहहिं कब होइहि काली।" (दो० १०), इससे किसीको भी नींद नहीं पड़ी। 'सब काहू' से यहाँ प्रजा-गण-मात्र से प्रयोजन है, कैकेयी-मन्थरा और राजा को छोड़कर। नींद तो इन्हें भी नहीं ही पड़ी, पर इनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न थे, राजा विलपते हुए रात भर जगे, कैकेयी श्मशान जगाने की तरह जगी और मन्थरा भी चिन्ता में रात-भर जगी होगी, यथा—"सो किमि सोव सोच अधिकाई।" (बा० दो० १६९), अर्थात् ऐसा न हो कि भंडा फूटे और मेरी जान जाय।

किन्तु यहाँ—'राम दरस लालसा उछाहू' की दृष्टि से इन तीन से भिन्न लोग हैं, इस तरह कथन को प्रायोवाद कहते हैं, जैसे 'गल्लग्राम' आदि शब्दों का अभिप्राय होता है।

(३) 'द्वार भीर सेवक सचिव···'—इसका उपक्रम—"एक प्रविसहिं एक निर्गमहिं, भीर भूप दरबार।" (दो० २३), से है, वहाँ 'दरबार' का जो अर्थ हुआ, वही यहाँ के 'द्वार' का भी है। यहाँ सवेरा हो गया, इसी समय राम-राज्याभिषेक का मुहूर्त्त है, इसीसे राज-द्वार पर भीड़ है। सेवक-मन्त्री आदि नियत कार्य के लिये उत्सुक हैं, पर बिना राजा की आज्ञा के कुछ कर नहीं सकते, यथा—"जाहु सुमंत जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई॥" आगे कहते ही हैं। 'अजहुँ'—सूर्य उदय हो गये और वे नित पहर-भर रात रहे ही जागा करते थे—"पछिले पहर भूप···" आगे कहा है। 'अवधि पति'—अवध की रक्षा उनके जागने से होती है, यथा—"जानेउ सती जगत पति जागे।" (बा० दो० ५९), "गुरु ते पहिलेहि जगत पति, जागे राम सुजान॥" (बा० दो० २२६), शिवजी और श्रीरामजी ईश्वर हैं, इससे इन्हें 'जगत-पति' कहा और ये जीव हैं। अतः, 'अवध-पति' कहा है। पुनः अवध-भर के लोग जगे हैं, और ये तो अवध-भर के पति हैं, फिर कैसे न जगे ? इसका कोई विशेष कारण है, क्योंकि सामान्य कारणों से ऐसा मोहित नहीं हो सकते। भीड़ का वर्णन वाल्मी० २।१४।३० तथा २।१५।१-२, १२-१३ में है।

पछिले पहर भूप नित जागा। आज हमहि बड़ अचरज लागा॥१॥
जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई॥३॥

गये सुमंत्र तब राउर माँहीं। देखि भयावन जात डेराहीं ॥२॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपति - बिषाद-बसेरा ॥४॥

अर्थ—नित्य ही राजा पिछले पहर (ब्राह्म-मूहूर्त्त) में जागा करते थे, आज (अभी तक न जागना देख) हमें बड़ा आश्चर्य होता है ॥१॥ सुमन्त्र ! जाओ और जाकर राजा को जगाओ, आज्ञा पाकर कार्य किया जाय ॥२॥ तब सुमन्त्रजी (राउर = राजपुर, रावल = राजमहल, अन्तःपुर) अन्तःपुर में गये। उसे भयावन देखकर भीतर जाते हुए डरते हैं ॥३॥ मानों वह दौड़कर खा लेगा, उसकी ओर देखा नहीं जाता, मानों विपत्ति और विषाद ने वहाँ निवास ही कर लिया है ॥ ॥

विशेष—(१) 'आज हमहि बड़ अचरज···'—आज तो और सावधानता चाहती थी, क्या कारण है ? अन्य दिन इस प्रकार होता तो आश्चर्य था, आज तो बड़ा आश्चर्य है। राजा सदाचार की रीति का पालन करते थे, यथा—"न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥" (महा० शान्ति० २४३।६), अर्थात् दिन में और रात के प्रारम्भ पहर तथा रात के पिछले पहर में नहीं सोना चाहिये। पुनः—"अर्द्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा।" (महा० शान्ति० २२८।३९), इसमें आधीरात के पीछे सोने का और दिन में न सोने का विधान है।

(२) 'जाहु सुमंत्र ···'—वृद्ध सुमन्त्रजी ही अन्तःपुर में बेरोक-टोक जा सकते थे, यथा—"तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राज-संमताः। न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥" (वाल्मी० २।१४।४४)।

'कीजिय काज···'—अर्थात् यह कार्य बिना महाराज की आज्ञा के मन्त्री लोग नहीं कर सकते थे।

'जाहु सुमंत्र···'—जाओ और जाकर जगाओ, ऐसा मुहावरा है, यथा—"बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥ जनक सुता कहँ खोजहु जाई।" (कि० दो० २१)। अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

(३) 'देखि भयावन···'—राजा की व्याकुलता से महल भयानक हो गया था, जैसे पुरवासियों की व्याकुलता से आगे अवधपुरी होगी, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी।" (दो० ८२)।

(४) 'धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा'—'धाइ खाइ'—यह मुहावरा है, अर्थात् काल के समान अत्यन्त भयंकर है। 'धाइ खाइ' इससे 'जात डेराहीं' तथा 'देखि भयावन' इससे 'जाइ न हेरा' कहा गया है। पुनः मन्त्री अभी कुछ ही दूरी पर है, अर्थात् धावने-भर की जगह अभी कुछ बीच में है।

'मानहुँ बिपति-बिषाद·····'—विपत्ति-रूपा कैकेयी है, यथा—"बिपति बीज बरषा-रितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥" (दो० २२), और विषाद-रूप राजा हैं, यथा—"तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।" दो० २८), इस भवन में पहले कैकेयी आई, तब राजा आये, उसी क्रम से विपत्ति और विषाद कहे गये। विपत्ति से दुःख होता ही है। 'बसेरा'—इससे सिद्ध है कि ये कुछ दिन (१४ वर्ष) रहेंगे, बसेंगे। जब राजमहल में नहीं समायँगे, तब नगर में और मिथिला देश तथा सारे देश में फैलेंगे, यथा—"नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।" (दो० ४५), एवं "भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू ॥" तथा—"मिथिला अवध बिसेषि ते, जग सब भयउ अनाथ।" (दो० २७०)।

पूछे कोउ न ऊतर देई। गये जेहि भवन भूप कैकेई ॥५॥
कहि जयजीव बैठ सिर नाई। देखि भूपगति गयेउ सुखाई ॥६॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ ॥७॥
सचिव सभीत सकइ नहिं पूछी। बोली असुभभरी सुभ - छूछी ॥८॥

दोहा—परी न राजहि नींद निसि, हेतु जान जगदीस ।
राम राम रटि भोर किय, कहइ न मरम महीस ॥३८॥

आनहु रामहि बेगि बुलाई । समाचार तब पूछेहु आई ॥१॥

अर्थ—पूछने पर भी कोई (कुछ) उत्तर नहीं देता । तब राजा और कैकेयी जिस घर में थे, (सुमन्त्रजी) वहाँ गये ॥५॥ 'जय-जीव' कह वे सिर नवाकर (प्रणाम करके) बैठ गये, राजा की हालत देखकर सूख गये ॥६॥ सोच से व्याकुल कान्ति-हीन राजा पृथ्वी पर पड़े हैं । मानों जड़ से उखड़ा हुआ (जड़-रहित मुरझाया हुआ) कमल पड़ा है ॥७॥ डर के मारे मन्त्री पूछ नहीं सकता, तब अशुभ से भरी हुई और शुभ से रहित कैकेयी बोली ॥८॥ रात में राजा को नींद नहीं पड़ी, इसका कारण जगत् के ईश्वर ही जानें । राजा ने राम-राम रटते हुए भोर कर दिया, भेद नहीं कहते ॥३८ इसलिये रामजी को शीघ्र बुला लाओ, तब फिर आकर समाचार पूछना ॥१॥

विशेष—(१) 'पूछे कोउ न ऊतर देई । '—राजा और रानी एकान्त में हैं, इससे किसीने उत्तर न दिया कि कहीं बतलाकर वहाँ भेजने से हमें दंड न मिले । मन्थरा जानती भी थी, वह स्वार्थ-साधन की गँव से चुप थी । मन्त्री ने किसी लक्ष्य से जाना, तो वे कोप-भवन में गये, (यह भवन राजा के शयनागार के एक भाग में ही रहता है) 'कहि जय जीव···'—वाणी से 'जय जीव' कहा, तन से प्रणाम किया और 'गयउ सुखाई'—शोक से सूख गये, शोक मन का धर्म है । राजा ने व्याकुलता से कुछ न कहा । राजा की दशा देख शोक से भी सिर नीचा करके बैठे ।

(२) 'सोच बिकल बिबरन ··'—पहले राजा के शरीर को कल्पवृक्ष कहा था—"करिनि कलप तरु मनहुँ निपाता ।" क्योंकि वहाँ राजा की उदारता दिखानी थी । यहाँ तन की सुन्दरता कही गई है कि वह शरीर कमल के समान सुन्दर था, पर कान्ति-हीन होकर काला पड़ गया है । जैसे कमल जड़-हीन होने से सूखकर काला पड़ जाता है । यहाँ राजा कमल, श्रीरामजी मूल, उनका वियोग होना उखड़ना और विरह-ताप से विवरण होना सूखना है ।

(३) 'सचिव सभीत सकइ···'—मन्त्रीजी राजा की दशा देखकर डर गये हैं । पूछने में भी डरते हैं कि समाचार पूछने के योग्य है कि नहीं । 'असुभ भरी' अर्थात् अशुभ ही कहेगी, सब झूठ ही कहेगी । तथा राम-तिलक-रूप शुभ से खाली है, वनवास देना-रूप अशुभ की इच्छा से भरी है । मन्थरा की शिक्षा के अनुसार राजा, कौसल्याजी और श्रीरामजी के प्रति दुर्भावना रूपी अशुभ भावनाओं से भरी हुई है और पूर्व के 'प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे', 'मोपर करहिं सनेह बिसेषी' एवं 'कौसल्या सम सब महतारी ।' आदि शुभ भावनाओं से शून्य है । मन्त्री चिन्ता के कारण सिर नीचा करके बैठे हैं, वे सोचते हैं कि यदि कोई रोग आदि होता तो रानी उदास होती, वह तो रूठी-सी है, पुनः कोप-भवन में हैं । अतः, परस्पर कुछ अनबन है । इससे पूछ न सके, पर अपना कार्य साधने के लिये वह स्वयं बोली कि कहीं ये राजा की दशा देख बाहर हो रामजी को राज्य-तिलक कर न दें, ये प्रधान मन्त्री हैं ।

(४) 'परी न राजहि नींद निसि ···'—केवल राम-राम रट रहे थे, और कोई बात बोले ही नहीं, इससे हमें भी नहीं मालूम हो सका । क्यों नींद नहीं पड़ी, इसपर कहती है । 'महीस' हैं । अतः, अपना मर्म छिपाये हुए हैं । हम उनकी प्राणप्रिया हैं, जब हमसे नहीं कहा, तब तुमसे क्या कहेंगे, भाव यह कि व्यर्थ पूछने का प्रयास न करो । महीश के भीतर की बात जगदीश जाने, क्योंकि वे सबके अन्तर्यामी हैं । यह सरासर झूठ बोलकर मर्म छिपाती है, क्योंकि राजा ने सभा में राम-तिलक की

आज्ञा दे ही दी है। ये प्रधान मन्त्री हैं, कहीं बाहर ही रामजी को तिलक न कर दें, क्योंकि सभी एक-मत हैं।

(५) 'आनहुँ रामहि बेगि···'—रामजी ही को बुला लाओ, अर्थात् वे राजा को प्राणों से अधिक प्रिय हैं, उन्हींको रटते थे। अतः, उन्हींसे मर्म कहेंगे। वह चाहती है कि राजा के सामने मैं उन्हें सब सुना दूँ और अंगीकार करा लूँ, अन्यथा ये लोग बीमार जानकर कहीं राजा ही को बाहर ले जायँ, या राजा को बीमारी कहकर बाहर रामजी को तिलक ही कर दें, तिलक का समय भी आ पहुँचा है, इसीसे 'बेगि' भी कहती है। 'आनहु' अर्थात् तुम भी साथ आओ। वह चाहती है कि ये प्रधान मन्त्री हैं। इस संवाद को सुन लें, अन्यथा रामजी वन को जायँगे, तो राजा प्राण ही छोड़ देंगे। राजा के सामने वरदान की सत्यता इन्हें भी मालूम हो जाय, तो ये ही लोग फिर पीछे भरतजी को तिलक करेंगे। 'बेगि' का यह भी भाव है कि राजा को पीड़ा अधिक जान पड़ती है, देर होने से न जाने क्या हो जाय। रामजी कोई उपाय कर सकें तो आकर करें। भीतर इसके यह भी है कि मैंने 'होत प्रात मुनि बेष···' कहा है, अन्यथा तदनुसार मुझे मरना पड़ेगा। अतः, शीघ्र ही रामजी आवें, वे स्वीकार कर लें तो वह भय न रहे।

चलेउ सुमंत्र राय-रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी ॥२॥
सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहिं बोलि कहिहि का राऊ ॥३॥
उर धरि धीरज गयेउ दुआरे। पूछहिं सकल देखि मन मारे ॥४॥
समाधान करि सो सब ही का। गयेउ जहाँ दिनकर-कुल-टीका ॥५॥

अर्थ—राजा का रुख जानकर सुमन्त्रजी चले, उन्होंने समझ लिया कि कुछ कुचाल रानी ने की है ॥२॥ सुमन्त्रजी शोक से व्याकुल हो गये हैं, मार्ग में उनका पैर नहीं पड़ता, (मन में सोचते हैं) कि राजा रामजी को बुलाकर क्या कहेंगे ? ॥३॥ वे हृदय में धैर्य धरकर द्वार पर गये, इन्हें उदास देखकर सब लोग पूछने लगे ॥४॥ वे सबका सन्देह निवारण करके वहाँ गये, जहाँ सूर्यकुल के तिलक (सुशोभित करनेवाले) श्रीरामजी थे ॥५॥

विशेष—(१) 'चलेउ सुमंत्र राय-रुख ··'—रानी ने श्रीरामजी को शीघ्र बुलाना कहा, तब सुमन्त्रजी ने राजा की ओर देखा तो उनकी कुछ वैसी चेष्टा से रुख जान गये, क्योंकि दिन-रात राजा का रुख देखते रहते थे, इससे जान गये। पर कुचाल को यथार्थ न जान पाया। वनवास देने की उसकी नियत जानते तो ये कभी श्रीरामजी को वहाँ लाकर सामना न कराते, वश-भर कोई उपाय करते।

वाल्मी० २।१४।६१-६२ में कहा है कि कैकेयी के कहने पर सुमन्त्रजी ने राजा की आज्ञा के लिये अनुरोध किया, तब राजा ने भी अनुमति दे दी, तब गये।

राजा तो मनाते थे, भोर न हो, रामजी को मालूम न हो, फिर श्रीरामजी को बुलाने में रुख क्यों दिया ? इसका उत्तर यह है कि वे सोचते हैं कि अब तो रामजी जामेंगे ही और फिर वन जायँगे ही। भला आवें, देख तो लूँ, यथा—"सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।" (वाल्मी० २।१४।६३), 'लखी'—भाव यह कि रानी तो राजा को परम प्रिय थी, इससे मर्म क्यों छिपाते, फिर यहाँ कोई भी नहीं था। अतः, इसकी बातों में कपट मालूम होता है। 'कछु'—क्योंकि मन्त्री ठीक न जान सके।

(२) 'सोच बिकल'—राजा की दशा, रानी की कुचाल और नियम-विरुद्ध श्रीरामजी के बुलाये जाने को सोचते जाते हैं, इससे व्याकुल हो गये हैं।

(३) 'उर धरि धीरज गयेउ···'—द्वार पर गये, क्योंकि वहीं से भेजे गये थे। सब इनकी राह

देख रहे थे। इसीलिये 'दुआरे' लिखा गया, अन्यथा श्रीरामजी के यहाँ जाना लिखा जाता। 'पूछहिं सकल'—इन्हें पहले केवल न जागने ही का शोच था, अब सुमन्त्रजी को उदास देख अधिक डर गये। अतः, सभी पूछने लगे। 'मन मारे'—पहले 'मग परइ न पाऊ' से तन के द्वारा भी चिह्न था। पर धैर्य धरकर द्वार पर आये तो केवल मन की उदासीनता रह गई। वही देखी गई।

(४) 'समाधान करि सो···'—वाल्मी० २।१५।१६-१८ में सुमन्त्रजी ने इस तरह सबको समाधान किया है कि मैं राजा की आज्ञा से श्रीरामजी को बुलाने जाता हूँ।···तो आकर राजा के अभी तक यहाँ न आने का कारण पूछता हूँ···।

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदर कीन्ह पिता-सम लेखा ॥६॥
निरखि बदन कहि भूप-रजाई। रघुकुल-दीपहि चलेउ लिवाई ॥७॥
राम कुभाँति सचिव संग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं ॥८॥

दोहा—जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाज।
सहमि परेउ लखि सिंहिनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराज ॥३६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सुमन्त्रजी को आते हुए देखा तो उन्हें पिता के समान समझकर उनका आदर किया ॥६॥ (सुमन्त्रजी ने श्रीरामजी का) मुख देखकर राजा की आज्ञा कही और रघुकुल के दीपक-रूपी श्रीरामजी को लिवा ले चले ॥७॥ श्रीरामजी बुरी तरह से मन्त्री के साथ जा रहे हैं, लोग यह देखकर जहाँ-तहाँ दुःखी हो रो रहे हैं ॥८॥ रघुकुल के शिरोमणि श्रीरामजी ने वहाँ जाकर देखा कि राजा बिल्कुल कुसाज (अस्त-व्यस्त) पड़े हैं। मानों कोई बूढ़ा गजराज सिंहनी को देख डरकर गिर पड़ा हो ॥३६॥

विशेष—(१) 'आवत देखा'—सुमन्त्रजी सोच में नीचे दृष्टि किये जाते थे, इससे इन्होंने नहीं देखा। श्रीरामजी व्यवहार प्रवीण हैं। अतः, इन्होंने ही देखा। जहाँ से सुमन्त्रजी देख पड़े, वहीं चलकर मिले और पिता के समान सम्मान करते हुए लाये, क्योंकि ये पिता के सखा हैं। अतः, उनके समान हैं।

(२) 'निरखि बदन कहि···'—इनमें सुमन्त्रजी का वात्सल्य भाव है, इससे मुख देखना कहा गया, यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे। (बा० दो० ३५७), मुख देखकर ही राजा की आज्ञा सुनाई, अर्थात् शीघ्रता की आज्ञा है। अतः, बैठे नहीं।

(३) 'राम कुभाँति सचिव···'—श्रीरामजी संयम से थे, वैसे ही पैदल चल पड़े, मन्त्री आगे है, श्रीरामजी ने कुछ शृङ्गार भी नहीं किया है। इसीसे लोग दुखी होते हैं कि आज तो इन्हें सवारी पर शृङ्गार-सहित आना चाहिये। मन्त्री आदि पीछे-पीछे चलते, क्या बात है, कुछ अनर्थ जान पड़ता है। कुभाँति का भाव वाल्मी० २।२६।१२-१७ में स्पष्ट है।

(४) 'जाइ दीख रघुबंस-मनि···'—ऊपर 'रघुकुल दीपहि' कहा गया, वैसे यहाँ 'रघुबंस मनि' कहा है, मणि और दीप का थोड़ा प्रकाश होता है, उससे थोड़ी दूर का अन्धकार दूर होता है, वैसे राजा का शोक-रूपी तम थोड़ा ही दूर करेंगे, सम्पूर्ण नहीं, इनके दर्शनों से कुछ क्षणों का सुख होगा। सूर्य नहीं कहा, क्योंकि सम्पूर्ण शोक-रूपी तम नहीं निवृत्त करेंगे। सूर्य स्वतः उदय होते एवं चलते हैं, दीप और मणि दूसरे के द्वारा लाये जाते हैं, वैसे इन्हें सुमन्त्रजी लाये हैं। दीपक के हटा दिये जाने से अँधेरा हो जाता है, वैसे इनके वन जाने से अब रघुकुल में अँधेरा हो जायगा। 'कुसाज'—छत्र, चँवर, पलग आदि नहीं हैं, पृथ्वी पर पड़े हैं। कैकेयी सिंहनी है, राजा बड़े शरीरवाले हाथी के समान हैं, वृद्ध भी हैं ही। पुनः प्रतिज्ञा में फँसने से भागकर भी बच नहीं सकते, युवा हाथी हों तो भागें भी।

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहु दीन मनिहीन भुअंगू ॥१॥
सरुख समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीच घरी गनि लेई ॥२॥
करुनामय मृदु राम-सुभाऊ। प्रथम दीख दुख सुना न काऊ ॥३॥
तदपि धीर धरि समय बिचारी। पूछी मधुर बचन महतारी ॥४॥

अर्थ—राजा के ओष्ठ सूख रहे हैं और उनका सारा शरीर जल रहा है, मानों मणि-हीन होने से सर्प दीन हो ॥१॥ समीप में ही क्रोध से भरी हुई कैकेयी को देखा, मानों वह मृत्यु है, (राजा की मृत्यु की) घड़ियाँ गिन रही है, (समय पूरा होने पर प्राण) लेगी ॥२॥ श्रीरामजी का कोमल और करुणामय स्वभाव है, पहले-पहल उन्होंने दुःख देखा है अभीतक कभी सुना भी नहीं था ॥३॥ तो भी उन्होंने समय विचारकर धैर्य धारण किया और माता कैकेयी से मधुर वचनों से पूछा ॥४॥

विशेष—(१) 'सूखहिं अधर जरइ सब·····'—राम विरह अग्नि-रूप है, उससे अंग जलते हैं और ओष्ठ सूख रहे हैं, यथा—"बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँहि सरीरा ॥" (गुं० दो० ३०)। मणि सर्प का धन है, उसके बिना वह दीन हो जाता है, वैसे राजा भी दीन हैं। राजा ने कैकेयी से कहा था—"जियइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियइ दुख दीना ॥" (दो० ३२), उसे यहाँ अपनेमें चरितार्थ किया, यथा—"कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी ॥" (दो० ३४), "सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भूअंगू ॥"

(२) 'सरुख समीप·····मानहुँ मीच ···'—कैकेयी से राजा ने कहा था—"लोचन ओट बैठु मुँह गोई।" (दो० ३५), पर उसने नहीं माना, समीप बैठी ही है। मानों वह मृत्यु है, समीप आ गई है, बस, कुछ ही घड़ियों में लेगी, अर्थात् राजा अल्पकाल ही जियेंगे। बिना घड़ी पूरी हुए मृत्यु मार नहीं सकती, इसलिये गिन रही है। घड़ी अल्पकाल का वाचक है, यथा—"मुए मरत मरि हैं सकल, घड़ी पहर के बीच।" (दोहावली २२४)।

(३) 'करुनामय मृदु राम ·····'—करुणा मन का वह विकार है, जिससे आश्रित एवं दूसरे के दुःख को देखकर अपनेको दुःख हो और उसकी पीड़ा-निवारण का तुरत उपाय करे। श्रीरामजी का स्वभाव तो करुणामय है, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई ॥" (दो० ८४), रामजी स्वयं मृदु हैं और आश्रितों के लिये करुणामय हैं। 'प्रथम दीख दुख····'—महाराजाओं के लड़कों के लिये बचपन से ही ऐसा प्रबन्ध रहता है कि वे खेद-जनक बातें देखने-सुनने न पावें। इससे महाराज कुमार को आज पहले-ही-पहल एकाएक महान् खेद-जनक दुःख का दृश्य आ पड़ा। फिर स्वयं करुणामय और मृदु-स्वभाव भी हैं। अतः, असह्य दुःख हुआ, यथा—"अंब एक दुख मोहि बिसेषी। निपट बिकल नर नायक देखी ॥" (दो० ४१), 'तदपि धीर धरि'—यद्यपि धैर्य धरना कठिन था, तो भी 'समय बिचारी' अर्थात् इस समय पिता दुःखित हैं, हमें धैर्य करके उनके दुःख दूर करने का उपाय करना चाहिये। महतारी से ही पूछा, क्योंकि पिता तो विकल ही हैं, नहीं तो उन्हींसे पूछते। 'मधुर बचन'—क्योंकि आप सदा मधुर ही बोलते हैं। पुनः, मधुर वचनों से पूछने पर माताजी अच्छी तरह कहेंगी।

मोहि कहु मातु तात-दुख-कारन। करिय जतन जेहि होइ निवारन ॥५॥
सुनहु राम सब कारन येहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥६॥
देन कहेन्हि मोहिं दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना ॥७॥

सो सुनि भयेउ भूप-उर सोचू। छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू ॥८॥

दोहा—सुत-सनेह इत बचन उत, संकट परेउ नरेस।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेस ॥४०॥

अर्थ—हे माता! मुझसे पिताजी के दुःख का कारण कहो, (वैसा) उपाय किया जाय, जिससे वह निवृत्त हो ॥५॥ (कैकेयी ने कहा) हे राम! सुनो, सब कारण ये ही हैं कि राजा का तुमपर बहुत स्नेह है ॥६॥ मुझे इन्होंने दो वरदान देने को कहा, जो कुछ मुझे अच्छा लगा, वह मैंने माँगा ॥७॥ उसे सुनकर राजा के हृदय में सोच उत्पन्न हुआ, (क्योंकि) वे तुम्हारा संकोच छोड़ नहीं सकते ॥८॥ इधर तो पुत्र-स्नेह है और उधर वचन, राजा संकट में पड़े हुए हैं, (आज्ञा-पालन) कर सकते हो, तो उसे शिरोधार्य करो और इनके कठिन क्लेश को मिटा दो ॥४०॥

विशेष—(१) 'मोहि कहु मातु तात·····'—श्रीरामजी ने दुःख का कारण पूछा और उसका उपाय करने को कहा। 'मृदु स्वभाव' से दुःख का कारण पूछा और 'करुणामय स्वभाव' से उसे निवारण करने को कहते हैं। 'मोहि कहु'—सुमन्त्र जी से नहीं कहा तो मुझसे तो कहो जिससे मैं उपाय करूँ।

(२) 'सुनहु राम सब कारन ·····'—कैकेयी उत्तर देती है, सारांश यह कि दुःख के कारण तुम्हीं हो और उसका मिटाना भी तुम्हारे ही हाथ है। 'सब कारन'—दुःख के कई कारण हैं। उन सबका कारण तुम्हारे प्रति अति-स्नेह ही है। उन कारणों को आगे कहती है—

(३) 'देन कहेन्हि मोहिं·····'—'देन कहेन्हि' अर्थात् अपनी ओर से देने को कहा था, तब मैंने माँगा। 'मोहि सोहाना'—दूसरे को भले ही न सुहायँ, पर मुझे तो वे ही सुहाये।

(४) 'सो सुनि भयेउ भूप·····'—भाव यह कि तुम अपनी ओर से कर चलो, तो वह पूरा हो सकेगा, अन्यथा तुम्हारा संकोच छोड़कर वे तुमसे वह करने को नहीं कह सकते। संकोच का कारण ऊपर कह आई—'तुम्ह पर बहुत सनेहू' अर्थात् स्नेह ही से संकोच में पड़कर वे वचन पूरा करने के संकट में पड़े हैं।

(५) 'सुत-सनेह इत बचन ·····'—न तो पुत्र-स्नेह ही छोड़ सकें और न अपने वचन मिटा सकें। 'सकहु त'—इसे विश्वास नहीं है कि ये अपनी इच्छा से राज्य छोड़कर वन जाना स्वीकार करेंगे, इसीलिये पहले ही इन्हें भी वचन-बद्ध करके तब उसे स्पष्ट करना चाहती है। 'आयसु धरहु सिर'—पिता की आज्ञा-पालन बड़ा धर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४), इसे करो, यह परम धर्म होगा। 'सुत सनेह' इस लोक का सुख है और 'वचन' का पालन (सत्य धर्म) परलोक सुख का साधन है, तुम्हें छोड़ते हैं तो इस लोक का सुख जाता है और वचन छोड़ने से परलोक। दोनों कैसे बनें, राजा इस असमंजस में पड़े हैं। सुपूत हो तो आज्ञा मानकर उनका परलोक बनाओ और संकट दूर करो। कैकेयी के वचनों में अन्तर्भाव यह है कि राजा इस संकोच से तुमसे नहीं कहते कि न जाने तुम उसे करो या न करो—वाल्मी० २।१८।२५-२६ में ऐसा ही कहा है। इस तरह वह इन्हें प्रतिज्ञा-बद्ध कराना चाहती है।

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी ॥१॥
जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना ॥२॥
जनु कठोरपन धरे सरीरू। सिखइ धनुष-बिद्या बर बीरू ॥३॥

सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ॥४॥
मन मुसुकाइ भानु-कूल-भानू। राम सहज - आनंद - निधानू ॥५॥

अर्थ—कैकेयी बेधड़क (निडर) बैठी हुई कड़वे वचन कह रही है, जिन्हें सुनकर (मूर्त्तिमान्) कठिनता भी अत्यन्त अकुला गई ॥१॥ (रानी की) जीभ धनुष है, वचन उनके बाण हैं, मानों राजा दशरथ ही कोमल निशाने के समान हैं ॥२॥ मानों कठोरपन ही एक अच्छे शूर-वीर का शरीर धारण कर धनुर्विद्या सीख रहा है ॥३॥ वह सब प्रसंग (व्योरा) श्रीरघुनाथजी को सुनाकर बैठ गई, मानों शरीर धारण किये हुए निष्ठुरता बैठी है ॥४॥ सूर्यकुल के (प्रकाशक) सूर्य श्रीरामजी मन में मुस्कुराते हैं, क्योंकि ये तो स्वाभाविक ही आनन्द के भण्डार हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निधरक बैठि कहइ···'—राजा का उसे कुछ भी डर नहीं है, वह कटु वाणी बोलती जाती है, यथा—"उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥" (वाल्मी० १।१८।३१)। मन्थरा ने इसे कुपाठ पढ़ाकर कठिन कर दिया है—"कोन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" (दो० १९), इसीसे इतनी कठोर हो गई है कि इसके वचनों को सुनकर मूर्त्तिमान् कठिनता भी अत्यन्त घबरा जाती है कि यह तो मुझसे भी कहीं अधिक कठोर है। कटु वाणी का रूपक आगे कहते हैं—

(२) 'जीभ कमान बचन सर नाना ···'—धनुष से तीर निकलते हैं, वैसे जीभ से वचन निकल रहे हैं। तीर चलाने में धनुष लचता है, वैसे बोलने में जीभ भी लचती है। 'बचन सर', यथा—"तुलसी तेउ खल बचन सर, हृये न गये पराइ।" (दोहावली ४०२)। "लगे बचन जनु बान।" (बा० दो० २५२), "बचन बान-सम लागहि ताही।" (दो० ४८)। 'मनहुँ महिप मृदु लच्छ'—पहले कोमल निशाने पर ही तीर चलाना सीखा जाता है। वह तृण आदि से बनी हुई पुरुषाकार प्रतिमा टटटी की होती है और उसके पीछे एक कठोर दीवार आड़ के लिये होती है। तीर टटटी को बेधकर दीवार में अड़ जाता है। यहाँ मृदु लक्ष्य (तृण का) राजा हैं और कठोर लक्ष्य (दीवार) श्रीरामजी हैं। वचन श्रीरामजी के प्रति कह रही है, पर उनसे राजा का कोमल हृदय वेधा जाता है। श्रीरामजी को उन वचनों का कुछ भी आघात नहीं होता, यथा—"रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाये ॥" (दो० ४२)।

(३) 'जनु कठोरपन धरे सरीरू। ···'—कठोरपन के दया नहीं होती, वैसे ही कैकेयी के हृदय में दया नहीं है। सीखने में बार-बार तीर चलाये जाते हैं, वैसे यह बार-बार कटु-वचन कह रही है। कठोरपन ही इसके मुख से ऐसे निष्ठुर वचन कहला रहा है। 'बर बीरू'—अर्थात् तीक्ष्ण और अत्यन्त कठोर प्रहार होते हैं, एक बार भी खाली नहीं जाते। कठोरपन के शरीर नहीं होता। अतः, शरीर धरना कहा, नहीं तो धनुषबाण लेना कैसे कहा जा सकता ?

(४) 'सब प्रसंग रघुपतिहि···'—वह इस उद्देश्य में थी कि ये भी पिता की आज्ञा-पालन की प्रतिज्ञा कर लें तब कहूँ, जैसे वाल्मी० २।१८।२६-३० में है। इसीसे पहले—'माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना।' यह कपट से कहा था। पर जब श्रीरामजी सब कारण सुनने की प्रतीक्षा से चुप ही रहे, तब इसने सब प्रसंग सुनाया। 'तनु धरि निठुराई' अर्थात् पूर्ण निष्ठुरता बिना यह प्रसंग कहा जाना असम्भव था। यहाँ कैकेयी के मन, वचन, कर्म, तीनों में निष्ठुरता प्रकट हुई, यथा—'निधरक बैठि···"—निडर होना, मन की निष्ठुरता, "सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।"—यह वचन की और "बैठि मनहु तनु धरि निठुराई।"—यह तन (कर्म) की निष्ठुरता है।

(५) 'मन मुसुकाइ भानु-कुल-भानू···'—श्रीरामजी स्वाभाविक आनन्द के निधान हैं, उन्हें भी दुःखी करना चाहती है कि तिलक से सुखी रहे होंगे, वह कसर निकाल लूँ। इसपर श्रीरामजी मन में मुसकाते हैं कि कैसी अनधिकार चेष्टा है। वा, सरस्वती के कौतुक पर हँसे कि कैसा मोहित किया है।

अपने अभीष्ट सिद्धि पर मन में मुस्कुराये, यथा—"तेल बोरि पट बाँधि···बचन सुनत कपि मन मुसुकाना।···" (सुं० दो० २४), मेरा कुल भी अनुचित से बचा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू।" (दो० ९), पर इसका मनोरथ नहीं सिद्ध होगा, कलंक-भर ही हाथ लगेगा।

'भानु-कुल-भानू'—श्रीरामजी के विशेषण क्रमशः अधिकता-बोधक कहे गये हैं, यथा—'दिनकर कुल टीका', 'रघुकुल दीपहि ··', 'रघुबंसमनि' और 'भानु-कुल-भानू।' इनमें टीका से दीप में और उससे अधिक मणि की उपमा में श्रेष्ठता है। जब अन्तःपुर में रहे, तब 'टीका', वहाँ से बाहर चले, तब 'दीप' और राजा के पास पहुँचे, तब 'मणि' कहा गया। अब यहाँ संसार-भर के कल्याण-कार्य में नियुक्त हो रहे हैं, तब 'भानु' कहे गये, क्योंकि दीपक और मणि से घर ही में प्रकाश होता है और सूर्य से संसार-भर में। वैसे ही वनवास से जगत्-भर का कल्याण करेंगे।

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग-बिभूषन ॥६॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी ॥७॥
तनय मातु-पितु-तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥८॥

दोहा—मुनिगन मिलन बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥४१॥

अर्थ—श्रीरामजी सब दोषों से रहित वचन बोले। वे वचन ऐसे कोमल और सुन्दर हैं कि मानों सरस्वती के भूषण ही हैं ॥६॥ हे माता! सुनो, बड़ा भाग्यवान् वही पुत्र है, जो पिता और माता के वचनों में अनुराग रखता है ॥७॥ हे माता! माता-पिता को सन्तुष्ट करनेवाला पुत्र मिलना सारे संसार-भर में दुर्लभ है ॥८॥ हे माता! वन में विशेष रूप से मुनिगणों से मिलना होगा, उसमें मेरा सब प्रकार से भला है। उसमें भी पिता की आज्ञा है और फिर तुम्हारा सम्मत है, (यह तो बहुत ही श्रेष्ठ है) ॥४१॥

विशेष—(१) 'बोले बचन बिगत सब···'—कैकेयी के तीक्ष्ण वचनों से श्रीरामजी के हृदय में कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ। इसीसे उनके वचनों में दोष नहीं आया, यथा—"क्रोध के परुष वचन बल" (अर० दो० ३८)। किन्तु वचन मृदु-मंजुल ही कहे गये। ऐसे ही वचनों से वाणी की शोभा होती है। अतः, ये वचन वाग्विभूषण अर्थात् वाग्देवी के सौभाग्य-तिलक हैं। 'मृदु' सुनने में और 'मंजुल' अर्थ समझने में हैं। इनमें कैकेयी के कठोर वचनों की अपेक्षा में मृदुता है और निष्ठुरता की अपेक्षा में मंजुलता है। पुनः—'जीभ कमान बचन सर नाना' की अपेक्षा में ये वचन 'बाग-बिभूषन' हैं।

(२) 'सुनु जननी सोइ सुत···'—'बड़ भागी' अर्थात् सामान्य धर्म करनेवाला 'भागी' (भाग्यवान्) है और सर्वश्रेष्ठ धर्म पिता की आज्ञा पालनेवाला 'बड़भागी' है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४), 'बचन अनुरागी' अर्थात् जो चाहता रहता है कि मुझे कुछ आज्ञा हो, 'सोइ'—वही, दूसरा नहीं।

(३) 'तनय मातु-पितु···'—पुत्र तो माता-पिता की आज्ञा पालने से बड़भागी होता है। माता-पिता को सन्तुष्ट करनेवाला पुत्र हो। यह बात माता-पिता को भी दुर्लभ है, अर्थात् ऐसे पुत्र से उसके माता-पिता भी बड़भागी होते हैं। इस तरह अन्योन्य-भाग्य-सापेक्ष्य कहा है। 'सकल संसारा' अर्थात् ग्राम, जिला, प्रान्त, देश की कौन गिनती. सारे संसार में दुर्लभ है। गृही के तो माता-पिता सर्वस्व हैं ही, संन्यासी के लिये भी उनका सन्तुष्ट रखना आवश्यक है, यथा—"सन्यस्ताखिल कर्मापि पितुर्वन्द्यो हि मस्करी। सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः। इदमेव तपोऽत्युग्रमिदमेव परं व्रतम्। अयमेव परो धर्मो यत्पित्रोः परितोषणम्॥" (स्कन्द पु० काशी० पू० ११।५०-५१), अर्थात् समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग)

करनेवाले संन्यासी के द्वारा भी पिता वन्दनीय है। उस सर्ववन्द्य संन्यासी को भी यत्नपूर्वक अपनी माता के चरणों की वन्दना करनी चाहिये। यही अत्यन्त उग्र तपस्या है, यही सर्वश्रेष्ठ व्रत है और सर्वोत्तम धर्म है जो पिता-माता को सन्तुष्ट किया जाय।

(४) 'मुनिगन मिलन बिसेषि···' मुनि वसिष्ठ-वामदेव आदि यहाँ भी रहते हैं, पर वन में विशेष मिलेंगे। दिन-रात उन्हींका संग रहेगा, यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर।" (अर० दो० १२), "लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुचंद।" (दो० २३९)। वन में वात्सल्यरसवाली शबरी और गृध्र, सख्य रस के सुग्रीव, विभीषण आदि और दास्यरस के हनुमान आदि एवं शान्तरसवाले ऋषि-मुनि बहुत मिलेंगे। शृंगाररस-निष्ठावाली श्रीजानकीजी भी हैं ही। 'सबहि भाँति हित', यथा—"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ।" (बा० दो० २), तथा—"बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू।" आगे कहते ही हैं। 'तेहि महँ' अर्थात् उससे भी श्रेष्ठ 'पितु आयसु' है। 'बहुरि' अर्थात् फिर उससे भी श्रेष्ठ तुम्हारी सम्मति है। भाव यह कि मुनियों से अधिक पिता और पिता से अधिक माता का गौरव है, यथा—"उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रन्तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥" (मनुस्मृति २।१४५)। इस प्रकार अपना उत्तरोत्तर अधिक हित होना कहा है।

भरत प्रानप्रिय पावहि राजू। बिधि सबबिधि मोहि सनमुख आजू॥१॥
जौ न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥२॥
सेवहिं अरँड कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहि बिष माँगी॥३॥
तेउ न पाइ अस समय चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं॥४॥

अर्थ—प्राण प्यारे भरत राज्य पावें, आज विधाता सब तरह मुझे सम्मुख (अनुकूल) हैं॥१॥ जो ऐसे भी कार्य (लाभ) में वन को न जाऊँ तो मूर्खों की समाज में मुझे सबसे बड़ा मूर्ख समझना चाहिये॥२॥ जो कल्पवृक्ष को छोड़कर रेंड़ के पेड़ की सेवा करते हैं और अमृत को छोड़कर विष माँग लेते हैं॥३॥ वे भी ऐसा समय पाकर नहीं चूकते, हे माता! इसे मन में विचार कर देखो॥४॥

विशेष—(१) 'भरत प्रान प्रिय पावहि ···'—'प्रान प्रिय' यथा—"यथा भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥" (वाल्मी० २।२६।३३), लोग प्राणों के सुख के लिये यत्न करते हैं, मेरे प्राण-प्रिय के लिये मेरे यत्न किये बिना ही राज्य-सुख प्राप्त होगा। सब प्रकार से यही ब्रह्मा की अनुकूलता है। यहाँ श्रीरामजी ने चार बातों से चारों फलों की प्राप्ति दिखाई। १—'मुनिगन मिलन' से मोक्ष, यथा—"संत संग अपवरग कर" (उ० दो० ३३), २—'पितु आयसु' से धर्म, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका" (दो० ५४), ३—'संमत जननी तोर'—वन-यात्रा है, इस कामना की सिद्धि एवं भूभार हरण होगा। अतः, काम और 'भरत पावहि राजू'—से अर्थ, क्योंकि प्राण-प्रिय का सुख अपना ही है। यों भी है कि १४ वर्ष पर लौटेंगे तो दशगुणा कोश (खजाना) पावेंगे वाल्मी० ६।१२७।५३ देखिये। यह अर्थ-वृद्धि भरतजी के शासन से होगी, 'आजू' अर्थात् ये चारों बातें आज ही घटित हुई हैं, नहीं तो हम तो पछताते थे—'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।'

(२) 'जौ न जाउँ बन···'—पहले वन जाने के गुण कहे, अब न जाने के दोष कहते हैं। 'मूढ़ समाजा' अर्थात् हजार पाँच सौ के समूह में सबों से अधिक अर्थात् मूढ़तम समझा जाऊँ। आगे मूढ़ का लक्षण कहते हैं—

(३) 'सेवहिं अरँड···'—इन मूढ़ों को कल्पतरु और अमृत के गुण एवं लाभ न समझ पड़े और रेंड़ और विष के अवगुण एवं हानि भी न समझ पड़ीं। ऐसे मूढ़ भी समय पाकर नहीं चूकते तो मैं क्यों

चूकूँ । रेंड़ के समान प्रवृत्ति मार्ग हैं। उसका फल विषय है, विषवत् परिणामवाला है, यह फल बहुत थोड़ा है, यथा—"स्वर्गउ स्वल्प ···" (उ० दो० ४३), कल्पतरु निवृत्ति मार्ग है उसका फल अमृत-रूप ज्ञानोपासना है। प्रवृत्ति मार्गवाले भी थोड़े प्रयास में बहुत लाभ होता देख नहीं चूकते तो मैं ऐसे परम लाभ को, जिसमें चारो फल प्राप्त हो रहे हैं क्यों छोड़ूँगा, अर्थात् अवश्य वन जाऊँगा। यह—'सकहु त आयसु धरहु सिर' का उत्तर है।

अंब एक दुख मोहि बिसेखी। निपट बिकल नारनायक देखी ॥५॥
थोरिहि बात पितहिं दुख भारी। होत प्रतीति न मोहि महतारी ॥६॥
राउ धीर गुन-उदधि-अगाधू। भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू ॥७॥
जाते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ ॥८॥

दोहा—सहज सरल रघुबर-बचन, कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जिमि बक्रगति, जद्यपि सलिल समान ॥४२॥

अर्थ—हे माता! राजा को नितान्त व्याकुल देखकर मुझे यही एक विशेष दुःख हो रहा है ॥५॥ थोड़ी ही बात के लिये पिताजी को भारी दुःख हो, यह मुझे विश्वास नहीं होता, हे माता! ॥६॥ राजा धैर्यधारी और गुणों के अगाध समुद्र हैं, मुझसे कोई बड़ा भारी अपराध (अवश्य) हो गया है ॥७॥ जिससे महाराजा मुझसे कुछ नहीं कहते, तुम्हें मेरी शपथ है, सत्य ही कहो ॥८॥ रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी के सहज ही सीधे वचनों को दुर्बुद्धि कैकेयी ने टेढ़ा करके जाना। जैसे, यद्यपि जल समान (सीधा) ही रहता है, तथापि जोंक उसमें भी टेढ़ी ही चाल से चलती है ॥४२॥

विशेष—(१) 'अंब एक दुख मोहि···'—राज्य छूटने और वचन जाने का दुःख नहीं है, केवल एक ही बात का दुःख है कि राजा अत्यन्त व्याकुल हैं।

(२) 'थोरिहि बात पितहिं···'—श्रीरामजी ने वन जाने में अपना बड़ा लाभ कहा है, उस दृष्टि से इन्हें १४ वर्ष वनवास थोड़ी ही बात है, फिर आगे भरतजी ने—"कानन करउँ जनम भरि बासू।" (दो० २५५) , कहा है, तब उनसे बड़े के लिये १४ वर्ष का थोड़ा ही है। पिता के लिये विदेश जाने पर जो वियोग मात्र का दुःख है, वह थोड़ा है, क्योंकि चार भाइयों में तीन तो यहाँ रहेंगे, फिर मैं प्रसन्नता पूर्वक बड़े लाभ की दृष्टि से जाता हूँ। सत्य रक्षा के लिये तो पूर्वजों ने बड़े-बड़े दुःख उठाये हैं, पिताजी को एक पुत्र के थोड़े दिन विदेश जाने मात्र के वियोग का थोड़ा ही दुःख है। इस धर्म की अपेक्षा धन-पुत्र आदि तृण समान कहे गये हैं। 'दुख भारी'—ऊपर 'निपट बिकल' कहा था। उसे ही यहाँ 'भारी दुःख' कहकर जनाया।

(३) 'राउ धीर गुन उदधि अगाधू।'—(क) समुद्र तो शब्द करता एवं उछलता भी है, पर राजा गुणों के समुद्र होते हुए भी अपनेको नहीं जनाते, यह आपमें अधिक अगाधता है। (ख) राजा इतने बड़े धीर हैं, फिर मेरा त्याग करने में अधीर कैसे होंगे? पुनः गुणों के अगाध समुद्र हैं तो असत्य रूप अवगुण को कैसे ग्रहण करेंगे? अतः, तुम्हारे इस कथन में मुझे विश्वास नहीं होता। 'भा मोहि ते कछु···' अर्थात् सम्भवतः मुझसे भूल में कोई बड़ा अपराध हो गया है, पर राजा धीर एवं अगाध-गुणवाले होने से नहीं कह रहे हैं, यथा—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा ॥" (बा० दो० ५७), मुझसे नहीं कह रहे हैं, पर तुमसे कहा होगा। अतः, तुम सत्य-सत्य कह दो। मुझसे हुए अपराध से ही भारी दुःख है, इसीसे हमसे नहीं बोल रहे हैं, यह भाव श्रीरामजी ने—'जाते मोहि न···से जनाया

है, तथा—"कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता। कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय ॥" (वाल्मी० २।१८।११), अर्थात् मैंने कोई अपराध नहीं किया, पर अज्ञान से यदि कुपित हो पिताजी मुझसे नहीं बोलते तो, मेरी ओर से आप ही पिताजी को प्रसन्न कर दीजिये।

(४) 'सहज सरल रघुबर-बचन···'—श्रीरामजी के वचन शुद्ध सत्य हैं, बनाकर नहीं कहे गये, क्योंकि रघुवंशी झूठ नहीं बोलते, यथा—"सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं।" (दो० २९)। ये तो 'रघुबर' हैं अर्थात् रघुकुल में श्रेष्ठ हैं। पर कैकेयी अपनी दुर्बुद्धि से उन वचनों को कुटिल करके ही मानती है। उदाहरण रूप में जोंक को दिखाते हैं कि जल तो समान ही रहता है, पर वह अपनी प्रकृति से टेढ़ी चलती है। कुमति, यथा—"अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥" (गीता० १८।३२), अर्थात् जो तमोगुण से आवृत बुद्धि अधर्म को धर्म ऐसा मानती है तथा और भी सम्पूर्ण अर्थों को उल्टा ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।

सीधे वचनों में उसने क्या कुटिलता जानी? उत्तर—(क) मुझे प्रिय वचनों से रिझाकर वनवास से बचना चाहते हैं, पर मैं इस पट्टीवाली नहीं हूँ। (ख) दंड-रूप वनवास को सुख-रूप कह रहे हैं, अपने अधिकार छीननेवाले पट्टीदार भरतजी को प्राण-प्रिय कह रहे हैं। यह सब मुझे ठगने की छल-चातुरी है कि जिससे मैं वर की बातें उलट दूँ। इन्हें राज्य और अपने पुत्र भरत को वनवास माँग लूँ, पर यह होने का नहीं। मैं तुम्हारी चातुरी जानती हूँ। (ग) वन जाने में प्रसन्नता होती, तो मुझसे ही सुनकर चल देते। राजा की आज्ञा क्यों चाह रहे हैं? इनका भाव यह है कि न राजा कहेंगे और न मुझे जाना पड़ेगा, पर मैं तो भेजूँगी ही।

रहसी रानि राम-रुख पाई। बोली कपट सनेह जनाई ॥१॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना ॥२॥
तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी - जनक - बंधु-सुख-दाता ॥३॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु-मातु-बचन-रत अहहू ॥४॥

शब्दार्थ—आना = शपथ। जोग = योग्य। रत = अनुरक्त, माननेवाले, अनुरागी।

अर्थ—रानी रामजी के रुख (रुचि) को पाकर प्रसन्न हुई और कपटमय स्नेह दिखाती हुई बोली ॥१॥ तुम्हारी सौगन्ध और भरत की शपथ, मैं दूसरा कोई कारण नहीं जानती ॥२॥ हे तात! तुम अपराध के योग्य नहीं हो, (क्योंकि) तुम माता, पिता और बन्धु को सुख देनेवाले हो ॥३॥ हे श्रीरामजी! जो कुछ तुम कह रहे हो, वह सब सत्य है, तुम ठीक ही पिता-माता के वचनों में अनुरक्त रहनेवाले हो ॥४॥

विशेष—'रहसी रानि राम···'—रानी को पहले सन्देह था कि श्रीरामजी वन जाना न स्वीकार करेंगे, तो उनका कोई क्या कर सकता है? राजा तो भीतर से यही चाहते भी हैं—"बचन मोर तजि रहहि घर, परिहरि सील सनेहु ॥" (दो० ४४)। जब श्रीरामजी का रुख वन जाने का पाया, तो बहुत हर्षित हुई। 'कपट सनेह'—भीतर से पूरा द्वेष है, पर ऊपर से स्नेह प्रकट करती है कि जिससे मेरा कहा हुआ करें।

(२) 'सपथ तुम्हार···'—श्रीरामजी ने कहा था 'मोरि सपथ तोहिं कहु सतिभाऊ' उसपर अपनी सचाई दिखाने के लिये भरतजी की भी साथ ही शपथ करती है और ऊपर से यह भी दिखाती है कि हमें तुम भरत के समान ही प्रिय हो।

(३) 'तुम्ह अपराध जोग नहिं···'—श्रीरामजी ने कहा था—'भा मोहि से कछु बड़ अपराधू।'

उसका उत्तर देती है कि तुम ऐसे हो कि तुमसे अपराध हो ही नहीं सकता। पुनः—"तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥ ···भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।" को पुष्ट करती हुई—'जननी जनक बंधु सुखदाता।' कहती है कि पिता-माता के वचन मानकर वन जाओ और उन्हें सुखदाता हो और भरतजी के राज्य में बाधक न होकर बन्धु-सुख-दाता हो। 'राम सत्य सब जो कछु···'—श्रीरामजी ने—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी···" से—"जौं न वन जाउँ···" तक के सब वचनों के सत्य कहकर पुष्ट करती है कि फिर वे पलटें नहीं। 'तुम्ह' तुम झूठे नहीं हो, जो कहते हो, वह करते हो, पर—

पितहिं बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजस न होई ॥५॥
तुम्ह सम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे ॥६॥
लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे ॥७॥
रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाये ॥८॥

दोहा—गइ मुरछा रामहिं सुमिरि, नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव-राम आगमन कहि, बिनय समय-सम कीन्ह ॥४३॥

शब्दार्थ—कुमुख=कुत्सित (निकम्मा) मुख। मगह=बा० दो० ३० चौ० ९ देखिये। करवट=दूसरी ओर फिरकर लेटना।

अर्थ—(हे पुत्र!) मैं बलिहारी जाती हूँ, पिता को तुम समझाकर वही बात कहो कि इन्हें जिससे अब चौथेपन (बुढ़ापे) में अपयश न हो ॥५॥ जिस पुण्य ने तुम्हारे समान पुत्र दिये हैं, उसका निरादर करना इन्हें उचित नहीं है ॥६॥ कैकेयी के कुत्सित मुख में ये वचन कैसे शुभ लगते हैं कि जैसे मगह देश में गया आदि तीर्थ (शुभ लगते) हैं ॥७॥ माता के सब वचन श्रीरामजी को अच्छे लगे, जैसे गंगाजी में (अशुद्ध एवं अशुभ) जल प्राप्त होने से शुभ सुशोभित हो जाता है ॥८॥ राजा की मूर्च्छा निवृत्त हुई, उन्होंने रामजी का स्मरण (राम, राम कह) कर फिरकर करवट ली। मन्त्री ने श्रीरामजी का आना कहकर समय के अनुसार प्रार्थना की ॥४३॥

विशेष—(१) 'पितहि बुझाइ कहहु बलि····'—'सोई' अर्थात् जो तुमने हमसे कहा है, वही धर्म की बात पिता को भी समझाकर कहो। तुम धर्म को समझते हो। वे तुम्हारे स्नेह की विकलता से धर्म की ओर उदासीन हो रहे हैं। अतः, उन्हें समझाओ, इसलिये मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ। (भीतर से यह स्वार्थ के लिये व्याकुल है। अतः, बलिहारी जा रही है)।

'चौथेपन·····'—तीनपन धर्म से बीते, चौथे में प्रतिज्ञा छोड़कर अब धर्म न छोड़ें, अन्यथा पाप होगा और उससे अपयश, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावे कोई।" (उ० दो० १११), भोर होत मुनि बेष···मोर मरन राउर अजस···" (दो० ३३)।

(२) 'तुम्ह सम सुवन सुकृत·····'—राजा के सुकृत अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, तभी तो उससे तुम ऐसे श्रेष्ठ पुत्र मिले, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (बा० दो० ३०९)। जिस सुकृत ने इतना बड़ा उपकार किया है, उसका अपमान करना योग्य नहीं है। सत्य सब सुकृतों का मूल है—"सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये।" (दो० २७)। इससे सत्य के त्याग से सारे सुकृतों का अपमान होता है। इससे वे सुकृत नहीं रहते, यथा—"सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे।" (दो० ४७), तथा—"वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः। मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलं गतः॥" (महा० अनुशा० ६।३४), अर्थात् दूसरे इन्द्र के समान वसु ने सौ यज्ञ पूरा करके भी एक ही बार मिथ्या वचन कहने से रसातल में

गमन किया है (नष्ट हुए हैं)। कैकेयी के इस कथन के अनुसार श्रीरामजी ने पिता को समझाया भी है, यथा—"तात किये प्रिय प्रेम प्रमादू। जग जस जाइ होइ अपवादू॥" (दो० ७६), तथा सुकृत का निरादर यों भी हो रहा है कि दान हर्षपूर्वक देना चाहिये, राजा दुःख से दे रहे हैं, जैसे तुम हर्ष और उत्साह के साथ करते हो, (वैसे) करने को पिता से भी कहो।

(३) 'लागहिं कुमुख बचन सुभ·····'—कैकेयी के वचन हैं—"तुम अपराध जोग नहिं···" से "उचित न तासु निरादर कीन्हें॥" तक, ये वचन उत्प्रेक्षा के विषय हैं। कैकेयी का कुमुख मगह और उसके वचन गया आदि तीर्थ हैं। कैकेयी के मुख में वचनों का जो वास्तविक अभिप्राय है, वह मगह देश की तरह अशुभ है, इसके भाव मगह की तरह अधोगति देनेवाले हैं। पर वचनों का शब्दार्थ लोक शिक्षात्मक तीर्थ-रूप है। "तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥" इसका भाव यह है कि माता-पिता को तुम्हारे वन जाने में सुख है और भरतजी को राज्य निर्विघ्न भोगने का सुख दो। इसलिये वन को जाओ। पुनः—"राम सत्य सब जो···" का भी वही अभिप्राय है कि तुम उपर्युक्त सब वचन सत्य करो और वन को जाओ, हमको इसीमें सुख है। पुनः ऐसी आज्ञा पिता से भी समझा-बुझाकर प्राप्त करो, यह—"पितहिं बुझाइ···तुम्ह सम···" का भाव है। इसके मुख के इन्हीं कुत्सित भावों को लेकर श्रीभरतजी ने कहा है—"बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥" (दो० १६१), अर्थात् श्रीरामजी के प्रति ऐसा बर्ताव मगह की तरह अधोगति का देनेवाला है।

कैकेयी के वचनों का जो शब्दार्थ है, जो ऊपर अक्षरार्थ में लिखा गया, वह तीर्थ रूप ऊर्ध्वगति का देनेवाला है। मगह में 'गयादिक' चार तीर्थ हैं, यथा—"कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्। विपयश्चारणः पुण्यो नदीनाञ्च पुनः पुनः॥" (गरुड़ पु० ८३।१), वैसे यहाँ कैकेयी के मुख के भी चार वचन हैं—'तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक···', "राम सत्य सब···तुम्ह···", "पितहिं बुझाइ···", "तुम्ह सम सुअन···" इत्यादि चारो अर्द्धालियों में चार बातें कही गई हैं। ये ही चारो तीर्थ हैं। गयाजी के सेवन से पितरों का उद्धार होता है, वैसे ही इन चारो वचनों के मुख्य आशय रूप वनवास से श्रीरामजी अपने पिता का उद्धार करेंगे, यथा—"तारितोऽहं त्वया पुत्र सुपुत्रेण महात्मना। अष्टावक्रेण धर्मात्मा कहोलो ब्राह्मणो यथा॥" (वाल्मी० ६।११९।१६), अर्थात् हे पुत्र! तुम महात्मा पुत्र ने मेरा उद्धार कर दिया, जिस प्रकार अष्टावक्र ने अपने पिता धर्मात्मा कहोल ब्राह्मण का उद्धार किया है, (—यह वचन दिव्य रूप से राजा दशरथ ने श्रीरामजी से कहा है)। आगे दो० ७७ का विशेष भी देखिये। इनका प्रभाव श्रीरामजी पर जैसा पड़ा वह आगे उपमा से प्रकट है।

(४) 'रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि···'—जैसे नालों, मोरियों एवं कर्मनाशा नदी के अशुभ जल भी गंगाजी में पड़ने से शुद्ध हो जाते हैं, वैसे कैकेयी के कुमुख वचन (उपर्युक्त मगह के रूप में कहे हुए) भी श्रीरामजी को अच्छे लगे, अर्थात् इनका अभिप्राय समझते हुए भी प्रिय लगे, उद्वेग न हुआ। जैसे उपर्युक्त अशुभ जल भी गंगाजी में प्राप्त होने से शुभ होकर सुहावने हो जाते हैं, यथा—"करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥" (दो० १९३)।

(५) 'गइ मुरछा रामहिं सुमिरि···'—पूर्व राजा की विकलता कही गई—"राम राम रट बिकल भुआलू।" (दो० ३६), व्याकुलता में ही सुमन्त्रजी आये, फिर वे श्रीरामजी को बुला लाये, इनसे जब कैकेयी निधड़क वही कटु वाणी कहने लगी—"जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदुलच्छ समाना॥" (दो० ४०), तब राजा को गाढ़ मूर्च्छा आ गई। वह मूर्च्छा इतनी देर में निवृत्त हुई, तब वे राम-राम स्मरण करने लगे, यथा—"राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥" (बा० दो० ५९), और उलटकर करवट ली, तब मन्त्री ने श्रीरामजी का आगमन कहकर समयानुसार

प्रार्थना की कि राजन् ! रामजी आये हैं, धैर्य धरकर देखिये और उचित आज्ञा दीजिये। विनय का यही भाव आगे चौपाई—'धरि धीरज तब नयन उघारे।' से प्रकट है।

अवनिप अकनि राम पगुधारे। धरि धीरज तब नयन उघारे ॥१॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप राम निहारे ॥२॥
लिये सनेहबिकल उर लाई। गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई॥३॥
रामहिं चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि-प्रबाहू ॥४॥
सोकबिवस कछु कहइ न पारा। हृदय लगावत बारहिं बारा ॥५॥

शब्दार्थ—अवनिप = राजा। अकनि (आकर्ण्य) = सुनकर। बिलोचन = नेत्र।

अर्थ—यह सुनकर कि श्रीरामजी आये हैं, तब राजा ने धैर्य धारण करके नेत्र खोले ॥१॥ मन्त्री ने सँभालकर राजा को बैठाया, (तब) राजा ने चरणों पर पड़ते (प्रणाम करते) हुए श्रीरामजी को देखा ॥२॥ और स्नेह से व्याकुल होकर उन्होंने इनको अपनी छाती से लगा लिया, मानों साँप ने खोई हुई अपनी मणि को फिर से पाया हो ॥३॥ राजा श्रीरामजी को देखते ही (यकटक) रह गये, उनकी दोनों आँखों से जल (आँसू) की धारा बह चली ॥४॥ शोक के विशेष वश होने के कारण कुछ कह नहीं सकते, वे बार-बार उन्हें हृदय से लगाते हैं।

विशेष—(१) 'अवनिप अकनि ····धरि धीरज···'—पृथ्वी का नाम क्षमा है, क्योंकि उसमें धैर्य धारण करने की विशेष शक्ति है, राजा के विशेष धैर्य धारण करने के सम्बन्ध से अवनिप (अवनि = पृथ्वी, प = पति) पद दिया गया, यथा—"धरनि सुता धीरज धरेउ" (दो० ३८६)। रामजी का आना सुनकर नेत्र खोला, नहीं तो वे (सामने बैठी कैकेयी का मुख न देख पड़े, इसलिये) आँखें मूँदे ही रहते।

(२) 'सचिव सँभारि राउ···'—पूर्व कहा गया—"सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ ॥" (दो० ३७), उसी तरह अभी तक पड़े थे, विकलता से स्वयं उठकर बैठ भी नहीं सकते थे। मन्त्री ने सँभालकर बैठाया, आँख खोलने को भी बड़ा धैर्य धरना पड़ा, वह भी श्रीरामजी को देखने की लालसा से, अन्यथा इसमें भी असमर्थ थे। 'राम निहारे'—क्योंकि इन्हें देखने पर दुःख भूल जाता है, यथा—"दुख न रहइ रघुपतिहि बिलोकत" (गी० अ० ५३), "कहँ दुख समउ प्रान पति पेखे।" (दो० ६६)। पुनः इसलिये भी कि अब इनका वियोग हो रहा है। आँखों भर देख तो लूँ।

(३) 'लिये सनेह···गै मनि मनहुँ·····'—गई हुई मणि पर सर्प का स्नेह बढ़ जाता है, फिर पाते ही वह उसे हृदय से लगाता है। राजा सर्प हैं, श्रीरामजी मणि हैं, राम-वनवास का वर माँगा जाना मानों मणि का खो जाना है, यथा—"सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू ॥" (दो० ३९), यहाँ आकर श्रीरामजी का मिलना मणि का मिलना है।

(४) 'रामहिं चितइ रहेउ ·····'—वियोग की सम्भावना से यकटक देखते रह गये और इसीसे आँसू की धारा बह चली।

(५) 'सोक बिवस कछु कहइ···'—'सोक-बिवस'—मन की, 'हृदय लगावत बारहिं बारा'—तन की और 'कछु कहइ न पारा'—वचन की विवशता है। वनवास की बात से हृदय जल रहा है, "अजहुँ हृदय जरत तेहि आँचा।" (दो० ३१)। उसे शीतल करने के लिये बार-बार हृदय से लगाते हैं, यथा—"हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती।" (बा० दो० २९४), बार-बार हृदय लगाते हैं, क्योंकि तृप्ति नहीं होती।

बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं ॥६॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी ॥७॥
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जन जानी ॥८॥

दोहा—तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु ॥४४॥

शब्दार्थ—अवढर दानी=जिस ओर मन में आया, उसी ओर ढल पड़नेवाले, मनमौजी दानी, यथा—"अवढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकृत न देखि दीन कर जोरे॥" (वि० ६), पात्रापात्र का विचार न करनेवाले दानी। प्रेरक = प्रेरणा करनेवाले।

अर्थ—राजा मन में विधाता को मनाते हैं जिसमें श्रीरामजी वन को न जायँ ॥६॥ शिवजी का स्मरण करके उनसे निहोरापूर्वक कहते हैं, हे सदाशिव! आप मेरी विनती सुनिये ॥७॥ आप शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले और मनमौजी उदार दानी हैं। अतः, मुझे दीन जन जानकर मेरी विपत्ति का हरण कीजिये ॥८॥ हे शिवजी! आप सबके हृदय के प्रेरक हैं, इससे रामजी को वह बुद्धि दें कि वे मेरे वचन का त्यागकर और मेरे शील-स्नेह को छोड़कर घर में ही रहें ॥४४॥

विशेष—(१) 'बिधिहि मनाव राउ ···'—ब्रह्माजी को मनाते हैं, क्योंकि वे सृष्टि-कर्त्ता हैं, हर तरह के संयोग ये ही करते हैं, यथा—"जौ बिधि बस अस बनइ सँजोगू।" (बा० दो० २२१), इन्होंने वनवास की रचना भी की है, यथा—"जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा।" (दो० १२०), "बन इनको तो बाम बिधि कै बनाये हैं।" (गी० अ० २८)। श्रीरामजी की सुकुमारता देखकर चाहते हैं कि ये वन के दुःख न सह सकेंगे। अतः, घर ही में रहें। मन ही में मनाते हैं, क्योंकि श्रीरामजी और कैकेयी भी समीप ही में हैं।

(२) 'सुमिरि महेसहि कहइ···'—भाव यह कि आप 'महेस' अर्थात् महान् ईश हैं। इससे इस महान् कार्य के लिये विनती करता हूँ। 'सदासिव' अर्थात् आप सदा ही कल्याण-स्वरूप हैं, हमारा भी कल्याण करें। आप 'आसुतोष' हैं, यथा—"प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यताम्। (भाग० १०।८८।२०), अर्थात् (शिवजी कहते हैं कि) मैं तो अपने शरणागत भक्तों पर केवल जल मात्र अर्पण करने से प्रसन्न होता हूँ। अतः, शीघ्र सन्तुष्ट होइये, क्योंकि मुझे ऐसा ही कार्य आ पड़ा है। आप 'अवढरदानी' हैं। अतः, 'रामजी घर में रहें' यही बड़ा दान मुझे दीजिये। आप औढरदान से दुःसाध्य घटना भी कर सकते हैं। यहाँ वही बात है कि मेरा सत्य भी रहे, अर्थात् मुझे वरदान की 'नाहीं' न करना पड़े और श्रीरामजी घर में रह जायँ। 'दीन जन जानी' कहा, क्योंकि दीन पर शिवजी शीघ्र ही अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि० ६); 'आरति हरहु' और 'जन' शब्द से अपनेको आर्त्त भक्तों में कहा। अब वन से रोकने की विधि कहते हैं।

(३) 'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय···'—श्रीरामजी घर में तभी रह सकते हैं, जब हमारे वचन (जो कैकेयी ने श्रीरामजी से वन जाने को कहा है) का त्याग करें, वचन का त्याग हमारा शील-स्नेह छोड़े बिना न होगा, पर श्रीरामजी शील-स्नेह छोड़ते नहीं, प्रत्युत आजन्म निर्वाह करते हैं, यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहन हारा॥" (दो० २३), इसीलिये ब्रह्माजी और शिवजी से विनती करते हैं कि आप प्रेरणा करके उनसे ऐसा करावें। इनलोगों ने क्यों नहीं सुना? क्योंकि ये दोनों भी तो रावण के वश हैं, यथा—"बेद पढ़हिं बिधि संभु सभीत···" (क० उ० २), इससे वन जाना चाहते हैं।

ा रुख तो है ही। राजा की यह विह्वलता श्रीराम-स्नेह का महत्त्व प्रकट कर रही है, यथा—"मोह मगन ते नहि बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥" (दो० २८५)।

अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ ॥१॥
सब दुख दुसह सहावउ मोहीं। लोचन-ओट राम जनि होहीं ॥२॥
अस मन गुनइ राउ नहिं बोला। पीपर-पात-सरिस मन डोला ॥३॥
रघुपति पितहि प्रेम-बस जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी ॥४॥
देस काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी। ५॥

अर्थ—जगत् में अपकीर्त्ति भले ही हो, सुयश भले ही नष्ट हो जाय, नरक में भले ही पड़ूँ और मेरा ी भले ही चला जाय ॥१॥ सब दुःसह दुःख मुझे सहन करा लीजिये, पर राम मेरे नेत्रों से ओझल ूर) न हों ॥२॥ राजा ऐसा मन में विचार कर रहे थे, बोले नहीं। उनका मन पीपल के पत्ते की भाँति ल (काँप) रहा था ॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने पिताजी को प्रेम के वश जाना और अनुमान किया कि ा फिर कुछ कहेंगी ॥४॥ (पिताजी को दुःख होगा) अतः, देश, काल और अवसर के अनुसार विचार विशेष नम्र वाणी बोले ॥५॥

विशेष—(१) 'अजस होउ जग सुजस···'—पहले चाहते थे कि सत्य और श्रीरामजी दोनों ही , इसलिये ब्रह्मा-शिव को मनाया था, पर अब कहते हैं कि दोनों न हों तो न सही, पर श्रीरामजी घर हें तो मैं सत्य भी छोड़ दूँ जिसके परिणाम ये होंगे—जगत्-भर में अपकीर्त्ति होगी; बना-बनाया श नाश होगा; नरक में पड़ूँगा और मेरे स्वर्ग का भी नाश हो जायगा—यह सब मैं सह लूँगा, पर ाजी का वियोग न हो।

अयश हो और सुयश नष्ट हो, इससे इस लोक का और नरक में पड़ूँ और स्वर्ग का नाश हो, इससे लोक का नाश होना स्वीकार किया, पर रामजी न जायँ, यह—"पितहिं बुझाइ कहहु बलि सोई। थेपन जेहि···" के प्रति है कि मुझे तो लोक-परलोक से अधिक श्रीरामजी प्रिय हैं।

(२) 'सब दुख दुसह सहावउ···' अर्थात् श्रीराम-विरह का दुःख सब दुःखों से अधिक है, यथा—ाँगु माथ अबहीं देउँ तोहीं। राम-बिरह जनि मारसि मोहीं ॥" (दो० ३३), सब दुस्सह दुःख भारी ा के फल हैं। राम-बनवास के बदले में उन सबों को मुझसे भोगाइये, अर्थात् भारी पाप से ही श्रीराम-का वियोग होता है। यह भी प्रकट हुआ।

राजा श्रीरामजी के समक्ष में सुकृत को तुच्छ माने हुए त्यागने को भी सन्नद्ध हैं, पर शिव-ब्रह्मा को ा रहे हैं कि वे श्रीरामजी को प्रेरणा करके घर में रहने की रुचि कर दें, पुनः सत्य के साथ राम-शपथ है, इससे श्रीरामजी स्वयं बलात् रह जायँ।

(३) 'अस मन गुनइ राउ···'—इसका उपक्रम—'बिधिहि मनाव राउ···' है और यहाँ उपसंहार। पीपल के पत्ते थोड़ी भी वायु से सर्वांग हिलने लगते हैं, वैसे ही राजा का मन स्थिर नहीं होता। बलता यह कि उन्होंने ब्रह्मा-शिव को भी मनाया, पर यह विश्वास स्थिर नहीं होता कि रघुनाथजी ारा शील-स्नेह छोड़कर घर में रहेंगे। इसीसे कुछ बोल न सके। 'पीपर पात सरिस·····' में ोपमा है।

जो कहते हैं कि राजा दशरथ ने सामान्य धर्म सत्य-रक्षण के लिये श्रीरामजी का त्याग किया है, हें यहाँ देखना चाहिये। राजा ने जो श्री राम-शपथ कर ली थी, उसीसे बँध गये। यह मन्थरा और ैकयी ने भी प्रथम से ही जान रक्खा था। तभी तो राजा के मुख से सहसा राम-शपथ हो आई, तब

माँगा है। अब यदि राजा राम-शपथपूर्वक की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन करते हैं तो श्रीरामजी का ही अकल्याण होगा। इससे राजा रामजी का चौदह वर्ष बन जाना सह रहे हैं, प्राण इसमें भी जायेंगे ही, पर प्रतिज्ञा नहीं छोड़ रहे हैं। अतः, राजा ने यही विशेषधर्म में निष्ठा रक्खी है, श्रीरामजी के कल्याण में रत हैं।

(४) 'रघुपति पितहि प्रेम-बस···'—राजा के हृदय की उपर्युक्त अवस्था श्रीरामजी ने जानी कि वे हमारे प्रेमवश हो रहे हैं। कैकेयी को यह बुरा लग रहा है कि श्रीरामजी तो वन को प्रस्तुत हैं, पर ये ही रोकते हैं। इसपर वह 'पुनि कछु कहिहि' अर्थात् पूर्ववत् कटु-वचन कहेगी। अतः, बोले कि वह कटु-वचन कहने न पावे, नहीं तो हमारे सामने भी पिता को दुःख देगी। इस समय तो उसने नहीं कहने पाया, पर और अवसर निकालकर आगे कहा ही है—"नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह···सुकृत सुजस···अस बिचारि···" (दो० ७८), ये ही कटु-वचन हैं, जो पिता को बाण के समान लगे हैं—"भूपहिं बचन बान सम लागे।" (दो० ७८)।

(५) 'देस काल अवसर ··'—'देस'—अयोध्या एवं कोप-भवन, 'काल'—दुःख का विषम समय तथा जो वर दे चुके हैं और 'अवसर'—वन जाने में शीघ्रता करने का है, क्योंकि—"होत प्रात मुनि बेष ·" (दो० ३३), यह सब समझकर सूक्ष्म रीति से विनम्र वचन बोले।

तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई ॥६॥
अति-लघु-बात लागि दुख पावा। काहु न मोहि कहि प्रथम जनावा ॥७॥
देखि गोसाइहिं पूछिउँ माता। सुनि प्रसंग भये सीतल गाता ॥८॥

दोहा—मंगलसमय सनेह बस, सोच परिहरिय तात।
आयसु देइय हरषि हिय, कहि पुलके प्रभुगात ॥४५॥

शब्दार्थ—गोसाईं=गोस्वामी, यह आप, प्रभु, सरकार की तरह आदरार्थ सम्बोधन है।

अर्थ—हे तात! मैं जो कुछ कहता हूँ, (यह) ढिठाई करता हूँ। मेरा लड़कपन समझकर इस अनुचित को क्षमा कीजियेगा ॥६॥ अत्यन्त छोटी बात के लिये आपने दुःख उठाया है, किसीने भी मुझे प्रथम ही कहकर नहीं जनाया, (नहीं तो मैं आकर कह देता कि मुझे वन जाने में दुःख न होगा, आप खेद न करें) ॥७॥ हे गोसाईं! आपको (दुःखी) देखकर माता से मैंने पूछा। सब प्रसंग सुनकर मेरे शरीर के अंग शीतल हुए ॥८॥ हे तात! मंगल के समय स्नेह के अधीन होकर शोच करना छोड़िये। अपने हृदय में प्रसन्न होकर मुझको आज्ञा दीजिये। ऐसा कहकर प्रभु श्रीरामजी शरीर से पुलकित हो गये ॥४५॥

विशेष—(१) 'तात कहउँ कछु···'—बिना पूछे बड़ों के समक्ष में कुछ कहना एवं समझाना मेरी ढिठाई है। मेरा लड़कपन समझकर यह अनुचित क्षमा करना कि लड़के अज्ञान होते ही हैं।

(२) 'अति-लघु-बात लागि ·'—पिता समझते होंगे कि वन जाने और वहाँ १४ वर्ष रहने में बड़ा कष्ट होगा, इसीसे उसे 'अति लघु' कहते हैं कि इसमें हमें दुःख न होगा। पहले मैं जानता तो स्वयं आकर कहता कि मुझे इस काम में दुःख न होगा, आप दुःखी न हों।

(३) 'देखि गोसाइहिं पूछिउँ···'—'देखि', यथा—"जाइ देखि रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाज।" (दो० ३६), 'पूछिउँ माता', यथा—"पूछी मधुर बचन महतारी।" (दो० ३९), 'सुनि प्रसंग', यथा—"सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।···" (दो० ४०)। 'भये सीतल गाता' अर्थात् हाल जानने के पूर्व

हमारे गात जलने लगे थे, यथा—"अंब एक दुख मोहिं बिसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी॥" (दो० ४१), किन्तु जब हाल जाना, तो मेरे सभी अंग शीतल हुए कि मेरे महान् भाग्य का उदय है कि माता-पिता की आज्ञा पालन करने को मिली और प्राण-प्रिय श्रीभरतजी राज्य पावेंगे, इत्यादि पूर्व दो० ४१ में कहा गया है।

'पूछिउँ माता'—माता से मैंने पूछा तब उसने कहा। इस तरह श्रीरामजी ने माता को उस प्रसंग के कहने में निर्दोष किया।

(४) 'मंगलमय सनेहबस···'—माता-पिता की आज्ञा पालन-रूप उत्तम धर्म के लिये यात्रा है। अतः, मेरे मंगल का समय है। आपका सत्य धर्म रहेगा और कैकेयी से उऋण होंगे। अतः, आपको यह मंगल का समय है। कैकेयीजी भी अभीष्ट पा रही हैं। इससे उनका भी मंगल समय ही है। मंगल के समय सोच न चाहिये, किन्तु हर्ष चाहिये। अतः, हर्ष-सहित आज्ञा दीजिये, वरदान-पूर्त्ति हर्षपूर्वक हो। 'पुलके' अर्थात् त्याग वीरता से हार्दिक उत्साह जनाया। 'प्रभु', ऐसा दुःसाध्य कार्य भी हर्ष-पूर्वक करने में एक आप ही समर्थ हैं, यथा—"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराजलक्ष्मीं धर्मिष्ठआर्यवचसा यदगादरण्यम्।" (भाग० ११।५।३४)।

धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥१॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु-मातु प्रान-सम जाके॥२॥
आयसु पालि जनमफल पाई। अहहउँ बेगिहि होउ रजाई॥३॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी॥४॥
अस कहि राम गवन तब कीन्हा। भूप सोकबस उतर न दीन्हा॥५॥

शब्दार्थ—रजाई=आज्ञा, 'रजा' अर्बी शब्द से बना है, यथा—"राम-रजाइ सीस सब ही के।" (दो० २५४)।

अर्थ—इस पृथ्वीतल पर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित को सुनकर पिता को परम आनन्द हो॥१॥ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ उसकी हथेली में हैं, जिसको पिता-माता प्राणों के समान प्यारे हों॥२॥ आज्ञा पालन कर और जन्म लेने का फल पाकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। अतः, शीघ्र ही आज्ञा हो॥३॥ माता कौसल्याजी से विदा माँग आऊँ, फिर आपके चरणों में लगकर (प्रणाम करके) वन को चला जाऊँगा॥४॥ ऐसा कहकर तब श्रीरामजी चल दिये, शोक-वश होने से राजा ने उत्तर नहीं दिया॥५॥

विशेष—(१) 'धन्य जनम जगतीतल···'—श्रीरामजी का चरित ठीक ऐसा ही है, यथा—"राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥" (दो० १), यहाँ श्रीरामजी कहते हैं कि इस श्रेष्ठ धर्माचरण में मुझे उत्साह है। अतः, इस मेरे चरित पर आपको प्रमोद चाहिये, तभी तो हमारा जन्म धन्य होगा।

(२) 'चारि पदारथ करतल···'—ये चारो यद्यपि और साधनों से बहुत प्रयास एवं बहुत काल में भी अगम हैं, तथापि माता-पिता की भक्ति से अल्पायास में ही और अतिशीघ्र प्राप्त हो जाते हैं, मानों हथेली में रक्खे हुए हैं। इसीसे कवि ने भी प्रथम चरण में ही प्राप्ति कहकर तब दूसरे चरण में साधन कहा है। किन्तु माता-पिता प्राण समान प्रिय हों, यह इस भक्ति का स्वरूप है। प्राण से अधिक प्रिय कुछ नहीं होता। इस तरह चार फलों को भी साधन से न्यून दिखाया कि जिससे साधन में ही प्रीति रहे, स्वार्थ में नहीं।

(३) 'आयसु पालि जनमफल···'—पिता की आज्ञा का पालन करना श्रेष्ठधर्म है, यथा—"पितु

आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४)। अतः, धर्म-पालन से जन्म की सफलता है। 'अइहउँ बेगिहि' अर्थात् एक दिन भी अधिक न लगाऊँगा। इस तरह आज्ञा पालन में श्रद्धा दिखाई। पिता के सन्तोष के लिये यह सब कहा, अब माता के सन्तोष के लिये जाते हैं।

(४) 'बिदा मातु सन आवउँ माँगी।'—श्रीरामजी के इन वचनों से स्पष्ट है कि माता आज्ञा दे देगी, क्योंकि आपने उसे अलौकिक विवेक पूर्व ही से दे रक्खा है, यथा—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥" (बा० दो० १५०), 'बहुरि पग लागी'—क्योंकि एक बार पहले प्रणाम कर चुके हैं—"चरन परत नृप राम निहारे।" (दो० ४३)। श्रीरामजी को यहीं पर कैकेयीजी से पुनि-साज मिलेगा और उसीके सामने उसे सजकर जाना होगा, क्योंकि वह यही चाहती है—"होत प्रात मुनि बेष धरि···" (दो० ३३), इसलिये लौटकर यहाँ आने का प्रयोजन भी है।

(५) 'अस कहि राम गवन···'—ऐसा कहकर जाने से आशा बनी है कि अभी फिरकर आवेंगे। अन्यथा राजा को बड़ा दुःख होता है कि हमने व्याकुलता में कुछ कह न पाया और श्रीरामजी मुझे छोड़कर चल दिये, वनयात्रा समझ प्राण ही छोड़ देते। आगे सुमन्त्र के द्वारा लौटाने की आशा में पाँच दिन जीते रहे। 'भूप सोकबस ··'—राजा को उत्तर देने की इच्छा थी, यही आगे वन-यात्रा के समय कहेंगे—"सुनहुँ राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।···" (दो० ७६), पर यहाँ शोक-वश न कह पाया।

इसके उपक्रम में—'देस काल अवसर अनुसारी' वचन की प्रतिज्ञा है, वह, यथा—"बिनु पूछे कछु ··'—यह देशानुसार है, क्योंकि महाराज यदि राज्य-सिंहासन पर होते, तो ऐसी धृष्टता न कर सकते, किन्तु यहाँ कोप-भवन में खेद-युक्त एकान्त में हैं। अतः, बोले हैं। "अति लघु बात लागि·····"—से "मंगल समय सनेह बस···" तक कालानुसार वचन है कि मैं पहले जानता तो आपका दुःख इतनी देर न रह पाता। "धन्य जनम जगतीतल···" से "अइहउँ बेगिहि होउ रजाई।" तक वचन अवसर के अनुसार है, क्योंकि इस अवसर पर इस कार्य में हर्ष एवं भाग्य मानने से लोगों को खेद न होगा। 'बिनीत' तो सभी वचन हैं ही।

राज-रस-भंग-प्रकरण समाप्त।

पुरवासि-विरह-विषाद-प्रकरण

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तनु बीछी॥६॥
सुनि भये बिकल सकल नरनारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥७॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥८॥

दोहा—मुख सुखाहिं लोचन श्रवहिं, सोक न हृदय समाइ।
मनहुँ करुन-रस-कटकई, उतरी अवध बजाइ॥४६॥

शब्दार्थ—सुतीछी = बहुत तीक्ष्ण। दवारी = वनाग्नि, वन में लगनेवाली आग। कटकई = सेना।

अर्थ—वह बहुत तीक्ष्ण बात सारे नगर में फैल गई। मानों (बिच्छी का डंक) स्पर्श होते ही सारी देह में बिच्छी (अर्थात् उसके विष की पीड़ा) चढ़ गई॥६॥ सुनकर सब स्त्री-पुरुष व्याकुल हो गये, जैसे लताएँ और वृक्ष दावानल (वनाग्नि) देख व्याकुल हो (मुरझा) जाते हैं॥७॥ जो जहाँ सुनता है, वह वहीं पर मत्था पीटने लगता है, बड़ा दुःख है, धैर्य नहीं होता॥८॥ (सबके) मुख सूखे जाते हैं, आँखों से आँसू गिरते हैं, शोक उनके हृदय में नहीं समाता। (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों करुण रस की सेना डंका बजाकर अवध पर चढ़ आई हो, (अर्थात् आनन्द को दुःख ने जीत लिया)॥४६॥

विशेष—(१) 'नगर ब्यापि गइ बात ····'—कैकेयी ने सब प्रसंग श्रीरामजी से कहा, उनके साथ के लोगों ने सुना। फिर कानों-कान वह बात थोड़ी ही देर में नगर-भर में व्याप्त हो गई। जैसे बिच्छी एक अंग में डंक मारती है और शीघ्र ही शरीर भर में विष चढ़ जाता है। सर्प की उगली हुई बिच्छी अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। वैसी ही यहाँ 'सुतीछी' अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण बात को उपमान-रूपा अत्यन्त तीक्ष्ण बिच्छी है, कैकेई सर्पिणी ने इसे उगला है, यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि ··दोउ बासना रसना दसन बर ···" (दो० २५), नगर रूपी शरीर का एक अंग-रूप कोप-भवन स्थल है, वहाँ डंक-स्पर्श हुआ, फिर क्षण में राजा के अंग-रूप राष्ट्र में सर्वत्र विष चढ़ गया। अर्थात् इसके वरदान की बात नगर-भर में फैलते देर न लगी। श्रीरामजी के साथ सुमन्त्रजी निकले, तब उनसे द्वार की भीड़ को बात मालूम हुई, फिर वह सर्वत्र फैल गई। यह भी कहा जाता है कि उपर्युक्त सुतीछी-बिच्छी जिसे डंक मारती है, उसे तो विष चढ़ता ही है, उसे जो छूता है, उसे भी चढ़ जाता है। बिच्छी का विष झाड़ने से उतरता है। भरत जी आकर झाड़ेंगे, यथा—'एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं ॥ ····लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥" (दो० १८२-१८३)। तब तक सब व्याकुल रहेंगे।

(२) 'सुनि भये बिकल सकल···'—यहाँ नारी वेलि और नर बिटप हैं। दावाग्नि से वेलि-बिटप झुलस जाते हैं, वैसे ही ये सब विरह-अग्नि से काले पड़ गये। ऊपर बिच्छी के विष की उपमा थी, वही यहाँ दावाग्नि-रूप से कही गई। बिच्छी का विष अग्नि के समान ही दाहक होता है। तीक्ष्ण बिच्छी के डंक मारने से भी शरीर काला पड़ जाता है।

शंका—वेलि-बिटप के तो आँख नहीं होती, फिर उनका देखना कैसे कहा गया ?

समाधान—(क) यहाँ वेलि-बिटप के अभिमानी देवता के देखने का तात्पर्य है, यथा—"बन सागर सब नदी तलावा।·····काम-रूप सुन्दर तनु धारी।·····गये सकल···" (बा० दो० ९३)। (ख) विज्ञान-दृष्टिवालों का कहना है कि स्थावर वृक्ष एवं लता आदि भी समीप की वनाग्नि की विपत्ति जान जाते हैं, इससे मुरझा जाते हैं। यहाँ नगरवासी स्थावर की तरह जड़वत हो रहे हैं, क्योंकि उपाय चल नहीं सकता, राजा और श्रीरामजी सत्यव्रती हैं। कैकेयी की हठ भी वैसी ही दृढ़ है। इसीसे इन्हें जड़ वेलि-बिपट कहा गया।

(३) 'जो जहँ सुनइ धुनइ···'—जो जहाँ सुनता है, वहीं सिर पीटने लगता है, उपर्युक्त वेलि-बिटप की तरह इधर-उधर नहीं जा पाता, क्योंकि जायँ कहाँ ? अभी तो श्रीरामजी यहीं (नगर में ही) हैं। जब श्रीरामजी वन को चलेंगे, तब भी दावाग्नि की ही उपमा देंगे, परन्तु नर-नारी को खग-मृग कहेंगे, क्योंकि वहाँ इनका भाग चलना है, यथा—"नगर सफल बन···खग-मृग बिपुल सकल नर-नारी ॥ बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही ॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो० ८३)। शोक में सिर पीटना स्वाभाविक है, मानों हाथ और भाल की भाग्य-रेखा को ताड़ना करते हैं कि हमारे भाग्य फूट गये। सामान्य विषाद रहता तो धैर्य भी होता 'बड़ बिषाद' है। अतः, धैर्य नहीं होता।

(४) 'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं ···'—ऊपर—'बड़ बिषाद नहिं धीरज होई।' कहा गया। उसी-की दशा यहाँ कहते हैं कि लोग अधीर हो गये, मुख सूख गये, आँसू की धारा चल रही है, शोक हृदय में नहीं समाता, तो हा-हाकार के द्वारा निकलता है। मानों करुण-रस (प्रिय-वियोग-दुःख) चतुरंगिणी सेना सहित अवध के आनन्द कटक को जो जन्म-विवाह आदि से आ जुड़े थे, डंका बजाकर जीतना चाहता है।

यहाँ राम-वियोग विभाव है—यही गज हैं। रुदन करना, आँसू गिराना, मुख सूखना, सिर पीटना

आदि अनुभाव घोड़े हैं। ग्लानि, भ्रम, शंका, अपस्मार, चिन्ता, उन्माद आदि संचारी पैदल हैं। अत्यन्त शोक स्थायी रथ हैं और शीघ्र ही सर्वत्र दुःख व्याप्त हो गया, हा-हाकार हो गया, यही डंका का शब्द है।

मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी। जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी ॥१॥
येहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥२॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिष चाहत चीखा ॥३॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस - बेनु बन आगी ॥४॥
पालव बैठि पेड़ येहि काटा। सुख महँ सोक ठाठ धरि ठाटा ॥५॥

शब्दार्थ—मिलेहि माँझ = मेल ही में। चीखना = स्वाद लेना, खाना। ठाटा (स्थातृ) = रचा, खड़ा किया।

अर्थ—ब्रह्मा ने मेल ही में बात बिगाड़ दी, लोग जहाँ-तहाँ कैकेयी को गाली देने लगे ॥१॥ (कहते हैं कि) इस पापिनी को क्या समझ पड़ा ? जो इसने घर को छाकर उसपर आग धर (लगा) दी ॥२॥ यह अपने ही हाथों से अपनी आँखों को निकालकर देखना चाहती है और अमृत को गिराकर विष चखना चाहती है ॥३॥ यह टेढ़ा, कठोर, दुर्बुद्धि और अभागिनी है। यह रघुवंश-रूपी बाँस के वन को अग्नि-रूपा (जलानेवाली, नाश करनेवाली) हुई ॥४॥ पल्लव (डाल) पर बैठकर इसने उसी पेड़ को काटा, इसने सुख (के समय) में शोक का ठाट बनाकर खड़ा कर दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'मिलेहि माँझ बिधि···'—मेल ही में बिगाड़ हो गया। राजा, रानी और पुत्रों में मेल था। परस्पर प्रीति थी, अचानक महा विरोध होगया। ऐसी घटना दैव-कृत कही जाती है, इसीसे विधि का बिगाड़ना कहते हैं—वाल्मी० २।२२।१८-२२ में यह विषय देखने योग्य है। दैव ने मेल ही में बात बिगाड़ दी, यथा—"मिलेहि माँझ रावन रजनीचर लंक संक अकुलानी ॥" (गी० बा० ४), 'गारी', यथा—पापिनि, कुटिल, कठोर, कुबुद्धि आदि आगे कहा है।

(२) 'येहि पापिनिहि बूझि का···'—कैकेयी ने बालपन से ही श्रीरामजी का पालन-पोषण किया, यही मकान उठाना है। मकान उठाने में बहुत समय लगता है। वैसे बालपन से कुमारावस्था-पर्यन्त पालने में भी बहुत समय लगा है। मकान छाने में समय कम लगता है, वैसे ही इसने श्रीरामजी का विवाह कराया। उसमें भी समय कम लगा। घर में सुख-सामग्री जुटाना, इसका राम-तिलक के लिये राजा से बार-बार कहना है। (क्योंकि इससे सब सुख मिलते) अब इस सम्पन्न घर-रूप श्रीसीतारामजी से इसे सुख उठाना चाहिये था। पर इसने उल्टे उनको वनवास दे दिया, यही मानों उसपर आग धर (लगा) दी। आग लगाने मे बहुत-से जीव जलते हैं वैसे ही यहाँ समस्त प्रजा विरह-रूपी अग्नि मे जलेगी—"सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो० ८३), आग लगानेवाला आततायी अर्थात् महापापी कहा जाता है, यथा—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्र-दारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥"—वसिष्ठ स्मृति (३।१६), वैसे ही वनवास देनेवाली कैकेयी 'पापिनि' कही गई।

(३) 'निज कर नयन काढ़ि ·'—यहाँ नेत्र-रूप श्रीरामजी है, उन्हें वनवास देना उस आँख का निकालना है। स्वयं वर माँगकर निकाला। यही अपने हाथ से निकालना है (इसने दोनों हाथ जोड़कर वनवास का वर माँगा भी है, यही अपने हाथों से आँख निकालना यों भी है)। अब भरत-राज्य देखना चाहती है, यह असम्भव है, क्योंकि श्रीरामजी के घर रहने पर राजा जीते रहते तो भरत को राज्य देते और यह देखती—"देउँ भरत कहँ राज बजाई।" (दो० ३०), यह राजा ने कहा ही है। पर श्रीरामजी के वन जाने पर वह देखना असम्भव है।

(४) 'डारि सुधा बिष चाहत चीखा ।'—अमृत-रूपी श्रीरामजी का प्रेम है, यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह···" (दो० २३८), राज्य-सुख विषय विष-रूप है, अर्थात् श्रीभरतजी को राज्य देकर राज-माता होकर विषय-सुख अनुभव करना चाहती है, यथा—"हौं लहिहउँ सुख राजमातु होइ सुत सिर छत्र धरैगो ।" (गी० अ० ६०), यह असम्भव है, क्योंकि पहले अमृत पी लेवे तब तो विष का स्वाद ले सकता है। वैसे यह श्रीरामजी का प्रेम पान करे, अर्थात् उन्हें घर में रखकर प्रेम करे, तब राजा जीते रहें और श्रीभरतजी को राज्य दें और यह उसका स्वाद भी ले सकती है। पर श्रीरामजी को वनवास देना अमृत का फेंकना है। अब उपर्युक्त विष-पान करने से चीखते ही मर जायगी, अर्थात् राजा की मृत्यु होगी और यह विधवा होगी। यही इसका मरना है। अब श्रीभरतजी के राज्य सुख का अनुभव कैसे करेगी ?

अलंकार—'ललित' क्योंकि वर्ण्य का प्रतिबिम्ब कहा गया है—'येहि···—निजकर—' इन दोनों में।

(५) 'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी ।'—'कुटिल' है, क्योंकि ऊपर से श्रीरामजी से स्नेह करती थी, किन्तु भीतर से द्वेष था, तभी तो उनके राज्य-तिलक से क्षोभ हुआ। 'कठोर' है, इसीसे श्रीरामजी ऐसे कोमल को वनवास दिया। 'कुबुद्धि' है, तभी तो विचार न किया कि श्रीरामजी के वन जाने से तो राजा को ही मृत्यु हो जायगी, फिर विधवा होकर मैं कौन सुख भोगूँगी। 'अभागी' है, तभी तो श्रीरामजी-से विमुख हुई। इसके भाग्य में श्रीरामजी की अमृतरूपा भक्ति नहीं है, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी ॥" (वि० १४०)। 'भइ रघुबंस बेनु बन आगी ।'—वन में बाँस की परस्पर रगड़ से अग्नि लग जाती है, वैसे ही यह (कैकेयी) इसी कुल में है और कौसल्याजी से ईर्ष्या-रूपी रगड़ की कल्पना करके अग्निरूपा हो गई कि इसने राम-विरह-रूपी अग्नि में वंश-भर को जलाया। बाँस का वन जल जाने पर वर्षा के बाद फिर हरा-भरा हो जाता है, वैसे ही "बर्षा घोर निसाचर रारी ।" (बा० दो० ४२) के बाद श्रीरामजी के आने पर रघुवंश फिर सुशोभित होगा।

(६) 'पालव बैठि पेड़···—यहाँ पेड़-रूप राजा हैं, पेड़ के भी प्राण होते हैं। वैसे राजा के प्राण-रूप श्रीरामजी हैं। पल्लव श्रीभरतजी हैं, जो पेड़-रूप राजा से जायमान हैं। यह श्रीभरतजी का आधार लेकर श्रीरामजी को वनवास दे रही है। अर्थात् राजा के प्राण ले रही है, यही पल्लव पर बैठकर पेड़ का काटना है। जैसे पेड़ के कटकर गिरने से पल्लव पर बैठे हुए काटनेवाले की भी मृत्यु होती है, वैसे ही राजा की मृत्यु से कैकेयी की भी मृत्यु है, क्योंकि स्त्री के प्राण पतिदेव ही हैं, यथा—"जिय बिनु देह ·· तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी ॥" (दो० ६४), ऐसा ही श्रीभरतजी ने भी कहा है—"पेड़ काटि तै पालव सींचा। मीन जियन निति बारि उलीचा ॥" (दो० १६०)।

'सुख महँ सोक ठाठ···'—पहले सुख के ठाट में आग लगाना ऊपर कहा गया है—"छाइ भवन पर पावक धरेऊ ।" अब उसकी जगह शोक का ठाट (समाज) ठाटा अर्थात् रचा, बाँधा। ठाठ—किसान लोग फूस से घर छाने के लिये बाँस की फट्ठियों को सीधी-तिर्छी रख बाँधकर ठाट बनाते हैं। इसपर कास-फूस आदि बिछाकर ऊपर से बाँस की फट्ठी रखकर बाँधते हैं। इसमें आग लगने से तुरत ही फैल जाता है। इसने राम-राज्य-रूपी सुख की छावनी को जला दिया। वनवास-रूपी शोक का ठाट बाँधा है, जिसमें नाना प्रकार के शोक की भेदरूपी सीधी-तिर्छी फट्ठियाँ हैं, तथा—"मोहिं लगि यह कुठाट तेहि ठाटा। घालेसि सब जग बारह बाटा ॥" (दो० २११), "जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद···", (दो० ४५)।

सदा राम येहि प्रान-समाना। कारन कवन कुटिलपन ठाना ॥६॥
सत्य कहहिं कवि नारि-सुभाऊ। सब बिधि अगह अगाध दुराऊ ॥७॥

निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई ॥८॥

दोहा—काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जम काल न खाइ ॥४७॥

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा ॥१॥

शब्दार्थ—ठानना = अनुष्ठित करना, स्थिर, दृढ़ संकल्प करना। अगह = अग्राह्य, जो पकड़ा एवं लखा न जा सके।

अर्थ—श्रीरामजी इसे सदा प्राण के समान (प्रिय) थे, इसने किस कारण यह कुटिलपन ठाना है (कि श्रीरामजी को वन भेजने का हठ किया) ॥६॥ कवि लोग स्त्री का स्वभाव कहते हैं कि इनका दुराव (कपट) सब प्रकार का अग्राह्य है और अगाध (अत्यन्त गहरा एवं अथाह) है, यह सत्य है ॥७॥ अपनी परछाँई चाहे पकड़ी जा सके, पर, हे भाई! स्त्रियों की गति (चाल, चरित) नहीं जानी जाती ॥८॥ आग क्या नहीं जला सकती? सागर में क्या नहीं समा सकता? अबला ऐसी प्रबला होती है कि यह क्या नहीं कर सकती? जगत् में किसको काल नहीं खाता? ॥४७॥ विधाता ने क्या सुनाकर क्या सुना दिया (अर्थात् राज्य-तिलक सुनाकर वनवास सुना दिया), क्या दिखाकर और अब वह क्या दिखाया चाहता है (अर्थात् पहले से भूषण-वस्त्रयुक्त श्रीरामजी को देखते रहे अब जटा-वल्कल के साथ दिखाना चाहता है, वा आनन्द-उत्सव दिखाकर अब विषाद एवं शोक दिखाना चाहता है) ॥१॥

विशेष—(१) 'सत्य कहहिं कबि···'—भाव यह है कि अभी तक पुस्तकों में लिखा हुआ ही पाते थे और कवियों को कहते हुए भी सुनते थे। आज प्रत्यक्ष देखा, तब उसकी सत्यता पर विश्वास हुआ। स्त्रियों के स्वभाव में जो दुराव (कपट) है, उसे ही अगह और अगाध कहा है। स्त्री के दुराव की कथा महाभारत स्त्रीपर्व अ० २७ में है। जब पांडव लोग रण में मरे हुए सगोत्रियों को जल देने लगे। तब उनकी माता कुन्ती रोकर और कर्ण के शौर्य की प्रशंसा कर कहा कि वह मेरा ही प्रथम पुत्र है, सूर्य के द्वारा उसे मैंने उत्पन्न किया था। अतः, वह तुमलोगों का बड़ा भाई है। उसे भी जलदान करो। इस-पर युधिष्ठिर आदि ने बहुत पश्चात्ताप किया कि हमलोगों ने ज्येष्ठ भाई को मारा है। यदि जानते तो हम उसे ही राजा बनाते और पाँचो भाई उसीकी सेवा करते। रोते हुए युधिष्ठिर आदि ने कर्ण को तिलाञ्जलि दी और फिर युधिष्ठिर ने शाप दिया है—"अतो मनसि यद्गुह्यं स्त्रीणां तन्न भविष्यति।" अर्थात् अब से स्त्रियों के मन में कोई गुप्त बात न रह सकेगी। यही शाप अन्यत्र भी कहा गया है—"शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः। न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः॥" (महा० शान्ति० ६।११)।

यह द्वापर युग के अन्त की बात है, इसके पहले तो स्त्रियों में वैसा दुराव रहता ही था। इन्हीं दोनों के भाव क्रमशः आगे 'निज प्रतिबिंब···' और 'काह न पावक···' में उपमा से प्रकट करेंगे।

(२) 'निज प्रतिबिंब···जानि न जाइ···'—'नारि गति' उपर्युक्त दुराव को ही कहा है, यथा—"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥" (दो० १६१), अर्थात् यह भीतर से श्रीरामजी से द्वेष रखती थी, उसे ऐसा छिपा रक्खा था कि आज तक किसीने न लख पाया। जैसा अपना प्रतिबिम्ब पकड़ में नहीं आता। 'भाई' यह अवधवासियों के परस्पर का सम्बोधन है। अपने मन को भी ऐसे प्रसंग में भाई कहा जाता है, यथा—"करइ बिचार करउँ का भाई।" (सुं० दो० ८), इसमें उपर्युक्त 'अगह' का भाव है।

(३) 'काह न पावक जारि···'—यहाँ 'अगाध' के भाव प्रकट करते हैं। इसने विरह-अग्नि में सबको जलाया, शोकसागर में डुबाया और राजा को कालवश किया, इसी लक्ष्य पर ये उपमाएँ दी गई

हैं, अग्नि के समान दाहकता, यथा—"आगे दीख जरत रिसि भारी ।···" से "सत्य कि जीवन लेइहि मोरा ॥" (दो० ३०) तक तथा—"जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा ।" (दो० ५०), "सहि न सके रघुबर बिरहागी ।" (दो० ८३) । समुद्र के समान, यथा—"पाप पहार प्रगट भइ सोई ।" से "चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥" (दो० ३३) तक, अर्थात् सबको ले जाकर विपत्ति-सागर में डुबा दिया । काल के समान, यथा—"लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर ।" (दो० ३५) तक । 'का न करइ' अर्थात् अग्नि, समुद्र एवं काल के-से कार्य करने में अकेली अबला समर्थ है । है तो अबला, पर माया (कपट) के द्वारा प्रबल है, उसी कपट की अगाधता से यह अग्नि के समान दाहक, समुद्र के समान बोरक और काल के समान मारक हुई । अग्नि, समुद्र और काल तीनों जड़ हैं, इनकी उपमा दी गई, क्योंकि अबला भी जड़-जाति कही गई है—"अबला अबल सहज जड़ जाती ।" (उ० दो० ११४), 'अबला प्रबल', यथा—"नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् । याभिर्विलोलतरतारक-दृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥" (भर्तृहरिशतक शृंगार० १०) । पावक कहकर साथ ही समुद्र कहा है, इससे समुद्र-शोषक अग्नि बड़वानल की तरह इसे जनाया है कि जलाने में बड़वानल और गम्भीरता में समुद्र के समान है । बड़वानल समुद्र में रहता है और उसीको जलाता है । वैसे सी यह अयोध्यारूपी समुद्र में रहती है और अब इसीको जलाने लगी, तथा—"अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं बडवामुखम् । क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥" (महा० अनु० ३८।२९), अर्थात् यम, पवन, मृत्यु, पाताल, बड़वामुख, क्षुरधारा (छूरे की तेजधार के समान तीक्ष्ण स्वभाव) विष और अग्नि की भाँति अकेली स्त्री विनाश-साधन करती है । यहाँ 'काकु वक्रोक्ति' अलंकार है ।

'बिधि काह सुनावा'—अर्थात् विधि होकर भी अविधि ही करता है, यह ठीक नहीं ।

एक कहहिं भल भूप न कीन्हा । बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा ॥२॥
जो हठि भयेउ सकल दुख भाजनु । अबला बिबस ग्यान गुन गा जनु ॥३॥
एक धरमपरमिति पहिचाने । नृपहिं दोष नहिं देहिं सयाने ॥४॥
सिबि - दधीचि-हरिचंद-कहानी । एक एक सन कहहिं बखानी ॥५॥

शब्दार्थ—हठि = बलात, निश्चय करके । भाजन = पात्र, बर्तन । परमिति = सीमा, मर्यादा ।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि राजा ने अच्छा नहीं किया जो इस दुर्बुद्धि कैकेयी को विचारकर वर नहीं दिया ॥२॥ जो निश्चय करके समस्त दुःखों का पात्र हो गया, स्त्री के विशेष अधीन होने से मानों (उनका) ज्ञान और गुण जाते रहे ॥३॥ एक, जो धर्म की मर्यादा को जाने हुए हैं, वे सयाने राजा को दोष नहीं देते ॥४॥ राजा शिवि, दधीचि ऋषि और हरिश्चन्द्र महाराज की कहानी (कथा) एक दूसरे से बखान कर कहते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'एक कहहिं भल भूप न ···'—प्रथम बहुत लोगों ने कैकेयी को दोष दिया था तब किसी-किसीने राजा को भी दोष दिया, तथा—"ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥ ' (दो० ११०) ।

(२) 'जो हठि भयेउ सकल··· '—राजा ने स्वयं उसपर मोहित होकर वर माँगने को कहा । फिर सत्य की सराहना करके राम-शपथ भी कर लो, वे इसीसे बँध गये । विचार न किया कि रामराज्याभिषेक के उत्साह अवसर पर यह कुपित है, अवश्य यह प्रतिकूल होगी, इसपर ध्यान रखते तो नीति दृष्टि से सब जान लेते । ऐसे मोहित न होते और न राम शपथ ही करते । इसीसे वह वर सब दुःखों का पात्र हो गया । 'सकल दुख'—राम-राज्य-रस-भंग का, राम-बन-बास का, प्रजा के नाश का और अपने मरने का दुःख ।

'अबला बिबस'—राजा अपने से ही उसके वश हुए, अन्यथा उसे कोई बल न था कि ऐसा अनर्थ कर सकती। 'ज्ञान-गुन गा'—ज्ञान के जाने ही पर उसमें मोहित हुए, नीतिज्ञता आदि गुण न चले जाते तो उसके छल में कैसे पड़ते ?

(३) 'एक धरमपरमिति ···'—कैकेयी के दोषों का खण्डन किसीने नहीं किया, क्योंकि लोक-दृष्टि से वह पापिनी है। उसने रामजी को वनवास दिया, पति को मारा और सभी को दुःख दिया। पर राजा को दोष देना धर्मज्ञ-सयाने न सह सके। अतः, उन्होंने खण्डन किया। पुनः राजा के गुणों की बड़ाई करते हुए आगे शिवि आदि के उदाहरण दिये। इससे यह भी जनाया कि राजा को दोष जिन्होंने दिया है, वे धर्म-मर्यादा नहीं समझते और वे सयाने भी नहीं हैं।

(४) 'सिवि-दधीचि-हरिचंद-कहानी।···'—राजा शिवि और दधीचि ऋषि की कथाएँ पूर्व दो० ३० चौ० ७ में लिखी गई हैं। हरिश्चन्द्रजी की कथा बहुत प्रसिद्ध है—"ये सूर्यवंश के अट्ठाईसवें राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। पुराणों में ये बड़े ही दानी और सत्यव्रती प्रसिद्ध है। मार्कण्डेय पुराण में इनकी कथा विस्तार से आई है। इन्द्र ने ईर्ष्यावश विश्वामित्रजी को इनकी परीक्षा के लिये भेजा। विश्वामित्रजी ने इनसे सारी पृथ्वी दान में ली और फिर ऊपर से दक्षिणा माँगने लगे। अन्त में राजा ने रानी सहित अपने को बेचकर ऋषि की दक्षिणा चुकाई। वे काशी में डोम के सेवक होकर श्मशान पर मुर्दा लानेवालों से कर वसूल करने लगे। एक दिन उनकी रानी अपने मृतपुत्र को श्मशान में लाई। उसके पास कर देने के लिये कुछ भी द्रव्य नहा था, राजा ने उससे भी कर नहीं छोड़ा और आधा वस्त्र फड़वाया। इसपर भगवान् ने प्रकट होकर पुत्र को जिला दिया और अन्त में अयोध्या की प्रजा सहित सबको वैकुण्ठ भेज दिया।"—हिन्दी शब्द सागर।

इन कथाओं से दिखाया कि राजा का ज्ञान-गुण नहीं गया, किन्तु उन्होंने सत्य-धर्म का पालन किया है। जैसे कि इन सब धर्मात्मा लोगों ने दुःख सहकर प्रतिज्ञा की रक्षा की है। बहुत लोग कहनेवाले हैं, कोई शिवि की, कोई दधीचि आदि की कथाएँ कहते हैं।

राजा के समालोचक तीन प्रकार के कहे गये। आर्थिक दृष्टिवालों ने दोष दिया, धार्मिकों ने निर्दोष कहा और पौराणिकों ने धार्मिकों के कथन की पुष्टि की, यही अन्तिम निर्णय (सिद्धान्त) रहा।

एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं ॥६॥
कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा ॥७॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। राम भरत कहँ प्रानपियारे ॥८॥

दोहा—चंद चवइ बरु अनल-कन, सुधा होइ बिष-तूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु, भरत राम-प्रतिकूल ॥४८॥

शब्दार्थ—संमत = सलाह, अनुमति। अलीहा (अलीक) = असत्य। उदास = निरपेक्ष।

अर्थ—एक (कैकेयी के कर्त्तव्य में) श्रीभरतजी की सम्मति कहते हैं, एक (कोई) यह सुनकर उदास भाव से (मौन) रह जाते हैं ॥६॥ एक (कोई) हाथ से कान मूँदकर और दाँत तले जीभ दबाकर कहते हैं कि यह बात असत्य है ॥७॥ ऐसा कहने से तुम्हारे सब सुकृत नष्ट हो जायँगे, श्रीरामजी श्रीभरतजी को प्राणों के समान प्यारे हैं ॥८॥ चन्द्रमा चाहे आग के कण चुवावे (गिरावे) और अमृत विष के समान हो जाय, पर श्रीरामजी के प्रतिकूल (विरुद्ध) श्रीभरतजी कभी स्वप्न में भी कुछ नहीं करेंगे ॥४८॥

विशेष—(१) 'कान मूँदि कर रद गहि···'—अर्थात्—ऐसी बात का कहना और सुनना दोनों ही पाप हैं। अतः, हम न कान से सुनेंगे और न जीभ से कहेंगे। अप्रिय बात के प्रति ऐसी रीति है।

(२) 'सुकृत जाहिं अस···'—सुकृत के साथ ही उसके फल रूप सुख और सुगति भी नष्ट हो जाते हैं। अन्यत्र श्रीभरतजी के प्रति ही ऐसी प्रतिकूल भावना पर यह भी कहा गया है, यथा—"मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥' (दो० १६८), यह कौसल्याजी ने कहा है—सुख इस लोक में और सुगति परलोक में नहीं पाते, यथा—"उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥" (दो० २६२)—यह श्रीरामजी ने कहा है।

(३) 'चंद चवइ बरु अनल···'—चन्द्रमा रस-मय है, किरणों द्वारा अमृत की वृष्टि करके वनस्पतियों को पोसता और भूमि की ताप को हरण करता है। वह चाहे अपना स्वभाव छोड़कर चिनगारियाँ बरसावे। अमृत चाहे विषवत् मृत्युकर हो जाय, अर्थात् ये सब असम्भव बातें चाहे हो जायँ, पर श्रीभरतजी श्रीरामजी के प्रतिकूल नहीं हो सकते।

इस प्रसंग में तीन प्रकार की वार्त्ता करनेवाले हैं—"एक भरत कर संमत कहहीं।" ये अधम, "एक उदास भाय सुनि रहहीं।" ये मध्यम और "कान मूँदि ···" से "चंद चवइ ···" तक की वार्त्तावाले उत्तम लोग हैं।

एक बिधातहि दूषन देहीं। सुधा दिखाइ दीन्ह बिष जेहीं॥१॥
खरभर नगर सोच सब काहू। दुसह दाह उर मिटा उछाहू॥२॥
बिप्रबधू कुल-मान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥३॥
लगीं देन सिख सील सराही। बचन बान सम लागहिं ताही॥४॥

शब्दार्थ—मान्य = प्रतिष्ठित, पूज्य। जठेरी = बड़ी बूढ़ी। सील (शील) = अच्छा स्वभाव।

अर्थ—एक (कोई—भाग्यवादी) ब्रह्माजी को दोष देते हैं कि जिसने अमृत (राज्य-तिलक) दिखाकर विष (वनवास) दिया॥१॥ नगर में खलबली मच गई, सब किसीको शोच है, हृदय में असह्य जलन है, आनन्दोत्साह मिट गया॥२॥ ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुल की मान्या और बड़ी बूढ़ी एवं जो कैकेयी की परम प्यारी हैं॥३॥ वे सब कैकेयी की सद्वृत्ति की प्रशंसा करके उसे समझाने लगीं, पर उनके वचन उसको बाण जैसे लगते हैं॥४॥

विशेष—'एक बिधातहि···'—यहाँ तक 'एक' 'एक' के संकेत से कहे जानेवाले समालोचक आठ प्रकार के कहे गये। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कहते हैं। प्रकृति अष्टधा कही भी गई है, यथा—"आठइँ आठ प्रकृति पर निरबिकार श्रीराम।" (वि० २०३), "प्रकृतिरष्टधा" (गीता० ७।४) 'सुधा दिखाइ दीन्ह बिष···'—राम-तिलक सुधा और वनवास विष है। यहाँ 'ललित' तथा 'विषादन अलंकार' हैं।

(२) 'खरभर नगर सोच···'—पूर्व—"मुख सुखाहिं लोचन श्रवहिं···" से नगर की खलबली और शोच कहकर फिर पुरवासियों की वार्त्ता कहने लगे थे। अब वहीं से फिर प्रसंग लिया। 'दुसह दाह'-राम-राज्य नहीं हुआ, इससे दाह और उसपर भी वनवास हुआ, इससे दुस्सह दाह हुआ। 'उर' शब्द दीपदेहली है। 'मिटा उछाहू'—उछाह पूर्व कहा गया था—"तेहि निसि नींद परी नहिं काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥" (दो० ३६), वह मिट गया।

(३) 'बिप्र बधू कुल मान्य···'—ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुलमान्या क्षत्रिय वर्ण की, जठेरी वैश्य वर्ण की और परम प्रिय दासियाँ शूद्रवर्ण की भी उपदेश करने में थीं, क्रमशः न्यून कही गईं। अथवा विप्र-बधू और कुलमान्याओं में जो बड़ी-बूढ़ी और कैकेयी की परम प्रिय हैं, वे सब-शिक्षा देने लगीं।

(४) 'सील सराही'—शील (सद्वृत्ति) की सराहना करती हैं कि जिससे हमारा शील मान कर शिक्षा को सुनें, ये सब अच्छे स्वभाववाली हैं, मिलकर आई हैं कि हमारे लिहाज में पड़कर मान जाय। पर उसके अभीष्ट के विरुद्ध कहती है, वह समझती है कि ये कौसल्याजी के पक्ष-समर्थन में आई हैं, इसीसे इनके वचनों से उसे बाण की-सी चोट पहुँची है, यथा—"सुनत नृपहिं जनु लागहिं सायक। (दो० ३७)।

भरत न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यह सब जग जाना ॥५॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आज बन देहू ॥६॥
कबहुँ न कियेहु सवतिआरेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू ॥७॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥८॥

दोहा—सीय कि पिय संग परिहरिहिं, लखन कि रहिहहिं धाम।
राज कि भूँजब भरतरपु, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥४९॥

अस बिचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोठि जनि होहू ॥१॥

शब्दार्थ—आरेसू = ईर्ष्या, डाह, विरोध। पारा = गिराया, डाला। भूँजब = भोग करेंगे। कोठि = कोठी, कोठिला, जिसमें किसान अनाज रखते हैं।

अर्थ—श्रीभरतजी मुझे श्रीरामजी के समान प्यारे नहीं हैं, यह सदा से कहती आई हो। इसे सारा संसार जानता है ॥५॥ श्रीरामजी पर स्वाभाविक स्नेह करती रही हो, आज किस अपराध से उन्हें वनवास देती हो ॥६॥ तुमने कभी भी सौतियाडाह नहीं की, तुम्हारी (पारस्परिक) प्रीति और प्रतीति को सारा देश जानता है ॥७॥ कौसल्याजी ने अब तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जिसके कारण नगर-भर पर तुमने वज्र-पात किया, अर्थात् एक कौसल्याजी के कारण सारे नगर को महान् दुःख दिया ॥८॥ सीताजी क्या पति का साथ छोड़ेंगी? श्रीलक्ष्मणजी क्या घर में रहेंगे? श्रीभरतजी क्या श्रीअवधपुर में राज्य भोग करेंगे? और, राजा क्या बिना श्रीरामजी के जीवित रहेंगे? अर्थात् न तो श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी घर रहेंगे, न श्रीभरतजी राज्य भोगेंगे और न राजा ही जीवित रहेंगे ॥४९॥ ऐसा हृदय में विचारकर क्रोध छोड़ो, शोक और कलंक की कोठी मत बनो ॥१॥

विशेष—(१) 'भरत न मोहि प्रिय···बन देहू ॥'—सखियों ने पहले श्रीरामजी पर इसका प्रेम कहा कि मुख से कहती थी और हृदय से भी प्रेम करती थी। न बोली, तब अपराध पूछा कि हो तो समाधान किया जाय, पर न बोली, तब अनुमान किया कि कौसल्याजी से कोई विरोध न हुआ हो, इसलिये कहा कि—'कबहुँ न कियेहु···" अर्थात् कौसल्याजी बड़ी हैं, उनसे कोई वैर माने होती तो प्रीति-प्रतीति का नाश हो गया होता, किन्तु उनमें तो तुम्हारी प्रीति-प्रतीति जगत्प्रसिद्ध है।

(२) 'कौसल्या अब काह ···'—अभी यदि कौसल्याजी ने कुछ बिगाड़ किया हो तो कहो, क्योंकि तुम्हारी इस करनी से तो सारे नगर का नाश हो रहा है। अब आगे दोहे में वज्र गिराने का स्वरूप एवं भावी अनर्थ शृङ्खला दिखाती हैं—'सीय कि पिय···अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी पर प्रेम हो तो सम्भवतः मान जाय फिर भी नहीं बोली, तब दिखाया कि इस तरह रक्त-सना हुआ राज्य-भोग श्रीभरतजी न करेंगे, राजा नहीं ही जियेंगे, तब तो तुम्हें केवल शोक और कलंक ही की कोठी बननी होगी एवं विधवा होगी।

भरतहिं अवसि देहु जुवराजू । कानन काह राम कर काजू ॥२॥
नाहिन राम राज के भूखे । धरमधुरीन बिषय - रस रूखे ॥३॥
गुरुगृह बसहु राम तजि गेहू । नृप सन अस बर दूसर लेहू ॥४॥
जौ नहिं लगिहहु कहे हमारे । नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ॥५॥
जौ परिहास कीन्हि कछु होई । तौ कहि प्रगट जनावहु सोई ॥६॥
राम सरिस सुत कानन जोगू । काह कहिहि सुनि तुम्ह कहँ लोगू ॥७॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई । जेहि बिधि सोक कलंक नसाई ॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी को युवराज पद अवश्य दो, पर श्रीरामजी के वन जाने का क्या काम है ? ॥२॥ श्रीरामजी राज्य के भूखे नहीं हैं। वे धर्म की धुरी को धारण करनेवाले हैं, वे विषय के आनन्द से उदासीन रहनेवाले हैं ॥३॥ 'श्रीरामजी घर छोड़कर गुरुजी के घर में रहें' ऐसा दूसरा वर राजा से ले लो ॥४॥ जो हमारे कहे पर न मानोगी तो कुछ भी तुम्हारे हाथ नहीं लगेगा ॥५॥ यदि कुछ हँसी की हो तो स्पष्ट कह दो कि हमने हँसी की है ॥६॥ श्रीरामजी के समान पुत्र क्या वन जाने के योग्य हैं ? इस बात को सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे ? ॥७॥ शीघ्र उठो और वही उपाय करो, जिस उपाय से शोक और कलंक दूर हो ॥८॥

विशेष—(१) 'कानन काह राम कर काजू'—अर्थात् श्रीभरतजी को युवराज करने में तो स्वार्थ है, पर श्रीरामजी को वन भेजने में कोई स्वार्थ नहीं है। यदि यह डर हो कि ये श्रीभरतजी के राज्य में उपद्रव करेंगे उसपर कहती हैं—'नाहिन राम···' अर्थात् कोई अधर्मी और विषय-लोलुप होता तो ऐसी शंका ठीक होती, वे धर्म धुरीण हैं। अतः, पितृदत्त भरत-अधिकार में बाधक होने का अधर्म न करेंगे। यदि राम-वनवास माँग चुकने का हठ हो कि मेरी बात रहे तो उसका उपाय कहती हैं—'गुरु गृह बसहु···' अर्थात् गुरु मुनि हैं, उनका घर वन के समान है, वहाँ श्रीरामजी के रहने से तुम्हारा वचन, राजा का सत्य और, जीवन रहेगा और श्रीरामजी का वनवास भी।

(२) 'नहिं लागिहि कछु हाथ···' कैकेयी की हार्दिक भावना भरतजी ने आगे कही है—"हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै सुत सिर छत्र धरैगो। कुल कलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ॥" (गी० अ० ६०), इसका अनुमान कर कहती है कि न श्रीभरतजी का राज्य ही होगा, न राजा जियेंगे। तुम विधवा होगी और कलंक की कोठी बनोगी। सखियों का यह वचन शाप के समान है।

(३) 'राम सरिस सुत कानन जोगू।'—अर्थात् वे तो नेत्रों में रखने योग्य हैं, फिर वनवास देने से—'काह कहहिं सुनि···' अर्थात् लोक में निन्दा होगी, यथा—"आँखिन में, सखि ! राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बन बास दियो है।" "रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।" (क० अ० २०), "गारी सकल कैकइहि देहीं। नयन बिहीन कीन्ह जग जेहीं ॥" (दो० १५५)। 'जौ परिहास कीन्ह ··' से उसे हठ छोड़ने का अवसर दिया है। 'उठहु बेगि सोइ···'—अर्थात् श्रीरामजी वन जाने को तैयार हो रहे हैं। अतः, जल्दी उठो और स्वयं उन्हें रोकने का उपाय करो, अभी वे माता से आज्ञा लेने गये हैं, वहीं पर जा, आज्ञा न देने दो, 'मैंने हँसी की थी', इस बात पर रुकेंगे। उठना कहा, क्योंकि पहले से बैठी है, यथा—"सब प्रसंग···बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ॥" (दो० ४०)। "अस बिचारि उर···सोक-कलंक कोठि जनि होहू ॥" यह उपक्रम है और यहाँ "उठहु बेगि···जेहि बिधि सोक कलंक नसाई ॥" पर उसका उपसंहार है। इसमें शोक और कलंक दूर करने का उपाय किया, आगे इसकी पुष्टि में कुछ और विशेष उपाय कहती हैं।

छन्द—जेहि भाँति सोक कलंक जाइ उपाय करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहिं जात बन जनि बात दूसरि चालही।
जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी॥

सो०—सखिन्ह सिखावन दीन्ह, सुनत मधुर परिनाम हित।
तेइ कछु कान न कीन्ह, कुटिल प्रबोधा कूबरी॥५०॥

शब्दार्थ—चालही=(सं० चालन)=प्रसंग चला, कह। धौं (सं० ध्रुव का अपभ्रंश है)=निश्चय ही।

अर्थ—जिस तरह (सबका) शोक और (तुम्हारा) कलंक दूर हो, उस तरह का उपाय करके कुल की रक्षा कर। हठ करके श्रीरामजी को वन जाने से लौटा (रोक), वे वन को जा रहे हैं। बस, अब दूसरी बात ही न चला। जिस प्रकार सूर्य के बिना दिन, प्राण के बिना देह और चन्द्रमा के बिना रात (अशोभित) हैं। वैसे ही, तुलसीदासजी कहते हैं कि सखियाँ कहती हैं कि प्रभु श्रीरामजी के बिना अयोध्या हो जायगी, हे भामिनि! यह निश्चय ही हृदय में समझ (वा, हृदय में जरा समझ तो!)॥ सखियों ने ऐसी शिक्षा दी, जो सुनने में मधुर और परिणाम (अन्त) में हितकर है, परन्तु उसने उसपर कुछ भी कान न दिया (न सुना, न माना), क्योंकि वह तो कुटिला कुबरी मन्थरा की सिखाई हुई है॥५०॥

विशेष—(१) 'जेहि भाँति सोक कलंक···हठि फेरु···'—श्रीरामजी वन जाने को कह चुके हैं—"बिदा मातु सन आवउँ···" (दो० ४५), वे अवश्य जायँगे, उससे 'सोक-कलंक' भी अवश्य ही होगा। शोक राम-वन गमन का और कलंक ज्येष्ठ भाई के रहते छोटे को राज्य देने का, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४), कलंक—"भइ रघुबंस बेनु बन आगी।" (दो० ४६)। अतः, हठ करके रोको कि हम न जाने देंगी, तभी रुकेंगे अन्यथा वे किसीकी भी न सुनेंगे, क्योंकि धर्म धुरीण हैं। यही शोक-कलंक मिटने का उपाय है।

(२) 'जनि बात दूसरि चाल ही'—अर्थात् हठात् रोकने के अतिरिक्त दूसरी बात ही न करो। श्रीरामजी से यही कहो कि हम किसी तरह वन न जाने देंगी। उनसे और बात ही न करो।

(३) 'जिमि भानु बिनु दिन···'—बादलों की सघन घटा में सूर्य के प्रकाश बिना दिन मलीन रहता है, उसी तरह श्रीरामजी के वन जाने से अवध के पुरुष मलीन रहेंगे। चन्द्रमा (राकेश) के बिना रात मलीन (अँधेरी) रहती है, वैसे ही श्रीरामजी के बिना अवध की स्त्रियाँ मलीन रहेंगी। प्रमाण—"श्री हत सीय-बिरह दुति हीना। जथा अवध नर-नारि मलीना॥" (दो० १९८), "अति विषाद बस लोग लोगाई।" यह आगे है। श्रीरामजी सूर्य और चन्द्र रूप हैं, यथा—"भानु-कुल-भानू" (दो० ४०), "निरखि राम राकेस" (उ० दो० ९)।

जैसे बादलों के हट जाने से दिन और शुक्लपक्ष की (चन्द्रमा के साथ होने पर) रात—ये दोनों फिर सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामजी के लौटकर घर आने पर ये नर-नारी पुनः सुशोभित होंगे। पुनः जैसे प्राण बिना तन अशोभित, वैसे श्रीरामजी के वन जाने और राजा के प्राण छोड़ देने पर श्रीरामजी की सब माताएँ अशोभित हो जायँगी। जैसे मृत-देह फिर सुशोभित नहीं होता, वैसे माताएँ फिर सुशोभित नहीं होंगी, क्योंकि इनके प्राण-रूप तो राजा ही हैं, यथा—"जिय बिनु देह···तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥" (दो० ६४), इस तरह सम्पूर्ण अयोध्या का अंग आ गया। सामान्य नर-नारी में राजा-रानी नहीं कहे जा सकते, इसलिये रानियों को प्रजा-गण (की स्त्रियों) से पृथक् कहा गया।

(४) 'प्रभु बिनु'—दिन के स्वामी सूर्य, रात के चन्द्रमा और तन के प्राण हैं, वैसे अवध के नर-नारियों के स्वामी श्रीरामजी हैं और रानियों के स्वामी राजा के भी प्राणाधार श्रीरामजी ही हैं। श्रीरामजी के लौटने पर समष्टि में अवधपुरी की शोभा कही गई है, यथा—"अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी ॥" (उ० दो० २)।

अलंकार—'विनोक्ति प्रथम' एवं 'एकधर्म मालोपमा'—'जिमि भानु बिनु···' में।

उतर न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ॥१॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी ॥२॥
राज करत येहि देंव बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई ॥३॥
येहि बिधि बिलपहिं पुर-नर-नारी। देहि कुचालिहि कोटिक गारी ॥४॥

शब्दार्थ—रूखी = स्नेह रहित, उदासीन। दैव = विधाता। बिगोई = बिगाड़ दिया।

अर्थ—कैकेयी (उन सखियों के वचनों का) उत्तर नहीं देती। अत्यन्त क्रोध के कारण स्नेह रहित (रुष्ट) हो गई है (उन्हें वह इस तरह देखती है), मानों हिरनियों की ओर भूखी बाघिन देख रही हो ॥१॥ रोग को असाध्य जानकर (कि इसकी हठ रूप-व्याधि नहीं निवृत्त होगी) उन्होंने (इसके समझाने का उपाय) छोड़ दिया और यह कहती हुई चली कि यह मन्दबुद्धि और अभागिन है ॥२॥ राज्य करते हुए इसे दैव ने बिगाड़ दिया। इसने ऐसा किया कि जैसा कोई न करे ॥३॥ नगर के स्त्री-पुरुष इस तरह विलाप करने लगे और कुत्सित आचरणवाली कैकेयी को करोड़ों (बहुत) गालियाँ देने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'दुसह रिस रूखी'—रुष्ट तो पहले ही से थी। यहाँ अपने विरुद्ध शिक्षा से अत्यन्त क्रुद्ध होकर रुष्ट हो गई। अतः, 'दुसह' कहा। 'मृगिन्ह चितव जनु···'—बाघिन बूढ़े मृगों का मांस नहीं खाती, वैसे ही कैकेयी ने इन्हें बूढ़ी (जठेरी) जानकर छोड़ दिया। मुख से उत्तर न देती हुई, उन्हें क्रोध से देखा।

(२) 'ब्याधि असाधि···'—असाध्य जानकर वैद्य दवा बन्द कर देते हैं, वैसे इन सखियों ने उपदेश देना बन्द कर दिया कि यह हमारे वश की नहीं।

'मतिमंद अभागी'—बुद्धि की मन्द है, इसीसे इसने उपदेश न समझा और न उत्तर दिया, उल्टे क्रोध किया, यथा—"तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥" (सुं० दो० ३९), यही तामसी बुद्धि है, यथा—"अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥" (गीता १८।३२), इसीको 'मतिमंद' कहा गया है। अभागी है, क्योंकि पति-पुत्र आदि सबसे विमुख हुई और विधवा भी होगी। श्रीरामजी के विमुख होने से तो अभागिनी है ही। राजा ने कहा भी—"फिरि पछितैहसि अंत अभागी।" (दो० ३५)।

(३) 'येहि बिधि बिलपहिं···'—विलाप का प्रसंग—"सुनि भये बिकल सकल नर-नारी।" (दो० ४५), से प्रारम्भ हुआ था, बीच में और-और प्रसंग चल पड़े। अब फिर वही प्रसंग लेते हैं—'देहिं कुचालिहि···'—कुचाली को प्रायः सामान्य लोग, उनमें विशेष कर स्त्रियाँ गाली देती ही हैं, यथा—"खर भर देखि बिकल पुर नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥" (बा० दो० २६७), "सब मिलि देहिं रावनहि गारी।" (लं० दो० ४०)।

राजा दशरथजी ने कैकेयी को समझाया था, वैसे ही इन पुरवासिनि सखियों ने भी शिक्षा दी है—दोनों का मिलान—

राजा	पुरवासिनी
१—बानी सबिनय तासु सोहाती ।	लगीं देन सिख सील सराही ।
२—देउँ भरत कहँ राज बजाई ।	भरतहि अवसि देउ जुवराजू ।
३—लोभ न रामहिं राज कर,	नाहि न राम राज के भूखे ।
४—तेहि ते परेउँ मनोरथ छूछे ।	नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ।
५—राम मातु कछु कहेउ न काऊ ।	कौसल्या अब काह बिगारा ।
६—बर दूसर असमंजस माँगा ।	नृप मन अस बर दूसर लेहू ।
७—रिसि परिहाँस कि साँचेहु साँचा ।	जो परिहास कीन्ह कछु होई ।
८—कहु तजि रोष राम अपराधू ।	केहि अपराध आजु बन देहू ।
९—तुहूँ सराहसि करसि सनेहू ।	करहु राम पर सहज सनेहू ।
१०—भोर प्रतीति प्रीति करि हाँती ।	प्रीति प्रतीति जान सब देसू ।
११—जासु सुभाउ अरिहु अनुकूला ।	राम सरिस सुत कानन जोगू ।
१२—जीवन मोर राम बिनु नाहीं ।	नृप कि जिइहि बिनु राम ।
१३—चहत न भरत भूपतहि भोरे ।	राज कि भूजब भरत पुर ।
१४—अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी ।	उठहु बेगि सोइ करहु उपाई ।
१५—जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ।	सोक कलंक कोठि जनि होहू ।
१६—नाहित जरिहि जनम भरि छाती ।	नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ।
१७—देखी ब्याधि असाधि नृप ।	ब्याधि असाधि जानि तिन्ह
१८—लोचन ओट बैठु मुँह गोई ।	तिन्ह त्यागी ।
१९—फिरि पछितैहसि अंत अभागी ।	चलीं कहत मतिमंद अभागी ।
२०—बिलपत नृपहि भयेउ भिनुसारा ।	एहि बिधि बिलपहिं पुर नर-नारी ।

जरहिं बिषमजर लेहिं उसासा । कवनि रामबिनु जीवनआसा ॥५॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी । जनु जलचरगन सूखत पानी ॥६॥
अति बिषाद बस लोग लोगाईं । गये मातु पहिं राम गोसाँईं ॥७॥
मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ । मिटा सोच जनि राखइ राऊ ॥८॥

दोहा—नवगयंद रघुबीर मन, राज अलान - समान ।
छूट जानि बन-गवन सुनि, उर अनंद अधिकान ॥५१॥

शब्दार्थ—बिषमजर = विषम ज्वर, यह सामान्य ज्वर के बिगडने पर अथवा ज्वर अच्छा होने के प्रथम ही कुपथ्य करने पर होता है। इसमें नाड़ी की गति बदलती रहती है, ताप भी सदा एक सा नहीं रहता। उसासा = ऊँची साँस, आह। चाऊ = उत्साह। नवगयंद = नया पकडा हुआ हाथी। अलान = १ -हाथी के बाँधने का खूँटा, २—बाँधने का रस्सा—विश्वकोश, मेदिनी। १—हाथी बाँधने का सिकड, २—बंधन, बेडी—हि० श० सा०। लकडी की तिकोनी बेडी, जिसके भीतर लोहे के काँटे होते हैं। यह नवीन हाथी के पाँव में लगाई जाती है कि जिससे वह उछल-कूद नहीं सकता।—दीनजी

अर्थ—वे (पुरवासी) विषम ज्वर से सन्तप्त हो रहे हैं, ऊर्ध्व श्वास (लम्बी साँस) ले रहे हैं (और कहते हैं कि) श्रीरामजी के बिना जीने की कौन आशा है ॥५॥ बहुत भारी वियोग समझकर प्रजागण व्याकुल हैं, मानों जलचर समूह पानी के सूखते हुए अकुलाते (छटपटाते) हैं ॥६॥

स्त्री-पुरुष सभी अत्यन्त विषादवश हो रहे हैं। उधर गोस्वामी श्रीरामजी माता कौसल्याजी के पास गये ॥७॥ उनका श्रीमुख प्रसन्न है और चित्त में चौगुना उत्साह है, (अब) यह शोच दूर हो गया कि कहीं राजा दशरथ रख न लें ॥८॥ रघुवीर श्रीरामजी का मन नवीन पकड़े हुए हाथी के समान है और राज्यतिलक 'अलान' के समान है। वन का जाना सुन उस 'अलान' का छूटना जानकर उनके हृदय में आनन्द बढ़ गया ॥५१॥

विशेष—(१) 'जरहिं बिषमजर···'—विषम ज्वर में पहले कम्प होता है, फिर दाह और श्वासा बहुत चलती है, और जीने की आशा नहीं रहती, वैसे इन्हें वियोग भय से कम्प है। विरह से अत्यन्त ताप है, ऊर्ध्व श्वास ले रहे हैं और जीने की आशा छूट गई है, क्योंकि विषम ज्वर बहुत काल तक रहता है, वैसे इनका यह वियोग १४ वर्ष का है। षिषम ज्वर में लोग उठकर भागते हैं, वैसे इनकी भी दशा कही गई, यथा—"सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो० ८३)।

(२) 'बिपुल बियोग प्रजा···'—वियोग १४ वर्ष का है। अतः, 'बिपुल' कहा है। श्रीरामजी का वन जाना जल का सूखना है। प्रजागण जलचर हैं, मछली न कहकर जलचर ही कहा है, क्योंकि जल सूखने पर मछली मर जाती है, पर अन्य जलचर जीते रहते हैं। फिर जल पाने पर सुखी हो जाते हैं, वैसे ही पुरवासी तड़पते हुए जीते रहेंगे। श्रीरामजी के फिर आने पर सुखी होंगे। ऊपर 'विषमजर' से हृदय की दशा कही गई है और यहाँ शरीर की।

(३) 'अति बिषाद बस लोग···'—यथा—"जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई ॥" (दो० ४५)। 'गोसाईं' अर्थात् पृथ्वी के स्वामी हैं, उसका भार उतारने पर सन्नद्ध हैं। अतः, माता रखना चाहेगी, तो भी आप न रहेंगे, यथा—"तुलसिदास जौ रहउँ मातु-हित को सुर-बिप्र-भूमि-भय टारे ॥" (गी० अ० २)। पुनः गोस्वामी का अर्थ इन्द्रियजित् एवं स्नेहजित् भी है। अतः, गृह-सुख एवं मातृ-स्नेह में न रुकेंगे। सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हैं, पर ये सावधान हैं। इसका उपक्रम—"बिदा मातु सन आवउँ माँगी।" (दो० ४५), है और यहाँ—'गये मातु पहँ राम गोसाईं।' उपसंहार है।

(४) 'मुख प्रसन्न चित···'—सबके तो मुख सूख रहे हैं और सभी चित्त से व्याकुल हैं, यथा—"मुख सुखाहिं लोचन श्रवहिं···" (दो० ४६), पर श्रीरामजी का मुख प्रसन्न है और चित्त में चौगुना चाव है। सबके हृदय में पहले चाव था—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता ॥" (दो० १०), उससे श्रीरामजी का चौगुना चाव वन जाने में है। चौगुने चाव का यह भी भाव कहा जाता है—'मुनिगन मिलन···', 'तेहि महँ पितु आयसु', 'बहुरि संमत जननी तोर", 'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू।'—(दो० ४१)। इन चारो लाभों की सिद्धि पर चौगुना चाव है। इसे ही आगे दृष्टान्त से कहते हैं।

(५) 'मिटा सोच जनि···'—कैकेयी ने सब प्रसंग सुनाया तब इतना ही शोच रह गया था कि कहीं राजा रख न लें, नहीं तो अभीष्ट कार्य (मुनिगन मिलन बिसेषि बन···' पर कहा हुआ) की हानि होगी। जब श्रीरामजी ने कहा—"बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं···" इसपर राजा नहीं बोले, तब 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' की दृष्टि से उनकी भी स्वीकृति मान लो और उक्त शोच मिट गया।

(६) 'नवगयंद रघुबीर मन···'—बहुत दिनों का पकड़ा हुआ हाथी फिर वन जाने की इच्छा नहीं करता और नवीन हाथी बन्धन में पड़ने से दुःखी रहता है और वन जाकर स्वतन्त्र रहने की इच्छा करता है, इसीसे 'नवगयंद' कहा है, क्योंकि श्रीरामजी वन जाने को उसी तरह उत्सुक हैं और राज्य-तिलक को बन्धन समझते हैं। इसपर तो ये पहले ही पछताते थे—"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई···" (दो० ९),

तथा—"पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्मही प्रत्यपद्यत। पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत्॥" (रघुवंश १२।७), अर्थात् पिता की दी हुई भूमि को लेने में प्रथम श्रीरामजी रोते थे, पीछे वन जाने की आज्ञा को उन्होंने आनन्द पूर्वक ग्रहण किया। पुनः देवतागण वनचर-देह से वन में इनकी राह देख रहे हैं। उनके सम्बन्ध से भी 'नवगयंद' उपमा अधिक उपयुक्त है।

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातुपद नायेउ माथा॥१॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावर कीन्हे॥२॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता॥३॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये। श्रवत प्रेमरस पयद सुहाये॥४॥
प्रेमप्रमोद न कछु कहि जाई। रंक धनद-पदवी जनु पाई॥५॥

अर्थ—रघुकुल भूषण श्रीरामजी ने दोनों हाथ जोड़कर प्रसन्नता-पूर्वक माताजी के चरणों में सिर नवाया (प्रणाम किया)॥१॥ माता ने आशिष दी और उनको छाती से लगा लिया। पुनः भूषण-वस्त्र निछावर किया॥२॥ माता बार-बार मुख चूमती है, स्नेह के आँसू आँखों में भर आये और उसका शरीर पुलकायमान हो गया॥३॥ गोद में ले (बैठा) कर फिर हृदय लगाया, सुन्दर स्तनों से प्रेम के कारण दूध टपकता है॥४॥ इतना प्रेम और आनन्द है कि कुछ कहा नहीं जाता। मानों किसी कंगाल ने कुबेर की पदवी पाई हो॥५॥

विशेष—(१) 'रघुकुल तिलक जोरि···'—सभी रघुवंशी माता-पिता के भक्त होते आये, ये तो उस कुल के तिलक (सुशोभित करनेवाले, श्रेष्ठ) हैं, फिर क्यों न ऐसे भक्त हों। हाथ जोड़कर सिर नवाना प्रसन्न करने का कृत्य है, यथा—"भलो मानिहै रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है॥ (वि० १३५), 'मुदित', यथा—"न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्। सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥" (वाल्मी० २।१९।३३), अर्थात् यद्यपि श्रीरामजी समस्त पृथ्वी का राज्य छोड़कर वन जा रहे थे, तथापि महायोगीश्वर की भाँति उनके मन में किसी प्रकार का विकार किसीको न देख पड़ा।

(२) 'दीन्हि असीस लाइ उर···'—आशिष दी, यथा—"वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्। प्राप्नुह्यायुश्च कीर्त्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले॥" (वाल्मी० २।२०।२३), अर्थात् धर्मात्मा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान तुम आयु पाओ, कीर्त्ति पाओ और कुलोचित धर्म का पालन करो। हृदय से लगाकर छाती ठंढी की। 'भूषन बसन निछावरि···'—माता ने राज्याभिषेक सुनने पर भी निछावर की थी, यथा—"प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषनबसन भूरि तिन्ह पाये॥" (दो० ७), वैसे ही श्रीरामजी के आने पर भी किया।

(३) 'गोद राखि पुनि···'—प्रथम आशिष देना, हृदय से लगाना और निछावर करना आदि खड़े-खड़े ही हुए थे। यहाँ कहते हैं कि बैठकर गोद में लिया और फिर अत्यन्त प्रेम के साथ हृदय से लगाया। 'श्रवत प्रेम-रस पयद···'—बालक के वात्सल्य-स्नेह के कारण स्तन में दूध आता है, बालक के बड़ा होने पर स्तन सूख जाते हैं। पर इनका श्रीरामजी में अत्यन्त वात्सल्य है, इसीसे उन्हें गोद में लेने और हृदय लगाने से स्तनों में दूध आ गया और टपकने लगा। अतः, 'पयद' (जो दूध दे) कहा गया है और दूध देने से ही स्तनों की शोभा है। अतएव, 'सुहाये' भी कहा है, तथा—"अस कहि मातु भरत हिय लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥" (दो० १६८),

(४) 'प्रेमप्रमोद न कछु···'—प्रेम के कारण आनन्द है और आनन्द के अंश की ही आगे

उत्प्रेक्षा है कि कंगाल को कुबेर की पदवी प्राप्ति की सीमा है, वैसे ही श्रीरामजी भी प्राप्ति की अवधि हैं, यथा—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।···यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।···" (गीता ६।२१-२२), तथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी । तुम्हरे दरस आस सब पूजी ॥" (दो० १०६) । पहले वह स्वयं कंगाल था, अब धनद अर्थात् और सभीको धन देनेवाला हो गया तो उसके आनन्द का क्या ठिकाना ? यहाँ पहले प्रेम-रस की दशा दिखाई गई कि नेत्रों में प्रेमाश्रु भरे हैं, शरीर पुलकित है, स्तनों से दूध टपक रहा है, पर प्रेम-प्रमोद का तो कुछ अंश भी नहीं कहा जा सकता, इसलिये उत्प्रेक्षा से लक्षित कराया गया ।

सादर सुंदर बदन निहारी । बोली मधुर बचन महतारी ॥६॥
कहहु तात जननी बलिहारी । कबहिं लगन मुदमंगलकारी ॥७॥
सुकृत सील सुखसींव सुहाई । जनम लाभ कइ अवधि अघाई ॥८॥

दोहा—जेहि चाहत नरनारि सब, अति आरत येहि भाँति ।
जिमि चातक चातकि तृषित, बृष्टि सरद रितु स्वाति ॥५२॥

अर्थ—आदर के साथ सुन्दर मुख देखकर माता कौसल्याजी मीठे वचन बोलीं ॥६॥ हे तात ! माता बलिहारी जाती है । कहो, आनन्द और मंगल करनेवाला वह लग्न कब है ॥७॥ जो पुण्यात्मा पुरुषों के सुख की सुहावनी सीमा है और जन्म-लाभ की परिपूर्ण अवधि है ॥८॥ जिस लग्न को अति आर्त्त होकर सभी स्त्री-पुरुष इस प्रकार चाह रहे हैं, जिस प्रकार प्यासे होकर चातक और चातकी शरद-ऋतु में स्वाती नक्षत्र की वर्षा चाहते हैं ॥५२॥

विशेष—(१) 'सादर सुंदर बदन···'—पहले—'बार-बार मुख चुंबति माता । नयन नेह जल ···' में माता के स्नेह की प्रधानता थी । यहाँ 'सादर सुंदर बदन ··' में श्रीरामजी की सुन्दरता प्रधान है, इसीसे उसे सादर देख रही हैं । ऊपर 'नयन नेह जल पुलकित गाता ।' में 'स्नेह' से मन का स्नेह और 'पुलकित गाता' से तन का स्नेह और यहाँ 'बोली मधुर बचन' से वचन का स्नेह दिखाया । श्रीरामजी की सुन्दरता से माता को सुख हुआ, माता के मधुर वचनों से श्रीरामजी को वैसा ही सुख होगा ।

(२) 'कहहु तात जननी बलिहारी ·· '—लग्न बतलाने पर माता बलिहारी जाती है, यह लग्न तो सभीको प्रिय है । आगे दोहे में कहेंगे, फिर माता को 'अतिप्रिय' हुआ ही चाहे । इसपर 'बलिहारी' जाती हैं । 'बलिहारी' शब्द दीपदेहली न्याय से लग्न के साथ भी है । बलिहारी का अर्थ मोहित होकर अपनेको निछावर करना होता है ।

(३) 'सुकृत सील सुख ···'—सुकृत का फल सुख है, सुकृत-शील पुरुषों को जो सुख मिलता है, यह लग्न उसकी सीमा है । जन्म-लाभ अर्थात् जन्म-साफल्य की भी पूर्ण सीमा है ।

(४) 'जेहि चाहत नरनारि···'—शरद्-ऋतु में हस्त, चित्रा और विशाखा नक्षत्रों की वृष्टि होती है । पर चातक-चातकी केवल स्वाती के ही जल को चाहते हैं । अर्थात् जब शरद् और स्वाती दोनों का योग हो तब चातक की तृप्ति होवे । वैसे प्रजागण राम-राज्य के ही अनुरागी हैं । चाहे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न से भी राज्य कार्य चल जाय । स्वाती की वृष्टि अर्थात् अधिक बूँदों की वर्षा दैवाधीन है, वैसे श्रीराम-राज्य भी अति दुर्लभ है ।

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू । जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥१॥
पितु समीप तब जाएहु भैया । भै बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥२॥

मातुबचन सुनि अति अनुकूला । जनु सनेह-सुरतरु के फूला ॥३॥
सुख मकरंद भरे श्रिय मूला । निरखि राममन-भँवर न भूला ॥४॥

अर्थ—हे तात ! मैं बलिहारी जाऊँ, तुम शीघ्र नहाओ और जो मन में अच्छा लगे, वह कुछ मीठी वस्तु खाओ ॥१॥ तब पिताजी के पास जाना, हे भैया ! बड़ी देर हो गई, माता बलिहारी जाती है ॥२॥ माता के अत्यन्त अनुकूल वचनों को सुनकर जो मानों स्नेह-रूपी कल्पवृक्ष के फूल थे। सुख-रूपी मकरन्द से भरे हुए और लक्ष्मी-रूपी राज्य-श्री के मूल, उन वचन-रूपी फूलों को देखकर श्रीरामजी का मन-रूपी भ्रमर नहीं लुभाया ॥४॥

विशेष—(१) 'जो मन भाव मधुर कछु···'—सुमन्त्रजी सूर्योदय पर राजा के पास गये, फिर श्रीरामजी को बुला लाये, उनसे बातें हुईं, तब माता के पास आये। अतः, लगभग एक पहर दिन चढ़ गया। अभी अभिषेक के कृत्य में भी एक पहर लगेंगे और दोपहर हो जायगा। कल भी एक ही समय भोजन किया था, क्योंकि संयम किये हुए थे। इसीसे माता भोजनार्थ कह रही हैं। यद्यपि अभिषेक के प्रथम भोजन करना न चाहिये, तथापि माता अत्यन्त वात्सल्य में भूल रही हैं और इन्हें नियम की सुधि नहीं है। प्रेमातिशय के कारण यहाँ कई बार बलि जाना कहा गया है। 'बोली मधुर बचन' कहा गया है, वही 'भैया' कहकर जनाया, यथा—"तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥ भैया कहहु कुसल दोउ बारे।" (बा० दो० २९०) अवधी भाषा में यह ज्येष्ठ कुल के प्रति अति प्रिय सम्बोधन है।

(२) 'मातु बचन सुनि अति···सुख मकरंद भरे ···'—यहाँ सुखपूर्ण राज्यश्रीदायक माता के स्नेह-पूर्ण मधुर वचन उत्प्रेक्षा के विषय हैं। वचन की अनुकूलता से स्नेह को कल्पतरु कहा गया। वचन फूल, और सुख उसके मकरन्द है। कल्पवृक्ष के फूल श्री (लक्ष्मी) देते हैं, वैसे इनमें राज्य-श्री की प्राप्ति सन्निहित है। अनुकूल (कृपायुक्त) वचन पुष्प के समान कहे जाते हैं, यथा—"बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥" (बा० दो० २७९), कल्पवृक्ष अनुकूल वस्तु देता है। माता भी स्नेह से इनके लिये अनुकूल ही कह रही है। अतः, स्नेह को कल्पतरु कहा है, क्योंकि स्नेह ही से मधुर वचन निकल रहे हैं। इस वचन-रूपी पुष्प में सुख ही रस है, क्योंकि माता ने लग्न पूछा है। वह सुख की सीमा है, यथा—"सुकृत सील सुख सीव सुहाई।" यह कहा गया है। फूल पर भ्रमर बैठता है। यहाँ श्रीरामजी का मन ही भ्रमर है। भ्रमर तो सामान्य पुष्प पर भी लुभा जाता है, पर श्रीरामजी का मन-रूपी भ्रमर कल्पतरु के रसीले फूल पर भी न लुभाया, अर्थात् पिता की आज्ञा के पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म को छोड़कर इस सुख की इच्छा न की, न भूला, क्योंकि श्रीरामजी धर्मधुरीण हैं, आगे कहते ही हैं। इस सुख में भूलना लोलुपों का काम है, यथा—"लोलुप भूमि भोग के भूखे।" (दो० १७८)। फूल कहा गया, फल नहीं, क्योंकि राम राज्य नहीं लेंगे। अतः, यह फूल निष्फल ही रहेगा, इससे फल नहीं कहा गया।

धरमधुरीन धरमगति जानी । कहेउ मातु सन अति मृदु-बानी ॥५॥
पिता दीन्ह मोहि कानन-राजू । जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥६॥
आयसु देहि मुदित-मन माता । जेहिं मुद मंगल कानन जाता ॥७॥
जनि सनेहबस डरपसि भोरे । आनंद अंब अनुग्रह तोरे ॥८॥

दोहा—बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु-बचन-प्रमान ।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान ॥५३॥

अर्थ—धर्म का बोझ सँभालनेवाले (धर्म-धुरन्धर) श्रीरामजी ने धर्म की गति जानकर माताजी से अत्यन्त कोमलवाणी में कहा ॥५॥ मुझे पिताजी ने वन का राज्य दिया है, जहाँ सब प्रकार से मेरे बड़े कार्य हैं ॥६॥ हे माता ! आप प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये कि जिसमें वन जाते हुए मुझे आनन्द-मंगल हो ॥७॥ मेरे स्नेह-वश होकर भूलकर भी नहीं डरना, क्योंकि हे माता ! आपकी कृपा से मुझे आनन्द ही होगा ॥७॥ चार और दस (चौदह) वर्ष वन में निवास कर पिता के वचन प्रमाणित (पूर्ण) करके फिर आकर आपके चरणों के दर्शन करूँगा। अपने मन को मैला (दुखी) न करना ॥५३॥

विशेष—(१) 'धरमधुरीन धरमगति···'—आप धर्मधुरीण हैं, अर्थात् कैसा भी कठिन धर्म हो, उसका पालन कर सकते हैं। धर्म की गति भी जानते हैं कि यहाँ राज्य के ग्रहण करने से पिता की आज्ञा के पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म की हानि है। अतः, स्वधर्म पर स्थित रहेंगे। 'धरम गति', यथा—"इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः। अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः॥ (महा० वन २।७६), इनमें इस समय श्रीरामजी तप, सत्य, क्षमा, दम और अलोभ पर आरूढ़ हैं। 'अति मृदु बानी' बोले, क्योंकि दुःसह बात कहनी है, जिससे वह घबरा न जाय।

(२) 'पिता दीन्ह मोहि···'—आप धर्मधुरीण हैं। अतः, धर्म समझकर कठोर वनवास को भी सुख-रूप शब्दों में कहते हैं। इस तरह उसमें श्रद्धा दिखाते हैं, क्योंकि—"श्रद्धा बिना धर्म नहि होई।' (उ० दो० ८९) कहा है। पुनः—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४), 'कानन राजू'—माताजी राज्याभिषेक पर प्रसन्न हैं, अतएव आप वही उसे सुना रहे हैं कि राज्य ही मिला है, किन्तु वन का राज्य मिला है। इस तरह 'अति मृदु बानी' न कहते, तो सम्भव था कि राजा की तरह ये भी सहम (डर) जातीं, यथा—"गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।" (दो० २८)।

'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू'—यह बड़ा कार्य कैकेयी के प्रति कहा गया है—"मुनि गन मिलन बिसेषि बन·· भरत प्रान-प्रिय पावहिं···'—(दो० ४१), यही सब यहाँ भी कहा गया है। घर में रहकर राज्य का कार्य छोटा कार्य है और उक्त वन के कार्य बड़े हैं। 'मोर' अर्थात् अवध राज्य में और लोगों का कार्य होगा, पर वन के राज्य में मेरा बड़ा हित होगा। 'सब भाँति'— यहाँ राज्य-सुख-भोग रूप एक ही भाँति का कार्य है और वन के राज्य से राज्य शत्रु-हीन होगा, बड़े-बड़े राजा मित्र हो जायँगे, इत्यादि। पुनः बड़े कार्य रावणादि का वध, भू-भार-हरण, सुर-नर-नाग आदि की स्वतन्त्रता स्थिर करना इत्यादि भी हैं।

(३) 'आयसु देहि मुदित ·'—सुनते ही माता के मुख पर उदासी छा गई। इसलिये कहते हैं कि प्रसन्न मन से आज्ञा दो, जिससे इस राज्य में तो विघ्न हुआ, किन्तु वन के राज्य में जाते हुए आनन्द-मंगल हो। जानते हैं कि हमारे मुद-मंगल होने के लिये माता प्रसन्न होकर आज्ञा दे देगी, क्योंकि यात्रा में हर्ष भी शकुन है। अतः, माताजी अवश्य करेंगी।

(४) 'जनि सनेहबस डरपसि भोरे।···'—वास्तव में मुझे तुम्हारी अनुग्रह से आनन्द ही होगा तो डरने की कोई बात नहीं है। अतः, मेरे स्नेह-वश होकर कि वहाँ पुत्र को दुःख होगा, ऐसा भूल कर भी न समझना और न डरना। आगे वनवास की नियत अवधि कहते हैं—

यहाँ 'जेहि मुद मंगल कानन जाता।' और 'आनँद अंब अनुग्रह तोरे।' दो बार कहकर विशेष अनुरोध किया कि मेरे आनन्द के लिये प्रसन्न होकर आज्ञा दे दें, तथा—"अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्। शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे॥" "सा माऽनुमन्यस्व वनं व्रजन्तं कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि। यथा समाप्ते पुनरात्रजेयं यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः॥" (वाल्मी० २।२१।४६, ६२)। अर्थात् श्रीरामजी माता से कहते हैं कि आपको मेरे प्राणों की शपथ है, मुझे वन जाने की आज्ञा दें और मेरे कुशलक्षेम के लिये स्वस्तिवाचनादि करें। हे देवि, वन की आज्ञा दें और स्वस्तिवाचनादि

करें जिससे मैं कुशलपूर्वक प्रतिज्ञा पूरी कर लौट कर आऊँ, जैसे सत्य-बल से ययाति पुनः स्वर्ग को लौट कर गये।

(५) 'बरष चारि दस···'—प्रथम ही कहा गया कि 'अति मृदु बानी' कह रहे हैं, इसलिये वनवास की अवधि बतलाने में प्रथम 'चार' (अल्प कालवाचक) कहा, तब 'दस' कहकर चौदह वर्ष कहा कि जिससे प्रथम थोड़ा सहन हो जाय, तो फिर दस कहने से क्रमशः सह सकेंगी। साथ ही संयोग की आशा देते हैं—'आइ पाइ पुनि···' अर्थात् १४ वर्ष पूरा होते ही लौटकर फिर चरण देखूँगा, इस तरह भावी भी जनाई। यह बात पिता के यहाँ नहीं कही, यथा—"चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी।" मात्र ही कहा है, क्योंकि पिताजी जीवित न रहेंगे तो वैसा क्यों कहें ?

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु-उर करके ॥१॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास पर पावस पानी ॥२॥
कहि न जाइ कछु हृदय-बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरिनादू ॥३॥
नयन सजल तनु थरथर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु माँपी ॥४॥

शब्दार्थ—करके (करकन, कड़कना) = रुक-रुककर पीड़ा होना, कपकना। माँजा = प्रथम वर्षा का वह फेन जो मछलियों के लिये मादक होता है। मापना = मतवाला होना।

अर्थ—रघुवर के वे विशेष नम्र और मीठे वचन माताजी के हृदय में बाण की तरह लगे और कसकने लगे ॥१॥ उस शीतल वाणी को सुनकर वे डरकर सूख गईं, जैसे वर्षा का जल पड़ने पर जवासा सूख जाता है ॥२॥ उनके हृदय का दुःख कुछ कहा नहीं जाता, मानों सिंह का गर्जन सुनकर हरिणी दुःखित हुई हो ॥३॥ उनकी आँखों में जल भर आया और शरीर थर-थर काँपने लगा, मानों माँजा को खाकर मछली मतवाली हुई हो ॥४॥

विशेष—(१) 'सर सम लगे···'—'बिनीत' पद में धनुष का भाव है। वचन विशेष नम्र है, वैसे धनुष लचने से बाण छूटता है, यह नवने में समता है। बाण लगने से जैसे पीड़ा होती है और बोला नहीं जाता, वैसी ही दशा है। 'उर करके'—बाहर कोई घाव आदि चिह्न नहीं है, पर असह्य वेदना है। यहाँ हृदय की दशा कही, आगे शरीर की कहते हैं।

(२) 'सहमि सूखि सुनि···'—सूखना गरम से होता है और वचन शीतल हैं, फिर कैसे सूख गईं। उसके लिये दृष्टान्त दिया कि वर्षा के ठंढे जल से ही जवासे की पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं। फिर वर्षा बीतने पर वह पनपता है, वैसे माताजी भी चौदह वर्ष के पीछे श्रीरामजी के दर्शन पाकर हरी (प्रसन्न) होंगी, यथा—"अर्क जवास पातबिनु भयऊ।" (कि० दो० १४)।

(३) 'कहि न जाइ कछु···'—ऊपर की दशा तो कुछ कही गई कि जवासे की तरह सूख गईं, थर-थर काँपने लगीं, उनका कंठ रुक गया, पर भीतर का दुःख तो अकथनीय है। 'मनहुँ मृगी···'—यद्यपि सिंह मृगी का घातक नहीं, तथापि वह मृगी उसके गर्जन सुनकर डर जाती ही है। वैसे ही श्रीरामजी ने अधर्म-गज-विदारण के लिये धर्म-वीरता ग्रहण किये हुए सिंह के समान निर्भय वचन कहा। माताजी पुत्र-वियोग के भय से मृगी की तरह स्वयं डर गईं। श्रीरामजी के वचन सुनकर माता को तन, मन, वचन तीनों से दुःख हुआ—'सर सम लगे मातु उर करके'—उर (मन), 'सहमि सूखि सुनि···'—तन और 'कहि न जाई कछु···'—वचन। दो० २८ चौ० ५-६ में ऐसी ही दशा राजा दशरथ की भी कही गई है।

(४) 'नयन सजल तन···'—वचन हृदय में बाण के समान लगे, पीड़ा हुई। शरीर जवासे की तरह सूख गया। वे मृगी की तरह डर गईं और माँजा खाई हुई मीन की तरह थर-थर काँपने

लगीं। माँजा खाने से मछलियाँ मतवाली होकर काँपती हुई उतरा जाती हैं और तड़पती हुई बहुत मर भी जाती हैं।

धरि धीरज सुत-बदन निहारी। गदगद बचन कहति महतारी ॥५॥
तात पितहि तुम्ह प्रान-पियारे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥६॥
राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा ॥७॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर-कुल भयेउ कृसानू ॥८॥

दोहा—निरखि रामरुख सचिवसुत, कारन कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ ॥५४॥

शब्दार्थ—साधा = निश्चित किया। निदान = कारण, आदि कारण। मूक = गूँगा।

अर्थ—धैर्य धरकर और पुत्र के मुख को देखकर माताजी गद्गद वचन कहने लगीं ॥५॥ हे तात! तुम तो पिताजी के प्राण-प्यारे हो, तुम्हारे चरित्र देखकर वे नित्य ही प्रसन्न रहते हैं ॥६॥ (तुम्हें) राज्य देने के लिये उन्होंने शुभ मुहूर्त्त निश्चित किया। अब वन जाने को किस अपराध से कहा ॥७॥ हे तात! इसका कारण मुझे सुनाओ कि कौन इस सूर्य-कुल के लिये अग्नि हुआ? ॥८॥ श्रीरामजी का रुख देख मन्त्री के पुत्र ने समझाकर सब का कारण कहा। वृत्तान्त सुनकर गूँगी की तरह चुप रह गई। उस समय की उनकी वह दशा वर्णन नहीं की जा सकती ॥५४॥

विशेष—(१) 'धरि धीरज सुत ·····'—पूर्व—"कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।" में मन की व्याकुलता, "नयन सजल तन थर-थर काँपी।" में तन की और यहाँ—"गद्गद बचन ····" में वचन की व्याकुलता, इस वन के समाचार सुनने से हुई। 'धरि धीरज'—क्योंकि वचन बाण के समान लगने से अधीर हो गई थीं। इसीसे धैर्य धरने पर भी ठीक से बोलते नहीं बनता, गद्गद वचन कहती हैं। 'सुत बदन निहारी'—प्रथम भी—'सादर सुंदर बदन निहारी।' कहा गया है, किन्तु वहाँ राज्य-प्राप्ति की प्रसन्नता देखने में और यहाँ वन जाने के प्रति विषाद देखने में है—माता को कुछ भी अन्तर न जान पड़ा। वात्सल्य में माता की दृष्टि स्वाभाविक बच्चे के मुख पर जाती है कि कोई विकार तो नहीं है।

'तात पितहि तुम्ह ····'—प्राण प्यारे, यथा—"मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।" (बा० दो० २०७), "प्रानहू ते प्यारे सुत माँगे दिये दसरथ।" (गी० बा० ६४), 'देखि मुदित नित चरित तुम्हारे', यथा—"आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥" (बा० दो० २०४), "राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥" (दो० १)।

'राज देन कहँ सुभ ·····'—अपराध पर ही वनवास दिया जाता है, राजा सगर ने असमंजस को प्रजा-पीड़न अपराध से निकाला है और राजा इक्ष्वाकु ने छोटे पुत्र दण्ड को दुराचारी जानकर वन का राज्य दिया है, वही वन दण्डकारण्य हुआ। तुम्हें किस अपराध पर वनवास दिया गया? इसमें 'असङ्गति तृतीय' अलंकार है।

(२) 'तात सुनावहुँ मोहि निदानू।'—उपर्युक्त बातों से निश्चय ही कोई भारी दुर्घटना हुई होगी, अन्यथा ऐसा असम्भव है, इसलिये कारण पूछती हैं कि यदि कोई उपाय हो सके, तो किया जाय। कारण सुनने पर यथावकाश उपाय भी करेंगी, यथा—"तुम्ह बिनु भरतहिं भूपतिहिं, प्रजहिं प्रचंड कलेस॥ जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥"। (दो० ५५)। 'को दिनकर कुल·····'—कुल, पुर एवं राष्ट्र सभी विरहाग्नि में जलेंगे, यथा—"जनु पर दहुँदिसि लागि दवारी।" (दो० १५८)

"सहि न सके रघुबर बिरहागी।" (दो० ८३), "मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा।"। (दो० ७२) प्रथमोक्त बातों का उत्तर न पाकर माता ने निश्चय किया कि न तो राजा का इनपर प्रेम ही घट सकता है और न इनसे कोई वैसा अपराध ही हो सकता है। यह कुछ और ही कारण है कि जिससे यह सूर्यवंश का ही नाश होगा। अतः, पूछती हैं।

(३) 'निरखि राम रुख···'—श्रीरामजी ने स्वयं न कहा, मन्त्रि-पुत्र से कहलाया, क्योंकि उसमें पिता का स्त्री-वश होना, माता कैकेयी की कुचाल और अपनी प्रशंसा भी है। यह सब स्वयं कैसे कहें? आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं। पुनः पूरा कारण जानने के लिये माता ने पूछा है, उसे भी सब बतलाना है। 'कारन कहेउ बुझाइ'—'निदान' पूछा गया, तब 'कारन कहेउ···' इससे निदान का अर्थ कारण स्पष्ट हुआ। राजा का राम-शपथ करके वचन-बद्ध होना, कैकेयी के थातीवाले वरदान की कथा, जो शंबरासुर के संग्राम की थी, इत्यादि, कहो। समझाकर कहा, क्योंकि माता तन, मन, वचन से विकल है। ऊपर लिखा गया, 'सुनि प्रसंग रहि·····'—प्रथम कारण पूछा था, तब आशा थी कि पिता ने वनवास दे दिया है तो मैं माता हूँ, अपनी आज्ञा से इन्हें घर रख सकूँगी, क्योंकि पुत्र के लिये पिता से दश गुणा माता का गौरव है। पर मन्त्रि-पुत्र से कैकेयी के द्वारा भी वनवास होना सुना, तो चुप हो गई, क्योंकि पिता और माता कैकेयी, इन दोनों का गौरव अधिक है। क्या करूँ? यही शोच रही हैं, माता की दशा पर करुणा आ जाती है, इससे वह ग्रन्थकार से कही नहीं जाती।

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥१॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बाम सदा सब काहू ॥२॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छछुंदरि केरी ॥३॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधुबिरोधू ॥४॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट-सोच-बिबस भइ रानी ॥५॥

शब्दार्थ—सुधाकर = चन्द्रमा। गति = चाल, कर्तव्य। अनुरोध = विनय-पूर्वक अपनी अनुकूलता के लिये हठ।

अर्थ—न तो रख ही सकती हैं और न यही कह सकती हैं कि जाओ, दोनों ही प्रकारों से हृदय में कठिन जलन हो रही है ॥१॥ (सोचती हैं कि) ब्रह्मा की चाल सदा ही सबके लिये टेढ़ी होती है, (देखिये,) चन्द्रमा लिखते हुए लिखा गया राहु ॥२॥ धर्म और स्नेह, इन दोनों ने कौसल्याजी की मति को घेर लिया जिससे साँप और छुछून्दर के समान उनकी दशा हो गई ॥३॥ (वे सोचती हैं कि) पुत्र को रक्खूँ और अनुरोध करूँ तो धर्म जाता है और भाई से विरोध होता है ॥४॥ यदि इनको वन जाने के लिये कहती हूँ तो बड़ी हानि होती है। इस तरह रानी संकट और शोच के विशेष वश में हो गई ॥५॥

विशेष—(१) 'राखि न सकइ···दुहूँ भाँति···'—प्रथम रोकने का विचार है, इसीसे 'राखि' प्रथम कहा गया। फिर समझने से दोनों प्रकार में कठिन जलन है। दोनों प्रकार की व्याख्या आगे करती हैं—"राखउँ सुतहि··· ···कहउँ जान बन तौ·····" अर्थात् रखने में धर्म-हानि और जाने को कहूँ, तो स्नेह-हानि है।

(२) 'लिखत सुधाकर गा लिखि ···'—राज्य-तिलक चन्द्रमा है, सबको सुखदाता है। सुधाकर कहा है, क्योंकि राम-राज्य में लोग सुधा पीनेवालों की अपेक्षा से भी अधिक सुखी होनेवाले थे, (जैसा आगे होगा, उत्तरकाण्ड में लिखा है)। वन राहु है, सबको दुःख-दाता है। 'सदा सब काहू'—सत्ययुग में राजा नल पर, त्रेता में श्रीरामजी पर, द्वापर में युधिष्ठिर इत्यादि पर। 'सब काहू' अर्थात् छोटे-बड़े सबके ऊपर। 'बिधि गति'—कैकेयी तो सदा राम-राज्य ही माँगती थी, किन्तु एकाएक मति पलट जाना, यही, तो दैवगति कहाती है, (वाल्मी० २।२२।१७-२० देखिये), यथा—"बिधि बाम की करनी कठिन जेहि

मातु कीन्हीं बावरी।" (दो० २००), 'गा लिखि'—से विधि का भी भावी-वश होना जनाया। वह भावी श्रीरामजी की इच्छा है—"हरि इच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५), ऐसा ही राहु लिख जाने की कथा से स्पष्ट है—हिरण्यकशिपु की लड़की सिंहिका विप्रचित्ती दैत्य को ब्याही गई। ब्रह्मा ने प्रथम ही सोचा था कि चन्द्रमा और सूर्य का जन्म इसके उदर से कर दें तो दैत्य हिरण्यकशिपु इनका नाना होगा। इस नाते से देवता-दैत्य का विरोध मिट जायगा। सिंहिका के मस्तक पर 'राकेश' लिखने लगे, भावी-वश 'राहु' लिखा गया। तो 'राहु' उसका पुत्र हुआ, जो सूर्य-चन्द्रमा को अत्यन्त दुःख देने लगा। वैसे यहाँ सबकी बुद्धि के देवता ब्रह्माजी ही हैं, उन्होंने सबके द्वारा श्रीराम-राज्य की ही अभिलाषा प्रकट की, पर भावी-वश वनवास हो गया, जिससे श्रीरामजी घर में भी न रह पाये, एवं और भी अनर्थ शृंखला हुई। इसमें 'विषाद' तथा 'ललित' अलंकार हैं।

(३) 'धरम सनेह उभय···'—धर्म और स्नेह पुँल्लिग हैं, मति स्त्रीलिंग है, दो पुरुष जैसे एक स्त्री को घेर लें, वैसी ही बुद्धि इन दोनों के फेर में पड़ी है, कुछ निश्चय नहीं कर पाती। 'भइ गति साँप छुछुंदरि केरी'—"यह बात प्रसिद्ध है कि साँप चूहे के धोखे में जो कहीं छुछून्दर को पकड़ लेता है, तो वह उसे न तो निगल ही सकता है और न उगल ही। यदि निगल जाय, तो उसकी मृत्यु हो और उगल दे, तो अन्धा हो जाय"—हिं० श० सा०। वैसी ही दशा कौसल्याजी की है। ये यदि श्रीरामजी को घर रख लें तो धर्म जाता और अपयश (बन्धु विरोध) होना मृत्यु के समान हो, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ९४), और जो वन जाने को कहती हैं तो स्नेह-हानि है और १४ वर्ष रोते-रोते आँख फोड़ना अन्धा होना है। अतः दोनों ही पक्षों में आपत्ति ही देखती हैं। कोई यों भी कहते हैं कि साँप को सुगन्ध बहुत प्रिय है और छछुन्दर में अत्यन्त दुर्गन्धि रहती है। साँप चूहे के धोखे में यदि उसे पकड़ लेता है तो अति दुर्गन्धि से वह निगलो नहीं जाती तथा भूख के कारण वह छोड़ी भी नहीं जाती। घर रखना निगलना और वन को आज्ञा देना उगलना है। यह भी कहा जाता है कि साँप यदि जल में जाकर छछुन्दर को छोड़ता है तो उक्त दोनों बाधाओं से बच जाता है, वैसे आगे चौ० ६ में ये पातिव्रत धर्म रूपी जल पर ही छोड़ेंगी।

(४) 'राखउँ सुतहिं···'—'धरम जाइ' पुत्र से बलात् माता-पिता की आज्ञा छोड़ाना और स्वयं पति की आज्ञा के विपरीत करना, यह धर्म-हानि है और बन्धु भरतजी का पक्ष लेकर कैकेयी विरोध करेगी, जिससे अर्थ-हानि भी होगी। 'कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी' अर्थात् धर्म-हानि और स्वार्थ-हानि की अपेक्षा वन देकर स्नेह हानि करना बड़ी हानि है। ऐसा विचारती हुई, रानी धर्म-संकट और स्नेह-हानि के शोच के विशेष वश हो गई।

बहुरि समुझि तियधरम सयानी। राम-भरत दोउ सुत सम जानी॥६॥
सरल सुभाव राममहतारी। बोली बचन धीरधरि भारी॥७॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥८॥

दोहा—राज देन कहि दीन्ह बन, मोहिं न सो दुखलेस।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहिं प्रचंड कलेस॥५५॥

शब्दार्थ—तियधरम = पातिव्रत-धर्म। टीका = श्रेष्ठ, सर्वोपरि। लेस (लेश) = थोड़ा भी।

अर्थ—फिर प्रवीणा श्रीकौसल्याजी ने स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म को समझकर, श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनों पुत्रों को समान जाना (अर्थात् हमारे ही पतिदेव के दोनों ही पुत्र हैं। अतः, दोनों को हमें समान ही मानना चाहिये)॥६॥ तब सीधे (कपट-रहित) स्वभाववाली श्रीरामजी की माता ने भारी

धैर्य धरकर कहा ॥७॥ हे तात ! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुमने भला किया, पिता की आज्ञा का पालन करना तो सब धर्मों में श्रेष्ठ है ॥८॥ राज्य देने को कहकर वन दिया गया। इसका मुझे कुछ भी दुःख नहीं है। पर तुम्हारे बिना भरतजी को, महाराजा को और प्रजा को अत्यन्त तीक्ष्ण कष्ट होगा, (इसीका मुझे दुःख है) ॥५५॥

विशेष—(१) 'बहुरि समुझि तियधरम···'- पहले धर्म और स्नेह में 'मति' घिरी थी। अब वह धर्म की ओर झुकी, उसी मार्ग से निकल आई, इसीसे मति को 'सयानी' कहा गया। स्नेह से रामजी के रखने में केवल स्वार्थ ही था और धर्म के रखने में परमार्थ तो है ही, भरत को राम तुल्य मानने में स्वार्थ भी है। 'सरल सुभाव राम महतारी'—श्रीरामजी का सरल स्वभाव है, यथा—"सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥" (बा० दो० २३६), ये उनकी माता हैं। अतः, इनका भी स्वभाव वैसा होना ही चाहिये, क्योंकि उत्तम पदार्थ उत्तम ही क्षेत्र में होता है। कहा भी है—"रावरो सुभाव राम जन्म ही ते जानियत···" (क० अ० ४)। 'धीर धरि भारी'—वन के लिये आज्ञा देना चाहती हैं, यह बड़ा कठिन काम है। अतः, भारी धीर धरना पड़ा। 'राम भरत दोउ सुत सम···', यथा—"स्वात्मजे वान्यपुत्रे वा यः समत्वेन वर्त्तते। न तस्य पुत्रशोकः स्यादेष धर्मः सनातनः ॥" (नारद पुराण पू० ११।४८), अर्थात् अदिति की सौतिपुत्र-रक्षार्थ भावना पर भगवान् ने उससे कहा है कि जो अपने पुत्र तथा दूसरे (सपत्नि) के पुत्र पर समान भाव रखता है, उसे कभी पुत्र का शोक नहीं होता। यह सनातन धर्म है, तथा—"सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत्। सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥" (मनु० ९।१८३), अर्थात् सब सपत्नियों में यदि एक ही स्त्री के पुत्र हो तो मनुजी ने उसी पुत्र से उन सब स्त्रियों को पुत्रवती कहा है।

(२) 'तात जाउँ बलि···'—बड़ा नीक (अच्छा) कार्य किया। इसके प्रति निछावर करने के योग्य और पदार्थ न पाकर अपना शरीर ही निछावर करती हुई, बलिहारी जाती हैं। 'पितु आयसु सब धरमक टीका', यथा—"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू ॥ साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी ॥" (दो० ३०५)—इनके विशेष देखिये।

'राज देन कहि दीन्ह बन···'- इसमें आक्षेप अलंकार का तीसरा भेद 'व्यक्ताक्षेप' है, क्योंकि यहाँ निषेध छिपा हुआ है।

(३) 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि···'—माता श्रीरामजी के रखने का उपाय करती हैं। यदि अपने दुःख निवारण के लिये रक्खें, तो धर्म नाश होगा, यथा—"धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू।" ऊपर कहा गया। यदि भरतजी, राजा और प्रजा के प्राण-रक्षार्थ रक्खें तो हो सकता है। भरतजी के लिये ही रखने में बन्धु विरोध न होगा। पति की ही प्राण-रक्षा के लिये रखने में धर्म-विरोध नहीं, पुनः प्रजा की रक्षा के लिये रखने में पति को ही नरक से बचाना है, यथा—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥" (दो० ७०), यहाँ भरतजी, राजा और प्रजा, इन तीनों के नाम आये हैं। श्रीभरतजी से कम राजा को और उनसे कम प्रजा को क्लेश होगा यह क्रम का भाव है। यद्यपि राजा ने श्रीराम-वियोग में तृणवत् प्राण का त्याग किया है। परन्तु भरतजी ने श्रीरामाज्ञा पालन में परतन्त्र हो अत्यन्त कष्ट उठाये हैं। अन्त में इनकी भी प्रतिज्ञा वैसी ही थी—"बीते अवधि रहहि जौं प्राना।·· " (उ० दो० १)। श्रीकौसल्याजी जानती हैं—"मोहि भरत कर सोच।" (दो० २८२) "गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं ॥" (दो० २८३)। अतएव इनका ऐसा कहना युक्त है।

श्रीकौसल्याजी का यह कथन घटना से भी सत्य ही निकलता है श्रीराम-विरोध में कैकेयी के कर्त्तव्यों से राजा दशरथ के समान ही श्रीभरतजी को भी दुःख है—

श्रीदशरथजी (यहाँ)		श्रीभरतजी (वहाँ)
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि,	(१)	सुनत भरत भये बिबस बिषादा ।
मनहु बृद्ध गजराज । (दो० ३६)		जनु सहमेउ करि केहरि नादा ॥ (दो० १५९)
पुनि कह कटु कठोर कैकेई ।	(२)	सुनि सुत बचन कहति कैकेई ।
मनहु घाय महँ माहुर देई ॥ (दो० ३४)		मरम पाछि जनु माहुर देई ॥ (दो० १५९)
अति कटु बचन कहति कैकेई ।	(३)	बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति ।
मानहु लोन जरे पर देई ॥ (दो० २९)		मनहु जरे पर लोन लगावति ॥ (दो० १६०)
अब तोहिं नीक लाग करु सोई ।	(४)	जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई ।
लोचन ओट बैठु मुँह गोई ॥ (दो० ३५)		आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥ (दो० १६१)

'मोहि न सो दुख लेस', क्योंकि श्रीरामजी ने मुदित मन से आज्ञा देने में अपना मंगल कहा है, इसलिये माता अपने दुःख को छिपाकर कहती हैं। यह सब कथन श्रीरामजी के वचन—'पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू' के अनुसार है। किन्तु मन्त्रि-पुत्र के वचनों से कैकेयी के वरदान पूर्त्ति में पिता द्वारा वनवास होना सुना गया। उसपर लक्ष्य करके आगे कहती हैं।

जौ केवल पितु-आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥१॥
जौ पितुमातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत-अवध-समाना ॥२॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी । खगमृग चरनसरोरुह - सेवी ॥३॥
अंतहु उचित नृपहिं बनबासू । बय बिलोकि हिय होइ हरासू ॥४॥
बड़ भागी बन अवध अभागी । जो रघुबंस-तिलक तुम्ह त्यागी ॥५॥

अर्थ—हे तात ! जो केवल पिताजी की ही आज्ञा है तो माता को (पिता से) बड़ी जानकर वन को मत जाओ ॥ ॥ और यदि पिता-माता दोनों ने ही वन जाने को कहा है, (तब) तो (तुम्हारे लिये) बन सौ अयोध्याओं के समान है ॥२॥ वन के देवता पिता को और वन की देवी माता की भाँति होंगे, अर्थात् रक्षा करेंगे, पक्षी और पशु तुम्हारे चरण-कमलों के सेवक होंगे ॥३॥ राजा को अन्त में वनवास करना उचित है, पर तुम्हारी (सुकुमार एवं नवीन) अवस्था देखकर मेरे हृदय में खेद होता है ॥४॥ वन बड़ा भाग्यवान् है और अयोध्या अभागी है, जिसे हे रघुकुल-श्रेष्ठ ! तुमने छोड़ दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'जौ केवल पितु आयसु···'—ऊपर रानी ने अपना धर्म बचाकर श्रीरामजी को रखने का उपाय किया है और यहाँ की धर्म-रक्षा समेत रहने का उन्हें उपाय बतला रही हैं कि जो (तुम्हारे कथनानुसार) केवल पिता की आज्ञा हो तो मुझे बड़ी जानकर वन न जाओ, यथा—"उपाध्यान्दशाचार्य्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥" (मनु० २।१४५ तथा स्कन्द पु० का० पु० ३६।५७), अर्थात् पुत्र के लिये पिता की अपेक्षा माता का गौरव सहस्रगुणा है, तथा—"दश चैव पितॄन्माता सर्वां वा पृथिवीमपि । गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ॥" (महा० अनु० १०५।१५), अर्थात् दश पिताओं से माता श्रेष्ठ कही गई है, माता गौरव के सहारे सारी पृथ्वी को अभिभव करती है, इससे माता के समान गुरु (श्रेष्ठ) नहीं है। मेरी आज्ञा से घर रहने में तुम्हें दशगुणा धर्म होगा।

(२) 'जौ पितु मातु कहेउ ···'—अर्थात् जो कैकेयी समेत पिता की आज्ञा है तो वन सौ अवध के समान होगा। अतः, पिता के राज्य से सौ गुना वन सुखदाई होगा ही। उनकी आज्ञा के पालने में बहुत धर्म का लाभ है, धर्म से ही सुख होता है। अतः, वन सौ अवधों के समान सुखदायी होगा, क्योंकि—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।" (बा० दो० २९३), ऐसा कहा है।

(३) 'पितु बन देव मातु···'—ऊपर कहा गया कि पुण्यात्मा के लिये पृथ्वी मात्र सुख से छाई

हुई है, उसीका विवरण यहाँ है कि वन के देवी-देवता माता-पिता का कार्य करेंगे, यथा—"देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु नयन-पलक की नाईं॥" (दो० ५६), और सेवकों का कार्य खग-मृग करेंगे, जैसे कि खग गीधराज ने इनकी सेवा में शरीर ही अर्पण किया है और मृग (वन्य पशु), वानर-भालु सुग्रीव आदि सेवक हुए हैं।

(४) 'अंतहु उचित नृपहिं बन बासू', यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥" (लं दो० ६), 'बय बिलोकि'—तुम्हारी तो बाल्यावस्था ही है।

(५) 'बड़ भागी बन', यथा—"जे पुर गाँव बसहिं मग···" से "भूरि निज भागा॥" (दो० ११२) तक। तथा—"सो बनु सैल सुभाय सुहावन।···" से 'कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन।" (दो० १३८) तक। 'जौ रघुबंस तिलक'···—रघु महाराज बड़े उदार दानी थे। उनसे जो इस कुल की शोभा थी, उससे भी अधिक तुमसे होती, पर तुम त्याग कर जा रहे हो तो अवध अभागी ही है।

जौ सुत कहउँ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥६॥
पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥७॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥८॥

दोहा—यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥५६॥

अर्थ—हे पुत्र! यदि मैं तुम्हें कहूँ कि मुझे भी अपने साथ ले चलो, तो तुम्हारे मन में सन्देह होगा॥६॥ हे पुत्र! तुम सभी के परम प्रिय हो, प्राणों के प्राण और जीवों के जीवन हो॥७॥ वही तुम मुझसे कहते हो—"माता! मैं वन जाता हूँ"—और इन वचनों को सुनकर मैं बैठी हुई पछताती हूँ॥८॥ यह विचार कर और झूठा स्नेह बढ़ा कर मैं हठ नहीं करती, मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ। (हे पुत्र!) माता का सम्बन्ध मानकर मेरी सुधि भूल न जाय॥५६॥

विशेष—(१) 'तुम्हरे हृदय होइ संदेहू।'—यह सन्देह होगा कि माता को संग कैसे लूँ, क्योंकि पिता उपस्थित हैं, उन्हें ऐसी दशा में छोड़कर इन्हें न जाना चाहिये। यह पातिव्रत धर्म के विरुद्ध है, यथा—"तस्मिन्पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथं स्विदन्या विधवेव नारी॥" (वाल्मी० २।२१।६१)। और यदि संग में नहीं लेता हूँ, तो आज्ञा-भंगरूप दोष होता है, तुम इस दुविधा रूप सन्देह में पड़ोगे।

(२) 'पूत परमप्रिय तुम···' यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५), इसका विशेष भी देखिये। 'प्रान-प्रान के', यथा—"कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।" (तैत्ति० २।७), अर्थात् प्राणों की सत्ता ब्रह्म से है। 'जीवन जी के', यथा—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" (बृह० ४।३।३२), अर्थात् इसी आनन्द-रूप ब्रह्म के आनन्द-मात्र से अन्य जीव जीते हैं, तथा—"प्रान-प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम। (दो० २९०)।

(३) 'ते तुम कहहु···मैं सुनि···'—जो अन्य प्राणिमात्र के परम-प्रिय आदि हैं, वे ही मुझसे वन जाने को कहते हैं, मैं माता बनी हुई भी जीती बैठी हूँ, अर्थात् इसपर तो हृदय फट जाना चाहता था, यथा—"ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान।" (दो० ६७), पर न फटा, तो कैसी माता? यथा—"राम लषन सिय बनहि सिधाये।···तउ न तजा तन प्रान अभागे।···मोर हृदय सत कुलिस समाना॥" (दो० १६५), तथा—"आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्। यद्देवगर्भप्रतिमे वर्त्म याति न भिद्यते॥" (वाल्मी० २।४०।२३), अर्थात् (पुरजन कहते हैं कि) राम-माता का ही हृदय निश्चय

लोहे का है, क्योंकि देव तुल्य इन श्रीरामजी को वन जाते देखकर वह फट क्यों न गया। (माता बैठी पछताती हैं। इन्होंने पूर्व ही अलौकिक विवेक वर पाया है, वही इन्हें जिलाता है)।

(४) 'यह बिचारि नहि करउँ हठ·····'—यदि तुम्हारा वन-गमन सुनकर भी प्राण न निकले, तो स्नेह झूठा है और इसीसे मेरा मातृभाव झूठा है। किन्तु हे तात! जो तुमने अपनी ओर से मुझमें मातृभाव माना है, उससे मेरी सुधि बनाये रखना। कहा है—'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।" इस दृष्टि से मेरा स्नेह सर्वथा झूठा ही है।

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु नयन-पलक की नाईं ॥१॥
अवधि अंबु प्रियपरिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना ॥२॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जियत जेहि भेंटहु आई ॥३॥
जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन-परिजन गाऊँ ॥४॥

अर्थ—हे गोसाईं! समस्त देवता और पितृ-वर्ग पलक-नयन की भाँति तुम्हारी रक्षा करें ॥१॥ अवधि (१४ वर्ष की) जल है, प्रिय लोग और कुटुम्बी लोग मछली हैं, तुम करुणा की खान और धर्मधुरीण हो ॥२॥ ऐसा विचार कर वही उपाय करना, जिससे सबको जीते-जी तुम आकर मिलो ॥३॥ मैं बलिहारी जाती हूँ, सेवक, कुटुम्बी और नगर-भर को अनाथ करके तुम सुख-पूर्वक वन को जाओ ॥४॥

विशेष—(१) 'देव पितर सब तुम्हहिं·· '—'गोसाईं' अर्थात् तुम पृथ्वी के स्वामी हो (गो का अर्थ पृथ्वी होता है) पृथ्वी की रक्षा के लिये जाते हो, (धर्म से पृथ्वी की रक्षा होती है, तुम श्रेष्ठ धर्म के मार्ग पर जा रहे हो।) अतः, इन्द्र आदि ३३ कोटि देवता ऊपर की पलक की तरह और अर्यमा आदि पितृगण नीचे की पलक की तरह तुम्हारी रक्षा करें, यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥" (दो० १४१), क्योंकि अपने धर्माचरण से तुम सबको नेत्र के समान प्रिय हो। नेत्र सब अंगों की अपेक्षा अत्यन्त कोमल हैं। उनकी रक्षा भी पलकें निरन्तर करती हैं। जाग्रत् में तृण भी नहीं पड़ने देतीं और सोते समय ढँके रहती हैं। प्रथम वन के देवी-देवता को माता-पिता की तरह कहा गया था। यहाँ स्वर्गस्थ देवताओं को कहा है।

'गोसाईं' पद का यहाँ पर कोई-कोई 'हरि' अर्थ करते हैं, क्योंकि माता के द्वारा श्रीरामजी के प्रति इस समय कहा जाना वैसा उपयुक्त नहीं है। बा० दो० ६८ में—"जो अहि सेज··गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं।" में भी 'गोसाईं' पद का हरि अर्थ आया है।

(२) 'अवधि अंबु प्रिय·····'—प्रिय परिजन १४ वर्ष किसी तरह जियेंगे। इस अवधि की पूर्त्ति पर प्रथम दिन ही न आने पर जल समाप्ति पर मीन की भाँति सब तुरत प्राण त्याग देंगे, यथा—"तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौं। तौ प्रभु-चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहि न पैहौ।" (गी० बा० ७६)। यह श्रीभरतजी ने कहा है। 'धरमधुरीन' हो, अतएव पिता की आज्ञा के पालन करने को वन जाओ और 'करुनाकर' हो। अतः, प्रिय-परिजन पर दया करके ठीक अवधि पर आ जाओ, अन्यथा ये न जियेंगे।

(३) 'अस बिचारि' अर्थात् उपर्युक्त 'करुनाकर' के हेतुभूत भावों को। 'सोइ करहु·····'—अवधि पर ठीक-ठीक आने का उपाय, अन्यथा ये प्रिय परिजन जीते न मिलेंगे।

(५) 'जाहु सुखेन बनहिं·····'—श्रीरामजी ने कहा था—'आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद-मंगल कानन जाता ॥" (दो० ५२), उसके प्रति माता कहती है 'जाहु सुखेन', यथा—"गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥" (२।२४।३३), क्योंकि वन जाना धर्म है, उसका फल सुख है,

यहाँ वाल्मी० २।२५।३२-४१ के भाव आगये हैं। 'बलि जाऊँ'—इनका सम्बन्ध आगे से है कि जिससे इन—'जन परिजन गाउँ' को शीघ्र आकर सनाथ करो। 'करि अनाथ जन ···'—इन सबके एकमात्र तुम ही नाथ हो—"जेहि चाहत नर नारि सब···जिमि चातकि चातक···" पर कहा गया। जन, परिजन, गाँव का अनाथ होना कहा, क्योंकि ये सब श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" "जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।···अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ॥" (उ० दो० ३)। अतः, इनके स्नेह से शीघ्र लौटेंगे। आगे भी कहेंगे—"चलत राम लखि अवध अनाथा।" (दो० ८२), इस समय राजा अचेत ही हैं, ये दो भाई वन ही जायँगे तो अयोध्या अनाथ होती ही है।

सबकर आजु सुकृतफल बीता। भयेउ कराल काल बिपरीता॥५॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥६॥
दारुन - दुसह - दाह उर ब्यापा। बरनि न जाहि बिलापकलापा॥७॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदुबचन बहुरि समुझाई॥८॥

दोहा—समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु-पद-कमल-जुग, बंदि बैठि सिर नाइ॥५७॥

अर्थ—आज सभी के पुण्यों का फल समाप्त हो गया और उल्टा कठिन काल हो गया॥५॥ इस भाँति बहुत तरह से विलाप करके वे चरणों में लिपट गईं और उन्होंने अपनेको परम अभागिनी जाना॥६॥ हृदय में कठिन और दुःख से सहने योग्य पूर्ण दाह हो गया। उस समय विलापों के समूह का वर्णन नहीं किया जा सकता॥७॥ श्रीरामजी ने माताजी को उठाकर हृदय से लगाया और फिर कोमल वचनों से कहकर समझाया॥८॥ उसी समय यह समाचार सुनकर सीताजी व्याकुल हो उठीं पुनः सास के पास जा उनके दोनों चरण-कमलों की वन्दना की और सिर नीचा करके बैठ गईं॥५७॥

विशेष—(१) 'सबकर आजु सुकृत ···'—पूर्व कर्म (धर्म) के अनुसार ही काल होता है। अतः, कराल काल का उदय देखकर सुकृत फल का बीतना कहा है। 'बिपरीता'—क्योंकि राज्य होते हुए वन हुआ, सुख की जगह दुःख हुआ। राज्य-तिलक के प्रति कहा गया है—"सुकृत सील सुख सीव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥" (दो० ५१), वह न रहा, यही सुकृत फल की समाप्ति है। दुःखमय वनवास उसका विपरीत भाव है। 'बीता' नष्ट हुआ, यथा—"मसक दंस बीते हिमत्रासा॥" (कि० दो० १६)।

(२) 'बहु बिधि बिलपि चरन···'—'बिलपि' अर्थात् उपर्युक्त बातें रोकर कही गईं। अयोध्या को अभागी कहा है—"बड़भागी बन अवध अभागी। (दो० ५५), और यहाँ अपनेको 'परम अभागिनि' कहा, अर्थात् अयोध्या-भर में मुझसे बढ़कर अभागिनी कोई नहीं है। व्याकुलता से चरण में लिपट गईं। यद्यपि यह माधुर्य दृष्टि से ठीक नहीं है, तथापि यहाँ आर्त्त दशा है। अतः, दोष नहीं, क्योंकि—"रहत न आरत के चित चेतू।" (दो० २६८), कहा है।

(३) 'दारुन-दुसह-दाह उर ब्यापा···'—'उर ब्यापा' से भीतर की दशा कही और 'बिलापकलापा' से बाहर का हाल कहा। विलाप समूह (बहुत) है, इससे कहा नहीं जाता, वा विलाप के स्मरण से ही कवि का हृदय दुखित हो जाता है। अतः, कहा नहीं जाता।

(४) 'कहि मृदुबचन बहुरि समुझाई।'—'बहुरि' अर्थात् पूर्व की तरह, यथा—"बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान। आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥" (दो० ५३), उसीको यहाँ संकेत से जना दिया, तथा—"अम्ब मा दुःखिता भूस्त्वं पश्य त्वं पितरं मम। क्षयो हि

वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥३४॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च। सा समग्रमिह प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥ (वाल्मी० २।३५), अर्थात् माता, दुःखी न हो, पिता की देखभाल रखना। वनवास की अवधि शीघ्र ही पूरी हो जायगी। १४ वर्ष तो तुम्हें सोते हुए सरीखे (एक रात के समान) बीत जायँगे, फिर मित्रों के साथ आ जाऊँगा। ठीक ऐसा ही हुआ भी है, यथा—"माई री! मोहिं न कोउ समुझावै। रामगवन साँचो किधौं सपनो मन परतीति न आवै ॥१॥ लगेइ रहत मेरे नयननि आगे राम लखन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उरको, बिधि जो भयो बिपरीता। दुःख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी येहि लेखे ॥२॥ (गी० अ० ५३)।

(५) 'समाचार तेहि समय···'—'तेहि समय' अर्थात् जिस समय माता का विलाप हुआ—'बरनि न जाइ बिलापकलापा' तभी किसीसे कारण पूछने पर जाना। पति के समक्ष में सास के पास आईं, क्योंकि आपत्काल में मर्यादा पर ध्यान नहीं रहता। 'पद-कमल-जुग' पद से 'बंदि' भिन्न चरण में कहा गया, क्योंकि ये इन चरणों से अब पृथक् होंगी।

दीन्हि असीस सासु मृदुबानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी ॥१॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति-प्रेम - पुनीता ॥२॥
चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू ॥३॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि-करतब कछु जाइ न जाना ॥४॥

अर्थ—सास ने कोमल वचनों से आशिष दी, (सीताजी को) अति सुकुमारी देखकर वे व्याकुल हो गईं (क्योंकि इनकी चेष्टा से एवं पूर्व वृत्ति से जान गईं कि ये अवश्य साथ जायँगी तो वन के क्लेश कैसे सहेंगी ?) ॥१॥ रूप की राशि और पति में पवित्र प्रेमवाली श्रीसीताजी सिर झुकाये हुईं बैठी सोचने लगीं ॥२॥ जीवन के स्वामी वन को चलना चाहते हैं, किस सुकृती (पुण्यात्मा) से उनका साथ होगा ? ॥३॥ क्या तन और प्राण दोनों (सुकृती) से या कि केवल प्राण ही से ? ब्रह्मा का कर्त्तव्य क्या है, कुछ जाना नहीं जाता ॥४॥

विशेष—(१) 'बैठि नमित मुख सोचति सीता।'—पूर्व दोहे में कहा गया—'बैठि सिर नाइ' उसी मुद्रा से बैठी हुई सोच रही हैं। यहाँ उसको क्रिया कहते हुए प्रसंग मिलाया। 'रूप राशि' से शरीर की शोभा और 'पति-प्रेम-पुनीता' से हृदय एवं प्राण की शोभा कही। कवि सूचित करते हैं कि ये (शरीर और प्राण) दोनों ही सुकृती हैं और साथ जायँगे। इसपर सीताजी का विचार आगे है—

(२) 'चलन चहत बन जीवन···'—'जीवन नाथू' अर्थात् मेरा जीवन पति के साथ रहे बिना नहीं है। 'केहि सुकृती' यदि साथ ले गये तो मानों तन और प्राण दोनों ही सुकृती हैं, अन्यथा समझूँगी कि केवल प्राण ही सुकृती है, अर्थात् प्राण छोड़ दूँगी। इस तरह प्राणों को तो साथ कर ही दूँगी, यथा—"गइउँ न संग न प्रान पठाये।" (दो० १६५) 'कि तनु प्रान कि···'—इसमें विकल्प अलंकार है।

(३) 'बिधि-करतब कछु जाइ न जाना।'—संयोग-वियोग करना विधि का कर्त्तव्य है, उसे दूसरा नहीं जान सकता, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥" (दो० २८१)। अतः, तन-प्राण का संयोग अथवा प्राणमात्र का संयोग होगा, इसे विधाता ही जाने, मुझसे तो कुछ भी जाना नहीं जाता, तथा—"जौ हठि नाथ राखिहौ मो कहँ तौ सँग प्राण पठावौंगी।" (गी० अ० ६), इसीपर आगे श्रीरामजी कहेंगे—"आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू।"

चारु चरननख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी ॥५॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहिं सीयपद जनि परिहरहीं ॥६॥

मंजुबिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राम - महतारी ॥७॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु-ससुर-परिजनहिं पियारी ॥८॥

दोहा—पिता जनक भूपालमनि, ससुर भानु - कुल - भानु।
पति रवि-कुल-कैरव-बिपिन, बिधु गुन-रूप-निधानु ॥५८॥

अर्थ—(श्री सीताजी) अपने सुन्दर चरणों के नखों से पृथ्वी पर लिखती हैं (यह शोच की मुद्रा है), नूपुरों में जो मधुर शब्द हो रहा है, उसे कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं ॥५॥ कि मानों प्रेम के वश वे (श्रीरामजी से) विनती करते हैं कि हमें सीताजी के चरण न त्यागें ॥६॥ सुन्दर नेत्रों से जल बहा रही हैं, यह दशा देखकर श्रीरामजी की माता बोलीं ॥७॥ हे तात ! सुनो, सीताजी बड़ी ही सुकुमारी हैं। सास, ससुर और कुटुम्बियों को प्यारी हैं ॥८॥ इनके पिता श्री जनकजी राजाओं में शिरोमणि हैं, श्वसुर सूर्य कुल के सूर्य (चक्रवर्त्ती श्रीदशरथजी) हैं और पति सूर्य कुल रूपी कुईं के वन के (प्रफुल्लित करने के) लिये चन्द्रमा और गुण एवं रूप के निधान हैं ॥५८॥

विशेष—(१) 'लेखति धरनी'—यह स्त्रियों के शोच की मुद्रा है कि वे सहज ही नखों से भूमि खोदने लगती हैं। 'हमहिं सीय पद···'—भाव यह कि आप जो साथ ले चलें एवं शृंगार सहित ले चलें तो श्रीसीताजी हमें चरणों में रक्खेंगी, अन्यथा वे विरह में निकालकर फेंक देंगी। 'लेखति धरनी', यथा—"पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन ॥···जनु करुना बहु बेष बिसूरति (दो० २८०)।

'मनहुँ प्रेमबस···'—इसमें सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) 'मंजु बिलोचन···'—जानकीजी को पहले रूपराशि कह आये। अब प्रसंगतः उनके प्रत्येक अंग की शोभा पृथक्-पृथक् कहते हैं। यहाँ नेत्रों की शोभा कही है कि ये पति-वियोग भय से आँसू गिरा रहे हैं। आगे 'चंद बदनि दुख कानन भारी।' में मुख की, एवं—'चारु चरननख लेखति धरनी।' में साथ चलने की, आतुरी में चरणों की और साथ के लिये विनय करने के सम्बन्ध से नूपुर के शब्दों की मधुरता कह नूपुरों की सराहना की है। 'तात सुनहुँ सिय अति सुकुमारी।'—पूर्व—"अति सुकुमारि देखि अकुलानी।" पर से प्रसंग छोड़ा था वहीं से पुनः लेते हैं। 'अति सुकुमारी'—सुकुमार तो तुम भी हो, पर ये अति सुकुमारी हैं। 'राम महतारी'—क्योंकि श्रीरामजी को तरह धीर हैं।

(३) 'पिता जनक भूपाल···'—'भूपाल मनि', यथा—"पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पद पीठा ॥" (दो० ९७), 'पति रवि-कुल-कैरव-बिपिन, बिधु ···'—राजा को सूर्य कहा, तो श्रीरामजी को चन्द्रमा, क्योंकि चन्द्रमा सूर्य का अंश है, वैसे ही राजा के पुत्र रूप अंश श्रीरामजी हैं। इनको भी सूर्य कहने से पिता की बराबरी होती, यह सँभाल है। 'गुन रूप निधान'—चन्द्रमा अवगुण का निधान है—"अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।" (बा० दो० २३७), पर श्रीरामजी में अवगुण नहीं हैं, प्रत्युत ये गुण के निधान हैं। चन्द्रमा के छयी रोग है, इससे वह मलीन रहता है, पर श्रीरामजी रूप के निधान हैं। 'रवि-कुल-कैरव-बिपिन' से 'बिधु' शब्द को भिन्न चरण में रखकर कवि दिखाते हैं कि अब ये इस कुल से पृथक् होकर वन को जा रहे हैं। इससे कुल रूपी कुईं का वन तबतक सम्पुटित (उदास) रहेगा।

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन सील सुहाई ॥१॥
नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ॥२॥

कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली । सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ॥३॥
फूलत फलत भयेउ बिधि बामा । जानि न जाइ काह परिनामा ॥४॥

अर्थ—फिर मैंने रूप की राशि सुन्दर गुणवती और शीलवती प्यारी बहू पाई ॥१॥ मैंने जानकीजी को आँखों की पुतली बनाकर इसमें प्रीति बढ़ाई है और अपने प्राण इसमें ही लगा रक्खे हैं ॥२॥ कल्पलता की भाँति (इसका) मैंने बहुत प्रकार से लाड़-प्यार किया और स्नेह रूपी जल से सींच कर इसका प्रतिपालन किया ॥३॥ फूलते-फूलते समय ब्रह्मा टेढ़े (उल्टे) हो गये, जाना नहीं जाता कि परिणाम क्या होगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मैं पुनि पुत्र बधू···'—जैसी बहू मैंने पाई, वैसी औरों को दुर्लभ है। 'रूपरासि' कहकर 'गुन सील सुहाई' कहा, क्योंकि बिना गुण-शील के रूप की शोभा नहीं। 'पुनि' शब्द मैं के साथ जोर देने के लिये भी होता है, इसका कुछ अर्थ नहीं होता। ऐसा मुहावरा है, यथा—"मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी।" (दो० ६१), इत्यादि। रूप और गुण से प्रायः अहंकार होता है, पर यह शीलवती है। इसमें यह दुर्लभता है।

(२) 'नयनपुतरि करि प्रीति···'—'नयनपुतरि करि' अर्थात् अत्यन्त प्रिय बनाकर, यथा—"बधू लरिकिनी पर घर आई। राखेहु नयन-पलक की नाईं॥" (बा० दो० ३५४), यह राजा की आज्ञा थी, वैसा ही इन्होंने रक्खा है। तथा—"जौ बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहिं चखपूतरि आली॥" (दो० २२)। 'प्रीति बढ़ाई' अर्थात् प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ाती ही थी। 'नयन पुतरि करि'—तन से लालन—रक्षण द्वारा प्रीति करना है, 'प्रीति बढ़ाई'—मन से और 'राखेउँ प्रान···'—यह प्राण से प्रीति करना है, अर्थात् तन, मन, प्राण, इन तीनों से प्रीति करती थी।

(३) 'बहु बिधि लाली'—श्रीजानकीजी ब्याह कर आईं, तब बालिका थीं। अतः, लालन (दुलार) करना एवं पालन करना कहा है। उपर्युक्त तन, मन, प्राण से स्नेह के साथ पालन करने को 'बहु बिधि' कहा है।

(४) 'फूलत फलत भयेउ···'—राज्य सुख भोगतीं, रानी होतीं, यह फूलना और सन्तान होना फलना है। 'जानि न जाइ···' अर्थात् अब वन जाने से न जाने क्या हो ? यह फूलने-फलने का सुख देखने को मिले या नहीं। इस समय वाम हुआ तो आगे कैसा करेगा, यह नहीं जाना जाता।

पलँग-पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा ॥५॥
जिवनमूरि जिमि जोगवत रहेऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहेऊँ ॥६॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा ॥७॥
चंद-किरन-रस-रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी ॥८॥

दोहा—करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिषबाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवनि मूरि ॥५६॥

शब्दार्थ—पलँग-पीठ=पलँग की कोमल शय्या, पीठमासनमिति—अमरकोशे। पीठ का पीढ़ा अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ कोमलता का प्रसंग है—पलँग और सिंहासन भी।

अर्थ—सीताजी ने पलँग के (कोमल) आसन, गोद और हिंडोला छोड़कर कभी कठोर भूमि पर चरण नहीं रक्खा ॥५॥ जीवन मूरि की तरह मैं इनकी रक्षा करती रही हूँ, दीपक को बत्ती उसकाने (घटाने-बढ़ाने) तक को नहीं कहा ॥६॥ वही सीताजी तुम्हारे साथ वन को चलना चाहती हैं, हे रघुनाथजी ! इनको

क्या आज्ञा होती है ? ॥७॥ चन्द्रमा की किरणों के रस को भोगनेवाली चकोरी (भला) सूर्य की ओर कैसे आँख भिड़ा सकती है, अर्थात् ये सदा राज्य सुख भोगनेवाली वन की विपत्ति कैसे सहेंगी ? ॥८॥ हाथी, सिंह, निशाचर (एवं) और भी बहुत दुष्ट जीव-जन्तु वन में विचरते रहते हैं। हे पुत्र ! क्या विष की बगीची में सुन्दर संजीवनी जड़ी सोहाती है ? (कभी नहीं) ॥५६॥

विशेष—(१) पलँग-पीठ तजि·····'—बाल्यावस्था में गोद और हिंडोले पर क्रीड़ा करती थीं। सयानी होने पर पलँग की कोमल शय्या पर रहती थीं, पुनः पैदल भी चलती थीं, तो गुल-गुले वस्त्रों के पाँवड़े पर ही, कठोर भूमि पर तो इन्होंने कभी पैर नहीं रक्खा, फिर वन की कठोर कँकरीली एवं कँटीली भूमि पर ये कैसे चलेंगी ?

'जिवनमूरि जिमि ·····'—पहले कल्पवेलि को उपमा दी थी, फिर जीवन-मूरि की, भाव यह कि हमारी मनोरथ-पूर्त्ति के लिये कल्पलता और मुझे जीवित रखने के लिये संजीवनी बूटी के समान हैं। 'दीपबाति नहिं···' —दिये की बाती उसकाना, यह मुहावरा है, अर्थात् अत्यन्त हलका काम भी करने को नहीं कहा। 'दीपबाति ··'—इसका यथाश्रुत अर्थ लेकर लोगों ने शंका की है कि अयोध्या में तो मणि-दीप थे, दीपक की बत्ती उसकाने की बात कैसी ? समाधान भी होता है कि देव-पूजन में घी का दीपक रहता था। बड़ी रानी होने से कौसल्याजी ही पूजन करती थीं। इधर जेठी बहू को भी आगे पूजन करना होगा, इसलिये इन्हें पास बैठा कर दिखाती थीं। उस समय यदि दीपक बुझ जाय तो सब सामग्री बदलकर फिर से पूजन करना चाहिये। फिर भी रानी लाड़ली बहू को दीपक उसकाना नहीं कहती थीं, यद्यपि श्रीजानकीजी स्वयं उसे सावधानी से देखती रहती थीं।

(२) 'सोइ सिय चलन चहति··· ···'—'सोइ' अर्थात् उपर्युक्त सुकुमारी एवं लाड़िली, सुकुमारता दिखाकर आज्ञा पूछने का भाव यह कि हमारी रुचि तो है कि ये घर ही में रहें, जैसा आगे स्पष्ट कहा है—"जौ जिय भवन रहइ कह अंबा। मोहिं कहँ होइ बहुत अवलंबा ॥" (दो० ५९), यही आज्ञा दो, ऐसा नहीं कहतीं, अन्यथा माता के अनुरोध से श्रीरामजी को हठात् वैसी ही आज्ञा देनी पड़ती, पर कहती हैं—'आयसु काह' अर्थात् तुम अपने विचार से जो रुचे, वैसी आज्ञा दो।

(४) 'चंद-किरन-रस रसिक·· ···'—यहाँ अयोध्या चन्द्रमा, यहाँ के अनेक सुख चन्द्र-किरण-रस और श्रीजानकीजी उसकी रसिक चकोरी हैं। वन-रवि, दुःख-सूर्य-किरण के ताप और वहाँ को जाना सम्मुख दृष्टि करना है।

(५) 'करि केहरि निसिचर ·· ··'—विष-घाटिका विषैले वृक्षों से पूर्ण है, वैसे वन करि, केहरि, निशाचर और दुष्ट जन्तु (बिच्छू, साँप आदि) से पूर्ण हैं। विषैले वृक्षों के बीच में संजीवनी बूटी नहीं सोहती, वैसे ही उक्त दुष्ट जीवों के बीच में श्रीजानकीजी न सोहेंगी। संजीवनी बूटी विष की झाड़ से सूख जाती है, वैसे ही ये उक्त करि-केहरि आदि के भय से सूख जायँगी, अर्थात् अत्यन्त डर जायँगी। वृक्ष छोटे-बड़े दो प्रकार के होते हैं, वैसे करि, केहरि और निशाचर, इन दुष्ट जीवों की एक कोटि कही गई। ये बड़े वृक्ष हैं और छोटे-छोटे जन्तु साँप-बिच्छू आदि दूसरी कोटि के छोटे वृक्ष हैं। 'चरहिं' अर्थात् वे विचरते रहते हैं, जहाँ रहो, वहीं पर आकर घात करते हैं। 'सुभग' अर्थात् संजीवनी में गुण होते हैं, पर वह सुन्दर नहीं होती, ये सुन्दरी भी हैं। इसलिये 'सुभग-सजीवन-मूरि' कहकर उपमा दी।

बनहित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि बिषय-सुख-भोरी ॥१॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहिं कलेस न कानन काऊ ॥२॥
कै तापसतिय काननजोगू। जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू ॥३॥

सिय बन बसिहि तात केहि भाँती । चित्रलिखित कपि देखि डेराती ॥४॥

शब्दार्थ—हित = के लिये । किसोरी (किशोरी) = लड़की । पाहन कृमि = पत्थर का कीड़ा, जो पत्थर को खाता है । लिखित = खिंची हुई, उतरी हुई । भोरी = अज्ञान ।

अर्थ—वन (में रहने) के लिये कोल-किरात की लड़कियाँ बनाई गई हैं, ब्रह्मा ने जिन्हें विषय सुख (भोग-विलास) को न जाननेवाली बनाया है ॥१॥ उनका पत्थर के कीड़े की तरह कठोर स्वभाव होता है । अतः, उन्हें वन में कभी क्लेश नहीं होता ॥२॥ अथवा तपस्वियों की स्त्रियाँ (वा, तपस्विनी स्त्रियाँ) वन के योग्य हैं, तपस्या के लिये जिन्होंने सब भोगों (ऐश्वर्य-सुखों) का त्याग कर दिया है ॥३॥ हे तात ! वन में सीताजी किस प्रकार बसेंगी ? जो तसवीर में भी बन्दर को देखकर डरती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'पाहन कृमि जिमि कठिन·····'—पत्थर का कीड़ा उसीमें पैदा होता है, वही खाता है और सहज ही में गर्मी, सर्दी, वर्षा सहता है । वैसे ही वे कोल-किरात की लड़कियाँ वन में ही पैदा होती हैं, उनका कठिन स्वभाव होता है । वे उत्तम भोगों की व्यवस्था जानती ही नहीं, वन की ही वस्तुओं से निर्वाह करने में सुख मानती हैं । गर्मी, सर्दी, वर्षा सहज ही सहती हैं । 'काऊ'—जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि कभी भी । कीड़ा पत्थर काटता है, ये जाड़ा आदि । अतः, पाहन की भाँति कठोर स्वभाव की हैं । इनमें स्वभावतः सहन-शक्ति है । श्रीजानकीजी तो भूमिजा हैं, इनका उत्पत्तिस्थान कोमल है, फिर ये कैसे सहेंगी ?

(२) 'कै तापस तिय ···'—इन्होंने युवा अवस्था के सब भोगों को भोग लिया है, तब चौथेपन में तप करने गई हैं । भोगों को जानती हैं, पर तप के लिये भोगों का त्याग करती हैं, यथा—"बैषानस सोइ सोचन जोगू । तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥" (दो० १७२), अर्थात् भोग तप का बाधक है । ये उपर्युक्त कोल-किरात की लड़कियों से सहन करने की शक्ति में कम हैं, क्योंकि वे तो वन के क्लेश को क्लेश जानती ही नहीं और इन्हें क्लेश का ज्ञान है, पर उसे सहकर निवास करती हैं । वैसे क्रम से प्रथम कोल-किरात-किशोरी और फिर तापस-तिय कही गई हैं । श्रीजानकीजी ने भोगों का त्याग नहीं किया है, तो ये कैसे वन जा सकती हैं ?

(३) 'सिय बन बसिहि तात·····'—जो बन्दर का चित्र देखकर डरती हैं, वे साक्षात् सिंह, व्याघ्र आदि को कैसे देख सकेंगी ? अर्थात् तन कोमल और स्वभाव-भीरु है । अतः, ये वन के योग्य नहीं हैं ।

सुर-सर-सुभग बनज - बन चारी । डाबर - जोग कि हंसकुमारी ॥५॥
अस बिचारि जस आयसु होई । मैं सिख देउँ जानकिहि सोई ॥६॥
जौ सिय भवन रहइ कह अंबा । मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा ॥७॥
सुनि रघुबीर मातु - प्रिय - बानी । सील सनेह सुधा जनु सानी ॥८॥

दोहा—कहि प्रियबचन बिबेकमय, कीन्ह मातु - परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहि, प्रगटि बिपिन-गुन-दोष ॥६०॥

शब्दार्थ—चारी = विचरनेवाली । सुरसर = देवसर, जैसे मानससर, नारायणसर आदि । डाबर = गड्ढा ।

अर्थ—सुन्दर देव-सर के सुन्दर कमल वन में विचरनेवाली हंस-कुमारी क्या तलैया में रहने के योग्य है ? ॥५॥ ऐसा विचार कर तुम्हारी जैसी आज्ञा हो, वैसी ही शिक्षा मैं जानकीजी को दूँ ॥६॥ माताजी कहती हैं कि जो सीताजी घर रह जायँ तो मुझे बड़ा भारी सहारा हो जाय ॥७॥ रघुबीर श्रीरामजी ने मानों शील-स्नेह-रूपी अमृत में सनी हुई माताजी की प्रियवाणी सुनकर ॥८॥ विवेक से भरे हुए

प्यारे वचन कहकर उन्होंने माता को सन्तुष्ट किया। फिर वन के गुण-दोष प्रकट कर वे श्रीजानकीजी को प्रबोध करने लगे ॥६०॥

विशेष—(१) 'सुर-सर-सुभग बनज···'—हंस-कुमारी मानससर में रहती है, कमलवन में विचरती और मोती चुनती है। वैसे ही अयोध्या मानससर है। अनेक प्रकार के फर्श, गलीचा आदि कमल वन हैं और अनेकों प्रकार के भोग मोती हैं, श्रीजानकीजी हंस-कुमारी हैं। डाबर में शूकर लोटते हैं, उसमें साफ जल भी नहीं मिलता तो वहाँ हंस-कुमारी के चुनने को क्या है? वैसे वन में पहाड़ी जल पीना, कन्दमूल, फल आदि खाना होता है और काँटे-कंकड़ों में चलना होता है तो वहाँ इनका निर्वाह नहीं हो सकता।

यहाँ कौसल्याजी बार-बार 'सिय' शब्द का प्रयोग करके इनकी कोमलता सूचित करती हैं। पुनः यहाँ पाँच उपमाओं से श्रीजानकीजी के क्रमशः मन, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और श्रवण के दुःख वन में कहे गये। १—कोल-किरात की लड़कियों के 'पाहन कृमि जिमि स्वभाव' से इनके मन का, २—'तापस तिय' से सहने में त्वचा का, ३—'कपि चित्र' से नेत्र का और 'हंस-कुमारी' से जिह्वा का तथा 'करि केहरि···' से उनकी दहाड़ सुनकर डरने में श्रवण का दुःख कहा, अर्थात् किसी तरह ये वन के योग्य नहीं हैं।

(२) 'अस बिचारि जस आयसु ··'—अर्थात् इस विषय में इनपर मैं आज्ञा नहीं दे सकती, किन्तु तुम्हारी आज्ञानुसार शिक्षा दे सकती हूँ।

(३) 'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'—अर्थात् जहाँ कोई अवलम्ब नहीं, वहाँ इनसे बहुत आधार होगा, क्योंकि ये श्रीरामजी के समान प्रिय हैं, इसीलिये चक्रवर्त्तीजी ने भी कहा है—"एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ तो होइ प्रान अवलंबा॥" (दो० ८१)। 'जौ' वह दुविधा बोधक है, अर्थात् पतिव्रता है, इससे रहना कठिन है। 'बहुत' का भाव—यह अवलम्ब तो सबको तथा राजा को भी होगा, पर हमको बहुत अवलम्ब होगा, क्योंकि ये अधिकतर मेरे ही पास रहेंगी।

(४) 'सुनि रघुबीर मातु···'—'प्रिय'—क्योंकि वचन धर्म के अनुकूल हैं। 'सील'—क्योंकि माता होती हुई भी आज्ञा नहीं देती, किन्तु कहती हैं—'जस आयसु होई, मैं सिख देउँ'। 'स्नेह'—"जौ सिय भवन रहइ···मोहि कहँ होइ···" इत्यादि, सब वाणियों में शील-स्नेह भरा है।

(५) 'कहि प्रिय बचन बिबेकमय'···'—प्रिय वचन से उपदेश धारण होता है। माता ने भी प्रिय वचन ही कहा था। विवेकमय वचन कहा, क्योंकि श्रीरामजी ने माताजी को अलौकिक विवेक पहले ही से दे रक्खा है—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि···" (बा० दो० १५०) उसीका उद्दीपन कराया। इससे माता को सन्तोष हुआ। 'लगे प्रबोधन···' 'लगे' से जनाया कि इन्हें बड़ी देर तक समझाना पड़ेगा तथा प्रकर्ष बोध कराने में भी बहुत समय लगेगा ही। माता ने वन के दोष कहे थे, वैसे ही श्रीरामजी भी वन जाने में दोष और न जाने में गुण दिखाते हुए समझाते हैं। माता का मन तो विवेक से स्थिर कर दिया, पर इन्हें नर-नाट्य की रीति से कह रहे हैं, इन्हें साथ जाना ही है।

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समय समुझि मन माहीं॥१॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू॥२॥
आपन मोर नीक जौ चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू॥३॥
आयसु मोरि सासु - सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥४॥

अर्थ—माताजी के पास में श्रीजानकीजी से बोलने में सकुचते हैं (लजाते हैं), किन्तु मन में यह समझ कर कि बोलने ही का (आपत्काल का) अवसर आ पड़ा है, वे बोले॥१॥ हे राजकुमारी!

हमारी शिक्षा सुनो, हृदय में कुछ और प्रकार न विचारो ॥२॥ अपना और मेरा जो भला चाहती हो तो हमारे वचन मानकर घर में ही रहो ॥३॥ हे भामिनि ! मेरी आज्ञा (पालने से) और सास की सेवा करने से, घर में रहने में सब प्रकार से भलाई ही है ॥४॥

विशेष—(१) 'मातु समीप कहत···'—माता के सामने पत्नी से बात करना लोक-मर्यादा की दृष्टि से अनुचित है। यही संकोच है, पर यह आपत्ति का समय है। माता के सामने ही यदि हम उनका दुःख कहकर इन्हें समझावें और रोकें तो ठीक होगा। इससे बोले।

(२) 'राजकुमारि'—सम्मानार्थ सम्बोधन है, तथा माता ने कहा था—'बन हित कोल-किरात किसोरी।···कै तापस तिय···' इस दृष्टि से तुम राजकुमारी हो। अतः, वन के योग्य नहीं हो, यह भाव भी प्रकट कर रहे हैं। पुनः यह भी भाव है कि राजा धीर होते हैं, तो राजकुमारी को भी धीर होना चाहिये अधीर मत हो। 'आन भाँति···' अर्थात् इन निवारण की बातों से यह न समझ लो कि हम तुम्हें त्याग रहे हैं। वा, जो प्राण-त्याग का विचार करती हो, वह न करो, यथा—"की तनु प्रान कि केवल प्राना।" किन्तु मैं जो कहूँ, उसे सुनो।

(३) 'आपन मोर नीक···'—घर में तुम्हारे रहने से हम-तुम दोनों का भला है। इस तरह कि तुम सास की सेवा करोगी तो हमारा-तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा। पुनः तुम वन के क्लेश से बचोगी और हम तुम्हारी रक्षा की झंझट से बचेंगे। परदा भी बना रहेगा और हमारी आज्ञा के पालन से उत्तम धर्म को भी पाओगी।

(४) 'आयसु मोरि सासु···'—'भामिनि' पद का अर्थ मानवती एवं क्रोधवती स्त्री है। इससे वाल्मीकिजी के वचन—"चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्। क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहु सान्त्वयत्॥" (२।२९।२४), अर्थात् 'सीताजी को चिन्तित और क्रोध युक्त देख रामजी ने उनका निश्चय बदलने के लिये बहुत समझाया' यह एवं इसके सम्बन्ध की बातें आ गईं। इसी प्रसंग में श्रीजानकीजी ने प्रणय के अभिमान से कहा है—"किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः। रामं जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥" (२।३०।३) अर्थात् मेरे पिता मिथिलाधिप राजा जनकजी ने आपको पुरुष शरीर-धारी स्त्री नहीं समझा था, अतएव उन्होंने आपको अपना दामाद बनाया, इत्यादि भामिनि शब्द से ग्रन्थकार ने युक्ति से सूचित कर दिया।

येहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥५॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मतिभोरी ॥६॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुंदरि समुझायेहु मृदु बानी ॥७॥
कहउँ सुभाव सपथ सत मोही। सुमुखि मातुहित राखउँ तोही ॥८॥

दोहा—गुरु श्रुति-संमत धरम फल, पाइय बिनहिं कलेस।
हठबस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेस ॥६१॥

अर्थ—आदरपूर्वक सास और ससुर के चरणों की पूजा करने से अधिक दूसरा धर्म नहीं है ॥५॥ माता जब-जब मेरी सुधि करेंगी तब-तब वे प्रेम से व्याकुल हो जायँगी, क्योंकि वे मति की भोरी हैं ॥६॥ हे सुन्दरी ! तब-तब तुम पुराण की एवं पुरानी कथाओं को कहकर कोमल वाणी से इन्हें समझाना ॥७॥ हे सुमुखि ! मैं स्वभाव से ही कहता हूँ (बनाकर नहीं), मुझे सैकड़ों शपथें हैं कि मैं तुम्हें माता की भलाई के लिये ही घर पर रखता हूँ ॥८॥ गुरु और वेद की सम्मति से जो धर्म का फल है, वह बिना

क्लेश के ही प्राप्त हो जाता है। हठ के अधीन होने से गालव मुनि और राजा नहुष आदि सभी ने संकट सहे हैं ॥६१॥

विशेष—(१) 'येहि ते अधिक धरम···'—श्रीजानकीजी पातिव्रत्य-धर्म की दृष्टि से पति-सेवा के लिये वन को चला चाहती हैं। उसपर आप कहते हैं कि हमारे भी पूज्य हमारे माता-पिता हैं। हमारी सेवा से उनकी सेवा का अधिक फल है। सास-ससुर तुम्हारे देव के भी देव हैं। 'सादर' अर्थात् केवल मेरी आज्ञा मान विवश होकर नहीं, किन्तु श्रद्धा-भक्ति सहित सेवा करना।

(२) 'जब जब मातु करिहि सुधि ···'—माता की व्याकुलता दूर करने के लिये पुराणों की कथा कहकर समझाना। तुम्हारी मृदु वाणी से माता को धैर्य हो जायगा। तुम्हारे वचनों से विशेष धैर्य होगा, क्योंकि तुम उन्हें प्रिय हो। यही समझाने की सेवा करना और-और सेवाओं के लिये तो दास-दासी हैं ही। 'मति-भोरी'—यद्यपि गुरुपत्नी समझाने को हैं, तथापि भोरी मति को सावधान करनेवाली (ऐश्वर्य देश में) तुम्हीं हो, यथा—"जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।" (बा० दो० १७)।

(३) 'सपथ सत मोही'—श्रीजानकीजी कहीं यह न मान लें कि माता के समझाने को गुरु-पत्नी आदि मुनियों की स्त्रियाँ बहुत हैं, यह मुझे त्यागने का बहाना-मात्र है। अतः, विश्वास कराने के लिये शपथ करते हैं। सैकड़ों शपथों में सबकी शपथें आ गईं, जितनी हो सकती हैं। अतः, नाम लेकर करने से उतनी ही (परिमित) होतीं। 'सुमुखि'—इस सुन्दर मुख से समझाकर माता का हित करना, इसीमें मुख की सुन्दरता है।

'गुरु श्रुति संमत···'—पति का आज्ञा-पालन और सास-ससुर की सेवा करना—यही गुरु और वेद का सिद्धान्त है। केवल वेद-वाक्य में सन्देह का भ्रम रहता है, गुरु के द्वारा वह असन्दिग्ध हो जाता है। इसलिये दोनों के द्वारा उक्त धर्म को पुष्ट किया। इस धर्म का फल स्वर्ग है। वह बिना क्लेश के ही सास-ससुर की सेवा से प्राप्त हो रहा है। अन्यथा ऐसे फल के लिये अन्य धर्मों में बड़ा कष्ट सहना पड़ता है, यथा—"सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥" (दो० ९४)।

(४) 'हठ बस सब संकट सहे···'—गालव मुनि की कथा महा० उद्योग० अ० १०६–११६ के अनुसार इस तरह है—गालव मुनि विश्वामित्र मुनि के शिष्य थे—"एक समय तपस्या करते हुए श्रीविश्वामित्रजी के धर्म को जानने के लिये धर्म वसिष्ठ मुनि का रूप धरकर भोजन करने की इच्छा से विश्वामित्रजी के आश्रम पर गये। विश्वामित्रजी तुरत पाक करने लगे, परन्तु वसिष्ठ-रूपी धर्म ने दूसरे तपस्वी के यहाँ भोजन कर क्षुधा शान्ति कर ली। तब तक विश्वामित्रजी ने भी गर्म भोजन ला उपस्थित किया। धर्म ने वसिष्ठ रूप से कहा, 'मैंने भोजन कर लिया, तुम यहाँ पर ठहरो' ऐसा कह वे चल दिये।

विश्वामित्रजी हाथों से भोजन का पात्र लिये सिरपर धारणकर वायु भक्षण करते हुए स्तम्भ की नाईं सौ वर्ष तक वहीं खड़े रहे। उस समय उनके शिष्य गालव मुनि यत्न से उनकी सेवा करते रहे। तब वसिष्ठ वेष से धर्म आये और देखा कि विश्वामित्र सिरपर भोजन वैसा ही गर्म रक्खे हुए हैं। उन्होंने वह अन्न भोजन किया और बोले—'हे विप्रर्षि, मैं पूर्ण रीति से सन्तुष्ट हुआ।' ऐसा कह वे चले गये।

धर्म के द्वारा विश्वामित्रजी 'ब्रह्मर्षि' पद पा प्रसन्न हुए। तब उन्होंने तपस्वी गालव की सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें स्व-इच्छित स्थान पर जाने को कहा। गालव मुनि ने गुरु-दक्षिणा लेने की प्रार्थना की। विश्वामित्र ने कहा कि मैं तुम्हारी सेवा से ही सन्तुष्ट हूँ, 'तुम जाओ' ऐसा बार-बार कहा। गालव मुनि ने बार-बार दक्षिणा माँगने का ही हठ किया। इनके हठ पर विश्वामित्रजी रोष में भर कर कहा—"चन्द्रमा के समान श्वेत और एक वृक्ष के श्याम कर्ण से युक्त आठ सौ घोड़े लाकर दो, शीघ्र लाओ।" (अ० १०६)। "गालव मुनि बड़े चिन्तित हुए, प्राण त्यागने पर उद्यत हुए। विचार कर उन्होंने विष्णु भगवान्

की शरण ली, तब सहसा उनके मित्र गरुड़जी आगये। उन्होंने गालव मुनि को लेकर पृथ्वी की सब दिशाओं में भ्रमण किया। पर घोड़े नहीं मिले।" (अ० १०७–११३), "तब गरुड़जी इन्हें राजा ययाति के पास ले गये और उनसे इनकी सारी व्यवस्था कही और घोड़े माँगे। राजा ययाति ने विचारकर कहा कि यह मेरी माधवी नाम की कन्या है। इस सुलक्षणा एवं परम सुन्दरी कन्या के द्वारा तुम्हें आठ सौ घोड़े मिल जायँगे। उस कन्या को ब्रह्मवादी ऋषि का वरदान था कि वह चार पुत्र उत्पन्न करे और प्रत्येक पुत्र उत्पत्ति पर फिर स्वयं पूर्ववत् कन्या हो जाय। इस नियम से राजा हर्यश्व ने इससे विवाह किया और उनके यहाँ इस कन्या से एक पुत्र उत्पत्ति पर २०० घोड़े मिले। फिर काशी के राजा दिवोदास के यहाँ से भी उसी प्रकार एक पुत्र पर दो सौ घोड़े मिले। तब राजा उशीनर के यहाँ से भी वैसे ही एक पुत्र पर दो सौ घोड़े मिले।

गरुड़जी ने कहा कि अब पृथ्वी में और वैसे घोड़े नहीं हैं। अतः, अभी इस कन्या में एक पुत्र पैदा कर वैसे ही दो सौ और घोड़े देने का प्रभाव है। अतः, इसे ही विश्वामित्रजी को दे दो, तब वे ६०० घोड़ों के साथ इस कन्या पर प्रसन्न हो जायँगे। गालव मुनि ने वैसा ही किया। विश्वामित्र प्रसन्न हुए। उन्होंने भी उस कन्या से उसी प्रकार एक पुत्र अष्टक को उत्पन्न किया। उसी अष्टक को उन्होंने वे ६०० घोड़े भी दे दिये।

वह कन्या फिर गालव मुनि को मिली, उन्होंने उसे उसके पिता ययाति के यहाँ पहुँचा दिया।" (अ० ११४–११६)। गुरु-दक्षिणा देना धर्म है, पर इन्होंने हठ किया, इससे क्लेश सहना पड़ा।

राजा नहुष—महा० उद्योग० अ० १०-१७ के अनुसार कथा इस प्रकार है कि इन्द्र को वृत्रासुर के वध से विश्वासघात एवं पूर्व की विश्वरूप की ब्रह्महत्या लगी, इससे वे कहीं एकान्त में जा जल में छिप कर रहने लगे। वर्षा बन्द हो गई, सारा जगत् घबरा गया। फिर सब ऋषियों और देवों ने महा तेजस्वी नहुष को इन्द्र पद दिया। नहुष ने कहा कि मैं इस पद के लिये अक्षम हूँ। तब देवों और ऋषियों ने कहा, आप हमलोगों के तप से रक्षित हो स्वर्ग का राज्य कीजिये। इन्द्र होते ही और आँखों से देखते ही देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, ऋषि, पितर और गन्धर्व आदि सब प्राणियों का तेज आप में आ जायगा।

नहुष इन्द्र हो, स्वर्ग-विहार करने लगे। एक दिन उसने इन्द्राणी शची को देखा। उसने शची की कामना की। शची घबराकर गुरु बृहस्पति के पास गई। शरण हो रक्षा चाही और कहा कि 'आपका मुझे आशीर्वाद है कि मैं विधवा न होऊँ, पतिव्रता तथा एक की ही स्त्री रहूँ'। इस समय नहुष से मेरी रक्षा कीजिये और अपने वचन सत्य कीजिये। गुरुजी ने शची को भरोसा दिया कि मेरा वचन सत्य ही रहेगा। इन्द्र शीघ्र आवेंगे। यह बात नहुष ने सुनी तो बृहस्पति पर भी क्रोध किया। देवों और ऋषियों ने उचित धर्म कह नहुष को समझाया, पर उसने नहीं सुना। और हठपूर्वक देवों से शची को बुलवाया। बृहस्पति की सम्मति से इन्द्राणी नहुष के पास गई। नहुष कामवश हो प्रसन्न हुआ। इन्द्राणी शची ने उससे कहा, 'कुछ समय दीजिये। पहले मैं इन्द्र का पता लगा लूँ, यदि पता न लगेगा तो मैं आपकी स्त्री हूँगी।' नहुष ने स्वीकार किया।

अग्नि आदि देवों ने इन्द्र को न पा, विष्णु भगवान् की शरण ली, विष्णु भगवान् ने कहा कि अश्वमेध यज्ञ से मेरी पूजा कर इन्द्र शुद्ध होंगे, फिर देवराज होंगे। नहुष नष्ट भी होगा।

देवगण और शची ने इन्द्र का पता लगाया। इन्द्र ने शची को उपाय बतलाया, तदनुसार शची ने नहुष से कहा कि 'आप यदि देवर्षियों की पालकी पर चढ़ कर आवें तो मैं अनुकूल हूँगी। आप मेरे यहाँ अपूर्व वाहन पर चढ़कर आवें, जो इन्द्र, विष्णु और शिव के यहाँ भी नहीं हो, क्योंकि आप अपने दर्शनों से सबके तेज छीन लेते हैं।' नहुष ने प्रसन्न हो स्वीकार किया। सप्तर्षिगण मेरे वाहन बनेंगे, तुम मेरा तेज देखो।

नहुष सप्तर्षियों को पालकी में लगा कर चला जाता था। राह मे ऋषियों से वाद हुआ, उसने धर्म-ग्रन्थों को अप्रामाण्य कहा। अगस्त्यजी ने उसे घोर अनुचित कहा। उसीपर नहुष ने अगस्त्यजी के सिर पर लात मारी। अगस्त्यजी ने उसे घोर शाप दिया कि तुम पृथ्वी में जाकर दस सहस्र वर्ष सर्प योनि में रहो। उसके पश्चात् स्वर्ग में आओगे।

महा० अनुशा० ६६-१०० में यों लिखा है कि नहुष को ब्रह्माजी से वरदान मिला था कि वह जिसे देखे वह उसके वश में हो जाय। यह जानकर भृगुजी अगस्त्यजी की जटा में अलक्ष्य रूप में छिपे थे। जब अगस्त्यजी के सिरपर नहुष ने लात मारी, तब भृगुजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने शाप दिया कि सर्प होजा। फिर नहुष ने भृगु को प्रसन्न करने की बहुत चेष्टा की, तब अगस्त्यजी ने ही दया करके भृगुजी को प्रसन्न किया और शापान्त का नियम कर दिया। भृगु ने युधिष्ठिरजी के द्वारा शापोद्धार कहा।

गालव मुनि ने इसी शरीर से संकट सहा और राजा नहुष ने दूसरे (अजगर) शरीर से संकट सहा। यहाँ वैसी ही हठ करने से श्रीजानकीजी भी पहले इसी शरीर से वन-मार्ग के क्लेश एवं शूर्पणखा से डराई जाने के क्लेश सहेंगी। फिर दूसरे तन (छाया रूप) से लंका जाने के क्लेश सहेंगी। दोनों शरीरों से संकट दिखलाने के लिये क्रमशः ये दो दृष्टान्त हैं। गालव मुनि विरक्त थे और नहुष गृहस्थ थे। अतः, गृहस्थ-विरक्त सभी हठ से संकट भोगते हैं, यह कहा।

मैं पुनि करि प्रमान पितुबानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥१॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि सिखवन सुनहु हमारा ॥२॥
जौ हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा ॥३॥
कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी ॥४॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना ॥५॥

शब्दार्थ—प्रमान (प्रमाण) = पूरा। बारा = देर। बामा = स्त्री। पदत्राना = खड़ाऊँ, जूता, आदि।

अर्थ—हे सुमुखी! हे सयानी! सुनो, फिर मैं पिता की वाणी (प्रतिज्ञा) को पूरा करके शीघ्र ही लौटूँगा ॥१॥ दिन जाते देर न लगेगी, हे सुन्दरी! हमारा यह उपदेश सुनो ॥२॥ हे वामा! जो प्रेम-वश होकर हठ करोगी तो तुम अन्त में दुःख पाओगी ॥३॥ वन कठिन और भारी भयावन है। घाम (धूप) जाड़ा, जल और वायु सब वहाँ बड़े तीक्ष्ण हैं ॥४॥ मार्ग में कुश, काँटे और कंकड़ बहुत तरह के हैं। उनमें तुम्हें पैदल और फिर बिना जूती के ही चलना होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'मैं पुनि करि प्रमान पितु···'—तुम माता-पिता की सेवा करो और मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँ। 'बेगि'—अवधि के बीतने पर एक दिन भी न रुकूँगा। 'सुमुखि'—मुख की सुन्दरता इसीमें है कि स्वामी की आज्ञा सुनकर उत्तर न दे, यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८), 'सयानी'—इन सब धर्मों की व्यवस्था तुम जानती हो।

(२) 'दिवस जात नहिं लागिहि···'—१४ वर्ष कैसे कटेंगे? इसपर कहते हैं, दिन जाते देर न लगेगी। 'सुंदरि'—अर्थात् सीख मानने में ही तुम्हारी सुन्दरता है।

(३) 'जौ हठ करहु प्रेमबस···'—श्रीजानकीजी प्रेम-वश हठ करेंगी ही। अतः, 'वामा' सम्बोधन सुन्दर स्त्री का है, भाव यह कि तुम्हारे लिये हठ करना उचित नहीं। यह ध्वनि से प्रतिकूलता का भाव भी लाता है, ऊपर दो० ६० चौ० ४ में प्रमाण देखिये। अतः, आज्ञा उल्लंघन एवं पति के प्रतिकूल हठ के सम्बन्ध से ठीक ही दिया गया है। अन्त में दुःख पाओगी, अर्थात् वन के क्लेश सहोगी। पुनः हरण होने पर वर्ष भर हमसे वियोग होगा (यह भी गर्भित है)।

(४) 'कानन कठिन भयंकर भारी।'—वन की भूमि कठिन है—"कठिन भूमि कोमल पद-गामी।" (कि० दो १), 'भयंकर'—"डरपहिं धीर गहन सुधि आये।" (दो० ६२) 'भारी'—दंडक वन ४०० कोस का है। अतः, भारी भयंकर है। 'घोर घाम हिम बारि बयारी'—'घोर' शब्द आदि में होने से सबोंके साथ है। यहाँ अभी ग्रीष्म ऋतु में चलना है। अतः, 'घोर घाम' प्रथम कहा। बीच में वर्षा को छोड़कर हिम कहा, क्योंकि घोर-घाम के समान ही घोर जाड़े का भी दुःख होता है। 'घोर बारि'—से वर्षा का दुःख कहा। अन्त में 'बयारी' कहकर इसे भी सबोंके साथ सूचित किया। 'घोर बयारी' के सम्बन्ध से उक्त तीनों अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं। जैसे घोर ग्रीष्मऋतु सेलू होकर, घोर वर्षाऋतु से झकोरा होकर और घोर जाड़े में सुरसुरा (शीत वायु का झकोरा) होकर अत्यन्त कष्टकर होते हैं।

(५) 'कुस कंटक मग काँकर नाना···'—कुश काँटे से भी अधिक दुःखद होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। 'चलब पयादेहि'—भयंकरता कहकर अब मार्ग का कष्ट कहते हैं कि पालकी आदि में चलने से उक्त घोर-घाम आदि उतने बाधक नहीं होते, पर हमारे साथ पैदल चलना होगा। पुनः जूते आदि के बिना ही चलने में कुश, काँटे आदि भी गड़ेंगे, ये सब सहने पड़ेंगे।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥६॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहि निहारे ॥७॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥८॥

दोहा—भूमिसयन बलकलबसन, असन कंद-फल - मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबइ समय अनुकूल ॥६२॥

शब्दार्थ—अगम = दुर्गम, पहुँच के बाहर, विकट। भूमिधर = पहाड़। कंदर = गुफा, पर्वत की सुरंग। खोह = दो पहाड़ों के बीच का तंग मार्ग। नद = बड़ी नदी। बृक = भेड़िया, बीग। बलकल = वृक्षों की छाल, भोजपत्र, आदि। कंद = जो पृथ्वी में गोल-गोल निकलते हैं। जैसे जमीकन्द (सूरन) आदि। मूल = भूमि में जो लम्बे-लम्बे निकलते हैं। असन = भोजन।

अर्थ—तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं, मार्ग दुर्गम है, उसमें बड़े-बड़े भारी पहाड़ हैं ॥६॥ कन्दराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे-ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि देखे नहीं जाते, अर्थात् उन्हें देखने पर डर लगता है ॥७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी, ऐसे घोर शब्द करते हैं (गर्जते हैं) कि सुनकर धैर्य भाग (छूट) जाता है ॥८॥ भूमि पर सोना होगा, बलकल के वस्त्र पहनने और कन्द-मूल-फल के भोजन करने पड़ेंगे, वे भी क्या सदा (सब ऋतुओं में) एवं सब दिन मिलते हैं ? नहीं, सभी समय के अनुकूल मिलेंगे ॥६२॥

विशेष—(१) क्रमशः मार्ग की दुर्गमता अधिक दिखाते हैं। पहले कुश, काँटे आदि पर मंजु चरण कमल से कैसे चलोगी ? फिर बड़े-बड़े पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी, चढ़ाव-उतार होने से कठिन भूमि जल्दी चुकने नहीं आती, अतएव अगम है। पुनः उसमें भी कन्दराओं और खोहों में होकर चलना होगा। नदी, नद, नाले उतरने पड़ेंगे, जो बड़े गहरे होते हैं। उतरने की बात तो कठिन है, उनका देखना भी कठिन है, यथा—"सग्राहाः सगितश्चैव पङ्कवत्यश्च दुस्तराः। मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥" (वाल्मी० २।२८।६), अर्थात् नदियों में घड़ियाल रहते हैं, दलदल होने से वे नदियाँ दुस्तर हैं, उनमें मतवाला हाथी का भी निकलना असम्भव है तथा वहाँ मत्तगज भी घूमा करते हैं। अतः, वन दुःखमय है। पुनः उसपर भी उन कन्दर-खोह आदि में रीछ, बाघ आदि हिंसक-भयंकर जीव रहते-गर्जते हैं। इससे वे और भी अगम्य होते हैं।

यहाँ थल, जल और नभ तीनों की अगमता दिखाई है—"कुस कंटक मग···" से स्थल की, "नदी नद नारे" से जल की और "भूमिधर भारे" से नभ (ऊँचे) की अगमता कही है।

पहले कन्दर-खोह आदि स्थल कहा, तब उनमें रहनेवाले भालू, बाघ आदि को कहा। फिर उनका गर्जना और फिर उससे लोगों का धैर्य छूटना कहा, यथा—"गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम्। सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥" (वाल्मी० २।२८।७), अर्थात् पहाड़ों से निकली हुई नदियों का पार करना बड़ा कष्टकर है, फिर पहाड़ों की गुफाओं में रहनेवाले सिंहों का दहाड़ना सुनने पर बड़ा कष्ट होता है। अतः, वन में दुःख ही है। 'भालू' को प्रथम कहा है, क्योंकि इससे वृक्षों पर चढ़ने पर भी नहीं बच सकते और यह धोखा देकर भी घात करता है, पुनः बड़ा क्रूर होता है। यह पहले आँख ही नोच लेता है।

(२) 'भूमि सयन···'—भूमि पर ही सोना होगा, कभी शीत पकड़ लेती है तो असह्य पीड़ा होती है। वलकल वस्त्र भोजपत्र आदि से शीत-उष्ण का बचाव नहीं होता। केवल शरीर ढकना-भर होता है। १४ वर्ष तक बराबर कन्द-मूल-फल आदि ही भोजन करने पड़ेंगे, वे भी सब दिन न मिलेंगे, कभी-कभी उपवास ही कर जाना पड़ेगा। फल भी समय के अनुकूल ही अर्थात् जिस ऋतु में जो फल होते हैं, वे ही मिलते हैं, जो कि जाड़े में शीत, वर्षा में कफ और गर्मी में पित्त के बढ़ानेवाले होते हैं। ये सब भोजन के कष्ट हैं।

यह सामान्य परिस्थिति कह रहे हैं कि श्रीजानकीजी डर कर वन न चलें, अन्यथा आप दोनों के लिये तो सभी सुखकर हो जायँगे, यथा—"बिनही रितु तरुवर फरत, सिला द्रवत जल जोर। राम-लखन-सिय करि कृपा, जब चितवत जेहि ओर॥" (दोहावली १७३), तथा—"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥" (लं० दो० ४), चित्रकूट में कहा गया है—"कामद भे गिरि राम-प्रसादा।" से "तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू॥" (दो० २७८)।

नरअहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं॥१॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥२॥
ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर-निकर नारि-नर-चोरा॥३॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीर सुहाये॥४॥

शब्दार्थ—नर-अहार = मनुष्यों को खानेवाले। लागइ = लगता है, 'पानी लगना' मुहावरा है, अर्थात् रोग पैदा करता है। बखानना = विस्तृत वर्णन। गहन = वन।

अर्थ—मनुष्य खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं, वे करोड़ों (अनेकों) प्रकार के छल (बनावटी)-वेष बनाया करते हैं॥१॥ पहाड़ों का पानी बहुत लगता है। वन के दुःख बखाने नहीं जा सकते॥२॥ भयंकर सर्प और घोर (भयंकर) पक्षी वन में रहते हैं। राक्षसों के समूह हैं वे स्त्री-पुरुषों को चुरा लेते हैं॥३॥ धैर्यवान् पुरुष भी वन की सुधि आने पर डर जाते हैं और हे मृगलोचनी! तुम तो स्वाभाविक ही डरनेवाली हो॥४॥

विशेष—(१) 'नर-अहार रजनीचर·····'—रजनीचर रात में भोजन के लिये निकलते हैं और विचरते रहते हैं। अतः, रक्षा के लिये रात-भर जागना पड़ता है। रात में एक तो सूझता नहीं, फिर वे मायावी होते हैं। इससे कपट-वेष से आते हैं। वे छल से ले जाकर मनुष्यों को खा लेते हैं, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोजी।" (लं० दो० ४३)। "निसिचर निकर सकल मुनि खाए।" (अर० दो० ८)। 'बेष बिधि कोटिक'—जैसे कि मारीच मृग, रावण यती और कालनेमि मुनि बना, इत्यादि, तथा—"कामरूप जानहि सब माया।" (बा० दो० १०८)।

(२) 'लागइ अति पहार कर···'—भोजन के दुःख पहले कह आये हैं। अब जल पीने के दुःख कहते हैं कि पहाड़ीजल अन्न खानेवालों को भी लगता है, पर फल खानेवालों को तो अत्यन्त लगता है। यहाँ यह शंका की जाती है कि "झरना झरहिं सुधा सम बारी।" (दो० २४८), यह भी पहाड़ का ही पानी है। इसका समाधान यह है कि पहाड़ का पानी वह है जो बरसात में पहाड़ों से बहकर एकत्र हो गढ़ों एवं तालाबों में रहता है। वह हानिकारक होता ही है। झरना के जल की प्रशंसा पुरजन करते हैं, वे उसके स्वाद को सराहते हैं, वे दस-पाँच दिन रहनेवाले हैं। जल का लगना कुछ काल रहने पर जाना जाता है।

(३) 'ब्याल कराल बिहँग·····'—सर्प कराल हैं, अजगर आदि मनुष्यों को निगल ही जाते हैं, यथा—"सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि। चरन्ति पृथिवीं दर्पात्ततो दुःखतरं वनम्॥ नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः। तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानं ततो दुःखतरं वनम्॥ (वाल्मी० २।२८।१९-२०), अर्थात् वन में मोटे पहाड़ी साँप (अजगर) बड़े दर्प से घूमा करते हैं। अतः, वनवास दुःखमय है। नदियों में रहनेवाले साँप नदी की भाँति टेढ़ी चाल से चला करते हैं, मार्ग रोककर सामने खड़े हो जाते हैं। अतः, वन दुःखमय है। पक्षी भयानक होते हैं, शार्दूल आदि पक्षी जीवों को पकड़कर उड़ा ले जाते हैं। यहाँ तीनों स्थलों के जीवों का बाधा करना कहा गया, 'ब्याल' भूमि के, 'बिहँग' आकाश के और 'निसिचर' पाताल के हैं।

यहाँ कहा गया—'निसिचरनिकर नारि-नर-चोरा।' और ऊपर—'नरअहार रजनीचर चरहीं।' कहा है। इनमें पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'चरहीं' में उनका आहार के लिये विचरना-फिरना कहा गया है कि पाते हैं, तो नरों का आहार करते हैं। 'नारि-नर-चोरा' में कहा गया कि वे चोरी से नर-नारी को उठा ले जाते हैं। अतः, एक में आहार के लिये फिरना और दूसरे में उठा ले जाना, ये दो बातें हैं। 'चरहीं' के अर्थ में विचरना और खाना दोनों ही अर्थ ले सकते हैं, यथा—'चर् गतिभक्षणयोः' धातु है। अतः, दिन-रात भय बना रहता है।

यहाँ श्रीसीताजी के डराने के लिये 'नारि मात्र के चोर' ही कह सकते थे, पर नर को चुराना कहा। इससे उपर्युक्त 'नर-अहार' का अर्थ खोला गया है कि चुराकर ले जाते हैं और नरों को तो खा ही जाते हैं। 'नारि-नर' नारी को पहले कहा, इन्हें विशेष ले जाते हैं। कालकेतु निशाचर का प्रतापभानु के पुरोहित को माया से चुरा ले जाना कहा भी गया है।

(४) 'डरपहिं धीर · मृगलोचनि तुम्ह ·'—जब बड़े-बड़े धीर लोग वन की सुधि आने पर डर जाते हैं, तब तुम इन मृगा के से भयभूत नेत्रों से प्रत्यक्ष देखोगी कैसे ? तुम तो स्वभाव से ही भीरु हो। अतः, समझ लो कि कैसे जी सकोगी ? जबकि 'चित्रलिखित कपि देखि डेराती' हो।

हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू। सुनि अपजस मोहिं देइहि लोगू॥५॥
मानस-सलिल-सुधा प्रतिपाली। जियइ कि लवनपयोधि मराली॥६॥
नव - रसाल-बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥७॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंदबदनि दुख कानन भारी॥८॥

दोहा—सहज सुहृद-गुरु-स्वामि-सिख, जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि॥६३॥

अर्थ—हे हंसगामिनी ! तुम वन जाने के योग्य नहीं हो, (तुम्हारा वन जाना) सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे॥५॥ मानस-सर के अमृत के समान जल से पाली हुई हंसिनी क्या खारे समुद्र (के किनारे) में

रहकर जी सकती है ? ॥६॥ नवीन आम के वन में (स्वतन्त्र) विहार करनेवाली कोयल करील के वन में क्या शोभा पाती है ? अर्थात् वह वहाँ नहीं सोहती ॥७॥ हृदय में ऐसा विचार कर घर ही में रहो, हे चन्द्र-वदनि ! वन में भारी दुःख है ॥८॥ स्वाभाविक मित्र, गुरु और स्वामी की शिक्षा जो माथे पर चढ़ा कर नहीं करता, वह पीछे मन में भरपूर पछताता है और अवश्य ही उसके हित की हानि भी होती है ॥६३॥

विशेष – (१) 'हंसगवनि तुम्ह नहिं·····'—हंस की-सी चाल से पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी ? वन की कठोर भूमि पर काँटों में कैसे चल सकोगी ? लोग अपयश देंगे कि ऐसी सुकुमारी स्त्री को वन में ले गये। वह वहाँ न रह सकी जैसा कि आगे कहते हैं—'जियइ कि···' उपर्युक्त—"सुरसर सुभग बनज बनचारी।···" भी देखिये।

(२) 'मानस-सलिल-सुधा प्रति·····'—ऊपर 'हंसगवनि' कहकर गमन में अयोग्यता दिखाई। अब दिखाते हैं कि वहाँ रह न सकोगी, जीना ही दुर्लभ होगा। श्रीमिथिलाजी और श्रीअयोध्याजी मानस-सर के समान हैं। यहाँ के उत्तम भोग 'सलिल-सुधा' के समान और श्रीजानकीजी मराली हैं। वन खारे समुद्र के समान और उसके दुःख खारा जल हैं। भाव यह कि जो सदा से सुन्दर भोगों को भोग आया है और कोमल है, वह भारी दुःख पड़ने पर जी नहीं सकता। यहाँ जीवन का अभाव दिखाया, आगे शोभा का अभाव दिखाते हैं।

(३) 'नव रसाल बन बिहरन···'—आम के नये वृक्ष सुहावने होते हैं, सुन्दर छाया, स्वादिष्ट फल और सुगन्धित फूल होते हैं। वैसे ही तुम यहाँ कनक भवनके सुख-सुगन्ध एवं सम्पूर्ण दिव्य भोगों को भोगनेवाली हो। करील का वन जिसमें पत्ते भी नहीं होते और फूल-फल भी किसी योग्य नहीं, उसमें कोयल के रहने की शोभा नहीं। वैसे तुम्हारी शोभा वन जाने और वहाँ रहने में नहीं है, (करील के वन व्रज में बहुत है)।

'मानस सलिल ··नव रसाल···' इन दोनों अर्द्धालियों में 'अप्रस्तुत प्रशंसा-अलंकार' है, क्योंकि प्रस्तुत सीताजी की सुकुमारता न कह उसे इन पंक्तियों पर ढारा है।

(४) 'रहहु भवन अस हृदय·····'—ऐसे वन के भारी दुःखों को हृदय में विचारो और घर में रहो। सामान्य दुःख होता तो ले भी चलते। वहाँ तुम्हारा चन्द्रवदन मलिन पड़ जायगा। इसलिये वन जाना ठीक नहीं।

(५) 'सहज सुहृद गुरु स्वामि·····'—इनकी शिक्षा मानना परम धर्म है, अतएव शिरोधार्य करना चाहिये, यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (बा० दो० ७६), जो इनकी शिक्षा पर चलता है, वह क्लेश-बिना ही धर्मों का फल पाता है, यथा—"गुरु श्रुति संमत धरम फल ···· " (दो० ६१), पर जो इनकी शिक्षा नहीं मानता उसकी अवश्य हित-हानि होती है, क्योंकि ये हित ही की शिक्षा देते हैं और इनके वचन सफल होते हैं। अतः, उसके लिये पीछे पछताना पड़ता है, अपनी ही भूल समझकर किसीसे कहता भी नहीं, उर में पछताता है, यथा—"निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाई॥" (बा० दो० ५७), "गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई॥" (दो० २७२)।

यहाँ तो तुम्हारे लिये तीनों का एक ही उपदेश है। हम तुम्हारे सहज-सुहृद और स्वामी हैं। माताजी तुम्हारी गुरु (श्रेष्ठ) हैं, यथा—"प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि" (सु० दो० ५०), तथा—"अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥" (वाल्मी० २।३०।३३), यहाँ इसी प्रसंग में श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से ही माता-पिता को गुरु कहा है। अतः, इस शिक्षा को श्रद्धा-पूर्वक मानना चाहिये।

सुनि मृदुबचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के ॥१॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरदचंद निसि जैसे ॥२॥
उतर न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही ॥३॥
बरबस रोकि बिलोचनबारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी ॥४॥

अर्थ—प्यारे पति के कोमल और मनोहर वचनों को सुनकर सीताजी के सुन्दर नेत्र जल (आँसू) से भर आये ॥१॥ (स्वामी श्रीरामजी को) शीतल शिक्षा उन्हें कैसी जलानेवाली हुई, जैसी शरद-ऋतु की चाँदनी रात चकवी को (दाहक होती है) ॥२॥ श्रीजानकीजी के मुख से उत्तर नहीं निकलता, वे व्याकुल हो गईं कि पवित्र एवं पवित्र-स्नेही स्वामी मुझे छोड़ना चाहते हैं। आँखों के जल को हठात् रोककर पृथ्वी की पुत्री श्रीसीताजी हृदय में धैर्य धरकर ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदुबचन मनोहर···'—वचन सुनने में कोमल एवं मधुर और अर्थ समझने में मनोहर (सुन्दर) हैं, पर इन वचनों से पति का वियोग होगा। इससे समझने से नेत्रों में आँसू भर आये। इसीसे इन नेत्रों की शोभा 'ललित' शब्द से कही गई, क्योंकि यह उचित है। 'मनोहर' पद को दीप देहली भी मान सकते हैं, तब भाव यह होगा कि स्वामी मनोहर हैं, मन उनमें ही हर गया, वह वियोग नहीं सह सकता, इससे नेत्रों में आँसू भर आये।

(२) 'सीतल सिख दाहक भइ···'—चाँदनी रात सबको शीतल और सुखदाई होती है। पर उसमें चकवी का चकवे से वियोग होता है, इससे उसके हृदय में जलन होती है। वैसे ही श्रीरामजी के वचन सबके लिये मृदु-मनोहर और शीतल ही हैं, पर श्रीजानकीजी को पति-विरह की सम्भावना से दाहक हुए। यहाँ श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा और उनके वचन किरणें हैं। यहाँ 'विषम तृतीय' अलंकार है, क्योंकि अच्छे उपदेश से भी दाहक फल कहा गया है।

(३) 'उतर न आव बिकल बैदेही।'—'बैदेही'—क्योंकि व्याकुलता से देह सुधि नहीं रह गई। 'सुचि स्वामि सनेही'—शुचि हैं, इसीसे वैसा ही पवित्र उपदेश दिया, यथा—"येहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥" (दो० ६०), स्नेही हैं, इसीसे हमारा वन का क्लेश सहन करना नहीं देखना चाहते। पुनः माताजी पर स्नेह है, इससे उनके अवलम्ब के लिये मुझे रखते हैं और अपनी आज्ञा-रूपी सेवा से मेरा पातिव्रतधर्म भी निबाहते हैं। स्वामी में स्वार्थ-साधन का लेश भी नहीं है, यह उनमें शुचिता है। मेरा ही हित चाहते हैं, किन्तु ऐसे पवित्र एवं उत्तम स्वामी का वियोग मैं कैसे सह सकूँगी? इसपर विकल हो गईं।

(४) 'बरबस रोकि बिलोचनबारी।'—पहले कहा गया—"लोचन ललित भरे जल सिय के।" वह रुकता नहीं, अतएव बरबस रोकना पड़ा। 'धरि धीरज···'—शीत-उष्ण सहने के गुण पृथ्वी में हैं, यथा—"क्षमया पृथिवी समा" (मूल रा० वाल्मी०), वैसे ही यहाँ शीतल शिक्षा से दाह उत्पन्न हुआ, उसे सहकर धैर्य धरने से 'अवनि कुमारी' कही गईं। माता के गुण कन्या में होने ही चाहिये।

लागि सासुपग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी ॥५॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परमहित होई ॥६॥
मैं पुनि समुझि दीख मन-माहीं। पिय-बियोग-सम दुख जग नाहीं ॥७॥

दोहा—प्राननाथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक-समान ॥६४॥

अर्थ—सास के पाँवों पर पड़कर और हाथ जोड़कर कहने लगीं कि हे देवि ! मेरी इस बड़ी भारी ढिठाई को क्षमा करना ॥५॥ प्राणनाथ ने मुझे वही शिक्षा दी है जिस प्रकार से मेरा परम-हित हो ॥६॥ फिर मैंने भी मन में समझ कर देखा कि पति-वियोग के समान जगत् में और कोई दुःख नहीं है ॥७॥ मेरे प्राणों के स्वामी, करुणा के स्थान, सुन्दर, सुख के दाता और सुजान, हे रघुकुल-रूपी कुई के (प्रफुल्लित करनेवाले) चन्द्रमा ! तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग भी नरक के समान है ॥६४॥

विशेष—(१) 'लागि सासुपग···'—चरणों पर पड़कर हाथ जोड़कर क्षमा माँगती हैं, क्योंकि सासु के सामने पति से वार्ता करना पड़ रहा है, श्रीरामजी भी सकुचे थे—"मातु समीप कहत सकुचाहीं ।" (दो० ६०), यह बड़ी ढिठाई है, पति के सम्मुख होना सासु के समक्ष अविनय है और बात करना तो 'बड़ि अबिनय' है । (क्योंकि आपने ही उनसे अपने सामने कहवाया, तब मुझे भी कहना पड़ा, अन्यथा न बोलती) ।

(२) 'दीन्हि प्रानपति मोहिं···'—प्रानपति'—अर्थात् ये ही मेरे प्राणों के स्वामी और रक्षक हैं तो इनके बिना मेरे प्राण कैसे रहेंगे ? उन्होंने वही शिक्षा दी है, जिसमें मेरा परम हित हो, अर्थात् लोक-परलोक दोनों बने, यथा—"गुरु श्रुति संमत धरम फल, पाइय बिनहिं कलेस ।" (दो० ६१), उसकी विधि भी बतलाई है—"येहिते अधिक धरम नहिं दूजा । सादर सास ससुर पद पूजा ॥" (दो० ६०), यही परमहित का अंग भी है, यथा—"सब बिधि भामिनि भवन भलाई ।" (दो० ६१), इत्यादि ।

(३) 'मैं पुनि समुझि दीख···'—श्रीजानकीजी अब अपने हृदय की बात कहती हैं—'प्रिय बियोग सम···' इसीपर कौसल्याजी को निरुत्तर कर दिया, क्योंकि वे भी पातिव्रत्य-धर्म को जानती हैं, इसीसे उन्होंने पुत्र के साथ वन जाने का हठ नहीं किया, क्योंकि उनके पतिदेव जीवित हैं । प्रथम उन्होंने ही कहा था । अतः उन्हें उत्तर देकर आगे श्रीरामजी से कहती हैं—श्रीजानकीजी की व्याकुलता में कवि भी व्याकुल हो गये । अतः, ७ ही अर्द्धालियों पर दोहा कर दिया ।

(४) 'प्राननाथ करुनायतन···'—प्राणनाथ हैं । मेरे प्राणों के सुखदाता हैं । अतः, प्राणों की रक्षा कीजिये, आपके वियोग में मेरे प्राण न रहेंगे । करुणायतन हैं, करुणा करके साथ लें, वियोग की निष्ठुर बात न कहें । सुन्दर हैं । अतः, साथ रखकर दर्शनों का आनन्द देते रहें । सुखद और सुजान हैं । अतः, मेरे हृदय का भाव जानकर कि आपके बिना स्वर्ग भी मुझे नरक के समान है मुझे अपने साथ रखकर सुख दें । 'रघुकुल-कुमुद-बिधु···'—रघुवंश-भर के प्रफुल्ल करनेवाले हैं, फिर मैं तो आपकी निज पाणिग्रहीता दासी हूँ । अतः, मुझे संग रखकर प्रफुल्ल रखना ही चाहिये । आपके साथ में मुझे वन ही स्वर्ग है, अन्यथा स्वर्ग भी नरक के समान दुःखद है । यह श्रीरामजी के वचन—"आपन मोर नीक··· घर रहहू । सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥" (दो० ६०) का उत्तर है, यथा—"यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना । इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥" (वाल्मी० २।३०।१८) । श्रीरामजी ने घर में सासु आदि की सेवा कही है, उसके प्रति कहती हैं—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवार सुहृद-समुदाई ॥१॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥२॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥३॥
तनु धन धाम धरनि पुरराजू । पतिबिहीन सब सोकसमाजू ॥४॥

अर्थ—माता, पिता, बहन, प्यारा भाई, प्यारा परिवार और मित्रों के समूह ॥१॥ सास, ससुर, गुरु एवं गुरुजन, सजन (स्वजन=सम्बन्धी=दामाद, बहनोई आदि), सहायक, सुन्दर सुशील और

सुखदायी पुत्र ॥२॥ इत्यादि जहाँतक स्नेह और नाते हैं, हे नाथ ! वे सब पति के बिना स्त्री को सूर्य से भी अधिक तप्त (तपानेवाले) हैं ॥३॥ शरीर, धन, घर, पृथ्वी, नगर और राज्य ये सब पति-रहित स्त्री के लिये शोक की सामग्री हैं, अर्थात् इन्हें देख-देखकर उसे शोक उत्पन्न होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'मातु पिता भगिनी···'—इस अर्द्धाली में पहले सब नैहर के कहे गये, क्योंकि स्त्रियों को नैहर के नातों पर विशेष प्रेम रहता है। इनमें माता को प्रथम कहा, क्योंकि माता का स्नेह पुत्री में सबसे अधिक होता है। फिर क्रमशः न्यून स्नेहवाले कहे गये। ऊपर स्वर्ग का खंडन करके यहाँ से इस लोक के सुखों का खंडन करती हैं। इसमें प्रथम नैहर के नातों को कहा। फिर—'सासु ससुर···' से ससुराल के नातों को गिनाया। यहाँ तक विशेष नातेवालों को कहकर—'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।···' से समष्टि में सामान्य स्नेहियों और नातेवालों को भी कह दिया। फिर साथ ही सबका खंडन करती हैं कि पति के साथ में सभी सुखदायक हैं। किन्तु, पति के बिना वे सूर्य से भी अधिक ताप देनेवाले हैं, यथा—"न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥" (वाल्मी० २।२७।१६), यहाँ वाल्मी० २।२७।३-६ के सभी भाव आ गये हैं। 'पिय बिनु तियहि···'—जैसे जबतक जल रहता है, तबतक सूर्य कमल को सुख देता है। जल न रहने से जला डालता है वैसे ही पति के न रहने से सब कोई ताप देते हैं, देखकर जलते हैं, चाहते हैं कि यह मर जाय। सूर्य बारह महीने के १२ हैं, वैसे ही ६ + ६ = १२ नाते भी गिनाये गये हैं। 'तनु धन धाम···'—इनमें 'तनु' प्रथम कहा गया, क्योंकि शेष सब इसीके लिये हैं, यथा—"देह जीव जोग के सखा ' (वि० २७७), तथा—"त्रिजग, देव, नर, असुर, अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो। गृह, बनिता, सुत, बंधु भये बहु, मातु-पिता जिन्ह जायो।" (वि० १९९), अर्थात् जहाँ एवं जिस योनि में शरीर मिलता है, वहाँ ही इसके सम्बन्धी सभी नाते होते हैं।

भोग रोगसम भूषन भारू। जम - जातना - सरिस संसारू ॥५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥६॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी ॥७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारे ॥८॥

दोहा—खग मृग परिजन नगर बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन - सम, परनसाल सुखमूल ॥६५॥

अर्थ—(पति-बिना) सब भाँति के भोग रोग के समान, गहने बोझ के समान और संसार यमराज की यातना (नरक की पीड़ा) के समान है ॥५॥ हे प्राणनाथ ! मुझे आपके बिना जगत् में कहीं भी कुछ सुखदायक नहीं है ॥६॥ जैसे जीव के बिना देह और जल के बिना नदी, हे नाथ ! वैसे ही पुरुष के बिना स्त्री है ॥७॥ हे नाथ ! आपके साथ रहते हुए शरद्-ऋतु के विमल चन्द्रमा के समान आपका मुख देखने से मुझे सब सुख प्राप्त हैं ॥८॥ हे नाथ ! आपके साथ पक्षी और वन्यपशु कुटुम्बी के समान, वन नगर के समान, बकले के वस्त्र (भोजपत्र आदि) निर्मल महीन कपड़े के समान और पर्णकुटी देवताओं के (स्वर्गीय) महल के समान सुख देनेवाले होंगे ॥६५॥

विशेष—(१) 'भोग रोगसम भूषन···'—भोगों से सुख होता है, पर पति के बिना वही भोग रोग के समान दुःखद होता है। भूषणों से शोभा होती है। विधवा पहने तो दर्शकों को नहीं सुहाता।

अतः, भूषण भार के समान हो जाता है। 'जम-जातना-सरिस ··'—संसार का हँसना, बोलना, क्रीड़ा आदि विषयोद्दीपक विलास उसे अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं।

(२) 'मातु पिता भगिनि···से यहाँ तक सामान्य स्त्रियों की व्यवस्था कही। आगे—'प्राननाथ तुम्ह बिनु···' से विशेष करके अपने लिये कहती हैं—'मो कहँ' तो कहीं कोई भी सुखद नहीं है, भाव और स्त्रियों को उपर्युक्त नातों में कोई चाहे सुखद हो भी, पर मुझे नहीं है। आगे सभी स्त्रियों के प्रति कहती हैं।

(३) 'जिय बिनु देह नदी···'—यहाँ पुरुष रहित स्त्री के लिये दो उदाहरण दिये गये हैं—एक प्राणों के बिना देह और दूसरा जल के बिना नदी। इनका भाव यह कि जब स्त्री का पति से वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो पति के साथ ही प्राण दे देती है, अर्थात् सती हो जाती है। यदि यह न हुआ तो वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके अशोभित रूप से देहावसान कर देती है। यह दूसरी क्रिया है। अतः, पहली क्रिया के लिये 'जिय बिनु देह' कहा और दूसरी के लिये बिना जल की नदी। पर इनका अपना निश्चय पहली के रूप में ही है, यथा—"की तनु प्रान कि केवल प्राना।" (दो० ५७), यहाँ 'विनोक्ति-अलंकार' है।

(४) 'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे···'—पहले पति बिना सब सुखों को दुःख रूप कहा। अब उन्हीं सबके समान मुखचन्द्र के अवलोकन से वन में सुख होना आगे कहती हैं—

(५) 'खग मृग परिजन नगर बन···'—'पर्नसाल सुखमूल'—अर्थात् सुरसदन (स्वर्ग) में रहने से क्रमशः पुण्य क्षीण होते हैं, पीछे वह प्राणी सुख रहित होकर नीचे गिरता है, "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" कहा ही गया है। पर आपके साथ पर्णशाला में रहने से सुकृत बढ़ेंगे और उनसे सुख भी बढ़ेंगे। 'बिमल दुकूल'—मैला एवं अशुद्ध वस्त्र पहनना मना है। इसपर कहती हैं कि वल्कल तो स्वयं निर्मल एवं पवित्र वस्त्र है, फिर आपके साथ से वह महीन वस्त्रों का-सा सुख देगा।

बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु-ससुर-सम सारा ॥१॥
कुस-किसलय - साथरी सुहाई। प्रभु-सँग मंजु मनोज-तुराई ॥२॥
कंद मूल फल अमिय अहारू। अवध-सौध - सत - सरिस पहारू ॥३॥
छिन छिन प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥४॥

शब्दार्थ—उदार = श्रेष्ठ, निर्हेतु-दानी। सार = पालन-पोषण। किसलय = कोमल नया पत्ता। साथरी = नये पत्तों को सुखाकर उनसे बनी हुई मोटी कोमल तोशक। सौध = राज-महल।

अर्थ—वन की देवी और देवता उदार हैं। वे सासु-ससुर की भाँति मेरा पालन-पोषण करेंगे ॥१॥ कुश और पेड़ों के पत्तों की सुन्दर साथरी, हे प्रभो! आपके साथ में कामदेव की तोशक के समान सुन्दर होगी ॥२॥ कन्द, मूल और फल का आहार अमृत के समान और पहाड़ श्रीअवध के सौ राजमहलों के समान होंगे ॥३॥ क्षण-क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखकर मैं प्रसन्न रहूँगी, जैसी दिन में चकवी प्रसन्न रहती है ॥४॥

विशेष—(१) 'बनदेवी बनदेव उदारा। ··'—मनुष्य आदि चेतनों के स्थलों के देवता पूजा आदि पाते हैं, तब उनका पालन-पोषण करते हैं, यथा—"पूजा लेत देत पलटे सुख···" (वि० २३६), पर वन-पर्वत आदि जड़ हैं, इनके देवता निःस्वार्थ भाव से रहकर वनों का पोषण कर उनके फल-फूलों से अनन्त जीवों का उपकार करते हैं। अतः, उसी स्वभाव से वे मेरा तो सासु-ससुर की तरह पालन करेंगे। वन परोपकारी होते हैं और उनके देवता भी वैसे स्वभाव के होते हैं, तथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी ॥(उ० दो० १२४)।

(२) 'कुस-किसलय-साथरी···'—बड़ी कोमल होने से साथरी को कामदेव की तोशक के समान कहा है। वह श्रीरामजी के—'भूमि सयन···' इस वचन का उत्तर है।

(३) 'कंद मूल फल अमिय अहारू।'—श्रीरामजी ने कहा था—"असन कंद फल मूल" यह उसीका उत्तर है और जो कहा था—"मारग अगम भूमि धर भारे।" उसका उत्तर देती हैं—"अवध-सौध-सत-सरिस पहारू।" अर्थात् जैसे यहाँ के दोमहलों आदि पर चढ़ती थीं, वैसे ही किन्तु उससे सौ गुने उत्साह से पहाड़ों पर चढ़ूँगी। श्रीकौसल्याजी ने कहा था—"तौ कानन सत अवध समाना॥" उसीके अनुसार यह कथन भी है।

"नाथ साथ सुर सदन सम ·····" से "अमिय अहारू॥" तक स्वर्ग के सुख की ही उपमाएँ हैं। 'अवध-सौध-सत···' यह पृथ्वी की उपमा है।

(४) 'छिन छिन-प्रभु-पद ·· '—मार्ग में चलते हुए एवं हर समय पास में रहते हुए अहर्निशि चरणकमलों के दर्शन हुआ करेंगे, यथा—"प्रभु पद कमल बिलोकि हौं छिन-छिन, इहिते अधिक कहा सुख समाजु॥" (गी० अ० ७)। यह उपासकों का भाव भी सहज में बना रहेगा, यथा—"सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहिं निहारहि।" (वि० ८५) 'दिवस जिमि कोकी'—शिक्षा सुनकर वियोग-भय से आप विकल हो गई थीं, यथा—'सीतल सिख-दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥' (दो० ६३); अब संयोग में उसके विरुद्ध प्रसन्न रहना युक्त ही है।

वन में अवध की अपेक्षा सौ गुना सुख कह रही हैं, क्योंकि सुख का कारण है—प्रभु का सहयोग। वह यहाँ की अपेक्षा वहाँ अधिक रहेगा। वहाँ शरीर निर्वाह की आवश्यक बातें अपने हाथों पूरी करनी होंगी। इस प्राकृतिक जीवन में प्रीतम के सहयोग का जितना अवसर मिलेगा उतना यहाँ के कृत्रिम जीवन में नहीं हो सकता। इसीसे ग्रन्थकार ने प्राकृतिक जीवनवाले वनवासियों के द्वारा ही प्रेम का अधिक प्रदर्शन कराया है। श्रीजानकीजी के सम्बन्ध में भी कहा है—"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो, पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानिकै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलकेउ तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥" (क० अ० १२)।

बनदुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥५॥
प्रभु - बियोग - लवलेस-समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥६॥
अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइय संग मोहिं छाँड़िय जनि॥७॥
बिनती बहुत करउँ का स्वामी। करुनामय उर - अंतर-जामी॥८॥

दोहा—राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद, सील-सनेह - निधान॥६६॥

अर्थ—हे नाथ! आपने वन के बहुत-से दुःख, भय, विषाद और परिताप कहे॥५॥ पर, हे कृपानिधान! ये सब दुःख भय आदि मिलकर भी आपके वियोग-दुःख के लवलेश (अत्यन्त अल्पांश) के समान नहीं हो सकते॥६॥ ऐसा जी में जानकर, हे सुजान-शिरोमणि! मुझे साथ में लीजिये, यहाँ छोड़िये नहीं॥७॥ हे स्वामी! मैं बहुत क्या प्रार्थना करूँ। आप करुणामय हैं और हृदय की बात जाननेवाले हैं॥८॥ जो अवधि (१४ वर्ष) तक मेरे प्राणों को रहते जानिये, तो मुझे अयोध्याजी में रखिये। आप दीन-बन्धु हैं, सुन्दर और सुखद हैं, शील और स्नेह के निधान हैं॥६६॥

विशेष—(१) 'बनदुख नाथ कहे·····'—'भय', यथा—"भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥" (दो० ६१), इत्यादि। 'बिषाद', यथा—"सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू।" (दो० ६२)। 'परिताप', यथा—"घोर-घाम हिम बारि बयारी॥ कुस कंटक मग कांकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना॥ चरन-कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमि धर भारे॥" (दो० ६१)।

(२) 'प्रभु-बियोग-लवलेस···—'प्रभु-बियोग'—जैसे आप प्रभु (परम समर्थ) हैं, वैसे ही आपका वियोग भी परम समर्थ है। उससे रक्षा करने में आप ही समर्थ हैं और कृपानिधान भी हैं, तब अवश्य ही रक्षा करेंगे। जिससे रक्षा चाहती हैं, उस दुःख की भीषणता भी कहती हैं। उपर्युक्त सब दुःख उसके किंचित् अंश भी नहीं, तब तो समझ लीजिये कि इस प्रभु-वियोग के लवलेशमात्र से मेरे प्राण नहीं ही रह सकते, यही इसका परम सामर्थ्य है।

(३) 'अस जिय जानि सुजान·····'—आप सुजान गुण से सब जानते ही हैं, तो बहुत कहना दोष-रूप है, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहिं, बहुत कहब बड़ि खोरि।" (दो० ३००), सुजानता से जानने का विषय आगे—'राखिय अवध जो ··' इस दोहे में है। 'बिनती बहुत करउँ का·····'—आप हृदय की बात जानने में अन्तर्यामी हैं। ऊपर की जानने में सुजान हैं। 'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें और कृपा निधानता से सन्नद्ध होकर प्रभुता से मुझे साथ लेकर दुःख दूर करेंगे ही, तो बहुत विनती क्या करूँ ?

(४) 'राखिय अवध जो अवधि लगि ·····'—श्रीजानकीजी ने साथ ले चलने को बहुत कहा और श्रीरामजी ने बार-बार घर में ही रहने को कहा। उसके विरुद्ध यह इनका हठ समझा जाता और हठ करने को श्रीरामजी ने मना किया है—"हठबस सब संकट सहे।···जौ हठ करहु प्रेम बस बामा।" (दो० ६१) इत्यादि, उसका सँभाल यहाँ करती हैं कि यदि आप मेरे प्राण रहते जानें, तो अवध में रक्खें, अन्यथा 'दीनबंधु सुंदर·····' कहकर प्रार्थना करती हैं कि घर पर रखना और न रखना आप की ही रुचि पर है, इससे यह हठ न रह गया, तथा—"इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्त्तमपि नोत्सहे। किं पुनर्दशवर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता॥" (वाल्मी० २।३०।२१), अर्थात् मैं आपके वियोग के शोक को मुहूर्त्त भर भी नहीं सह सकती, तब चौदह वर्ष का वियोग दुःख कैसे सहा जायगा, तथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥" (वाल्मी० २।५३।३१), अर्थात् जल रहित मछली की भाँति श्रीसीताजी श्रीरामजी के बिना नहीं जी सकतीं।

प्रार्थना—आप दीन-बन्धु हैं और मैं दीन हूँ। अतः, दया करें। सुन्दर-सुखद हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का सुख दें। शील-निधान हैं। अतः, मेरा मान रक्खें। स्नेह-निधान हैं। अतः, मेरे स्नेह की ओर देखें और अपना स्नेह न छोड़ें। 'रहत जानियहि प्रान' के स्थान पर राजापुर की प्रति 'रहन न जनिअहिं प्रान' लिखा है। उसमें भी 'रहतन' एक पद मानकर 'रहत' का ही अर्थ होता है। वैसा बुन्देलखण्डी प्रयोग कहा जाता है।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिन छिन चरन सरोज निहारी॥१॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहउँ। मारगजनित सकल श्रम हरिहउँ॥२॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥३॥
श्रम-कन-सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुख समय प्रानपति पेखे॥४॥

शब्दार्थ—हारी = थकावट। श्रमकन = पसीने की बूँदें। पेखे (प्रेक्षण) = देखने से।

अर्थ—क्षण-क्षण में श्रीचरण-कमलों को देख-देखकर मुझे मार्ग में चलने की थकावट न होगी॥१॥

हे प्राणपति ! सभी प्रकार से मैं आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलने की सब थकावट दूर करूँगी ॥२॥ चरण-धोकर पेड़ों की छाया में बैठकर प्रसन्न मन से आपको हवा किया करूँगी ॥३॥ पसीने की बूँदों के साथ आपका श्याम शरीर देखकर और प्राण-नाथ के (मेरी ओर) देखने पर दुःख का समय ही कहाँ होगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि मग चलत न···'—श्रीरामजी ने कहा था—"चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे । मारग अगम भूमिधर भारे ।" (दो० ६१), एवं "चलब पयादेहि बिनु पद त्राना ।" (दो० ६१) । उसपर कहती हैं कि क्षण-क्षण पर आपके परम सुकुमार चरण-कमलों को देखते हुए हर्ष-वश श्रम होगा ही नहीं, क्योंकि स्वेच्छित कार्य में श्रम नहीं होता, यह प्रसिद्ध है ।

(२) 'सबहिं भाँति पिय-सेवा ···'—सब प्रकार की सेवा आगे—'पाय पखारि बैठि···' से कहती हैं; अर्थात् पद-प्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या डासन और पाय-पलोटन आदि सेवा करूँगी । 'पिय-सेवा'—प्रिय की सेवा मुझे अत्यन्त प्रिय है, इससे उसमें आनन्द होगा, श्रम नहीं । सेवा से मैं आपकी भी थकावट दूर करूँगी, मुझे श्रम कहाँ ?

(३) 'पाय पखारि बैठि तरु ···'—पहले चरण धोकर मार्ग का श्रम हरण करूँगी, तब वायु करके शरीर को गर्मी दूर करूँगी । 'बैठि' अर्थात् यह बैठने की सेवा है । शयन की सेवा आगे—'सम महि तृन तरु···' से कहेंगी । 'मुदित मन माहीं'—उत्साह-पूर्वक सेवा करूँगी, यही उत्तम भक्ति है, यथा—"मारुत सुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥" (उ० दो० ४९), भाव यह कि मन में कुछ भी उदास न हूँगी कि जो देखकर आपको खेद हो, यथा—"थाके चरन-कमल चापौंगी, स्रम भये बाउ डोलावौंगी । नयन चकोरनि मुख मयंक छवि सादर पान करावौंगी ॥" (गी० अ० ६) ।

(४) 'श्रम-कन-सहित स्याम तनु···'—स्त्रियों को शृङ्गार प्रिय होता है और शृङ्गार का रंग श्याम है । इससे श्याम-तन देखने में आनन्द कहा है, अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—"सीता चितव स्याम मृदु गाता । परम प्रेम लोचन न अघाता ॥" (अर० दो० २०), "कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥" (सु० दो० १३) । 'स्याम तनु देखे' से अपना देखना और 'प्रानपति पेखे' से श्रीरामजी का देखना है । भाव यह कि आपके कृपावलोकन से मुझे फिर दुःख कहाँ रह जायगा । प्रभु की कृपा दृष्टि से श्रम नहीं रह जाता, यथा—"कहौ सो बिपिन है धौं केतिक दूरि । तुलसिदास प्रभु प्रिया बचन सुनि नीरज नयन नीर आये पूरि । कानन कहाँ अबहिं, सुनु सुंदरि, रघुपति फिरि चितए हित भूरि ॥" (गी० अ० १३), इस कृपादृष्टि के पश्चात् फिर श्रमित होने की बात नहीं है । दिन की सेवा कह-कर आगे रात की सेवा कहती हैं—

सम महि तृन तरु-पल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥५॥
बार बार मृदु मूरति जोही । लागिहि तात बयारि न मोही ॥६॥
को प्रभुसँग मोहि चितवनिहारा । सिंहबधुहि जिमि ससक सियारा ॥७॥
मैं सुकुमारि नाथ बनजोगू । तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥८॥

दोहा—**ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौ न हृदय बिलगान ।**
तौ प्रभु-बिषम-बियोग दुख, सहिहहिं पामर प्रान ॥६७॥

शब्दार्थ—पलोटन (सं० प्रलोटन) = पैर दबाना । ससक = खरगोश । बिलगान = फट गया ।

अर्थ—समान भूमि पर तृण और पेड़ों के पल्लव बिछाकर सारी रात यह दासी आपके चरण

दाबेगी ॥५॥ आपकी कोमल मूर्त्ति को बार-बार देख-देखकर मुझे गर्म हवा भी नहीं लगेगी ॥६॥ प्रभु के साथ (रहते हुए) मेरी ओर कौन देखनेवाला है ? जैसे सिंह की स्त्री को खरगोश और सियार (नहीं ताक सकते) ॥७॥ क्या मैं सुकुमारी हूँ और हे नाथ ! आप वन के योग्य हैं ? आपको तपस्या करनी उचित है और मुझे भोग ? ॥८॥ ऐसे कठोर वचनों को सुनकर भी जो मेरा हृदय नहीं फटा, तब हे प्रभो ! आपके वियोग का कठिन दुःख भी ये नीच प्राण सहेंगे ॥६७॥

विशेष—(१) 'सम महि तृन तरु···'—पहले कहा था—"कुस किसलय साथरी सुहाई ।" यहाँ—'तृन तरु पल्लव' कहती हैं, क्योंकि कुश सर्वत्र नहीं रहता और तृण सर्वत्र मिलता है । जहाँ कुश न मिलेगा, वहाँ तृण से ही वह काम चल जायगा । पाय पलोटने के सम्बन्ध से अपनेको दासी कहा, क्योंकि यह दासी का काम है । 'सब निसि' अर्थात् जितने दिन साथ रहूँगी, सारी रात बराबर यह चर्या रहेगी, यथा—"कोशलेन्द्रपदकञ्ज ··जानकीकरसरोजलालितौ ।" (उ० मं०), तथा—"पद्मपद्भ्यां प्रियायाः पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां···" (भाग० ६।१०।४), अर्थात् चरण-कमल प्रियाजी का कर-स्पर्श भी नहीं सह सकते थे ।

(२) 'बार-बार मृदु मूरति जोही ।···'—श्रीरामजी ने कहा था—"घोर घाम हिम बारि बयारी ।" उसका उत्तर देती हैं कि मुझे 'तात बयारि' न लगेगी । अभी चैत्र का महीना है, प्रथम गरम हवा मिलेगी, इससे यही कहा । अथवा, 'तात बयारि' अत्यन्त अल्प दुःख का वाचक है, यथा—"मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ । तात बाउ तन लाग न काऊ ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती ।" (दो० १९९), अर्थात् मुझे आपके दर्शनों से वन में कुछ भी दुःख न होगा । 'बार-बार' अर्थात् इनके दर्शनों से नेत्रों को तृप्ति नहीं होती, यथा—"छिन छिन प्रभु पद कमल बिलोकी ।" एवं—"छिन-छिन चरन सरोज निहारी ।" यह पूर्व कह आई हैं ।

(३) 'को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा ।···'—'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ आपके संग में मुझे कौन कुदृष्टि से देख सकता है ? जैसे सिंह की स्त्री को खरहा और सियार नहीं देख सकते, क्योंकि उन्हें जाते ही मृत्यु का भय रहता है । वैसे तुच्छ राक्षस मेरे समीप आते ही नष्ट होंगे । यह—"निसिचरनिकर नारि-नर-चोरा ॥" का उत्तर है । सिंहनी स्वयं भी शशक-सियार क्या मत्तगजों को मार सकती है । वैसे श्रीजानकीजी स्वयं भी राक्षसों को मार सकती हैं, यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् । न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥" (वाल्मी० ५।२२।२०), यथा—"तपसा धारयेल्लोकान्क्रुद्धा वा निर्दहेदपि ।···न तदग्निशिखा कुर्यात्संस्पृष्टा पाणिना सती । जनकस्य सुता कुर्याद्यत्क्रोधकलुषी कृता ॥" (वाल्मी० ५।५९।३-५) ।

शंका—तब विराध ने स्पर्श किया (वाल्मीकीय रामायण में कहा है) और रावण ने हरण किया तब श्रीसीताजी ने स्वयं क्यों न उन्हें नाश किया ?

समाधान—श्रीरामजी ने ललित नर-लीला करने का परामर्श किया है और तदनुसार ही, श्रीजानकीजी भी करना चाहती हैं, यथा—"मैं कछु करबि ललित नर लीला ।" (अर० दो० २३), यही बात उपर्युक्त—'असंदेशात्तु रामस्य···' का भी अभिप्राय है । ललिल नर-लीला के ही अनुरोध से आप विवशा, दीना की तरह रहीं, यथा—"अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती ॥" (वाल्मी० ५।३७।६३), यह श्रीसीताजी ने ही कहा है । पुनः—'को प्रभु संग···' पर ऐसा ही वाल्मी० २।२६।६ में भी कहा है—"नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोऽपि राघव । सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा ॥"

यहाँ शशक-सियार दोनों उपमाएँ चोर निशाचरों के ही लिये हैं । जयन्त को इसमें नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वह बुरी दृष्टि से नहीं आया, किन्तु श्रीरामजी का बल देखने के लिये ही श्रीसीताजी पर आघात किया है ।

(४) 'मैं सुकुमारि नाथ···'—भाव यह कि जैसे आप सुकुमार हैं, वैसे मैं भी। यदि आपको तप उचित है तो मुझे भी उचित है ही। इस अर्द्धाली में वक्रोक्ति अलंकार है।

(५) 'ऐसेउ बचन कठोर···'—श्रीरामजी ने जो कहा था—"रहहु भवन अस हृदय बिचारी।" यही वियोग-सूचक वचन अत्यन्त कठोर है, उसीपर कहती हैं कि जो ऐसे कठोर वचन पर भी हृदय न फटा तो सम्भव है कि मेरे प्राण भी वियोग-दुःख भोगेंगे और सहेंगे। अतः, ये प्राण नीच हैं। (यह भावी भी कही गई कि जो एक वर्ष का वियोग लंका में छाया-तन से सहेंगी), तथा—"हौं रहौं भवन भोग लोलुप ह्वै पति कानन कियो मुनि को साजु। तुलसिदास ऐसे बिरह बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु॥" (गी० अ० ७), हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमनीर।" (दो० १४६)। यहाँ दोहे में 'कारणमाला अलंकार' है।

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचनबियोग न सकी सँभारी॥१॥
देखि दसा रघुपति-जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना॥२॥
कहेउ कृपाल भानु-कुल-नाथा। परिहरि सोच चलहु बन साथा॥३॥
नहिं बिषाद कर अवसर आजू। बेगि करहु बन-गवन-समाजू॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी ऐसा कहकर भारी बेचैन हो गईं, वचन का भी वियोग वे नहीं सह सकीं॥१॥ उनकी दशा देखकर श्रीरघुनाथजी ने अपने हृदय में जान लिया कि इनको हठ करके घर पर रखने से ये प्राण नहीं रक्खेंगी॥२॥ तब सूर्य-कुल के स्वामी कृपालु श्रीरामजी ने कहा कि शोक छोड़कर मेरे साथ वन को चलो॥३॥ शोक का अवसर आज नहीं है, शीघ्र ही वन चलने की तैयारी करो॥४॥

विशेष—(१) 'सीय बिकल भइ भारी'—श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीसीताजी पूर्व ही विकल हो गई थीं, यथा—"उतर न आव बिकल बैदेही।" अब 'भारी बिकल' हो गईं, क्योंकि इन्हें ग्लानि हो रही है कि वियोग के वचन सुनते ही मृत्यु क्यों न हो गई? यथा—"तुलसिदास प्रभु बिरह बचन सुनि सहि न सकी मुरछित भइ भामिनि।" (गी० अ० ५)।

(२) 'देखि दसा रघुपति जिय···'—पूर्व श्रीजानकीजी ने कहा था—"राखिय अवध जो अवधि लगि···" उसका यहाँ चरितार्थ हुआ कि दशा देखकर श्रीरामजी ने हृदय से जान लिया कि हठात् रखने से ये प्राण ही न रक्खेंगी, यथा—"जो हठि नाथ राखिहौ मो कहँ तौ सँग प्रान पठावौंगी। तुलसिदास प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावौंगी॥" (गी० अ० ६)। दशा का वर्णन वाल्मी० २।३०।२३-२६ में है।

(३) 'कहेउ कृपाल भानु-कुल-नाथा।···'—कृपा करके साथ ले जाना स्वीकार किया। अतएव 'कृपालु' कहा। 'भानु-कुल-नाथा'—साथ न लेने से श्रीसीताजी प्राण छोड़ देतीं तो श्रीरामजी दूसरा ब्याह न करते, क्योंकि आप एकपत्नीव्रत हैं, यथा—"एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।" (भाग० ९।१०।५५), फिर आगे सन्तान न होने से कुल की वृद्धि न होती। साथ लेकर आपने कुल की रक्षा की, इसीसे 'भानु-कुल-नाथा' कहा।

(४) 'नहिं बिषाद कर अवसर···'—ऊपर—'परिहरि सोच चलहु···' कहा था, उसका कारण कहते हैं कि आज विषाद (शोक) करने का अवसर नहीं है। लोग कहेंगे कि वन जाने के दुःख से रो रही हैं। तब पिता की आज्ञा के पालन में न्यूनता समझी जायगी। पुनः हमारे अभीष्ट-साधन की यात्रा का समय है। अतः, मंगल करना चाहिये, रोना न चाहिये, क्योंकि रोना अमंगल है। 'बेगि'—शीघ्र करो, अन्यथा कोई विघ्न न आ पड़े, वा देर करने से पिता के वचन-पालन की श्रद्धा में न्यूनता पाई जायगी।

कहि प्रियबचन प्रिया समुझाई। लगे मातुपद आसिष पाई ॥५॥
बेगि प्रजादुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥६॥
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी ॥७॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जियत बदनबिधु जोइहि ॥८॥

दोहा—बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हिय, हरषि निरखिहउँ गात ॥६८॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने) प्रिय वचन कहकर अपनी प्रिया श्रीसीताजी को समझाया और माता के चरणों में लगकर आशिष पाई ॥५॥ (माता ने कहा कि) शीघ्र आकर प्रजा का दुःख मिटाना, यह निष्ठुर (हृदय) माता तुम्हें भूल न जाय॥ हे विधाता! क्या मेरी दशा फिर लौटेगी? और आँखों से इस सुन्दर मनोहर जोड़ी को फिर देखूँगी? ॥७॥ हे तात! वह शुभ दिन और शुभ घड़ी कब होगी कि जब माता जीतेजी तुम्हारा चन्द्र-वदन देखेगी ॥८॥ फिर कभी 'बच्छ' कहकर, 'लाल' कहकर एवं 'रघुपति', 'रघुबर' तथा 'तात' कह बुलाकर और हृदय से लगाकर हर्ष-पूर्वक तुम्हारा शरीर (अर्थात् तुम्हारे अंग-अंग) देखूँगी ॥६८॥

विशेष—(१) 'कहि प्रियबचन प्रिया···'—पहले घर में रहने की शिक्षा दी थी, वे वचन श्रीसीताजी के लिये कठोर थे, यथा—"ऐसेउ बचन कठोर सुनि···"। अब जो—"परिहरि सोच चलहु बन साथा।" कहा है। यह उन्हें प्रिय है। इससे उन्हें आश्वासन दिया, समझाया। प्रिय वचनों से ही माताजी को भी समझाया था—"कहि प्रिय बचन बिबेकमय···" (दो० ६०)। 'प्रिय बचन'—वाल्मीकिजी ने अ० स० ३० श्लोक २६ से ४२ तक में विस्तार से कहा है कि श्रीरामजी ने विश्वास दिलाते हुए श्रीसीताजी से कहा कि हे देवि! मैं उस स्वर्ग को भी नहीं चाहता, जहाँ तुम्हारे वियोग का दुःख हो। मुझे भय किसीका नहीं है, जिस प्रकार ब्रह्माजी को। शुभानने! तुम्हारा अभिप्राय ठीक-ठीक बिना जाने, मुझे रक्षा में सामर्थ्य रहते हुए भी तुम्हारा वनवास न रुचता था। तुम मेरे साथ वनवास के लिये ही उत्पन्न हुई हो। मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता।···प्रिये! तुम्हारा यह अभिप्राय तुम्हारे पिता के और मेरे कुल के योग्य है, इत्यादि।

(२) 'बेगि प्रजादुख मेटब···'—श्रीकौसल्याजी ने प्रथम कहा था—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना।···" (दो० ५६), फिर श्रीसीताजी आ गईं, उनका संवाद हो गया। तब माता वहींसे फिर प्रसंग लेती हैं—'बेगि प्रजादुख···'। वहाँ 'परिजन' और यहाँ 'प्रजा' कहकर दोनों को एक समान जनाया। 'जननी निठुर बिसरि···'—ऐसे पुत्र-पतोहू वन को जाते हैं, तो भी मैं देखती हुई जीती ही हूँ, अतएव, निष्ठुर हूँ, निष्ठुर की लोग सुधि नहीं लेते। इसलिये प्रार्थना करती हैं कि जननी का स्मरण रखना, यथा—"मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ। (दो० ५६)।

(३) 'फिरिहि दसा बिधि बहुरि···'—अभी तक श्रीसीतारामजी की जोड़ी आँखों के सामने थी, यह दशा अच्छी थी। अब वे आँख-ओट हो रहे हैं, यह बुरी-दशा आ रही है। जब ये बुरे दिन जायँगे और भले दिन आयेंगे तब इनकी अपनी पूर्व की भली दशा का लौटना होगा। 'बुरी दशा'—"जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥" (दो० ११), यह श्रीराम-वनवास के लिये ही आई है—"राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुरकाज।" (दो० ११)।

(४) 'सुदिन सुघरी तात कब···'—अभी १४ वर्ष हैं, न जाने तब तक जीती रहूँ या नहीं, कैसे जिऊँगी?

(५) 'बहुरि बच्छ कहि लाल कहि···'—माताजी अत्यन्त स्नेह के कारण आतुर हैं और प्यार के सम्बोधन 'बच्छ', 'लाल' आदि कह रही हैं, तथा—"कदा परिणतो बुद्धया वयसा चामरप्रभः । अभ्युपैष्यति धर्मज्ञस्त्रिवर्ष इव लालयन् ॥" (वाल्मी० २।४३।१६), अर्थात् धर्मज्ञ श्रीरामजी ज्ञानवृद्ध और तरुण (२५ वर्ष के, देवता सदा पचीस वर्ष के रहते हैं) होने पर भी, तीन वर्ष के बालक की नाईं खेलते हुए मेरे पास कब आयेंगे । इस वचन से सिद्ध है कि माता को श्रीरामजी बच्चे के रूप में सुख देते थे, तदनुसार इस समय (युवा अवस्था में) भी वे 'बच्छ' आदि कहती थीं । 'बच्छ' आदि कहना वचन का स्नेह है, 'लगाइ हिय'—तन का और 'हरषि' यह मन का स्नेह है । माताजी तीनों से स्नेहमय हो रही हैं ।

लखि सनेह कातरि महतारी । बचन न आव बिकल भइ भारी ॥१॥
राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना । समय सनेह न जाइ बखाना ॥२॥
तब जानकी सासुपग लागी । सुनिय माय मैं परम अभागी ॥३॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा । मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा ॥४॥
तजब छोभ जनि छाड़िय छोहू । करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥५॥

अर्थ—माता स्नेह से अधीर हो गईं, उनके मुख से वचन नहीं निकलता और भारी व्याकुल हो गईं—यह देखकर ॥१॥ श्रीरामजी ने अनेकों प्रकार से उन्हें समझाया । उस समय के उस स्नेह का वर्णन नहीं हो सकता ॥२॥ तब श्रीजानकीजी सास के चरणों में लगीं (प्रणाम किया) और बोलीं, हे माताजी ! सुनिये, मैं बड़ी अभागिनी हूँ ॥३॥ आपकी सेवा करने के समय दैव ने वनवास दिया, मेरा मनोरथ सफल नहीं किया ॥४॥ छोभ (मन का उद्वेग) छोड़ियेगा, पर स्नेह एवं दया न छोड़ियेगा, कर्म कठिन है, इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'लखि सनेह कातरि···'—ऊपर कहा गया कि माता कहती हैं कि मुझे यह जोड़ी कब देखने को मिलेगी । जीती रहूँ कि नहीं, कब बच्छ आदि कहेगी, इत्यादि अधीरता वृत्ति 'कातरि' होना है, यथा—"अधीरे कातरः" (अमरकोष) ।

(२) 'राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना'—भारी व्याकुलता थी । अतः, पहले "कहि प्रिय बचन बिवेकमय, कीन्ह मातु परितोष ।" (दो० ६०) से प्रबोध किया था, फिर भी अनेकों प्रकार से समझाना पड़ा । कहा कि वनवास का नाश बहुत शीघ्र ही हो जायगा । १४ वर्ष आपको सोते हुए की तरह बीत जायँगे । शीघ्र ही आप सुनेंगी कि मैं मित्रों के साथ आ गया, यथा—"त्रयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नववर्षाणि पञ्च च । समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥" (वाल्मी० २।३९।३४-३५) । 'न जाइ बखाना'—उस समय की सुधि आने से चित्त करुणामय हो जाता है, इससे कहा नहीं जाता ।

(३) 'तब जानकी सासुपग···'—'तब' अर्थात् जब श्रीरामजी के प्रबोध करने से सावधान हुईं, तब कहती हैं कि इन चरणों से पृथक् होने से मैं परम अभागिनी हूँ ।

(४) 'सेवा समय दैव बन···'—प्रथम आई तो बालिका थी अब सेवा करने योग्य हुई तो दैव ने वनवास दे दिया । 'दैव'—अपने कर्मानुसार प्रवृत्त ईश्वर की शक्ति को दैव कहते हैं, यथा—"यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते । व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥" (वाल्मी० २।२२।२०), अर्थात् जो चिन्तन से बाहर है, यही दैव है, उसका प्रभाव सब प्राणियों पर पड़ता है, उसे कोई नहीं जान सकता । यह मेरे और कैकेयी के विषय में प्रत्यक्ष है, कैसा उलट-पलट हो गया । ये किसीको

दोष नहीं देतीं। श्रीसीताजी अपने कर्म ही से वनवास कहती हैं, यही कौसल्याजी ने भी कहा है, यथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिवस दुख सुख छति लाहू॥" (दो० २८१), श्रीजानकीजी भी दैव का अर्थ आगे यहीं पर स्वयं कहती हैं—"करम कठिन कछु दोष न मोहू।" अर्थात् कर्म ही दैव है, श्री चित्रकूट में कुछ सेवा की है, यथा—"सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥"··· सीय सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥" (दो० २५१)। 'छोभ'—यह कि सीताजी अत्यन्त सुकुमारी हैं, वन में कैसे रहेंगी? इत्यादि। 'जनि छाड़िय छोहू'—"आपके छोह से हमें कुशल-मंगल रहेगा, यथा—"तुम्हरे अनुग्रह तात···" (दो० १५१)।

सुनि सियबचन सासु अकुलानी। दसा कवनि बिधि कहउँ बखानी॥६॥
बारहिं बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही॥७॥
अचल होउ अहिबात तुम्हारा। जब लगि गंग-जमुन-जल-धारा॥८॥

दोहा—सीतहि सासु असीस सिख, दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पदपदुम सिर, अति हित बारहि बार॥६९॥

अर्थ—श्रीसीताजी के वचन सुनकर सास अकुला गईं। मैं किस प्रकार उनकी वह दशा बखानकर कहूँ॥६॥ (श्रीकौसल्याजी ने श्रीसीताजी को) बार-बार हृदय से लगाया और धैर्य धरकर शिक्षा तथा आशीर्वाद दिया॥७॥ जबतक गंगा और यमुना में जल की धारा रहे तबतक तुम्हारा सोहाग अचल रहे॥८॥ सासु श्रीकौसल्याजी ने श्रीसीताजी को अनेक भाँति से आशीर्वाद और शिक्षा दी। तब श्रीसीताजी अत्यन्त प्रेम से बार-बार उनके चरण-कमलों में सिर झुका कर चलीं॥६९॥

विशेष—(१) 'सुनि सियबचन सासु···'—सास की व्याकुलता के कारण श्रीजानकीजी के साधु वचन हैं कि ऐसी साधु-स्वभाव बहू का वियोग हो रहा है। 'दसा कवनि बिधि कहउँ···' अर्थात् संवाद तो कहा पर दशा कहते नहीं बनती, क्योंकि वे व्याकुलता से कुछ कह नहीं सकतीं। बिना अक्षर एवं अर्थ का बल पाये कवि कैसे कहे? यथा—"कविहि अरथ आखर बल साँचा।" (दो० २४०), अतएव—

(२) 'बारहिं बार लाइ उर···'—बार-बार हृदय में लगाया, फिर धैर्य धारण करके पातिव्रत्य धर्म की शिक्षा और आशिष दी, आगे 'सीतहि सासु असीस···' पर प्रमाण देखिये। अन्यथा श्रीसीताजी के चली जाने पर पछतावा रहता। इसलिये बड़े कष्ट से धैर्य रक्खा।

(३) 'अचल होउ अहिबात···'—श्रीजानकीजी ने सब नातों का खण्डन करके पति का ही नाता मुख्य माना है, यथा—"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु···" (दो० ६४), उसीके अनुकूल सास ने आशिष दी है कि अहिबात अचल हो। पुनः श्रीसीताजी ने कहा था—"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी···" तदनुसार ही यहाँ—"गंग-यमुन-जल-धारा।' कहा है। गंगा-यमुना की धाराएँ कल्प-भर इस लोक में सदा रहती हैं। अतएव सदा अचल हैं। पुनः वे दोनों धाराएँ एकत्र-गामिनी हैं और इस जोड़ी से वर्ण में भी समान हैं। अतः, उपमा दी है।

(४) 'सीतहि सासु असीस···'—पहले—'धरि धीरज सिख आसिष दीन्हीं।' कहा गया। यहाँ फिर कहा है, क्योंकि सास का अत्यन्त स्नेह है। इसीसे कुछ पहले शिक्षा दी थी, आशीर्वाद देकर फिर आशिष और शिक्षा देती हैं। यहाँ पातिव्रत्य धर्म की शिक्षा दी गई है। यह वाल्मी० २।३९।२०–३२ में है और ग्रन्थकार को अर० दो० ४–५ में कहना है। अतः, यहाँ उसे नाममात्र कहा है। अनेक प्रकार से शिक्षा और आशीर्वाद मिले। अतएव अत्यन्त प्रेम से बार-बार प्रणाम करती हैं।

भुशुण्डीजी की मूल रामायण के अनुसार—'पुर बासिन्ह कर बिरह बिषादा।' प्रसंग यहाँ तक है। श्रीकौसल्याजी का एवं श्रीजानकीजी का श्रीरामजी से संवाद भी इसीमें अन्तर्भूत है। ठीक-ठीक से तो वह प्रसंग—"अति बिषाद बस लोग लोगाई।" (दो० ५०) पर ही समाप्त हो चुका था।

श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद-प्रकरण

समाचार जब लछिमन पाये। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाये ॥१॥
कंप पुलक तनु नयन सरीरा। गहे चरन अतिप्रेम अधीरा ॥२॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल ते काढ़े ॥३॥
सोच हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा ॥४॥

अर्थ—जब श्रीलक्ष्मणजी ने ये समाचार पाये तब वे व्याकुल होकर उदास मुख उठ दौड़े ॥१॥ उनका शरीर काँप रहा है, आँखों में आँसू भरे हुए हैं और पुलक से रोएँ खड़े हैं, अत्यन्त प्रेम से अधीर होकर उन्होंने श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये ॥२॥ वे कुछ कह नहीं सकते, खड़े होकर (उनको) देख रहे हैं, मानो जल से निकाले जाने पर मछली अत्यन्त दीन-दशा में हो ॥३॥ हृदय में सोचते हैं कि हे ब्रह्मा! क्या होनेवाला है? हमारे तो सारे सुख और पुण्य समाप्त हो गये ॥४॥

विशेष—(१) 'समाचार जब लछिमन पाये·····'—समाचार देनेवाले ने उचित अवसर पर कहा कि जब कौसल्याजी और श्रीजानकीजी का संवाद हो चुका। श्रीरामजी द्वार पर आ गये। तब लक्ष्मणजी भी आ पहुँचे। 'लछिमन' पद देकर ग्रन्थकार ने इनके विषय में पूर्वोक्त—"लच्छन धाम राम-प्रिय ··लछिमन नाम उदार।" और—"बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम···" (बा० दो० १९७)। इन सब गुणों का स्मरण कराया है कि उन्हीं गुणों से ये स्वामी का वियोग होता हुआ देखकर व्याकुल हो गये।

कान से हाल सुना, मुख से उदास चेष्टा कर, पाँव से दौड़े और शरीर से पुलके हैं, नेत्रों में आँसू भरे हैं, हाथों से चरण पकड़े हैं, हृदय में अत्यन्त प्रेम है और शरीर काँप रहा है। अत्यन्त प्रेम के कारण इनके आठों अंगों में यही दशा है। अतः, सर्वांग से व्याकुल हो गये हैं।

(२) 'कहि न सकत कछु···'—ऊपर अत्यन्त प्रेम से अधीरता कही गई, उसीसे बोल नहीं सकते, यथा—"अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही।" (बा० दो० २१०)। 'चितवत'—स्वामी का रुख देख रहे हैं कि रुख पावें तो कुछ कहें। 'ठाढ़े'—पहले आकर चरण पकड़े। अब हाथ जोड़कर खड़े हो गये—'राम बिलोकि बंधु कर जोरे।' आगे कहा ही है। 'मीन दीन···' अर्थात् श्रीरामजी से पृथक् रहने पर जी नहीं सकते, यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥" (वाल्मी० २।५३।३१)।

(३) 'सोच हृदय बिधि·····'—इनके सुख-रूप श्रीरामजी ही हैं, क्योंकि उन्हीं से इनको माता, पिता, गुरु, स्वामी सभी नातों का सुख था, आगे कहेंगे ही। श्रीरामजी की प्राप्ति सब सुकृत का फल है, यथा—"को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी॥" (बा० दो० ३३४), "लोचन गोचर सुकृत फल, मनहुँ किये बिधि आनि॥" (दो० १०६), "कीजहु इहै बिचार निरंतर राम समीप सुकृत नहिं थोरे॥" (गी० अ० ११)। सुकृत समाप्त होने से ही सुख का अन्त होता है, यहाँ सुख-रूप श्रीरामजी की वियोग-कल्पना से सुकृत का समाप्त होना कह रहे हैं। सुकृत का फल ब्रह्माजी देते हैं। अतः, 'बिधि का···' कहा है।

मो कहँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेइहहिं साथा ॥५॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृनतोरे ॥६॥
बोले बचन राम नयनागर। सील-सनेह-सरल-सुख-सागर ॥७॥
तात प्रेमबस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू ॥८॥

दोहा—मातु-पिता गुरु-स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनम जग जाय ॥७०॥

शब्दार्थ—तृनतोरे=नाता तोड़े हुए, सम्बन्ध तोड़े हुए, अर्थात् तृण तोड़ने में ममता नही होती है, वैसे ममता रहित होकर।

अर्थ—मुझे श्रीरामजी क्या कहेंगे? घर पर रक्खेंगे कि साथ लेंगे? ॥५॥ श्रीरामजी ने भाई को हाथ जोड़े और देह-गेह (अर्थात् सुत-वित्त-देह-गेह स्नेह इति जगत्, ऐसे जगत् मात्र) सभीसे सम्बन्ध तोड़े हुए देखकर ॥६॥ नीति में चतुर तथा शील, स्नेह, सरलता और सुख के समुद्र श्रीरामजी ये वचन बोले ॥७॥ हे तात! अन्त में आनन्दोत्साह होगा, ऐसा हृदय में समझकर प्रेम के वश में पड़कर कादर (कातर-भीरु) मत हो ॥८॥ जो माता, पिता, गुरु और स्वामी की शिक्षा शिरोधार्य करके स्वाभाविक ही उसे करते हैं, उन्हींने जन्म लेने का लाभ पाया, नहीं तो जगत् में जन्म ही व्यर्थ है ॥७०॥

विशेष—(१) 'रखिहहिं भवन कि ·····'—यहाँ भवन रखना प्रथम कहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी 'रघुनाथ' हैं, वे रघुकुल की रक्षा के लिये मुझे घर रक्खेंगे, यथा—"गुरु-पितु-मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सबकर परितोषू।" यह आगे कहा है। 'मो कहँ' अर्थात् श्रीजानकीजी तो अर्धांगिनी हैं। ब्याह में अग्नि की साक्षी सहित उन्हें साथ रखने की प्रतिज्ञा की थी। अतः, साथ लिया। मैं तो दास हूँ। अतः, उनके अधीन हूँ।

(२) 'राम बिलोकि बंधु·····'—'राम' शब्द से जनाया कि ये सबके हृदय में रमण करते हैं। अतः, श्रीलक्ष्मणजी के हृदय की व्यवस्था भी जानते हैं। 'देह-गेह' के साथ 'स्नेह' शब्द भी देकर उससे तृण-तोरना कहना था, किन्तु स्नेह शब्द का नाम भी न लिखा, क्योंकि लक्ष्मणजी के हृदय में और किसी का ममत्व है ही नहीं। देह-गेह से जगत् का अर्थ है, देखिये बा० मं० श्लोक ६, तथा बा० दो० ११७, वहाँ विस्तार से कहा गया है। 'कर जोरे' से दीनता दिखाई है, यथा—"ठाढ़े हैं लखनकमल कर जोरे। उर धकधकी न कह कछु सकुचन्हि प्रभु परिहरत सबहिं तृनतोरे॥ कृपासिंधु अवलोकि बंधु तनु प्रान कृपान बीर-सी छोरे।" (गी० अ० ११), तथा हाथ जोड़ना नमस्कार की मुद्रा है। नमः शब्द का अर्थ शरणागति होना है। अतः, शरण होने की अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं।

(३) बोले बचन राम नयनागर·····'—यहाँ नीति का उपदेश प्रधान है। अतः, नय-नागर कहा है। माता-पिता ने वनवास दिया है। उस अपकार पर दृष्टि न देकर उन्हींकी रक्षा का यत्न करेंगे। अतः, शील और सरलता है। उन्हें सुख देने में परायण हैं। अतः, सुखसागर हैं। श्रीलक्ष्मणजी को भी वन का कष्ट न झेलना पड़े, यह स्नेह है। अतः, स्नेहसागर हैं। सरलता यह भी है कि निष्कपट भाव से उपदेश देंगे। स्वार्थ भाव नहीं है। 'जनिकदराहू' आगे लक्ष्मणजी ने स्वीकार किया है—'लागि अगम अपनी कदराई॥' 'समुझि हृदय परिनाम ··'—परिणाम अनुभवी राजादशरथ ने कह दिया है—"सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई॥ करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँपुर राम बड़ाई॥"। (दो० ३५)। भाव यह कि मेरे विषय की चिन्ता न करो, परिणाम अच्छा ही होगा।

पुनः तुम्हें जो कहता हूँ, इससे परिणाम में तुम्हारा भी मंगल होगा, वह आगे कहते हैं—

(४) 'मातु-पिता गुरु-स्वामि···'—यहाँ स्वामी से गुरु, गुरु से पिता और पिता से भी माता को श्रेष्ठ मानकर प्रथम कहा है और फिर वैसा ही क्रम रक्खा है। (गुरु से यहाँ मोक्ष साधक गुरु का तात्पर्य नहीं है, किन्तु धर्म गुरु एवं विद्या गुरु का अर्थ है।) 'सुभाय' अर्थात् किसीके कहने पर नहीं, स्वतः स्वभाव से ही करते हैं। पहले—"सहज सुहृद गुरु स्वामि·····" (दो० ९३) भी देखिये, वहाँ पर कहा गया है कि इन सबकी शिक्षा पर न चलने से हित की हानि होती है और यहाँ कहते हैं कि इनकी शिक्षा पर चलने से जन्म सफल होता है। तात्पर्य यह कि हम तुम्हारे स्वामी हैं। अतः, हमारी शिक्षा मानो।

अस जिय जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु-पितु-पद-सेवकाई ॥१॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुख मन माहीं ॥२॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा ॥३॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह-दुख-भारू ॥४॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥५॥

अर्थ—हे भाई! ऐसा जी में जानकर मेरी शिक्षा सुनो और माता-पिता के चरणों की सेवा करो ॥१॥ श्रीभरत-शत्रुघ्नजी घर पर नहीं हैं, राजा बूढ़े हैं और उनके मन में मेरा दुःख हो रहा है ॥२॥ यदि मैं तुमको (भी) साथ लेकर वन जाऊँ, तो अयोध्या सभी तरह से अनाथ हो जायगी ॥३॥ गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार सबपर भारी दुःख का भार पड़ेगा ॥४॥ यहाँ रहो और सबको सब तरह सन्तुष्ट करो, अन्यथा हे तात! बड़ा दोष होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'अस जिय जानि सुनहु···'—'भाई' अर्थात् मैं माता-पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ, तुम उनकी सेवा करो, क्योंकि भाई हो। अतः, हमारी तरह तुम्हें भी करना ही चाहिये। ऐसा ही श्रीभरतजी से भी आपने कहा है—"पितु आयसु पालिय दुहुँ भाई।"। (दो० ३१४), 'सुनहु सिख'—तुम हमारे छोटे भाई हो। अतः, सेवक के समान हो, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४)। अतः, तुम हमारी शिक्षा मानो। माता आदि चारो नातों में एक की भी सेवा से जन्म सफल होता है, फिर तुम्हें तो यहाँ चारो प्राप्त होंगे (हमारी आज्ञा का पालन करने से स्वामि-सेवा भी होगी)। यदि लक्ष्मणजी कहें कि भरतजी राजा होंगे, वे तो सेवा करेंगे ही, उसपर कहते हैं—

(२) 'भवन भरत रिपुसूदन···'—राजा बूढ़े हैं, फिर उन्हें हमारे वियोग का दुःख भी है, जिसे वे नहीं सह सकेंगे। हम चार भाइयों में से यहाँ कोई एक तो उनके सँभालने के लिये रहना चाहिये, क्या जाने इस भारी विरह में उनकी क्या दशा हो। अतः, तुम्हें यहाँ रहना आवश्यक है। नगर भी सूना हो जायगा। कोई शत्रु न चढ़ाई कर दे। अतः, रक्षा के लिये तुम्हें रहना ही चाहिये। यही आगे कहते हैं—'होइ सबहि बिधि अवध अनाथा।'—'सबहि बिधि'—श्रीभरत-शत्रुघ्नजी नहीं हैं, राजा वृद्ध हैं, मैं वन जाता हूँ, तुम भी साथ चलना चाहते हो, तब इसका रक्षक कोई न रहेगा। अवध श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय है। अतः, इसकी रक्षा के लिये चिन्तित हैं, यथा—"जद्यपि सब बैकुंठ···अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ ॥" (उ० दो० ३)। अयोध्या श्रीरामजी को तन, मन और वचन से प्रिय है—"चले हृदय अवधहि सिर नाई।" (दो० ८२)—तन, "जब-जब राम अवध सुधि करहीं।" (दो० १४०)—मन और—"धन्य अवध जो राम बखानी ॥" (उ० दो० ३)—वचन।

(३) 'दुसह-दुख-भारू'—मेरा वियोग सभीको असह्य है, क्योंकि मैं सबको प्राणों से अधिक प्रिय हूँ, यथा—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहँ रामकृपाल।" (बा० दो० २०४), ऐसे दुसह दुःख में समझाने के लिये तुम्हें यहाँ रहना चाहिये। 'बड़ दोषू'—एकपर भी दुःख पड़ने पर दोष होता है और यहाँ तो सभीपर पुनः दुस्सह दुःख पड़ेगा, इससे बड़ा दोष होना कहा है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ॥६॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखन भये ब्याकुल भारी ॥७॥
सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे ॥८॥

दोहा—उतर न आवत प्रेमबस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त कहा बसाइ ॥७१॥

अर्थ—क्योंकि, जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुःखी रहती है। वह राजा अवश्य नरक का भागी होता है ॥६॥ ऐसी नीति विचार कर, हे तात ! (घर पर) रहो। यह सुनते ही श्रीलक्ष्मणजी भारी व्याकुल हो गये ॥७॥ वे इन शीतल वचनों से कैसे सूख गये, जैसे पाले के स्पर्श होने से कमल ॥८॥ प्रेम के वश हो जाने से उत्तर नहीं निकलता। उन्होंने अकुला कर श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये (और बोले कि) हे नाथ ! मैं तो दास हूँ और आप स्वामी हैं। यदि आप त्याग दें, तो मेरा क्या वश है ? ॥७१॥

विशेष—(१) 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। ...'—भाव यह कि राजा का धर्म है कि वह प्रजा को प्रिय माने और उसे दुःखी न होने दे। यदि प्रिय प्रजा दुखी हुई, तो वह राजा अवश्य नरक का भागी होता है। श्रीरामजी को तो प्रजा अत्यन्त प्रिय है, यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)। 'प्रिय प्रजा' का यह भी भाव है कि चोर, खल आदि अपने अन्याय से दुखी हों तब राजा को नरक नहीं होता, किन्तु सदाचारी धर्मात्मा प्रजा, प्रिय प्रजा हैं। उनके दुखी होने से उक्त हानि होती है। 'अवसि' का भाव यह कि राजा के लिये अन्य अधर्म सब इससे नीचे हैं। प्यारी प्रजा का दुखी होना उसके लिये भारी पाप है, यथा—"आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति। प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन भूमिपः ॥" (महा० शान्ति० २४।२२), अर्थात् जो राजा राज्य का छठा भाग ग्रहण करके भी यथा रीति से राज्य की रक्षा नहीं करता, वह प्रजा के पाप का चौथा भाग ग्रहण करता है, तथा—रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥ ब्राह्मणानां क्षतत्राणात्ततः क्षत्रिय उच्यते। प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥" (महा० शान्ति० ५९।१२५-१२६), अर्थात् प्रजा के मन का रञ्जन करने से राजा शब्द प्रचलित हुआ। ब्राह्मणों का क्षत (घाव) से परित्राण करने से क्षत्रिय कहा जाता है। पृथु ने धर्म पूर्वक मेदिनी को प्रथित किया था, उसीसे यह धरा पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हुई। "अगोप्तारश्च राजानो बलिषड्भागतस्कराः। समर्थाश्चाप्यदातारास्ते वै निरयगामिनः ॥" (महा० अनु० २३।८०), अर्थात् जो राजा प्रजा की रक्षा न करके छठा भाग कर लेता है और समर्थ होकर भी दान नहीं करता वह भी नरकगामी होता है।

नीति दृष्टि से उपदेश का यह अन्तिम वाक्य है। भाव यह कि हमारे-तुम्हारे पिता महाराजा हैं। इस समय यदि प्रिय प्रजा के दुखारी होने से वे नरक जायँ तो हमारे-तुम्हारे स्वरूप के प्रतिकूल होगा। पिता को नरक से बचाना पुत्र का धर्म है। "स्वयं ब्रह्मा ने कहा है कि सुत पिता को पुन्नाम नरक से त्राण करता है, इसीसे पुत्र नाम पड़ा है।" (विश्वकोष)। अतः, तुम प्रजा की रक्षा कर पिता को नरक से बचाओ। मैं भी पिता को ही कैकेयी से उऋण करने में लगा हूँ।

(२) 'रहहु तात असि नीति ···'—'नीति'—यह कि हमलोगों के रहते हुए, उपर्युक्त रीति से राजा नरक के अधिकारी न हों। 'बोले बचन राम नयनागर'—यह उपक्रम है और यहाँ उसका उपसंहार है। 'व्याकुल भारी'—श्रीरामजी का वन जाना सुनकर ही श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो गये थे, यथा—"व्याकुल बिलख बदन उठि धाये।" अब श्रीरामजी ने घर रहने की आज्ञा देकर इनको वियोग का निश्चय कर दिया, इससे 'भारी' व्याकुल हो गये।

(३) 'सियरे बचन सूखि गये कैसे···'—श्रीरामजी ने धर्म का उपदेश किया, धर्म शीतल है। अतः, वचनों को शीतल कहा। श्रीलक्ष्मणजी की देह कमल के समान कोमल है, वह ऐसी सूख गई, जैसे पाला पड़ने से कमल सूख जाता है। इनको व्याकुलता मीन के दृष्टान्त से कही थी। यहाँ शरीर सूखने के लिये 'तुहिन तामरस' कहा है। श्रीलक्ष्मणजी विशेष धर्म में निरत हैं। श्रीरामजी ने उनके लिये सामान्य धर्म कहा। इसीसे वे व्याकुल हुए। कारण वे आगे स्वयं कहेंगे।

(४) 'उतर न आवत प्रेमबस ···'—प्रेमवश अधीरता से उत्तर नहीं निकलता, न बोलने से उपदेश की स्वीकृति सिद्ध होती। अतः, अकुलाकर चरण पकड़ लिये, पहले भी कहा है—'गहे चरन अति प्रेम अधीरा।' इससे सूचित करते हैं कि मैं इन चरणों को नहीं छोड़ना चाहता, यथा—"स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥" (वाल्मी० २।३१।२)।

'उतर न आवत'—बचन, 'प्रेमबस'—मन और 'गहे चरन'—कर्म से अधीरता कही गई, तथा—"मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥" यह आगे कहा है। इन भावों से अपने को अपरित्याज्य सूचित किया। इसीकी पुष्टि आगे वचनों से करेंगे।

(५) 'तजहु त कहा बसाइ ···'—भाव यह कि सेवक को स्वामी की आज्ञा पर उत्तर देने का भी अधिकार नहीं है, यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८), तो और कौन-सा बल है। जिसका भरोसा करूँ।

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाँई। लागि अगम अपनी कदराई॥१॥
नरबर धीर धरम-धुर-धारी। निगम-नीति कहँ ते अधिकारी॥२॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला। मंदर-मेरु कि लेहिं मराला॥३॥

अर्थ—हे गोसाईं! आपने मुझे बहुत अच्छी शिक्षा दी, पर अपनी कायरता से मुझे वह कठिन लगी॥१॥ जो मनुष्य में श्रेष्ठ हैं, धीर हैं और धर्म की धुरी को धारण करनेवाले हैं, वेद-धर्म और नीति के वे ही अधिकारी होते हैं॥२॥ मैं तो बच्चा हूँ, और हे प्रभो! आपके स्नेह में पला हूँ, क्या हंस मन्दराचल और सुमेरु पहाड़ उठा सकता है?॥३॥

विशेष—(१) 'दीन्हि मोहि सिख नीकि ···'—शिक्षा को 'नीकि' कहते हैं, क्योंकि श्रीरामजी ने इसकी प्रशंसा की है, यथा—"मातु पिता गुरु···लहेउ लाभ तिन्ह···" (दो० ७०)।

(२) 'नरबर धीर धरम-धुर···'—वेद में धर्म वर्णित है और नीति शास्त्र में राजनीति कही गई है। इनके करनेवाले नर-श्रेष्ठ धीर लोग हैं। वे धर्म के लिये बड़े-बड़े कष्ट सहने में समर्थ होते हैं। तात्पर्य यह कि इसमें आप ही समर्थ हैं।

(३) 'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला···'—अपने को शिशु कहकर फिर मराल से भी उपमित किया, यथा—"बाल मराल कि मंदर लेहीं।" (बा० दो० २५५), यहाँ वैदिक-धर्म और माता-पिता-गुरु की सेवा सुमेरु है और राजनीति मन्दराचल है। मैं शिशु इन दोनों का अधिकारी नहीं हूँ। भाव यह कि जिनपर श्रीरामजी का स्नेह रहता है, उन्हें 'निगम-नीति' 'मंदर-मेरु' की तरह भार लगते हैं। अर्थात् मुझ मराल

को पालकर फिर इसपर पहाड़ न रखिये। 'सिसु' धर्माधर्म को जानता ही नहीं। अतः, उसे विधि-निषेध के त्याग का दोष नहीं। अतएव उपर्युक्त 'नतरु तात होइहि बड़ दोषू।' का दोष मुझे नहीं होगा। मराल विवेक के लिये होता है, बोझा ढोने को नहीं। वैसे मैं शिशु आपके स्नेह का पात्र हूँ। 'निगम नीति' रूप बोझ का नहीं।

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू ॥४॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीतिप्रतीति निगम निजगाई ॥५॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर - अंतरजामी ॥६॥

अर्थ—मैं किसीको गुरु, पिता और माता नहीं जानता। हे नाथ! मैं अपने स्वभाव ही से कहता हूँ, विश्वास कीजिये ॥४॥ जगत् में जहाँ तक स्नेह, नाते, प्रीति और प्रतीति वेदों ने स्वयं गान किये हैं ॥५॥ हे स्वामी! हे दीनबन्धु!! हे हृदय के जाननेवाले!!! एक आप ही मेरे सब कुछ हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'—श्रीरामजी ने कहा था—"गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु ···" उसका उत्तर यहाँ दिया है, तथा—"अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये। भ्राता भर्त्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः॥" (वाल्मी० २।५८।३१), अर्थात् मैं महाराजा दशरथ में पितृ-कर्तव्य का पालन कुछ भी नहीं देखता। मेरे तो भाई, स्वामी, बन्धु और पिता (सब) श्रीरामजी ही हैं। वाल्मी० २।५३।३२ में भी श्रीलक्ष्मण ने कहा है कि मैं आपके बिना शत्रुघ्न, माता सुमित्रा एवं पिता तथा स्वर्ग भी नहीं चाहता। 'कहउँ सुभाव नाथ···'—यह मैं वेद-पुराण से सुनकर नहीं कहता हूँ, किन्तु जन्म से ही स्वाभाविक यह वृत्ति है, यथा—"बारेहिं ते निज हित पति···" (बा० दो० १९७), ऐसा होना तो असम्भव-सा है। इसीलिये कहते हैं कि हे नाथ! विश्वास कीजिये। कुछ साथ चलने के लिये मैं बनाकर नहीं कहता हूँ।

(२) 'मोरे सबइ एक तुम्ह···'—प्रथम गुरु आदि का न जानना (मानना) कहने में नास्तिकता समझी जाती, पर जब यह कहा गया कि उन नातों के रूप से वस्तुतः आप ही हैं, तब यह परम धर्म हो गया, क्योंकि इसमें—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता० १८।६६) का भाव है कि भगवान् ही चराचर रूप से जीवों के पालक हैं। अतः, जगत् से हटाकर उसके प्रेरक प्रभु में ही ममता करनी चाहिये, यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥" (सु० दो० ४७), तथा क० उ० ३६ एवं वि० १०३ देखिये।

अलंकार—'उल्लेख द्वितीय' है, क्योंकि एक को ही बहुत गुणों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है।

(३) 'दीनबंधु उर अंतरजामी'—मैं दीन हूँ और आप दीनबन्धु हैं। इनकी दीनता, यथा—"मीन दीन जनु जलते काढ़े।" यह ऊपर कही गई। यह जो मैं झूठा कहता हूँ तो आप अन्तर्यामी हैं। अतः, जान ही लेंगे।

धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति-भूति-सुगति-प्रिय जाही ॥७॥
मन-क्रम-बचन चरनरत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ॥८॥

दोहा—करुनासिंधु सुबंधु के, सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥७२॥

अर्थ—धर्म और नीति का उपदेश उसे करना चाहिये, जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य और सुगति प्यारी

हो ॥७॥ जो मन, कर्म और वचन से चरणों में अनुरक्त हो, हे कृपासिन्धु ! क्या उसका त्याग किया जाता है ? ॥८॥ करुणा के सागर प्रभु श्रीरामजी ने सुन्दर भाई के कोमल और विशेष नम्र वचन सुन, (त्याग सम्भावना से) स्नेह के कारण डरा हुआ जान उन्हें हृदय से लगाकर समझाया ॥७२॥

विशेष—(१) 'धरम नीति उपदेसिय '—श्रीरामजी ने इन्हें माता, पिता, गुरु, स्वामी के सेवा-धर्म और प्रजा-पालन की नीति का उपदेश किया था। उसका उत्तर देते हैं कि यह उन्हें प्रिय होनी चाहिये कि जो धर्म के फल रूप कीर्त्ति आदि को चाहते हों, यथा—"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू॥ साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूति मय बेनी॥" (दो० ३०५) अर्थात् जिसे इन कीर्त्ति आदि की इच्छा हो, उसे उक्त धर्म-नीति प्रिय लगेगी। आपके बिना मुझे 'कीरति भूति सुगति' की चाह नहीं है, यथा—"न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे। ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया विना॥" (वाल्मी० २।३१।५), अर्थात् हे श्रीरामजी ! आपको छोड़कर न मुझे देवलोक की, न अमरत्व की और न अन्य लोकों के ऐश्वर्यों की ही कामना है, तथा—"अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान। जन्म-जन्म रति राम पद ···" (दो० २०४)—यह श्रीभरतजी ने कहा है।

(२) 'मन-क्रम-बचन चरनरत ···'—मन, कर्म, वचन से अनुरक्त व्यक्ति का निष्ठुर भी नहीं त्याग करता, फिर आप तो कृपासिन्धु हैं तब त्यागना नहीं ही चाहिये, यथा—"मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥" (सु० दो० ३०)। 'उतर न आवत ···'—इसमें इनकी मन, कर्म और वचन-निष्ठा स्पष्ट है।

(३) 'करुनासिंधु सुबंधु के···'—'करुनासिंधु'—श्रीलक्ष्मणजी के कृपासिन्धु कहने के अनुसार आपने कृपा की। अतः, 'करुनासिंधु' कहा है। 'सुबंधु'—क्योंकि विपत्ति में सहायक हुए, यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।" (दो० ३०७), तथा—"बिपति बँटावन बंधु बाहु बिनु करउँ भरोसो काको।" (गी० लं० ७), "लखन सो भाई। पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई।" (गी० लं० ६) द्रव्य बँटानेवाले भाई तो बहुत होते हैं, पर विपत्ति-बँटानेवाले ही सुबन्धु हैं। 'उर लाइ'—अर्थात् हमने तुमको त्यागा नहीं है। 'समुझाये'—कि डरो नहीं, मैं तुम्हें माता-पिता की सेवा के लिये ही रखता था, त्यागा नहीं, किन्तु तुमपर मेरा प्रेम हैं। 'जानि सनेह सभीत'—सभीत को अभय देना आपका व्रत है, यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३), तथा—"जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥" (सु० दो० ४३), अतएव इन्हें भी अभय दिया।

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥१॥
मुदित भये सुनि रघुबर-बानी। भयेउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥२॥

अर्थ—जाकर माताजी से विदा माँगो। हे भाई शीघ्र आओ और (मेरे साथ) वन को चलो॥१॥ रघुवर श्रीरामजी के वचन सुनकर (लक्ष्मणजी) आनन्दित हुए, उनको बड़ा भारी लाभ हुआ और बड़ी भारी हानि दूर हो गई॥२॥

विशेष—(१) 'आवहु बेगि चलहु···'—'आवहु'—क्योंकि निश्चय है कि सुमित्राजी आज्ञा देंगी। वहाँ भेजने का प्रयोजन यह कि माता इन्हें प्रपत्ति में और दृढ़ कर देंगी, यह भी भाव है कि इन्हें तो पिता की आज्ञा नहीं है। अतः, माताजी हर्ष-पूर्वक कहेंगी, तब ले जाने में उन्हें दुःख न होगा, यथा—"तात बिदा मागिये मातुसन बनि है बात उपाय न औरे (गी० अ० ११), यद्यपि श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—'गुरु पितु मात न जानउँ काऊ' तथापि आप अपने सामान्यधर्म की दृष्टि से माता को प्रसन्न

से यह समझा जायगा कि घर छोड़ा नहीं जाता। 'भयेउ लाभ बड़ गइ' साथ जाने से सेवा रूपा भक्ति होगी, वही परम लाभ है, यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं० दो० २५), श्रीरामजी के साथ बिना सेवा न मिलती, यही हानि होती, यथा—"हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं ·" (उ० दो० १११), वह निवृत्त हुई।

विपिन-गवन-प्रकरण

हरषित हृदय मातु पहिं आये। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाये ॥३॥
जाइ जननि-पग नायेउ माथा। मन रघुनंदन - जानकि-साथा ॥४॥
पूछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेखी ॥५॥

अर्थ—हृदय में प्रसन्न हो माताजी के पास आये। उन्हें ऐसी प्रसन्नता हुई कि मानों किसी अन्धे ने फिर से नेत्र पाया हो ॥३॥ उन्होंने जाकर माता के चरणों में प्रणाम किया, पर उनका मन श्रीरघुनाथजी और श्रीजनकीजी के साथ है ॥४॥ माताजी ने लक्ष्मणजी को उदास देखकर (कारण) पूछा। श्रीलक्ष्मणजी ने विस्तार से सब कथा कही ॥५॥

विशेष—(१) 'हरषित हृदय मातु पहिं ···'—इनकी दृष्टि श्रीसीतारामजी की सेवा पर ही रहती थी। वह वन-यात्रा सुनने पर मानों चली गई, क्योंकि आपको कुछ नहीं सूझता था—'बिधि का होनिहारा' कहा ही है। अब साथ जाने की आज्ञा पर उक्त सेवा मानों फिर से प्राप्त हुई। अब सब कुछ सूझने लगा कि मैं ऐसा करूँगा। ऊपर 'मुदित भये' कहा गया था। उसीका अर्थ यहाँ 'हरषित हृदय' से स्पष्ट हुआ।

(२) 'जाइ जननि-पग'—श्रीरामजी की आज्ञा के पालने के लिये शरीर से माता के यहाँ आये हैं, पर मन वहीं है, क्योंकि इनका सिद्धान्त है—"गुरु पितु मातु न जानउँ···" श्रीरामजी से क्षण-भर का भी वियोग इन्हें असह्य है।

(३) 'पूछे मातु मलिन मन ···'—प्रथम इन्हें 'मुदित भये' पुनः 'हरषित हृदय' कहा, फिर इन्हें ही यहाँ 'मलिन मन' भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह कि श्रीरामजी ने साथ लिया। इसका सुख तो है, पर स्वामी के वनवास होने का खेद तो है ही जो वाल्मीकीय अ० स० २२–२३ में विस्तार से कहा गया है। इस मानस में भी—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी।" (दो० ९५), "कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारे।" (दो० २२८), इत्यादि प्रसंगों से स्पष्ट है। मन की मलिनता से चेष्टा भी मलिन पड़ गई। अतः, देखकर जाना। 'बिसेषी'—जिसमें बार-बार शंका-समाधान करना न पड़े।

गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा ॥६॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू। येहि सनेहबस करब अकाजू ॥७॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ॥८॥

दोहा—समुझि सुमित्रा राम-सिय, रूप-सुसील-सुभाव।
नृप-सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिनि दीन्ह कुदाव ॥७३॥

अर्थ—कठोर वचन सुनकर वे डर गईं, मानों हरिणी चारो ओर वनाग्नि देखकर डर गई हो ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी ने देखा कि बस, आज अनर्थ हुआ, यह (माता) स्नेह-वश कार्य बिगाड़ेगी ॥७॥ माता से

बिदा माँगते हुए भय सहित सकुचाते हैं, विचारते हैं कि हे विधि ! यह (श्रीरामजी के) साथ जाने के लिये कहेगी कि नहीं ॥८॥ सुमित्राजी ने श्रीराम-सीताजी के रूप, उनके सुन्दर शील और स्वभाव को समझकर और उनपर राजा का स्नेह लख (विचार) कर अपना सिर पीटा (और सोचने लगीं) कि इस पापिनी (कैकेयी) ने कुत्सित दाँव दी, (जिसमें राजा की हार ही होगी) ॥७३॥

विशेष—(१) 'गई सहमि सुनि बचन·····'—श्रीरामजी के वन जाने की बात कठोर है, 'चहुँ ओरा'—श्रीसीतारामजी वन को जायँगे, श्रीभरतजी राज्य न ग्रहण करेंगे, श्रीलक्ष्मणजी भी वन जायँगे और राजा की मृत्यु होगी, यथा—"सीय कि पियसँग परिहरिहि, लखन कि रहिहहिं धाम। राज कि भूँजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥" (दो० ४९), जैसे वनाग्नि से मृगी निकलने का मार्ग न पाकर डरे, वैसे इन्होंने सभी ओर की उपर्युक्त विपत्ति को अनिवार्य देखा तो डर गईं। यहाँ नगर ही वन और आग लगानेवाली किरातिनी कैकेयी है, यथा—"बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं ॥ नगर सफल बन गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नरनारी ॥" (दो० ८३)।

(२) 'लखन लखेउ भा अनरथ·····'—श्रीलक्ष्मणजी ने समझा कि माताजी की यह दशा हमारे वन जाने के कारण हुई। अतः, यह प्रेम-वश मुझे वन की आज्ञा न देंगी तो यही अनर्थ होगा, क्योंकि अभी तक कभी मेरा श्रीरामजी से वियोग नहीं हुआ 'आज' ही होगा। यहाँ 'लखन' लखने में चूक गये। वास्तव में वह बात न थी, आगे स्पष्ट हो है। इनके भूलने का कारण प्रथम ही कहा गया—"मन रघुनंदन जानकि साथा।" जब मन ही अन्यत्र है, तो लखें कैसे ? यहाँ भ्रम से कुछ का कुछ समझा, इससे 'भ्रान्ति अलंकार' है।

(३) 'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं'—भय है कि यह यदि न आज्ञा देंगी, तब श्रीरामजी साथ न ले जायँगे। सकुचते हैं कि आज्ञा माँगू तो न जाने हाँ करे अथवा नहीं। 'बिधि'—क्योंकि ब्रह्मा ही संयोग-वियोग के कर्त्ता हैं, यथा—"यह संजोग बिधि रचा बिचारी।" (अर० दो० १६), "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।" (दो० १७१), पुनः ब्रह्मा बुद्धि के देवता भी हैं। अतः, ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि में ठीक निश्चय कराना चाहते हैं।

(४) 'समुझि सुमित्रा राम-सिय·····'—सुमित्राजी ने विचारा कि राजा श्रीसीतारामजी के रूप, शील और स्वभाव के वश हैं। अतः, इनके विरह में प्राण छोड़ देंगे, यथा—"राम-रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि-सुमिरि उर सोचत राऊ ॥" (दो० १४८), इसपर सिर पीटा कि हम सब विधवा होंगी।" 'पापिनि'—क्योंकि ऊपर से पतिव्रता बनी थी और श्रीरामजी पर अत्यन्त प्रेम करती थी। अन्त में पति के प्राण ले रही है और श्रीरामजी को वनवास दे रही है। 'दीन्ह कुदाव'—इसमें हम सबको हार ही होगी। कोई उपाय नहीं सूझा, तब माथा पीटा।

धीरज धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी ॥१॥
तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही ॥२॥
अवध तहाँ जहँ राम-निवासू। तहइँ दिवस जहँ भानुप्रकासू ॥३॥
जौ पै सीय-राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥४॥
गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइयहि सकल प्रान की नाईं ॥५॥

अर्थ—कुत्सित-सुअवसर जानकर धैर्य धारण किया, स्वाभाविक सुन्दर हृदयवाली सुमित्राजी कोमल वाणी से बोलीं ॥१॥ हे तात ! विदेह कुमारी जानकीजी तुम्हारी माता हैं, श्रीरामजी तुम्हारे पिता हैं, वे ही सब भाँति से स्नेह करनेवाले हैं ॥२॥ जहाँ रामजी का निवास रहे वहीं अयोध्या है, जैसे जहाँ

सूर्य का प्रकाश होता है वहीं दिन होता है ॥३॥ जो निश्चय ही श्रीसीतारामजी वन को जा रहे हैं तो अवध में रहने का तुम्हारा कुछ काम नहीं है ॥४॥ गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन सबकी सेवा प्राण के समान (अत्यन्त दुर्लभ मानकर) करनी चाहिये ॥५॥

विशेष—(१) 'धीरज धरेउ कुअवसर जानी।'—कुअवसर यह कि इस समय अधीर होने से पुत्र को शिक्षा कौन देगा ? पुत्र की विदेश-यात्रा में रोना अमंगल है। अतः, न चाहिये। पुनः धैर्य धरने के अतिरिक्त कोई उपाय भी तो नहीं है—'पापिनि दीन्ह कुदाव।' कहा ही गया। 'सहज सुहृद बोली···'—जैसे सुन्दर हृदय है वैसे ही स्वच्छ वाणी बोलीं। सुहृद को ऐसा ही सदुपदेश देना चाहिये। इनका हृदय सहज अर्थात् जन्म से ही ऐसा सुन्दर है, कुछ विद्या-सत्संगादि से सुहृद नहीं हुईं। 'मृदु बानी'—क्योंकि ऐसी ही वाणी से उपदेश लगता है।

(२) 'तात तुम्हारि मातु बैदेही।···'—अर्थात् इन्हींको माता-पिता समझना, हमारी ओर चित्त-वृत्ति न करना। श्रीरामजी सब प्रकार के स्नेही हैं, वे ही तुम्हारे प्रति गुरु, पिता, स्वामी सब प्रकार से स्नेह करेंगे। तुम जो वृत्ति यहाँ पर और स्नेहियों में करते थे, वह सब उन्हींमें करना—यह तात्पर्य है तथा—"रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्। अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम्।" (वाल्मी० २।४०।९), अर्थ श्रीगोस्वामीजी से मिलता है, पर यहाँ (मानस में) इतनी विशेषता है कि यहाँ नाता तोड़ने का प्रसंग है। अतः, माता प्रथम अपना ही नाता तोड़ती हैं। मैं तुम्हारी माता नहीं हूँ, किन्तु वैदेही हैं।

(३) 'अवध तहाँ जहँ राम ···'—अर्थात् अयोध्या के सब सुख तुम्हें वन में भी प्राप्त होंगे। अवध का स्मरण भी न करना, श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा ही किया भी है, यथा—"छिन छिन लखि सिय राम पद, जानि आपु पर नेह। करत न सपनेहुँ लखन चित, बंधु मातु पितु गेह॥" (दो० १३९), 'तहइँ दिवस जहँ ···' जैसे सूर्य के प्रकाश से दिन वैसे ही श्रीरामजी के ही प्रभाव से अवध आनन्द है, यथा—"लागति अवध भयावन भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥" (दो० ८२), अर्थात् श्रीराम बिना अयोध्या प्रभा-हीन होकर भयानक हो गई।

(४) 'जौ पै सीयराम बन···'—अर्थात् स्वामी के साथ ही सेवक को सेवा सहित ही रहना चाहिये। यद्यपि श्रीरामजी ने इनका अवध में बड़ा कार्य कहा था, पर माता इनके विशेष धर्म की दृष्टि से कहती हैं।

'प्रान की नाईं'—प्राण की रक्षा के लिये लोग नाना यत्न करते हैं, वैसे ही प्रीति सहित इनकी सेवा करनी चाहिये। ऐसा ही श्रीलक्ष्मणजी ने किया भी है, यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥" (दो० १४१), क्योंकि इनके 'गुरु पितु मातु···' श्रीरामजी ही हैं।

राम प्रान-प्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के ॥६॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते ॥७॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवनलाहू ॥८॥

दोहा—भूरि भागभाजन भयेहु, मोहि समेत बलि जाउँ।
जौ तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ ॥७४॥

अर्थ—श्रीरामजी (सभी के) प्राण-प्रिय हैं और जी के (जीवों के) जीवन हैं और सभीके स्वार्थ-रहित मित्र एवं सहायक हैं ॥६॥ जहाँ तक पूजा के योग्य और परम प्रिय (व्यक्ति) हैं, सब श्रीरामजी

के नाते से माने जाते हैं, (इसलिये कि उन-उन रूपों से श्रीरामजी ने ही उपकार किया है, तदनुसार कृतज्ञता रूप से उन-उन की पूजा श्रीरामजी की ही उपसना होती है और इस दृष्टि से श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं) ॥७॥ ऐसा हृदय में जानकर (उनके) साथ वन जाओ और हे तात ! जगत् के जीवन का लाभ लो ॥८॥ तुम मुझ समेत बड़े ही भाग्यशाली हुए, मैं बलिहारी जाती हूँ कि जो तुम्हारे मन ने छल छोड़कर श्रीरामजी के चरणों में जगह बनाई अर्थात् उनका आश्रय लिया ॥७४॥

विशेष—(१) 'राम प्रान-प्रिय जीवन जी के ।···', यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिय···" (दो० २९०), गुरु, पिता, माता आदि प्राणों के समान हैं और श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक हैं। अतः, इन्हें सबसे अधिक मानकर इनकी सेवा करनी चाहिये। 'स्वारथ रहित सखा सबही के ।'—प्रायः संसार के और सब लोग स्वार्थ सहित ही प्रीति करते हैं, यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० १), पर श्रीरामजी स्वार्थ-रहित सबके सखा (सहायक) हैं, यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥" (उ० दो ४६), तथा—"पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके नेह सों बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा ॥" (वि० १३५), श्रीमुख वचन भी है, यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।·· गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ॥" (गीता० ९।१७-१८), तथा—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (श्वे०४।५(, अर्थात् ब्रह्म निःस्वार्थ जगत् का हित करता है, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।" (गीता० ९।४), इन बातों से श्रीरामजी को ब्रह्मरूप कहा है।

(२) 'पूजनीय प्रिय परम···', यथा—"नातो नेह राम सो मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥" (वि० १७४), तथा—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥" (बृह० २।४।५), अर्थात् सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्मा के लिये ही सब प्यारे होते हैं।

(३) 'अस जिय जानि संग···'—'अस' अर्थात् उपर्युक्त रीति से श्रीरामजी का स्वरूप और ऐश्वर्य जानकर साथ जाओ, अर्थात् सेवक बनकर जाओ, भाई (बराबरी) का भाव रखकर नहीं। 'लेहु तात जग जीवनलाहू', यथा—"जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा ॥" (दो० १८१), "सियराम सरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु हैं।·····सबकी न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है ॥" (क० उ० ३७)।

(४) 'भूरि भाग भाजन भयेहु,···'—श्रीरामचरण में मन लगना बड़े भाग्य की बात है, यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा ६३), यह तुम बहुत भारी कार्य कर रहे हो। अतः, इसके योग्य और वस्तु न पाकर मैं अपनापन निछावर करती हूँ, बलि जाती हूँ। माता से सब वृत्तान्त कहते हुए लक्ष्मणजी ने अपनी बात भी कह दी थी, इससे माताजी सराहना करती हैं। 'छाड़ि छल'—अर्थात् निःस्वार्थ, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००), तन से वन को अवध मानकर वहाँ रहो और मन से निष्काम होकर श्रीरामचरण में अनुराग करो। श्रीरामचरणानुरागी को बड़भागी सातो काण्डों में कहा है, देखिये—'अतिसय बड़भागी चरनन लागी।" (बा० दो० २१०)।

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति-भगत जासु सुत होई ॥१॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। रामबिमुख सुत ते हित जानी ॥२॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥३॥
सकल सुकृत कर बड़ फल येहू। राम-सीय - पद सहज सनेहू ॥४॥

अर्थ—इस संसार में पुत्रवती वही स्त्री है, जिसका पुत्र श्रीरघुनाथजी का भक्त हो ॥१॥ नहीं तो बाँझ भली थी, उसने राम-विमुख-पुत्र से अपना हित जानकर व्यर्थ ही उसे पैदा किया ॥२॥ हे तात ! तुम्हारे ही भाग्य से श्रीरामजी वन को जा रहे हैं (उनके वन जाने का) और दूसरा कारण कुछ नहीं है ॥३॥ सारे पुण्यों का बड़ा भारी फल यही है कि (उनसे) श्रीसीताजी और श्रीरामजी के चरणों में स्वाभाविक स्नेह हो ॥४॥

विशेष—(१) 'पुत्रवती जुवती जग सोई ।···'—पुत्र शब्द का अर्थ है कि जो पितरों को नरक से बचावे, यथा—"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥" (वायुपुराण), तथा—"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन्पाति वा सुतः ॥" (वाल्मी० २।१०७।१२), श्रीराम-भक्त होने से उसके पितर तर जाते हैं और श्रीराम-विमुख के पितर पश्चात्ताप करते हैं कि मेरी सन्तान राम-भक्त न हुई । ऐसे पुत्र से बिना पुत्र ही होना भला है । 'बियानी' शब्द पशुओं के बच्चा पैदा करने को कहा जाता है । अतः, 'बादि' शब्द के साथ ठीक पड़ा है, यथा—"तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै । तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिखान न द्वै ॥ जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै ॥ जरि जाउ सो जीवन, जानकि नाथ ! जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै ॥" (क० उ० ४०), अर्थात् उसने मनुष्य की जगह पशु पैदा किया, तथा—"किमन्यैर्बहुभिः पुत्रैर्दयाधर्मविवर्जितैः । ये जाता नार्चयन्त्यद्धा विष्णुं नारायणं कुले ॥" (स्कन्द पु० वै० वै० मा० २२।८१), अर्थात् दया-धर्म-रहित अन्य बहुत पुत्रों से क्या लाभ ? जो कुल में पैदा होकर सर्वव्यापी भगवान् नारायण की पूजा नहीं करते ।

(२) 'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं ।'—पहले दोहे में दोनों का भाग्य साथ ही कहा था, फिर 'पुत्रवती जुवती···' में अपना भाग्य और यहाँ पुत्र का भाग्य कहती हैं, यह पृथक्-पृथक् भी कहा गया है । 'तुम्हरेहि भाग' अर्थात् श्रीरामजी अयोध्या में रहे, तो सबका भाग्य रहा, सभी दर्शन पाते थे और सबको उनकी सेवा मिलती थी । अब वन में तुम्हारा ही भाग्य है, सब सेवा तुम अकेले ही पाओगे, यथा—"अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम् । भ्रातरं देव-संकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान् । एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥" (वाल्मी० २।४०।२५-२६) ।

(३) 'सकल सुकृत कर बड़···'—सुकृत से स्वर्ग भी प्राप्त होता है, पर वह छोटा फल है, यथा—"स्वरगउ स्वल्प अंत दुखदाई ।" (उ० दो० ४३), श्रीराम-स्नेह बड़ा फल है, यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू ।" (बा० दो० २६), तथा—"तीर्थाटन साधन ···नाना करम धरम···भूत-दया द्विज···जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरि भगति भवानी ॥" (उ० दो० १२५) । 'सहज सनेहू'—स्वतः चित्त अनुराग में रँगा रहे—वि० २०४ और १७० का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये ।

राग रोष इरिषा मद मोहू । जनि सपनेहु इन्हके बस होहू ॥५॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥६॥
तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू । संग पितु मातु राम-सिय जासू ॥७॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥८॥

अर्थ—देह सम्बन्धी (स्वार्थी) प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश में स्वप्न में भी मत होना ॥५॥ विकारों को छोड़कर सब प्रकार से मन, कर्म और वचन से सेवा करना ॥६॥ तुमको वन में सब प्रकार का सुख है कि जिसके संग में पिता-माता-रूप श्रीरामजी और श्रीसीताजी हैं ॥७॥ हे पुत्र ! तुम वही करना, जिससे श्रीरामजी वन में दुःख न पावें, हमारा उपदेश यही है ॥८॥

विशेष—(१) 'राग रोष इरिषा मद मोहू ।···'—प्रथम श्रीराम-स्नेह का महत्त्व कहकर अब उसके बाधकों से बचना कह रही हैं कि राग (देह-सम्बन्धी प्रेम), क्रोध, ईर्ष्या (डाह), मद और मोह, ये भक्ति के बाधक हैं, यथा—"तात तीन अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ । मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (अर० दो० ३८), 'सकल प्रकार बिकार···'—पाँच के नाम गिना कर शेष और विकारों की तई समष्टि में छोड़ना कहती हैं कि मन, कर्म, वचन तीनो शुद्ध रखकर तीनो से सेवा करना । मन से प्रेम, वचन से प्रिय और अनुकूल भाषण तथा कर्म से कैंकर्य करना ।

'राग' छोड़ना यह कि वहाँ रहते हुए घर की स्त्री, भाई एवं यहाँ की माता और पिता में प्रेम न करना । 'रोष' उनकी कोई बात प्रतिकूल भी हो, तो रुष्ट नहीं होना, जैसे—"मरम बचन जब सीता बोला ।" (अर० दो० १७), "आयेहु तात बचन मम पेली ।" (अर० दो० २९), इन वचनों पर श्रीलक्ष्मणजी ने कर दिखाया है कि वे कुछ भी रुष्ट नहीं हुए । 'ईर्ष्या'—यह कि हम भी तो राजकुमार ही हैं । फिर इनकी गुलामी क्यों करें ? यह न होने पावे । 'मद'—यह कि मेरे समान बली, गुणी आदि न हो तो इनकी रक्षा ही न हो, यह छोड़ना । 'मोह'—घर का मोह न करना एवं अपमापन भुला देना, इत्यादि मोह छोड़ना है, यथा—"छिन-छिन लखि सिय राम पद, जानि आपु पर नेह । करत न सपनेहु लखन चित, बंधु मातु पितु गेह ।" (दो० १३९) । 'तुम्ह कहँ बन ··सँग पितु-मातु···', यथा—"तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के ॥" तथा—"सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहे असोच बनै प्रभु पोसे ॥" (कि० दो० २) ।

(२) 'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू ।'—वन में बहुत क्लेश होते हैं, यथा—"बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ।" (दो० ६२), श्रीरामजी को क्लेश न हो, यह श्रीसुमित्राजी को बहुत ध्यान है । इस-पर गीतावली लं० पद १३ पूरा देखने योग्य है कि श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर उनका शोक नहीं, किन्तु शोक इसी बात का है कि श्रीरामजी शत्रु के देश में अकेले हैं । फिर शत्रुघ्नजी को भी भेजने लगती हैं । 'सुत सोइ···', यथा—"सिय रघुबर सेवा सुचि ह्वै हौ तब जानिहौं सही सुत मोरे ॥" (गी० अ० ११), "भेंटेउ तनय सुमित्रा, राम चरन रति जानि ।" (उ० दो० ६) ।

श्रीसुमित्राजी ने यहाँ ऐश्वर्य दृष्टि से श्रीराम-परत्व कहकर उपासना के परम तत्त्व का उपदेश दिया है, क्योंकि साक्षात् उपासना शक्ति हैं, यथा—"तासां क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका । ज्ञानशक्तिस्तु कौसल्या वेदो दशरथो नृपः ॥" (शिवसंहिता १८।४६), अर्थात् वेदरूप राजा दशरथ और वेद के काण्डत्रय रूपिणी उनकी तीनों रानियाँ हैं । विशेष वि० ५८ का 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये ।

छन्द—उपदेस यह जेहि जात तुम्हरे रामसिय सुख पावहीं ।
पितु-मातु-प्रिय-परिवार-पुर-सुख-सुरति बन बिसरावहीं ॥
तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई ।
रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित नित नई ॥

सो०—मातुचरन सिर नाइ, चले तुरत संकित हृदय ।
बागुर बिषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भागबस ॥७५॥

अर्थ—मेरा यही उपदेश है कि तुम्हारे साथ जाने से श्रीरामजी और श्रीजानकीजी सुख पावें,

पिता, माता, प्रिय-परिवार और अवधपुर आदि के सुख की स्मृति वन में भुला दें ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि माताजी ने मेरे) प्रभु श्रीलक्ष्मणजी को शिक्षा देकर (वन जाने की) आज्ञा दी और फिर आशिष दी कि श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में नित्य-नित्य नवीन, अविरल (सघन = तैल-धारवत्) और निर्मल प्रीति हो ॥ माता के चरणों में सिर नवाकर मन में डरते हुए शीघ्र चले (कि कहीं देरी होने से श्रीसीतारामजी चल न दिये हों) मानों भाग्यवश हिरण कठिन फन्दा छुड़ाकर (तोड़कर) भागा जाता हो ॥७५॥

विशेष—(१) 'उपदेस यह जेहि जात···'—ऊपर क्लेश न हो, यह कहा। अब यहाँ सुख देना कहती है, कैसा सुख देना—'जेहि न राम पितु-मातु प्रिय···'।

(२) 'सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई'—'सिख'—'उपदेस यह···' से 'बिसरावहीं।' तक, 'आयसु'—'अस जिय जानि संग बन जाहू।' और 'आसिष'—'रति होउ अविरल···नई'। पूर्व कहा था—"सकल सुकृत कर बड़ फल येहू। सीय-राम-पद सहज सनेहू ॥" यहाँ उसीकी आशिष भी दी।

(३) 'मातु चरन सिर नाइ···बागुर बिषम···'—माता ने अनुकूल शिक्षा, आज्ञा और आशिष दीं। अतएव श्रीलक्ष्मणजी ने चरणों में प्रणाम किया। माताजी ने विदा के समय पुत्र को हृदय से न लगाया, क्योंकि इनको श्रीसीताजी और श्रीरामजी के लिये अर्पण कर चुकीं और अपना मातृत्व-भाव श्रीजानकीजी को दे चुकी हैं, उसीको चरितार्थ किया। वन से लौटने पर भी श्रीराम-भक्ति के नाते से ही भेटेंगी—"भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरन रति जानि।" (उ० दो० ३)।

यहाँ 'बागुर बिषम' पर कोई-कोई श्रीउर्मिलाजी के फन्दे से बचकर भागना कहते हैं। यह अनुचित है, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी विशेषधर्म के आदर्श हैं। उन्होंने उस धर्म की दृष्टि से सब नाते श्रीराम में ही निश्चित कर रक्खे हैं—'गुरु पितु मातु न जानउँ···जहँलगि जगत सनेह सगाई···' एवं सुमित्राजी ने वैसा ही उपदेश दिया है। अतः, स्त्री का बन्धन इनकी दृष्टि में नहीं है। श्रीरामजी सामान्यधर्म पर आरूढ़ हैं, इसीसे उन्हें श्रीसीताजी का समझाना आवश्यक था।

श्रीउर्मिलाजी स्वयं जानती हैं कि मेरे स्वामी अपनी इच्छा से श्रीसीतारामजी की सेवा में जा रहे हैं। अतः, मुझे बाधा नहीं करनी चाहिये। ज्येष्ठ के साथ-साथ मेरा रहना अनुचित ही होगा।

'बागुर बिषम'—माताजी की आज्ञा मिलना भारी फन्दे का टूटना है, यह भारी बन्धन था, यथा—"तात बिदा माँगिये मातु सन बनि है बात उपाय न औरे।···तुलसी सिख सुनि चले चकित चित, उड़्यो मानों बिहँग बधिक भये भोरे ॥" (गी० अर० ११), श्रीलक्ष्मणजी इस आज्ञा-प्राप्ति को अपना बड़ा भाग्य मानते हैं, क्योंकि अपनी ओर से तो ये सब नाते छोड़ चुके थे, पर यहाँ के लिये श्रीरामजी की आज्ञा थी। यदि माता आज्ञा न देती तो वे साथ न लेते।

गये लखन जहँ जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू ॥१॥
बंदि राम-सिय-चरन सुहाये। चले संग नृपमंदिर आये ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी वहाँ गये, जहाँ पर श्रीजानकीजी और उनके नाथ श्रीरामजी थे। प्यारा (अभीष्ट) साथ पाकर (श्रीलक्ष्मणजी) मन में आनन्दित हुए ॥१॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी के सुहावने चरणों की वन्दना करके उनके साथ चले और राज-मन्दिर में आये ॥२॥

विशेष—(१) 'गये लखन जहँ···'—'जहँ' अर्थात् श्रीकौसल्याजी के महल से निकलने पर श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीता-रामजी से मिले थे, फिर ये माता से आज्ञा लेने गये और वे (दोनों) वहीं पर ठहरे हुए, इनका मार्ग देखते थे। इनके आते ही चल दिये, तब राज-मन्दिर पहुँचे। 'जानकिनाथू'—अर्थात् श्रीजानकीजी और उनके स्वामी, इस तरह का एक शब्द देकर ग्रन्थकार ने दोनों को अपृथक् जनाया और

श्रीलक्ष्मणजी की दोनों में बराबर प्रीति सूचित की, अन्यथा एक का नाम देने से दूसरे में इनकी स्नेह-न्यूनता पाई जाती। 'भे मन मुदित पाइ···'—प्रथम साथ के लिये श्रीरामजी की आज्ञा पाकर प्रसन्न हुए थे, यथा—"मुदित भये सुनि रघुबर बानी ॥" (दो० ७२), फिर माता के यहाँ जाने पर भय और संकोच हुआ था, यथा—"माँगत बिदा सभय सकुचाहीं।" अब माता की भी आज्ञा पाकर पुनः प्रसन्न हुए 'पाइ' अर्थात् भाग्य से साथ मिला। 'प्रिय-साथू'—क्योंकि श्रीसीतारामजी का ही साथ इन्हें प्रिय है और सब नाते अप्रिय हो गये हैं।

(२) 'बंदि राम-सिय-चरन···'—इन्होंने चरण-वन्दना से ही सूचित कर दिया कि जिसलिये मैं गया था, वह सिद्ध कर आया। इन्हें अब किसी और से विदा होना नहीं है। श्रीरामजी को तो अभी पिता से भी विदा होना है, पर इन्होंने सब नाता श्रीरामजी में ही माना है, माताजी ने भी ऐसा ही सिखाया है। अतएव यह वन्दना इनके वन-यात्रा के मंगलाचरण की भी है। भाग्यवश छूटकर आये और कुछ देर बाहर जाकर आये। अतः, वन्दना करनी ही चाहिये। पुनः माता ने—'रति होउ अविरल···' की आशिष दी थी, तुरत ही उसको चरितार्थ भी किया। यह चरण-वन्दना ही चरण-रति है।

कहहि परसपर पुर-नर-नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी ॥३॥
तनु कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने ॥४॥
कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥५॥
भइ बड़ि भीर भूप-दरबारा। बरनि न जाइ बिषाद अपारा ॥६॥

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष एक दूसरे से कहने लगे कि विधाता ने अच्छी तरह बनाकर बात बिगाड़ दी ॥३॥ सभी के शरीर दुबले, मन दुःखी और मुख मलिन (उदास) हैं, ऐसे विकल हैं कि मानों मधु-मक्खी मधु छीन (निकाल) लेने से ॥४॥ वे हाथ मीजते हैं, सिर पीटकर पछताते हैं, मानों बिना पंख के पक्षी विकल हो रहे हों ॥५॥ राजा के द्वार पर बड़ी भारी भीड़ हो गई है और विषाद अपार है। अतः, वर्णन नहीं किया जाता ॥६॥

विशेष—(१) 'कहहिं परसपर पुर-नर-नारी।···'—पूर्व पुर-नर-नारियों का प्रसंग—"एहि बिधि बिलपहिं पुर-नर-नारी।···अति बिषाद बस लोग लोगाईं।" (दो० ५०), पर छूटा था, वहींसे फिर प्रसंग उठाते हैं।

'भलि बनाइ बिधि···'—राज्य-तिलक की तैयारी हो चुकने पर वनवास दिया गया। यही भली बात बनाकर बिगाड़ना है वा खूब बनाकर बिगाड़ा कि जिसका सुधार हो ही नहीं सकता। 'कहहिं परसपर' यह वचन से दुःखी हैं और—"तनु कृस मन दुख···"—यह तन और मन से दुःखी हैं, इत्यादि रीति से तन-मन-वचन तीनों से दुखी हैं।

(२) 'बिकल मनहुँ माखी मधु छीने।'—इसका विशेष रूपक पूर्व—"देखि लागि मधु कुटिल किराती···" (दो० १२), पर कहा गया। छत्ता तैयार होने पर मधु निकाला जाता है, वैसा ही, राज्य-तिलक की तैयारी होने पर उसे छीन कर वनवास दिया गया। मधुमक्खियाँ फिर छत्ता लगाकर सुखी होती हैं, वैसे ये भी १४ वर्ष बाद सुखी होंगे।

(३) 'कर मीजहिं सिर धुनि·····'—कुछ उपाय नहीं चलता। अतः, हाथ मीजते हैं। सिर पीटते हैं कि हमारे कर्म फूट गये। पक्षियों की गति पंख से होती है, वैसे ही श्रीसीताजी और श्रीरामजी ही इन सबकी गति (आश्रय) हैं, वे चले जाते हैं, इससे अकुलाते हैं, अत्यन्त दीन हैं—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ६०)।

(४) 'भइ बड़ि भीर·····'—इसमें 'बरनि न जाइ' दीपदेहली है, भीड़ और विषाद दोनों ही का वर्णन नहीं किया जा सकता। सभी पुरवासी आ गये हैं। अतः, भारी भीड़ है। 'दरबारा'—इसका अर्थ, यथा—"गयेउ भूप दरबार।" (बा० दो० २०६) देखिये।

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रिय बचन राम पगु धारे ॥७॥
सिय समेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भयेउ भूमिपति भारी ॥८॥

दोहा—सीयसहित सुत सुभग दोउ, देखि देखि अकुलाइ।
बारहिं बार सनेहबस, राउ लेइ उर लाइ ॥७६॥

अर्थ—मन्त्रीजी ने 'श्रीरामजी आये हैं,' यह प्रिय-वचन कहकर राजा को उठाकर बैठाया ॥७॥ श्रीसीताजी के साथ दोनों पुत्रों को देखकर राजा बहुत व्याकुल हो गये ॥८॥ श्रीसीताजी के साथ सुन्दर दोनों पुत्रों को देख-देखकर राजा व्याकुल हो जाते हैं और स्नेह के वश उन्हें बार-बार छाती से लगा लेते हैं ॥७६॥

विशेष—(१) 'कहि प्रिय बचन राम पगु धारे।'—पूर्व 'चले संग नृप मंदिर आये।' से फिर प्रसंग लेते हैं कि तीनो मूर्त्ति राज-मन्दिर में आये, तब इनका आगमन कहकर मन्त्री ने राजा को बैठाया। श्रीरामजी राजा को प्रिय हैं। अतएव इनके आगमन का वचन उनके लिये 'प्रिय बचन' है। उससे धैर्य धरकर बैठेंगे, इसलिये ऐसा कहा।

'सिय समेत दोउ तनय···'—कैकेयी ने केवल श्रीरामजी को ही वनबास माँगा था, इसपर व्याकुल हुए थे—"ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता।" (दो० ३४)। अब दो और जाते हैं। अतः, 'भारी' व्याकुल हो गये। यद्यपि 'भूमि-पति' हैं, पृथ्वी से कहीं अधिक सहिष्णुता है और धैर्यवान् हैं तथापि क्या करें? अपार दुःख है, इससे भारी व्याकुल हो गये।

(२) 'सीयसहित सुत सुभग दोउ·····' 'देखि-देखि' अर्थात् पृथक्-पृथक् एक-एक की सुकुमारता देखते हुए अकुलाते हैं। ऊपर समष्टि में और यहाँ व्यष्टि में देखना है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है। अत्यन्त दुःख से बोला नहीं जाता। अतः, 'बारहिं बार' हृदय में लगा-लगा कर ही प्रीति प्रकट करते हैं।

सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोकजनित उर दारुन दाहू ॥१॥
नाइ सीस पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा ॥२॥
पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमय कत कीजै ॥३॥
तात किये प्रिय - प्रेमप्रमादू। जस जग जाइ होइ अपवादू ॥४॥
सुनि सनेहबस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा ॥५॥

अर्थ—राजा व्याकुल हैं इससे बोल नहीं सकते। शोक से उत्पन्न अत्यन्त कठिन जलन उनके हृदय में है ॥१॥ अत्यन्त प्रीति-पूर्वक चरणों में सिर नवाकर रघुकुल-वीर श्रीरामजी ने खड़े होकर तब विदा माँगी ॥२॥ पिताजी! मुझे आशिष और वन जाने की आज्ञा दीजिये, आप हर्ष के समय में दुःख क्यों करते हैं? ॥३॥ हे तात! प्रिय के विषय में प्रेम करने से अनवधानता (अन्तःकरण की दुर्बलता) प्रकट होगी। जिससे जगत् से यश चला जायगा और निन्दा होगी ॥४॥ यह सुनकर राजा ने स्नेह के वश उठकर श्रीरघुनाथजी को हाथ पकड़ कर बैठाया ॥५॥

विशेष—(१) 'सकइ न बोलि···'—कुछ बोलना चाहते हैं, वह आगे कहा है—'सुनहु राम···'

पर बोल नहीं सकते। 'बिकल नरनाहू'—'बारहिं बार ··उर लाइ'—तन, 'सकइ न बोलि'—वचन और 'सोक जनित उर···'—मन, तीनों से व्याकुल हैं, इससे 'दारुन दाहू' कहा गया है।

(२) 'नाइ सीस पद अति···'—जब राजा शोक के कारण बोल न सके। तब 'श्रीरघुबीर' अर्थात् धर्म-वीर' जो कि १४ वर्ष के वनवास पर भी कादरता से उदास न हुए, किन्तु पिता की आज्ञा के पालन को परम धर्म मानकर अति अनुराग-पूर्वक आज्ञा माँगते हैं। बड़ों की वन्दना में अनुराग चाहिये ही, दोहावली ४२ देखिये। पर आज महाव्रत के लिये प्रस्थान कर रहे हैं, इसलिये 'अति अनुराग' है। 'नाइ सीस'—कर्म एवं तन, 'अति अनुरागा'—मन और 'बिदा तब माँगा'—वचन, तीनों से अपनी भक्ति पिता में किये हुए हैं, क्योंकि पिता का प्रेम ऊपर अर्द्धाली में ऐसा ही कहा गया है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता० ४।११)—अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार बरत रहे हैं।

(३) 'पितु असीस आयसु मोहि···'—क्योंकि पिता-माता की आज्ञा और कृपा से मुद-मंगल होता है, यथा—"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुदमंगल कानन जाता॥" (दो० ५२), "तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं।" (दो० १५१), 'हर्ष समय' अर्थात् आपके सत्य की रक्षा से जगत् में आपका सुयश होगा और मुझे भी इस कार्य में उत्साह है। "मंगल समय सनेह···" (दो० ४५) भी देखिये।

(४) 'जस जग जाइ होइ अपबादू।'—सत्य-पालन श्रेष्ठ धर्म है, उसके छोड़ने से पाप होगा, यथा—"नहिं असत्य सम पातक पुंजा।" (दो० २७), उस पाप से अपयश होगा, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११), आपका विस्तृत यश है, यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (दो० २०८), वह नाश हो जायगा। पुनः संसार-भर में अपयश होगा, यथा—"पितहिं बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजस न होई॥" (दो० ४३), यह कैकेयीजी ने कहा था, तदनुसार यहाँ पर—"तात किये प्रिय प्रेम···जसु जग जाइ ··" यह श्रीरामजी का वचन है।

(५) 'सुनि सनेह बस उठि···' यद्यपि उठने की शक्ति नहीं है, फिर भी स्नेह के बेग से शक्ति आ गई। इससे उठ पड़े। 'नरनाहा'—राजनीति के अनुसार जिस-तिस उपाय से राजा को प्रयोजन साधना चाहिये, तदनुसार श्रीरामजी के रखने लिये अनेको उपाय करेंगे। अतः, 'नरनाहा' कहा है। 'गहि बाँहा'—जाने के लिये खड़े हैं, कहीं यों ही चल न दें, इससे पकड़कर बैठा लिया।

सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥६॥
सुभ अरु असुभ करम-अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥७॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई॥८॥

दोहा—और करइ अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति बिचित्र भगवंत-गति, को जग जानइ जोग॥७७॥

अर्थ—(राजा ने कहा कि) हे तात! सुनो, तुमको मुनि कहते हैं कि श्रीरामजी चराचर के नायक हैं॥६॥ शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार हृदय में विचार कर ईश्वर फल देता है॥७॥ जो कर्म करता है, वही उस कर्म का फल पाता है, ऐसा वेद और नीति तथा सब कोई कहते हैं॥८॥ अपराध तो कोई और करे और दूसरा कोई उसका फल भोग पावे। बड़ी ही विचित्र भगवान् की गति है। उसके जानने के योग्य संसार में कौन है? अर्थात् कोई नहीं॥७७॥

विशेष—(१) 'सुनहु तात तुम्ह कहँ···'—यहाँ से श्रीरामजी को रखने के लिये राजा उपाय कर

रहे हैं। यहाँ अपनी माधुर्य दृष्टि के अनुसार 'तात' कहा है और मुनि की ऐश्वर्य दृष्टि के अनुसार दूसरे चरण में 'राम' कहा है। उपसंहार पर कहेंगे—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥" पहला उपाय इस अर्द्धाली में है कि आपको मुनि-लोग कहते हैं कि आप चराचर के मालिक हैं, यथा—"सुनु नृप जासु बिमुख···भयो तुम्हार तनय सोइ···" (दो० ३), "तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥" (बा० दो० २०७), तब आपको कर्मों का भोक्ता न होना चाहिये। आप हमारे और कैकेयी के बीच में उचित न्याय कीजिये। तात्पर्य यह कि आप वन को न जायँ। इसपर श्रीरामजी ने ध्यान न दिया, तब फिर राजा ने कहा—

(२) 'सुभ अरु असुभ करम···', यथा—"कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता।" (दो० २८१), "कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८), तथा—"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१), एवं—"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्॥" (गी० ७।२२), अर्थात् वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त उस देवता के पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे ही द्वारा विहित उन इच्छित भोगों को निस्सन्देह पाता है। "फलमत उपपत्तेः।" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३७)—आचार्यों ने इस विषय पर विशेष विचार किया है। इस दृष्टि से हमारे कर्म का फल ऐसा उग्र भी न होना चाहिये कि जिसके परिणाम में आपके वन जाने से मेरी मृत्यु हो, किन्तु हृदय में विचार करके कर्म के सदृश ही फल दिया जाय। यह दूसरा उपाय भी व्यर्थ हुआ, क्योंकि इसपर भी श्रीरामजी ने कुछ न कहा। तब फिर कहते हैं—

(३) 'करइ जो करम पाव फल···और करइ अपराध कोउ···'—इस राज्याभिषेक के विषय में कैकेयीजी ने समझा था कि इसमें श्रीकौसल्याजी की सम्मति है, यथा—"जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥" (दो० ३२), वह इसी ईर्ष्या से श्रीरामजी को वन दे रही है। उसी-पर राजा कहते हैं कि हे तात! जो कर्म करता है, वही फल पाता है, इसको वेद और नीति सभी कोई ऐसा ही कहते हैं। परन्तु यहाँ तो अपराध और किसीने किया है और उसका फल और कोई भोग रहा है, अर्थात् कर्म तो हमने किया है, जो बिना कैकेयी के पूछे, राजगद्दी की तैयारी की है। अतः, इसका परिणाम हमको ही मिलना चाहिये, पर ऐसा न होकर उस कर्म का फल आपको मिल रहा है, जिससे निरपराधिनी श्रीकौसल्याजी को भारी दुःख मिल रहा है। कैकेयी जो चाहे हमें दंड देवे, पर हमारे कर्म से और आपसे सम्बन्ध न होना चाहिये। यदि है तो यही भगवान् की अति विचित्र गति है, जिसे कोई नहीं जान सकता। इसपर भी श्रीरामजी का रुख न पाया तब निराश हुए—श्रीरामजी के न बोलने का कारण इसी प्रसंग पर वाल्मीकीय रामायण में खोला गया है, यथा—"वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः॥ न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम। अपानृत्व कथं पुत्रं पितरं कर्तुमिच्छसि॥" (२।३४।३७-३८), अर्थात् कैकेयी के कहने में पड़कर धोखा मुझे हुआ और फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है।···कारण यह कि तुम हमारे ज्येष्ठ पुत्र हो, अपने पिता को सत्यवादी बनाना चाहते हो। श्रीरामजी माधुर्य की दृष्टि से पिता के कर्म का फल भोगकर पिता को कैकेयी से उऋण कर रहे हैं। पिता का प्रतिरूप ही पुत्र है, यथा—"आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः॥४६॥·····आत्मा वै पुत्रनामासि···॥६४॥" (महा० आदि० ७४), इसी दृष्टि से श्रीरामजी ने पिता की आयु का भोग किया है—"भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किये बनै बनाउ॥" (गी० उ० २५)। अतः, यहाँ व्यतिक्रम कुछ नहीं हो रहा है, तब श्रीरामजी क्यों कुछ कहें? राजा के माधुर्य भाव के अनुसार चुप हैं, पिता को पुत्र कैसे उपदेश करे।

यहाँ राजा ने जब कुछ निश्चित नहीं कर पाया तब 'अति बिचित्र···' ही कहा, ईश्वर को दोष नहीं

दिया, यह शिक्षा है। ईश्वर का विधान ठीक ही रहता है, क्योंकि वह सभीका पिता एवं सर्वज्ञ है। अतः, किसीके प्रति अन्याय क्यों करेगा ?

अलंकार—'असंगति प्रथम' है, क्योंकि यहाँ 'कारन कहुँ कारज कहूँ, देस, काल को बीच।" (अ० सं०)—यह प्रसंग है।

राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी ॥१॥
लखी रामरुख रहत न जाने। धरम-धुरंधर धीर सयाने ॥२॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अतिहित बहुत भाँति सिख दीन्ही ॥३॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाये। सासु ससुर पितु सुख समुझाये ॥४॥
सिय-मन रामचरन अनुरागा। घर न सुगम बन बिषम न लागा ॥५॥

अर्थ—राजा ने श्रीरामजी को रखने के लिये छल छोड़कर (निश्छल भाव से) बहुत से उपाय किये ॥१॥ पर उनका रुख देखकर जान गये कि ये नहीं रहेंगे, क्योंकि धर्म-धुरन्धर धैर्यवान् और सयाने हैं ॥२॥ तब राजा ने श्रीजानकीजी को हृदय से लगा लिया और उन्हें बड़े प्रेम से एवं बहुत प्रकार से शिक्षा दी ॥३॥ उन्हें वन के कठिन दुःख कह सुनाये तथा सास-ससुर और पिता के (घर के) सुखों को भी समझाया ॥४॥ पर श्रीसीताजी का मन श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त था। अतः, उन्हें न तो घर सुगम और न वन विषम (कठिन) ही लगता था ॥५॥

विशेष—(१) 'राय राम राखन हित···'—राजा ने पहले भी श्रीरामजी को रखने के लिये उपाय किया था, यथा—"राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती।" इत्यादि कैकेयी से साम, दाम, दंड, भेद कर चुके। फिर दैवी उपाय भी किया, यथा—"बिधिहिं मनाव राउ मनमाहीं।" "सुमिरि महेसहिं कहहिं निहोरी ॥" "उदय करहु जनि रवि रघुकुल गुरु।" इत्यादि। पुनः, यहाँ भी उपर्युक्त तीन विशेष उपाय किये। 'छल त्यागी' अर्थात् निष्कपट हृदय से, स्वार्थ ही छल-कपट है। यहाँ राजा ने अपने धर्म-रूपी स्वार्थ को छोड़कर उपाय किया, अर्थात् हमारा सत्य धर्म भले ही छूट जाय, पर श्रीरामजी रहें। वाल्मी० २।३४।२६ में राजा ने यहाँ तक कहा है कि—"रामजी ! मुझे कैकेयी ने वरदान द्वारा धोखा दिया है। अतः, तुम मुझे बाँध कर (कैद कर) बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो।" तब वरदान ही क्यों दे रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि राजा राम-शपथ वर देने पर कर चुके हैं, इसलिये वह दे रहे हैं, अन्यथा श्रीरामजी का ही अनिष्ट होगा।

(२) 'लखी राम रुख रहत न···'—राजा ने यहाँ श्रीरामजी की ईश्वरता कही है, इससे वे सकुच गये और उन्होंने प्रकट उत्तर नहीं दिया, पर चेष्टा से अपना अभिप्राय जना दिया कि हम पिताजी को सत्यवादी ही रखना चाहते हैं। यही प्रकट करने को आगे 'धरम-धुरंधर' कहा गया है। पुनः ऊपर वाल्मी० २।३४।३७-३८ से दिखाया गया है। 'धीर' हैं, अतः, वन के दुःख समझकर घबराते नहीं हैं। 'सयाने' हैं, अर्थात् धर्म की गति को जानते हैं।

(३) 'बहुत भाँति सिख दीन्ही।'—अर्थात् विस्तार से शिक्षा दी, जैसे श्रीरामजी ने दी थी। वहाँ विस्तार से कहा गया है, इससे यहाँ नहीं लिखा गया। वहींसे समझना चाहिये। 'कहि बन के दुख दुसह···'—वन का दुःख सुनाया कि जिससे न जायँ और सास आदि के यहाँ का सुख सुनाया कि जिससे घर में रहें, यथा—"पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥" (दो० ८१)। "मइके ससुरे सकल सुख, जबहिं जहाँ मन मान। तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान ॥" (दो० ९६)। 'अतिहित' अपनी बहुत वात्सल्य प्रीति प्रकट करते हुए।

(४) 'सिय-मन रामचरन···'—श्रीराम-चरणानुराग से विषय सुख की इच्छा ही नहीं रही, यथा—"सुमिरत रामहिं तजहि जन, तृन सम बिषय बिलास। राम प्रिया जग जननि सिय, कछु न आचरज तासु ॥" (दो० १४०), "रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करइ कि तिन्हहीं ॥" (दो० ८३)—इसका विशेष भी देखिये। पुनः वन विषम न लगा, यथा—"सिय-मन रामचरन अनुरागा। अवध सहस सम बन प्रिय लागा ॥" (दो० १३९)। आगे दो० ६६–६८ में श्रीजानकीजी के वचनों से यहाँ का भाव भी स्पष्ट हो जाता है। वह भी राजा से ही कहने के लिये है।

औरउ सबहिं सीय समुझाई। कहि-कहि बिपिन-बिपति अधिकाई ॥६॥
सचिवनारि गुरुनारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी ॥७॥
तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह बनबासू। करहु जो कहहिं ससुर-गुरु-सासू ॥८॥

दोहा—सिख सीतलि हित धुर मृदु, सुनि सीतहि न सोहानि।
सरद - चंद - चंदनि लगत, जनु चकई अकुलानि ॥७८॥

अर्थ—और सभी लोगों ने भी वन के बहुत-से दुःखों को कह-कहकर श्रीसीताजी को समझाया ॥६॥ मन्त्री (सुमन्त्रजी) की स्त्री, गुरु वसिष्ठजी की स्त्री श्रीअरुन्धतीजी एवं और भी सयानी स्त्रियाँ स्नेह के साथ कोमल वाणी से कह रही हैं ॥७॥ कि तुमको तो वनवास दिया नहीं गया। अतः, जो ससुर, गुरु और सास कहती हैं, वही करो ॥८॥ यह शीतल, हितकारी, मीठी और कोमल शिक्षा सुनकर श्रीसीताजी को अच्छी नहीं लगी। मानों शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की (शीतल) चाँदनी लगते ही चकई व्याकुल हो गई हो ॥७८॥

विशेष—(१) 'औरउ सबहिं सीय···'—जब राजा के समझाने में न डरीं, तब औरों ने भी वन की विपत्ति कही और अधिक कहकर समझाया। राजा ने सुनाया-भर था, औरों ने उसे समझा-समझाकर कहा। सास आदि का सुख राजा ने ही समझाकर कहा था, इससे इन्होंने उसे न समझाया।

(२) 'सचिवनारि गुरुनारि···'—उन स्त्रियों के समझाने का प्रभाव न पड़ा। तब मन्त्री की स्त्री और गुरु-पत्नी आदि बड़ी-बूढ़ी समझाने लगीं, जिनका विशेष दबाव है। 'सहित सनेह'—'मृदु बानी'—अर्थात् हृदय से स्नेह है और बाहर से मृदुवाणी है।

(३) 'तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह ···'—श्रीरामजी को माता-पिता ने वनवास दिया है तो वे आज्ञा मानकर वन को जाते हैं। वे ही तुम्हारे ससुर आदि तुम्हें घर रहने की आज्ञा देते हैं तो पति की तरह तुम भी आज्ञा का पालन करो। 'गुरु'—हम सब तुम्हारे गुरु वर्ग में हैं। ससुर और सास के मध्य में गुरु को कहकर उक्त कथन को गुरु-सम्मत जनाया।

(४) 'सिख सीतलि हित मधुर मृदु···'—चाँदनी शीतल और हितकर होती है। वैसे ही इन स्त्रियों के वचन स्नेहमय हैं। अतएव मधुर हैं, मृदु वाणी से कहे गये हैं, अतएव मृदु हैं। चाँदनी अमृत-मय होती हैं, वैसे वचन भी स्नेहमय हैं। शरद ऋतु की चाँदनी के लगने से चकवी अकुला उठती है, क्योंकि उससे उसका पति से वियोग होता है। वैसे ही इन वचनों से श्रीजानकीजी का पति से वियोग होगा, इससे ये भी व्याकुल हुईं।

सीय सकुचबस उतर न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई ॥१॥
मुनि-पट-भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी ॥२॥
नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥३॥

सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी ने संकोच के वश होकर कुछ उत्तर नहीं दिया। ये बातें सुनकर कैकेयी तमककर (क्रोध सहित तेजी से) उठी ॥१॥ और मुनियों के वस्त्र (वलकल), भूषण (माला-मेखला आदि) और पात्र (कमंडल) ले आकर श्रीरामजी के आगे रख दिये और उनसे वह कोमल वाणी से बोली ॥२॥ हे रघुवीर! तुम राजा को प्राणों के समान प्यारे हो, इसलिये ये कादर लोग शील और स्नेह नहीं छोड़ेंगे ॥३॥ चाहे पुण्य, सुन्दर यश और परलोक भले ही नष्ट हो जायँ, पर कभी भी वे तुम्हें वन जाने को नहीं कहेंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'सकुचबस उतर···'—उत्तर दे सकती हैं, पर गुरुजनों के प्रति उत्तर देने में संकोच है। 'तमकि उठी कैकेई'—राजा ने श्रीरामजी के रखने के लिये बहुत-से उपाय किये। उसपर श्रीरामजी ने भी कुछ उत्तर न दिया था—'लखी राम रुख रहत न जाने।' वैसे ही श्रीजानकीजी ने भी सबके कहने पर उत्तर न दिया। इसपर कैकेयी ने समझा कि ये सबलोगों के कहने-सुनने पर घर रहना चाहते हैं, वन जाने की इच्छा नहीं है। इसपर क्रोध से भरकर तेजी से उठी। 'मुनि-पट-भूषन···'—यह सब लाकर रख दिया कि ये तपस्वी वेष बना लें तो वन जाने का निश्चय हो जाय। उसने ऐसा ही वर भी माँगा था कि मेरे सामने मुनि वेष करके जायँ—"होत प्रात मुनि बेष···" (दो० ३३), राजाओं के यहाँ सब वस्तुएँ रहती हैं। 'बोली मृदु बानी'—कोमल वाणी से कहती है कि जिसमें प्रसन्न होकर वन को चल दें, क्योंकि कैकेयी का बल वचनबद्ध होने के कारण राजा ही पर है। श्रीरामजी यदि न जाना चाहें तो इनपर उसका बल नहीं है।

(२) 'नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह···'—'प्रान-प्रिय'—राजा के प्राण चाहे चले जायँ, पर वे तुम्हें वन जाने को न कहेंगे, क्योंकि तुम उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। 'रघुबीर' अर्थात् तुम तो धर्म में वीर हो। अतः, धर्माचरण करो। राजा तो 'भीरा' अर्थात् धर्म में कादर हैं, इससे वे पुत्र का शील-स्नेह नहीं छोड़ सकते।

(३) 'सुकृत सुजस परलोक '—अर्थात् राजा तुम्हें वन भेजना नहीं चाहते। इसके कारण उनके सुकृत, सुयश और परलोक नष्ट हो जायँगे, यह भी उन्हें स्वीकार है, यथा—"अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ॥·····लोचन ओट राम जनि होहीं॥" (दो० ४४), तात्पर्य यह कि राजा को तुम्हीं प्रिय हो, सुकृत आदि नहीं। अतः, तुम स्वयं यदि वन को चले जाओ, तभी राजा के सुकृत, सुयश आदि बच सकते हैं।

अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुख पावा ॥५॥
भूपहि बचन बान-सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे ॥६॥
लोग बिकल मुरछित नरनाहू। काह करिय कछु सूझ न काहू ॥७॥
राम तुरत मुनिबेष बनाई। चले जनक जननी सिर नाई ॥८॥

दोहा—सजि बन-साज-समाज सब, बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले करि सबहिं अचेत ॥७९॥

शब्दार्थ—पयान (प्रस्थान) = जाना, गमन। साज-समाज = सामान सामग्री।

अर्थ—ऐसा विचार कर वही करो, जो तुम्हें अच्छा लगे, माता कैकेयीजी की शिक्षा सुनकर श्रीरामजी ने सुख पाया ॥ ५ ॥ (कैकेयी के) वचन राजा को बाण के समान लगे, (वे हृदय में कहते हैं कि)

अभागे प्राण अब भी नहीं जाते ॥६॥ लोग व्याकुल हैं और राजा मूर्च्छित हैं। क्या किया जाय, यह किसीको नहीं सूझता ॥७॥ श्रीरामजी तुरत मुनियों का-सा वेष बनाकर और पिता-माता को प्रणाम करके चल दिये ॥८॥ वन का सब सामान (खंती, खोंची, कुल्हाड़ी आदि) धारण कर स्त्री और भाई के साथ प्रभु श्रीरामजी ब्राह्मण और गुरु के चरणों की वन्दना कर सबको अचेत छोड़ करके चले ॥७६॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि सोइ करहु ·'—राजा तुम्हारे लिये सुकृत आदि का नाश कर रहे हैं। अब तुम्हारे हाथ की बात है। चाहे रक्खो और चाहे उनका नाश होने दो। 'सिय सुनि सुख पावा'—श्रीरामजी को हाथ पकड़ कर बैठा लिया था। अतः, वे शील तोड़कर कैसे जाते, संकोच में थे। कैकेयी ने मुनि वेष की वस्तु ला दी और वचनों द्वारा धर्मों का उपदेश करके जाने का भी योग लगा दिया, इसीसे श्रीरामजी ने सुख पाया।

(२) 'भूपहि बचन बान-सम···'—इस तरह के आघात पर भी प्राण नहीं निकलते। अतः, वियोग दुःख भी सहेंगे, इसीसे अभागे हैं, यथा—"ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान। तौ प्रभु बिषम बियोग दुख, सहिहैं पामर प्रान ॥" (दो० ६७)।

(३) 'लोग बिकल मुरछित···'—सब व्याकुल हैं, यही कहते हैं कि क्या करें? कुछ उपाय नहीं सूझता, वे रानी, राजा और श्रीरामजी, इनमें किसीका मत फेरने का उपाय नहीं पाते। राजा मूर्च्छित हैं। ऊपर कहा गया—'भूपहि बचन बान सम लागे।' बाण लगने से मूर्च्छा होती ही है।

(४) 'राम तुरत मुनिबेष···'—'तुरत' से माताजी के वचन पालने में श्रद्धा दिखाई। माता-पिता को प्रणाम करके चले। यह आपका स्वभाव ही है, यथा—"प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातु-पिता गुरु नावहिं माथा ॥" (बा० दो० २०४)। और यह भी भाव है कि वनवास के कारण हृदय में दुःख नहीं है। यह प्रणाम वन-यात्रा का मंगलाचरण भी है।

(५) 'सजि बन-साज-समाज···'—ऊपर मुनि वेष धारण में वलकल वस्त्र आदि आ गये। यहाँ 'साज-समाज' से खंती, खोंची, कुल्हाड़ी, पेटी, अस्त्र-शस्त्र, कवच, तरकस लेने का अर्थ है, यथा—"खनित्र-पिटके चोभे समानयत गच्छत।" (वाल्मी० २।३७।५), "तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च। रथोपस्थे प्रविन्यस्य स चर्म कठिनं च यत् ॥" (वाल्मी० २।४०।१५), 'बंदि बिप्र गुरु चरन···'—प्रथम कहा गया—"चले जनक जननी सिरनाई।" फिर यहाँ भी कहते हैं—'चले' इसका भाव यह है कि प्रथम कोप-भवन में माता-पिता को प्रणाम करके चले, तब बाहर गुरु वसिष्ठजी और विप्र-वृन्द को प्रणाम कर चले। यहाँ चौथे चरण में 'चले' में एक मात्रा अधिक हो गई, क्योंकि लोगों के साथ कवि भी विकल हैं। 'बनिता'—श्रीजानकीजी सादे वेष से ही गई थीं, यथा—"संग नारि सुकुमारि सुभग सुठि राजति बिनु भूषन नवसात।" (गी० अ० १५), जुगल बीच सुकुमारि नारि इक राजति बिनहिं सिगार।" (गी० अ० २९), शृङ्गवेरपुर में—'कनक बिंदु दुइ···' कहा गया है। वाल्मी० में स्पष्ट है, पर कुछ तापस-चिह्न भी था, यथा—"तापस बेष जनकी देखी।" (दो० २८५), यह भी कहा गया है, यथा—"तस्यास्तत्त्विप्रमागम्य रामो धर्मभृतांवरः। चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥" (वाल्मी० २।३७।१४), अर्थात् (कैकेयी के दिये हुए तापस वस्त्र श्रीजानकीजी धारण करना नहीं जानती थीं, तब) धर्मात्मा श्रीरामजी ने तुरत उनके पास जाकर रेशमी साड़ी के ऊपर उस चीर को स्वयं बाँध दिया (इसपर श्री वसिष्ठजी एवं राजा ने भी मना किया, पर पतिव्रता श्रीसीताजी ने पति वेष के अनुसार रहने के विचार से वह मुनि-वस्त्र नहीं उतारा) (वाल्मी० २।३७।३७)। इस प्रकार रेशमी वस्त्र के साथ कुछ तापस वस्त्र भी थे।

निकसि बसिष्ठद्वार भये ठाढ़े। देखे लोग बिरहदव दाढ़े ॥१॥

कहि प्रिय बचन सकल समुझाये। बिप्रबृंद रघुबीर बोलाये ॥२॥
गुरु सन कहि बरपासन दीन्हे। आदर दान बिनय बस कीन्हे ॥३॥
जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे ॥४॥

अर्थ—राज-महल से निकलकर श्री वसिष्ठजी के द्वार पर आकर खड़े हुए, उन्होंने देखा कि लोग विरह-रूपी दावाग्नि से दाढ़े (दग्ध हो रहे) हैं ॥१॥ प्यारे वचन कहकर उन्होंने सबको समझाया। फिर रघुवीर श्रीरामजी ने ब्राह्मणों की मंडली को बुलाया ॥२॥ गुरुजी से कहकर उन ब्राह्मणों को उन्होंने 'बरपासन' दिया और उनको आदर दान और विनय से वश कर लिया ॥३॥ याचकों को दान और सम्मान से सन्तुष्ट किया। पवित्र मित्रों को पावन प्रेम से अच्छी तरह सन्तुष्ट किया ॥४॥

विशेष—(१) 'निकसि बसिष्ठद्वार भये···'—देवता, गुरु आदि के स्थान से यात्रा उत्तम कही गई है, यथा—"देवगृहाद्वा गुरुसदनाद्वा स्वगृहान्मित्रकलत्रगृहाद्वा।" (मुहूर्त-चिन्तामणि)। अतः, श्रीरामजी गुरु के यहाँ से चलेंगे, यहाँ ठाढ़े हुए, क्योंकि गुरु का घर वन के तुल्य है। 'बिरहदव ···', यथा—"नगर सफल बन गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर-नारी ॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥" (दो० ८३)।

(२) 'कहि प्रिय बचन सकल···'—यहाँ प्रिय-वचन ये हैं कि मैं पिता की आज्ञा पूरी करके शीघ्र लौटूँगा। दिन जाते जान न पड़ेंगे। १४ वर्ष शीघ्र बीत जायँगे। धर्म के कारण आपलोगों से पृथक् जाना हो रहा है, क्योंकि मेरे ऐसा न करने से राजा असत्यवादी होंगे और मैं भी पिता की आज्ञा न पालन करके धर्म से च्युत हूँगा, जोकि इस कुल के लिये सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि इस कुल में सभी राजा सत्यसन्ध होते आये हैं। 'बिप्रबृंद'—ये ब्राह्मण वे हैं जो पूजापाठ के वरणी थे और वर्षाशन पाया करते थे। विद्यार्थियों एवं तपस्वियों के लिये भी वर्षाशन दिया जाता था।

(३) 'गुरु सन कहि बरपासन···'—शीघ्र जाना है, इसलिये स्वयं न देकर गुरु से कह दिया कि मेरे स्वकीय (कनकभवन के) धन से दे दिया जाय, यथा—"अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्। ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप ॥ वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः। तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥" (वाल्मी० २।३१।३५-३६), अर्थात् मैं अपना धन तपस्वी ब्राह्मणों, विद्यार्थियों और उपजीवियों को देना चाहता हूँ। 'बरपासन' (वर्ष + अशन) = वर्ष भर के लिये भोजन, पर यहाँ १४ वर्ष के लिये दिये जाने से तात्पर्य है। यात्रा में मंगल भी है—"मंगलमूल बिप्र परितोषू।" (दो० १२५)।

'आदर दान बिनय बस कीन्हे'—ब्राह्मण आदर, दान और विनय से वश होते हैं। फिर इनके वश होने से त्रिदेव वश हो जाते हैं, यथा—"जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा ॥' (बा० दो० १६४)।

(४) 'जाचक दान मान···'—मान बिना दान व्यर्थ है। अतः, मान के साथ दिया।

'मीत पुनीत···'—'पुनीत' शब्द दीपदेहली है। पवित्र (निश्छल) मित्र द्रव्य आदि नहीं चाहते। इसलिये उन्हें शुद्ध प्रेम से सन्तुष्ट किया।

दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरुहिं सौंपि बोले कर जोरी ॥५॥
सब कै सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं ॥६॥
बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत राम सब सन मृदु बानी ॥७॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रहइ भुआल सुखारी ॥८॥

दोहा—मातु सकल मोरे बिरह, जेहि न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब, पुरजन परम प्रबीन ॥८०॥

अर्थ—फिर अपनी दासियों और दासों को बुलाकर उनको गुरुजी को सौंपकर हाथ जोड़े हुए बोले ॥५॥ हे गोसाईं! आप इन सबका पालन-पोषण (सार-सँभार=देख-रेख) माता-पिता की नाईं कीजियेगा ॥६॥ श्रीरामजी बार-बार दोनों हाथ जोड़कर सबसे कोमल वाणी से कहने लगे ॥७॥ कि सब प्रकार से मेरा हितैषी वही है जिससे राजा सुखपूर्वक रहें ॥८॥ जिससे मेरी सब माताएँ मेरे विरह में दुःख से दीन न हों, हे परम चतुर पुरजनो! तुम सब वही उपाय करना ॥८०॥

विशेष—(१) 'दासी दास बोलाइ ···'—दासी-दास श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (उ० दो० १५), इसलिये उन्हें बुलाया और तब गुरुजी को सौंपा, इससे उन्हें सम्मान और सन्तोष दिया। राजा शोक से विह्वल हैं। अतः, इस समय राज्य-कार्य गुरुजी के ही हाथ में है, इसलिये उन्हें ही सौंपा—'सब कै सार सँभार···' अर्थात् ये सेवक घर के हैं। कहीं जाने के नहीं। अतः, आप इनकी देख-भाल रखियेगा। गुरुजी से कहना है। अतः, हाथ जोड़कर कहा है।

[ये दासी-दास वे हैं जो श्रीजनकपुर से दायज में आये और जो श्रीकौसल्याजी के नैहर के थे।]

'जनक जननी की नाईं'—क्योंकि श्रीरामजी स्वयं भी इन्हें माता-पिता के तुल्य पाते आये हैं। यह सूचित हुआ।

(२) 'बारहिं बार जोरि जुग ···'—श्रीरामजी जानते हैं कि राजा हमारे विरह में अत्यन्त दुःखी हैं। इसलिये पुरजनों से बार-बार निहोरा करते हैं कि जिससे वे प्रवीणता-पूर्वक समझाते रहें। इस युक्ति से पुरजनों को भी समझा रहे हैं कि वे स्वयं निःशोच होकर राजा को समझाते रहें। इस तरह राजा को समझाने के लिये गुरुजी से न कहा, क्योंकि गुरुजी सर्वज्ञ हैं, कहीं ध्यान-द्वारा भविष्य जान गये हों और कह दें कि राजा तो जियेंगे ही नहीं, कोई क्या समझावेगा?

(३) 'सोइ सब भाँति ···'—जो राजा का हित करेगा उसे मैं अपना ही हित मानूँगा। 'भुआल' उनके सुखी रहने से पृथ्वी-भर के लोग सुखी रहेंगे, क्योंकि सबका पालन करेंगे। 'जेहि ते'—ऊँच-नीच कोई भी क्यों न हो।

(४) 'मातु सकल मोरे बिरह···'—सब माताएँ श्रीरामजी को समान प्रिय हैं, यथा—"कौसल्यादि सकल महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी ॥" (दो० १४)। अतः, 'सकल' कहा है। 'सोइ' अर्थात् जिस तरह बने, तुम सब परम प्रवीण हो, इससे जानते हो, देश-काल एवं परिस्थिति के अनुसार उपाय करना।

येहि बिधि राम सबहिं समुझावा। गुरु-पद-पदुम हरषि सिर नावा ॥१॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई ॥२॥
राम चलत अति भयेउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरतनादू ॥३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष-बिषाद-बिबस सुरलोकू ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने इस प्रकार सबको समझाया और गुरुजी के चरणकमलों में हर्षपूर्वक सिर नवाया ॥१॥ श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी और कैलासगिरि के स्वामी श्रीशिवजी की वन्दना करके और (गुरुजी की) आशिष पाकर श्रीरघुनाथजी चले ॥२॥ श्रीरामजी के चलते ही बड़ा भारी दुःख आहु।

नगर-भर का आर्त्तस्वर (रोने का शब्द) सुना नहीं जाता ॥३॥ लंका में अपशकुन होने लगा और श्री अवध में अत्यन्त शोक छा गया तथा देवलोक हर्ष और विषाद के विशेष वश में हो गया ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राम सबहिं समुझावा ।'—'सब' को समझाना एक साथ ऐश्वर्य दृष्टि से ही बनता है । इसलिये 'राम' शब्द दिया गया । इसका उपक्रम—"कहि प्रिय बचन सकल समुझाये ।' (दो० ७९), और यहाँ—'येहि बिधि राम ···' उपसंहार है ।

(२) 'गुरु-पद-पदुम हरषि···'—'पदुम'—गुरुजनों के चरणों को कमल से उपमित करने की रीति है । 'हरषि'—गुरुजी को प्रणाम करते हुए हर्ष एवं पुलक होना ही चाहिये, यथा—"रामहि सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय । तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२) । हर्ष कर चलना शकुन भी है, यथा—"हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥" (मु० दो० ३४), "होइहि काज मोहि हरष बिसेषी ।" सुं० दो० ×—इसका विशेष देखिये ।

(३) 'गनपति गौरि गिरीस मनाई ।'—विघ्न निवारण करने के लिये गणेशजी को मनाया । शत्रु-विनाश-हेतु दुर्गा (गौरी) को, यथा—"दुरगा कोटि अमित अरिमर्दन ।" (उ० दो० ९०), रण में स्थिरता और शत्रु पर विजय-प्राप्ति के लिये गिरीश को मनाया । श्रीराम, लक्ष्मण और जानकीजी इन तीन की यात्रा में वैसे ही सम्बन्ध युक्त तीन को मनाया । यात्रा में प्रायः इनके मनाने की रीति भी है । वही दिखाया है, अन्यथा प्रभु स्वयं इनके भाग्य-विधाता हैं । 'चले असीस पाइ ···' गुरुजी ने प्रत्यक्ष आशिष दी और देवताओं ने परोक्ष । इन सबको मनाकर चलने से माधुर्य का नाम 'रघुराई' दिया गया । चलने के सम्बन्ध में प्रायः 'रघुराई' नाम दिया गया है, क्योंकि—'रघि गतौ' धातु के अनुसार 'रंघति गच्छतीति रघुः' शब्द का मेल है ।

(४) 'राम चलत अति···'—विषाद तो प्रथम से ही था, अब 'अति' हो गया । इसीसे बड़े जोर से सब रो रहे हैं । वह आर्त-स्वर सुना नहीं जाता, करुणा छा गई है । सब त्याग कर चल दिये, यथा—"राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं ॥" (क० अ० १) ।

(५) 'कुसगुन लंक अवध···हरष-बिषाद ···'—यहाँ यथासंख्य अलंकार की रीति से अर्थ है । लंका में अशकुन हुए, इससे देवताओं को हर्ष हुआ, क्योंकि इससे राक्षसों का नाश, अपना बन्दीखाने से छूटना निश्चय हुआ । अवध में अत्यन्त शोक हुआ । इससे उन्हें विषाद हुआ, क्योंकि इन निर्दोष प्रजाओं को दुःख देने के कारण वे ही हैं । अतः, यह अत्यन्त शोक देखकर स्वार्थान्ध देव भी दुखी हो गये ।

गइ मुरछा तब भूपति जागे । बोलि सुमंत्र कहन अस लागे ॥५॥
राम चले बन प्रान न जाहीं । केहि सुख लागि रहत तनु माहीं ॥६॥
येहि ते कवन ब्यथा बलवाना । जो दुख पाइ तजिहि तनु प्राना ॥७॥
पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू । लेइ रथ संग सखा तुम्ह जाहू ॥८॥

दोहा—सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि ।
रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि ॥८१॥

अर्थ—जब मूर्च्छा दूर हुई तब राजा दशरथ जगे (सचेत हुए) और सुमन्त्रजी को बुलाकर ऐसा कहने लगे ॥५॥ श्रीरामजी बन को चल दिये, पर मेरे प्राण नहीं जा रहे हैं । ये किस सुख के लिये शरीर में रह रहे हैं ? ॥६॥ इससे अधिक प्रबल कौन-सी पीड़ा होगी कि जिसे पाकर शरीर प्राणों को छोड़ेगा ॥७॥ राजा ने फिर धैर्य धरकर कहा कि हे सखा ! तुम रथ को लेकर (रामजी के) साथ जाओ

॥८॥ दोनों कुमार अत्यन्त सुकुमार हैं और जानकीजी भी अत्यन्त ही सुकुमारी हैं। अतः, रथ में चढ़ाकर ले जाओ, वन दिखलाकर चार दिन बीतते ही लौट आना ॥८१॥

विशेष—(१) 'गइ मुरछा तब···'—कैकेयी ने जब मुनि-पट आदि लाकर श्रीरामजी को दिया था। राजा तभी मूर्च्छित हो गये थे—"लोग बिकल मुरछित नरनाहू।" कहा गया था, वह मूर्च्छा अब छूटी। यहाँ धैर्य धरने से चेतनता हुई। यह आगे 'पुनि धरि धीर कहइ' से स्पष्ट है कि प्रथम भी धैर्य धरना हुआ है।

(२) 'राम चले बन प्रान···'—'राम' के वन जाने के साथ प्राणों को निकल जाना था. यथा—"राम लखन सिय बनहिं सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये॥" (दो० १६५)। पर मूर्च्छा होने पर भी नहीं गये। प्राण सुख के लोभ से शरीर में रहते हैं, अब इन्हें कौन-सा सुख है जिसके लिये ठहरे हुए हैं। सुख-स्वरूप तो रामजी हैं, वे चले ही गये।

(३) 'येहि ते कवन ब्यथा···'—दुःख से प्राण निकलते हैं, सो राम-वियोग से अधिक कौन-सी पीड़ा होगी, जिसपर प्राण निकलेंगे, यथा—"सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥" (दो० ४४)।

(४) 'पुनि धरि धीर कहइ··'—'नरनाह' हैं, बड़े-बड़े आघात भी सहनेवाले हैं, अतएव धैर्य धारण किया। सामान्य व्यक्ति ऐसा धैर्य नहीं धर सकता। 'सखा तुम्ह जाहू'—'सहायं ख्यातीति सखा' अर्थात् तुम सखा हो हमारी सहायता करो। तुम स्वयं जाओ, क्योंकि आगे कहा हुआ कार्य समझाना-बुझाना तुम्हींसे अच्छा होगा। अथवा सखा हो। अतः, प्राण-समान हो, प्राण न गये तो बदले में तुम्हीं साथ जाओ।

(५) 'सुठि सुकुमार कुमार···'—अत्यन्त सुकुमार हैं, पैदल चलने के योग्य नहीं हैं। अतः, रथ पर चढ़ाकर ले जाओ। वन में रहने योग्य नहीं हैं, अतएव वन दिखलाकर लौटा लाओ। 'दिन चारि' अल्पकाल का वाचक है, यथा—"यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी॥" (सुं० दो० १०), अर्थात् शीघ्र लौटा लाओ। भाव यह कि मार्ग में धूप, बयारि और भूख-प्यास से दुःखित हो लौट आवेंगे।

जौ नहिं फिरहि धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥१॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिय प्रभु मिथिलेस-किसोरी॥२॥
जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोर सिख अवसर पाई॥३॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू। पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू॥४॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥५॥

अर्थ—दोनों भाई धैर्यवान् हैं और श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ एवं व्रत-धारण में दृढ़ हैं, अतएव यदि वे न फिरें॥१॥ तो तुम हाथ जोड़कर प्रार्थना करना कि हे प्रभो! जानकीजी को लौटा दीजिये॥२॥ जब सीताजी वन देखकर डरें तब अवसर पाकर मेरी यह शिक्षा उनसे कहना॥३॥ कि सास और ससुर ने ऐसा सन्देशा कहा है कि हे पुत्री! घर लौट चलिये, क्योंकि वन में बहुत क्लेश होते हैं॥४॥ कभी पिता के घर और कभी ससुर के घर में जब जहाँ तुम्हारी रुचि हो वहीं रहना॥५॥

विशेष—(१) 'जौ नहिं फिरहिं धीर···'—'धीर' दोनों भाई विषय त्यागने में और वन के क्लेश सहने में धीर हैं, क्योंकि एक बार विश्वामित्र के साथ पैदल यात्रा कर चुके हैं और रण शूरता आदि भी उनकी प्रकट हो चुकी है। 'सत्यसंध'—श्रीरामजी सत्य-प्रतिज्ञ हैं। कैकेयी के सामने वनवास की प्रतिज्ञा कर चुके और 'दृढ़व्रत' हैं, मुनि-वेष और वृत्ति का व्रत धारण कर चुके हैं। अतः, जो वे अपनी प्रतिज्ञा

और व्रत न छोड़ें, क्योंकि 'रघुराई' हैं, रघुवंशी सभी दृढ़व्रत और सत्यप्रतिज्ञ होते आये हैं, ये तो उनमें श्रेष्ठ हैं।

(२) 'तौ तुम बिनय करेहु···'—इस तरह विनय से वे प्रसन्न होकर लौटा देंगे, क्योंकि वे ही लौटाने में 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। 'मिथिलेस-किसोरी' भाव यह कि हम मिथिलेशजी को क्या उत्तर देंगे। 'मिथिलेस' शब्द से पिता का ऐश्वर्य और 'किसोरी' से वहाँ के लाड़-दुलार का भाव है।

(३) 'जब सिय कानन देखि ·'—श्रीजानकीजी को कौसल्याजी, श्रीरामजी, राजा स्वयं, पुनः औरों ने भी वन के दुःख सुनाये। पर वे नहीं डरी थीं, किन्तु वन देखकर अवश्य डरेंगी—"चित्र लिखित कपि देखि डेराती" (दो० ५९)। तब उसी अवसर पर मेरी शिक्षा कहना, जिससे उसका धारण हो। यहाँ 'सिख', 'उपदेश' और 'संदेश' एक ही अर्थ में हैं।

(४) 'सास ससुर अस···'—सास कौसल्याजी यद्यपि उस स्थल पर नहीं हैं, तथापि राजा उनकी तरफ से कहते हैं। इसलिये कि जानकीजी कौसल्याजी को बहुत मानती हैं। उनकी आज्ञा सुनकर अवश्य लौटेंगी। (कौसल्याजी यह क्यों न चाहेंगी, यह राजा जानते ही हैं)। 'पुत्रि' शब्द का भाव भी पुत्र-शब्द के समान नरक से बचाने का है, अर्थात् तुम्हारे लौटने से हम सब नरक का-सा दुःख भोगने से बचेंगे, यथा—"तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुर पुर नरक समान ॥" (दो० ६४), 'बन बहुत कलेसू'—अभी तो वन का प्रारम्भ ही है आगे बहुत क्लेश है। 'पितु गृह कबहुँ···'—पिता का घर लड़कियों को अधिक रुचिकर होता है। इससे प्रथम कहा 'जहाँ रुचि होइ'—लड़की नैहर में माता-पिता की रुचि से विदा होती है और ससुराल में सास-ससुर की रुचि से। सो न होगा, यहाँ और वहाँ का आना-जाना तुम्हारी ही रुचि से रहेगा।

येहि बिधि करेहु उपायकदंबा। फिरइ त होइ प्रान-अवलंबा ॥६॥
नाहिं त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥७॥
अस कहि मुरछि परा महि राऊ। राम-लखन-सिय आनि देखाऊ ॥८॥

दोहा—पाइ रजायसु नाइ सिर, रथ अतिबेग बनाइ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर, सीयसहित दोउ भाइ ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार कदम्ब (बहुत-से) उपाय करना, यदि वे लौट आवें तो मेरे प्राणों को अवलम्ब हो जाय ॥६॥ नहीं तो अन्त में मेरा मरण ही निश्चित है। विधाता के विपरीत होने पर मेरा कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ ऐसा कहकर राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े (और बोले कि) श्रीरामजी, श्रीसीताजी को लाकर मुझे दिखाओ ॥८॥ राजा की आज्ञा पा सिर नवाकर सुमन्त्रजी अत्यन्त फुर्ती से एवं अत्यन्त तेज चलनेवाला रथ तैयार करके नगर के बाहर गये, जहाँ श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई थे ॥८२॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करेहु ·'—भाव यह कि हमने लक्ष्य-मात्र करा दिया, तुम इसी तरह से और भी बहुत-से उपाय करना। पुनः यह भी कि जैसे हमने रामजी के रखने के लिये बहुत उपाय किये हैं, यथा—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी ॥" (दो० ७७)। वैसे तुम श्रीसीताजी के फेरने के लिये करना।

'प्रान-अवलंबा'—श्रीसीताजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी हैं। तत्त्वतः भी उनसे अपृथक् तत्त्व हैं। यह—"गिरा अरथ जल बीचि···" (बा० दो० १८), और मनु-प्रसंग पर कहा गया है। इससे उनके आधार पर प्राण रह सकते हैं, क्योंकि हमारा जीवन राम-दर्शन के अधीन है, यथा—"जीवन राम दरस आधीना।" (दो० ३२)।

(२) 'नाहिं त मोर मरन परिनामा ।'—'नाहिं त' अर्थात् जबतक तुम न आओगे, तबतक इस आशा में हम प्राण रक्खेंगे । 'परिनामा' अर्थात् प्रतिफल-रूप में, अन्त में ।

'बिधि बामा'—जब अपने सब उपाय निष्फल हो जायँ, तब समझ लेना चाहिये कि विधि वाम हैं, अर्थात् हमारे भाग्य बुरे हैं, यथा—"बिधि करतब पर कछु न बसाई ।" (दो० २०५), "बिधि सन कछु न बसाइ" (दो० १६१), वही राजा भी कह रहे हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के रखने का बहुत उपाय कर चुके । अब यही एक और कर रहे हैं, यदि न सिद्ध न हुआ तो विधि-वामता का निश्चय कर लेंगे ।

(३) 'अस कहि मुरछि परा···'—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर से निराशा तो थी ही, यथा—"जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई । सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई ॥" (दो० ८१), श्रीरामजी सत्यसन्ध और दृढ़व्रत हैं और लक्ष्मणजी उनकी सेवा में दृढ़ नैष्ठिक हैं । श्रीजानकीजी के लौटने में भी उक्त विधि-वामता की कल्पना आ गई । अतः, निराश होकर यह कहते हुए मूर्च्छित हो गये कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मण-जी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ । जैसा—"रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि ।" पर कह चुके हैं । 'अस कहि' शब्द आगे और पीछे दोनों के साथ लग सकता है । 'सिय' शब्द को अन्त में करके 'आनि देखाऊ' के साथ रक्खा है, क्योंकि इनके लौटने की विशेष आशा है । 'गइ मुरुछा तब भूपति जागे ।···' उपक्रम है और यहाँ 'अस कहि मुरछि ' ' उपसंहार है ।

'रथ अति बेग'—अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर तथा सुमन्त्रजी को भी रुचि थी कि रथ पर चलें, राजा की आज्ञा पाते ही शीघ्र ही रथ तैयार करके लाये ।

तब सुमंत्र नृपबचन सुनाये । करि बिनती रथ राम चढ़ाये ॥१॥
चढ़ि रथ सीयसहित दोउ भाई । चले हृदय अवधहि सिर नाई ॥२॥
चलत राम लखि अवध अनाथा । बिकल लोग सब लागे साथा ॥३॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं । फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं ॥४॥
लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ कालराति अँधियारी ॥५॥

अर्थ—तब सुमन्त्रजी ने राजा के वचन ('रथ चढ़ाइ दिखराइ बन···') सुनाये और प्रार्थना करके उन्होंने श्रीरामजी को रथ पर चढ़ाया ॥१॥ श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई रथ पर चढ़कर और मन में अयोध्यापुरी को प्रणाम करके चले ॥२॥ श्रीरामजी के चलते ही अयोध्या को अनाथ हुई देखकर सब लोग व्याकुल होकर श्रीरामजी के साथ चले ॥३॥ कृपा के सागर श्रीरामजी बहुत प्रकार से समझाते हैं, उसपर वे लौटकर अयोध्या की ओर चलते हैं, पर प्रेम-वश फिर लौट पड़ते हैं ॥४॥ अयोध्यापुरी भारी डरावनी लगती है, मानों वह अँधेरी कालरात्रि है ॥५॥

विशेष—(१) 'तब सुमंत्र नृप···'—केवल सुमन्त्रजी के कहने से रथ पर न चढ़ते, इसलिये राजा की आज्ञा सुनाई । फिर भी सुमन्त्रजी को बहुत विनती करनी पड़ी, सम्भवतः विशेष उदासी व्रत का संकोच था । रथ पर प्रथम श्रीजानकीजी चढ़ीं, तब श्रीरामजी और फिर पीछे श्रीलक्ष्मणजी भी चढ़े, यथा—"राम सखा तब नाव मँगाई । प्रिया-चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥ लखन बान धनु···आप चढ़े···(दो० १५०), अर्थात् ऐसी ही रीति है । 'हृदय अवधहि सिर नाई'—अयोध्यापुरी सप्त पुरियों में श्रेष्ठ है । पुनः इनके पूर्वज महात्मा राजाओं की राजधानी है, इसीसे इसे प्रणाम करके चले । हृदय से प्रणाम किया, इससे श्रद्धा एवं प्रीति दिखाई । बाहर से प्रणाम करने पर दुष्ट लोग यह भी कह सकते थे कि इन्हें बड़ा मोह है, इससे अयोध्या छोड़ी नहीं जाती । हाँ, वनवास-पूर्त्ति पर बाहर से भी प्रणाम करेंगे—"सीता सहित अवध कहँ, कीन्ह कृपाल प्रनाम ।" (दो० १२०) । वाल्मी० २।५०।१-३ में इसी प्रसंग पर प्रकट ही प्रणाम करना कहा गया है ।

(२) 'चढ़ि रथ सीयसहित···'—यह अर्द्धाली यात्रा में मंगलकारक-मन्त्र-रूपिणी है।

(३) 'चलत राम लखि अवध···'—ऊपर श्रीरामजी का अवध को प्रणाम करना कहा गया, इसपर सन्देह होता कि अयोध्या का नाथ कोई और परात्पर होगा। उसका समाधान इस अर्द्धाली से करते हैं कि अवध के नाथ आप ही हैं, बिना आपके वह अनाथ हो रही है। जैसा आगे प्रकट है—"लागति अवध भयावनि भारी।····" इत्यादि।

(४) कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं···'—'कृपासिंधु' पुरवासियों पर कृपा है, इसीसे समझाते हैं, क्योंकि उनको साथ जाने में बड़ा दुःख होगा। समझाते हैं कि राजा तो बने ही हैं, आपलोगों का पूर्ववत् पालन करेंगे, फिर भरतजी भी धर्मात्मा हैं, वे आकर अच्छी तरह आपलोगों का सार-सँभार रक्खेंगे। हम पिता की आज्ञा पूरी कर शीघ्र ही आ जायँगे। १४ वर्ष शीघ्र ही बीत जायँगे। अब आप लौट जायँ, चलने से व्यर्थ ही बहुत कष्ट झेल रहे हैं, इत्यादि।

(५) 'लागति अवध भयावनि···'—पुरजन श्रीरामजी के समझाने पर उनकी आज्ञा मानकर लौट तो पड़ते हैं, पर फिर उधर ही को फिर जाते हैं। इसका एक कारण तो यह बतलाया कि वे सब प्रेमवश फिरते हैं। दूसरा यहाँ से कह रहे हैं कि उन्हें अयोध्या भयावनी लगती है जैसे अँधेरी काल रात्रि हो। अँधेरी रात यों ही भयानक होती है, इसमें तो काल भी वर्तमान है। भाव यह कि सब श्रीरामजी के बिना मृत तुल्य हो रहे हैं। किसीको कुछ सूझता नहीं है, तथा—चन्द्रहीनमिवाकाशं तोय-हीनमिवार्णवम्। अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥" (वाल्मी० २।४७।१८), अर्थात् चन्द्रहीन आकाश अथवा जलहीन समुद्र की भाँति वे लोग आनन्दशून्य नगरी को देख अचेत से हो गये। एवं—"तिमिरेणाभिलिप्तेव सा तदा नगरी बभौ॥३४॥·····अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम्॥३५॥" (वाल्मी० २।४८), अर्थात् सारी नगरी में अँधेरा छा गया (किसीके घर में दीपक नहीं जलते थे)।····जिस प्रकार तारागण से हीन आकाश शोभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या शोभाहीन हो गई। कैकेयी की सखियों ने कहा है—"जिमि भानु दिन···तिमि अवध···प्रभु बिनु···" वह यहाँ चरितार्थ है। अयोध्या इनके लिये कालरात्रि नहीं है। पर ये स्वयं उसे कालरात्रि के समान देखकर डर रहे हैं। इसलिये 'मानहुँ' कहा गया है। जहाँ यथार्थ कालरात्रि होती है। वहाँ 'मानहुँ' नहीं कहते, यथा—"कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३९), अर्थात् श्रीसीताजी निशाचरों का नाश करके ही लौटेंगी। 'कालराति'=प्रलय की रात, मृत्यु की रात।

घोर जंतुसम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥६॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥७॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥८॥

दोहा—हय गय कोटिन्ह केलिमृग, पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥८३॥

रामबियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥१॥

शब्दार्थ—रथांग=रथ का अंग=चक्र। इससे यहाँ चक्रवाक का अर्थ लिया गया है।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष डरावने जन्तुओं (क्रूर जीवों) के समान लगते हैं। वे एक दूसरे को देख-देख कर डरते हैं॥६॥ उनके घर मरघट और कुटुम्बी लोग मानों भूत हैं। पुत्र, हितैषी और मित्र मानों यमराज के दूत हैं॥७॥ बगीचों में वृक्ष समूह और बेलें कुम्हला रही हैं। नदी और सरोवर तो देखे नहीं जाते॥८॥ घोड़े, हाथी, क्रीड़ा के पशु, नगर के पशु (गाय, भैंस आदि), पपीहा, मोर, कोयल,

चकवा, तोता, मैना, सारस, हंस और चकोर आदि करोड़ों जीव ॥८३॥ सब श्रीरामजी के वियोग में व्याकुल खड़े हैं, मानों जहाँ-तहाँ लिखित चित्र कढ़े हुए हैं, अर्थात् ये सब चलते-फिरते नहीं ॥१॥

विशेष—(१) 'घोर जंतुसम पुर-नर···'—पुर की भयानकता कहकर पुर-जनों की कहते हैं कि कालरात्रि-रूपिणी अयोध्या के नर-नारी ही घोर जन्तु (बाघ-सिंह, सर्प आदि) हैं। एक दूसरे से डरते हैं। आगे घर का हाल भी कहते हैं। अयोध्या को 'भारी' भयानक कहा था। वैसे ही वहाँ के नर-नारी को 'घोर' जन्तु-सम कहते हैं। प्रलय की रात्रि के समय बहुत-से मरघट चाहिये, वैसे ही लाखों घर ही लाखों मरघट हैं। मरघटों में भूत रहते हैं, वैसे यहाँ कुटुम्बी लोग भूत के समान भयानक हैं। यमदूत जीवों को पकड़कर यमपुरी को ले जाते हैं। वैसे ये लोग भी पकड़कर अयोध्या ले जायँगे, तब श्रीरामजी से हमारा वियोग होगा, यह समझकर उन्हें देखते हुए डरते हैं।

यहाँ तक जंगम की दशा कही, आगे स्थावर की कहते हैं —

(२) 'बागन्ह बिटप बेलि '—श्रीरामजी चराचर के आत्मा हैं। अतएव सबको प्रिय हैं—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५), इसीसे इनके वियोग में सभी विकल हो रहे हैं। चेतनों में स्त्री-पुरुष कहे गये, वैसे जड़ों में भी कहते हैं। बेलि स्त्री और बिटप पुरुष हैं, विरहाग्नि से मुरझा गये हैं। नदी-तालाबों के जल गर्म हो गये हैं, यथा—"विषये ते महाराज महाव्यसन-कर्शिताः। अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पांकुरकोरकाः ॥ उपतप्तोदका नद्यः पल्लवानि सरांसि च। परिशुष्क-पलाशानि वनान्युपवनानि च ॥" (वाल्मी० २।५९।४-५), इत्यादि बहुत कहा है।

(३) 'हय गय कोटिन्ह केलिमृग···'—पहले बाग, नदी, तालाब आदि कहकर तब हय-गय आदि कहे गये, क्योंकि हाथी, घोड़े आदि पशु नदी-तालाबों में जल पीने आते हैं और पक्षिगण बागों में आते हैं। यहाँ तक तीन कोटि के जीव कहे गये—१. नर-नारी, चैतन्य, २. बिटप बेलि, जड़ और ३. पशु-पक्षी न केवल जड़ और न केवल चैतन्य ही हैं।

(४) 'रामवियोग बिकल सब ···'—सब जड़ के समान हो रहे हैं। चित्र की तरह हिलते-डोलते नहीं, तात्पर्य यह कि जब जड़ों की यह दशा है तो मनुष्यों की दशा का क्या कहना, यथा—"जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहि कैसे ॥' (दो० ९९)। ये सब श्रीरामजी के उपासक हैं, यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं (वि० २३१), तथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥" (कि० दो० २६), "रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते ॥" (बा० दो० १७)। इससे ये वियोग में व्याकुल हो रहे हैं।

नगर सफल बन गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नरनारी ॥२॥
बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥३॥
सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी ॥४॥
सबहिं बिचार कीन्ह मन माहीं। राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—गहबर = सघन, गुफा, कुंज यथा—"गह्वरस्तु गुहाद्यम्भनिकुञ्जगहनेष्वपीति विश्वः"।

अर्थ—सारा नगर ही (मानों) फल से लदा हुआ भारी सघन वन है। समस्त स्त्री-पुरुष उस वन के बहुत-से पशु-पक्षी हैं ॥२॥ विधाता ने (इस वन को जलाने के लिये) कैकेयी को भीलनी बनाया, जिसने दशो दिशाओं में दुःसह (दुःख से न सही जानेवाली) वनाग्नि लगा दी ॥३॥ सब लोग रघुकुल के श्रेष्ठ श्रीरामजी की विरहाग्नि को न सह सके। अतः, वे व्याकुल होकर भाग चले ॥४॥ सभी ने मन में विचार कर लिया कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के बिना सुख नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'नगर सकल गहवर···'—नगर भारी है। लम्बा ४८ और चौड़ा १२ कोश है। अतः, 'भारी' वन कहा गया। [illegible] वन बस्ती होने से गह्वर कहा गया। नगर सब पदार्थों से पूर्ण है और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष भी देता है, इससे 'सफल' कहा गया। ऐसे भारी वन में आग लगी है तो १४ वर्ष पर बुझेगी भी, यथा—"मिटै कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहिं आन उपाये॥" (दो० २११), सघन-सफल और भारी वन में पक्षियों और पशुओं को बहुत आराम रहता है, इसीसे रहते हैं। वैसे यहाँ नर-नारी भी सुख-सम्पन्न रहते थे। श्रीरामजी के बिना नगर वन के समान है, इसलिये वन का रूपक बाँधा है।

(२) 'बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं।···'—कैकेयी स्वभावतः ऐसी नहीं थी, वह तो श्रीरामजी को बहुत चाहती थी—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (दो० १४), ब्रह्माजी सरस्वती के द्वारा उसे निष्ठुर किरातिनी बना दिया, यथा—"तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूरि।" (दो० २०६), वन में आग लगाना किरातिनी का काम है। 'दसहुँ दिसि'—चार दिशाएँ, चार उपदिशाएँ और नीचे-ऊपर, ये दश दिशाएँ हैं। वृक्षों में जड़-फुनगी लेने से दश दिशाएँ होती है। वैसे ही नगर की आठो दिशाओं में ऊँचे महलों में और नीचे सभी विरहाग्नि में जल रहे हैं।

(३) 'रघुबर-बिरहागी'—न सह सकने से सब लोग खग-मृग की तरह भाग चले। पुरवासी बहुत हैं। इसलिये खग-मृग की तरह भागना कहा गया।

(४) 'राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं।', यथा—'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।" (दो० २९०), श्रीरामजी सब सुखों के धाम हैं—"सो सुख धाम राम" (बा० दो० १९६)।

जहाँ राम तहँ सबइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥६॥
चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई। सुरदुर्लभ सुखसदन बिहाई॥७॥
राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहि कि तिन्हहीं॥८॥

दोहा—बालक बृद्ध बिहाय गृह, लगे लोग सब साथ।
तमसा-तीर निवास किय, प्रथम दिवस रघुनाथ॥८४॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामजी रहेंगे, वहीं सारा समाज भी रहेगा। रघुवीर के बिना अयोध्या में रहने का कोई काम नहीं है॥६॥ ऐसा सम्मत पक्का करके वे देवों के भी दुर्लभ सुख को और ऐसे सुखवाले घरों को छोड़कर (श्रीरामजी के) साथ चल दिये॥७॥ श्रीरामजी के चरण कमल जिनको प्यारे हैं, उन्हें विषय-भोग क्या अपने वश कर सकता है?॥८॥ घर में बच्चों-बूढ़ों को छोड़कर (समर्थ) सभी लोग साथ लग गये। श्रीरघुनाथजी ने पहले दिन तमसा नदी के तट पर निवास किया॥८४॥

विशेष—(१) 'जहाँ राम तहँ सबइ···'—ऊपर कहा—'राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं।' इसीसे कहते हैं कि सब समाज ही उन्हींके साथ रहें, क्योंकि सुख तो वहीं है और सुख ही के लिये सब कार्य किये जाते हैं तो फिर अवध में क्या कार्य है? यथा—"जौ पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥" ((दो० ७२), 'रघुबीर' अर्थात् वे दानवीर एवं दयावीर हैं, अतएव दयापूर्वक पालन करेंगे। त्याग वीर भी, यथा—"राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज···" (क० अ० २)

(२) 'चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई।···'—मन्त्र दृढ़ कर लिया, दृढ़ संगठन कर लिया। इसी समाज को आगे जहाज भी कहेंगे—"मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू।" जहाज दृढ़ चाहिये ही। 'सुर दुर्लभ सुखसदन···', यथा—"नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं॥" (बा० दो० ३५९), "नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहि न मन विषयन्हि हरे।" (गी० उ० १९ ।

(३) 'राम-चरन पंकज प्रिय ···'—कमल जैसे जल में रहते हुए निर्लिप्त रहता है, वैसे ही इन चरण-कमल के प्रेमी विषय-वारि से भिन्न रहते हैं, यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥" (आलवन्दार स्तोत्र), तथा—"सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम विषय बिलास।" (दो० १४०)।

(४) 'बालक बृद्ध बिहाय गृह···'—रथ के साथ दौड़कर चलना है, बालक और वृद्ध न पहुँच सकेंगे, इसलिये इन्हें घर में ही छोड़कर चल दिये, यथा—"चले लोग सब व्याकुल भागी।" ऊपर कहा ही है। यहाँ बालक और गृहत्याग में लोक-विभव और वृद्ध त्याग में परलोक विभव-त्याग का भाव है, क्योंकि वृद्ध-सेवा से परलोक बनता है। 'तमसा-तीर निवास···'—पैदल दौड़ते हुए लोगों का दुःख देखकर आप तमसा के ही किनारे ठहर गये। तमसा नदी अयोध्या से ६ कोस दक्खिन बहती है। यहाँ इसे मड़हा कहते हैं, १८ कोस पूर्व जाकर अकबरपुर के पास बिसुई से मिलती है। फिर इसका नाम टौंस पड़ जाता है, जो तमसा का ही अपभ्रंश है। यहाँ प्रथम दिन ठहरने का यह भी कारण हो सकता है कि ज्योतिष-मत से विदेशयात्रा में पहले दिन अपने गाँव के सिवाने में रहने की रीति है। 'प्रथम दिवस'—अर्थात् आज ही से १४ वर्ष की गिनती होगी। आज निराहार ही रह गये, जल-मात्र ही ग्रहण किया है, यथा—"न्हाइ रहे जलपान करि, सिय समेत दोउ बीर ॥" (दो० १५०), तथा—"अद्धिरेवह्नि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्। एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥" (वाल्मी० २।४६।१०)।

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदय दुख भयेउ बिसेखी ॥१॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई ॥२॥
कहि सप्रेम मृदुबचन सुहाये। बहु बिधि राम लोग समुझाये ॥३॥
किये धरम - उपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे ॥४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के दयालु हृदय में, प्रजा को प्रेम के वश में देखकर विशेष दुःख हुआ ॥१॥ गोस्वामी श्रीरघुनाथजी करुणामय हैं, इसीसे वे दूसरे की पीड़ा को शीघ्र ही पाते हैं, अर्थात् उसे पीड़ित देख स्वयं भी पीड़ित हो जाते हैं ॥२॥ श्रीरामजी ने प्रेम के साथ सुन्दर कोमल वचन कहकर लोगों को बहुत प्रकार से समझाया ॥३॥ उन्होंने बहुत-से धर्म के उपदेश किये, परन्तु प्रेम के वश होने से वे लोग लौटाने से भी नहीं लौटते थे ॥४॥

विशेष—(१) 'रघुपति प्रजा प्रेम ···'—प्रजा का प्रेम प्रकट देख पड़ता है कि वे घर के सुख छोड़कर साथ में दुःख उठाने को आतुर हैं, इसीसे 'देखी' कहा गया। इसपर श्रीरामजी को दया आ गई, क्योंकि वे प्रेमी पर दया करते हैं, यथा—"राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम।" (लं० दो० ११६), "रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६)। प्रजागण प्रजा के नाते से भी प्रिय हैं, यथा—"सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥" (दो० १७१). 'सदय हृदय'—जो दयालु होता है, वही दूसरे के दुःख में दुखी होता है। श्रीरामजी दयालु हैं, इसीसे आश्रितों के दुःख में विशेष दुखी हुए, यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुना निधान की।" (गी० सु० ११)।

(२) 'करुनामय रघुनाथ गोसाँई···'—'गोसाँई' अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी हैं, इससे सब इन्द्रियों की पीड़ा जानते हैं और करुणामय होने से द्रवीभूत हो जाते हैं। ऊपर प्रजा को अपने कारण दुखी देखकर करुणा होना कहा, उसीपर यहाँ कहा कि आप करुणामय हैं। अतः, बिना कारण ही करुणा करते हैं, यथा—"कारुनीक बिनु कारनहू हरि हरहु बिषम भव भीर।" (वि० १४४)।

(३) 'कहि सप्रेम मृदुबचन···'—प्रजागण प्रेमवश हैं, इसीसे आपने भी सप्रेम समझाया। मृदु-

वचनों से कहा, जिससे वियोग करानेवाला उपदेश कड़वा न लगे। धर्म-सम्बन्धी उपदेश है, अतएव 'सुहाये' कहा है, तथा यह भी कहा कि अभी महाराजा हैं ही, फिर श्रीभरतजी भी उत्तम शील-स्वभाव के एवं धर्मात्मा हैं। वे आपलोगों की सार-सँभार रक्खेंगे और मैं १४ वर्ष पूर्ण कर तुरत आ जाऊँगा, साथ चलने में आपलोगों को व्यर्थ कष्ट होगा। मैं तो उदासीन व्रत से जा रहा हूँ। उसे पूरा करना है। 'राम' पद दिया गया है, क्योंकि बहुत-से लोगों को एक साथ समझाना है, इनके लिये अयुक्त नहीं, क्योंकि राम सबमें रमते हैं, तथा—"यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं॥" (दो० २४३)।

(४) 'किये धरम उपदेस-घनेरे···'—पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है, वह मैं करूँ, जिसमें मेरा धर्म रहे, यही तुम्हें भी उचित है। पुनः हमारी आज्ञा से अयोध्या में रहो, यही तुम्हारा भी धर्म है। जो धर्मोपदेश सुमन्त्रजी के प्रति किया गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये, यथा—"सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा।···" से "संभावित कहँ अपजस लाहू।···" (दो० ९४) तक। 'लोग प्रेमबस···'—पहले समझाने से लौटते भी थे, यथा—"कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस···" (दो० ८२), पर अब धर्मोपदेश से भी नहीं लौटते, क्योंकि जिस धर्म से राम-वियोग हो, वह अग्राह्य है, यथा—"सो सुख धरम करम जरिजाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज-भाऊ॥" (दो० २९०)। लोग विशेषधर्म पर आरूढ़ हैं, इससे सामान्यधर्म की शिक्षा नहीं मान रहे हैं।

सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजसबस भे रघुराई॥५॥
लोग सोग-श्रम-बस गये सोई। कछुक देवमाया मति मोई॥६॥
जबहि जामजुग जामिनि बीती। राम सचिव सन कहेउ सप्रीती॥७॥
खोज मारि रथ हाँकहुँ ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥८॥

दोहा—राम लखन सिय जान चढ़ि, संभुचरन सिर नाइ।
सचिव चलायेउ तुरत रथ, इत उत खोज दुराइ॥८५॥

शब्दार्थ—मोई = मोही, वा मोई = भिगोई, यथा—"बिथकी है खालि मैन मन मोये।" (कृ० गी० २१)।

अर्थ—शील और स्नेह छोड़े नहीं जाते, श्रीरघुनाथजी बड़ी दुविधा में पड़ गये॥५॥ शोक और परिश्रम के कारण लोग सो गये और कुछ देवताओं की माया ने भी उनकी बुद्धि को मोहित किया॥६॥ ज्योंही दोपहर रात बीती कि श्रीरामजी ने प्रीतिपूर्वक मन्त्री से कहा॥७॥ कि हे तात! खोज मारकर (जिसमें रथ के जाने का मार्ग न जान पड़े इस तरह) रथ हाँको, दूसरे किसी उपाय से बात नहीं बनेगी॥८॥ शिवजी के चरणों में सिर नवाकर श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीसीताजी रथ पर चढ़े, तब मन्त्री सुमन्त्रजी ने शीघ्र ही इधर-उधर खोज मारकर रथ को चलाया॥८५॥

विशेष—(१) 'सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई।···'—श्रीरामजी शील-स्नेह निबाहनेवाले हैं, यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा॥" (दो० २३), इसीसे रुक्ष बातों से स्नेह नहीं छोड़ते और दुविधा में पड़ गये। असमंजस-वश होने के सम्बन्ध से 'रघुराई' यह माधुर्य का नाम दिया। शील नेत्र का और स्नेह हृदय का धर्म है। अतः, आप भीतर-बाहर एकरस हैं।

(२) 'लोग सोग श्रम-बस···'—अयोध्या से तमसा-तट तक दौड़ते आये हैं। इससे थक गये हैं। इसीसे निद्रा आना योग्य ही है, यथा—"श्रमित भूप निद्रा अति आई।" (बा० दो० १६९)। वियोग का शोक भी है और कुछ देवमाया भी लगी। 'कछुक'—श्रम और शोक के कारण देवमाया की कुछ ही

आवश्यकता पड़ी कि जितनी से गहरी निद्रा आ जाय। माया से निद्रा आती ही है, यथा—"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।" (दुर्गासप्तशती)। पुरवासी इन तीन कारणों के उपस्थित होने से गहरी नींद में पड़े, अन्यथा वे बड़े सावधान थे।

(३) 'जबहि जामजुग···'—आधी रात तक जब सब कोई सो गये तब श्रीरामजी ने कहने का अवसर पाया और कहा। 'ताता'—क्योंकि इन्हें श्रीरामजी पिता की तरह मानते हैं। 'सप्रीती'—यह आपका स्वभाव ही है फिर आज तो उनसे काम भी लेना है। दक्षिण दिशा की यात्रा में आधी रात माङ्गलिक वेला भी कही जाती है। चैत शुक्लानवमी की रात है, इससे चाँदनी न रह गई, छिप कर जाने में सहायक हुई।

(४) 'राम लखन सिय जान···'—शिवजी के चरणों में सिर नवाना, माधुर्य रीति निबाहने के लिये है, यथा—"सेवक स्वामि सखा सिय पीके।" (बा० को० १४)। पुनः रात्रि में चलना है और उसमें भूत-प्रेत आदि फिरा करते हैं। उनसे विघ्न-शान्ति के लिये भूत-पति (शिवजी) को प्रणाम करने की रीति भी दिखाई। प्रथम प्रस्थान पर 'गनपति गौरि गिरीस' इन तीनों को मनाकर चले थे। यहाँ उनमें अंगी (शिवजी) को ही प्रणाम करके अंगभूत उन दो को भी जना दिया। पहले 'खोज मारि रथ हाँकहु' कहा गया था। उसका अर्थ यहाँ खोला गया—'इत उत खोज दुराइ' यथा—"मोहनाथ तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः। उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥ मुहूर्त्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः। यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥" (वाल्मी० २।४६।३०-३१) अर्थात् श्रीरामजी ने सुमन्त्रजी से कहा कि पहले रथ उत्तर की ओर ले चलो। थोड़ी दूर जाकर पुनः लौटा लाओ, जिससे पुरजन मुझे न जान पावें कि किधर गये। यह सब सावधानी से करो। पहले उत्तर की ओर चलाया कि पुरवासी अयोध्या की ओर ही जायँ, समझें कि किसीके आग्रह से लौट गये। पुनः, 'इत-उत' पद से इधर-उधर भी चलाना सिद्ध है। आगे 'चहुँ दिसि धावहिं' लिखा है, यह सारथी की प्रवीणता है कि किसी ओर गाड़ी की लीक नहीं पड़ती थी। यहाँ सुमन्त्र का रथ पर चढ़ना नहीं कहा गया, वे चलानेवाले हैं, पहले ही से चढ़े थे। यहाँ 'चलायेउ' पद से जना दिया।

जागे सकल लोग भये भोरू। गे रघुनाथ भयेउ अति सोरू॥१॥
रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं॥२॥
मनहु बारिनिधि बूड़ जहाजू। भयेउ बिकल बड़ बनिकसमाजू॥३॥
एकहिं एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू॥४॥
निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना॥५॥

अर्थ—प्रातःकाल होने पर सब लोग जगे। 'श्रीरघुनाथजी चले गये' इसका बड़ा हल्ला मचा॥१॥ रथ का चिह्न कहीं नहीं पाते, सब 'हा राम! हा राम!' कहकर चारों ओर दौड़ने लगे॥२॥ मानों सागर में जहाज डूब गया, जिससे व्यापारी लोग बहुत व्याकुल हो गये हों॥३॥ वे एक दूसरे को उपदेश देते हैं कि श्रीरामजी ने हमारा क्लेश समझकर हमें छोड़ा है, (कुछ निरादर से नहीं)॥४॥ अपनी निन्दा करते हैं तथा मछली की सराहना करते हैं और कहते है कि रघुवीर श्रीरामजी के बिना हमारे जीने को धिक्कार है!॥५॥

विशेष—(१) 'जागे सकल लोग भये···'—इसपर वाल्मी० २।४७ पूरा सर्ग पढ़ने योग्य है। वहाँ इनकी विकलता और इनके आर्त्त वचन विस्तार से कहे गये हैं।

(२) 'राम राम कहि···'—राम-राम कहकर दौड़ने का बड़ा हल्ला मचा। 'चहुँ दिसि धावहिं' कहकर उपर्युक्त 'इत उत खोज दुराइ' का अर्थ खोला गया है कि रथ की लकीर चारों तरफ गई थी।

यहाँ उपदेश है कि इन लोगों को चारो ओर दौड़ने से प्रभु का मार्ग नहीं मिला। आगे विवेकी संत भरतजी के साथ जाकर मिलेंगे। उसी प्रकार चारो वर्णों और चारो आश्रमों में चक्कर काटने से श्रीरामजी का यथार्थ मार्ग नहीं मिलता, विवेकी सन्त के द्वारा प्राप्त होता है, यथा—"संसय समन दमन दुख सुखनिधान हरि एक। साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक॥" (वि० २०३)।

(३) 'मनहुँ बारि-निधि बूड़ ·'—अयोध्या से लंका तक का मार्ग समुद्र है। अवध-वासियों का मनोरथ—'जहाँ राम तहँ सबइ समाजू'—'चले साथ असमंत्र दृढ़ाई' यही दृढ़ जहाज है। श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी माल हैं। अवधपुर-वासी लोग वणिक हैं। जहाज तमसा के तट तक ही आ पाया, फिर डूब गया। माल रूपी तीनों मूर्त्ति हाथ से निकल गये, यही माल-हानि है। माल का नाम 'राम-राम' कहकर रोते हैं और व्याकुल हो रहे हैं।

(४) 'निंदहि आपु सराहहिं···'—प्रथम इनकी जलचरों से उपमा दी गई थी, यथा—"बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जिमि जलचर गन सूखत पानी॥" (दो० ५०), अर्थात् वहाँ सूखता हुआ कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी का साथ था। किन्तु अब छूट गया। इससे मानों जल कुछ न रह गया, तब तरसते हैं कि हमलोग मछली की तरह न हुए। हमलोगों का सच्चा स्नेह न हुआ, यथा—"मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकइ मीन को है साँचिलो सनेह॥" (दोहावली ३१८) अर्थात् मीन की तरह का जीवन होता, तो धन्य होता। अन्यथा अन्य जलचरों की तरह जीते रहने में धिक्कार है!

जो पै प्रियबियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा॥६॥
येहि बिधि करत प्रलापकलापा। आये अवध भरे परितापा॥७॥
बिषम बियोग न जाइ बखाना। अवधिआस सब राखहिं प्राना॥८॥

दोहा—रामदरस-हित नेम ब्रत, लगे करन नरनारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल, दीन बिहीन तमारि॥८६॥

अर्थ—यदि निश्चय ही ब्रह्मा ने प्यारे का बियोग रचा है, तो माँगी मृत्यु क्यों नहीं दी?॥६॥ इस तरह बहुत प्रलाप करते हुए, वे सब अत्यन्त दुःख से भरे हुए अयोध्याजी आये॥७॥ उनके अत्यन्त कठिन वियोग-दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता। सब अवधि (१४ वर्ष बीतने) की आशा से (कि श्रीरामजी फिर मिलेंगे) प्राण रखते हैं॥८॥ श्रीराम-दर्शन के लिये सब स्त्री-पुरुष नियम और व्रत करने लगे। (वे ऐसे दीन हैं) मानों सूर्य के बिना चकवा-चकवी और कमल दीन (दुखी) हों॥८६॥

विशेष—(१) 'जो पै प्रियबियोग···'—ये प्रिय-वियोग में मीन की तरह मृत्यु चाहते हैं। पर ब्रह्मा से मिलती ही नहीं, क्योंकि ऊपर अभी मीन को सराहते थे।

(२) येहि बिधि करत प्रलाप···'—मुख से प्रलाप तो करते हैं और हृदय में परिताप भरा है। अर्थात् भीतर-बाहर दुःख व्याप्त है। 'प्रलाप', यथा—"उहाँ राम लछिमनहिं निहारी।···" से "प्रभु प्रलाप सुनि कान···" (लं० दो० ५९-६०) तक। 'भरे परितापा'—विरह के अग्नि के डर से भगे थे, यथा—"सहि न सके रघुबर बिरहागी।···" (दो० ८३), वहाँ भी वियोग ही हो गया। अतः, हृदय में परिताप भरे आये।

(३) 'बिषम बियोग न जाइ···'—विषम वियोग ही विषम ज्वर की तरह है, यथा—"जरहिं बिषम ज्वर लेहि उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥" (दो० ५०), इससे जलते हुए भी उन्हींके मिलने की आशा से ही प्राण रखते हैं।

(४) 'रामदरस हित नेम ब्रत'''—श्रीरामजी के दर्शनों के लिये साधन कर रहे हैं, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा॥" (दो० २०९), क्या नेम-ब्रत करते हैं—इसे आगे कहेंगे, यथा—"पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग। करत राम-हित नेम ब्रत, परिहरि भूषन भोग॥" (दो० १८८), 'मनहुँ कोक-कोकी'''—यहाँ १४ वर्ष का वियोग रात के समान है। पीछे श्रीरामजी का आगमन सूर्योदय के समान है, उससे शोक रूपी अन्धकार निवृत्त होगा। कोक-कोकी के दृष्टान्त से पति-पत्नी का शृंगार-वासना-रहित होना और करुणा-पूर्णता भी जनाई। सूर्य-रहित सम्पुटित कमल के दृष्टान्त से शोभा नष्ट होना और शरीर काला पड़ जाना सूचित किया। 'तमारि' अर्थात् श्रीरामजी सूर्य के बिना अयोध्या शोक रूपी तम से आच्छादित है, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥" (दो० ८२)।

सीता सचिव सहित दोउ भाई। शृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥१॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेखी॥२॥
लखन सचिव सिय किये प्रनामा। सबहिं सहित सुख पायेउ रामा॥३॥
गंग सकल-मुद-मंगल-मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मन्त्री के साथ दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मणजी शृंगबेरपुर जा पहुँचे॥१॥ श्रीगंगाजी को देखकर श्रीरामजी उतरे और बहुत प्रसन्नतापूर्वक दंडवत् प्रणाम किया॥२॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी, मन्त्रीजी और श्रीसीताजी ने भी प्रणाम किया, सबके साथ श्रीरामजी ने सुख पाया॥३॥ श्रीगंगाजी समस्त आनन्द-मंगलों की जड़ हैं। समस्त सुखों की करनेवाली और सब दुःखों की हरनेवाली हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सीता सचिव सहित'''—इसका सम्बन्ध—'राम-लखन-सिय जान चढ़ि' से है, बीच में पुरवासियों का विरह कहा गया, यहाँ से फिर श्रीरामजी का प्रसंग लिया। 'शृंगबेरपुर'—यह जिला इलाहाबाद में है। आजकल सिंगरौर घाट कहा जाता है। वहाँ रामचौरा स्थान है, जहाँ श्रीरामजी ठहरे थे। इसका शृंगबेरपुर नाम होने का कारण यह है कि इसके चारों ओर सींगों की बारी थी, इससे सूचित होता है कि निषाद लोग कैसे हिंसक होते थे? कि अगणित वन्य जीवों को मार-मारकर उनके सींगों की बारी (सरहद) बनाई थी। ऐसा वाल्मी० के भूषण टीकाकार का कथन है। कोई-कोई यहाँ पर शृंगीऋषि का पूर्व का आश्रम कहते हैं। यहीं से अंग देश (पटना) के राजा शृंगी ऋषि को ले गये थे। तब उन्होंने अपनी कन्या शान्ता का उनसे ब्याह कर दिया था। बा० दो० १८८ चौ० ५ ये कथा देखिये।

(२) 'उतरे राम देवसरि'''—तीर्थ जहाँ से देख पड़े, वहीं से प्रणाम करना चाहिये, यथा—"गिरिवर दीख जनक पति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (दो २७४), इसीसे श्रीरामजी ने भी प्रणाम किया। 'हरष बिसेषी' अर्थात् सजल नयन, रोमांच, गद्गदकंठ सहित, क्योंकि गंगाजी इनके कुल की कीर्त्तिवर्द्धिनी हैं और साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं, यथा—"ब्रह्म जो ब्यापक बेद कहैं, गम नाहिं गिरा गुन ज्ञान गुनी को। '''सोई भयो द्रवरूप सही जु है नाथ बिरंचि महेस मुनी को।" (क० उ० १४६)। श्रीरामजी ने जैसे दंडवत् की, वैसे ही श्रीलक्ष्मण आदि के प्रणाम का भी अर्थ दंडवत्-प्रणाम लेना चाहिये। इसीसे सभीको समान रूप से सुख भी कहा गया है। पुरजनों के अवध लौटने में हर्ष हुआ और यहाँ आकर गंगा-दर्शनों से विशेष हर्ष हुआ।

(३) 'गंग सकल-मुद-मंगल-मूला '—'मुद'—मानसी आनन्द और 'मंगल—उत्सव आदि बाहरी आनन्द, इत्यादि सबकी मूल गंगाजी हैं, यथा—"भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुमंद सेवक

सुर धेनू" (दो० १९६)। "हरति पाप त्रिविध ताप सुमिरत सुरसरित। बिलसति महि कल्पवेलि मुद मनोरथ फरित॥" (वि० १६), 'सब सूला'—शूल तीन प्रकार के हैं, यथा—"त्रयः शूलनिर्मूलनं शूलपाणिम्।" (उ० दो० १०७), वे हैं जन्म, जरा और मरण। सुख देती हैं और दुःख हरती हैं।

कहि कहि कोटिक कथाप्रसंगा। राम बिलोकहिं गंगतरंगा॥५॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध-नदी-महिमा अधिकाई॥६॥
मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयेऊ। सुचिजल पियत मुदित मन भयेऊ॥७॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक व्यवहारू॥८॥

दोहा—सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद-भानुकुल केतु।
चरित करत नरअनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥८७॥

शब्दार्थ—श्रम भारू = श्रम का बोझा, जन्म-मरणादि भारी श्रम। कंद (कं = सुख, द = देनेवाले) = सुखदेनेवाले, बड, मेघ। अनुहरत = समान, तरह। संसृति = संसार = जन्म-मरण।

अर्थ—श्रीरामजी अनेक कथाओं के प्रसंग कह-कहकर गंगाजी की लहरें देख रहे हैं॥५॥ उन्होंने मन्त्री को, भाई को और प्रिय स्त्री को देवनदी श्रीगंगाजी की बड़ी महिमा सुनाई॥६॥ स्नान किया, उससे मार्ग का श्रम (थकावट) दूर हुआ, श्रीगंगाजी का पवित्र जल पीते ही उनका मन प्रसन्न हो गया॥७॥ (वक्ताओं का कथन है कि) जिसका स्मरण करते ही जन्म-मरण का श्रम-रूप बोझ मिट जाता है, उसको श्रम (कैसा ?) यह तो लोक का व्यवहार है॥८॥ शुद्ध (सत्त्वादि गुणों से रहित) सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं, सुख के देनेवाले और सूर्यकुल में श्रेष्ठ हैं, वे मनुष्यों के अनुसार चरित करते हैं, वे चरित संसार-सागर से पार होने के लिये पुल के समान हैं॥ ८७॥

विशेष—(१) 'कहि कहि कोटिक कथा···'—यहाँ 'कोटिक' अनन्त एवं बहुत का वाचक है, यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥" (दो० १९)। बहुत-सी कथाएँ कहते हैं, उन प्रत्येक की समाप्ति पर श्रीगंगाजी की तरंगें देखते हैं कि ये ऐसी हैं, तथा—"गङ्गागङ्केति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥" (स्कन्द पु० ब्राह्म० ध० मा० ३१।७), एवं महा० वन० ८५।९४।९४-९८ और महा० अनुशा० २६। २६-१०१ आदि स्थलों पर श्रीगङ्गाजी की महिमा देखिये। 'सुख पावा' मन का धर्म है। कथा कहना वचन का और दंडवत् करना, कर्म का, इस तरह तीनों से गंगाजी में भक्ति दिखाई। माहात्म्य कह सुनकर तीर्थस्नान की विधि भी जनाई। 'बिबुध नदी' अर्थात् देवताओं की नदी है, ब्रह्मा-शिव आदि को भी पवित्र करती हैं, यथा—"जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी॥" "जय जय भगीरथ नंदिनि, मुनि चय-चकोर चंदिनि,···"। (वि० ६७-१८), इत्यादि पदों में विस्तार से गंगाजी की महिमा कही गई है—इनके 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। एवं—"देवनदी कहँ जो जन जान किये मनसा कुल कोटि उधारे। देखि चले झगरैं सुरनारि, सुरेस बनाइ बिमान सँवारे॥ पूजा को साज बिरंचि रचैं, तुलसी जे महातम जान-निहारे। ओक की नींव परी सुरलोक में देखत गंग तरंग तिहारे॥" (क० उ० १४५), तथा—"श्रुताऽभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता। गंगा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः॥ दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गंगेति कीर्त्तनात्। पुनात्यपुण्यान्पुरुषाञ्छतशोऽथसहस्रशः॥" (महा० अनु० २६।६३-६४) (इस २६ वें अध्याय के २६-१०६ श्लोकों में केवल गंगा-महिमा कही गई है।)

(२) 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम···'—यहाँ मज्जन और स्पर्श दो हुए। पूर्व—'राम बिलोकहिं गंग

तरंगा।' में दर्शन और यहाँ—'सुचिजल पियत ···' में पान कहा गया। इस तरह—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप···" (बा० दो० २४) के सब भाव आ गये। माहात्म्य कथन के साथ-साथ वैद्यक शास्त्र के नियम का निर्वाह भी किया है कि स्नान परिश्रम की गर्मी मिटाकर करना चाहिये। स्नान में दस गुण कहे जाते हैं, उनमें से थकावट मिटना और मन का प्रसन्न होना—दो यहाँ प्रकट कहे गये हैं।

(३) 'सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू।', यथा—"जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥"। (दो० १००), "नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े॥" (क० अ० ५), इत्यादि।

(४) 'सुद्ध सच्चिदानंदमय ···'—'मयट्' प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है। अर्थात् भीतर-बाहर सच्चिदानन्द विग्रह हैं, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार···" (दो० १२६)। यह ऐश्वर्यमय ब्रह्म स्वरूप कहा। फिर यह कहा कि वे ही सूर्यकुल में प्रकट होकर चरित करते हैं, फिर चरित का माहात्म्य कहा कि यह भव-सागर का सेतु है, यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (लं० दो० ६४)। "सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।" (बा० दो० २२१)। 'सुद्ध सच्चिदानंदमय' कहकर सगुण ब्रह्म को अशुद्ध एवं मायोपाधिक विग्रहवान् माननेवालों के मत का खण्डन किया है।

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई॥१॥
लिये फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा॥२॥
करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे॥३॥
सहज - सनेह - बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई॥४॥
नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन जन लेखे॥५॥

अर्थ—गुह निषाद ने जब यह समाचार पाया, तब उसने प्रसन्न मन से अपने प्यारे भाई लोगों को बुला लिया॥१॥ और भेंट के लिये फल और मूल भार (कन्धे पर बोझ ढोने की बहँगी) भर-भर के लेकर हृदय में अपार आनन्दपूर्वक श्रीरामजी से मिलने के लिये चला॥२॥ दंडवत् करके भेंट को आगे रखकर वह प्रभु को अत्यन्त अनुरागपूर्वक देखने लगा॥३॥ रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी स्वाभाविक स्नेह के विशेष वश हैं। अतः, उन्होंने उसे समीप में बैठाकर कुशल पूछा॥४॥ (निषादराज ने कहा) हे नाथ! आपके चरण-कमलों के दर्शनों से (मेरा) कुशल है। अब मैं भाग्य-शाली-भक्तों की गिनती में हो गया॥५॥

विशेष—(१) 'यह सुधि गुह निषाद···'—'गुह' = 'गुह्यति वंचयति परस्वमिति गुहः' अर्थात् जो पराया धन चुरावे, वह गुह है। 'निषाद' अर्थात् जो जीवहिंसा करे। इसका नाम गुह है, यह निषाद जाति का है, यथा—"तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा। निषादजात्यो बलवान्स्थपतिश्चेति विश्रुतः॥ स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्। वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः॥" (वाल्मी० २।५०।३३-३४), अर्थात् वहाँ का राजा गुह नाम का श्रीरामजी के प्राणों के समान प्रिय सखा था, वह निषाद जाति का था। बलवान था और निषादों का राजा था। उसने सुना कि श्रीरामजी उसके देश में आये हैं। तब वह अपने बूढ़े मन्त्रियों और जातिवालों के साथ मिलने आया। गुह-निषाद कहकर इसे भारी पापी दिखाया, फिर इसे ही शरणागत होना कहकर श्रीरामजी का पतित-पावन बाना दिखावेंगे। कुटुम्बियों को भी बुलाया, क्योंकि वह सबके सहित शरण होगा, यथा—"देव धरनि धन धाम तुम्हारा। ···" आगे कहा है। पुनः श्रीरामजी भी भाई सहित हैं। अतः, यह भी भाई वर्ग को लेकर मिलने आया।

(२) 'लिये फल मूल भेंट भरि···'—गुहराव को समाचार मिल चुका है कि श्रीरामजी मुनि व्रत

धारण करके वन को जा रहे हैं। इसलिये कन्द, मूल, फल ही भेंट के हेतु लिये। श्रीभरतजी से राजाओं के योग्य वस्तु लेकर मिलेंगे, क्योंकि उन्हें वे राजा जानकर मिलने चलेंगे। 'भरि भारा'—भेंट की वस्तु पात्र में पूर्ण भरी हुई चाहिये, यथा—"दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि-भरि काँवरि चले कहारा॥" "भरे सुधा सम सब पकवाने।..." (बा० दो० ३०४)।

(३) 'करि दंडवत् भेंट धरि ...'—पहले भेंट अर्पण करके दंडवत् के द्वारा देह को भी अर्पण किया। फिर अनुरागपूर्वक देखने में हृदय (मन) भी अर्पण किया, क्योंकि अनुराग मन से होता है।

(४) 'सहज-सनेह-बिवस रघुराई।...'—यद्यपि निषादराज ने भेंट अर्पण की, तथापि आप उसके सहज सनेह के ही वश हैं। 'रघुराई' हैं। इन्हें वह कुछ देकर कोई क्या प्रसन्न कर सकता है? स्नेह से वश होते हैं, सहज-स्नेह से विशेष वश होते हैं। और राजा बहुत सेवा से भी वश नहीं होते, यथा—"भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।" (अर० दो० ३६)—पर 'रघुराई' सहज स्नेह से ही विशेष वश हो जाते हैं। "मानत भलेहि भलो भगतिहिते, कछुक रीति पारथहि जनाई। तुलसी सहज सनेह राम बस और सबै जल की-सी चिकनाई॥" (वि० २४०)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। वहाँ अर्जुन में सहज स्नेह और उसके प्रति भगवान् का उनमें सहज-स्नेह दिखाया गया है। वि० १६६ में भी सहज-स्नेह का विवेचन है। 'निकट बैठाई'—यह बड़ा आदर जनाया, यथा—"अति आदर समीप बैठाई (लं० दो० ३६)।

(५) 'नाथ कुसल पदपंकज देखे'—चरण के दर्शनों से कुशल कहा, क्योंकि ये चरण कुशल के मूल हैं, यथा—"कुसल मूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥" (दो० १६४), अपना जन जानकर श्रीचरण यहाँ पधारे, तो मैं भी आज से आपके भाग्यशाली भक्तों में कहा जाऊँगा।

देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥६॥
कृपा करिय पुर धारिय पाऊ। थापिय जन सब लोग सिहाऊ॥७॥
कहेउ सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥८॥

दोहा—बरष चारिदस बास बन, मुनि - ब्रत - बेष - अहार।
ग्रामबास नहिं उचित सुनि, गुहहि भयेउ दुखभार॥८८॥

अर्थ—हे देव! यह पृथ्वी, धन, घर आदि सब आपका है और मैं परिवार के साथ आपका नीच सेवक हूँ॥६॥ कृपा करके मेरे पुर (शृङ्गवेरपुर) चलिये और इससे मुझे अपने दासों में स्थापित कीजिये, जिससे सब लोग सिहावें (कि धन्य इसका भाग्य है। जो इस निषाद के यहाँ श्रीरामजी पधारे और उन्होंने इसे अपना सेवक माना)॥७॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे चतुर सखे! तुमने ठीक ही कहा है। पर मुझे पिताजी ने और ही आज्ञा दी है॥८॥ (मेरे लिये) चौदह वर्ष वन का निवास, मुनियों के व्रत, वेष और भोजन (के नियम रखने) की आज्ञा है। (अतः,) मेरा ग्राम में रहना उचित नहीं, गुह को यह सुनकर भारी दुःख हुआ (वा, दुःख के बोझ से वह दब गया)॥८८॥

विशेष—(१) 'देव धरनि धन धाम...'—यहाँ इनकी आत्म-समर्पण-भक्ति एवं शरणागति है कि मैं अपने सर्वस्व सहित आपकी नीच टहल करूँगा, यथा—"योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिहलोके परत्र च। तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम्॥" (नारद पंचरात्र), अर्थात् जो मैं हूँ और इस लोक में जो कुछ मेरा है। वह सब आप दोनों (श्रीसीतारामजी) के ही चरणों में समर्पित है।

गुह ने कहा है—"स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही॥ वयं प्रेष्या भवान्भर्त्ता साधु राज्यं

प्रशाधि नः।" (वाल्मी० २।५०।३८-३९), अर्थात् आपका स्वागत है, यह सारा राज्य आपका ही है। हम-सब आपके सेवक हैं, आप स्वामी हैं, आप इस राज्य का शासन कीजिये।

(२) 'कृपा करिय पुर धारिय···'—मैं नीच हूँ। आपको अपने घर ले जाने योग्य नहीं हूँ। अतः, कृपा करके वहाँ पधारें, वहाँ ले जाने का अभिप्राय यह है कि जिसमें सब सुपास हो। 'सिहाऊ', यथा—'निंदहिं आपु सराहि निषादहि।" (दो० २०१)।

(३) 'कहेहु सत्य सब सखा···'—'सुजान' हो, इससे उचित ही कहा है, ऐसा ही सखा का धर्म है। आपका कथन सत्य है, अर्थात् हृदय से भी ऐसा ही है। पिता का आज्ञा-पालन रूप मेरे श्रेष्ठ धर्म को भी जानने में सुजान हो कि जिसके अनुरोध से मैं नगर में नहीं जा सकता। 'आना' का विस्तार आगे दोहे में है।

(४) 'बरष चारिदस बास बन ···'—अभी वनवास का प्रारम्भ है। इसीसे 'चारि' शब्द अल्प-काल वाचक प्रथम दिया गया है। ऐसे ही माता के यहाँ भी—"बरष चारि दस बिपिन बसि···" (दो० ५३) कहा है। निषाद राज ने पुर में बसने को कहा था। उसपर कहते हैं कि पिता की आज्ञा १४ वर्ष वनवास के लिये है। पुनः निषाद राज ने राज्य करने को कहा था। उसपर कहते हैं कि मुझे 'मुनि व्रत···'—से रहने की आज्ञा है।

यहाँ 'ग्राम बास' कहा है। सुग्रीव से 'पुर न जाउँ' और विभीषण से—'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।' कहा है, अर्थात् ग्राम, पुर और नगर तीनों में न जाने की आज्ञा है। यह—"तापस बेष बिसेषि उदासी" (दो० २८) का अर्थ है, अर्थात् जनस्थान मात्र में न जाने की आज्ञा है, यथा—ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः।" (मनुस्मृति ६।४), यह मनु ने वानप्रस्थों के लिये कहा है। इस तरह ग्राम, पुर और नगर का भेद भी प्रकट किया कि निषादजी के ग्राम से सुग्रीव का पुर और उससे भी लंका नगर बड़ा था। यह ग्रन्थकार के शब्द रखने का चमत्कार है, यों तो श्रीगोस्वामीजी ने ग्राम, पुर और नगर इन्हें पर्यायी शब्द भी माना है, जैसे कि अवध को 'पुर' और 'नगर' भी कहा है।

राम लखन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर-नारी ॥१॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥२॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयनलाहु हमहिं बिधि दीन्हा ॥३॥
तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना ॥४॥
लै रघुनाथहिं ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी का रूप देखकर ग्राम के स्त्री-पुरुष प्रेम के साथ कहते हैं ॥१॥ कि हे सखी ! कहो तो, वे कैसे माता-पिता हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुकुमार एवं सुन्दर) पुत्रों को वन में भेज दिया ! ॥२॥ एक (कोई) कहते हैं कि राजा ने अच्छा ही किया, विधाता ने हमें नेत्रों का लाभ दिया ॥३॥ तब निषाद-राज ने अपने हृदय में विचार किया कि शीशम का वृक्ष मनोहर है ऐसा जानकर ॥४॥ श्रीरघुनाथजी को साथ ले जाकर वह स्थान दिखाया। श्रीरामजी ने कहा कि यह सब प्रकार सुन्दर है ॥५॥

विशेष—(१) 'राम लखन सिय रूप···'—पुरवासियों को अब समाचार मिला तो वे भी देखने आये। देखते ही 'सप्रेम' अर्थात् प्रेमवश हो गये। इससे इनके रूप और सुकुमारता पर उन्हें तरस आ रहा है कि क्या ये वन भेजे जाने के योग्य हैं ?

(२) 'ते पितु मातु कहहु···' अर्थात् जिन्हें देखकर मार्ग की साँपिनी और बीछी भी अपनी क्रूरता

छोड़ देते हैं, यथा—"जिन्हहिं निरखि मग···" (दो० २६१), और जो जीव-जन्तु-मात्र को प्राण-प्रिय हैं। वे माता-पिता को कैसे अप्रिय लगे ? कि उन्होंने वन दिया, यथा—"अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं ॥ भे अति अहित राम तेउ तोहीं। को तू अहसि सत्य कहु मोहीं ॥" (दो० १६१)।

(३) 'एक कहहिं भल भूपति···'—भाव यह कि राजा अच्छे है। वे पृथ्वी मात्र के पति हैं तो हम भी पृथ्वी में ही हैं। अतः, हमपर कृपा करके उन्होंने हमारा भी भला किया है। नहीं तो हमें इनके दर्शन कैसे होते ? पहले ने राजा को दोष लगाया और इसने उसका खंडन किया। 'लोयनजाहु···'—ब्रह्मा की प्रेरणा से ही ये इधर से आये, अन्यथा और ही मार्ग से चले गये होते। अतः, विधि से भी कृतज्ञता दिखाते हैं।

ऐसा ही आगे भी कहा है, यथा—"जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं ॥ कहहिं एक अति भल नर नाहू। दीन्ह हमहिं जेहि लोचन लाहू॥" (दो० १९१)।

(४) 'तब निषादपति उर···'—'तब' इसका सम्बन्ध—'बरष चारि दस···' इस दोहे से है, बीच में पुरवासियों की बाते कही गईं। 'निषाद पति'—यह राजा है। अतः, राजाओं के योग्य स्थल जानता है इसीसे इसका अनुमित स्थान श्री रघुनाथजी ने स्वीकार किया। शीशम में चैत में प्रथम ही पत्ते एवं फूल आ जाते हैं। अतः, सुगन्धित उत्तम छाया का योग है। 'लै रघुनाथहिं ठाँव···'—श्रीरामजी की रुचि रखने के लिये उन्हें ले जाकर दिखाया। श्रीरामजी ने उसका मन रखने के लिये उस स्थल की प्रशंसा की। 'सब भाँति सुहावा'—अर्थात् ग्राम से बाहर है, गंगाजी समीप हैं, सम भूमि, स्थान स्वच्छ और छाया सघन है, फिर प्रिय भक्त का चुना हुआ है।

पुरजन करि जोहार घर आये। रघुबर संध्या करन सिधाये ॥६॥
गुह सँवारि साथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई ॥७॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि आनी ॥८॥

दोहा—सिय सुमंत्र भ्राता सहित, कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ ॥८६॥

अर्थ—पुरवासी प्रणाम करके घर आये और रघुवर श्रीरामजी सन्ध्या करने के लिये गये ॥६॥ (इधर) गुह ने कुश और कोपलों (नवीन कोमल पत्तों) से युक्त कोमल (गुलगुली) सुन्दर साथरी (बिछौना) सम्पन्न कर बिछाई ॥७॥ पवित्र मीठे और कोमल जानकर फल और मूल दोनों में भर-भरकर ला रक्खे ॥८॥ रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने श्रीसीताजी, श्रीसुमन्त्रजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ कन्द-मूल-फल खाकर शयन किया और भाई श्रीलक्ष्मणजी उनके पैर दबाने लगे ॥८६॥

विशेष—(१) 'पुरजन करि जोहार···'—पुरवासी बड़े प्रेम के कारण साथ छोड़ना नहीं चाहते थे, पर श्रीरामजी के सन्ध्या-वन्दन का समय जानकर चले गये और श्रीरामजी भी पुरजनों को छोड़कर सन्ध्या-वन्दन करने नहीं गये—यह स्नेह की सँभाल है। सन्ध्या वेदोक्त धर्म है, इसकी मर्यादा रखने के सम्बन्ध से 'रघुबर' नाम दिया, क्योंकि रघुवंशी धर्म-रक्षक हैं।

(२) 'गुह सँवारि साथरी···'—पहले कुश बिछाकर तब किसलय की साथरी बिछाई गई। उसी क्रम से कहा गया। साथरी ऊँची (मोटी) होने से मृदुल है, सँभालकर बनाई गई है, इससे सुहाई कहा है। 'मयट्' प्रत्यय यहाँ प्रचुर (बहुत) के अर्थ में है। श्रीसीतारामजी की दो शय्याएँ समीप में और श्रीलक्ष्मणजी एवं मन्त्री की शय्याएँ कुछ दूर पर बिछाई, तथा—"तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन

रचि निज हाथ डसाए ॥" (लं० दो० १०)। यह सपरिकर श्रीसीतारामजी की सेवा गुह ने स्वयं की है।

(३) 'सुचि फल मूल मधुर···'—'सुचि' अर्थात् कुछ फल मूल अशुचि (अपवित्र) भी होते हैं, जैसे कि गूलर (ऊमरि) आदि फल और गाजर आदि मूल अपवित्र माने जाते हैं। 'मुनि अत्त बेष अहार' श्रीरामजी से सुना है, तदनुसार मुनियों के ग्रहण के योग्य पवित्र ही कन्द-मूल-फल लाये। 'जानी'—जिस वृक्ष के फल और जिस भूमि के मूल निषाद-राज मधुर-मृदु जानते हैं वही लाये।

'दोना भरि भरि'—प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् दोने में भर-भरकर लाये, चार व्यक्ति भोजन करने-वाले हैं। अतः, प्रत्येक वस्तु कम-से-कम चार दोने आई। 'आनी' अर्थात् बाहर से लाये, भेंटवाली वस्तुओं में से नहीं हैं। राजापुर की प्रति में 'आनी' के स्थान पर 'पानी' पाठ है। उसका अर्थ यों होगा कि पवित्र फल-मूल दोने मे भर-भरकर रक्खा और भर-भरकर पानी भी रक्खा। शबरीजी के प्रकरण में भी जल लाकर रखना कहा गया है, यथा—"तृन पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहक चली।" (गी० अर० १७।१), तथा—"एक कलस भरि आनहिं पानी। अचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी ॥" (दो० १५४)। श्रीरामजी भक्ति के नाते में स्पर्श-दोष नहीं मानते। निषाद से अंकभर कर मिलना एवं शबरी का चरणों पर पड़ना कहा गया है, कहीं भी उसपर श्रीरामजी का स्नान करना नहीं कहा गया, तथा—"मानउँ एक भगति कर नाता।" शबरीजी से कहा भी गया है।

पहले केवट जाति अस्पृश्य थी—"जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।" (दो० १९३) उसने ही आगे कहा है—"राम कीन्ह आपन जबही ते। भयउँ भुवन भूषन तबही ते ॥" (दो० १९५), अर्थात् तबसे केवट (कँहार) का जल चलने लगा। अब यह जाति विशेष कर जल भरने का ही काम करती है। 'थापिअ जन सब लोग सिहाऊ' यह इसकी कामना भी इस रीति से पूरी हो ही गई।

(४) 'सिय सुमंत्र भ्राता सहित···'—यद्यपि एक दिन पहले नहीं खाया था, आज भी शाम में फलाहार हो रहा है तथापि धर्म-शास्त्र के अनुसार पहले स्त्री, बूढ़े और बच्चे को भोजन देकर तब भोजन किया, इसीसे 'रघुबंस मनि' कहा, यथा—"रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन···" (बा० दो० २२७), "अनुज सखा सँग भोजन करहीं।" (बा० दो० २०४), अर्थात् अकेले भोजन नहीं करते, प्रायः धार्मिक आचरण के सम्बन्ध से वंश सम्बन्धी ही नाम देते हैं। 'पाय पलोटत भाइ'—निषाद-राज ने अपनेको अपवित्र मानकर केवल शय्या की ही सेवा ग्रहण की, श्रीलक्ष्मणजी चरण-सेवा करते हैं, क्योंकि सुमित्राजी ने सेवा करना कहा ही है। दिन के भोजन करने पर विश्राम करना होता है। आज सन्ध्याकाल का भोजन है, इससे शयन करना कहा गया है।

उठे लखन प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी ॥१॥
कछुक दूरि सजि बानसरासन। जागन लगे बैठि बीरासन ॥२॥
गुह बुलाइ पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती ॥३॥
आप लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सरचाप चढ़ाई ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी को सोते जानकर श्रीलक्ष्मणजी उठे। कोमल वाणी से मन्त्री के लिये सोने को कहकर ॥१॥ वे वहाँ से कुछ दूरी पर धनुष-बाण सजाकर (तानकर) वीरासन से बैठे हुए जागने (पहरा देने) लगे ॥२॥ गुह ने विश्वासी पहरेदारों को बुलाकर अत्यन्त प्रीति पूर्वक उनको स्थान-स्थान पर

रक्खा ॥३॥ और आप कमर में तरकस बाँधकर और धनुष चढ़ाकर, बाण हाथ में लिये हुए लक्ष्मणजी के पास जा बैठे ॥४॥

विशेष—(१) 'उठे लखन प्रभु सोवत ···'—सोते जान सेवा छोड़कर उठ आये और इसीसे मन्त्रीजी से धीमी वाणी से सोने को कहा कि जिससे प्रभु की निद्रा भंग न हो। वृद्ध मन्त्री चिन्ता से व्याकुल हैं इससे उन्हें नींद नहीं आती थी, यथा—"सो किमि सोव सोच अधिकाई।" (बा० दो० १६९), इससे कोमल वाणी से कहा कि सो जायँ एवं प्रभु की निद्रा भंग न हो, इसीसे मृदु वाणी कही है। वे बिना कहे न सोते।

(२) 'कछुक दूरि सजि बान···'—पहरा न तो बहुत दूर से और न अत्यन्त पास से दिया जाता है, वैसे ही यहाँ है। सावधानता पूर्वक पहरा देने लगे।

(३) 'गुह बुलाइ पाहरू···'—विश्वासी सिपाहियों को नाके-नाके पर बैठाया। यद्यपि वहाँ वैसा कोई भय नहीं था, तथापि ऐसा करने का कारण 'अति प्रीती' शब्द से जनाया कि अत्यन्त प्रेम के कारण ही इतना प्रबन्ध किया। पुनः इसे श्रीरामजी के वन-कष्ट पर कुछ कहना भी है, लक्ष्मण से पूछना है, इससे निश्चिन्त रहने के लिये पाहरू बैठाया।

(४) 'आप लखन पहिं बैठेउ···'—श्रीलक्ष्मणजी शस्त्रास्त्र से सजे हुए बैठे हैं। वैसे सजकर ये भी जा बैठे। 'भाथी' अर्थात् छोटा तरकस, क्योंकि इसके यहाँ बड़े-बड़े राजाओं के-से शस्त्रास्त्र नहीं हैं। सब गँवारू ठाठ है, यथा—"भाथी बाँधि चढ़ायेन्हि धनुहीं। अंगरी पहिरि कुंडि सिर धरहीं॥" (दो० १९०), इत्यादि आगे कहे गये हैं। स्वयं सत्संग करते हुए जागेंगे तो पाहरू भी जागने में सतर्क रहेंगे।

आगे लक्ष्मण गीता के उपोद्घात रूप में निषाद का विषाद-योग प्रारम्भ होता है—

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू ॥५॥
तनु पुलकित जल लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई ॥६॥
भूपति - भवन सुभाय सुहावा। सुरपति - सदन न पटतर आवा ॥७॥
मनि-मय-रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे ॥८॥

दोहा—सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनिदीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास ॥९०॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी को (साथरी पर) सोते हुए देखकर प्रेम के वश होने से निषाद के हृदय में बड़ा विषाद हुआ ॥५॥ उसका शरीर पुलकित हो गया, आँखों से जल बह रहा है। श्रीलक्ष्मणजी से वह प्रेम के साथ ये वचन कह रहा है ॥६॥ कि राजा का महल सहज ही सुन्दर है, इन्द्र का महल भी उसकी तुलना का नहीं है ॥७॥ मणि-रचित सुन्दर चौबारे (चारों ओर खुले बँगले) हैं। मानों रति के पति कामदेव ने (उन्हें) अपने ही हाथों से सजाकर बनाया हो ॥८॥ जो पवित्र हैं, सुन्दर-विचित्र हैं, सुन्दर भोगमय (सुन्दर भोग की सामग्री से सुसज्जित) हैं॥ जो फूल और सुगन्धित (अतर-गुलाब आदि) द्रव्यों से सुवासित हैं। जहाँ सुन्दर मणिमय पलग और (उनके आस-पास) सुन्दर मणिमय दीपक हैं। इस तरह जहाँ सब तरह के सुपास हैं ॥९०॥

विशेष—(१) 'सोवत प्रभुहि निहारि···'—श्रीरामजी 'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ हैं, पर निषाद-राज की माधुर्यमय दृष्टि है। अतएव बड़े सुख से पले हुए राजकुमार को भूमि पर और पत्तों के बिछौने पर

सोता हुआ देखकर इन्हें भारी दुःख हुआ। इस दुःख का कारण उनकी प्रेमवशता है। इसे ऐश्वर्य कहकर श्रीलक्ष्मणजी समझावेंगे। इसलिये उनके पास अपना हार्दिक भाव कहेंगे, क्योंकि इसके समझने के अधिकारी हैं और श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा समझाने के योग्य हैं, भक्ति के नाते सजातीय हैं।

(२) 'तनु पुलकित जल···'—यहाँ उसकी प्रेम-दशा कही गई है। तन, मन, वचन से प्रेमवश है—'तनु पुलकित···'—तन, 'बचन सप्रेम···'—वचन और 'सप्रेम'—मन। इसीसे अपने परम-प्रिय की दुःखमय दशा समझकर न सह सका। लक्ष्मणजी से कहते हैं, ये श्रीरामजी का ऐश्वर्य कहकर दुःख दूर करेंगे।

(३) 'भूपति-भवन सुभाय सुहावा।·· '—'भूपति' अर्थात् पृथ्वी-भर के स्वामी दशरथ महाराज हैं। अतः, पृथ्वी-भर में उनके महल के बराबर किसीका महल नहीं है। रहा स्वर्ग, सो वहाँ का राजा इन्द्र भोग में सबसे बढ़कर है, यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मी० मू०), "सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १२), उस 'सुर पति' का महल भी बराबरी को नहीं पा सकता, नरेन्द्र के लिये नरेन्द्र की ही उपमा बहुत है, पर यहाँ सुरेन्द्र भी तुलना में नहीं पहुँचता। 'सुभाय'—बिना किसी सजावट के।

(४) 'मनि-मय-रचित···'—रति अत्यन्त सुन्दरी है। उसके भी पति कामदेव की सुन्दरता का का क्या कहना। वह जिसे अपने हाथों से सँवारेगा वह भवन तो अत्यन्त सुन्दर होगा ही। 'मनि-मय'—उसमें अमूल्य रत्न लगे हैं। 'रचित' से रचना की बड़ाई और 'चारु' से उसे सुन्दर कहा, उस सुन्दरता को कामदेव की स्वहस्त-रचना कहकर सुन्दर कारीगर के अनुसार कारीगरी का लक्ष्य कराया है।

(५) 'सुचि सुबिचित्र सुभोग···'—'सुचि' अर्थात् पवित्र है। प्रायः यवन आदि के घर भी सुन्दर होते हैं, पर वे शुचि नहीं होते। 'बिचित्र' अर्थात् रंग-बिरंग की चित्रकारी की गई है। 'सुभोगमय'—भोग-सामग्री से खचित है, क्योंकि श्रीसीताजी की सेवा के लिये सिद्धियाँ रहती हैं, यथा—"तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।" (दो० १०२)। अतः, अष्टाङ्ग भोग की सामग्री पूर्ण रहती है।

क्रम—स्नान के लिये शुचि तीर्थ-जल आदि वस्तुएँ हैं। उसके पीछे भोजन के लिये भोग के पदार्थ, फिर फूल-माला अतर आदि सुगन्ध भी हैं। फिर विश्राम के लिये पलँग है। रात को शोभा के लिये मणि-मय दीप हैं। जिसमें दुर्गन्ध, कालिख, गर्मी नहीं रहती तथा तेल घटने एवं बत्ती बुझने का भय नहीं है और भी आराम के सब पदार्थ हैं।

बिबिध बसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु बिसद सुहाई ॥१॥
तहँ सियराम सयन निसि करहीं। निज छबि रतिमनोज-मद हरहीं ॥२॥
ते सियराम साथरी सोये। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोये ॥३॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी ॥४॥
जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं ॥५॥

अर्थ—जहाँ अनेकों प्रकार के वस्त्र, तकिये और तोशक हैं जो दूध के फेन के समान कोमल, स्वच्छ और सुहावने हैं ॥१॥ वहाँ श्रीसीताजी और श्रीरामजी रात में सोया करते हैं और अपनी छवि से रति और काम की छवि के गर्व को हरते हैं ॥२॥ वे ही श्रीसीताजी और श्रीरामजी थके हुए और साथरी पर बिना वस्त्र के सो रहे हैं। देखे नहीं जाते, अर्थात् ऐसी दशा में इनका सोना देखकर बड़ा दुःख लगता है ॥३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, नगरवासी, सुन्दर शील स्वभाववाले मित्र, दास और दासियाँ ॥४॥ जिनकी अपने प्राणों की भाँति रक्षा (सार-सँभार) करते रहते थे, वे ही गोस्वामी श्रीरामजी पृथ्वी पर सो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बिबिध बसन उपधान ···'—ऊपर पलँग का वर्णन किया गया। अब उसपर का सामान कहते हैं कि वे सब दूध के फेन के समान कोमल और श्वेत हैं। तोशक पर शुक्ल वस्त्र और फिर उसपर श्वेत ही तकिये भी हैं।

(२) 'रतिमनोज-मद हरहीं—यह स्थान विहार स्थल है। अतः, शृंगार-प्रधान है, इसीसे श्रीसीताजी से रति के छवि-मद का और श्रीरामजी से कामदेव के छवि-मद का हरा जाना कहा गया और ऊपर 'जनु रतिपति निज हाथ सँवारे' भी कहा गया है. तथा—"लाजहिं तन सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम।" (बा० दो० १४६), "रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी॥" (अर० दो० २१)। अतः, रति और काम की शोभा की ठसक का हरण करते हैं।

(३) 'ते सियराम साथरी···'—सदा उत्तमासन पर सोनेवाले हैं, इन्हें साथरी पर नींद न आती, किन्तु 'श्रमित' हैं, इससे सोये हैं, यथा—"श्रमित भूप निद्रा अति आई।" (बा० दो० १६९), (फिर कल रात के तमसातट के जगे हुए भी हैं)। 'बसन बिनु'—वल्कल मात्र ही धारण किये हुए हैं, यह श्रीरामजी के प्रति कहा गया है। श्रीजानकीजी सामान्य वस्त्र रक्खे हुई हैं।

(४) 'सखा सुसील दास अरु दासी'—सखा, दास आदि सुशील हैं, शठ एवं उत्तर देनेवाले नहीं, यथा—"दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।" (चाणक्यनीति), ऐसे नहीं हैं, किन्तु सुशील हैं और श्रीरामजी को प्राण की तरह मानकर रक्षा करनेवाले हैं। 'जोगवहिं' शब्द बहुत उपयुक्त है, क्योंकि सेवा करना आदि कहने से, माता-पिता एवं पुरवासी में ब्राह्मण भी आ जाते हैं, उनके प्रति अनुचित होता। 'प्राण की नाईं'—क्योंकि श्रीरामजी सबको प्राणों की तरह प्रिय हैं, यथा—"कोसलपुरबासी नर-नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। 'गोसाईं'—गो का अर्थ पृथ्वी, अर्थात् पृथ्वी-भर के स्वामी होकर भूमि पर कैसे सो रहे हैं?

पिता जनक जगबिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस-सखा रघुराऊ॥६॥
रामचंद पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥७॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥८॥

दोहा—कैकयनंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह॥९१॥

अर्थ—जिनके पिता श्रीजनकजी हैं, जिनका प्रभाव सारे संसार में प्रसिद्ध है और जिनके ससुर इन्द्र के सखा एवं रघुकुल के राजा श्रीदशरथ महाराज हैं॥६॥ तथा जिनके पति श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे ही विदेह-नन्दिनी श्रीसीताजी पृथ्वी पर सो रही हैं, तो किसके लिये विधाता उल्टे नहीं होते?॥७॥ श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी क्या वन के योग्य हैं? लोगों ने सत्य ही कहा है कि (जीवों के दुःख-सुख भोग में) कर्म प्रधान है॥८॥ केकय-राज की लड़की नीच-बुद्धि कैकेयी ने कठिन कुटिलता की है कि जिसने श्रीरामजी और श्रीजानकीजी को सुख भोगने के समय दुःख दिया (यह बड़ा अनुचित किया)॥९१॥

विशेष—(१) 'पिता जनक जग··· ···', यथा—"पितु-बैभव बिलास मैं दीठा। नृप मनि मुकुट मिलत पद पीठा॥ सुख निधान अस पितु गृह मोरे।" (दो० ९७)। संसार में ऐसा कोई नहीं है जो भोग और योग का साथ ही भोक्ता हो, पर जनकजी में दोनों साथ ही रहते हैं, यथा—"पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोग जोग जग जेही॥" (दो० १९८)।

'ससुर सुरेस-सखा·····', यथा—"ससुर चक्कवइ कोसल राऊ।·····आगे होइ जेहि सुरपति लेई।·· " (दो० ९७)।

(२) 'रामचंद पति सो बैदेही·····'—'चदि—आह्लादने' धातु से 'चन्द्र' शब्द होता है, अर्थात् जो ब्रह्माण्ड-भर को आह्लादित (आनन्दित) करता है, वह चन्द्रमा है, वैसे श्रीरामजी ब्रह्माण्ड-भर को आनन्दित करनेवाले हैं। पिता का जगत्-भर में, श्वसुर का स्वर्ग तक और पति का ब्रह्माण्ड-भर में प्रसिद्ध प्रभाव कहा गया, क्रमशः अधिक कहा।

'सोवत महि बिधि बाम·····'—अर्थात् ऐसी श्रीसीताजी के लिये जो ब्रह्मा टेढ़े होते हैं, तो भला और किसके लिये न होंगे। निषाद-राज को प्रभु का भूमि पर सोना देखकर विषाद हुआ—"सोवत प्रभुहिं निहारि···" इसीसे वे बार-बार वही कहते हैं, यथा—'तेइ सियराम साथरी सोये।" "महि सोवत तेइ राम गोसाईं।" तथा यहाँ भी—"सोवत महि बिधि बाम न केही।" इत्यादि।

(३) 'सिय रघुबीर कि कानन·····'—श्रीसीतारामजी क्या वन के योग्य हैं? ऐसा कहकर फिर स्वयं उत्तर देते हैं कि श्रीरामजी का वनवास कर्म की प्रधानता से हुआ, यथा—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८)। इसे ही पहले विधि की वामता कही थी, उसका भी इस कथन से मेल है, क्योंकि विधि का कर्त्तव्य जीवों के कर्मानुसार ही होता है, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१)। कर्म का कार्य किसीके द्वारा ब्रह्मा कराते हैं, वही आगे कहते हैं "कैकयनंदिनि···" कुटिलता के सम्बन्ध में अवध-सम्बन्धी नाम न दिया, केकय देश का नाम दिया, ऐसी कुटिलता उसने बुद्धि की नीचता से की है, इसीसे 'मंदमति' कहा। 'सुख अवसर···'—इस समय सुख भोग का समय था, वृद्ध होने पर वनवास का दुःख भोगा जाता है—"चौथेपन जाइहि नृप कानन।" (लं० दो० ६), "अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू॥" (दो० ५५)।

भइ दिनकरकुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥१॥
भयउ बिषाद निषादहि भारी। राम-सीय महि-सयन निहारी॥२॥

अर्थ—कैकेयी सूर्यकुल-रूपी वृक्ष को काटने के लिये कुल्हाड़ी हुई, इस दुर्बुद्धि ने सारे संसार को दुःखी कर दिया॥१॥ श्रीरामजी और श्रीसीताजी को पृथ्वी पर सोते हुए देखकर निषाद-राज को बड़ा भारी दुःख हुआ॥२॥

विशेष—(१) 'भइ दिनकरकुल·····'—राजा दशरथजी ने कहा ही था—'जनि दिनकरकुल होहि कुठारी॥" (दो० ३३), पर इसने नहीं माना, यह सत्य ही 'भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी' हुई। पहले केवल सीतारामजी को ही दुःख देना कहा, अब उसी कारण से कुल-भर का दुःखी होना कहा। रघुकुल को फूला-फला वृक्ष के समान कहा, क्योंकि इसके आश्रय से जगत्-भर का हित था। उसे इसने काट डाला, जिससे संसार भर दुःखी हुआ, ऐसा करने का कारण 'कुमति' शब्द से कहा। प्रथम श्रीसीतारामजी को, फिर कुल को और फिर विश्व-भर को दुःखी करना कहा, इस तरह क्रमशः अधिक लोगों को दुःख देना कहा।

(२) 'भयउ बिषाद निषादहि···'—निषाद को पहले विषाद होना कहा गया, अब वही कहते-कहते भारी हो गया। निषाद लोग हिंसक होने से कठोर हृदय के होते हैं, जब निषादराज को करुणा आ गई और भारी विषाद हो गया, तब औरों की क्या कहना है?

निषाद-राज के बिषाद का उपक्रम—"सोवत प्रभुहिं निहारि निषादू। भयेउ प्रेबबस हृदय बिषादू॥" (दो० ८९) पर हुआ था। यहाँ 'भयउ बिषाद निषादहि भारी' पर उसका उपसंहार हुआ। गीता में प्रथम अर्जुन को विषाद हुआ, तब दूसरे अध्याय से उन्हें उपदेश दिया गया, वैसे यहाँ तक निषाद का विषाद योग कहा गया, आगे उन्हें तत्त्वोपदेश होगा।

श्रीलक्ष्मण-गीता

बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगतिरस सानी ॥३॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥४॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥५॥
जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू ॥६॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू ॥७॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं ॥८॥

दोहा—सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥९२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने ज्ञान-वैराग्य और भक्ति-रस में मिली हुई मीठी कोमल वाणी में कहा—॥३॥ कोई किसीको सुख या दुःख का देनेवाला नहीं है। हे भाई! सब अपने ही किये हुए कर्मों को भोगते हैं ॥४॥ संयोग-वियोग, भला-बुरा, भोग, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ (उदासीन), ये सभी भ्रम के फन्दे हैं ॥५॥ जन्म, मरण—जहाँ तक जगत् का जाल (फैलाव) है। सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म और काल ॥६॥ पृथ्वी, घर, धन, गाँव, कुटुम्ब, स्वर्ग और नरक—जहाँ तक इनके व्यवहार देखने, सुनने और मन में विचारने में आते हैं, सबका मूल मोह है, परमार्थ (दृष्टि में कुछ) नहीं है ॥७-८॥ जैसे स्वप्न में कोई भिखारी राजा हो जाय और स्वर्ग का स्वामी इन्द्र कंगाल हो जाय, जागने पर (भिखारी को) न तो कुछ लाभ ही है और (इन्द्र की) न कुछ हानि ही, इसी तरह (नानात्व) जगत् के व्यवहारों को अपने हृदय में देखो ॥९२॥

विशेष—(१) 'बोले लखन मधुर मृदु बानी'—निषाद के मत को खंडन करके अपना मत उसके हृदय में जमाना है, इसलिये श्रीलक्ष्मणजी ने मधुर-मृदुवाणी से कहा कि उसे दुःख न हो और वह मान ले। श्रीरामजी जग न पड़ें, इसलिये भी धीमे बोलते हैं। निषाद-राज ने 'सप्रेम' कहा है—'बचन सप्रेम लखन सन कहई।' अतएव इन्होंने भी 'मधुर मृदु' कहा।

(२) 'काहु न कोउ सुख दुःख···'—निषाद-राज ने कहा था कि कैकेयीजी ने श्रीरामजी को दुःख दिया और इसका कारण कर्म को कहा था। श्रीलक्ष्मणजी ने निषाद के मत की कर्म-प्रधानता लेते हुए प्रथम कैकेयीजी को निर्दोष किया कि वह तो निमित्त-मात्र है। मुख्य अपने कर्म का भोग ही है। फिर—"जोग बियोग भोग···" से "जहँ लगि ब्यवहारू ॥" तक कर्म-प्रधानता का विकार कहा गया। पुनः—"देखिय सुनिय गुनिय मनमाहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ॥" से उक्त कर्म-विकार को मोह मूलक कहा और यह भी बतलाया कि परमार्थ (ज्ञान) दृष्टि से यह सब कुछ नहीं है, फिर इसी अन्यथा प्रतिपत्ति (विपरीत ज्ञान) को—"सपने होइ भिखारि नृप···" इस दोहे से स्पष्ट किया, तथा—"भोजनाच्छादने चैव मात्रा पित्रा च संग्रहम्। स्वकृते नाधिगच्छन्ति लोके नास्त्यकृतं पुरा। धात्रा विहितभक्ष्याणि सर्वभूतानि मेदिनीम्। लोके विपरिधावन्ति रक्षितानि स्वकर्मभिः ॥" (महा० शान्ति० २८८।१७-१८), "शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा। कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां

भाग्यसंयुताम्। अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम्॥' (महा० अनुशा० ६।१०-११)—इसी विषय पर महा० अनुशा० ६ में बहुत विस्तृत विवेचन है।

'मोहमूलकता'—'निज कृत···' अर्थात् कर्मों को अपने किये हुए मानना ही मोह से है, यही सब अनर्थों का मूल है, यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥ तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥" (गीता० ३। २७-२८), अर्थात् प्रकृति के गुणों से कर्म होते हैं, प्रकृति भगवान् का शरीर है। तथा जीव जो कर्मों का संकल्प करने से कर्त्ता कहाता है, वह भी भगवान् का शरीर है और जीव पूर्व कर्मानुसार भगवान् की प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः, जीव नियाम्य है, भगवान् नियामक हैं। शरीर एवं नियाम्य होने से प्रकृति और जीव कर्मों के कर्तृत्वाभिमानी नहीं हो सकते। अपनी मूढ़ता से जीव गुणाभिमानी होकर कर्त्ता बनकर उपर्युक्त योग-वियोग आदि विकारों का भागी होता है, यथा—"तै निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं, अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं। ताते परबस परयो अभागे।···॥" (वि० १३६)। 'भ्रमफंदा' अर्थात् ये सब भ्रम से उत्पन्न फन्दे हैं, यथा—"शत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरियाई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाँई॥" (वि० १२४), अर्थात् इन फन्दों को मन ने ही मोह से कल्पना करली है।

(३) 'सपने होइ भिखारि नृप ··'—उपयुक्त 'मोहमूल' को स्वप्न के दृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे जाग्रत् अवस्था में जो-जो देखा और सुना है, उससे उत्पन्न वासना के द्वारा जो प्रपंच का अनुभव होता है, वह स्वप्न है। वैसे यहाँ राजा का रंक और रंक का राजा होना दृष्टान्त में कहा गया है। जीव का शुद्ध स्वरूप राजा के समान है, यथा—"निष्काज राज विहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पस्यो॥" (वि० १३६), वह भगवान् की शरीर-रूपता छोड़कर मोहवश (देहाभिमानी) हुआ, यही निशा हुई और देह से हुए पूर्वकृत कर्मों के अभिमानी होने से जो फल-रूप में योग-वियोग आदि के अनुभव होते हैं, यह स्वप्न देखना है, यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥" आगे कहेंगे। तीनों तापों का अनुभव करना रंक होना है। पुनः भगवान् का शरीर होने से जीव उनके परतन्त्र रंक के समान है, वह देहाभिमानी होकर इन्द्रिय-देवों के विषय भोग के साथ उनका अभिमानी होकर इन्द्र की नाईं विषय-भोक्ता भी हो गया है। जागने के साथ ही न तो इसका इन्द्रपन का यह लाभ रह जायगा और न रंक होने की उक्त हानि ही, जाग्रत् होने पर यह अपनेको भगवच्छरीर रूप में जानता है। अतः, इन्द्रियाभिमानी होने का इन्द्रपना नहीं रह जाता और फिर जो इन्द्रियाधीन हो तीनों ताप भोगते हुए रंक था—वह रंकपना भी नहीं रह जाता। उसके लिये उपाय आगे कहते हैं—

(४) "बोले लखन मधुर मृदु बानी।···" से यहाँ तक में ज्ञान द्वारा उक्त 'कर्म-प्रधान' की मीमांसा की। आगे विराग का विवेचन करते हैं—

अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू। काहुहि बादि न देइय दोषू॥१॥
मोहनिसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥२॥
येहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंचबियोगी॥३॥
जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥४॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥५॥

अर्थ—ऐसा विचारकर क्रोध मत कीजिये, व्यर्थ किसीको दोष नहीं दीजिये॥१॥ सब लोग मोह रूपी रात में सोनेवाले हैं और उसी निद्रा में उन्हें अनेको प्रकार के स्वप्न देख पड़ते हैं॥२॥ इस जगत्-रूपी

रात में योगी लोग जागते हैं, जो परमार्थी हैं और प्रपंच से निर्लिप्त हैं ॥३॥ जब सब विषयों की क्रीड़ा से वैराग्य हो, तभी जानना चाहिये कि जीव इस जगत्-रूपी रात से जगा ॥४॥ विवेक होने पर जब मोह और भ्रम छूट जाते हैं, तब श्रीरघुनाथजी के चरणों में अनुराग होता है ॥५॥

विशेष—(१) 'नहिं कीजिय रोषू । ···'—निषादराज ने कैकेयीजी पर क्रोध किया था और उसे दोष दिया था । यहाँ उसका निराकरण करते हैं कि मोहवश लोग उसे दोष देते हैं । श्रीरामजी के विषय में कर्मवशता भी नहीं है, प्रत्युत वे स्वेच्छा से लीला कर रहे हैं, जिसके श्रवण से औरों के विकार छूटते हैं, यही आगे पुष्ट किया है ।

(२) मोह-निशा देहाभिमान है, उपर्युक्त योग-वियोग आदि का अनुभव स्वप्न है । यह स्वप्न-विकार जागने से ही छूटता है । अतः, आगे जागना कहते हैं कि इस जगत्-रूपी रात्रि से परमार्थी योगी जागते हैं, तब प्रपंच से रहित होते हैं । 'जग जामिनि', यथा—"सुत-बित दार-भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी ।" (वि० १४०), अर्थात् देहाभिमानी होने से सुत-बित आदि अंग-रूप हो जाते हैं और जीव उनका अंगी बनता है, तब उनकी ममता ही देहाभिमान-रूपा रात्रि है । अतः, योगी (संयमी) होकर परमार्थी होना चाहिये—गीता २।६९ भी देखिये । इन्द्रियों के विषय अर्थ हैं, उन इन्द्रियों से भगवान् का भजन करना परम अर्थ है । अतः, भगवान् ही परमार्थ हैं, यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।" आगे कहेंगे । श्रीरामजी भजनीय होने से परमार्थ-रूप हैं । जगत् उनका शरीर है, श्रीरामजी शरीरी हैं । शरीरी के शरीर-रूप हाथ-पाँव आदि सेवक-रूप होते हैं । अतः, इन्हें (शरीर-रूप जीवों को) उनकी सेवा करनी ही चाहिये । अतः, उपर्युक्त अनेक प्रकारता को भगवान् के शरीर-रूप में जानकर तन्निष्ठ (भगवान् का उपासक) होना परमार्थी होना है । इस तरह ज्ञान के द्वारा प्रपंच से वियोग हो जाता है, यथा—"जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥" (बा० दो० १११) अर्थात् भगवान् अपने शरीर-रूप जीवों के कर्मानुसार ही शत्रु-मित्र आदि-रूप से यथान्याय ही बर्ताव कर रहे हैं । यह भगवान् का जानना है । अतः, उपर्युक्त योग-वियोग आदि से उपेक्षा हो जायगी कि भगवान् हमारे कर्मानुसार ही योग-वियोग आदि के प्रवर्त्तक हैं, तब दूसरा कोई शत्रु-मित्र नहीं रह जायगा । यही प्रपंच-वियोग एवं जगत् का हेरा (खो) जाना है, इसीको आगे दो अर्द्धालियों से कहते हैं—

(३) 'जानिय तबहि···होइ बिबेक···'—अर्थात् जागने पर विषय-विलास (शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध इन पाँचों विषयों की भोग-वृत्तियों) का त्याग स्वतः होता है, क्योंकि—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।" (गीता ३।३४), अर्थात् विषय, राग-द्वेष करानेवाले हैं, जो उपर्युक्त जाग्रत् के विरुद्ध हैं । तब प्रज्ञा प्रतिष्ठित होने पर सत्-असत् का यथार्थ विवेक होता है, यथा—"तस्मात् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥" (गीता २।६८), तथा—"अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥" (महा० आदि० २।३९१), अर्थात् द्रव्यादि अर्थ और स्त्री आदि विषय चतुरों से सेव्य होने पर भी तृप्ति नहीं दे सकते और न इनमें स्थिरता ही है, ये अनित्य हैं । अतः, इनसे असक्त ही रहना चाहिये ।

'बिबेक'—जगत्-शरीरी श्रीरामजी के जानने से सत् का ग्रहण हुआ और अज्ञान-कल्पित 'सुत-बित-देह गेह-नेह' रूप नानात्व-जगत् के त्याग से असत् का त्याग हुआ । तब मोह जो देहाभिमान है और नानात्व-जगत् की सत्यता का भ्रम, ये दोनों निवृत्त हुए । तब 'रघुनाथ चरन' अर्थात् श्रीरामजी रघु संज्ञक जीवमात्र के पालक-रूप नाथ हैं, ऐसा जानने से उनमें अनुराग होगा ही, क्योंकि जिन-जिन उपकारों के प्रति जगत् में ममता फैली थी विवेक से वह सर्वत्र सिमटकर श्रीरामजी में ही हुई, यथा—"यहि जग में जहँ लगि या तन की प्रीति प्रतीति सगाई । सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि यक ठाँई ॥"

(वि० १४३), एवं—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥" सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं" "अस सज्जन मम उर बस ···" (सुं० दो० ४७)—इसका विशेष देखिये, तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥" (अर० दो० ३८), अर्थात् विवेक होने पर भजन ही होता है, इसे ही आगे परम परमार्थ (उत्कृष्ट ज्ञान एवं भक्ति) कहते हैं—

सखा परम परमारथ येहू। मन-क्रम-बचन रामपद नेहू॥६॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥७॥
सकल - बिकार-रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥८॥

दोहा—भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज-तनु, सुनत मिटहिं जगजाल॥९३॥

अर्थ—हे सखा! सबसे श्रेष्ठ परमार्थ यही है कि मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हो॥६॥ श्रीरामजी ब्रह्म हैं और परमार्थ के स्वरूप ही हैं, अविगत (अतिशय-विगत अर्थात् मन आदि इन्द्रियों से परे) हैं, अलख हैं, जन्म रहित, उपमारहित॥७॥ सब विकार (षडविकार) रहित और भेद से रहित हैं। वेद 'नेति-नेति' कहकर नित्य ही उनका निरूपण किया करते हैं॥८॥ भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ और देवताओं के लिये कृपालु श्रीरामजी मनुष्य-शरीर धारण करके चरित करते हैं, जिनका श्रवण करने से संसार-रूपी बन्धन छूट जाता है॥९३॥

विशेष—(१) 'सखा परम परमारथ येहू'—ऊपर श्रीरामजी को शरीरी जानकर तन्निष्ठ होने-वाला परमार्थी कहा गया था। यहाँ उसमें (परम परमार्थ रूप) मन-वचन-कर्म से स्नेह भी हुआ, तो अब वही परम-परमार्थी कहाया। पुनः विषय-सुख-सामग्री अर्थ, ज्ञान-वैराग्य (साधन रूप) परमार्थ और श्रीरामचरण में मन, कर्म और वचन से स्नेह होना (फलरूप सरस ज्ञान=परा भक्ति) परम परमार्थ है।

सम्बन्ध—इसपर निषाद-राज को सन्देह हो सकता है कि श्रीरामजी तो नर के समान देखे जाते हैं, कर्म की अधीनता भी इनमें दीखती है, तब इनका भजन परम परमार्थ कैसे होगा? इसलिये आगे श्रीरामजी के ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रूप कहते हैं—

(२) 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा ·'—राम ब्रह्म हैं, यथा—"व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी। अस प्रभु हृदय अछत···" (बा० दो० २२), इसकी व्याख्या में कहा गया है कि ब्रह्म षडैश्वर्य-पूर्ण एवं षड्विकार-रहित है, ब्रह्म शब्द-मात्र से निर्गुण का ही अर्थ होता है, यथा—"ब्रह्म राम ते नाम बड़" (बा० दो० २५), 'परमारथ रूपा' अर्थात् ज्ञान-स्वरूप हैं। अतः, कर्म-वश नहीं, क्योंकि—"कर्म कि होंहि स्वरूपहिं चीन्हें।" (उ० दो० १११), अर्थात् परमार्थ के ज्ञाता भी कर्म से निर्लिप्त रहते हैं और ये तो परमार्थ के स्वरूप ही हैं। 'अबिगत'—इन्द्रियों से परे हैं। अतः, भूमि पर सोने आदि के दुःखों का सम्पर्क इन्हें नहीं है। 'अलख' अर्थात् जो लखा या देखा न जा सके, श्रीरामजी ज्ञान-गम्य हैं, यथा—"ज्ञान-गम्य जय रघुराई॥" (बा० दो० २१०)।

'अनादि'—कर्म के नियामक ब्रह्मा सादि (स+आदि, आदिवाले=उत्पन्न होनेवाले) हैं और श्रीरामजी का दिव्य-रूप इनसे परे अनादि है। 'अनूपा'—जब दूसरा कोई इनसे भिन्न सत्तावान् हो तो उसकी उपमा भी दी जा सके। कहा भी है—"निरूपम न उपमा आनि राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९१)।

(३) 'सकल-बिकार-रहित गत-भेदा ।···'—षड्विकार से रहित हैं—बा० दो० २२ चौ० ६-७ का विशेष देखिये । 'गत-भेदा'—श्रीरामजी चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म एक ही हैं। इनसे भिन्न और कुछ नहीं है, अर्थात् जीव और प्रकृति ब्रह्म के अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध युक्त शरीर रूप एवं विशेषण हैं, श्रीरामजी स्वयं ब्रह्म-रूप विशेष्य हैं। इस (भेदराहित्य) से जनाया कि कैकेयीजी भी इनसे भिन्न नहीं हैं। अतः, उनके कार्य भी इनकी ही इच्छा एवं प्रेरणा से लीला के लिये हुए हैं। 'कहि नित नेति···'—बा० दो० १२ का विशेष देखिये ।

सम्बन्ध—जब अलख आदि हैं, तब प्रत्यक्ष क्यों देख पड़ते हैं ? इसके समाधान के लिये आगे अवतार कहते हुए उसी ब्रह्म का माधुर्य-रूप कहते हैं—

(४) 'भगत भूमि भूसुर सुरभि ·····'—'कृपाल' अर्थात् कृपा-गुण से ही भक्त आदि के हित के लिये अवतार लेकर चरित करते हैं, यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी ···हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥" (बा० दो० १२०)। 'सुनत मिटहिं जग जाल' से चरित्र-श्रवण का माहात्म्य कहा कि जो ऊपर—"जोग-बियोग भोग·····" से "जनम मरन जहँ लगि जग जालू ।" तक मोह-मूलक विकार कहे गये। वे सब इस चरित्र के सुनने से मिट जायँगे। अतः, यही उसका उपाय है, यथा—"बिनु सत संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (उ० दो० ६१)। इससे जनाया कि श्रीरामजी का ये भूमि-शयन आदि उनके प्रति विकार नहीं, किन्तु लीला-रूप में जगत् के लिये विकार छूटने के उपाय हैं, यथा—"जथा अनेकन बेष करि, नृत्य करै नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ ॥" (उ० दो० ७२), अर्थात् भगवान् नर-तन की लीला करने से नर ही नहीं हो जाते, किन्तु उपर्युक्त ब्रह्म रूप-वाले गुण इनमें रहते हैं। यहाँ भक्ति-विषयक संशय-निवृत्ति में श्रीरामजी के ऐश्वर्य, माधुर्य कहे गये। इससे भक्ति दृढ़ता हुई। अतः, इनके विषय में कर्म-परतन्त्रता का मोह (सन्देह) छोड़कर इनका भजन करो। यही निष्कर्ष हुआ। वही आगे कहते हैं—

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय - रघुबीर-चरन-रत होहू ॥१॥

अर्थ—हे सखा ! ऐसा समझकर और मोह को छोड़कर श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रीति करो ॥१॥

विशेष—(१) 'सखा समुझि अस ·····'—'अस' अर्थात् न तो कैकेयीजी ने ही श्रीरामजी को बलात् दुःख दिया है और न श्रीरामजी कर्म के वश ही हैं। वे यह सब चरित कर रहे हैं कि जिनसे उपर्युक्त भक्त भूमि आदि के हित होते हैं। 'परिहरि मोहू'—श्रीरामजी के विषय का अज्ञान कि ये दुःख पा रहे हैं, इसे छोड़ो। उपर्युक्त "सोवत प्रभुहिं निहारि बिषादू। भयो प्रेम-बस हृदय बिषादू ॥" के 'प्रेम-वश' का भाव ही यहाँ मोह कहा गया है, क्योंकि निषाद-राज ने श्रीरामजी को प्राकृत नर की तरह कर्मवश मानकर उनके दुःख में सौहार्द्य से दुःख माना है। जैसे अर्जुन का बान्धव-स्नेह ही मोह-रूप कहा गया है और उसका निवृत्त होना अन्त में कहा गया है, यथा—"नष्टो मोहः·····" (गीता १८।७३), वैसे यहाँ निषदराज का बान्धव-स्नेह मोह कहा गया। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उपर्युक्त उपदेश से निवृत्त किया। 'सिय रघुबीर चरन रत·····'—मोह-निवृत्ति से राम-पद-प्रेम होता है, यथा—"मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।" (उ० दो० ६१)।

सारांश—प्रारम्भ में कहा गया है—"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगति रस सानी ॥"। 'काहु न कोउ···' से 'तिमि प्रपंच जिय जोइ' तक ज्ञानपरक वचन हैं। 'अस बिचारि नहिं···' से 'जब सब बिषय-बिलास बिरागा ॥' तक बिरागपरक वचन हैं और जब बिराग से असत का त्याग आ तब साथ ही 'होइ बिबेक···रघुनाथ चरन अनुरागा ॥' में सत् का ग्रहण कहा गया। तब "श्रुति

मत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिवेक।" (उ० दो० १००), में कही हुई पराभक्ति 'सखा परम रमारथ एहू। मन क्रम बचन राम-पद नेहू।' से 'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन त होहू॥" तक कही गई। इसे ही परम परमार्थ कहकर इसको ही परम प्राप्य कहा गया है।

शंका—यहाँ तो श्रीलक्ष्मण काण्डत्रय (कर्म-फल—वैराग्य, ज्ञान और भक्ति) का उपदेश दिया और आगे स्वयं अर० दो० १४-१५ में इन्होंने ही श्रीरामजी से ज्ञान-विराग और भक्ति की जिज्ञासा की है।

समाधान—(१) यहाँ इन तीनो का सामान्य कथन है, वहाँ प्रभु के श्रीमुख से इनकी पुष्टि एवं नमें कुछ विशेषता प्राप्त की है। (२) इसी व्याज से सत्संग किया है, जैसे भरद्वाजजी ने याज्ञवल्क्यजी एवं श्रीअगस्त्यजी ने शिवजी से पूछा है। यह रामायण में ही कहा गया है।

श्रीलक्ष्मण-गीता समाप्त।

कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जग - मंगल - सुखदारा॥२॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बटछीर मँगावा॥३॥
अनुजसहित सिर जटा बनाये। देखि सुमंत्र नयन जल छाये॥४॥
हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥५।

शब्दार्थ—दारा=देनेवाले, यह 'दा-दाने' धातु से निष्पन्न 'दारु' शब्द का अनुप्रासानुसार विकृत-रूप है, यथा—(त्रि०) दा-दाने। दानशील, देनेवाला।" हिन्दी—विश्वकोश।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण कहते हुए सवेरा हो गया, जगत् के मंगल और सुख के देनेवाले श्रीरामजी जाग उठे॥२॥ सब शौच के कृत्य करके पवित्र और सुजान श्रीरामजी ने स्नान किया और बरगद का दूध मँगाया॥३॥ (उस दूध से) भाई के साथ सिर पर जटाएँ बनाईं, यह देखकर श्रीसुमन्त्रजी के नेत्रों में आँसू छा गये॥४॥ उनके हृदय में अत्यन्त जलन है और मुख अत्यन्त मलिन (उदास) है, हाथ जोड़कर उन्होंने अत्यन्त दीन वचन कहा॥५॥

विशेष—(१) 'कहत राम.गुन भा·····'—श्रीलक्ष्मणजी राम-गुण कहने में मुख्य हैं, यथा—"राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा-प्रभाउ जान्यो हर हनूमान लखन भरत।" (वि० १११), (इसमें विपरीत यथासंख्यालंकार से अर्थ है कि भरतजी स्वभाव, श्रीलक्ष्मणजी गुण, श्रीहनुमानजी शील और श्रीशिवजी महिमा-प्रभाव के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ हैं।) इसीसे गुण कहते-कहते रात बीत गई। पुनः राम-गुण-गान के श्रवण से गुह की मोह-रात्रि दूर हो गई और विज्ञान-रूपी सवेरा हो गया।

यहाँ इस 'लक्ष्मण-गीता' की फल-श्रुति कही गई है कि इसके श्रवण से मोह छूटकर विज्ञान होता है और 'सिय रघुबीर चरन रत होहू।' के अनुसार श्रीराम-भक्ति होती है। यह गीता प्रथम सब जीवों के भक्ति-मार्ग के आचार्य रूप श्रीलक्ष्मणजी ने कही है। दूसरी 'राम-गीता' अर० दो० १३-१६ में श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी ने कही है। तीसरी गीता लं० दो० ७६ में श्रीविभीषणजी से श्रीरामजी ने कही है, इसे 'भगवद्गीता' कहते हैं। चौथी 'पुरजन गीता' उ० दो० ४२-४६ में कही गई है और पांचवीं 'ज्ञान गीता' एवं उसके साथ ही 'भक्ति गीता' उ० दो० ११६-१२० में गरुड़-भुशुंडी-संवाद में कही गई है। इनको फल-श्रुतियाँ भी क्रमशः—(क) यहाँ की ऊपर कही गई, (ख)—"तिन्ह के हृदय कमल महँ, करउँ सदा बिश्राम।" (ग)—"महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर। जाके अस रथ होइ दृढ़···" (घ)—"उमा अवधबासी नर, नारि कृतारथ रूप।" (ङ)—"जौ निर्बिघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" एवं—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सोइ

हरि भगति···।" इस गीता में भक्ति सिद्धान्त की उपपत्ति रूप में 'ज्ञान प्रसंग' कहा गया है। उसमें कष्टाधिक्य एवं गुणोत्तर सिद्धि आदि कह दीपक रूप में कहा है और फिर तुलनात्मक दृष्टि से भक्ति को चिन्तामणि एवं सभी गुणों में ज्ञान से कहीं अधिकता कही है। इस दृष्टि से यह 'भक्ति गीता' ही है।

'जागे जग-मंगल-सुखदारा।'—श्रीरामजी ने अभी तक की लीलाओं से अवध-मिथिला में मंगल किया। अब वन-लीला से जगत्-भर का मंगल और सुख-दातृत्व प्रारम्भ करेंगे, यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः ईश्वर की जागर्त्ति से जगत् का मंगल और सुख है।

(२) 'सकल सौच करि···'—जनकपुर में—'सकल सौच करि जाइ नहाये' कहा गया था, पर यहाँ 'जाइ' नहीं कहा गया, क्योंकि यहाँ तो गंगाजी के तट पर ही ठहरे हैं। 'सुचि'—शौच कृत्य और नहाना कहने से पहले का अशुचि होना पाया जाता, इसलिये शुचि शब्द कहा है कि आप तो सहज ही शुद्ध हैं, यथा—"शुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानु कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (दो० ८७), "तीरथ अमित कोटि सम पावन।" (उ० दो० ९१)।

'सुजान बटछीर मँगावा'—'सुजान' हैं। इससे सुमन्त्र का अभिप्राय जान गये कि ये लौटाने की हठ करेंगे। इसलिये जटाएँ बना लीं कि जिससे वे निश्चय जान लें कि ये न लौटेंगे, फिर व्यर्थ हठ न करें और पिता-तुल्य वृद्ध मन्त्री से मुझे रुक्ष उत्तर की धृष्टता भी न करनी पड़े। श्रीरामजी का यह भी अभिप्राय है, मुझे जटा बनाते हुए देखकर ये वहाँ कहेंगे, तो कैकेयी को निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष से वन को गये। यह मन्त्री और कैकेयी के प्रति भी सौशील्य गुण का बर्ताव है। 'मँगावा'—से यह भी जान पड़ता है कि वहाँ समीप में वट-वृक्ष न था। नहीं तो उसीके नीचे ठहरते, जैसे कि अन्यत्र पाया जाता है, यथा—"घरिक बिलंब कीन्ह बट छाहीं।" (दो० ११४), "देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि···" (दो० १२३), "बट छाया बेदिका" (दो० २३६)। "पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा।" (उ० दो० ६५), इत्यादि।

(३) 'अनुज सहित सिर जटा···'—श्रीरामजी ने और मुनि वेष तो कैकेयी के सामने ही बना लिया था। केवल जटा बनाना शेष था। उसकी पूर्त्ति यहाँ की। श्रीलक्ष्मणजी ने भाई की भक्ति से जटा बनाई, क्योंकि इन्हें मुनि वेष करने के लिये पिता की आज्ञा नहीं थी। वट का दूध गुह से मँगाया और श्रीरामजी ने अपनी और (लक्ष्मणजी की रुचि से) लक्ष्मणजी की भी जटाएँ बनाई हैं, यथा—"जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय। तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत्॥ लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।" (वाल्मी० २।५२।६८-६९)। 'देखि सुमंत्र नयन जल छाये'—भाव यह कि कहाँ तो इस सिर पर मुकुट और तिलक देखने की अभिलाषा थी और कहाँ अब जटा देख रहा हूँ।

(४) 'हृदय दाह अति बदन मलीना।···'—श्रीसुमन्त्रजी मन, वचन और तन इन तीनों से अत्यन्त दुखी हो गये, यथा—'हृदय दाह अति'—मन, 'अति बदन मलीना'—तन, और 'कह कर जोरि बचन अति दीना।' से वचन की दुःखमय दशा प्रत्यक्ष है। ये तीनों प्रकार के दुःख प्रथम से भी थे, पर अब जटा बनना देखकर 'अति' हो गये।

नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथ जाहु राम के साथा॥६॥
बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥७॥
लखन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥८॥

दोहा—नृप अस कहेउ गोसाइँ जस, कहइ करउँ बलि सोइ ।
करि बिनती पायन्ह परेउ, दीन्ह बाल जिमि रोइ ॥६४॥

अर्थ—हे नाथ ! कोशलेश महाराजा श्रीदशरथजी ने ऐसा कहा था कि रथ लेकर श्रीरामजी के थ जाओ ॥६॥ वन दिखा और गंगाजी का स्नान कराकर दोनों भाइयों को शीघ्र ही लौटा लाना ॥७॥ व सन्देह और संकोच अलग करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी को लौटा लाना ॥८॥ गोसाईं ! राजा ने ऐसा कहा है । अब जैसा आप कहें, वैसा ही मैं करूँ । मैं आपकी बलिहारी हूँ । न प्रकार प्रार्थना करके वह पैरों पर गिर पड़ा और बालकों की भाँति (ऊँचे स्वर से) रो दिया ॥६४॥

विशेष—(१) 'नाथ कहेउ अस कोसलनाथा ।···'—'कोसलनाथा' कहने का भाव यह कि कोशल (अयोध्या) के कुशल के लिये आपको बुला रहे हैं । यही आगे—"तात कृपा करि कीजिय ाई । जाते अवध अनाथ न होई ॥" से स्पष्ट होगा । पहले श्रीसुमन्त्रजी ने पिता की आज्ञा सुनाकर रथ ं चढ़ाया है, यथा—'तब सुमंत्र नृप बचन सुनाये । करि बिनती रथ राम चढ़ाये ॥" (दो० ८२), उसी ज्ञ पर फिर भी राजा की यह आज्ञा सुना रहे हैं कि जिससे उसी तरह इसे भी श्रीरामजी मान लें ।

(२) 'बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई ।'—'बन देखाइ'—क्योंकि श्रीरामजी ने वनवास करने की तिज्ञा कर ली है, उसे इस तरह पूरी कर देना । 'सुरसरि अन्हवाई' पीछे कहा । इससे गंगाजी के इसी र का वन दिखाना सूचित किया । 'आनेहु बेगि'—'बेगि' से यहाँ शीघ्र मात्र अर्थ हुआ । पर राजा के र्व वचन—"फिरेहु गये दिन चारि" (दो० ८१) पर इसका भाव स्पष्ट हुआ है, क्योंकि १४ वर्ष की पेक्षा चार दिन बहुत ही अल्प कहे जायँगे ।

(३) 'लखन राम सिय आनेहु···'—प्रथम 'दोउ भाई' मात्र कहा था । व्याकुलता से श्रीसीताजी ो न कह सके थे । इसलिये फिर तीनों को कहा । वा, प्रथम दो में तीनों का भाव है । दोबारा अधिक ष्टि के लिये कहा । 'संसय सकल सँकोच निबेरी ।'—(क) श्रीरामजी यदि संशय करें कि पिताजी ने ावश ऐसा कहा है, मैं लौटूँगा तो उनका धर्म जायगा और यह संकोच करें कि हम वनवास के लिये ाकल पड़े अब कैसे लौटें ? तो उनके इन संशय और संकोच को दूर करना । (ख) तुम भी ऐसा संशय करना कि श्रीरामजी वनवास के लिये प्रतिज्ञा करके निकल पड़े । धर्मिष्ठ हैं लौटें या न लौटें तो कहूँ या कहूँ । पुनः कहने में संकोच न करना । (ग) यदि रामजी संशय करें कि प्रथम की आज्ञा चौदह वर्ष-ाली मानूं कि यह चार दिनवाली मानूं, तो उनके संशय को दूर करना कि पिताजी की यह आज्ञा है क चार दिनों की ही मानें, तथा लौटने में यदि उन्हें संकोच हो कि चौदह वर्ष को कहकर आये । अब ाब चार ही दिन में कैसे लौटें तो इस संकोच को भी दूर करना कि जिनकी आज्ञा से चौदह वर्ष के ाये चले थे, उन्हींकी अब यह आज्ञा है, उन्होंने ही अवधि में संकोच कर दिया है. तब आपको संकोच रना न चाहिये । इत्यादि 'सकल' शब्द में सब भाव हैं । 'निबेरी' = अलग करके, त्याग करके, यथा—गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ।" (उ० दो० १००) ।

(४) 'नृप अस कहेउ गोसाइँ···'—'नृप' (नृ=मनुष्य, प=पालक) अर्थात् राजा मनुष्यों के ालनकर्त्ता हैं । उन्हींके निमित्त उन्होंने ऐसा (उपर्युक्त) कहा है, अन्यथा प्रजा न जियेगी । 'गोसाइँ स···'— आप तो गोसाईं अर्थात् इन्द्रियजित हैं । अतः, वन के दुःख से न घबरायँगे, किन्तु प्रजा की क्षा के लिये यह प्रार्थना है । 'जस कहइ' अर्थात् ऐसा न हो कि संकोच से कुछ उत्तर न दें, तो मैं राजा ा क्या कहूँगा । अतः, लौटें अथवा उत्तर दें । विनती करके पैरों पर पड़ गये और रोने लगे, क्योंकि बड़ों र ऐसे ही दबाव पड़ता है ।

'दीन्ह बाल जिमि रोइ', यथा—"इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तथा। दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्त्तो रुरुदे चिरम्॥" (वाल्मी० २।५२।२०), अर्थात् मन्त्री ने अति बुद्धिमत्ता से ऐसा कहते हुए, श्रीराम का दूर देश जाना विचार कर बड़ी देर तक रोते ही रहे (पीछे फिर श्रीरामजी ने समझाया है)।

तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥१॥
मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम-मत तुम्ह सब सोधा॥२॥
सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥३॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥४॥
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥५॥
मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजे तिहूँ पुर अपजस छावा॥६॥

अर्थ—हे तात! आप कृपा करके वही कीजिये, जिससे अयोध्या अनाथ नहीं हो॥१॥ श्रीरामजी ने मन्त्री को उठाकर विशेष रीति से समझाया—हे तात! आपने धर्म के सब मतों (सिद्धान्तों) का संशोधन किया है॥२॥ राजा शिवि, दधीचि ऋषि और राजा हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिये करोड़ों कष्ट सहे हैं॥३॥ इसी प्रकार सुजान राजा रन्तिदेव और बलि ने भाँति-भाँति के कष्ट सहकर भी धर्म को धारण किया है॥४॥ सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। शास्त्रों, वेदों और पुराणों में कहा है॥५॥ मैंने वही धर्म सहज ही में पाया है। उसका त्याग करने से तीनों लोकों में अपयश फैलेगा॥६॥

विशेष—(१) 'तात कृपा करि कीजिय सोई···'—धर्म की दृष्टि से लौटा नहीं सकते। इसलिये अवधवासियों पर कृपा करके लौटने को कहते हैं कि जिससे अवध अनाथ न हो, अर्थात् तुम्हारे न लौटने से राजा न जियेंगे। श्रीभरतजी भी राज्य न ग्रहण करेंगे तो अवध अनाथ होगी।

(२) 'मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा···'—मन्त्रीजी पिताजी के सखा हैं। अतः, उनका चरणों पर पड़ना न सह सके, उसे उठाकर समझाया। धर्म का मत कहकर समझाया, वही आगे कहते हैं कि तुम तो धर्म का मत जानते ही हो, इसलिये धर्मिष्ठों का उदाहरणमात्र ही कहता हूँ। धर्म का मत समझाने का प्रयोजन नहीं।

(३) 'सिबि दधीचि हरिचंद···'—इनकी कथाएँ पूर्व दो० २६ चौ० ७ एवं दो० ४७ चौ० ५ में आ चुकी हैं, तथा—"श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः। दध्यङ् शिवि प्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु॥" (भाग० ८।२०।७), अर्थात् बलि ने शुक्राचार्य से कहा है—हे ब्रह्मन्! दधीचि और शिवि आदि साधुजनों ने तो अपने दुस्त्यज प्राण निछावर करके भी प्राणियों के हित किये हैं, फिर भूमि आदि देने के विषय में तो सोचना ही क्या है?

(४) 'रंतिदेव बलि भूप सुजाना।···'—ये दोनों राजा धर्म की गति जानने में बड़े निपुण थे। बड़े-बड़े संकट सहकर इन्होंने धर्म की रक्षा की है। बलि की कथा पूर्व दो० २६ चौ० ७ में आ चुकी है। रन्तिदेव की कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ६ अ० २१ में विस्तार से कही गई है। ये दुष्यन्त के पुत्र भरत के वंश में राजा संकृति के पुत्र हुए। ये सर्वदा दान दिया करते थे। महा० द्रोण० ६७।१ में लिखा है—"यस्य द्विशत-साहस्रा आसन्सूदा महात्मनः॥" (इन महात्मा राजा (रन्तिदेव) के यहाँ दो लाख भोजन बनानेवाले रसोइये रहते थे)। सम्पत्ति चुक जाने पर एक बार ४८ दिनों तक इन्हें जल भी नहीं मिला। इन्होंने आकाशवृत्ति कर रक्खी थी। ४६ वें दिन प्रातःकाल इन्हें कुछ खीर-हलुवा और जल मिला। ये परिवार के साथ भोजन करना चाहते थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गये, उन्हें खिलाया। वे चले गये। रन्तिदेव सभीमें श्रीहरि को ही देखते थे। फिर शेष अन्न को परिवार में बाँटकर भोजन करना चाहा, उसी समय एक शूद्र

अतिथि आ गया। राजा ने उसे भी खिलाया। वह चला गया, तब कुत्तों को लिये हुए एक और अतिथि आया और अपनेको क्षुधित कह भोजन माँगा, तब शेष सब भोजन उसे दे दिया। पुनः कुत्ते के रूप में आये हुए भगवान् को नमस्कार किया। अब केवल एक व्यक्ति के पीने-भर को जलमात्र रह गया था। उसे ये आपस में बाँट कर पीना चाहते थे कि एक चाण्डाल और आ पहुँचा। उसने अत्यन्त प्यासा कहकर पीने को जल माँगा। रन्तिदेव दया से पूर्ण हो प्रिय वचन बोले—'मैं अष्टसिद्धि युक्त परमगति एवं मोक्ष भी नहीं चाहता, यही चाहता हूँ कि सबके हृदय में रहकर उनके दुःख भोगा करूँ जिससे किसी प्राणी को दुःख न हो'। फिर राजा ने उसे अवशिष्ट जल दे उसकी रक्षा की। इससे राजा की भूख-प्यास ब जाती रही। राजा परीक्षोत्तीर्ण हो गये। फिर विभिन्न रूपों से परीक्षा लेनेवाले भगवान् त्रिदेव रूप से प्रकट हुए। रन्तिदेव सपरिवार पूर्ण निष्काम थे। अतः, इन्होंने कुछ नहीं माँगा। पूर्णरूप से हरि में मन लगाया। यह दृश्य समाप्त हो गया। राजा सपरिवार भगवान् के आश्रित परम भक्त हो गये—श्लोक १-१८।

(५) 'धरम न दूसर सत्य समाना···'—यदि सुमन्त्रजी कहें कि उक्त लोगों में किसीका सर्वस्व और किसीका शरीर नष्ट हुआ, उसके लिये तुम क्यों कष्ट झेलोगे ? उसपर कहते हैं कि सत्य-रक्षा के समान दूसरा धर्म नहीं है। फिर वेदादि के प्रमाण दिये, यथा—"सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्। ···सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥···वेदाः सत्य-प्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥" (वाल्मी० २।१०९।१०-१४), एवं—"सत्यमेकं परोधर्मः सत्यमेकं परं तपः। सत्यमेकं परं ज्ञानं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः॥" (स्कन्द पु० ब्राह्म० चा० मा० २।१८), तथा—"चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः। स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः॥" (महा० वन० ६४।१७), अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारो वेदों के अध्ययन का फल एक ओर और अकेला सत्य एक ओर होता है। पुनः महा० आदि० ७४।१०४-११० में भी सत्य की महिमा वर्णित है।

(६) 'मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा।···'—पिता के वचन सत्य करना, यह सत्य-रक्षा रूप परम धर्म पालन करने को मुझे सुलभता से मिल गया कि केवल वन में थोड़े काल निवास करने मात्र में हो जायगा और सत्य-प्रतिज्ञ का यश होगा। इसे भी न कर सकने पर अपयश होगा कि श्रीरामजी धार्मिक वृत्ति में कादर थे जिससे सुलभ धर्म भी न कर सके। यही नहीं, किन्तु तीनों लोकों में अपयश छा जायगा, अर्थात् चिरकाल तक बना रहेगा। सत्य का त्यागना पाप है, उससे अपयश होगा, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावे कोई।" (उ० दो० १११), अपयश का भारी भय है, वही आगे कहाते हैं—

संभावित कहँ अपजसलाहू। मरन - कोटि-सम दारुन दाहू॥७॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिये उतर फिरि पातक लहऊँ॥८॥

दोहा—पितुपद गहि कहि कोटि नति, बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै, तात करिय जनि मोरि॥९५॥

अर्थ—अपयश प्राप्त होने से प्रतिष्ठित पुरुषों को करोड़ों मरण के समान कठिन दाह होता है॥७॥ हे तात ! मैं तुमसे बहुत क्या कहूँ ? क्योंकि उत्तर देने पर फिर पाप का भागी हूँगा॥८॥ पिता के चरण पकड़कर हमारा कोटिशः (बहुत-सा) प्रणाम कहना और हाथ जोड़कर विनय करना कि हे तात ! आप मेरे लिये किसी बात की भी चिन्ता न करें॥९५॥

विशेष—(१) 'संभावित कहँ अपजस···'—भाव यह कि अप्रतिष्ठित को अपयश होने पर उतना दुःख नहीं होता और प्रतिष्ठित को तो करोड़ों मरण के समान दुःख होता है, यथा—"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता० २।३४), दधीचि आदि को धर्म के विषय में एक ही बार मरण हुआ है,

पर वे कीर्त्ति रूप से संसार में जीवित ही है और मैं जो धर्म छोड़कर अपयश पाऊँगा तो मुझे मरने से कोटिगुणा दुःख होगा। महा० वन० ३०० में जब सूर्य ने जाना कि इन्द्र अर्जुन की रक्षा के लिये उनके विरोधी कर्ण के कवच-कुण्डल माँगने के लिये ब्राह्मण रूप से आरहे हैं, तब उन्होंने विप्र-वेष से कर्ण को चेताया कि वह धोखे से बच जाय, पर कर्ण ने कहा कि यदि इन्द्र मुझसे भिक्षा माँगेगा, तो मैं अवश्य दूँगा, मुझे जीवन से कीर्त्ति अधिक प्रिय है—"जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम्।"

(२) 'तुम्ह सन तात बहुत···'—तुम सर्व-धर्म-मत जानते ही हो। अतः, धर्मात्माओं के उदाहरण मात्र से कह दिया है। बहुत कहने की आवश्यकता ही नहीं है। तुम पिता के समान हो। फिर तुम्हारा वचन पिता का संदेशा है। अतः, उन्हें बिना विचारे ही मान लेना था, यथा—"गुरु पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (दो० १७६)। उत्तर देने से पाप होता है। इसीसे मैंने धर्मात्माओं के उदाहरणमात्र दिये हैं कि आप तो स्वयं समझ लेंगे।

(३) 'पितु पद गहि कहि···'—अर्थात् जितनी बार नमस्कार कहना, उतनी ही बार पैर धरना। श्रीरामजी पिता का अत्यन्त संकोच मानते हैं, बड़े लोग अपने से बड़ों का कितना संकोच रखते हैं, इसके आप आदर्श हैं। श्रीभरतजी ने भी कहा है—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (दो० २६०), 'चिंता कवनिहु बात···'—इसका कारण आगे कहा गया है, यथा—"बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहउँ।···"

तुम्ह पुनि पितुसम अतिहित मोरे। बिनती करउँ तात कर जोरे॥१॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे॥२॥
सुनि रघुनाथ-सचिव-संबादू। भयेउ सपरिजन बिकल निषादू॥३॥
पुनि कछु लखन कही कटुबानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥४॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखनसँदेस कहिअ जनि जाई॥५॥

अर्थ—आप भी पिताजी के समान हैं और मेरे अत्यन्त हितैषी हैं, हे तात! मैं हाथ जोड़कर आपसे विनती करता हूँ॥१॥ सब प्रकार से आपको वही करना चाहिये कि जिससे पिताजी हमारे शोच में दुःख न पावें॥२॥ श्रीरघुनाथजी और मन्त्रीजी का यह संवाद सुनकर कुटुम्ब के साथ निषादराज व्याकुल हो गये॥३॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ कड़वे वचन कहे, उन्हें बड़ा अनुचित जानकर प्रभु श्रीरामजी ने मना किया॥४॥ सकुचकर श्रीरामजी ने अपनी शपथ दिलाकर कहा कि श्रीलक्ष्मणजी का सन्देशा (वहाँ) जाकर मत कहना॥५॥

विशेष—(१) 'तुम्ह पुनि पितु सम···'—आप हमारे अत्यन्त हितैषी हैं, हमारा हित इसीमें है कि पिता हमारे शोच में दुःख न पावें, ऐसा उपाय करते रहना। श्रीरामजी मन्त्री को पिता के समान मानते हैं, इससे आपने हाथ जोड़कर कहा है। 'अतिहित', यथा—"इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये। यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु॥" (वाल्मी० २।५२।२२)।

(२) 'सब बिधि सोइ करतब्य···'—'सब बिधि' विधियाँ आगे स्पष्ट हैं। (क) "तुलसी करेहु सोइ जतन···", (ख) गुरु से सन्देश कहकर, यथा—"गुरु सन कहब संदेस, बार-बार···करब सोई उपदेस···", (ग) पुरवासियों से मेरी प्रार्थना सुनाना, यथा—"पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाह सुखारी॥", इत्यादि।

(३) 'दुख न पाव पितु सोच···'—इस प्रसंग में सर्वत्र श्रीरामजी ने अपने विषय में एक वचन ही का प्रयोग किया है, जैसे कि 'कहऊँ', 'मोरि', 'मोरे', 'करउँ' से स्पष्ट है। पर यहाँ 'हमारे' यह बहुवचन कहा है। इसका भाव यह कि मेरे, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी, इन तीनों के शोच में दुखी न होने पावें। ऐसा न कहते, तो जाना जाता कि श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजी का शोच राजा को नहीं है।

(४) 'भयेउ सपरिजन बिकल···'—मन्त्री की विनती और उसका अधीर होकर रोना एवं पाँव पड़ना, करुणामय है। पुनः श्रीरामजी का पृथक्-पृथक् सन्देशा कहना भी वैसे ही करुणा-पूर्ण है, तथा श्रीरामजी का वन जाने का निश्चय जानकर तो व्याकुलता बहुत ही बढ़ गई।

(५) 'पुनि कछु लखन कही···'—श्रीलक्ष्मणजी ने कौन से कटु वचन कहे हैं, उन्हें कवि ने नहीं खोला है। प्रायः ग्रन्थकार की रीति है कि ये ऐसे वचन खोलकर नहीं कहते, यथा—"कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर···" (लं० दो० ८९), "तेहि कारण करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद।" (लं० दो० १०७)। हाँ, श्रीवाल्मीकिजी ने २।५८।२६-३३ में लिखा है, जो चाहें वहाँ देख लें। श्रीरामजी की दृष्टि में वे कड़वे थे, क्योंकि वे सामान्यधर्म के आदर्श हैं। लक्ष्मणजी ने न्याय दृष्टि से कहा है। पिताजी ने श्रीरामजी की शपथ करके प्रतिज्ञा की थी, इससे उन्होंने परवशता में वर दिया। श्रीलक्ष्मणजी का ध्यान इतनी दूर न गया, ये श्रीरामजी का अपमान न सह सके, इसीसे इन्होंने कुछ कटु वचन कहे। इसपर श्रीरामजी सकुच गये कि इसमें कोई मेरा भी रुख न मान ले। वा, भाई के अनुचित कार्य पर भाई को लज्जा होती ही है। श्रीसुमन्त्रजी ने कटु वचन तो नहीं कहा, पर इस विषय की श्रीरामजी की सुशीलता को वे न छिपा सके, इसीसे उन्होंने यह गुण राजा को भी जनाया। श्रीरामजी ने मना कर दिया, यदि राजा उन वचनों को सुनते तो वे इन वचनों को राम-पक्ष-पोषक एवं अपने पर कुछ आक्षेपात्मक जान लक्ष्मण पर प्रसन्न ही होते।

'प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित ··'—भाव यह कि जिन पिता के वचन मानकर हम वन को जा रहे हैं, उन्हें ऐसा कहना बड़ा अनुचित है। श्रीरामजी ने बरज दिया, नहीं तो सम्भवतः वे और कुछ कहते। श्रीरामजी की इस उक्ति से लोक-शिक्षा भी हुई कि गुरुजनों के प्रति अनुचित कहना बड़ा दोष है। इसीसे यहाँ मानस के चारो वक्ता एक-मत हैं, किसीने उन वचनों को नहीं खोला।

(६) 'सकुचि राम निज सपथ···'—श्रीरामजी सकुच गये कि श्रीलक्ष्मणजी हमारी इच्छानुसार काम करनेवाले हैं। कहीं इनके सन्देश में मेरी सम्मति न मानी जाय, इसलिये अपनी शपथ दिलाई कि मन्त्री को हम अत्यन्त प्रिय हैं। अतः, हमारी शपथ के विरुद्ध वे कुछ न कहेंगे। 'लखन संदेश'—अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था कि हम जैसा कहते हैं, ऐसा ही राजा से जाकर कहना। इसपर दो० १५१ चौ० ८ भी देखिये।

कह सुमंत्र पुनि भूप - सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिनकलेसू ॥६॥
जेहि बिधि अवध आव फिर सीया। सोइ रघुबरहिं तुम्हहिं करनीया ॥७॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जलबिनु मीना ॥८॥

दोहा—मइके ससुरे सकल सुख, जबहि जहाँ मन मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान ॥९६॥

शब्दार्थ—बिहान = सवेरा वा बिहाइ न = समाप्त न हो, दूर न हो जाय। सुखेन = सुखपूर्वक।

अर्थ—फिर सुमन्त्रजी ने राजा का सन्देशा कहा कि श्रीसीताजी वन के दुखों को नहीं सह सकेंगी

॥६॥ इसलिये रघुवर को और तुमको वही करना चाहिये जिस तरह से श्रीसीताजी अवध को लौट आवें ॥७॥ नहीं तो बिल्कुल ही सहारा-रहित होने से मैं जीता नहीं रहूँगा, जैसे जल के बिना मछली ॥८॥ नैहर (पिता के घर) और ससुराल में सभी सुख हैं। जब जहाँ जी चाहे, वहाँ श्रीसीताजी सुख-पूर्वक रहेंगी। जबतक विपत्ति दूर न हो ॥९६॥

विशेष—(१) 'कह सुमंत्र पुनि भूप सँदेसू'—राजा ने कहा था—"जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। ···तौ तुम बिनय ··फेरिय प्रभु मिथिलेस किसोरी ॥" (दो० ८१), अर्थात् दोनों भाई न फिरें तो श्रीसीताजी के ही लौटने का सन्देशा कहना, तदनुसार यहाँ दोनों भाइयों के न लौटने का निश्चय होने पर श्रीसुमन्त्रजी दूसरा सन्देशा कहते हैं। यह 'पुनि' का भाव है। 'सहि न सकिहि सिय·····'—प्रथम तीनों को अत्यन्त सुकुमार कहकर लौटने को कहा था—"सुठि सुकुमार कुमार·····" (दो० ८१), अब इनमें भी श्रीसीताजी को और अधिक सुकुमारी दिखाते हुए लौटने को कहते हैं, 'जेहि बिधि अवध आव·····'—'तुम्हहि' अर्थात् श्रीसुमन्त्रजी को राजा ने श्रीसीताजी के लौटाने के लिये विधि बतलाई थी—"सासु ससुर अस··· पितु गृह कबहुँ···" (दो० ८१), पर 'रघुबरहिं' अर्थात् श्रीरामजी के लिये कोई भी विधि वहाँ नहीं कही थी, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी की आज्ञा मानकर श्रीसीताजी अवश्य लौट सकती हैं। इसीसे 'रघुबरहिं' को पहले कहा भी है।

(२) 'नतरु निपट अवलंब बिहीना।···'—श्रीसीताजी के लौटने से अवलम्ब होगा, यथा—"येहि बिधि करेहु उपाइ कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥" (दो० ८१), उनका न लौटना अवलम्ब-रहित होना है, अभी लौटने की आशा-रूप जल से जीते हैं, नहीं तो श्रीसीताजी के बिना जल-रहित मछली की तरह न जियेंगे।

(३) 'मइके ससुरे सकल सुख ·····'—राजा ने कहा था कि श्रीसीताजी के बिना मैं 'जल-हीन मछली की तरह न जिऊँगा' उससे यह समझा जाना कि श्रीसीताजी सदा मेरी दृष्टि के सामने ही रहें, उसका निराकरण करते हैं कि यह बात नहीं, नैहर, सासुर में जब जहाँ मन माने, वहाँ रहेंगी। लड़कियों को मायका अधिक प्रिय होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। अथवा पहले मायका है तब ससुराल है, वैसे ही कहा है। 'बिपति बिहान'—विपत्ति को रात मानकर बिहान से सवेरा होना भी अर्थ लिया जाता है, भाव एक ही है।

बिनती भूप कीन्हि जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती ॥१॥
पितु-सँदेस सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्हि सिख कोटि बिधाना ॥२॥
सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सबकर मिटइ खँभारू ॥३॥
सुनि पतिबचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही ॥४॥
प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी ॥५॥

अर्थ—राजा ने जिस तरह (दीन होकर) विनती की है, उनकी वह दीनता और प्रीति मुझसे नहीं कही जाती ॥१॥ पिता का सन्देशा सुनकर कृपानिधान श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को अनेकों प्रकार से शिक्षा दी ॥२॥ कि जो तुम लौटो तो सास, श्वसुर, गुरु, प्रियलोग और परिवार सबका खँभार (खल-बली, क्षोभ, घबराहट) मिट जाय ॥३॥ पति के वचन सुनकर श्रीजानकीजी कहती हैं कि हे प्राणपति! हे परम स्नेही! सुनिये ॥४॥ हे प्रभो! आप करुणामय और परम विचारवान हैं, (कहिये तो भला) देह को छोड़कर छाया रोकने से अलग कब रह सकती है? ॥५॥

विशेष—(१) 'बिनती भूप कीन्हि···'—पहले सन्देशा कहा था। अब बिनती भी सुनाते हैं, पिता की आज्ञा ही बहुत है, फिर उन्होंने बिनती भी की है, वह भी आर्ति और अत्यन्त प्रीति-पूर्वक है। तब तो आपको संकोच करना ही चाहिये। 'न सो कहि जाती' अर्थात् स्मरण होते ही हृदय भर आता है।

(२) 'पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना। ···' –"सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटइ खँभारू॥" ये वचन सास आदि पर कृपा करके कहे हैं। अतः, 'कृपानिधान' हैं। 'कोटि बिधाता'—प्रथम एक बार माता के समक्ष में कह चुके हैं, वे ही सब एवं उसी प्रकार के उपदेश यहाँ भी हैं। अतः, फिर नहीं लिखे गये। प्रथम बार आज्ञा दी थी—"बचन हमार मानि गृह रहहू।" (दो० ६०), उस-पर श्रीजानकीजी ने ऐसे वचन कहे थे कि विवश होकर उन्हें साथ लेना ही पड़ा। इसीसे इस बार श्रीराम जी आज्ञा नहीं देते, शिक्षा-मात्र देते हैं।

(३) 'सासु ससुर गुरु प्रिय···'—तुम्हारे फिरने से सबका दुःख मिटेगा, क्योंकि तुम सबके प्रिय हो, यथा—"तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहिं पियारी॥" (दो० ५७), 'फिरहु त' अर्थात् फिरना तुम्हारे अधीन है, मैं कुछ वैसी आज्ञा नहीं देता हूँ।

(४) 'सुनि पतिबचन कहति···'—मन्त्री ने राजा के वचन पहले कहे थे, उसके पीछे श्रीरामजी ने कहा है, किन्तु श्रीजानकीजी प्रथम श्रीरामजी को ही उत्तर देती हैं। पीछे मन्त्री से कुछ विस्तार से कहेंगी। यह 'सुनि पतिबचन' से प्रकट है। 'बैदेही' का भाव यह कि पति के बिना इनकी देह न रहेगी। तथा 'प्रानपति' अर्थात् प्राण भी न रहेंगे। पुनः 'बैदेही' पद का भाव यह राजा ने कहा है—'सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू' इसके प्रति इस बैदेही पद में ध्वनि है कि ये मन से श्रीरामचरण में रत रहती हैं, इससे देहाध्यास रहित हैं, फिर इन्हें वन के क्लेशों का अनुभव ही न होगा, यथा—"मन तहँ जहँ रघुबरबैदेही। बिनु मन तनु दुख-सुख सुधि केही॥" (दो० २७४), "सिय मन रामचरन अनुरागा। घर न सुगम बन बिषम न लागा॥" (दो० ७७), 'प्रानपति'—मेरे प्राणों के रक्षक आप हैं तो मुझे भय किसका, यथा—"प्रभु सँग मोहिं चितवनिहारा॥" (दो० ६६), 'परम सनेही' अर्थात् सास आदि स्नेही हैं और आप परम स्नेही हैं तो आपको छोड़कर मैं उन सबके पास कैसे जाऊँ ?

(५) 'प्रभु करुनामय परम बिबेकी।···'—'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें, जिसमें मेरे प्राण रहें। 'परम बिबेकी'—श्रीजानकीजी विवेक की बातें कहेंगी, इसलिये कहती हैं कि आप परम विवेकी हैं, आपके सामने कोई विवेक की बातें कहाँ तक कहेगा ? आप तन हैं, तो मैं छाया, यथा—"कृत-कृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।" (वाल्मी० २।४०।२४), जहाँ तन जाता है, वहीं छाया भी साथ रहती है, कोई छेंक (रोक) कर अलग नहीं कर सकता। वैसे ही मैं भी आपके साथ ही रहूँगी। भाव यह कि यदि आप लौटें तो मैं भी लौट सकती हूँ।

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई॥६॥
पतिहि प्रेममय बिनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई॥७॥
तुम्ह पितु-ससुर-सरिस हितकारी। उतर देउँ फिरि अनुचित भारी॥८॥

दोहा—आरति-बस सनमुख भइउँ, बिलग न मानब तात।
आरज-सुत-पद-कमल-बिनु, बादि जहाँ लगि नात॥९७॥

अर्थ—सूर्य की किरण सूर्य को छोड़कर कहाँ जा सकती है और चन्द्रमा को छोड़कर चाँदनी कहाँ जा सकती है ? ॥६॥ पति को प्रेममय विनती सुनाकर, वे मन्त्री से सुहावनी वाणी बोली॥७॥ आप पिता और श्वसुर के समान मेरे हितकारी हैं, मैं फिरकर (उलटकर, सम्मुख होकर) उत्तर दूँ, यह भारी अनु-

चित है ॥८॥ हे तात ! विपत्ति के वश मैं सम्मुख हुई, इसे बुरा न मानना (कि इसने हमारा संकोच नहीं रक्खा), आर्यपुत्र के (पति का विशेषण है, इनके) चरण-कमल के बिना जहाँ तक जगत् के नाते हैं, वे सब व्यर्थ हैं ॥९७॥

विशेष—(१) 'प्रभा जाइ कहँ भानु ··'—आप सूर्य हैं, तो मैं प्रभा, यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ॥" (वाल्मी० ५।२१।१५), पुनः आप चन्द्रमा हैं तो मैं चन्द्रिका, यथा—"धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ।" (वाल्मी० २।३९।२८), अर्थात् सूर्य-चन्द्रमा की प्रभाएँ (किरणें) उन्हें छोड़कर नहीं जा सकतीं, वैसे ही मैं आपको छोड़कर अलग नहीं जा सकती। सूर्य की प्रभा दिन में और चन्द्रमा की चन्द्रिका रात में साथ रहती है, वैसे ही दिन-रात अर्थात् निरन्तर मैं आपके साथ हूँ।

(२) 'पतिहि प्रेममय बिनय···'—'सुनि पति बचन कहति बैदेही।' उपक्रम है और यहाँ उपसंहार हुआ। 'प्रेममय बिनय'—पति से प्रेममय प्रार्थना ही की। उत्तर नहीं दिया, प्रेम पति में ही है। अतः, 'प्रेममय' कहा है, मन्त्री से सुन्दर वाणी ही कही है।

(३) 'तुम्ह पितु···उतर देउँ फिरि···'—श्रीरामजी ने जैसे जो नाता और भाव मन्त्री में कहा है। वही ये भी कहती हैं। श्रीरामजी ने कहा है—"तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरे।" (दो० ९५), वैसे ही ये भी कहती हैं—'तुम्ह पितु-ससुर-सरिस···' सुमन्त्रजी श्वसुर के मन्त्री एवं सखा हैं। इससे उनको श्वसुर के तुल्य कहा है। श्रीरामजी ने—'दिये उतर फिरि पातक लहऊँ।' कहा है। वैसे ये भी—'उतर देउँ फिरि···' कहती हैं। आप पिता और श्वसुर-तुल्य हैं। पिता कन्या-दामाद का और श्वसुर पुत्र-पुत्रवधू का संयुक्त रहना ही चाहते हैं, किन्तु आप पति-वियोग कराने की वार्त्ता करते हैं, जिससे महान् दुःख होता है, इससे कुछ बोलना पड़ा। इसका क्षमापन आगे कहती हैं—

(४) 'आरति-बस सनमुख···'—आर्त्त के चित्त में सावधानता नहीं रहती, यथा—"रहत न आरत के चित चेतू।" (दो० २६८)। अतः, उसके दोषों को साधु लोग नहीं गिनते, यथा—"दुखित दोष-गुन गनहिं न साधू।" (दो० १०६), अतएव आप भी अनुचित न मानियेगा। 'आरज सुत' (आर्यपुत्र) यह पति के लिये उस समय में नियत सम्बोधन था, यथा—"आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज।" (वाल्मी० ३।४३।३), (यह श्रीसीताजी ने श्रीरामजी को कहा है) तथा—"आरज सुवन के तो दया दुवनहूँ पर···" (गी० सु० ७), (यह भी इन्हींका वचन है) "आर्यपुत्रेति वादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः।···" (वाल्मी० ६।११७।४), (यह रावण की स्त्रियों ने पति के लिये कहा है), इत्यादि। 'बादि जहाँ लगि नात'—अर्थात् पति के सहयोग में सभी मान्य हैं। अन्यथा नहीं, यथा—"मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।··· जहँ लगि नाथ···पिय बिनु तियहि तरनिहुते ताते॥" (दो० ६४)। 'सनमुख भइउ' अर्थात् पहले कभी सामने न होती थीं, यथा—"या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥" (वाल्मी० २।३३।८), अर्थात् श्रीसीताजी को आकाशचारी पक्षी भी नहीं देख पाते थे। सुमन्त्र जी ने कहा था—'मइके ससुरे सकल सुख···' इसका उत्तर देती हुई निराकरण करती हैं—

पितु-बैभव-बिलास मैं दीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पदपीठा ॥१॥
सुखनिधान अस पितुगृह मोरे। पियबिहीन मन भाव न भोरे ॥२॥
ससुर चकवइ कोसल राऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥३॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरधसिंहासन आसन देई ॥४॥
ससुर एतादृस अवधनिवासू। प्रिय परिवार मातुसम सासू ॥५॥
बिनु रघुपति-पद-पदुम-परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा ॥६॥

अर्थ—पिता का ऐश्वर्य और अतिशय सुख-भोग मैंने देखा है कि बड़े-बड़े राजाओं के मुकुट उनकी खड़ाऊँ (वा, चरणों के ऊपरी भाग) से मिलते थे, अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा उनको साष्टांग प्रणाम करते थे, जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँ एवं चरणों में छू जाते थे ॥१॥ ऐसा सुख का स्थान पिता का घर मेरे मन में पति के बिना भूल कर भी नहीं सुहाता ॥२॥ श्वसुर चक्रवर्त्ती अयोध्या के महाराजा हैं, जिनका प्रभाव चौदहो भुवनों में प्रत्यक्ष है ॥३॥ कि आगे आकर जिसे इन्द्र लेते हैं (अगवानी करते हैं) और आधे सिंहासन पर (अपने बराबर) आसन देते हैं ॥४॥ ऐसे श्वसुर, अवधपुरी का निवास, प्यारा परिवार और माता के समान सासें आदि सब हैं। पर रघुपति के पद-कमल-रज के बिना मुझे स्वप्न में भी कोई सुखदायक नहीं लगते ॥५-६॥

विशेष—'पितु-वैभव-विलास मैं···'—खड़ाऊँ के प्रणाम एवं साष्टांग प्रणाम महात्माओं के प्रति भी किया जाता है और राजा जनक ज्ञानी महात्मा थे ही, तो यह स्वाभाविक ही है। इसपर कहती हैं कि वह नहीं, किन्तु ऐश्वर्य-विलास देखकर वे राजा लोग साष्टांग पड़ते है, यथा—"भूप भीर नट मागध भाँटा।" (बा० दो० २१३), पद-पीठ का अर्थ खड़ाऊँ है, यथा—"चरनपीठ करुना निधान के।" (दो० ३१५) तथा पद-पृष्ठ, चरण का ऊपरी भाग, यथा—"स्याम बरन पद-पीठ अरुन तल···" (गी० उ० १५), साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए वे चरणों पर मुकुट रख देते थे।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा ॥८॥

दोहा—सासु ससुर सन मोर हुँति, बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोच जनि करिय कछु, मैं बन सुखी सुभाय ॥६८॥

शब्दार्थ—हुँति = ओर से, तरफ से। सुभाय = स्वाभाविक, सदा की तरह।

अर्थ—दुर्गम मार्ग, वन, भूमि, पहाड़, बहुत-से हाथी, सिंह, अपार तालाब और नदियाँ ॥७॥ कोल, किरात, मृग और पक्षी, ये सब प्राण-नाथ पति के साथ मुझे सुख देनेवाले होंगे (जो और यात्रियों को दुखद होते हैं) ॥८॥ मेरी ओर से सास और श्वसुर से चरण पड़कर विनती कीजियेगा कि वे मेरा कुछ भी शोच न करें। मै वन में स्वाभाविक (वनवासियों की तरह) सुखी हूँ ॥६८॥

विशेष—'मोहि सब सुखद प्रानपति संगा।'—ऊपर—'मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा।' से श्रीसुमन्त्रजी के कहे हुए—'मइके ससुरे सकल सुख···' इत्यादि का उत्तर हुआ। अब यह कहती हैं कि प्राणपति के साथ से दुखद भी सुखद होंगे। 'अगम पंथ ·'—इनमें 'अगम' पद आदि में है। अतः यह सभीके साथ है, वन, भूमि, पहाड़ भी अगम ही हैं। प्राणपति का माधुर्यपरक पति-वाचक तो है ही, साथ ही ऐश्वर्यपरक सबके प्राणों के रक्षक, अर्थ भी है, यथा—"सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥" (अर० दो० ६), कोल-किरातों की सेवकाई आगे दो० १३४-१३६ में देखिये। पक्षी जटायु ने सेवा में प्राण ही दिये। वानर-भालुओं की सेवकाई आगे प्रसिद्ध ही है। राक्षसों का सुखद होना न कहा, क्योंकि उनका नाश करने के लिये तो इनका अवतार ही है, यथा—"निसिचर हीन करउँ महि···" (अर० दो० ९), "तब कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥" (सुं० दो० ३५) "काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३९)।

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। बीरधुरीन धरे धनु भाथा ॥१॥
नहिं मगश्रम भ्रम दुख मन मोरे। मोहिलगि सोच करिय जनि भोरे ॥२॥

सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी । भयेउ बिकल जनु फनि मनिहानी ॥३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना । कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥४॥

अर्थ—प्यारे पति और प्यारे देवर साथ हैं । जो वीरों में अग्रगण्य हैं, धनुष और (बाण-पूर्ण) तरकस धारण किये हुए हैं ॥१॥ मार्ग की थकावट, भ्रम और दुःख मेरे मन में नहीं है । अतः, भूलकर भी मेरे लिये शोच न करें ॥२॥ श्रीसीताजी की शीतल वाणी सुनकर श्रीसुमन्त्रजी ऐसे व्याकुल हो गये मानों साँप की मणि खो गई हो ॥३॥ उन्हें आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, कान से सुनाई नहीं देता, वे अत्यन्त व्याकुल हो गये और कुछ कह नहीं सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'प्राननाथ प्रिय···बीरधुरीन···'—जो सबके प्राणों के रक्षक हैं, वे ही मेरे प्राणनाथ (पति) हैं । रक्षा में समर्थ दोनों भाई हथियार-युक्त भी हैं । अतः, शत्रुता करनेवाले स्वयं तुरत नष्ट होंगे । 'नहिं मगश्रम भ्रम दुख···'—मार्ग की थकावट का दुःख और किसी प्रकार की बाधा का भ्रम मेरे मन में नहीं है ।

सुमन्त्र के प्रति श्रीरामजी और श्रीसीताजी के वचनों के मिलान—

श्रीरामजी	श्रीसीताजी
दिये उतर फिरि पातक लहऊँ ।	उतर देउँ फिरि अनुचित भारी ।
पितु पद गहि कहि कोटि नति ।	सासु ससुर मम मोरि हुँति ।
तुम्ह पुनि पितु सम अतिहित मोरे ।	तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी ।
चिंता कवनिहु···करिय जनि मोरि ।	मोरि सोच जनि करिय कछु··· ।

(२) 'सुनि सुमंत्र सिय···'—दोनों भाइयों से तो प्रथम ही निराश हो चुके थे, उनके उत्तर पा चुके थे । यहाँ श्रीजानकीजी से भी निराश हुए । वे ही मणि-रूपा हुईं । मन्त्री को मरण के समान दुःख हुआ, यथा—"मनि लिये फनि जिये व्याकुल बिहाल रे ।" वि० ६७) ।

(३) 'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना ।··· ···'—यहाँ तीन प्रकार से सुमन्त्र को दुःख हुआ । श्रीरामजी नेत्र, श्रीलक्ष्मणजी कान और श्रीजानकीजी वाणी हुईं । तीनों की हानि से तीन प्रकार के दुःख हुए वा तीनों से अत्यन्त व्याकुलता की दशा जनाई, यथा—"उतर न आव बिकल भइ बानी ॥ सुनै न श्रवन नयन नहिं सूझा । ····· दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई (दो० १४१), पर स्पष्ट कहा गया है ।

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती । तदपि होति नहिं सीतलि छाती ॥५॥
जतन अनेक साथहित कीन्हे । उचित उतर रघुनंदन दीन्हे ॥६॥
मेटि जाइ नहिं राम-रजाई । कठिन करमगति कछु न बसाई ॥७॥
राम-लखन-सिय-पद सिर नाई । फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ॥८॥

दोहा—रथ हाँकेउ हय राम-तन, हेरि हेरि हिहिनाहिं ।
देखि निषाद बिषादबस, धुनहिं सीस पछिताहिं ॥९९॥

अर्थ—(यद्यपि) श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से समझाया, तथापि (मन्त्री की) छाती ठंढी नहीं होती ॥५॥ (मन्त्री ने) साथ चलने के लिये बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामजी ने उपयुक्त (यथा-योग्य) उत्तर दे दिये ॥६॥ श्रीरामजी की आज्ञा मेटी नहीं जा सकती, कर्म की गति कठिन है, उसके आगे

कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के चरणों में सिर नवाकर इस प्रकार लौटे, जिस प्रकार बनिया मूल (भी) गँवाकर लौटे ॥८॥ सुमन्त्रजी ने रथ हाँका तो घोड़े श्रीरामजी की ओर देख-देखकर हिनहिनाने लगे, (यह दशा घोड़ों की) देखकर निषाद लोग दुःख के वश में होकर सिर पीटने और पछताने लगे ॥९९॥

विशेष—(१) 'जतन अनेक साथहित कीन्हे ।'—"आपके बिना मैं पुरी को कैसे जाऊँ ? अयोध्या-पुरी आपके वियोग से पुत्रशोक से दुखिनी के समान है ।···आपसे खाली रथ देखकर सब लोग एवं नगर दुःख से विदीर्ण हो जायँगे ।···मैं कौसल्या से क्या कहूँगा ?···किसीसे भी वन भेजना—यह अप्रिय कैसे कहूँगा ।···यदि आप मेरी याचना पर साथ न रक्खेंगे तो मैं (आपके समक्ष ही) रथ के साथ अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा ।···भृत्य को भी अपने मार्ग में साथ रखिये, मैं इस रथ पर ही लौटाकर (१४ वर्ष पर) लौटूँगा ।" (वाल्मी० २।५२।३६-५४), इत्यादि रीति से बहुत-कुछ कहा ।

'उचित उतर रघुनंदन दीन्हे'—"हे स्वामि-भक्त ! मैं आपकी भक्ति को जानता हूँ, मैं आपको अयोध्या इसलिये भेजता हूँ कि आपके वहाँ जाने से कैकेयी माता को विश्वास हो जायगा कि श्रीरामजी वन को गये, इससे कैकेयी सन्तुष्ट हो जायगी और धार्मिक राजा के मिथ्यावादी होने की शंका नहीं करेगी ।··· कैकेयी अपने पुत्र के द्वारा राज्य पावे । हे सुमन्त्र ! मेरी तथा राजा की प्रसन्नता के लिये अयोध्या जाइये और जिसके लिये जो सन्देशा मैंने कहा है, कहियेगा ।···" (वाल्मी० २।५२।६०-६४), इत्यादि । पुनः राजा ने आपको लौटाने के लिये ही भेजा है । गंगाजी के इसी पार तक के लिये भेजा है, साथ जाने को नहीं, स्वामी की आज्ञा मानिये । महाराज को ऐसी अवस्था में छोड़ना आप ऐसे सुहृद के लिये योग्य नहीं है ।

'रघुनंदन'—क्योंकि रघुकुल की कीर्त्ति सत्य-रक्षा में ही है, वही कर रहे हैं ।

(२) 'कठिन करमगति'—मृत्यु के योग्य दुःख हो रहा है, पर कर्म-भोग अभी शेष है, इसलिये प्राण नहीं निकल रहे हैं, यही कर्म-काठिन्य है । 'मेटि जाइ नहिं राम रजाई, यथा—,'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला ।" से "करि बिचार जिय देखहु नीके । राम रजाइ सीस सबही के ॥" (दो० २५३), "जग भल पोच···राम रजाइ मेटि मन माहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥" (दो० २९७) ।

(३) 'फिरेउ बनिक जिमि मूर···'—यहाँ सुमन्त्रजी वणिक हैं । ये तीनों मूर्त्तियों को लौटा लाने की आशा से चले हैं । (कि जिनकी आज्ञा से वन जा रहे हैं, उन्हींकी इस दूसरी आज्ञा पर लौट भी आवेंगे ।) जैसे बनिया नफा के साथ लौटने की आशा से चलता है । चलते समय सुमन्त्रजी के प्रति राजा के वचनों में दो पक्ष हैं—उत्तम हो जब तीनों लौट आवें, दो भाई न लौटें और यदि श्रीजानकीजी अकेली भी लौट आवें तो मेरे प्राणों का सहारा हो जाय, नहीं तो मेरा मरण ही होगा । राजा ने कहा था कि श्रीसीताजी भीरु हैं, वन देखकर डरेंगी तो कहने से अवश्य लौटेंगी, यही सुमन्त्रजी की दृढ़ता है । जैसे बनिये को मूल में दृढ़ता रहती है कि यह तो अपने हाथ में है । सत्यसन्ध और दृढ़व्रत एवं धीर होने से दोनों भाइयों के लौटाने की कम आशा है । अतः, इनका लौटाना, लाभ (नफा) लाना है । वैसे ही सुमन्त्रजी ने यहाँ सन्देशा कहा । दोनों भाइयों से उत्तर पाया, तब केवल श्रीजानकीजी को कहा । जब वे भी न लौटीं तब मूल का भी गँवाना कहा गया । अतः, नफा के साथ तीनों को लेकर आना है इससे वणिक सुमन्त्रजी को बड़ा हर्ष रहता । श्रीजानकीजी मात्र को लौटा लाते तो भी हर्ष-विस्मय-रहित रहते कि और नहीं तो राजा के प्राणों का अवलम्ब तो लेकर चलता हूँ, यही मूल-मात्र लेकर लौटना है । जब तीनों ही न लौटे तो सुमन्त्रजी को वैसा ही दुख हुआ जैसा चोरी आदि से जमा (मूल) मारी जाने से वणिक को दुःख होता है । जो कोई तीनों मूर्त्तियों को मूर (मूल) कहते हैं और तीनों के लौटाने के सुयश को ब्याज कहते हैं । उन्हें मूलमात्र लेकर लौटने का उपमेय कहाँ से आवेगा ? क्योंकि तीनों लौटाने से तो सुमन्त्रजी को सुयश होगा ही ।

यदि कहा जाय कि व्याज कहने से दोनों भाइयों के प्रति लघुता आदि है तो "भइ गति साँप छछुंदर केरी। (दो० ५४), "चले जहाँ रावन ससि राहू।" (अर० दो० २७) में क्या उपाय है ? वस्तुतः उपमा के धर्म से कवि का प्रयोजन रहता है और बातें मिलें चाहे न मिलें, वैसे यहाँ सुमन्त्रजी की व्याकुलता दिखाना ही कवि का प्रयोजन है।

(२) 'रथ हाँकेउ हय राम तन···'—इन घोड़ों की दशा आगे दो० १४१-१४२ में कही गई है—"देखि दखिन दिसि हय···" से "बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती।" तक देखिये। पुनः—"राघौ एक बार फिरि आओ। ये बर बाजि बिलोकि आपने···" (गी० अ० ८७) यह पूरा पद पढ़ने योग्य है।

जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसे ॥१॥
बरबस राम सुमंत्र पठाये। सुरसरितीर आप तब आये ॥२॥
माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरम मैं जाना ॥३॥
चरन-कमल-रज कहँ सब कहई। मानुषकरनि मूरि कछु अहई ॥४॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन ते न काठ कठिनाई ॥५॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥६॥

शब्दार्थ—घरनी = स्त्री, घरवाली। बाट पड़ना = डाका पड़ना, जीविका मारा जाना, इत्यादि अर्थों में ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—जिसके वियोग में पशु इस प्रकार व्याकुल हैं, तो उसकी प्रजा और माता-पिता कैसे जियेंगे ? ॥१॥ श्रीरामजी ने श्रीसुमन्त्रजी को हठात् लौटाया, तब आप गंगाजी के किनारे पर आये ॥२॥ केवट से (श्रीरामजी ने पार जाने के लिये) नाव माँगी, पर वह नहीं लाया और कहने लगा कि मैं आपका मर्म (भेद) जानता हूँ। (अतः, चूकनेवाला नहीं हूँ) ॥३॥ आपके चरण-कमलों की धूलि को सभी कहते हैं कि यह मनुष्य बनानेवाली कोई जड़ी (ओषधि) है ॥४॥ (जब) छू जाते ही शिला सुन्दर स्त्री हो गई, (तो फिर) लकड़ी तो पत्थर से अधिक कठिन नहीं होती ॥५॥ (अतः) यह नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी। (फिर जैसे अहल्याजी 'गइ पति लोक···' वैसे ही) मेरी नाव उड़ जायगी और फिर मेरी तो जीविका मारी जायगी ॥६॥

विशेष—(१) 'माँगी नाव न···कहइ तुम्हार···'—केवट गुहराव के बन्धु-वर्ग में है। यह नाव को कुछ धारा में करके वहीं से कहता है कि मैंने तुम्हारा गुप्त हाल जान रक्खा है। श्रीलक्ष्मणजी ने गुह को राम-परत्व का उपदेश रात में किया है। सम्भवतः यह भी सुन रहा था। इससे महत्त्व जानता है, इसीसे यह अपनी गँवारू ढंग से रिझाकर चरणामृत लेना चाहता है। 'तुम्हार' शब्द गँवार के मुख से योग्य ही है। 'मूरि कछु अहई'—कहा जाता है कि जैसे मूसाकर्णी जड़ी गाँगा में लगकर चाँदी करती है और राजदन्ती ताम्र में पड़कर सोना करती है, वैसे ही यह चरण-रज पत्थर में लगकर उसे स्त्री करती है। अहल्योद्धार की कथा से यह ख्याति हो गई। अतः, सभी कहते हैं।

(२) 'पाहन ते न काठ···' अर्थात् यह तो बनी बनाई है—"रावरे दोष न पायन को···पाहन ते बन बाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है।" (क० अ० ७)। 'तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई।'—अहल्या की तरह कहीं मेरी नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी। कौन जाने, यह भी किसीके शाप से लकड़ी हुई हो, तो मेरी तो जीविका जायगी। 'मुनिघरनी' अर्थात् स्त्री होकर वह भी मुनि के घर चली जायगी। भाव यह कि दिव्य देहवाली होकर मुझ नीच के यहाँ क्योंकर रहेगी ? (यह प्रसंग क० अ० ५-१०, २८ वें पद में विस्तारपूर्वक कहा गया है)।

येहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू ॥७॥
जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद-पदुम पखारन कहहू ॥८॥

छन्द—पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ-सपथ सब साँची कहौं।
बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पार उतारिहौं।

दोहा—सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन, चितइ जानकी-लखन-तन ॥१००॥

अर्थ—इसीसे मैं अपने सारे परिवार का पालन-पोषण करता हूँ और कोई व्यापार (उद्यम) नहीं जानता ॥७॥ हे प्रभो! आप यदि अवश्य ही पार जाना चाहते हैं, तो मुझे अपने चरण-कमलों को धो लेने की आज्ञा दीजिये ॥८॥ हे नाथ! चरण-कमल धोकर ही नाव पर चढ़ाऊँगा। मैं आपसे उतराई लेना नहीं चाहता। हे श्रीरामजी! मुझे आपकी शपथ है और दशरथ महाराज की सौगन्ध है, मैं सब सत्य ही कहता हूँ। चाहे श्रीलक्ष्मणजी मुझे तीर भले ही मार दें पर जबतक मैं आपके चरण-कमल न धो लूँगा, तबतक हे तुलसीदास के स्वामी! हे कृपालु! मैं आपको पार नहीं उतारूँगा। प्रेम से भरे हुए, केवट के अटपटे (वेढंगे, गँवारू) वचन सुनकर करुणा के स्थान श्रीरामजी, श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर देखकर विशेष हँसे ॥१००॥

विशेष—(१) 'नहिं जानउँ कछु और कबारू'—'कबारू' अर्थात् व्यापार, यथा—"रानिन दिये बसन मनि भूषन राजा सहन भंडार। मागध सूत भाँट नट जाचक जहँ तहँ करहिं कबार॥" (गी० बा० २)। तथा—"पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे, केवट की जाति कछू बेद ना पढ़ाइहौं। सब परिवार मेरो याही लागि, राजा जू! हौं दीन बित्त हीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं?॥ गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी, प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद न बढ़ाइहौं। तुलसी के ईस राम रावरो सों साँची कहौं, बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाइहौं॥" (क० अ० ८)।

(२) 'पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव···'—'चढ़ाइ' अर्थात् आपको मैं ही (गोद में उठाकर) नाव पर चढ़ा दूँगा जिसमें चरणों में फिर धूल न लग जाय। 'नाथ' अर्थात् आप राजा हैं, मैं प्रजा हूँ। अतः, सहज में ही पार उतार दूँगा। ऐश्वर्य-पक्ष का गूढ़ आशय यह कि आप भवसागर के खेवैया (मल्लाह) हैं और मैं नदी का। एक पेशावाले आपस में कर (मूल्य) नहीं लेते। अतः, मैं भी उतराई नहीं चाहता। भाव यह कि मैं आपके घाट पर आऊँ तो यों ही मुझे भी उतार दीजियेगा। यह आगे के—'पितर पारकरि···' इस वचन से संगत है। 'न चहउँ' का यह भी भाव है कि आप स्वयं देंगे तो अपनी हैसियत (ऐश्वर्य) के अनुसार बहुत कुछ देंगे और मैं माँगूँ तो मुझे अपने योग्य ही कहना होगा।

(३) 'मोहि राम राउरि आन···'—'सब साँचो कहउँ' इस बात की पुष्टि के लिये श्रीरामजी और उनके बाप की भी शपथ करता है, क्योंकि ये दोनों सत्य-सन्ध एवं दृढ़व्रत हैं, यथा—"सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई।" (दो० ८१), तथा—"राखेउ राम सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥" (दो० २६३), भाव—मैंने भी सत्य प्रण कर लिया है, इसे नहीं छोड़ने का, चाहे प्राण क्यों न चले जायँ।

(४) 'बरु तीर मारहु लखन पै···'—अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिये वह प्राणों को बाजी

Post Graduate Library

लगाता है, जान पड़ता है कि जब उसने कहा कि आपकी शपथ और दशरथ (आपके बाप) की शपथ है, इस गँवारी धृष्टता पर श्रीलक्ष्मणजी ने बाण की ओर इशारा किया, उसपर वह कहता है कि चाहे श्रीलक्ष्मणजी तीर मारें। 'मारहु' का अर्थ 'मारें' है, यथा—"भरतहि राम करहु जुवराजा।" (दो० २७२), "लखन राम सिय जाहु बन।" (दो० २८२), तथा—"बरु मारिए मोहिं, बिना पगधोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।" (क० अ० ६)।

(५) 'तब लगि न तुलसीदास नाथ·····'—कवि त्रेता के भक्तों के मुख से 'तुलसीदास नाथ' यह अपना नाता पुष्ट करवाते हैं। अतः, यहाँ—'भाविक अलंकार' है। इसपर ऐसा भी भाव कहा जाता है कि 'तुलसी' से श्रीजानकीजी, 'दास' से श्रीलक्ष्मणजी और 'नाथ कृपाल' से श्रीरामजी के लिये कहा है, अर्थात् तीनों में एक को भी पार न उतारूँगा, (यदि आप चाहें कि अच्छा, मैं तैरकर ही चला जाऊँगा, ये दो स्त्री और बच्चे हैं, इन्हें ही उतार दे।)

(६) 'सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे·····'—केवट की अभिलाषा है कि मुझे चरणामृत मिल जाय, पर सीधे कहने का उसे कोई हेतु नहीं है, इसलिये वह अपनी अज्ञजाति-स्वभाव से प्रभु को रिझाने के लिये प्रेम भरे हुए अटपटे वचन कहता है कि आपके चरण-रज से मेरी नाव ही उड़ जायगी। अतः, धोकर ही पार उतारूँगा, चाहे प्राण चले जायँ, इसके लिये वह शपथ भी करता है और कुछ उतराई भी नहीं चाहता, इत्यादि चरणामृत के लिये प्राणों की भी बाजी लगाई है। प्रभु उसके आन्तरिक प्रेम पर प्रसन्न हो उसपर कृपा करना चाहते हैं, कहा भी है—"कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥" (बा० दो० २८), उसपर प्रसन्नता प्रकट करते हुए आप हँस पड़े, यथा—"रावरे दोष न पायन को, पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है। पाहन से बन वाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है॥ पावन पायँ पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है?। तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥" (क० अ० ७)।

(७) 'चितइ जानकी-लखन-तन'—श्रीलक्ष्मणजी ने उसपर कड़ी दृष्टि कर दी थी, हँसकर उन्हें अपना रुख जनाया कि हम इसपर प्रसन्न हैं। श्रीजानकीजी की ओर देखने का भाव यह कि आपके पिता आपको देकर ये चरण धोये हैं और यह गँवारू प्रेम से ही धोना चाहता है। यह भी भाव है कि ऐसे ही प्रेम-वश और यही उदाहरण अहल्या का ही लेकर आप भी जनकपुर में चरण-स्पर्श नहीं करती थीं—"गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि। मन बिहसे रघुबंस मनि, प्रीति अलौकिक जानि॥" (बा० दो० २६५)। पुनः दोनों की ओर देखकर दिखाते हैं कि वन में भी हमारे कैसे-कैसे विलक्षण प्रेमी है और यह कि निषाद-राज की प्रजा भी बड़ी चतुर है।

अलंकार—'सूक्ष्म'—बा० दो० २३५।५ देखिये।

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥१॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंब उतारहि पारू॥२॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥३॥
सोइ कृपाल केवटहि निहोरा। जेहि जग किय तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥४॥

अर्थ—कृपा के समुद्र श्रीरामजी ने मुस्कुराकर कहा कि वही कर जिससे तेरी नाव न जाय, अर्थात् बनी रहे॥१॥ शीघ्र जल ला और पैर धो, देरी हो रही है, पार उतार दे॥२॥ जिसके नाम को एक बार स्मरण करके मनुष्य अपार भव-सागर तर जाते हैं॥३॥ वे ही कृपालु श्रीरामजी केवट से मनौनी (खुशामद) कर रहे हैं, जिन्होंने सारे जगत् को तीन पगों से भी कम कर दिया है॥४॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु'—क्योंकि केवट पर भी कृपा कर रहे हैं।

(२) 'सोइ कृपाल केवटहि·····'—यहाँ निहोरा करना यह है कि प्रभु ने 'सोइ करु ···' में कह दिया फिर भी उसने नहीं उतारा, क्योंकि उसने भी कह रक्खा है—"जौ प्रभु अवसि पार गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू ॥" वह इस वचन की पूर्त्ति चाहता है, इसपर स्पष्ट प्रभु को कहना—'बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंब ···' यही निहोरा करना है। भक्त की रुचि प्रभु रखते ही हैं। 'जासु नाम···', यथा—"नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भव सागर तरहिं।" (लं० दो० ×), तथा—"नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।·····सोइ प्रभु त्वै सरिता तरिवे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े ॥" (क० अ० ५), नाम का महत्त्व कहकर फिर रूप की भी महिमा कहते हैं कि इन्हीं प्रभु ने तीन ही चरणों में वामन अवतार में जगत्-भर को नाप लिया है, तो गंगा-पार होना इनके लिये कौन कठिन है। पर जैसे इन्होंने तीन पगों में पृथ्वी नापकर बलि पर कृपा की है, वैसी ही कृपा केवट पर भी करना चाहते हैं। वामनजी की कथा दो० २६ चौ० ७ में आ चुकी है।

(३) 'होत बिलंब उतारहि पारू'—चैत का महीना है, धूप कड़ी हो जायगी, तो चलना कठिन हो जायगा, श्रीजानकीजी को आज प्रथम दिन चलना पड़ेगा। पुनः प्रभु जानते हैं कि श्रीसुमन्त्रजी विक्षिप्त होकर पड़े हैं, कोई आकर कह देगा, तो न चलते ही बनेगा और न लौटते ही। पुनः अवधपुर-वासी भी कहीं खोजते हुए न आ जायँ। 'उतारहि पारू' में गुप्त भाव यह भी है, तेरे मन को हो गई। अब शीघ्र चरणोदक ले और अपने पितरों को पार उतारकर फिर मुझे पार ले चल, यह आगे दोहे में स्पष्ट है—'पद पखारि जल·····'।

पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभुबचन मोह मति करषी ॥५॥
केवट रामरजायसु पावा। पानि कठवता भरि लै आवा ॥६॥
अतिआनंद उमगि अनुरागा। चरनसरोज पखारन लागा ॥७॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। येहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं ॥८॥

दोहा—पद पखारि जल पान करि, आप सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार ॥१०१॥

शब्दार्थ—करषी = आकर्षित की, खींच ली। कठवता = काष्ठ का बना हुआ एक बरतन-विशेष।

अर्थ—श्रीरामजी के चरण-नखों को देखकर (अपने उत्पत्ति-स्थान का संयोग होना जानकर कि कुछ काल इनकी प्राप्ति रहेगी) गंगाजी प्रसन्न हुईं। (परन्तु) भगवान् के वचन सुनकर (कि वे शीघ्र ही चले जाना चाहते हैं) यह मोह (प्रेम) दूर हो गया ॥५॥ केवट श्रीरामजी की आज्ञा पाकर कठौते में पानी भर लाया ॥६॥ अत्यन्त आनन्द से उमगकर अनुराग-पूर्वक वह चरण-कमलों का प्रक्षालन करने लगा ॥७॥ सब देवतागण फूल बरसा कर सिहाते (ललचाकर उसकी बड़ाई करते) हैं कि इसके समान पुण्य-समूहवाला अन्य कोई नहीं है ॥८॥ श्रीरामजी के चरणों का प्रक्षालन कर और कुटुम्ब के साथ आप भी उस जल को पीकर अपने पितरों को भव-समुद्र पार करके तब प्रसन्नता-पूर्वक प्रभु श्रीरामजी को गंगाजी के पार ले गया ॥१०१॥

विशेष—(१) 'मोह मति करषी' अर्थात् मोहित बुद्धि खिंच गई, दूर हो गई, अर्थात् यह निश्चय हो गया कि प्रभु लीला के अनुरोध से शीघ्र ही चले जायँगे, मुझे पूर्ववत् कल्पान्त तक बहते ही बीतेगा। कहा भी है—"जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता···तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू

केरो।' (वि० ८७), यहाँ मोह का अर्थ वही है जो पिता के आने पर लड़कियों को होना है, यथा—"साँचेहु उनके मोह न माया। (बा० दो० ९६)।

(२) 'पानि कठवता भरि लेइ आवा'—श्रीरामजी की आज्ञा—'बेगि आनु जल पाय पखारू' यह पाकर छोटी कठवती में पानी भर लाया, प्रायः केवटों के पास नाव का जल उलीचने के लिये छोटी कठवती रहा करती है। शीघ्रता में वह भर लाया, यथा—प्रभु रुख पाइ कै बुलाइ बाल घरनिहिं बन्दि कै चरन चहुँ दिसि बैठे घेरि-घेरि। छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजी को, धोइ पाइ पियत पुनीत बारि फेरि फेरि॥ तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर, बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि-टेरि। बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनी, हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि-हेरि॥" (क० अ० १०), कठवता लाने के और भी भाव कहे जाते हैं कि इससे वह पूर्ववत् अटपटी चातुरी का निर्वाह करता है कि यह स्त्री हो जायगी, तो परीक्षा भी मिल जायगी और मेरी नाव भी बच जायगी। वा, इसीमें सदा रसोई भी रक्खेंगे तो वह महाप्रसाद हुआ करेगा। अथवा, विशेष उदासीन सन्त लोग धातु नहीं छूते। पाषाण और काष्ठ ही से काम चलाते हैं। श्रीजानकीजी ने भी और भूषणों के रहते हुए मणि मुन्दरी (जो पाषाण है) दी है। आगे हनुमानजी के द्वारा भी चूड़ामणि (पाषाण) ही भेजी है। इसलिये भी केवट काष्ठ का ही बरतन भर लाया, क्योंकि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष में हैं।

(३) 'पानि'—श्रीरामजी ने यद्यपि 'बेगि आनु जल' कहा था, फिर भी यह पानी (हलका नाम) ही की दृष्टि से गंगाजल भर लाया, क्योंकि यदि वह अभी से इस जल का माहात्म्य चरणोदक समझे, तो फिर चरण धोने की आवश्यकता ही न रहे। हाँ, धोने पर 'पुनीत बारि' कहेगा, ऊपर कवित्त में लिखा गया। पुनः नित्य तट पर रहनेवाले सामान्य लोग जल का वैसा माहात्म्य नहीं मानते।

'अति आनंद···पखारन लागा।'—चरण सरोज की महिमा का स्मरण कर अत्यन्त आनन्दित है—"जे पद सरोज मनोज अरि उर···मकरंद जिन्ह को सम्भु सिर ···" (बा० दो० ३२३), "गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहिं सुर मुनि संकर अज॥" (उ० दो० ४), 'लागा' पद देर तक चरण धोना सूचित करता है—'धोइ पाइ पियत पुनीत बारि फेरि-फेरि' यह ऊपर कहा ही गया है।

(४) 'येहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं'—क्योंकि जो शिव-ब्रह्मादि को प्राप्त हुआ, वही चरणोदक इसे मिला, यथा—"मकरंद जिनको संभुसिर···" (बा० दो० ३२३)।

(५) 'पद पखारि जल···'—स्वयं पिया, कुटुम्ब-भर को पिलाया और पितरों का तर्पण भी इसीसे किया कि जिससे वे भी भव-पार हो गये, तब प्रभु को पार ले गया। यहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है।

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि - रेता। सीय राम गुह लखन-समेता॥१॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच येहि नहिं कछु दीन्हा॥२॥
पियहिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥३॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥४॥

अर्थ—गुह (निषादराज) और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीसीताजी और श्रीरामजी नाव से उतरकर गंगाजी के रेत (बालुमय भूमि) में खड़े हुए॥१॥ तब (नाव खेनेवाले) केवट ने नाव से उतरकर दंडवत की (इसपर) प्रभु श्रीरामजी को संकोच हुआ कि इसे कुछ दिया नहीं गया॥२॥ पति के हृदय की जाननेवाली श्रीसीताजी ने प्रसन्न मन से मणिमय मुँदरी उतारी॥३॥ तब कृपालु श्रीरामजी ने केवट से कहा कि नाव की उतराई लो। (सुनकर) केवट ने अकुलाकर श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये॥४॥

विशेष—(१) 'उतरि ठाढ़ भये···'—यहाँ उतरने का क्रम लिखा गया कि पहले श्रीसीताजी तब श्रीरामजी, फिर गुह और पीछे श्रीलक्ष्मणजी उतरे। 'प्रभुहि सकुच···मनि मुँदरी···'—केवट स्वयं भव-पार हुआ। परिवार और पितरों को भी तारा। इतने दान को प्रभु ने कुछ गिना ही नहीं। अपनी ओर देखकर सकुचते हैं कि मैंने इसे कुछ दिया ही नहीं। भाव यह कि मुक्ति-मात्र तो निशाचरों को भी देते हैं, तब भक्त के प्रति विशेषता क्या? अतः, चिन्तामणिमयी मुँदरी दे रहे हैं कि इच्छित पदार्थ अर्थ आदि चारो प्राप्त हुआ करें और मुँदरी भी बनी रहे।

ऐसा ही संकोच विभीषण के प्रति भी रहा है, यथा—"जो संपति सिव रावनहि, दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा विभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (सु० दो० ४९), तथा—"लंक जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को···" (क० उ० २२), ये श्रीरामजी के शील, उदारता और कृतज्ञतादि गुण हैं। पुनः प्रभु दिया हुआ दान भूल भी जाते हैं, यथा—"निज गुन, अरि कृत अनहितो दास दोष, चित रहति न दिये दान की। बानि बिसारन सील है मानद अमान की।" (वि० ४२), अर्थात् प्रभु सब कुछ देकर भी स्वयं भक्तों के अधीन रहते हैं। आपकी यह निराली बानि है।

(२) 'मन मुदित'—से श्रीसीताजी की उदारता एवं पति-रुचि-पालकता भी प्रकट हुई, जो इन्हें पूर्व शिक्षा मिली थी—"पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।" (बा० दो० ३३३)।

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष - दुख - दारिद-दावा॥५॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥६॥
अब कछु नाथ न चाहिय मोरे। दीनदयाल अनुग्रह तोरे॥७॥
फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेबा॥८॥

दोहा—बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥१०२॥

शब्दार्थ—बनि (बन्धी) = मजदूरी (हिन्दी-शब्दसागर)। भलि भूरी = अच्छी तरह बहुत-सी, अच्छी और भरपूर।

अर्थ—(केवट ने कहा) हे नाथ! मैंने आज क्या नहीं पाया, अर्थात् मुझे सबकुछ मिल गया, मेरे दोष, दुःख और दरिद्रता-रूपी दावानल मिट गये॥५॥ मैंने बहुत काल तक मजदूरी की, आज विधाता ने अच्छी और भरपूर मजदूरी मुझे दे दी॥६॥ हे नाथ! हे दीन-दयालु! अब आपके अनुग्रह हो जाने पर मुझे और कुछ नहीं चाहिये॥७॥ लौटते समय आप मुझे जो कुछ प्रसाद देंगे, वह मैं सिर पर धारण करके लूँगा॥८॥ प्रभु श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी ने बहुत (लेने के लिये आग्रह) किया। पर केवट ने जब कुछ नहीं लिया, तब करुणा के स्थान श्रीरामजी ने उसे निर्मल भक्ति का वर देकर विदा किया॥१०२॥

विशेष—(१) 'नाथ आजु मैं काह न···'—प्रभु उसे मजदूरी देना चाहते हैं और वह बहुत कुछ पा चुका है। फिर भी—'न नाथ उतराई चहउँ' इसपर शपथ भी कर चुका है, इसलिये चरण पकड़े हुए मजदूरी न लेने की ढिठाई से क्षमा चाहता है। 'मिटे दोष-दुख-दारिद-दावा'—'दोष' अर्थात् पूर्व कर्मों के कारण इन्द्रियों की 'कुटेव', 'दुःख' अर्थात् जन्म लेने एवं वृद्धापन आदि के कष्ट, यथा—"जराजन्म दुःखौघतातप्यमानम्" (उ० दो० १०७), एवं दैहिक, दैविक और भौतिक ताप। 'दारिद', यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०), दुःख से पृथक् भी दरिद्र कहा गया, क्योंकि यह दुःखों में प्रधान है। दोष से दुःख होता है। अतः, कार्य-कारण दोनों मिटे। 'दावा' दोष आदि तीनों के साथ है। भाव यह कि आजतक मैं दोषादि से सन्तप्त रहा। आज सबों से छुटकारा मिला।

(२) 'अब कछु नाथ न'''—भाव यह कि भगवान् के अनुग्रह होने पर जीव आप्त-काम हो जाता है, यथा—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।" (गीता ६।२२), तथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" (सुं० दो० ४८)।

(३) 'फिरती बार मोहि जो'''—भाव यह कि मजदूरी तो उस समय भी नहीं ही लूँगा, हाँ, प्रसाद आदरपूर्वक लूँगा। 'जोइ' अर्थात् इस अगूँठी की बात नहीं है। जो कुछ हो, वह प्रसाद ले लूँगा। (इस प्रकार प्रभु को ऋणी बना रखता है कि जिससे फिर इसी घाट से आवें।) इस बार तो मैं आपको और आप मुझको पार उतारें। दोनों बराबर हो गये, आप फिर आवेंगे, तो उतराई ले लूँगा, क्योंकि मुझे तो यही एक बार ही उतरना था, फिर तो न भवसागर में आऊँगा और न आपको उतारना पड़ेगा, यथा—"न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।" (छान्दो० ८।१५।१), अर्थात् मुक्त पुरुष फिर संसार में नहीं आता, तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६), "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।' (गीता १५।६)।

(४) 'बहुत कीन्ह प्रभु लखन'''—श्रीलक्ष्मणजी ने भी बहुत कहा कि भूषण लड़कों के पहनने का है, सम्भवतः हमारे कारण न लेता हो। श्रीजानकीजी ने भी कहा, क्योंकि मुँदरी उनके पहनने की थी, जिससे उसे संकोच न रहे। पर उसने नहीं ही ली, तब प्रभु ने करुणा करके प्रसाद-रूप में अभी ही उसे विमल भक्ति दे दी, क्योंकि लौटकर विमान पर आवेंगे। इसके घाट पर उतरना न होगा। यह भी जाना गया कि जो पूर्ण निष्काम होता है उसे ही निर्मल (अविरल विशुद्ध) भक्ति मिलती है। वह प्रभु के प्रसाद ही से मिलती भी है, यथा—"अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत योगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव।" (उ० दो० ८४) इसीसे 'करुनायतन' कहा है। उसकी निष्कामता पर प्रभु रीझ गये तो उसे चारो फलों का भी फल दे दिया, यथा—"स्वारथ-परमारथ रहित, सीताराम सनेहु। तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत एहु॥" (दोहावली ६०), तथा—"स्वारथ परमारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहुँ निहारे॥ साधन सिद्धि राम पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू॥" (दो० २८८), अर्थात् पूर्ण निष्कामता पर श्रीभरतजी का भी श्रेष्ठ राम-स्नेह है।

विपिन-गवन-प्रकरण समाप्त।

"सुरसर उतरि निवास प्रयागा"-प्रकरण

तब मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायेउ माथा॥१॥
सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥२॥
पति-देवर-संग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥३॥
सुनि सियबिनय प्रेम-रस-सानी। भइ तब बिमल बारि बरबानी॥४॥

शब्दार्थ—पारथिव (पार्थिव) = पृथ्वी-सम्बन्धी, मिट्टी का बना हुआ शिव-लिंग।

☞ यहाँ से अब भुशुण्डीजी की मूल रामायण के अनुसार शीर्षक दिये जाते हैं—

अर्थ—तब रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी ने स्नान करके पार्थिव पूजा की और उन्हें प्रणाम किया॥१॥ श्रीसीताजी ने हाथ जोड़कर श्रीगंगाजी से कहा कि हे माता! मेरा मनोरथ पूर्ण कीजिये॥२॥ कि जिससे स्वामी और देवर के साथ कुशलपूर्वक लौट आकर तुम्हारी पूजा करूँ॥३॥ श्रीसीताजी की प्रेम-रस में भरी हुई प्रार्थना सुनकर निर्मल श्रेष्ठ जल में से यह श्रेष्ठ वाणी हुई॥४॥

विशेष—(१) 'पूजि पारथिव नायेउ माथा'—यहाँ पार्थिव-पूजन के सम्बन्ध से 'रघुकुलनाथा कहा है, क्योंकि सब रघुवंशी देवताओं को पूजते आये हैं। आप भी वंश की रीति का पालन करते हैं। श्रीरामजी ने शिव-पूजन किया है और श्रीजानकीजी ने शिव-शक्ति गंगाजी की वन्दना की है। इन्होंने यहाँ मनौती की है और लंका से लौटते समय इन (गंगाजी)-की पूजा की है—"तब सीता पूजी सुरसरी।" (लं० दो० ११९), श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में गंगाजी की धारा में ही गंगाजी से श्रीसीताजी का प्रार्थना करना कहा गया है और यहाँ मानस में गंगा-पार होने पर—यह कल्प-भेद से है।

श्रीगोस्वामीजी ने शिवजी को परम भागवत माना है, यथा—"वैष्णवानां यथा शम्भुः" (भाग० १२।१३।१६) और इन्हें जीव-तत्त्व में ही माना है, यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥" (बा० दो० ५५), अर्थात् शिवजी ने व्यास-वाल्मीकि आदि की तरह ध्यान धरके सती के चरित को जाना है और उसी प्रसंग में श्रीरामजी ने उन्हीं सती के कपट को बिना ध्यान के देखते ही जान लिया, यथा—"सतीकपट जानेउ सुरस्वामी। सब दरसी सब अंतरजामी॥" (बा० दो० ५२), एक ही प्रसंग में एवं ग्रन्थारम्भ में ही आपने विस्तृत चरित के साथ में निर्णय कर दिया है। फिर श्रीरामजी का राजकुमार की रीति से जहाँ शिवजी का पूजन आदि कहा है वहाँ शिवजी की श्रीरामजी में इष्ट-भाव से अनन्य भक्ति का वर्णन किया है।

जहाँ शिवजी में ब्रह्म के लक्षण कहे हैं वहाँ स्तुति-वाद है, क्योंकि शिवजी ब्रह्म की एक विशिष्ट विभूति हैं। ये श्रीरामनाम और रूप के प्रभाव जानने में अद्वितीय हैं। श्रीरामजी ने इनकी भक्ति से विवश होकर इन्हें जहाँ-तहाँ लीला के साथ अधिक महत्त्व दिया है। यहाँ अयोध्याकाण्ड में और लंकाकाण्ड में शिव-पूजन कहा गया है, इसपर कहा जाता है कि शिवजी रावण के इष्टदेव हैं। अतः, पूजन कर उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया है कि औढरदानी हैं, कहीं उधर से भी युद्ध में न आवें (यह माधुर्य दृष्टि) है। बाल-उत्तर में नहीं, क्योंकि इनमें श्रीरामजी घर में रहे। वहाँ इनके कुल के इष्टदेव श्रीरंगजी हैं—"निज कुल इष्टदेव भगवाना।·· " (बा० दो० २००), शिवजी का पूजन इनके कुल में किसी लौकिक मनोरथपूर्त्ति एवं कष्ट निवारणार्थ ही जहाँ-तहाँ पाया जाता है, जैसे कि वनयात्रा पर 'हर गुरु गौरि गनेस' का स्मरण एवं दुःस्वप्न पर श्रीभरतजी का शिव-अभिषेक करना आदि से यह सिद्ध होता है, तथा—"माँगहिं हृदय महेस मनाई।···आसुतोष तुम्ह''आरति हरहु···" (दो० ४३), एवं—"इन्ह सम काहु न सिव अवराधे।···फल लाधे॥" (बा० दो० ३०९)। इसपर—"लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।" (लं० दो० १) भी देखिये।

(२) 'सुनि सियबिनय प्रेम···'—प्रेम-युक्त प्रार्थना से ही देवता प्रसन्न होते हैं और आशिष देते हैं, यथा—"बिनय प्रेम बस भई भवानी।" (बा० दो० २३५), तथा—"जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ·····" (बा० दो० १८६)। वैसे यहाँ भी प्रेमयुक्त विनय के प्रति—'भइ तब बिमल बारि बरबानी' कहा गया है। यहाँ जल के अभिमानी देवता का बोलना है। यहाँ मनौती मानी गई है—"पति देवर संग···आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥" इसकी पूर्त्ति लौटने पर की गई है—"तब सीता पूजी सुरसरी।" ···(लं० दो० १२०)।

सुनु रघुबीरप्रिया बैदेही। तव प्रभाव जग बिदित न केही॥५॥
लोकप होहि बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥६॥
तुम्ह जो हमहि बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥७॥
तदपि देवि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥८॥

दोहा—प्राननाथ देवरसहित, कुसल कोसला आइ ।
पूजिहि सब मनकामना, सुजस रहिहि जग छाइ ॥१०३॥

अर्थ—हे रघुवीर श्रीरामजी की प्रिया ! हे वैदेही सुनिये। आपका प्रभाव जगत् में किसको नहीं मालूम है ? ॥५॥ आपकी कृपा-दृष्टि से लोग लोकपाल हो जाते हैं, सारी सिद्धियाँ हाथ जोड़े हुई आपकी सेवा करती हैं ॥६॥ आपने जो हमें बड़ी विनती सुनाई है (यद्यपि) यह कृपा की है और मुझे बड़ाई दी है ॥७॥ तथापि हे देवि ! मैं अपनी वाग्देवी के सफल होने के लिये आपको आशिष दूँगी ॥८॥ कि प्राण-पति और देवर के साथ कुशल-सहित अयोध्या आओ। आपके सब मनोरथ पूरे होंगे और जगत् में सुन्दर यश फैल जायगा ॥१०३॥

विशेष—(१) 'सुनु रघुबीरप्रिया···'—भाव यह कि सामान्य वीर की स्त्रियों को किसीका भय नहीं रहता। आप तो रघुवीर की प्रिया हैं जो कि आश्रित मात्र की रक्षा में समर्थ हैं, यथा—"त्राहि-त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर।" (सुं० दो० ४५), 'रघुबीर करुनासिंधु आरत-बंधु-जन-रच्छक हरे ॥" (लं० दो० ८१), तथा—"निवासवृत्तः साधूनामापन्नानां परागतिः ॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक-भाजनम्।" (वाल्मी० ४।१५।१९-२०)। अतः, आपके कुशल-पूर्वक लौटने में कोई बाधक नहीं हो सकता, आपकी विनती तो मुझे प्रतिष्ठा देने के लिये है। 'रघुबीरप्रिया' पद से पतिकुल श्रेष्ठता और 'बैदेही' पद से पितृ-कुल की श्रेष्ठता प्रकट की है कि विदेहजी बड़े-बड़े योगीश्वरों के गुरु हैं, तथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५), फिर उनकी पुत्री आपके लिये क्या कमी है ? आगे—'तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।' यह कहा ही गया है।

'तव प्रभाव जग बिदित···'—रघुबीर की प्रिया हो, फिर तुम्हारा भी प्रभाव जगत् में सबको विदित है कि पिनाक धनुष को तृण की तरह एक हाथ से उठा लिया, जिससे श्रीविदेहजी ने उसके तोड़ने की प्रतिज्ञा की। उसे तीनों लोकों के वीर भी न उठा सके थे। इससे यह प्रभाव सब जानते हैं। तब तुम्हें कहीं भी क्या भय है ? पूर्वोक्त—"सिह बधुहिं जिमि ससक सियारा।" (दो० ६६) की व्याख्या भी देखिये।

(२) 'लोकप होहि बिलोकत तोरे·····'—यथा—"उमा-रमा-ब्रह्मादि बंदिता।·· जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितव न सोइ।" (उ० दो० २४), अर्थात् आप त्रिदेव और उनकी शक्तियों से वन्दिता हैं, और इन्द्रादि देवता आपकी कृपा कटाक्ष चाहा करते हैं, क्योंकि आपकी अनुकूल दृष्टि से लोग इन्द्र, वरुण आदि की पदवी पा जाते हैं, तथा—"जाके बिलोके ते लोकप होत बिसोक लहैं सुर लोग सुठौरहि।" (क० उ० २७)। 'दीन्हि बड़ाई' अर्थात् अब लोग सिहायँगे कि गंगाजी की प्रार्थना और पूजा तो सर्वेश्वरी ने भी की थी। मुझपर यह बड़ी कृपा की। यहाँ विनय सुनाने के सम्बन्ध से 'हमहिं' बड़प्पन-सूचक शब्द बहुवचन कहा गया है, और कृपा करने में 'मोहि' यह एकवचन लघुता-सूचक सर्वनाम अपने लिये गंगाजी ने कहा है यह कवि की सँभाल भी प्रशंसनीय है।

'तोहिं सेवहिं सब सिधि···', यथा—"सिधि सब सिय आयसु अकनि, गईं ··" (बा० दो० ३०६)।

(३) 'तदपि देवि मैं देवि असीसा।'—माधुर्य-रीति से आपने मुझे देवता मानकर विनती की है। तदनुसार मैं आशिष दूँगी। पुनः आपके ऐश्वर्य को जानती हुई मैं अपनी वाणी को सफल करती हूँ। सफलता यों होगी कि आप सर्वेश्वरी हैं। अतः, सकुशल तो लौटेंगी ही। इसपर मेरी आशिष रहने से लोग कहेंगे कि गंगाजी की आशिष से कुशल-पूर्वक आईं, यथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥" (बा० दो० ३५६), 'बागीसा'—ईश्वर के विषय में प्रवृत्त वाणी ही वाणियों की ईश्वरी है।

(४) 'पूजिहि सब मनकामना ··'—भू-भार-हरण, निशिचरनाश, सुर-विप्र-दुःख-हरण, आदि। 'सुजस', यथा—"दसमुख-बिवस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुवस बसे गावत जिन्हके जस अमरनाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)

गंग- बचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥१॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुख भा उर दाहू॥२॥
दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥३॥
नाथ साथ रहि पंथ देखाई। करि दिन चारि चरन-सेवकाई॥४॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥५॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर - दोहाई॥६॥

अर्थ—गंगाजी के मंगल-मूलक (मांगलिक) वचन सुनने से और उन देव-नदी के अनुकूल होने से श्रीसीताजी आनन्दित हुईं॥१॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने गुह से कहा कि तुम अपने घर जाओ, यह सुनते ही उसका मुख सूख गया और उसके हृदय में भी दाह (जलन) हुआ, अर्थात् इससे उसे बड़ा दुःख हुआ॥२॥ उसने हाथ जोड़कर दीनता के वचन कहे कि हे रघुकुल-शिरोमणि! मेरी प्रार्थना सुनिये॥३॥ हे नाथ! मैं (आपके) साथ में रहकर मार्ग दिखाकर चार (अर्थात् कुछ) दिन आपके चरणों की सेवा कर॥४॥ हे रघुराई! आप जिस वन में जाकर रहेंगे, वहाँ मैं सुहावनी पर्णकुटी बनाऊँगा॥५॥ तब मुझे जैसी आज्ञा दीजियेगा, मैं वही करूँगा, हे रघुवीर! मैं आपकी शपथ करके कहता हूँ॥६॥

विशेष—(१) 'तब प्रभु गुहहि कहेउ ·····'—श्रीरामजी ने पहले केवट को विदा किया था, अब उसके राजा गुह को कहते हैं। गुह मन, वचन और कर्म से भी आर्त्त हुआ—'भा उर दाहू'—मन, 'दीन बचन गुह कह'—वचन और 'कर जोरी'—कर्म। हाथ जोड़ने पर श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं, यथा—"भलो मानिहै रघुनाथ जोरिजो हाथ माथो नाइहै।" (वि० १३५)। 'रघुकुलमनि' अर्थात् रघुवंशी सदा दीनों की विनती सुनते आये हैं, कृपया आप भी सुनें। 'दिन चारि'—यह 'कुछ दिन' का वाचक मुहावरा है, पर श्रीरामजी ने इन्हें चार ही दिन साथ रक्खा है, जैसे कि पहले दिन वृक्ष के नीचे बसे—"तेहि दिन भयेउ बिपट तर बासू।" (दो० १०४), दूसरे दिन प्रयाग में बसे—"राम कीन्ह बिश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।" (दो० १०८), तीसरे दिन यमुना तट पर रहे, इसीसे श्रीभरतजी भी वहाँ ठहरे थे। चौथे दिन गुह को विदा किया। चार ही दिन कहा, क्योंकि अधिक कहने से श्रीरामजी स्वीकार न करते। 'परन कुटी मैं करबि सोहाई'—इस कार्य में ये निपुण थे। 'तब' अर्थात् आपके लिये स्थायी निवास-स्थान बनाकर। 'दोहाई'—श्रीरामजी ने अभी तक साथ लेना स्वीकार नहीं किया, इसलिये आगे गुह ने हठ न करने के लिये शपथ की, तब श्रीरामजी ने उसे साथ लिया।

सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥७॥
पुनि गुह ज्ञाति बोलि सब लीन्हे। करि परितोष बिदा तब कीन्हे॥८॥

दोहा—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा-अनुज-सिय-सहित बन, गवन कीन्ह रघुनाथ॥१०४॥

तेहि दिन भयेउ बिटपतर बासू। लखन सखा सब कीन्ह सुपासू॥१॥

अर्थ—उसका स्वाभाविक स्नेह देखकर श्रीरामजी ने उसे साथ लिया, (इससे) गुह के हृदय में

बड़ा आनन्द हुआ ॥७॥ फिर गुह की जाति के सब लोगों को बुला लिया और उनको अच्छी तरह सन्तुष्ट करके विदा किया ॥८॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने श्रीगणेशजी और श्रीशिवजी का स्मरण करके गंगाजी को सिर नवाया। सखा, भाई और श्रीसीताजी के साथ श्रीरघुनाथजी वन को चले ॥१०४॥ उस दिन वृक्ष के नीचे निवास हुआ, श्रीलक्ष्मणजी और सखा (गुह) ने सब सुपास (सुख का सामान) किया ॥१॥

विशेष—(१) 'सहज सनेह राम लखि ··', यथा—"सहज सनेह बिबस रघुराई।" (दो० ८७), इससे साथ में लिया। स्नेह लखने के सम्बन्ध से 'राम' नाम ऐश्वर्यपरक दिया, क्योंकि स्नेह हृदय का धर्म है और श्रीरामजी सबके हृदय में रहते हैं। 'हृदय हुलासू'—पहले वियोग-भय से—'भा उर दाहू' कहा गया था, अब संयोग पाने से वह दाह दूर हुआ और आनन्दोल्लास हुआ।

(२) 'पुनि गुह ज्ञाति बोलि···'—(गुह की जातिवालों को ऐसा भ्रम न हो कि गुह १४ वर्ष के लिये साथ जा रहा है, इसलिये) श्रीरामजी ने कहा कि तुम लोग चिन्ता न करो, ये चार दिन के लिये ही साथ जा रहे हैं, फिर शीघ्र लौट आवेंगे, तुम सब यहाँ के कार्य देखो। यह श्रीरामजी ने इसलिये कहा कि आप 'प्रनत कुटुंबपाल रघुराई' हैं, इसका यों भी अर्थ होता है कि गुह ने अपनी जातिवालों को बुलाया और उनको समझाकर प्रसन्न किया कि ये चक्रवर्त्ती पुत्र हैं। मुझे सखाभाव से मानते हैं। इस आपत्काल में मुझे इनकी सेवा करनी ही चाहिये। कुछ काल इनकी सेवा में रहकर आऊँगा। आपलोग यहाँ के कार्य सावधानी से देखें।

(३) 'तब गनपति सिव·····'—आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तब लोक-शिक्षा के लिये श्रीगणेशजी और श्रीशिवजी का स्मरण करके चले। ये दो अप्रत्यक्ष हैं, इसलिये इन्हें हृदय में ही स्मरण किया और गंगाजी प्रत्यक्ष हैं, इससे उन्हें प्रणाम किया। वन-गमन में तो सबको साथ कहा है, पर श्रीगणेशजी आदि के स्मरण में नहीं, क्योंकि ये तीनों श्रीराम-रूप के ही अनन्य नैष्ठिक हैं। अथवा, 'सखा अनुज सिय सहित' को दीपदेहली-न्याय से पूर्वार्द्ध के साथ भी ले लें तब श्रीरामजी के साथ सबका स्मरण करना ले सकते हैं। पहले वन-यात्रा पर 'गनपति गौरि गिरीस' मनाकर चले थे, यहाँ दो तो वे ही हैं, 'गौरि' की जगह 'गंगाजी' हैं, क्योंकि ये भी "भव भामिनी" (वि० १८) ही हैं। 'वनगमन' के साथ 'रघुनाथ' कहा गया है, क्योंकि इससे पिता के सत्य की रक्षा होगी, जिससे रघुकुल की कीर्त्ति बढ़ेगी। सखा आगे चल रहा है, क्योंकि वह वन के मार्गों को जानता है, तथा—"आगे किए निषादगन दीन्हों कटक चलाइ।' (दो० २०२)। फिर श्रीलक्ष्मणजी, तब श्रीसीताजी और सबके पीछे श्रीरामजी चले, वैसे ही क्रम से लिखा गया है, यथा—"अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीतात्वामनुगच्छतु ॥ पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपलायन् ॥" (वाल्मी० २।५२।९५-९६)।

'तेहि दिन भयेउ···'—श्रीजानकीजी के पैदल चलने का पहला दिन है—'पुर' ते निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दिये मग में डग द्वै।···" (क० अ० ११), प्रातःकाल जटा बनाना, सुमन्त्रजी को समझाना एवं केवट से बात कर गंगा उतरना—आदि कामों में समय विशेष लगा, और प्रयाग नहीं पहुँच सके, इससे बीच में वृक्ष के नीचे रहना पड़ा, प्रातःकाल शीघ्र पहुँचेंगे। 'सब कीन्ह सुपासू', यथा—"गुह सवाँरि साथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई॥ सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि-भरि राखेसि पानी ॥" (दो० ८८)।

प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई ॥२॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव-सरिस मीत हितकारी ॥३॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू ॥४॥

छेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा । सपनेहुँ नहि प्रतिपच्छिन्ह पावा ॥५॥
सेन सकल तीरथ बरबीरा । कलुष-अनीक - दलन रनधीरा ॥६॥
संगम सिंहासन सुठि सोहा । छत्र अखयबट मुनिमन मोहा ॥७॥
चँवर जमुन अरु गंग - तरंगा । देखि होहिं दुख दारिद भंगा ॥८॥

दोहा—सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम ।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुनग्राम ॥१०५॥

अर्थ—प्रातःकाल की सब क्रियाएँ करके रघुकुल-श्रेष्ठ प्रभु श्रीरामजी ने जाकर तीर्थ-राज प्रयाग के दर्शन किये ॥२॥ तीर्थराज का मन्त्री सत्य है, प्यारी स्त्री श्रद्धा और मित्र वेणीमाधव-सरीखा हित करनेवाला है ॥३॥ चारों पदार्थों—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—से उनका भंडार भरा है, वहाँ का पवित्र स्थल ही अत्यन्त सुन्दर देश (राष्ट्र) है ॥४॥ वहाँ की पवित्र भूमि ही सुन्दर, दृढ़ और दुर्गम किला (कोट) है। जिसे प्रतिपक्षी (शत्रु, पाप-वर्ग) स्वप्न में भी नहीं पा सकते ॥५॥ समस्त तीर्थ उसकी श्रेष्ठ वीरों की सेनाएँ हैं, जो पाप की सेना को दल (पीस) डालने में धीरता से लड़नेवाली हैं ॥६॥ (गंगा, यमुना और सरस्वती का) संगम ही अत्यन्त शोभायमान उसका सिंहासन है और अक्षयवट छत्र है, वह मुनियों के मन को लुभानेवाला है ॥७॥ यमुनाजी और गंगाजी की तरंगें (श्याम-श्वेत) चँवर हैं, जिन्हें देखकर दुःख और दारिद्र्य का नाश हो जाता है ॥८॥ पुण्यात्मा और पवित्र साधु सेवन करते और सारे मनोरथ पाते हैं, सब वेद-पुराण भाट लोग हैं, जो उनके निर्मल गुण-समूह कहते हैं ॥१०५॥

विशेष—(१) प्रयागराज सब तीर्थों के राजा हैं, अतएव राजा के सब अंग-रूपक के द्वारा दिखाते हैं। राजा के प्रधान सात अंग हैं, यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोपराष्ट्रदुर्गबलानि चेत्यमरः।" अर्थात् राजा, मन्त्री, मित्र, कोप, राज्य-मंडल, कोट और सेना, ये सात अंग हैं। राजा और उसके सुखांग में रानी, सिंहासन, चमर, छत्र एवं यश गायक आदि हैं, सप्ताङ्ग के साथ इन पाँचो को लेने से यहाँ द्वादश अंग कहे गये है। मन्त्री उत्तम चाहिये, वैसे ही यहाँ सत्य है, तीर्थ-सेवन करनेवाले को यहाँ सत्य ही बोलना चाहिये, तथा मन, वचन, कर्म से निश्छल होकर शास्त्र की आज्ञा का पालन करना चाहिये। हर्षपूर्वक इष्ट व्यापार ग्रहण करना श्रद्धा है तथा तीर्थ माहात्म्य सुनकर सेवन की रुचि करना श्रद्धा-रूपा प्रिय (पतिव्रता) स्त्री है। मित्र समर्थ वेणी माधव हैं। दर्शन करनेवाले भक्त के सदा हितकर्ता हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पदार्थों से भरा भंडार (खजाना) है। पुण्य प्रदेश अर्थात् प्रयाग का प्रान्त ही पवित्र स्थल है, वह (धन-धान्य से सम्पन्न हरा-भरा) सुन्दर देश (राष्ट्र) है। चालीस कोश जो क्षेत्र-भूमि है वही अगम दृढ़ किला है। 'अगमता'—वहाँ जो गंगा-यमुना की रेणुका उड़ती है, वही विषम वन है।

'गाढ़'—गंगा-यमुना की धारा ही दृढ़ धुस्स (बाँध) है। जगह-जगह के घाट ही बुर्ज हैं। रेत परिखाएँ हैं—इस प्रकार की सुन्दरता है। इस किले को प्रत्यक्ष में कौन कहे, स्वप्न में भी पापवर्ग रूप शत्रु नहीं पा सकते। सामान्यतीर्थ सिपाही हैं, और विशेषतीर्थ गया, पुष्कर, काशी आदि श्रेष्ठ वीर (सुभट) है। इस प्रकार ये तीर्थराज सप्तांग पूर्ण हैं।

(२) 'प्रात प्रातकृत करि···'—चलने के सम्बन्ध से प्रायः रघुराई कहते हैं—रंघति गच्छति इति रघुः। पुनः प्रातःकाल की क्रिया के सम्बन्ध से भी माधुर्य नाम दिया गया है।

'प्रभु'—प्रयाग-राज ३॥ कोटि तीर्थों के राजा हैं, एक-एक करोड़ तीनों लोकों के और ५० लाख

वायुमंडल के तीर्थों के राजा हैं, वैसे ये भी 'प्रभु' हैं। अतः, परस्पर योग्य का सम्बन्ध है। 'माधव' (मा=लक्ष्मी, धव=पति) अर्थात् लक्ष्मी के पति मित्र हैं, समय पड़ने पर सहायता करते हैं, कोश देते हैं। 'बर बीरा' अर्थात् अचल हैं। पुनः मरते भी नहीं। 'संगम'—गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों के एकत्र होने से संगम की अपरिमित महिमा है, इसीसे 'मुठि सोहा' कहा है। यहीं पर तीर्थराज के अधिष्ठातृ-देवता विराजते हैं। यहाँ स्नान करना ही सिंहासन तक पहुँचना है।

(३) 'छत्र अषयबट मुनि···'—अक्षयवट प्रलय में भी अक्षय रहता है। अतः, इसका छत्र-भंग नहीं होता। लोमश-मार्कण्डेय आदि चिरंजीवी मुनियों के मन को लुभानेवाला है, अर्थात् वे सदा इसका ध्यान करते हैं। मार्कण्डेय मुनि का प्रलयकाल में यही वह आधार था।

(४) 'चवँर जमुन अरु गंग-तरंगा।'—गंगा-यमुना चवँर डुरानेवाली हैं, इनकी तरंगें श्याम-श्वेत दो चवँर हैं, जिनके दर्शन-मात्र से दुःख और दारिद्र्य-रूपी मक्खी और मशक आदि भंग (नाश) होते हैं। यहाँ तीर्थराज का उदारदातृत्व है, यह राजा में अवश्य चाहिये।

(५) 'सेवहिं सुकृती साधु···'—गुणी लोग राजा को सेवन करके अभीष्ट पाते हैं, वैसे यहाँ बड़े-बड़े पुण्यात्मा लोग ही पुण्यरूप गुण से इन राजा के पास पहुँचते हैं और मनोरथ पाते हैं। सामादि वेद और पद्मादि पुराण भाटों की तरह इनके यश-प्रताप आदि कहा करते हैं।

को कहि सकइ प्रयागप्रभाऊ। कलुषपुञ्ज - कुंजर मृगराऊ ॥१॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख-सागर रघुबर सुख पावा ॥२॥
कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज - बड़ाई ॥३॥
करि प्रनाम देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा ॥४॥
येहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी ॥५॥

अर्थ—पाप समूह रूपी हाथियों के लिये सिंह रूपी श्रीप्रयागराज का प्रभाव कौन कह सकता है? ऐसे (द्वादशांग पूर्ण) सुहावने तीर्थराज को देखकर सुख के सागर श्रीरामजी ने सुख पाया ॥२॥ और श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी और सखा से कहकर, अपने मुख से तीर्थराज की बड़ाई सुनाई ॥३॥ प्रणाम करके वनों और बागों को देखते हुए और अत्यन्त अनुरागपूर्वक माहात्म्य कहते हुए ॥४॥ इस तरह आकर उन्होंने त्रिवेणी (गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम-स्थल) के दर्शन किये, जो स्मरण करने ही से सारे सुन्दर मंगलों की देनेवाली हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'को कहि सकइ प्रयाग ···'—जब वेदादि कहकर समाप्त नहीं कर पाते तो और कौन कह सकता है? तथा—"अकथ अलौकिक तीरथ राऊ।" (बा० दो० १), भारी-भारी पापों को प्रबल एवं भारी हाथियों के समान कहा और अकेले तीर्थराज को सिंह की तरह उनके नाश करने में समर्थ कहा। पहले—"सेन सकल···कलुष अनेक दलन रनधीरा ॥" में सेना के द्वारा पापों का नाश होना कहा गया और यहाँ राजा का निज सामर्थ्य कहा है।

तीर्थराज प्रयाग का महत्त्व महा० वन० ८५।७०–१०० एवं अनुशा० २५।३६-३८ में विशेष रूप में कहा गया है।

(२) 'सुखसागर रघुबर सुख पावा।' सुखसागर को भी सुख देना है। अतएव परम रमणीक है, यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।" (बा० दो० २२७)। आप सुख-सागर हैं, तभी सुख के समुद्र का अनुभव कर सकते हैं, पुनः जो दुःखी होगा, उसे यहाँ कितना सुख मिलेगा, इसे कौन कह सकता है? त्रिवेणी पहुँच गये, आगे स्नान करना कहते हैं।

मुदित नहाइ कीन्हि सिव-सेवा। पूजि जथाबिधि तीरथदेवा ॥६॥
तब प्रभु भरद्वाज पहं आये। करत दंडवत मुनि उर लाये ॥७॥
मुनिमन-मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई ॥८॥

दोहा—दीन्हि असीस मुनीस उर, अति अनंद अस जानि।
लोचनगोचर सुकृतफल, मनहुँ किये बिधि आनि ॥१०६॥

अर्थ—आनन्दपूर्वक (त्रिवेणी में) स्नान करके उन्होंने शिवजी की सेवा (पूजा) की और विधिवत् तीर्थ के देवताओं की पूजा की ॥६॥ तब प्रभु श्रीरामजी महर्षि भरद्वाज के पास आये और दंडवत् करते हुए उनको मुनि (भरद्वाज) ने अपने हृदय से लगा लिया ॥७॥ मुनि के मन में आनन्द जो हुआ, उसका कुछ अंश भी कहा नहीं जा सकता, मानों वे ब्रह्मानन्द की राशि (ढेरी) ही पा गये ॥८॥ मुनीश्वर ने उनको आशिष दी, उनके (मुनीश्वर के) हृदय में अत्यन्त आनन्द हुआ, यह जानकर कि मानों विधाता ने हमारे पुण्यों का फल लाकर हमारे नेत्रों का विषय कर दिया है ॥१०६॥

विशेष—(१) 'मुदित नहाइ···पूजि जथाबिधि···'—वेणीमाधव आदि तीर्थ-देवता हैं, यथा—"प्रयागं माधवं सोमं भारद्वाजं च वासुकीम्। वन्दे अक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्॥" भरद्वाजजी बृहस्पति के पुत्र, द्रोणाचार्य के पिता और वाल्मीकिजी के शिष्य थे।

(२) 'ब्रह्मानंदरासि जनु पाई'—भरद्वाज ब्रह्मानन्द के भोक्ता थे, किन्तु आज इनके दर्शनानन्द के आगे वह एक दाना मात्र सिद्ध हुआ और यहाँ उसका सैकड़ों गुणा आनन्द पा रहे हैं, यथा—"अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौगुन दिये॥" (जानकी मंगल ४५)। यह श्रीजनकजी के अनुभव करने का प्रसंग है। श्रीरामजी माधुर्य में राजकुमार हैं, इस दृष्टि को निर्वाह करते हुए 'जनु' कहा है।

(३) 'दीन्हि असीस मुनीस···'—श्रीरामजी ने राजकुमार की मर्यादा से दंडवत् की, तब उन्होंने मुनीश्वर की मर्यादा से आशिष दी। 'सुकृत फल', यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (दो० २०९), 'बिधि आनि'—क्योंकि सुकृत के फल ब्रह्मा ही देते हैं, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभअसुभ सकल फलदाता॥" (दो० २८१)।

कुसलप्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे ॥१॥
कंद मूल फल अंकुर नीके। दिये आनि मुनि मनहुँ अमी के ॥२॥
सीय-लखन-जन-सहित सुहाये। अति रुचि राम मूलफल खाये ॥३॥
भये बिगतश्रम राम सुखारे। भरद्वाज मृदुबचन उचारे ॥४॥

अर्थ—कुशल-क्षेम पूछकर मुनि ने बैठने के लिये आसन दिया और प्रेम-पूर्वक पूजा करते हुए उसे प्रेम से परिपूर्ण किया॥ १॥ मुनि ने अच्छे-अच्छे कन्द, मूल, फल और अंकुर लाकर दिये, वे ऐसे स्वादिष्ट थे, मानों अमृत के हों ॥२॥ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और अपने भक्त निषादराज के साथ श्रीरामजी ने बड़ी रुचि से सुन्दर मूल फल खाये ॥३॥ थकावट निवृत्त होने से श्रीरामजी सुखी हुए, तब भरद्वाज मुनि ने कोमल वचनों से कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'कुसलप्रस्न करि···'—स्वयं लाकर आसन दिया और कन्द आदि भी लाकर दिये। यह अति आदर है। यहाँ कुशल का प्रश्न मात्र कहा गया है, उत्तर अन्यत्र की भाँति समझना

चाहिये, यथा—"भेंटि कुसल बूझी मुनिराया। हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥" (उ० दो० ४), ग्रन्थ-विस्तार भय से सर्वत्र नहीं लिखा गया। 'पूजि' अर्थात् अर्घ्य आदि से स्वागत किया, यथा—"उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ राममागतमभ्यर्च्य स्वागते नागतं मुनिः॥" (वाल्मी० २।५४।१७-१९), 'अमीके' अर्थात् कन्दादि सब स्वादिष्ट मीठे और गुणकारी थे, यथा—"दोना रुचिर रचे पूरन कंद मूल फल फूल। अनुपम अमियहु ते···" (गी० अर० १७।३), तथा—"नानाविधानन्नरसान्वन्यमूलफलाश्रयान्।" (वाल्मी० २।५४।१८), अर्थात् भरद्वाजजी ने नाना प्रकार के वन के कन्दमूल, फल तथा रस-प्रधान पदार्थ दिये। 'प्रेम परिपूरन'—पूजा में द्रव्य की अपेक्षा प्रेम ही मुख्य है। उसीसे श्रीरामजी सन्तुष्ट हुए, यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी० १।१।५८), अर्थात् शबरी के प्रेम से ही श्रीरामजी सम्यक् प्रकार से पूजित हुए, यथा—"बलि पूजा चाहत नहीं चाहै यक प्रीति।" (वि० १०७), "रामहि केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६)। भरद्वाजजी ने यहाँ तन, मन, वचन, तीनों से प्रेम किया—'आसन दीन्हें'—तन से, 'प्रेम परिपूरन कीन्हें'—मन से तथा 'कुसल प्रस्नकरि'—वचन से। 'अति रुचि', क्योंकि मुनि ने अत्यन्त प्रेम से लाकर दिये थे।

(२) 'भये बिगत श्रम···'—आप भक्तों की सेवा ग्रहण करने के लिये श्रम, क्षुधा आदि भी ग्रहण करते हैं और प्रेम सहित दिये हुए पदार्थ से सुखी होते हैं। वास्तव में तो ये 'राम' हैं, योगी लोग इनमें रमण-करते हैं, तो इन्हें श्रम आदि कहाँ? श्रीरामजी ने मुनि के सत्कार में सुख माना, 'सुखारे' हुए, यह कहा गया है। आगे प्रभु के मिलने पर अपना सुख भरद्वाजजी कहते हैं, यही सन्त-भगवन्त की अन्योन्य प्रीति है।

आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥५॥
सफल सकल-सुभ-साधन-साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥६॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥७॥
अब करि कृपा देहु बर येहू। निज-पद-सरसिज सहज सनेहू॥८॥

दोहा—करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार॥१०७॥

अर्थ—आज मेरे तप, तीर्थ और त्याग सफल हुए और आज ही मेरे जप, योग और वैराग्य सुफल हुए॥५॥ हे श्रीरामजी! आज आपको देखते ही मेरे समस्त शुभ साधनों की सामग्री सुफल हुई॥६॥ आपके दर्शनों से मेरी सारी आशाएँ पूरी हुईं। लाभ की पराकाष्ठा और सुख की सीमा (आपके दर्शनों के अतिरिक्त) और कुछ नहीं है॥७॥ अब आप कृपा करके यही वर दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा स्वाभाविक स्नेह बना रहे॥८॥ मन, वचन और कर्म से छल छोड़कर जब तक मनुष्य आपका भक्त नहीं होता, करोड़ों उपायों के करने से तब तक उसे स्वप्न में भी सुख नहीं होता॥१०७॥

विशेष—(१) 'आजु सुफल तप···'—अर्थात् इन सबका फल श्रीराम-दर्शन ही है, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (दो० २०९)। 'सकल सुभ साधन', यथा—"भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम पद अति अनुरागा॥ तापस सम दम दयानिधाना। परमारथ पथ परम सुजाना॥" (बा० दो० ४३), यहाँ क्रमशः उपासना, कर्म और ज्ञान के साधन कहे गये हैं। उनकी सफलता आज हुई।

(२) 'लाभ अवधि सुख अवधि···'—भक्तों का यही लाभ, योगी-ज्ञानी लोगों का सुख और

कर्मकाण्डियों को इसीमें सब आशा पूर्त्ति है। सारे साधन तो आपके दर्शन ही भर के हुए। अब अपनी कृपा से अपने में सहज-स्नेह वृत्ति दीजिये, यथा - रघुपति कृपा भगति पाई।·····पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना ॥" (बा० दो० २१०)। 'सहज सनेहू' अर्थात् मन, वचन, कर्म से स्वाभाविक प्रेम पूर्वक लगा रहना, यथा—"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।···" (वि० २६९), तथा—"जौ मन लागै राम चरन अस। देह, गेह, सुत, बित, कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस ॥··· ···" (वि० २०४)—यह पूरा पद एवं इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। 'पद-सरसिज' के अनुरोध से अपने को भ्रमरवत् लुभाया रहना माँगा है।

(३) 'करम बचन मन छाँड़ि छल···'—भजन करते हुए उससे दूसरा फल चाहना छल है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००)। अतः, अन्य कामना न करके भक्ति करते हुए भक्ति ही की कामना करनी चाहिये, यथा—"उमा राम-सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना ॥" (सुं० दो० ३३), "परहु नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाहु। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ ॥" (दोहावली ९२)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

सुनि मुनिबचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने ॥१॥
तब रघुबर मुनि-सुजस सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहिं सुनावा ॥२॥
सो बड़ सो सब-गुन-गन-गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू ॥३॥
मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी मुनि के वचन सुनकर सकुचा गये। उनके भाव और भक्ति को देखकर वे आनन्द से तृप्त हो गये ॥१॥ तब रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी ने मुनि का सुन्दर यश अनेक तरह से कहकर सबको सुनाया ॥२॥ (फिर मुनि से कहा—) हे मुनीश्वर! वही बड़ा है और वही सब गुण-गणों का घर (स्थान) हो जाता है आप जिसे आदर देते हैं ॥३॥ मुनि और रघुवीर श्रीरामजी परस्पर (एक-दूसरे से) नम्र हो रहे हैं। और उस सुख का अनुभव कर रहे हैं जो वाणी से कहने में नहीं आ सकता ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनिबचन राम···'—मुनि वचन से श्रीरामजी की बड़ाई करते हैं। इससे तो आप सकुच गये, यथा—"पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महुँ मनहुँ समानी ॥" (दो० २८६), "सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिरनाई ॥" (वि० १६४), यह शिष्टता है, पर मुनि की भाव-भक्ति से हर्षित हुए। 'भाव भगति···', यथा—"भाव बस्य भगवान···" (उ० दो० ९२), "प्रभु भाव गाहक···" "सुर साधु चाहत भाव···" (बा० दो० ३२५), मुनि ने स्वयं आसन दिया, पूजन किया, प्रेमपूर्वक भोजन कराया और प्रभु के दर्शनों का महत्त्व कहा, ये सब इनकी भाव-भक्ति के अंग हैं। फिर अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये मुनि का सुयश कहने लगे कि जिससे लोग समझें कि दोनों परस्पर बड़ाई कर रहे हैं। पुनः भक्तों का सुयश कहना-सुनना आपका स्वभाव भी है। 'मुनि-सुजस सुहावा'—इनके जन्म-कर्म की दिव्यता एवं महिमा कही—बा० दो० ४३ चौ० १ में देखिये, तथा—"बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० २), "सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥" (अर० दो० ४५)। इस रीति से साधु-महिमा के रूप में मुनि सुयश कहा।

(२) 'सो बड़ सो सब-गुन-गन-गेहू।·····'—आप मुनीश्वर हैं, बड़े हैं। अतः, आप जिसे आदर दें, वह उसीसे बड़ा एवं गुणी हो जाता है, ऐसे ही आपने मुझे आदर देकर योग्य बना दिया। इस तरह माधुर्य के भाव से ऐश्वर्य को ढँक दिया।

(३) 'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं।·····' मुनि श्रीरामजी का ऐश्वर्य भाव लेकर उनकी प्रशंसा

करते हैं और श्रीरामजी अपने माधुर्य भाव में राजकुमार की स्थिति से मुनि के साधु भाव की प्रशंसा करते हैं। अतः, यहाँ 'अन्योन्य अलंकार' है।

'बचन अगोचर सुख अनुभवहीं'—यह सुख मन बुद्धि से परे है, यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई (उ० दो० ४), इसीसे वचन से कहा नहीं जा सकता। दोनों एक दूसरे के भाव में निमग्न हो जाते हैं। स्वामी का सुख मुनि और सेवक का सुख श्रीरामजी लेते हैं।

यह सुधि पाइ प्रयागनिवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी ॥५॥
भरद्वाज-आश्रम सब आये। देखत दसरथसुवन सुहाये ॥६॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भये लहि लोचन लाहू ॥७॥
देहिं असीस परम सुख पाई। फिरे सराहत सुंदरताई ॥८॥

दोहा—राम कीन्ह बिश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन, मुदित मुनिहिं सिर नाइ ॥१०८॥

अर्थ—यह समाचार पाकर (कि मुनि के यहाँ चक्रवर्त्ति-कुमार आये हैं) प्रयाग के रहनेवाले, ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब श्रीदशरथजी के सुन्दर पुत्रों को देखने भरद्वाज मुनि के आश्रम में आये ॥५-६॥ श्रीरामजी ने सब किसीको प्रणाम किया, सब लोग नेत्रों का लाभ (अपूर्व दर्शन) पाकर आनन्दित हुए ॥७॥ परम सुख पाकर आशिष देने लगे और फिर उनकी सुन्दरता सराहते हुए लौट गये ॥८॥ श्रीरामजी ने रात को (वहीं पर) विश्राम किया और श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और अपने भक्त गुह के साथ सेवेरे प्रयाग स्नान करके (भरद्वाज-मुनि के पास) चले और (वहाँ) मुनि को सिर नवा करके आनन्दित हुए ॥१०८॥

विशेष—(१) यहाँ चारो आश्रमों के लोग आये, 'प्रयागनिवासी'—गृहस्थ, 'बटु'—ब्रह्मचारी, 'तापस'—वानप्रस्थ और 'उदासी' से संन्यास आश्रम जनाये हैं। 'राम प्रनाम कीन्ह···'—क्योंकि सबमें विप्र, बटु, संन्यासी आदि सब क्षत्रियों के पूज्य हैं। अतः, श्रीरामजी ने समष्टि में सभीको प्रणाम किया है। 'देखत दसरथसुवन···देहिं असीस···' इन वचनों से सिद्ध है कि मुनि का ऐश्वर्य प्रकट करना दब गया। श्रीरामजी ने अपने माधुर्य भाव से दबा दिया। इससे प्रयाग-निवासी इन्हें राजपुत्र मानकर इनकी शोभा पर ही निमग्न हुए। 'चले सहित सिय लखन···' यहाँ श्रीरामजी तैयार होकर अपने आसन से मुनि के पास विदा होकर जाने के लिये गये। मुनि से मार्ग पूछकर फिर प्रणाम करके वन को चलना आगे कहा जायगा। वाल्मी० २।५४। २७-३४ में लिखा है कि रात की वार्ता में ही मुनि से चित्रकूट निवास का निश्चय हो गया था, इसलिये प्रातःकाल मुनि के पास वहाँ का मार्ग जानना और आज्ञा लेकर चलना आवश्यक था।

'राम कीन्ह बिश्राम निसि', यथा—"सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः। भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम्॥" (वाल्मी० २।५४।३५), अर्थात् सुख से रहने के योग्य श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और तीसरी श्रीसीताजी, तीनों ने मार्ग चलने से थके हुए रमणीक भरद्वाजाश्रम में उस रात में सुख-पूर्वक निवास किया।

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिय हम केहि मग जाहीं ॥१॥

मुनि मन बिहँसि रामसन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं ॥२॥
साथ लागि मुनि-सिष्य बोलाये। सुनि मन मुदित पचासक आये ॥३॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मग दीख हमारा ॥४॥
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे ॥५॥
करि प्रनाम रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई ॥६॥

शब्दार्थ—लागि = के लिये। पचासक = पचास के लगभग (ऐसा मुहावरा है)।

अर्थ—श्रीरामजी ने मुनि से प्रेमसहित कहा कि हे नाथ! कहिये, हम किस मार्ग से जायँ ॥१॥ मुनि मन में हँसकर श्रीरामजी से कहते हैं कि आपको सभी मार्ग सुगम हैं, (चाहे जिससे जायँ) ॥२॥ फिर साथ के लिये मुनि ने अपने शिष्यों को बुलाया, (श्रीरामजी के साथ जाना) सुनकर प्रसन्न मन से पचास के लगभग आये ॥३॥ उन सभीका श्रीरामजी पर अत्यन्त प्रेम है, सभी कहने लगे कि मार्ग हमारा देखा हुआ है ॥४॥ तब मुनि ने ऐसे चार ब्रह्मचारी (श्रीरामजी के) साथ कर दिये, जिन्होंने अनेकों जन्मों में सब पुण्य किये थे ॥५॥ प्रणाम करके ऋषि की आज्ञा पाकर श्रीरघुनाथजी प्रसन्न मन से चले ॥६॥

विशेष—(१) 'राम सप्रेम कहेउ·····'—भक्त पर प्रेम है, इससे उनसे मार्ग पूछते हैं कि वे समझें कि श्रीरामजी हमारे आज्ञाकारी हैं और इससे यह भी जनाया कि आप भक्तों के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं। ऊपर लिखा भी गया कि मुनि से चित्रकूट जाने की सम्मति हुई थी, इससे वे वहाँ का मार्ग पूछते हैं। 'हम' शब्द बहुवचन है, क्योंकि आप चार व्यक्ति हैं।

(२) 'सुगम सकल मग·····'—मुनि हँसे कि हमसे ऐश्वर्य छिपाते हैं और प्राकृत मनुष्यों की तरह पूछते हैं। इसी तरह वाल्मीकिजी और अगस्त्यजी के यहाँ भी श्रीरामजी ने ऐश्वर्य छिपाया है और उन लोगों ने भी हँसकर प्रकट कह भी दिया है। ऐसे ही श्रीभरद्वाजजी कहते हैं, आपके लिये सभी मार्ग सुगम हैं, अर्थात् दशो दिशाएँ सुगम हैं। आपको किसीके बतलाये हुए मार्ग की आवश्यकता नहीं, आप सब जगह वर्त्तमान है, यथा—"जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥" (दो० १२७)। माधुर्य का यह भाव है कि सभी आपकी प्रजा हैं, जिधर से जायँगे, सभी सब सुपास करेंगे। फिर व्यावहारिक दृष्टि से मार्ग दिखाने के लिये शिष्यों को बुलाया। 'मुनि बटु चारि·····'—चार विद्यार्थियों को साथ दिया, सम्मान के लिये चार भेजे, पुनः श्रीरामजी भी चार व्यक्ति हैं और घोर जंगल में उन्हें लौटना पड़ेगा, इसलिये चार दिये, जिससे डरें नहीं। पुनः इन चारों ने बहुत सुकृत भी किये हैं। अतएव इन्हें कृतार्थ कराना है। 'चले रघुराई'—चलने के सम्बन्ध से यहाँ भी 'रघुराई' कहा है। इस मानस में भरद्वाजजी का कर्म घाट है, इससे भी इन्होंने सुकृतियों को ही साथ भेजा।

'पचासक आये' उनमें परम सुकृती चार ही साथ दिये गये, इसपर कहा जाता है कि १८ पुराण, १८ स्मृतियाँ, ६ शास्त्र, ४ उपवेद और ४ वेद, ये मिलकर ५० होते हैं, ये सभी संसार में मार्ग दिखानेवाले हैं एवं ईश्वर प्रेमी हैं। अतएव बटु-रूप में पचासो कहते हैं कि हमारा देखा हुआ मार्ग है। पर इनमें सबके मूल एवं परम सुकृती चारो वेद हैं, उन्हींको मुनि ने साथ दिया। इसमें सभी प्रेमियों का मान भी रह गया।

"सुरसरि उतरि निवास प्रयागा"-प्रकरण समाप्त।

'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन'-प्रकरण

ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि-नर धाई ॥७॥
होहिं सनाथ जनमफल पाई। फिरहिं दुखित मन संग पठाई ॥८॥

दोहा—बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मनकाम।
उतरि नहाये जमुनजल, जो सरीरसम स्याम ॥१०६॥

☞ यहाँ से अब वाल्मीकि-आश्रम को जाते हैं, मार्ग-वासियों को सुख देते हुए जा रहे हैं।

अर्थ—(श्रीरामजी) जब किसी गाँव के समीप जा निकलते हैं तब दौड़कर वहाँ के स्त्री-पुरुष इनके दर्श (दर्शनीय रूप) को देखते हैं ॥७॥ वे जन्म लेने का फल पाकर सनाथ हो जाते हैं और अपने मन को उन्हींके साथ भेजकर दुःखी हो लौटते हैं ॥८॥ (साथ आये हुए चारो) ब्रह्मचारियों को विनती करके विदा किया। वे अपने मनोरथ पाकर के लौटे, तब (यमुना) उतरकर यमुनाजी के जल में स्नान किया, वह जल (श्रीरामजी के) शरीर के समान श्याम था ॥१॥

विशेष—'देखहिं दरस'—'दरस' का अर्थ (दृश्य) दर्शनीय रूप का है, यथा—"भरत दरस देखत खुलेउ ..." (दो० २२३), 'होहिं सनाथ'—प्रभु के दर्शनों से जीव अपने सहज-स्वरूप की वास्तविक स्थिति पर प्राप्त हो जाता है, श्रीराम-शेषत्व में आरूढ़ हो जाता है। फिर उसे किसीका भय नहीं रह जाता, जैसे अच्छे राजा के आश्रित होने से सनाथ प्रजा को भय नहीं रहता—दो० १३५ भी देखिये। 'फिरहिं दुखित'—क्योंकि मन से बेहाथ हो गये। जिसके संयोग में जैसा अधिक सुख होता है उसके वियोग में वैसा ही दुःख भी होता है, यथा—"जेहि-जेहि मग सिय राम लखन गये, तहँ-तहँ नर नारि बिनु छर छरिगे ..." (गी० अ० ३२), 'फिरे पाइ मनकाम'—इनकी मनोभिलाषा थी कि कुछ काल इन चरणों के दर्शन हों, यह कामना पूरी हुई, यही सब साधनों का फल है—दो० १०६ चौ० ५-७ देखिये। लौटना था ही, अतः, फिरे। 'बिनय' अर्थात् आपलोगों को बड़ा कष्ट हो रहा है। अब लौटें, हमें अब ठीक राह मिल गई। अतः, चले जायँगे। आप लोग भी गुरु सेवा में प्राप्त हों। 'उतरि नहाये जमुन जल ...' में 'प्रतीप अलंकार' का पहला भेद है। गुह साथ हैं, इनके प्रबन्ध से नाव से उतरे। भरतजी की सारी सेना को भी इन्होंने एक ही बार में उतारा है।

सुनत तीरबासी नर - नारी। धाये निज - निज काज बिसारी ॥१॥
लखन - राम - सिय-सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई ॥२॥
अति लालसा सबहिं मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥३॥
जे तिन्ह महँ बयबिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति राम पहिचाने ॥४॥

अर्थ—यह सुनकर (कि अत्यन्त सुन्दर दो पुरुष और एक स्त्री घाट पर आये हैं) यमुना के किनारे रहनेवाले स्त्री-पुरुष अपने-अपने कार्य भूलकर दौड़े ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी की सुन्दरता देखकर अपने भाग्य की प्रशंसा करते हैं ॥२॥ सभीके मन में (इनके नाम और ग्राम जानने की) अत्यन्त लालसा है, परन्तु इनके नाम-ग्राम पूछने में सकुचते हैं ॥३॥ इनमें जो वृद्धावस्था के और सयाने थे, उन्होंने युक्ति करके श्रीरामजी को पहचान लिया ॥४॥

विशेष—'निज-निज काज बिसारी।'—चैत-वैशाख का महीना है, खेत काटना, माँड़ना आदि कार्य छोड़कर दौड़े, यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥" (बा० दो० २१९),

"राम-पथिक छबि निरखि कै तुलसी मग-लोगनि धाम काम बिसरे हैं।" (गी० अ० २५), बिसारने में तन और मन दोनों से गृह कार्य का त्यागना है। 'देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई, यथा—"एक कहैं बाम बिधि दाहिनो हमको भयो।" (गी० अ० ३४), अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन।' (गी० अ० २४)। इनका तेज-प्रताप देखकर नाम-ग्राम पूछने में सकुचते हैं। अतएव युक्ति करके जाना, निषादराज से इशारे से पूछकर जान लिया। 'सबहिं' के स्थानपर 'बसहिं' पाठ राजापुर की प्रति में है, पर वह लेख प्रमाद जान पड़ता है, स्वाभाविक नहीं।

सकल कथा तिन्ह सबहिं सुनाई। बनहिं चले पितुआयसु पाई ॥५॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं ॥६॥
तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा ॥६॥
कवि-अलखित गति बेष बिरागी। मन-क्रम - बचन राम-अनुरागी ॥८॥

दोहा—सजल नयन तनु पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल, दसा न जाइ बखानि ॥११०॥

अर्थ—उन्होंने सारी (वन आने की) कथा सबको कह सुनाई कि ये पिता की आज्ञा पाकर वन को चले जा रहे हैं ॥५॥ यह सुनकर सब विषाद-सहित पछता रहे हैं। (और कहते हैं कि) रानी और राजा ने यह अच्छा नहीं किया ॥६॥ उसी समय एक तपस्वी आया जो अत्यन्त तेजस्वी, छोटी अवस्था का और सुन्दर था ॥७॥ कवि के लिये उसकी गति अलखित है, अर्थात् कवि उसका ठीक-ठिकाना नहीं जानते। उसका विरक्तों का वेष है और वह मन, वचन कर्म से श्रीरामजी का अनुरागी है ॥८॥ अपने इष्ट-देव श्रीरामजी को पहचानकर उसकी आँखों में जल भर आया है और उसकी देह में पुलकावली है, वह दंडाकार भूमि में पड़ गया। उसकी वह दशा बखानी नहीं जा सकती ॥११०॥

विशेष—'सुनि सबिषाद सकल···'—इनकी सुन्दरता और सुकुमारता देखकर दुःखित होते हैं और अयोग्य कार्य पर रानी-राजा को दोष देते हैं, रानी ने ही वरमाँगा है, इससे उसे प्रथम कहा। राजा रानी के वश हो गये थे, इससे इन्हें भी दोष देते हैं।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा ॥१॥
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ ॥२॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ॥३॥
पुनि सिय-चरन-धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा ॥४॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि रामसनेही ॥५॥
पियत नयनपुट रूप - पियूषा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने प्रेम-सहित पुलकित होकर उसको हृदय से लगा लिया, मानों महादरिद्र ने पारस पाया हो ॥१॥ (इनका मिलना देखकर देखनेवाले) सब कोई कहते हैं कि (ऐसा जान पड़ता है) मानों प्रेम और परमार्थ देह धारण किये हुए परस्पर मिल रहे हों ॥२॥ फिर वह तपस्वी श्रीलक्ष्मणजी के चरणों में जा लगा, अर्थात् उनके चरणों पर पड़कर उनको प्रणाम किया, श्रीलक्ष्मणजी ने अनुराग से उमँगकर उसे उठा लिया ॥३॥ फिर उसने श्रीसीताजी के चरणों की रज को सिर पर रक्खा। बालक

जानकर माता ने उसे आशिष दी ॥४॥ फिर गुह निषाद ने उसको दंडवत् (प्रणाम) की। श्रीरामजी का स्नेही जानकर वह इससे प्रसन्न मन से मिला ॥५॥ वह (तपस्वी) अपने नेत्र-रूपी दोनों के द्वारा श्रीराम जी का रूपामृत पान कर रहा है। वह ऐसा आनन्दित है कि जैसे भूखा सुन्दर भोजन पाने से ॥६॥

विशेष—(१) तापस प्रसंग—यह प्रसंग यहाँ के चरित-प्रसंग से पृथक्-सा है, इसीसे इसपर लोगों ने बहुत तरह के विचार प्रकट किये हैं। प्रसंगानुसार यहाँ भी कुछ कहा जाता है। इसके विषय में कवि स्वयं कहते हैं—'कवि अलखित गति' अर्थात् हम नहीं जान पाते, तो टीकाकार लोग कैसे निश्चय कह सकते हैं। घटना से अनुमान होता है कि जिस समय ग्राम-नर-नारी विषाद-सहित पछता रहे थे—"रानी राय कीन्ह भल नाहीं" उसी ससय यह तपस्वी आया, इसे देख वे सब चुप हो गये और तपस्वी का चरित प्रारम्भ हुआ। ग्राम-नर-नारी मुग्ध होकर इसके मिलाप की प्रशंसा करने लगे—'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु' इन्होंने उसे शरीरधारी 'प्रेम' और श्रीरामजी को 'परमार्थ' कहा है। श्रीरामजी वास्तव में परमार्थ-रूप हैं, यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (दो ९२), वैसे ही वह भी प्रेम-स्वरूप है। भगवान् तेजपुंज हैं, प्रेम का भगवान् से तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः, तद्रूप होने से प्रेम भी तेजपुंज है। लघुवयस के बच्चे की तरह प्रेम भगवान् को प्रिय है। कवि उसे ठीक-ठीक नहीं लख पाते, क्योंकि प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" (नारदभक्ति सू० ५१), 'बेष बिरागी' अर्थात् प्रेमनिरोधरूप ही है, यथा—"सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।" (नारदभक्तिसूत्र ७), 'मनक्रम बचन राम अनुरागी', यथा—"तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च" (नारद भ० सू० ९)। 'परम रंक जनु पारस पावा' अर्थात् तपस्वी दंडाकार भूमि में पड़ा, तब श्रीरामजी ने प्रेम-सहित उसे उठा लिया। जैसे कोई परम कंगाल पारस पा जाय और उसे उठाकर हृदय में लगावे और आनन्दित होवे, इससे दिखाया कि भगवान् को प्रेम कितना दुर्लभ और प्रिय है, यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६), दूसरी उत्प्रेक्षा—'मनहुँ प्रेम परमारथ···' से दिखाया कि प्रेमी को इष्ट श्रीरामजी ही परम प्राप्य हैं। आगे विशेष (४) भी देखिये।

(२) 'बहुरि लखन पायन्ह···'—श्रीलक्ष्मणजी ने हृदय से अनुराग-पूर्वक उसे उठा लिया, इस तरह अपना परम प्रियत्व जनाया। 'जननि जानि' यह दीपदेहली है। इसने माता जानकर इनकी चरण-रज शिरोधार्य किया और माता ने उसे शिशु जानकर आशिष दी, इससे जनाया कि श्रीजानकीजी की कृपा से प्रेम होता है और बढ़ता भी है।

(३) 'कीन्ह निषाद दंडवत···'—यद्यपि निषाद-जाति अस्पृश्य है, तो भी वह 'राम सनेही' देखकर प्रसन्न होकर मिला, क्योंकि प्रेमी भक्तों में आत्म दृष्टि से जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिभेद नहीं हैं, यथा—"नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-भेदः।" (नारद भ० सू० ७२)।

(४) 'पियत नयनपुट रूप···'—वह बड़े चाव से श्रीरामजी की रूप माधुरी का अवलोकन कर रहा है। अमृत की तरह आस्वादन कर रहा है। उत्तम अन्न पेट भर भोजन करने से सभीको आनन्द होता है। भूखा हो, तो उसके सुख का ठिकाना ही नहीं। प्रेमी इष्ट के रूप को उसी तरह देखता है, जैसे भूखा उत्तम भोजन को, यथा—"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥" (नारद भ० सू० ५५), ('नयनपुट'—वन-मार्ग में पत्ते ही बहुत हैं। इसीसे नेत्रों को दोने का रूपक कहा गया है।) प्रेमी श्रीभरतजी ने कहा भी है—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (दो० २६०)।

इस प्रेम-मूर्त्ति तपस्वी का जाना नहीं कहा गया, क्योंकि प्रेम-मूर्त्ति का प्रभु से वियोग कैसा? प्रेम और भगवान् से तो भेद ही नहीं है, जैसे कि रसखान ने कहा है—"प्रेम हरी को रूप है, वे हरि

प्रेम स्वरूप। एक होइ दो में लखैं, ज्यों सूरज में धूप ॥" तब इसका जाना कैसे कहा जाय? पुनः शिशु माता-पिता से पृथक् कैसे हो?—"जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा।" कहा ही है। इस तरह इसी ग्रन्थ में प्रेम का मूर्त्तिमान स्वरूप दिखाया गया है। यही कारण है कि इसके दर्शन पाकर निषाद यहीं से लौट जायँगे, क्योंकि प्रेम की पूर्णता होने पर वियोग का अनुभव नहीं होता, यथा—"बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥" (सुं० दो० ३१), तथा उपर्युक्त 'पियत नयनपुट रूप···' प्रसंग देखिये, अन्यथा वे तो शपथ कर चुके थे कि भगवान् के लिये कुटी बनाकर ही लौटूँगा।

बाह्य दृष्टि से वह तपस्वी साधु था। अचानक आ गया, उसका चरित लिखा गया। वह प्रेमी था, रूप माधुरी में मुग्ध हो गया, फिर कवि औरों की बातें लिखने लग गये। वह निमग्न था कि श्रीरामजी ने अपनी राह ली। वे साधु भी रमते-राम थे, पीछे अपनी राह से गये होंगे। ग्रन्थकार तो श्रीरामजी के चरित लिख रहे हैं। आनुषंगिक बातें प्रयोजन भर ही लिखी जाती हैं। विचरनेवाले साधु से विशेष जानकारी न की गई और न कवि ने लिखा।

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे॥७॥
राम-लखन-सिय-रूप निहारी। होहिं सनेह-बिकल नरनारी॥८॥

दोहा—तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहि सिखावन दीन्ह।
रामरजायसु सीस धरि, भवन गवन तेइ कीन्ह॥१११॥

अर्थ—हे सखि! कहो तो वे पिता-माता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुन्दर सुकुमार) बालकों को वन में भेजा है॥७॥ वे स्त्री-पुरुष श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के रूप को देखकर अत्यन्त स्नेह के कारण व्याकुल हो जाते हैं॥८॥ तब रघुवीर श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से सखा गुह को शिक्षा दी। श्रीरामजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह अपने घर को गया॥१११॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु कहहु···'—पूर्व इन लोगों का प्रसंग—'रानी राय कीन्ह भल नाहीं।' पर छोड़ा था। बीच में तपस्वीजी आ गये, उनके तेज और प्रेम के आगे सब ठिठक गये थे। अब सावधान होकर पूर्व प्रसंग फिर उठाते हैं और वे ही विषाद के वचन कहते हैं (यहाँ की ये दो अर्द्धालियाँ पूर्व दो० ८८ में भी आई हैं) इसमें 'असंगति अलंकार' है।

(२) 'तब रघुबीर अनेक बिधि···'—सखा गुह साथ छोड़ना नहीं चाहता था। अतः, अनेक तरह से समझाना पड़ा। 'रघुबीर' अर्थात् अपनी वीरता भी कही कि हम स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ हैं, दूसरे की आवश्यकता नहीं है। 'रामरजायसु'—श्रीरामजी की आज्ञा अमिट है, यथा—"मेटि जाइ नहिं राम रजाई।" (दो० ९८), "राम रजाइ सीस सबही के।" (दो० २५३), 'राम' अर्थात् सबमें रमण करते हुए यह भी जानते हैं कि अभी श्रीसुमन्त्रजी शृंगवेरपुर में ही पड़े हैं। बिना गुह के लौटे वे अवध न जा सकेंगे, यथा—"गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्। आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥" (बाल्मी० २।५९।३), अर्थात् श्रीसुमन्त्रजी कई दिन शृंगवेरपुर में ही ठहरे थे कि सम्भवतः श्रीरामजी मुझे बुलावेंगे, यह आशा लगी थी। गुह के लौटने पर दूर तक चले जाने की बात जानकर तब सुमन्त्रजी लौटेंगे।

पुनि सिय राम लखन कर जोरी। जमुनहिं कीन्ह प्रनाम बहोरी॥१॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥२॥

पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता ॥३॥
राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे ॥४॥

अर्थ—फिर श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने यमुनाजी को हाथ जोड़कर फिर प्रणाम किया ॥१॥ सूर्य की कन्या यमुनाजी की प्रशंसा करते हुए श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई प्रसन्नता-पूर्वक चले ॥२॥ मार्ग में जाते हुए अनेकों पथिक (बटोही) मिलते हैं। वे दोनों भाइयों को प्रेम-पूर्वक देखकर कहते हैं ॥३॥ कि तुम्हारे सब अंगों में राजा के लक्षण देखकर अत्यन्त शोच हमारे हृदय में होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'पुनि सिय राम लखन···'—'पुनि' अर्थात् गुह को विदा करने पर, 'बहोरी'—अभी स्नान करने पर एक बार प्रणाम कर चुके थे। यहीं पर तापस-भेंट और गुह-विदाई आदि प्रसंग हुए। अब चलते समय फिर प्रणाम किया। 'रवितनुजा'—बड़ाई करने में सूर्य-सम्बन्धी नाम दिया, अर्थात् यमुनाजी अपने कुल की पुरुषिनि हैं। इनकी बड़ाई करनी ही चाहिये। पुनः सूर्य के सम्बन्ध से इनका पावनत्व आदि महत्त्व भी सूचित किया।

(२) 'राजलखन सब अंग तुम्हारे'—सामुद्रिक शास्त्रानुसार सब राज्य-लक्षण श्रीरामजी में हैं, यथा—"यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च यानि वै।···" से "धङुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः ॥" (वाल्मी० ५।३५।७--२०), तक यह प्रसंग वाल्मीकीय रामायण में ही देखने योग्य है। विस्तारभय से नहीं लिखा।

मारग चलहु पयादेहिं पायें। ज्योतिष झूठ हमारेहि भायें ॥५॥
अगम पंथ गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी ॥६॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहि जो आयसु होई ॥७॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिर नाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि पूछहिं प्रेम बस, पुलकगात जल नयन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं, कहि बिनीत मृदु बयन ॥११२॥

अर्थ—(कि इन लक्षणों के होते हुए भी) आप मार्ग में पैदल चल रहे हैं। (इसपर तो) हमारी समझ में ज्योतिष शास्त्र ही झूठा है ॥५॥ एक तो मार्ग दुर्गम, उसमें फिर भारी पहाड़ और भारी वन हैं, उसमें भी साथ में सुकुमारी स्त्री है ॥६॥ हाथियों और सिंहों का यह वन है, इससे वह देखा नहीं जाता, अर्थात् इसे देखते हुए डर लगता है, यदि आपकी आज्ञा हो तो हम साथ चलें ॥७॥ आप जहाँ तक जायँगे वहाँ तक पहुँचाकर आपको केवल प्रणाम करके फिर हम लौट आवेंगे ॥८॥ प्रेम के वश में होकर इस प्रकार वे पूछते हैं। उनके शरीर पुलकित हैं और आँखों में जल भरे हैं। नम्र-कोमल वचन कह-कहकर कृपा के सागर श्रीरामजी उन्हें लौटाते हैं ॥११२॥

विशेष—(१) 'ज्योतिष झूठ हमारेहि भाये'—जिसमें उपर्युक्त राज-लक्षण हों, उसे राजा होना और उसके साज-बाज चाहिये, किन्तु आप राजा न होकर पैदल चलते हैं। अतः, हमें ज्योतिष (सामुद्रिक) शास्त्र की सत्यता में ही सन्देह होता है। 'सिर नाई' अर्थात् प्रणाम-मात्र करके फिर आवेंगे, कुछ पहुँचाई न लेंगे। अतः, साथ लेने में संकोच न करें।

(२) 'कृपासिंधु फेरहिं·····'—फेरने में कृपालुता ही कारण है कि हमें तो मार्ग में जाना ही है, फिर इन्हें व्यर्थ कष्ट क्यों दें। 'बिनीत मृदु बयन'—आपलोगों का अनुमान ठीक है। हमारे हाथी,

घोड़े आदि सब हैं, हम पिता की आज्ञा के पालन करने के लिये श्रद्धा और स्वेच्छा से वन को विचरने जा रहे हैं। अतः, हमें कोई कष्ट नहीं है।

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग-सुर-नगर सिहाहीं ॥१॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये ॥२॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥३॥
पुन्यपुंज मग-निकट-निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर-बासी ॥४॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता-लखन-सहित घनस्यामहिं ॥५॥

अर्थ—जो पुरवे और गाँव मार्ग में बसे हैं, उन्हें (देखकर) नाग-लोक और देव-लोक के निवासी सिहाते (ललचाकर प्रशंसा करते) हैं ॥१॥ कि किस पुण्यात्मा ने और किस शुभ मुहूर्त्त में इन्हें बसाया हैं, ये धन्य और पुण्यमय हैं, तथा परम शोभायमान हैं ॥२॥ (क्योंकि) जहाँ-जहाँ श्रीरामजी चरण से चले जाते हैं, उन स्थानों के समान तो इन्द्रलोक भी नहीं है ॥३॥ मार्ग के समीप बसनेवाले बड़े पुण्यात्मा हैं उन्हें देवलोक-वासी सराहते हैं ॥४॥ कि जो नेत्र भरकर श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और घनश्याम (सजलमेघ के समान श्याम) श्रीरामजी के दर्शन कर रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'नाग-सुर-नगर ·····'—नागों का लोक भोग्य-पदार्थों से पूर्ण है, भोगावती उनकी पुरी का नाम ही है। 'पुर गाँव' के यथाक्रम से पुरवे को देख नाग-लोक और ग्राम को देखकर सुरलोक सिहाते हैं वा दोनों-के-दोनों सिहाते हैं। कहाँ ये छोटे-छोटे पुरवे और गाँव और कहाँ नागलोक और सुरलोक की विभूति ? अतः, प्रशंसा को हद्द जना दी। नगर आदि के अभिमानी देवताओं का प्रशंसा करना जानना चाहिये, क्योंकि नगर आदि जड़ हैं।

(२) 'केहि सुकृती केहि घरी ····'—यहाँ से प्रशंसा लिखते हैं। यदि घड़ी जानी होती तो हमलोगों के गुरु शुक्राचार्य और बृहस्पति हमारे नगरों को उसी घड़ी में बसाते। ये श्रीराम-चरण की प्राप्ति से पुण्यमय हैं। 'मग-निकट-निवासी' अर्थात् पुर-गाँव को नाग-सुर-नगर का सिहाना कहा, अब इन नाग-सुर-नगर के लोगों का उनके निवासियों को सराहना करना कहते हैं, अर्थात् स्थल को स्थल और उनके निवासियों को निवासीगण सराहते हैं।

जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देव-सर-सरित सराहहिं ॥६॥
जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ॥७॥
परसि राम-पद-पदुम-परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा ॥८॥

दोहा—छाँह करहिं घन बिबुधगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृग, राम चले मग जाहिं ॥११३॥

अर्थ—जिन तालाबों और नदियों में श्रीरामजी स्नान करते हैं (वा, उनमें पैठकर चलते हैं) उन्हें देव-सर-सरिताएँ (देवलोक के तालाब और नदियाँ) सराहती हैं ॥६॥ प्रभु जिस वृक्ष के नीचे जाकर बैठते हैं, कल्पवृक्ष उसकी बड़ाई करते हैं ॥७॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों की धूलि को छू करके पृथ्वी अपना अतिशय भाग्य मानती है ॥८॥ मेघ छाया करते हैं, देवता-गण फूल बरसाते और सिहाते हैं पहाड़, वन, पक्षी और वन्य पशुओं को देखते हुए श्रीरामजी मार्ग में चले जाते हैं ॥११३॥

विशेष—(१) 'जे सर सरित राम·····'—'अवगाहहिं' में पैठकर चलना, स्नान करना और थाह लेते हुए पार होना, सभी आ जाते हैं, क्योंकि कहीं कुछ और कहीं कुछ होता है। देव-सर-सरितायें अभी तक देवताओं के सम्बन्ध से अपनेको अधिक मानती थीं, किन्तु इन सर-सरिताओं में तो देवों के देव परम प्रभु का सम्पर्क हुआ। अतः, ये धन्य हैं। यहाँ देव-सरिता से भूमि की गंगा-यमुना आदि से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि इनमें तो प्रभु ने स्नान भी किया है। अतः, देवलोक ही के सर आदि से तात्पर्य है, ऊपर से वैसा ही प्रसंग भी आ रहा है, यथा—"आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च। येषु स्नास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचिः॥" (वाल्मी० २।४८।९), अर्थात् उन नदियों और कमलयुक्त सरोवरों ने बड़ा पुण्य किया है, जिनके पवित्र जल में श्रीरामजी घुसकर स्नान करेंगे।

(२) 'जेहि तरुतर प्रभु·····'—उपर्युक्त रीति से देवलोक के वृक्ष (कल्पवृक्ष) यहाँ के जैसे-तैसे वृक्षों की भी बड़ाई करते हैं। 'जेहि'—वट-पीपर आदि उत्तम वृक्ष ही नहीं।

(३) 'परसि राम-पद-पदुम·····'—क्योंकि त्रिपाद विभूति के विचरनेवाले परम प्रभु हमारे ऊपर नंगे पैरों से विचर रहे हैं, हमारा अहो भाग्य है!

(४) 'छाँह करहिं घन·····'—वैशाख का महीना आ गया है, धूप कड़ी है, इससे 'छाँह' करके सेवा करते हैं। सिहाते हैं कि हा! हमलोग पृथ्वी के जीव न हुए। व्यर्थ ही योजन-भर ऊपर रहकर यज्ञ का धुआँ लेते हैं। 'देखत गिरि बन···'—सबको श्रीरामजी देखते हुए कृतार्थ करते जाते हैं, वा जड़ों को श्रीरामजी देखते हैं और चेतन श्रीरामजी को देखते हैं, यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्र जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भये परम-पद जोगू।" (दो० २१६), इस तरह सबको कृतार्थ करते जाते हैं। सिहाने का कारण यह है कि देवगण फूल बरसाते हैं, पर उनकी ओर श्रीरामजी नहीं देखते, इन गिरि-वन एवं मृग आदि की ओर ही देखते हैं, इससे वे इन्हें ही सिहाते हैं।

सीता - लखन - सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥१॥
सुनि सब बाल-बृद्ध नर-नारी। चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी॥२॥
राम - लखन - सिय-रूप निहारी। पाइ नयनफल होहिं सुखारी॥३॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरघुनाथजी जब गाँव के समीप जा निकलते हैं॥१॥ तब इनका आना सुनकर बालक, बूढ़ा, स्त्री, पुरुष घर और घर के कार्य भुलाकर चल पड़ते हैं॥२॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के रूप देखकर, नेत्रों के फल पाकर वे सुखी हो जाते हैं॥३॥ इन दोनों वीरों को देखकर वे सभी प्रेम में डूब गये, उनके नेत्रों में जल है और शरीरों में पुलकावली है॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सब बाल-बृद्ध···'—बालक खेल छोड़कर, बूढ़े घर छोड़कर और युवा नर-नारी घर के कार्य बिसारकर चल देते हैं।

(२) 'नयनफल', यथा—"निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७४), "होइहहिं सुफल आज मम लोचन। निरखि बदन पंकज भव मोचन॥" (अ० दो० ९)। आगे उनकी दशा कहते हैं—

(३) 'सजल बिलोचन पुलक···'—इस मग्नता का कारण वीर-रूप दर्शन, यथा—"तुलसिदास बस होहिं तबहि जब द्रवै ईस जेहि हत्यो सीस दस।" (वि० २०४), अर्थात् श्रीरामजी दर्शक के मोहरूपी रावण के दशो इन्द्रिय-रूपी शिरों को छेदनकर मन को उनसे पृथक् करके अपने में निमग्न कर देते हैं।

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर-मनि-ढेरी ॥५॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन येहीं ॥६॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे ॥७॥
एक नयन मग छवि उर आनी। होहिं सिथिल तनु मन बरबानी ॥८॥

दोहा—एक देखि बटछाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गँवाइय छिनक श्रम, गवनब अबहिं कि प्रात ॥११४॥

एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइय नाथ कहहिं मृदु बानी ॥१॥

अर्थ—उनकी उस समय की दशा का वर्णन नहीं किया जाता, मानो कंगालों को चिन्तामणि की ढेरी मिल गई हो ॥५॥ एक-एक को बुलाकर शिक्षा देते हैं कि इसी क्षण आकर आँखों का लाभ ले लो (अन्यथा इनके निकल जाने से पछताना पड़ेगा) ॥६॥ एक कोई श्रीरामजी को देखकर ऐसे अनुरक्त हो गये हैं कि उनको देखते हुए साथ लगे हुए चले ही जा रहे हैं ॥७॥ एक कोई नेत्रों के मार्ग से उनकी छवि को हृदय में लाकर शरीर, मन और श्रेष्ठ वाणी से शिथिल हो जाते हैं ॥८॥ कोई बरगद वृक्ष की अच्छी छाया देख वहाँ कोमल तृण और पत्ते बिछाकर कहते हैं कि एक क्षण यहाँ बैठकर थकावट दूर कर लीजिये, फिर चाहे अभी और चाहे सवेरे चले जाइयेगा ॥११४॥ एक कोई घड़े में जल भर लाते हैं और कोमल वाणी से कहते हैं कि हे नाथ ! इससे आचमन कर लीजिये, अर्थात् हाथ-मुख धो लीजिये ॥१॥

विशेष—(१) 'बरनि न जाइ दसा तिन्ह'''—प्रेमानन्द की दशा ऐसी ही होती है, यथा—"बरनउँ किमि तिन्ह की दसहिं, निगम-अगम प्रेम-रसहिं।" (गी० अ० १७), "कहि न जाइ सो दसा भवानी।'''को मैं कहाँ चलेउँ नहिं बूझा।" (अर० दो० ९), फिर विषयानन्द की उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा से कुछ लक्ष्य कराते हैं—'लहि जनु रंकन्ह'''—एक चिन्तामणि इन्द्र के पास है जिससे वह सम्पूर्ण विषयानन्द से पूर्ण रहता है, यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मी० मू०), वह देवताओं का राजा है। फिर जिस दरिद्र को चिन्तामणि के ढेर-के-ढेर अनायास प्राप्त हो जायँ, उसके आनन्द का क्या ठिकाना ? यहाँ श्रीरामजी तीन हैं, इससे दर्शनों को चिन्तामणि की ढेरी कहा गया है। तीनों के भी प्रत्येक अंग एक-एक सुर-मनि हैं, यथा—"जेहि जेहि मग सियराम लखन गये, तहँ-तहँ नर-नारि बिनु छर छरिगे।''''''लालची कौड़ी के कूर पारस परे हैं पाले, जानत न को हैं, कहा कोबो सो बिसरिगे। बुधि न बिचार, न बिगार, न सुधार सुधि, देह-गेह नेह नाते मन से निसरिगे ॥" (गी० २।३२)।

(२) श्रीरामजी को देखकर कोई पराभक्ति को प्राप्त होकर अनुराग-पूर्वक पीछे लग जाते हैं, कोई प्रेमाभक्ति से तन, मन और वाणी के द्वारा शिथिल हो जाते हैं और कोई नवधा-भक्ति की वृत्ति से छाँह में पल्लव आदि बिछाकर बैठने की प्रार्थना करते और जल लाकर आचमन कराते हैं। इन तीनो पर क्रमशः वशीकरण, मोहन और आकर्षण पड़ना भी कहा जाता है।

सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेखी ॥२॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंब कीन्ह बटछाँहीं ॥३॥
मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा ॥४॥
एकटक सब सोहहिं चहुँओरा। रामचंद्र - मुख - चंद - चकोरा ॥५॥

अर्थ—उनके प्यारे वचन सुनकर और अत्यन्त प्रीति देखकर बड़े ही कृपालु और सुशील

श्रीरामजी ॥२॥ अपने मन में श्रीसीताजी को थकी हुई जानकर, बरगद की छाँह में कोई एक घड़ी विलम्ब किया, ठहर गये ॥३॥ (वहाँ के) स्त्री-पुरुष प्रसन्नता से शोभा देखते हैं। उस अनुपम रूप ने उनके नेत्रों और मन को लुभा लिया ॥४॥ चारो ओर से सब श्रीरामजी के मुखचन्द्र को चकोर के समान एकटक देखते हुए शोभायमान हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'राम कृपाल सुसील बिसेखी'—श्रीरामजी में इस प्रसंग से कृपालुता और सुशीलता विशेष प्रकट है, कृपा श्रीसीताजी पर और सुशीलता मग-वासियों पर है। 'कलस भरि आनहिं पानी'—इसमें तन की, 'प्रिय बचन' में वचन की और 'प्रीति अति' में मन की प्रीति है। तन, मन, वचन से प्रीति है।

श्रीजानकीजी कह चुकी हैं—"मोहि मग चलत न होइहि हारी।" (दो० ६६), इसीसे वे कहती नहीं हैं, पर श्रीरामजी लख गये, यथा—"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारि हौं भूभुरि डाढ़े॥ तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥" (क० अ० १२)। यह श्रीसीताजी की श्रमित चेष्टा भी मगवासियों को कृतार्थ करने के लिये हुई कि जिससे प्रभु यहाँ थोड़ा बैठ जायँ।

(२) 'रूप अनूप नयन···'—ये सब चाहते हैं कि सदा इन्हें देखते ही रहें, क्योंकि इनका रूप अनूप है। 'नयन मन लोभा', यथा—"लगे संग लोचन मन लोभा।" (बा० दो० २१८)।

(३) 'एकटक सब सोहहिं चहुँओरा···'—चन्द्रमा सभी चकोरों के सम्मुख रहता है, वैसे ही श्रीरामजी चारो ओर के दर्शकों के सम्मुख हैं, यह आपका रहस्य है, यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (अर० दो० १२), तथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसल राऊ॥" (बा० दो० २४१), इत्यादि, यहाँ श्रीपार्वतीजी के—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०)—इस प्रश्न का उत्तर है।

तरुन - तमाल - बरन तनु सोहा। देखत कोटि - मदन - मन मोहा ॥६॥
दामिनिबरन लखन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जी के ॥७॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं कर-कमलन्हि धनु तीरा ॥८॥

दोहा—जटा मुकुट सीसन्हि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद - परब-बिधु-बदन बर, लसत स्वेद - कन जाल ॥११५॥

अर्थ—(श्रीरामजी का) श्याम शरीर तरुण (नवीन) तमाल वृक्ष के रंग की भाँति शोभा दे रहा है। जिसको देखते ही करोड़ों कामदेवों के मन मोहित हो जाते हैं ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी बिजली के-से रंग के (गौरवर्ण) अत्यन्त अच्छे लगते हैं। नख से शिखा तक (अर्थात् सर्वाङ्ग) सुन्दर और हृदय को भाने-वाले हैं ॥७॥ (दोनों भाई) मुनियों के वस्त्र (कोपीन, वल्कल आदि) पहने और उसीसे कटि भागों में तरकस कसे हुए हैं। कर-कमलों में धनुष-बाण शोभित हो रहे हैं ॥८॥ उनके सिरों पर सुन्दर जटाओं के मुकुट हैं। अर्थात् वे मुकुटाकार जटाएँ बाँधे हुए हैं। उनकी छाती, भुजाएँ और आँखें विशाल हैं, (अर्थात् छाती चौड़ी और उन्नत, बाहु घुटने तक लम्बे और आँखें बड़ी, इस तरह विशाल शब्द के तीन अर्थ हैं)। शरद-पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखों पर पसीने की बूँदों का समूह सुशोभित हो रहा है ॥११५॥

सम्बन्ध—दोनों राजकुमारों के वर्ण भिन्न-भिन्न हैं। इससे पहले एक-एक अर्द्धाली में भिन्न-भिन्न कहा, वेष एक-सा है। अतः, फिर एक में कहा। आगे श्रीजानकीजी की भी मनोहरता साथ में कह देंगे, क्योंकि उनकी शोभा का वर्णन पृथक् में कहना अयोग्य मानते हैं। यह भी भाव है कि पुरुष दोनों भाइयों के पास और युवतीगण श्रीसीताजी के पास बैठी हैं, किन्तु उन (युवतीगणों) की दृष्टि दोनों भाइयों पर भी है, इससे श्रीसीताजी की छवि पृथक् और साथ में कही गई।

'देखत कोटि मदन···', यथा—'लाजहिं तन सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम॥" (बा० दो० १४६), "अंग-अंग पर वारियहि, कोटि-कोटि सत काम॥" (बा० दो० २२०)।

'जटा मुकुट···स्वेदकन जाल', यथा—"श्रम सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महातम तारक-मैं। (क० अ० १३)।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी॥१॥
राम - लखन - सिय - सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥२॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी - मृग देखि दियासे॥३॥
सीय - समीप ग्राम - तिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥४॥
बार बार सब लागहिं पाये। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाये॥५॥

अर्थ—(श्रीराम-लक्ष्मणजी की) इस मनोहर जोड़ी का वर्णन नहीं किया जा सकता। (क्योंकि इसकी) शोभा बहुत है और मेरी बुद्धि थोड़ी (तुच्छ) है॥१॥ सब लोग श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी को सुन्दरता को मन, बुद्धि और चित्त लगाये हुए देख रहे हैं॥२॥ प्रेम के प्यासे स्त्री-पुरुष (इनकी सुन्दरता देखकर) इस तरह ठिठक (स्तब्ध हो) गये हैं। जैसे हरिणी और हरिण दीपक देखकर (ठिठक जाते हैं)॥३॥ गाँवों की स्त्रियाँ सीताजी के समीप जाती हैं, (पर) अत्यन्त स्नेह के कारण पूछने में सकुचाती हैं॥४॥ बार-बार सब उनके चरण छूती हैं और सहज स्वभाव ही से कोमल वचन कहती हैं॥५॥

विशेष—(१) 'बरनि न जाइ मनोहर···'—'मनोहर' जोड़ी है, यथा—"मनहुँ मनोहरता तन छाए।" (बा० दो० २४०), मन ही हर जाता है, तो वर्णन कौन करे? पुनः शोभा बहुत है। वह अल्प बुद्धि में आ नहीं सकती, यथा—"सरसी सीप कि सिंधु समाई।" (दो० २५६), श्रीसीताजी के प्रति भी, यथा—"सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघुमति बहुत मनोहरताई॥" (बा० दो० ३२२)।

(२) 'चित मन मति लाई'—चित्त से चिन्तन, मन से संकल्प-विकल्प और बुद्धि से उसपर विचार होते हैं, जहाँ ये तीनों लग जायँ, वहीं एकाग्रता होती है। यहाँ तीनो मूर्त्तियों की सुन्दरता में सब एकाग्र हो रहे हैं, यथा—"थोरेहिमहँ सब कहुँ बुझाई। सुनहु तात मन मति चित लाई॥" (अर० दो० १४)। 'राम-लखन-सिय-सुंदरताई'—यहाँ राम-लखन के साथ समष्टि में श्रीसीताजी की भी सुन्दरता कह दी है।

(३) 'थके नारि नर प्रेम पियासे···'—नारि-नर प्रेम के प्यासे हैं, यथा—'दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन॥ (दो० २६०)। अतः, देखते-देखते सब जड़ की तरह स्तब्ध हो गये। यहाँ नर मृग और नारि मृगी है तथा श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी दीप के समान हैं। व्याधा लोग दीपक जलाकर गाते हैं। मृग दीपक देखकर खड़े रह जाते हैं, यथा—"रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८२)। रूप देखने में नारी प्रधान रहती हैं, इससे यहाँ 'मृगी' पद प्रथम दिया गया है। 'थके'—स्थगित रह गये। नर दोनों भाइयों को देखते हैं और नारियाँ श्रीजानकीजी के पास रह तीनो को देखती हैं।

(४) 'अति सनेह सकुचाहीं'—अत्यन्त स्नेह के कारण पूछना चाहती हैं, पर बिना मन पाये सकुचाती हैं। भय मानती हैं कि हम गँवारी हैं और ये राजकुमारी हैं। इनसे वार्त्ता करते बने वा न बने, इसलिये मन मिलाने के लिये बार-बार चरण लगती हैं। ये अनुकूल करने के उपाय हैं।

राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय-सुभाय कछु पूछत डरहीं ॥६॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलग न मानब जानि गँवारी ॥७॥
राजकुँवर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने ॥८॥

दोहा—स्यामल गौर किसोर बर, सुंदर सुषमा अयन।
सरद-सर्बरी-नाथ-मुख, सरद-सरोरुह नयन ॥११६॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥१॥

शब्दार्थ—सलोने (लावण्य-सहित) = सुन्दर। दुति = कान्ति। सर्बरी (शर्वरी) = रात।

अर्थ—हे राजकुमारी! हम आपसे कुछ प्रार्थना करना चाहती हैं, स्त्री-स्वभाव से कुछ पूछना चाहती ह, पर डरती हैं ॥६॥ हे स्वामिनी! हमारी इस ढिठाई को क्षमा कीजिये। हमको गँवारिन (देहातिनि) जानकर (हमारी बातों का) बुरा न मानियेगा। (क्योंकि हमलोग योग्य वार्त्ता करना जानती ही नहीं) ॥७॥ हे सुमुखि! कहो, ये दोनों स्वाभाविक ही सुन्दर राजकुमार, जिनसे मरकत मणि और सोने ने कान्ति पाई है, (अर्थात् इनकी कण मात्र कान्ति पाकर वे सब कान्तिमान् हो गये हैं) ॥८॥ ये साँवले-गोरे श्रेष्ठ किशोर अवस्थावाले, सुन्दर एवं परम शोभा के स्थान, शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख एवं शरद् ऋतु के कमल के समान नेत्रवाले ॥११६॥ और करोड़ों कामदेवों को (अपनी शोभा से) लजाने-वाले तुम्हारे कौन हैं? ॥१॥

विशेष—(१) 'तिय सुभाय'—दीपदेहली है, अर्थात् स्त्री-स्वभाव ही से पूछने की लालसा है और स्त्री-स्वभाव से डरती भी हैं, क्योंकि डरना भी स्त्री-स्वभाव है।

'किसोर बर'—यद्यपि इस समय श्रीरामजी २७ वर्ष के हैं। पर आपका नित्य स्वरूप १६ वर्ष का ही है, यथा—"पोड़स बरस किसोर राम नित सुंदर राजै।" (श्री अग्रस्वामी), मर्त्यलोक में १२५ वर्ष तक की आयु है, वह बाल से वृद्ध तक क्रमशः जाती है। देवलोक (स्वर्ग) में नित्य २५ वर्ष की, ब्रह्मलोक में नित्य २० वर्ष की और वैकुण्ठ एवं साकेतलोक में सबकी आयु नित्य १६ वर्ष की रहती है। अवतार काल में भगवान् उसी नित्य विग्रह में बाल-अवस्था से किशोर तक बढ़ते हैं, फिर सदा उसी अवस्था में रहते हैं। यही कारण है कि राम-कृष्ण की मूर्त्तियों में मूँछें नहीं देखी जातीं, भले ही वे यहाँ दस हजार वर्ष एवं सवा सौ वर्ष रहे हैं। 'इन्ह ते लहि द्युति···'—इसमें 'प्रतीप अलंकार' है, तथा—"संग सुतिय जाके तन ते लही है द्युति सोन सरोरुह सोने।" (गी० अ० २३)।

(२) 'को आहिं तुम्हारे'—'कोटि मनोज लजावनिहारे' से अपनी शृङ्गार दृष्टि कही, यथा—"नारि बिलोकहिं ····जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥" (बा० दो० २४१) कि हमलोग इनपर निछावर हो रही हैं, पर ये तुम्हारी ही ओर देखते हैं और किसीकी ओर ताकते ही नहीं। अतः, हम सब जानना चाहती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं? यथा—"सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौंहैं। तून सरासन बान धरे, तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥ सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं। पूछति ग्राम बधू सियसों 'कहो साँवरे से सखि रावरे को हैं॥" (क० अ० २१), 'चितै तुम त्यों' अर्थात् ज्यों ही तुम्हारी ओर चितवते हैं, त्यों ही हमारे मन को मोह लेते हैं'।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी । सकुची सिय मन महँ मुसकानी ॥२॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी ॥३॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥४॥
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे । नाम लखन लघु देवर मोरे ॥५॥

शब्दार्थ—बरबरनी, यथा—"शीते सुखोष्णा सर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुख-शीतला । भर्तृ मृत्या तु या नारी सा भवेत् वरवर्णिनी ॥" (भरत-सूत्र), श्रीसीताजी की माता के लिये भी यही विशेषण आया है, यथा—"अगम सबहि बरनत बर-बरनी ।" (दो० २८८), अर्थात् श्रेष्ठ वर्णवाली स्त्री, यह अर्थ शब्दार्थ से होता है ।

अर्थ—उनकी स्नेह से भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुचाईं और मन में मुसुकाईं ॥२॥ फिर उनको देखकर पृथ्वी की ओर देखती हैं, 'बरबरनी' श्रीसीताजी दोनों के संकोच से सकुचा रही हैं ॥३॥ मृग के बच्चे के-से नेत्रोंवाली और कोकिला की-सी वाणीवाली श्रीसीताजी प्रेम-पूर्वक मीठी वाणी बोलीं ॥४॥ जिनका सीधा स्वभाव और सुन्दर गौर शरीर है, श्रीलक्ष्मण नाम है, वे मेरे छोटे देवर हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि सनेहमय मंजुल···'—'सनेहमय'—'राजकुमारी', 'स्वामिनि' आदि सम्बोधनों में स्नेह भरा है । हम गँवारी हैं । अतः, ढिठाई क्षमा करना इत्यादि में मंजुलता है । 'सकुची सिय मन महँ मुसुकानी' ।—पति की बात पूछती हैं । अतः, लाज से सकुच गईं । हैं ग्रामीण, पर बात करने में बड़ी सयानी हैं, यह समझकर मुसकाईं, यथा—"सुनि सुंदर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली ।" (क० अ० २२) ।

(२) 'दुहुँ सकोच'—पहले उन ग्राम-वासिनियों की ओर देखा, फिर पृथ्वी की ओर, इन्हीं दोनों का संकोच है । स्वामी के समीप ही उनकी वार्त्ता करने में संकोच होता है, पर यह संकोच जंगल की ग्रामीण स्त्रियों में उतना नहीं होता । अतः, यदि इन्हें न बतावें, तो इनका मन भंग होगा । इसलिये संकेत से बतलाती हैं । पृथ्वी माता हैं, क्योंकि आप भूमि की कुमारी हैं । अतः, माता के सामने पति की वार्त्ता कैसे करें ? संकोच होता है । स्त्रियों का स्वभाव भी है कि लाज की बात पर भूमि की ओर दृष्टि कर लेती हैं ।

(३) 'सकुचि सप्रेम बाल··'—संकोच और प्रेम दिखाने को 'बाल मृगनयनी' कहा है, यथा—"जहँ बिलोक मृग सावक नयनी ।" (बा० दो० २३१) । 'मधुर बचन' के सम्बन्ध से 'पिकबयनी' कहा है ।

(४) 'लघु देवर' अर्थात् इनसे जेठ भी एक देवर हैं, जो घर पर हैं, वा 'लघु' से शत्रुघ्न कहे जायँगे । ये तो सबसे देवर हैं, इसलिये 'लघु' का श्रीरामजी से छोटे जो हैं, वे देवर हैं, ऐसा भी अर्थ किया जाता है ।

बहुरि बदनबिधु अंचल ढाँकी । पियतनु चितइ भौंह करि बाँकी ॥६॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि ॥७॥
भईं मुदित सब ग्रामबधूटी । रंकन्ह राय - रासि जनु लूटी ॥८॥

अर्थ—फिर श्रीसीताजी ने अपने मुखचन्द्र को अंचल से ढककर, पति की तरफ देखकर और भौंहें टेढ़ी करके ॥६॥ सुन्दर खंजन पक्षी की सी सुन्दर आँखों को तिरछी करके संकेत से उन स्त्रियों से श्रीरामजी को अपना पति कहा ॥७॥ सब ग्राम-वासिनी स्त्रियाँ (यह जानकर) ऐसी प्रसन्न हुईं कि मानों दरिद्रों ने धन की राशि लूटी हो ८॥

विशेष—(१) 'बहुरि बदनबिधु··· खंजन मंजु···'—वे सब ग्राम वधूटियाँ चाहती हैं कि श्री रामजी हमारी ओर भी देखें, पर वे श्रीसीताजी की ही ओर देखते हैं, तब वे पूछती हैं कि तुम्हारा-इनका कैसा नाता है। इसका उत्तर श्रीसीताजी सैन से बताती हैं कि ये हमारे पति हैं, यह भी कि इन्हीं कटाक्षों के अनुकूल हैं। वे स्त्रियाँ समझ गईं कि पति के वशी-करण की यही मुद्रा एवं वृत्ति है, इसीसे मुदित हुईं। कहा भी है—"अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरे कछू, जा बस होत सुजान॥ सूठे जानि न संग्रहे, जनु मुख निकसे बैन। याही ते मानो कियो, बाननि को बिधि नैन॥" (बिहारी)।

अलंकार—'युक्ति', क्योंकि अपना भाव क्रियात्मक युक्ति से प्रकट किया गया है।

(२) 'रंकन्ह राय-रासि···'—दरिद्र लोग निधि लूटने पर तड़फड़ गिरते हैं। वैसे ही सबकी ताबड़तोड़ दृष्टि पड़ रही है। यह रहस्य कवितावली अ० २२ में भी है. यथा—"सुनि सुंदर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली। तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥ तुलसी तहि अवसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली। अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मानो मंजुल कंज कली॥" यहाँ चार संकेतों से समझाया है—१ 'सकुचि सप्रेम बाल-मृगनयनी।'—सकुचना, २—'बहुरि बदनबिधु अंचल ढाँकी।' ३—'पियतनु चितइ भौंह करि बाँकी।' ४—'खंजन मंजु तिरीछे नयननि।'—इन संकेतों से श्रीरामजी को अपना पति बतलाया।

यह प्रसंग अन्य रामायणों में नहीं है। इस ग्रन्थ में भी वन के मार्ग में कहीं भी इतने प्रेमियों के समाज का वर्णन नहीं है। यह स्थल राजापुर के आस-पास का है। गोसाईंजी के लिये यह सौभाग्य की बात है कि ऐसी पुण्य-भूमि में उनका जन्म हुआ। दूसरी दृष्टि से "कल्प भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (बा० दो० ३२), का समाधान तो है ही।

दोहा—अति सप्रेम - सिय-पाय परि, बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहिसीस॥११७॥

पारबतीसम पतिप्रिय होहू। देबि न हमपर छाड़बि छोहू॥१॥
पुनि पुनि बिनय करिय कर जोरी। जौ येहि मारग फिरिय बहोरी॥२॥
दरसन देब जानि निज दासी। लखी सीय सब प्रेमपियासी॥३॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी॥४॥

अर्थ—अत्यन्त प्रेम से श्रीसीताजी के चरणों पर पड़कर बहुत तरह से आशिष देती हैं कि तुम सदा सौभाग्यवती होओ, जबतक पृथ्वी शेषजी के मस्तक पर रहे॥११७॥ पार्वतीजी के समान पति की प्रिया होओ। हे देवि! हमपर कृपा न छोड़ना, अर्थात् कृपा रखना॥१॥ बार-बार हम हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करती हैं कि जो आप इसी मार्ग से फिर लौटें॥२॥ तो अपनी दासी जानकर हमें दर्शन दें। श्रीजानकीजी ने देखा कि ये सब प्रेम की प्यासी हैं॥३॥ तो उन्हें मधुर वचन कह-कहकर सन्तुष्ट किया। (सुनकर वे ऐसी प्रफुल्ल हुईं कि) मानों कुईं को चाँदनी ने पोसा (अर्थात् खिलाकर पुष्ट किया) हो॥४॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि'—प्रथम 'सदा सोहागिनि' होना कहा, फिर प्रलय तक का समय रक्खा—'जब लगि महि अहिसीस' तब तीसरे प्रकार से पुष्ट किया—'पारबती सम···'—पार्वतीजी के पति अविनाशी हैं। अतः, अक्षय सौभाग्य होना कहा। वे पर्वत (अचल) की पुत्री हैं, इस लक्ष्य से सौभाग्य की अचलता भी कही। सौभाग्य अचल भी हो, पर जो पति का प्रेम स्त्री पर न रहा, तो भी उसका जीवन

व्यर्थ है, इसलिये पार्वतीजी के समान पति की प्रिया होना कहा। शिवजी अत्यन्त प्यार के कारण पार्वतीजी को सदा आधे अंग में रखते हैं। शिवजी विरक्त-वेष जटाजूट आदि के साथ आधे अंग में पार्वतीजी को रखते हैं, वैसे तुम्हारे पति भी इस विशेष उदासी वेष में भी तुम्हें साथ रक्खें और वैसा ही प्रेम करें।

'जानि निज दासी'—यह बहुत बड़ी बात माँगी हैं, यथा—"हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥" (दो० २७३)। इसपर श्रीजा ने उन्हें परितोष दिया, अर्थात् उनकी बातें स्वीकार कीं।

(२) 'मधुर बचन कहि कहि···'—मीठे शब्दों में कहा—तुम-सबसे हमें बड़ा सुख मिला, जल आदि से सत्कार हुआ और वार्त्तालाप से सुख मिला। इधर से लौटना होगा तो अवश्य तुमसे मिल करके जायँगी, क्योंकि तुम-सब भूलने योग्य नहीं हो। 'जनु कुमुदिनी···'—कुईं पहले संकुचित रहती है, वैसे ये सब थीं, यथा—'पूछत अति सनेह सकुचाहीं।' श्रीरामजी चन्द्रमा और श्रीसीताजी उनकी चाँदनी हैं, उनसे अपृथक् हैं, यथा—कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई।" (दो० ९६), चाँदनी पड़ते ही कुईं खिल जाती है वैसे श्रीसीताजी के प्रिय भाषण से वे खिल उठीं, प्रसन्न हो गईं, उनका संकोच नहीं रहा। कुईं रात में खिलती है, वैसे ही इन सबकी भक्ति ही रात है, यथा—"राका रजनी भगति तव" (अर० दो० ४२), इनमें भक्ति, यथा—"लखी सीय सब प्रेमपियासी।" यही प्रेम-प्यास उत्तमाभक्ति है। 'प्रेमपियासी'—मन, 'बिनय करिय···'—वचन और 'कर जोरी'—कर्म, तीनों से इनको प्रीति है।

तबहिं लखन रघुबररुख जानी। पूछेउ मग लोगन्हि मृदुबानी॥५॥
सुनत नारिनर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी॥६॥
मिटा मोद मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥७॥
समुझि करमगति धीरज कीन्हा। सोधि सुगम मग तिन्ह कहि दीन्हा॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित तब, गवन कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रियबचन कहि, लिये लाइ मन साथ॥११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी का रुख (इच्छा) जानकर कोमल वाणी से लोगों से मार्ग पूछा॥५॥ सुनते ही स्त्री-पुरुष दुखी हो गये, (क्योंकि समझ गये कि अब जायँगे) उनके शरीर पुलकित हो गये और आँखों में आँसू भर आये॥५॥ उनके हृदय का आनन्द मिट गया और वे मन से मलीन हो गये, मानों ब्रह्मा दी हुई निधि को छीन लेते हैं॥७॥ उन्होंने कर्म की (अखण्डय) गति को समझकर धैर्य धारण किया और आपस में विचार करके सुगम (अच्छा) मार्ग उन्होंने बतला दिया॥८॥ तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ रघुनाथजी ने गमन किया, अर्थात् चल पड़े। (लोग साथ लग गये, अतः,) सबको प्यारे वचन कहकर लौटाया, पर उनके मनों को अपने साथ ही लगा लिया॥११८॥

विशेष—(१) 'तबहिं लखन'—श्रीलक्ष्मणजी उत्तम सेवक हैं, इससे श्रीरामजी का रुख समझ जाते हैं और तदनुसार ही कार्य करते हैं। श्रीरामजी का यहाँ रात भर भी रहना लोग चाहते थे। फिर भी उन्होंने जाने की इच्छा की, क्योंकि ग्रामीणों में रहना विशेष उदासीन-व्रत के विरुद्ध होता। 'पूछेउ मग'—वाल्मीकि-आश्रम होते हुए चित्रकूट का मार्ग पूछा। 'बिधि निधि दीन्ह···'—क्योंकि संयोग-वियोग के विधान में ब्रह्मा का ही अधिकार है, यथा—"जौ बिधि बस अस बनइ सँजोगू।" (बा० दो० २२१)। ब्रह्माजी कर्म के अनुसार ही कार्य करते हैं। अतएव कर्म की गति को समझा कि जिस कर्म ने इनके आश्चर्य-दर्शन दिलाये, वही वियोग भी देता है तो सहना ही चाहिये। पुनः कर्म ने तो इनको माता-पिता से भी अलग कर दिया तो हम क्षणिक संयोग के सम्बन्ध से क्यों व्याकुल हों? पूर्व मनु शरीर के

कर्मानुसार माता-पिता को सुख दिया, वैसे थोड़े सुकृत के अनुसार थोड़े समय को हमें मिले और फिर १४ वर्ष वनवासियों को प्राप्त हैं, फिर ११ हजार वर्ष अवधवासियों को प्राप्त रहकर फिर जहाँ के हैं, वहीं जायँगे। 'सोधि सुगम मग' अर्थात् वहां से कई मार्ग उधर को गये थे, उनमें जो अच्छा था उसे सबों ने निर्णय करके उसके चिह्नों को कह दिया। 'प्रिय बचन कहि'—जैसे श्रीसीताजी ने उपर्युक्त मधुर वचन स्त्रियों से कहे थे। 'लिये लाइ मन साथ'—वे तन-मात्र ले लौटे, पर मन उनका श्रीरामजी में ही अनुरक्त हो गया, वे श्रीरामजी की ही ध्यान-वार्ता आदि करते हैं। श्रीरामजी ने अपने रूपौदार्य से सबके मन आकर्षित कर लिये। यह इनपर कृपा है, यथा—"सखि जब ते सीता समेत देखे दोउ भाई। तबते परै न कल, कछू न सोहाई ॥१॥ नख सिख नीके, नीके निरखि निकाई। तन सुधि गई, मन अनत न जाई ॥२॥ हेरनि हँसनि हिय लिये हैं चोराई। पावन-प्रेम-बिवस भई हौं पराई ॥३॥ (गी० अ० ४०)।

फिरत नारिनर अति पछिताहीं। दैवहि दोष देहिं मन माहीं ॥१॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधिकरतब उलटे सब अहहीं ॥२॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ॥३॥
रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा ॥४॥

अर्थ—लौटते हुए स्त्री-पुरुष अत्यन्त पछताते हैं और मन ही मन दैव (विधाता) को दोष देते हैं ॥१॥ आपस में दुःख से कहते हैं कि ब्रह्मा के सभी कार्य उल्टे हैं ॥२॥ वह नितान्त, (बिल्कुल) स्वतन्त्र, निर्दय और निडर है जिसने चन्द्रमा को रोगी और कलंकित कर दिया ॥३॥ कल्पवृक्ष को वृक्ष (जड़, स्थावर) और समुद्र को खारा बनाया, उसीने इन राजकुमारों को वन भेजा है ॥४॥

विशेष—(१) 'सहित बिषाद परसपर···'—विषाद-वश आर्त्त हैं, इसीसे दैव को दोष देते हैं, यथा—"लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नर-नारी। अति बरपे अनबरषेहूँ देहिं दैवहिं गारी ॥" (वि० ३४), अन्यथा विधाता तो सबके कर्मानुसार ही विधान करता है। 'निपट निरंकुस निठुर···'—हाथी अंकुश के वश होकर सीधा चलता है, वैसे ही इसे भी किसीका अंकुश (दबाव-शासन) होता तो अन्याय न करता। निष्ठुर है, दया होती तो दूसरों के दुःख पर दुखी होता। निःशंक है, किसीकी शंका होती, तो सोच-समझकर कुछ करता। देखो तो भला, जो चन्द्रमा अमृत स्रवता (टपकाता) है, आह्लादकारक एवं सबको प्रिय है उसे रोगी और कलंकी बनाया है (चन्द्रमा के बीच में जो श्याम-चिह्न है उसपर ही रोग की एवं और भी बहुत-सी कल्पनाएँ होती हैं. लं० दो० ११–१२ देखिये। गुरु-अपमान से कलंकी हुआ)। कल्पवृक्ष सुजान है, वह सबके मन की इच्छाओं को जानकर अर्थ, धर्म और काम देता है, ऐसे उदार दाता को जड़-स्थावर बनाया। समुद्र जो रत्नों की खान है, यथा—"सागर···डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं ॥" (उ० दो० २२) और मेघ-द्वारा उसीसे जगत् का जीवन रहता है, उसे खारा कर दिया, जिससे प्रत्यक्ष में किसीके काम का न रहा। यहाँ ब्रह्मा में तीन दोष और उनके तीन ही उदाहरण दिये गये हैं, इससे निपट निरंकुशता आदि को क्रमशः चन्द्रमा आदि में भी घटित किया जाता है। नाम तो विधि है, पर अविधि करता है उसी स्वभाव से उसने इन राजकुमारों को भी वन भेजा।

जौ पै इन्हहिं दीन्ह बनबासू। कीन्हि बादि बिधि भोगबिलासू ॥५॥
ये बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥६॥
ये महि परहिं डासि कुस-पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥७॥
तरुबर बास-इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रम कीन्हा ॥८॥

दोहा—जौ ये मुनि-पट-धर जटिल, सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन-बसन, बादि किये करतार ॥११९॥

जौ ये कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं। १॥

अर्थ—जो ब्रह्मा ने इन राजकुमारों को वनवास दिया, तो भोग-विलास उसने व्यर्थ ही बनाये ॥५॥ ये बिना जूते के मार्ग में चल रहे हैं, तो व्यर्थ ही ब्रह्मा ने अनेक सवारियाँ बनाईं ॥६॥ ये भूमि पर कुश और पत्ते बिछाकर पड़ते (सोते) हैं, तो सुन्दर शय्या ब्रह्मा क्यों बनाते हैं? ॥७॥ इन्हें ब्रह्मा ने पेड़ों के नीचे (ठहरने का) वास-स्थान दिया, तो उसने सुन्दर स्वच्छ महल रच-रचकर (व्यर्थ) परिश्रम ही तो किया है! ॥८॥ ये अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार (राजकुमार) जो मुनियों के-से वल्कल वस्त्र और जटाएँ धारण करते हैं, तो फिर कर्त्तार (ब्रह्मा) ने अनेक प्रकार के भूषण-वस्त्र आदि शृंगार की वस्तुएँ व्यर्थ ही बनाईं ॥११९॥ जो ये कन्द-मूल-फल खाते हैं, तो संसार में अमृत (सरीखे स्वादिष्ट) भोजन आदि व्यर्थ ही हैं ॥१॥

विशेष—यहाँ प्रथम समष्टि में—'कीन्ह बादि बिधि भोग-बिलासू' कहा, फिर पृथक्-पृथक् भोगों को गिनाया और जिस पदार्थ का जो पात्र है, उसे वह मिलना चाहिये, अयोग्य को नहीं। इनसे बढ़कर भोग्य-पदार्थों का योग्य पात्र संसार में नहीं दीखता, जब ये भोग इन्हें न मिलें, तो व्यर्थ ही हैं। इससे तो विधि के कर्त्तव्य अविधि-रूप में ही देखे जाते हैं। ऊपर विधि के कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न स्थलपर अविधि रूप में दिखाये गये। यहाँ इन राजकुमारों के प्रति ही उसकी अविधि करतूतें कही गई हैं।

सम्बन्ध—ऊपर उनके वचन कहे गये, जो इन्हें ब्रह्मा के रचे हुए मानते हैं। आगे उनके वचन कहे जायँगे, जो युक्ति से इन्हें विधाता की सृष्टि से भिन्न सिद्ध करते हैं—

एक कहहिं ये सहज सुहाये। आप प्रगट भये बिधि न बनाये ॥२॥
जहँ लगि बेद कही बिधिकरनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥३॥
देखहु खोजि भुवन दसचारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥४॥
इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा ॥५॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आये। तेहि इरिषा बन आनि दुराये ॥६॥

शब्दार्थ—ऐक = ऐक्य = समानता, सादृश्य, वा अन्दाजा।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि ये तो स्वाभाविक (भूषण-वस्त्र के शृङ्गार बिना) ही शोभायमान हैं, ये आप ही प्रकट हो गये हैं, ब्रह्मा ने इन्हें नहीं बनाया ॥२॥ (क्योंकि) वेदों ने जहाँ तक ब्रह्मा की करनी कही हैं, वह कानों, नेत्रों और मन आदि इन्द्रियों के विषय रूप में कही गई है ॥३॥ चौदहो भुवनों में ढूँढ़कर देखो, तो ऐसा पुरुष कहाँ है और कहाँ ऐसी स्त्री है? ॥४॥ इन्हें देखकर ब्रह्मा का मन अनुरक्त हो गया (लुभा गया) तब वह इनकी समता के योग्य बनाने लगा ॥५॥ उसमें बहुत परिश्रम किया, पर ये उसके अन्दाज ही में न आये (कि इन्हें कैसे बनावें?), इसी ईर्ष्या के कारण (उस ब्रह्मा ने) वन में लाकर इन्हें छिपा दिया ॥६॥

विशेष—(१) 'आप प्रगट भये·····'—यही यथार्थ है, यथा—"इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा० दो० १५१), 'जहँ लगि बेद कही···'—अर्थात् ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि श्रवण, नेत्र और मन के विषय-रूप में ही है। अतः, इन तीन साधनों से जानी जाती है। 'देखहु खोजि·····'—श्रवण से सुनकर, आँख से देखकर, और मन से अनुमान करके चौदहो भुवन देख सकते

हो, ढूँढ़ सकते हो, कहीं भी इनके समान स्त्री-पुरुष नहीं हैं। बस, इससे ही निश्चय है, ये ब्रह्मा के रचे हुए नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मा की रचना में कोई भी पदार्थ एक समान का एक ही नहीं होता, किन्तु प्रत्येक की गिनती अनन्त है, यथा—"बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहु-बारिखो ॥ चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो ॥ तिन्ह कही जग में जगमगत जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चख चारिखो। रमा रमा-रमन सुजान हनुमान कही, 'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो' ॥" (क० बा० १६)।

(२) 'इन्हहिं देखि बिधि·····'—ब्रह्मा ने इनके तुल्य बनाने का श्रम किया, किन्तु ढाँचा न बन सका, तब उसे ईर्ष्या हो गई कि ये नगर (बस्ती) में रहेंगे, तो देख-देखकर लोग हमें हँसेंगे कि इस ब्रह्मा से ऐसे व्यक्ति नहीं बन सकते, इसलिये उसने अपनी शक्ति सरस्वती के द्वारा षड्यंत्र रचकर इन्हें वन में लाकर छिपा दिया।

शंका—जो बना नहीं सका तो वन भेजने का ही अधिकार उसे कैसे मिला ?

समाधान—ब्रह्मा की प्राकृत रचना में स्वतः जब आ गये तब सृष्टि के नियत नियम में भी रहते हैं, इससे विधि कर्त्तव्य भी मान रहे हैं। अथवा, ये प्राकृत दृष्टि से इन्हें विधिवश मान रहे हैं, अन्यथा आपकी लीला स्वेच्छा से है। 'इन्हहिं देखि·····' से 'तेहि हरिषा·····' तक 'आसिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥८॥

दोहा—**येहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।**
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि हम बहुत (युक्ति-अनुमान आदि की बातें) नहीं जानते, किन्तु अपनेको परम धन्य (पुण्यवान्) करके मानते हैं ॥७॥ और हमारे लेखे (विचार) में वे भी पुण्यवान् हैं, जो इन्हें अभी देख रहे हैं, भविष्य में देखेंगे और जिन्होंने पहले देखा है ॥८॥ इस भाँति के प्रिय वचन कह-कहकर आँखों में आँसू भर लेते है (और कहते हैं कि) कठिन मार्ग में अत्यन्त सुकुमार शरीर से कैसे चलेंगे ? ॥१२०॥

विशेष—'एक कहहिं···ते पुनि पुन्य पुंज···', यथा—"हम सब सकल सुकृत के रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी। जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी ॥" (बा० दो० ३०९), "को जानै केहि सुकृति सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी ॥" (बा० दो० ३३४)। 'मारग अगम', यथा—"कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना ॥" (दो० ६१)।

नारि सनेह-बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं ॥१॥
मृदु-पद-कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहहिं बरबानी ॥२॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे ॥३॥
जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥४॥
जौ माँगा पाइय बिधि पाहीं। ये रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं ॥५॥

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेह के वश व्याकुल होती हैं, मानों सन्ध्या समय चकवी (भावी वियोग की

सम्भावना से दुखी) शोभित हैं ॥१॥ इनके चरण-कमल कोमल हैं और मार्ग कठिन है, ऐसा जानकर वे व्याकुल हृदय से श्रेष्ठ वाणी कह रही हैं ॥२॥ इनके लाल-लाल कोमल चरणों का स्पर्श होते ही पृथ्वी ऐसी सकुचाती है, जैसे हमारे हृदय सकुचा रहे हैं ॥३॥ जो जगदीश (ब्रह्मा) ने इन्हें वन (का निवास) ही (रच) दिया, तो मार्ग को पुष्पमय क्यों नहीं कर दिया ? ॥४॥ यदि ये ब्रह्मा से माँगने पर मिलें, तो हे सखी ! ये आँखों में रख लिये जायँ ॥५॥

विशेष—(१) 'नारि सनेह-बिकल बस···'—ऊपर पुरुषों का स्नेह कहा गया। यहाँ से स्त्रियों की स्नेह-वार्ता कहते हैं कि वे प्रेमवश व्याकुल हो रही हैं। इसपर चकवी की उत्प्रेक्षा करते हैं कि जैसे वह सन्ध्या समय पति के वियोग-दुःख से दुखी हो वैसे श्रीरामजी के वियोग में ये सब दुखी हैं। इसीसे इनका शोभित होना कहा गया, यथा—"जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चंद बिराजा॥" (दो० १४७)। श्रीरामजी के वियोग एवं विरह में दुखी होने में मनुष्य की शोभा है। पुनः चकवी को वियोग-शृङ्गार का दुःख रहता है। वैसे इन्हें श्रीरामजी के वियोग का दुःख है। श्रीरामजी पतियों के भी परम पति हैं, यथा—"पतिं पतीनां परमं···" (श्वेता० ६।७), अतएव विप्रलम्भ शृङ्गार की दृष्टि से दुखी होने में भी शोभा है।

(२) 'सकुचति महि जिमि···'—पृथ्वी भी सकुचती है कि मैं बड़ी कठोर हूँ (अतः, वह कोस भर की दूरी को गज भर कर देती है)। जैसे हमारा हृदय सकुच रहा है कि ऐसे प्रिय के वियोग पर वह फट क्यों न गया ? इससे कठोर है। अतः, योग्य नहीं है।

(३) 'जौ माँगा पाइय बिधि ···'—पृथ्वी से कहती है कि हे सखि ! तुमने इन्हें ब्रह्माजी से माँग कर पाया है, यथा—"तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई···" (बा० दो० १८६), तब इनके योग्य पुष्पमय मार्ग भी क्यों नहीं किया ? मुझे तो यदि ये ब्रह्मा माँगने पर देते तो मैं इन्हें आँखों में ही रखती। जब एक ने कहा—'कस न सुमनमय मारग कीन्हा।' तब इसने पुष्पों को भी इनके योग्य कोमल न समझकर आँखों में रखना कहा, हृदय में रखना न कहा, क्योंकि उसे तो कठोर कह चुकी है। यह भी भाव है कि इसे ध्यान दर्शन अभीष्ट नहीं, किन्तु चाहती है कि प्रत्यक्ष बराबर आँखों से देखा करूँ। यह भी आँख में रखना है। आँख श्याम-गौर वर्ण है, वैसे वर्ण इनके भी हैं। 'सखि', क्योंकि पृथ्वी शब्द भी स्त्रीलिंग है।

सम्बन्ध—यहाँ तक दर्शकों का हाल कहा, आगे उन्हें कहते हैं, जो समय पर न पहुँचे थे—

जे नर नारि न अवसर आये। तिन्ह सियराम न देखन पाये ॥६॥
सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गये कहाँ लगि भाई ॥७॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम-फल पाई ॥८॥

दोहा—अबला बालक बृद्धजन, कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं ॥१२१॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष उस अवसर पर नहीं पहुँचे, उन्होंने श्रीसीताजी और श्रीरामजी को न देख पाया ॥६॥ वे उनके सुन्दर रूप को सुन व्याकुल होकर पूछते हैं कि हे भाई ! वे अब तक कहाँ पर्यन्त गये होंगे ? ॥७॥ जो समर्थ हैं वे दौड़ते हुए जाकर देखते हैं और जन्म लेने का फल पाकर प्रकर्ष आनन्दित होकर लौटते हैं ॥८॥ स्त्रियाँ, छोटे लड़के और बूढ़े लोग (दर्शन न पाने से) हाथ मींजते और पछताते हैं (इस प्रकार प्रेम के वश हैं)। इसी तरह जहाँ-जहाँ श्रीरामजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ के लोग प्रेम-वश होते हैं ॥१२१॥

विशेष—(१) 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई।'—ये मन, वचन, कर्म से भक्त हैं—'बूझहिं अकुलाई'—वचन, 'धाइ बिलोकहिं'—कर्म और 'प्रमुदित फिरहिं' यह मन की भक्ति है। 'अबला बालक बृद्ध···'—'अबला' का अर्थ स्त्री तो है ही, परन्तु दूसरा अर्थ बल-हीन का भी है। आशय यह है कि ग्रामीण स्त्रियों में भी जो समर्थ हैं, वे दौड़कर जाकर देखती हैं। ऊपर "जे नर नारि न अवसर आये।" का प्रसंग भी है। अतः, अबला शब्द से यहाँ वे ही स्त्रियाँ हैं, जो सुकुमारता या रोग आदि किसी कारण से एवं वृद्धापन से असमर्थ हैं और दौड़कर नहीं जा सकतीं। 'कर मीजहिं'—कर्म से, 'पछिताहिं'—वचन से और 'होहिं प्रेमबस'—मन से उनका भक्ति करना है। 'होहिं प्रेमबस' को दीप-देहली न्याय से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में लगाना चाहिये। यहाँ यह उपदेश है कि नर देह प्राप्ति रूपी अवसर प्राप्ति पर यदि हरि-भजन कर उनके दर्शन न कर लिये तो उन्हें पछताना पड़ता है। शास्त्रों एवं सन्तों से जो काण्डत्रय रूपी सामर्थ्य से दौड़ते हैं, वे दर्शन पा भी लेते हैं। अन्यथा अबला (कर्म रूपी बल रहित), बालक (बुद्धि-ज्ञान-रहित) और वृद्ध (उपासना-रहित) पछताते ही रह जाते हैं। कर मीजकर हस्त-लिखित विधि अंक मिटाने की चेष्टा करते हैं।

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल - कैरव - चंदू ॥१॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप - रानिहि दोष लगावहिं ॥२॥
कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहिं जेइ लोचनलाहू ॥३॥
कहहिं परसपर लोग लोगाई। बातैं सरल सनेह सुहाई ॥४॥

अर्थ—सूर्यकुल रूपी कुई के (प्रफुल्ल करने के लिये) चन्द्रमा (रूप श्रीरामजी) को देखकर गाँव-गाँव में ऐसा ही आनन्द होता जा रहा है ॥१॥ जो लोग (वनवास होने का) कुछ भी समाचार सुन पाते हैं, वे राजा और रानी को दोष लगाते हैं ॥२॥ कोई कहते हैं कि राजा अत्यन्त भले हैं कि जिन्होंने हमें नेत्रों के लाभ दिये ॥३॥ स्त्री-पुरुष आपस में सरल (सीधी) प्रेम युक्त एवं सुहावनी बातें कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गाँव-गाँव अस···'—जैसा एक गाँव का आनन्द कहा गया, जितने गाँव मार्ग में पड़ते हैं सबमें वैसा ही आनन्द होता जाता है। 'भानु कुल कैरव···'—चन्द्रमा संसार भर को प्रकाश एवं आनन्द देता और शीतल करता है, पर कुई का विशेष हितैषी है। वैसे ही श्रीरामजी संसार भर के हितैषी हैं, पर अपने सूर्य कुल के सत्य-व्रत रक्षा से विशेष हितकर हैं।

(२) 'ते नृप-रानिहि दोष···', यथा—"रानी मैं जानी अजानी महा, पवि-पाहन हूँ ते कठोर हियो है। राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है॥" (क० अ० २०), "कैकेयी कुचालि करि कानन पठाए॥ बचन कुभामिनि के भूपहिं क्यों भाए। हाय-हाय राय बाम बिधि भरमाए॥" (गी० अ० ३९) इत्यादि। दो० ४६-४७ में यह प्रसंग आया है। 'अति भल नरनाहू'—रानी भल और राजा अति भल हैं, एकने वर माँगा और एकने सत्य-रक्षण कर वर दिया, इससे हमको नेत्रलाभ मिला, यथा—"कोउ कह दूषन रानिहु नाहि न।" से "कहँ यह दरस पुन्य परिनामा॥" (दो० २२२) तक।

(३) 'कहहिं परसपर लोग लोगाई।' अर्थात् पुरुष पुरुष से, स्त्री स्त्री से। 'सरल' और 'सनेह' युक्त होने से इनकी बातों को 'सुहाई' कहा गया है।

ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाये। धन्य सो नगर जहाँ ते आये ॥५॥
धन्य सो देस सैल बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ ॥६॥
सुख पायेउ बिरंचि रचि तेही। ये जेहिके सब भाँति सनेही ॥७॥

राम - लखन - पथि-कथा सुहाई । रही सकल मग कानन छाई ॥८॥

दोहा —येहि बिधि रघुकुल-कमल-रवि, मग - लोगन्ह सुख देत ।
जाहिं चले देखत बिपिन, सिय - सौमित्रि - समेत ॥१२२॥

अर्थ—वे माता-पिता धन्य हैं जिन्होंने इन्हें पैदा किया और वह नगर धन्य है जहाँ से ये आये हैं ॥५॥ वह देश, पर्वत, वन और गाँव धन्य है ये जहाँ-जहाँ से होते हुए आ रहे हैं। वही-वही ठाँव (स्थल) धन्य हैं जहाँ-जहाँ होकर ये जाते हैं ॥६॥ उसीको बनाकर ब्रह्माजी ने सुख पाया है, ये जिसके सब प्रकार से स्नेही हैं ॥७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकों की सुहावनी कथा समस्त मार्गों और वनों में छा गई ॥८॥ इस तरह मार्ग के लोगों को सुख देते हुए रघुकुल रूपी कमल के (प्रफुल्ल करनेवाले) सूर्य श्रीरामजी श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वन को देखते हुए चले जा रहे हैं ॥१२२॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु धन्य···'—यहाँ धन्य शब्द प्रशंसापरक साधुवाद में है। यहाँ चौ० ५-६ में 'जहाँ ते आये' और 'जहँ जहँ जाहिं' इन्हें दीप-देहली रूप में मानकर अर्थ किया गया है, इससे अभिप्राय प्रकट हो गया है।

(२) 'सुख पायेउ बिरंचि ··', यथा—"जिन्हहिं बिरचि बड़ भयउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता।" (बा० दो० १५), 'सब भाँति सनेही', यथा—"स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (दो० १३०)। ऐसों के रचने पर ब्रह्मा बड़ाई पाते हैं, इससे उन्हें सुख होता है।

(३) 'रामलखन पथि···रही सकल ··'—यहाँ पथि शब्द 'पथिन्' का तद्भव रूप है, अर्थात् पथी, पथिक। मार्ग में आते-जाते लोग देख-सुनकर जहाँ-तहाँ कहते हैं, इससे सर्वत्र कथा फैल गई।

(४) 'येहि बिधि रघुकुल-कमल·····'—सूर्य ब्रह्माण्ड-भर के प्रकाशक हैं, पर कमल के विशेष, वैसे ही श्रीरामजी ब्रह्माण्ड-भर के सुखद हैं, पर रघुकुल के विशेष। ऊपर 'भानुकुल कैरव चंदू' कहा और यहाँ 'रघुकुल कमल रवि'। इस तरह चन्द्र और सूर्य दोनों के समान कहा और जगत् का पूर्ण हितैषी जनाया, यथा—"जगहित हेतु बिमल बिधुपूपन।" (बा० दो० १९), इनमें एकत्र ही दोनों के गुण जनाये। किसीको चन्द्रमा से दुःख तो किसीको सूर्य से दुःख होता है, पर ये सबको सुखद ही हैं। पुनः श्रीरामजी रात-दिन एक-रस सुख देनेवाले हैं, सूर्य-चन्द्रमा में एक दिन में और एक रात ही में सुखद होता है।

(५) "कहहिं एक अति भल नर नाहू।" से "धन्य सोइ ठाऊँ॥" तक शान्त-रस पूर्ण वृद्धाओं की बातें हैं और 'सुख पायेउ बिरंचि ··'—यह शृङ्गार-रस-पूर्ण स्त्रियों की बात है।

आगे राम लखन बने पाछे। तापसबेष बिराजत काछे ॥१॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म - जीव - बिच माया जैसे ॥२॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई ॥३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही ॥४॥

शब्दार्थ—काछे (सं० कक्ष) = बनाना, सँवारना, पहनना—"गौर किसोर बेष बर काछे।" (बा० दो० २२०)

अर्थ—आगे-आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी सजे-धजे हैं, तपस्वी का वेष बनाये हुए सुशोभित हैं ॥१॥ इन दोनों के बीच में श्रीसीताजी किस प्रकार सुशोभित हो रही हैं, जिस प्रकार ब्रह्म और जीव के बीच में माया ॥२॥ (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि) इसी छवि को फिर से मैं कहता हूँ जैसी यह मेरे मन में बसती है, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों वसन्त और कामदेव के मध्य में रति शोभित हो ॥३॥

हृदय में टटोलकर फिर मैं और उपमा कहता हूँ कि मानों बुध और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी शोभित हो रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'आगे राम लखन·····'—'बिराजत' अर्थात् तपस्वी-वेष से पूर्ण हैं, वल्कल आदि से सजे हुए महा मुनीश्वरों की तरह सुशोभित हैं।

(२) 'उभय बीच सिय·····'—ब्रह्म, जीव, माया—उपमान, राम-लक्ष्मण सीता—उपमेय, कैसे-जैसे—वाचक और 'सोहइ'—यह धर्म है। उपमा के वर्णन में कवि का प्रयोजन उसके धर्म से रहता है, शेष बातें आनुषंगिक हैं। ऊपर की अर्द्धाली में श्रीराम-लक्ष्मणजी की शोभा कही गई, इसमें श्रीसीताजी की शोभा कहते हैं। माया का अर्थ यहाँ ज्ञान (चित्-शक्ति) और कृपा है, यथा—"माया दम्भं कृपायाञ्च", प्रमाण—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ९६), पुनः 'माया वयुन ज्ञान' ये पर्याय शब्द हैं, प्रमाण—"सम्भवाम्यात्ममायया।" (गीता० ४।६), श्रीजानकीजी कृपामयी एवं चिद्रूपा हैं, यथा—"कृपा-रूपिणि कल्याणि राम-प्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥" (सीतोपनिषत्) तथा—"हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कारया चिता।" (श्रीरा० पू० ता०)।

यहाँ नर-नाट्य की माधुर्य-दृष्टि से उपमा कही गई है, अन्यथा यह यथार्थ ही है कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीलक्ष्मणजी नित्य शुद्ध जीव हैं, और श्रीजानकीजी ब्रह्म की अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपागुण-प्राधान्य से कृपा-रूपिणी हैं। ये ब्रह्म श्रीरामजी से अभिन्न तत्त्व हैं—बा० दो० १८ देखिये।

ब्रह्म के पीछे कृपागुण-प्रधान आदिशक्ति (माया) और उसके पीछे जीव, तब उस जीव का ब्रह्म के द्वारा उद्धार कराने से इस माया की शोभा है। यही अर्द्धाली अर० दो० ६ में भी है। वहाँ भी देखिये। बा० दो० ११७-११८ में कहा हुआ विद्या-माया-प्रसंग भी यहाँ संगत ही है। कृपा से ही उसकी भी प्रवृत्ति है। अतएव, यहाँ माया से विद्यामाया कह सकते हैं। वह सत्त्वमय होने से गौरांगिनी श्रीजानकीजी में घटित भी होती है। अलौकिक शोभा के लिये अलौकिक दृष्टान्त दिया गया है। यह दृष्टान्त शान्त-रस का दिया गया। इसमें 'दृष्टान्त अलंकार' है।

(३) 'जनु मधु-मदन-मध्य·····'—यहाँ बीच में रहने की और वर्ण की समता, यह उपमा शृंगार-रस में कही गई। कामदेव श्याम वर्ण एवं लावण्य धाम है, उसकी स्त्री रति गौरवर्णा है और वसन्त ऋतु पीतिरंग का कामदेव का अनुचर है, यही समता है।

(४) 'उपमा बहुरि कहउँ जिय·····'—बुध चन्द्रमा का पुत्र है, किन्तु वह बृहस्पति की स्त्री तारा से उत्पन्न है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी श्रीसुमित्राजी के पुत्र हैं, पर छोटे भाई होने से वे श्रीरामजी को पिता के समान मानते हैं। श्रीजानकीजी रोहिणी की तरह पतिव्रता भी हैं। इस तीसरी उपमा से सम्बन्ध-सहित बीच में रहना दिखाया गया है।

गी० अ० २४ में भी कहा है—"बीच बधू बिधु बदनि बिराजति उपमा कहँ कोउ है न। मानहुँ रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनाये है मैन। किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन॥" इत्यादि और पदों में भी बीच की छवि कही गई है।

प्रभु - पद-रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥५॥
सीय - राम - पद - अंक बराये। लखन चलहिं मग दाहिन लाये॥६॥
राम-लखन - सिय - प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥७॥
खग मृग मगन देखि छबि होही। लिये चोरि चित राम बटोही॥८॥

दोहा—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ।
भव-मग-अगम आनंद तेइ, बिनु श्रम रहे सिराइ ॥१२३॥

शब्दार्थ—दाहिन लाये=प्रदक्षिणा करते हुए, यथा—"पंचवटी गोदहि प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई।" (गी० अ० ११)। बराये=बचाये हुए। बराना=जानकर अलग करना। अगोचर=अविषय।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी के चरण-चिह्नों के बीच-बीच में श्रीसीताजी अपना पाँव रखती हैं और डरती हुई मार्ग में चलती हैं (कि स्वामी के चरण-चिह्नों पर मेरा पैर न पड़ जाय) ॥५॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी के चरण-चिह्नों को बचाये हुए श्रीलक्ष्मणजी उसे दाहिने लगाकर मार्ग चलते हैं ॥६॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी की सुन्दर प्रीति वाणी का विषय नहीं है, फिर वह कैसे कही जा सके? ॥७॥ पक्षी-पशु भी उनकी छवि देखकर उसमें निमग्न हो जाते हैं, पथिक श्रीरामजी ने उनके भी चित्त को चुरा लिया है ॥८॥ जिन-जिन लोगों ने प्रिय पथिक श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों के दर्शन किये, उन्होंने कठिन भव-मार्ग (जन्म-मरण) को बिना परिश्रम के आनन्द-पूर्वक चुका डाला (तय कर डाला), अर्थात् फिर उन्हें भव में पड़ना न होगा ॥१२३॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-रेख·····'—श्रीसीताजी पतिव्रता हैं, इसलिये पति के चरण-चिह्नों पर अपना चरण न पड़े, इसे डरती हुई बचाती जाती हैं। यह भी अभिप्राय है कि ये चिह्न बने रहेंगे तो और दर्शक भी देखकर कृतार्थ होंगे, जैसे कि आगे श्रीभरतजी को—"हरषहिं निरखि राम-पद अंका।" (दो० २३७), कहा है। श्रीलक्ष्मणजी दोनों के चिह्न बचाते और उन्हें दाहिने देते हुए चलते हैं, यह इनकी धर्म-भीरुता है, यथा—रीति चलिबे की चाहि प्रीति पहिचानि कै। आपनी-आपनी कहैं प्रेम पर बस अहैं मंजु मृदु बचन सनेह-सुधा सानि कै॥ साँवरे कुँवर के चरन के बराइ चिह्न बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै। जुगल-कमल-पद-अंक जोगवत जात गोरे गात कुँवर महिमा महा मानि कै॥ उनकी कहनि नीकी, रहनि लखन सी की, तिन्हकी गहनि जे पथिक उर आनि कै। लोचन सजल, तन पुलक, मगन मन, होत भूरि भागी जस तुलसी बखानि कै॥" (गी० अ० ३१)।

(२) 'खग मृग मगन देखि·····'—बटोही-रूप में शृंगार-रहित हैं, तो भी खग-मृग आदि तक के चित्त को चुराये लेते हैं, वे सब इनकी शोभा पर जड़ के समान हो रहे हैं, यथा—"बन खेलत राम फिरै मृगया·····अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥" (क० अ० २७)। 'बटोही' पद हलका है, पर कवि कहते हैं, क्योंकि सब लोग एवं खग-मृग आदि भी इनकी छवि पर मुग्ध हो रहे हैं मानो ये किसीकी प्रीति पर ध्यान न देकर अपने बाट चलने से प्रयोजन रखते हैं। अतः, उन सबके पक्ष से कवि आपको बटोही कहते हैं। 'चोरि चित' के साहचर्य से चोर बटोही भी कहे जायँगे, क्योंकि छवि-रूपी धतूरा आदि मादक वस्तुएँ पिलाकर सबके चित्त-रूपी धन हरते हैं।

(३) 'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक·····'—पथिकों पर प्रायः किसीका प्रेम नहीं होता, क्योंकि उनका संग कुछ क्षणों के लिये ही रहता है, पर इन पथिकों को तो जो देख भर लेता है, उसे ही ये प्रिय हो जाते हैं। फिर वह इन्हें आजन्म नहीं भूलता और इनके निरन्तर-स्मरण से वह भव तर जाता है। 'जिन्ह-जिन्ह देखे'—भूतकाल के, 'अजहुँ' से वर्त्तमानकाल के दर्शनों का फल कहा और 'काऊ' से भविष्य के दर्शनों का भी महत्त्व आगे कहते हैं। 'भव मग अगम'—चौरासी लाख योनियों में अनन्त काल तक—काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के चक्कर में फिरना पड़ता है, यथा—"आकर चारि··· फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो० ४३), "भव मग अगम अनंत है

बिन श्रमहिं सिरातो।" (वि० १५१), 'बिनु श्रम'—साधन चतुष्टय आदि एवं जप, तप, योग आदि के बिना किये ही।

अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन-सिय राम बटाऊ ॥१॥
राम - धाम - पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥२॥
तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बट सीतल पानी ॥३॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई ॥४॥

अर्थ—जिसके हृदय में आज भी एवं स्वप्न में भी कभी लक्ष्मणजी, सीताजी और रामजी बटोही (पथिक) बसें ॥१॥ वही रामजी के धाम के उस मार्ग को पा जायगा कि जिस मार्ग को कभी-कभी कोई-कोई मुनि ही पाते हैं ॥२॥ रघुबीर श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को थकी हुई जाना, तब समीप में बरगद का पेड़ और शीतल जल देखकर ॥३॥ वहाँ कन्द-मूल-फल खा (रात में) निवास कर प्रातःकाल स्नान करके श्रीरामजी चले ॥४॥

विशेष—(१) 'बटाऊ'—अर्थात् शृंगार-युक्त ही ध्यान हो, सो नहीं, पुनः किसी देश-विशेष का नियम नहीं। 'जासु' अर्थात् किसी जाति-विशेष का नियम नहीं, 'काऊ' अर्थात् किसी काल-विशेष का नियम नहीं है। 'राम-धाम-पथ'—अर्थात् साकेत धाम का मार्ग, अर्चिरादि मार्ग (भगवत्प्राप्ति) वा, अविरल भक्ति।

(२) 'तब रघुबीर श्रमित·····'—ये तो वीर हैं, इन्हें थकावट नहीं है। श्रीसीताजी को थकी जानकर रुके। 'देखि निकट बट···'—यह वही वट वृक्ष जान पड़ता है, जिसे श्रीभरद्वाजजी ने मार्ग में चिह्नरूप कहा था, यथा—"ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥६॥ विवृद्धं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम्। तस्मै सीताऽञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषः शिवाः ॥७॥ समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वाऽतिक्रमेत वा।" (वाल्मी० २।५५), फिर आगे वाल्मी० २।५५।२३–२६ में वहाँ (यमुना पार चलने पर) तदनुसार उस वृक्ष की प्रार्थना और परिक्रमा आदि कही गई है। चलने के सम्बन्ध से श्रीरामजी को यहाँ भी 'रघुराई' कहा गया है।

मुख्य 'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन'-प्रसंग

देखत बन सर सैल सुहाये। बालमीकि-आश्रम प्रभु आये ॥५॥
राम दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन ॥६॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले ॥७॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥८॥

दोहा—सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर - आगमन मुनि, आगे आयेउ लैन ॥१२४॥

अर्थ—सुहावने वनों, तालाबों और पहाड़ों को देखते हुए प्रभु श्रीरामजी वाल्मीकिजी के आश्रम पर आये ॥५॥ श्रीरामजी ने देखा कि वाल्मीकि मुनि का निवास-स्थान बड़ा सुहावना है। वहाँ के पहाड़ और वन सुन्दर हैं और जल पवित्र है ॥६॥ तालाबों में कमल तथा वन में वृक्ष फूले हुए हैं और सुन्दर भौंरे मकरन्द में निमग्न गुञ्जार कर रहे हैं ॥७॥ पक्षी-पशु बहुत हैं और वे कोलाहल कर रहे हैं। पुनः वैर से

विशेष रहित होकर आनन्दित मन से विचर रहे हैं ॥८॥ पवित्र और सुन्दर आश्रम देखकर लाल कमल के समान नेत्रवाले श्रीरामजी हर्षित हुए। रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी का आना सुनकर वाल्मीकि मुनि उन्हें लेने के लिये आगे आये ॥१२४॥

विशेष—(१) 'देखत बन सर सैल···'—वाल्मीकिजी के आश्रम की बाहरी सीमा दूर तक है। इसके बीच में वन, सर, शैल आदि हैं और समीप में भी जलाशय आदि हैं। इन सबसे तप और भजन-के योग्य स्थल सूचित किया, यथा—"निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयेउ रमापति-पद-अनुरागा ॥" (बा० दो० १२४), अर्थात् भजन के लिये एकान्त गिरि-वन, भोजन के लिये फल-मूल आदि और स्नान-पान के लिये स्वच्छ जल, इत्यादि सब अनुकूलता है। 'बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये'—इन ज्ञानी मुनि की दृष्टि में आप प्रभु हैं, इसलिये 'प्रभु' कहा। औरों को तो नर देख पड़ते हैं।

(२) "सरनि सरोज बिटप···" से "कोलाहल करहीं।" तक में रमणीकता कही गई, वैशाख में भी कमल फूले हैं। 'बिरहित बैर···'—से मुनि के भजन का प्रभाव सूचित किया कि अहिंसा-सिद्धि से उनके समीप जीवों के स्वाभाविक वैर भी निवृत्त हो गये हैं, यथा—"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।" (योगसूत्र), तथा—"रहहिं एक सँग गज पंचानन ॥ खगमृग सहज बयर बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई ॥" (उ० दो० २२)—इसमें श्रीमजी का प्रभाव कहा गया है, एवं—"सरिता सब पुनीत जल बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥ सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥ सोह सैल गिरिजा गृह जाये। जिमि जन राग-भगति के पाये ॥" (बा० दो० ६५)—इसमें गिरिजाजी का प्रभाव है।

(३) 'सुचि सुंदर आश्रम···'—मुनियों का आश्रम पवित्र और सुहावना होता है, इसीसे वहाँ सभीका मन लगता है, यथा—"भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन ॥" (बा० दो० ४३), "आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा ॥" (बा० दो० १२४), "बिस्वामित्र···बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ॥" (बा० दो० २०५), "देखि परम पावन तव आश्रम। गयेउ मोह···" (उ० दो० ६३)।

(४) 'सुनि रघुबर आगमन···'—कोल-किरात आदि से अथवा, शिष्यों से सुना, तब मुनि अगवानी के लिये चले। इसी तरह प्रेम से और भी बड़े-बड़े ऋषियों ने अगवानी की है, यथा—"अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयेऊ। सुनत महामुनि हरषित भयेऊ ॥ पुलकित गात अत्रि उठि धाये।' (अर० दो० २)—अत्रिजी, "प्रभु आगवन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा ॥···निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा···" (अर० दो० ९-१०)—सुतीक्ष्णजी, "सुनत अगस्त तुरत उठि धाये।···" (अ० दो० ११)—अगस्त्यजी।

मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरवाद बिप्रवर दीन्हा ॥१॥
देखि राम - छबि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहिं आने ॥२॥
मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाये। कन्द मूल फल मधुर मँगाये ॥३॥
सिय सौमित्रि राम फल खाये। तब मुनि आश्रम दिये सुहाये ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मुनि को दण्डवत् की। विप्रश्रेष्ठ वाल्मीकिजी ने आशिष दी ॥१॥ श्रीरामजी की छवि देखकर उनके नेत्र ठण्ढे हुए। श्रीरामजी का सम्मान करके उन्हें आश्रम में लिवा ले आये ॥२॥ मुनिश्रेष्ठ ने प्राण-प्रिय पाहुन को पाया। (तब उन्होंने) मीठे कन्द-मूल-फल मँगाये ॥३॥ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी ने फल खाये, तब मुनि ने सुन्दर निवास स्थान दिये ॥४॥

विशेष—(१) 'मुनि कहँ राम दंडवत···'—यद्यपि मुनि श्रीरामजी को ब्रह्म जानते हैं, तथापि

श्रीरामजी ने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, क्योंकि आपका धर्म-संस्थापन के लिये अवतार ही है। उनकी रुचि के अनुसार मुनि ने आशिष भी दी। प्रधान होने से श्रीरामजी को ही कहा गया, दण्डवत् श्रीलक्ष्मणजी ने भी की। 'बिप्रबर'—क्योंकि ये प्रचेता के दसवें पुत्र हैं और भृगुवंशी हैं, इसीसे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं, यथा—"प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।" (वाल्मी० ७।९६।१८)।

(२) 'नयन जुड़ाने' अर्थात् अभी तक दर्शनों के लिये सन्तप्त थे। दर्शन पाकर शीतल हुए, यथा—"चितवत पंथ रहेउँ दिनराती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।" (अर० दो० ७), कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥" (सु० दो० १३)। इसीसे बार-बार निहारते हैं, यथा—"देखि राम छबि···", "मंगल मूरति नयन निहारी।" 'करि सनमान' इसमें मुनि का हृदय लगाना आदि भी समझना चाहिये।

(३) 'अतिथि प्रानप्रिय पाये'—ये तो प्राणि-मात्र के प्रिय तत्त्व हैं, पर आज तो पाहुन-रूप में आये हैं। इसीसे मधुर कन्द-मूल-फल मँगाये। मुनि का प्रेम वात्सल्य भाव से है। ये श्रीजनकजी से सखाभाव मानते हुए श्रीजानकीजी को पुत्री की तरह मानते हैं, यथा—"पुत्रि! न सोचिए आई हौं जनकगृह जिय जानि।" (गी० उ० ३२), यह वाल्मीकिजी का ही वचन श्रीजानकीजी से है। इसीसे भारी आनन्द एवं वात्सल्य में पहले आसन आदि पूजा-विधि न करके मधुर भोजन ही कराने लगे, यथा—"जो मन भाव मधुर कछु खाहू।" (दो० ५२), यह कौसल्याजी ने कहा है। भोजन कराने में बैठने को आसन दिया ही गया होगा। भोजन कराके तब आगे निवास-स्थान देना कहा गया है। मार्ग चलकर आये हैं। अतः, विश्राम करना चाहिये। 'आश्रम दिये सुहाये'—'दिये' यह बहुवचन है। अतः "एक ललित लघु एक बिसाला" (दो० १३२) की रीति से दो स्थान दिये गये। हाँ, यहाँ एक शंका की जाती है कि आगे मुनि का साथ ही रहना एवं सत्संग करना ही कहा गया है। प्रभु का विश्राम करना नहीं कहा गया। बात-चीत समाप्त होते ही चित्रकूट चल देना कहा गया है।

इसका समाधान यह है कि आश्रम में कुछ विश्राम करने के पीछे बात-चीत हुई होगी, अन्यथा कुछ भी विश्राम न कर तुरत फल खाकर चल देना भी उपयुक्त नहीं है।

निवास-स्थान पर ही विश्राम करने के पश्चात् उपयुक्त स्थल पर सत्संग हुआ होगा। सत्संग में अन्य लोगों का रहना भी नहीं कहा गया है, जैसा कि प्रयाग में भरद्वाजजी के यहाँ वर्णित है। 'आश्रम' के स्थान पर 'आसन' पाठ भी आधुनिक प्रतियों में है उसमें आसन पर बैठाकर सत्संग करना अर्थ होता है, पर राजापुर का पाठ 'आश्रम' ही है। गीताप्रेस ने भी इसी पाठ को लिया है और इसपर विचार भी किया है। आगे 'आश्रम कहउँ समय सुखदायक' पर भी आश्रम का अर्थ यही (निवास-स्थान ही) है। भरद्वाजजी के यहाँ पहले 'पूजा' कहा गया, पर यहाँ केवल माधुर्य है। आगे भी 'राम', 'रघुबर' आदि माधुर्य ही नाम मुनि कहेंगे। 'प्रभु' आदि ऐश्वर्य के नाम भी न कहेंगे।

बालमीकि मन आनँद भारी। मंगल मूरति नयन निहारी॥५॥
तब कर-कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन-सुखदाई॥६॥
तुम्ह त्रिकाल-दरसी मुनिनाथा। बिस्व-बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥७॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी॥८॥

दोहा—तात-बचन पुनि मातुहित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य-प्रभाउ॥१२५॥

अर्थ—मंगल की मूर्त्ति श्रीरामजी को आँखों से देखकर वाल्मीकि मुनि के मन में बड़ा भारी आनन्द हुआ ॥५॥ तब श्रीरामजी कमल के समान हाथों को जोड़कर कानों को सुख देनेवाले वचन बोले ॥६॥ हे मुनीश्वर ! आप त्रिकालज्ञ हैं (तीनो कालों, भूत-भविष्य-वर्त्तमान की बात जानते हैं), आपको सारा जगत् हथेली पर रक्खे हुए बेर के समान है ॥७॥ ऐसा कहकर प्रभु ने सारी कथाएँ सुनाईं, रानी कैकेयी ने जिस-जिस तरह वनवास दिया ॥८॥ पिता का वचन-पालन, माता का हित और भरत ऐसे भाई राजा हों, पुनः मुझे आपके दर्शन हों, हे प्रभो ! यह सब मेरे पुण्यों का प्रभाव है (अर्थात् इसमें कैकेयीजी का दोष नहीं है) ॥१२५॥

विशेष—(१) 'आनँद भारी'—क्योंकि अभी तक इस मूर्त्ति का ध्यान मात्र ही करते थे, आज वे ही प्रत्यक्ष आ गये। अतः, भारी आनन्द हुआ, यथा—"निगम अगम मूरति महेस मति जुवति बरायबरी। सोइ मूरति भय जानि नयन पथ यक टक ते न टरी ॥" (गी० बा० ५५), वा, अभी तक ब्रह्मानन्द था, अब उसकी राशि प्राप्त हो गई, जैसा कि इनके शिष्य भरद्वाजजी के प्रसंग में कहा गया है—"मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंद रासि जनु पाई ॥" (दो० १०५), अथवा, जनकजी के समान इन्हें भी पूर्व के ब्रह्मानन्द की अपेक्षा श्रीरामजी के प्रत्यक्ष दर्शनों में भारी आनन्द हुआ।

(२) 'बोले बचन श्रवन-सुखदाई।'—पहले नेत्रों को आनन्द दिया, फिर मन को, अब श्रवण को सुख देंगे। मुनि की प्रशंसा करेंगे, जिससे अपनी अनुकूलता जनावेंगे। श्रीरामजी हाथ जोड़कर बोले हैं, क्योंकि अपना ऐश्वर्य छिपाना है, यह भी दिखाया कि हम भक्तों के अधीन रहते हैं।

(३) 'बिस्व-बदर जिमि तुम्हरे···'—'बदर' अर्थात् बेर, यहाँ झाड़ी का बेर लिया जायगा, क्योंकि वही पृथ्वी की तरह गोलाकार होता है। हथेली पर रक्खे हुए बेर का सर्वाङ्ग देख पड़ता है, वैसे ही आप सब संसार की तीनों काल की बातें जानते हैं, (पुनः बदरीफल हाथ में रहते हुए भी विवेकी कुपथ्य जानकर उसे नहीं खाते, वैसे ही आपको जगत् के सभी विभव हाथ में हैं, फिर भी आप उनसे निर्लिप्त रहनेवाले हैं) तथा मेरे आने का हेतु भी आप जानते ही हैं, तो भी मैं व्यवहार की रीति से कहता हूँ—यह मुनि का महत्त्व कहा।

(४) 'सब कथा बखानी'—बखानना कहकर आनन्द-पूर्वक कहना सूचित किया, यह नहीं कि कैकेयीजी के कर्त्तव्य पर दुःख माना हो। पुनः बखानने का विस्तार-पूर्वक कहने का भी अर्थ है। इनसे विस्तार से कहा, क्योंकि इन्हें रामायण बनानी है। रानी के दो वर की मूलभूत कथा आदि भी कही।

(५) 'तात-बचन पुनि मातुहित···।'—'तात-बचन' में धर्म, यथा—'पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५८), 'मातु हित' में काम, क्योंकि जो इन्हें कामना थी, उसीका माता ने वरदान माँगा है। 'भाइ भरत अस राउ' में अर्थ, क्योंकि चौदह वर्ष के पीछे लौटने पर श्रीभरतजी ने कोश को दस गुणा कर रक्खा था, यथा "अवेक्षतां भवान्कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम्। भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया ॥" (वाल्मी० ६।१२७।५६)। 'मो कहँ दरस तुम्हार' में मोक्ष की प्राप्ति है, क्योंकि सन्त के दर्शन एवं संग से मोक्ष होता है, यथा—"संत संग अपवरग कर" (उ० दो० ३३), इस तरह से चारो फलों की प्राप्ति कही, जो बड़े पुण्य के प्रभाव से ही होती है।

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे ॥१॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावइ कोई ॥२॥
मुनि तापस जिन्हते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं ॥३॥
मंगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर-रोषू ॥४॥

Post Graduate Library

अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय-सौमित्रि-सहित जहँ जाऊँ ॥५॥
तहँ रचि रुचिर परन-तृन-साला। बास करउँ कछु काल कृपाला ॥६॥

अर्थ—हे मुनिराज! आपके चरणों के दर्शन करने से आज हमारे सारे सुकृत सफल हुए ॥१॥ अब जहाँ आपकी आज्ञा हो और जहाँ किसी मुनि को उद्वेग (व्यग्रता) न हो ॥२॥ क्योंकि मुनि और तपस्वी लोग जिनसे दुःख पाते हैं, वे राजा बिना अग्नि के ही जलकर भस्म हो जाते हैं ॥३॥ ब्राह्मणों का प्रसन्न होना मंगल का पैदा करनेवाला है और उन भूमि के देवताओं का कोप करोड़ों कुलों को जला डालता है ॥४॥ ऐसा हृदय में जानकर वही स्थान कहिये, जहाँ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ जाऊँ ॥५॥ वहाँ सुन्दर तृण और पत्तों की कुटी बनाकर, हे कृपालु! कुछ समयतक निवास करूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि उदबेग न···'—भाव यह कि आप यदि किसी मुनि का रमणीक आश्रम खाली करा के देंगे, तो मुनियों को उद्वेग होगा ही। अतः, कहीं पृथक् बतलाइये, क्योंकि जहाँ राजा रहते हैं, मृगया आदि करते हैं, इससे भी मुनियों को खेद होगा ही। उद्वेग का अर्थ आगे—'दुख लहहीं' से जनाया है।

(२) 'ते नरेस बिनु पावक दहहीं।'—अपने उपर्युक्त संकोच का कारण कहते हैं—यह शास्त्र का मत है कि ऐसे राजा (क्षत्रिय) लोग बिना अग्नि के भस्म हो जाते हैं। यहाँ नरेश पद क्षत्रिय जाति के अर्थ में है, यथा—"ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।" (पुरुषसूक्त १२), अर्थात् ब्राह्मण इसका मुख था, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बना।

(३) 'मंगलमूल बिप्र···'—जैसे विप्र वसिष्ठजी की प्रसन्नता से रघुकुल के बहुत-से मंगल हुए, यथा—"दलि दुख सजै सकल कल्याना। असि असीप राउरि जग जाना॥" (दो० २५४), अर्थात् हम विप्रों की प्रसन्नता चाहते हैं जिससे वनयात्रा में मंगल हो।

(४) 'दहइ कोटि कुल भूसुर···'—ऊपर विप्रों के दुःख देने का फल कहा था, अब उनके कुपित होने का फल कहते हैं कि जो वे कोप करें, तो करोड़ों कुल नाश हो जायँ, जैसे कोटि यदुवंशी जल मरे। भानु प्रताप सपरिवार नाश हुआ, सगर के पुत्र भस्म हुए। राजा दण्ड शुक्राचार्य के शाप से राज्य समेत जल मरा। सहस्रबाहु अपने कुल और सजातीय कोटि-कुलों के साथ मारा गया। प्रमाण—बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।" (उ० दो० १११), "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा॥" (कि० दो० १६)—इसका विशेष भी देखिये।

(५) 'अस जिय जानि···'—कि जिसमें हमारा मंगल हो और हम अमंगल से बचे रहें। 'कछु काल'—अर्थात् १ वर्ष पर्यन्त, यद्यपि वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरतजी के लौटने के पीछे ही श्रीरामजी का चित्रकूट से दण्डकारण्य जाना कहा है, तथापि श्रीगोस्वामीजी ने चित्रकूट में सब ऋतुओं का विहार कहा है, इसीसे तो एक वर्ष कहा जा सकता है। वा, कुछ ही काल रहकर दण्डकारण्य जाऊँगा, यह भाव है।

'तहँ रचि रुचिर···'—मैं स्वयं कुटी निर्माण कर लूँगा, किसीका आश्रम न दीजिये। जहाँ निवास रुचिर हो, अर्थात् रमणीक स्थान हो, सघन वृक्ष हों, जल पास हो, इत्यादि अनुकूलताएँ हों। वैसा ही स्थल चित्रकूट मुनि कहेंगे।

यहाँ वाल्मीकिजी से स्थान पूछा है, क्योंकि ये रामायण (राम-अयन=रामजी का स्थान) के रचयिता होंगे, यथा—"रामायन जेहिं निरमयेउ।" (बा० दो० १४), ऐसे ही पूर्व भरद्वाजजी से मार्ग पूछा है, क्योंकि वे परमार्थ-पथ के ज्ञाता हैं, यथा—"परमारथ पथ परम सुजाना।" (बा० दो० ४३), पुनः

आगे अगस्त्यजी से मन्त्र पूछेंगे—"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही ॥" (अर० दो० १२), क्योंकि वे मन्त्र के प्रचारक हैं। (अगस्त्य-संहिता में राम-मन्त्र की विस्तृत व्याख्या है।)—अर० दो० १२ चौ० ३-५ भी देखिये।

सहज सरल सुनि रघुबर-बानी। साधु-साधु बोले मुनि ज्ञानी ॥७॥
कस न कहहु अस रघुकुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुतिसेतू ॥८॥

छन्द—श्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीसमाया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ॥
जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचर-धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर-अनी ॥

सोरठा—राम सरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धि-पर।
अबिगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह ॥१२६॥

शब्दार्थ—अबिगत=जो बिगत न हो, जो जाना न जाय, नित्य—(हिन्दी-शब्द-सागर) अथवा, जो किसीसे अलग नहीं, सबमें पूर्ण, सर्वव्यापक।

अर्थ—रघुवर श्रीरामजी की स्वाभाविक सीधी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि वाल्मीकिजी साधु! साधु! बोले ॥७॥ हे रघुकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ) श्रीरामजी! आप ऐसा क्यों न कहें, क्योंकि आप सदा वेद-मर्यादा की रक्षा करनेवाले हैं ॥८॥ हे रामजी! आप तो वेद-मर्यादा के रक्षक हैं, जगत् के ईश्वर हैं और श्री जानकीजी आपकी आदि शक्ति हैं जो कृपानिधि (आप) का रुख पाकर जगत् को रचती, पालती और संहार करती हैं॥ जो सहस्र सिरवाले, पृथ्वी को धारण करनेवाले सर्पों के स्वामी शेषनाग और चराचर जगत् के स्वामी हैं, वे श्रीलक्ष्मणजी हैं। देवताओं के कार्य के लिये मनुष्यों के राजा का शरीर धारणकर, आप खल राक्षसों की सेना का नाश करने चले हैं॥ हे श्रीरामजी! आपका स्वरूप वाणी का विषय नहीं, वह बुद्धि से परे, नित्य एवं व्यापक, अकथनीय और अपार है। आपको वेद नित्य ही 'नेति-नेति' कहते हैं ॥१२६॥

विशेष—(१) 'सहज सरल सुनि रघुबर-बानी'—श्रीरामजी ने जो ब्राह्मणों में भक्ति कही, वह यथार्थ है, ब्राह्मणों के वचन सत्य करने को आपने अपने प्रिय-पार्षद जय-विजय को वैकुंठ से मर्त्यलोक में गिराया, भृगु की लात तक सही, इत्यादि। इसीसे मुनि ने साधु-साधु (ठीक-ठीक) कहा है। 'रघुबर'—क्योंकि रघुवंशी सभी विप्र-भक्त होते आये हैं, आप तो इस विषय में बहुत श्रेष्ठ हैं।

(२) 'कस न कहहु अस रघुकुल···'—रघुवंशी सभी वेद-मर्यादा की रक्षा करते आये हैं, वैसे आप भी करते हैं। यहाँ सम-अलंकार का दूसरा भेद है। 'संतत'—माधुर्य पक्ष में कुल-परम्परा से, ऐश्वर्य पक्ष में मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपों से सदा वेद-मर्यादा की रक्षा करते हैं।

(३) 'श्रुति-सेतु-पालक राम···'—यहाँ ऐश्वर्य-वर्णन प्रसंग है। अतः, 'राम' नाम कहा। ऊपर श्रुति-सेतु रक्षा-सम्बन्ध से 'रघुकुल केतू' कहा था, यहाँ 'जगदीस' भी कहा है। जगदीश का अर्थ भगवान् है, अर्थात् आप माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों तरह से जगत् की रक्षा करते हैं, वेद मर्यादा का पालन करते हैं।

'माया जानकी'—माया का अर्थ कृपा ऊपर किया गया है, कृपा शब्द 'कृपू-सामर्थ्ये' धातु से निष्पन्न है। अतः, सामर्थ्य एवं शक्ति तथा आदि-शक्ति अर्थ यहाँ है, यथा—"आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।

सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥" (बा० दो० १५१)। (इसकी व्याख्या भी देखिये।) 'रुख पाइ' अर्थात् संकेतमात्र से, यथा—"लव-निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया ॥" (बा० दो० २२४), 'कृपानिधान'—यह श्रीजानकीजी ने स्वामी के लिये नियत सम्बोधन कर रक्खा है। अतः, इनके पारस्परिक व्यवहार-सम्बन्ध में यह एवं इसका पर्यायवाची 'करुणानिधान' आदि ही शब्द आते हैं, यथा—"अतिसय प्रिय करुनानिधान की।" (बा० दो० १७), "सत्य सपथ करुनानिधान की।" (सुं० दो० १२), (वहाँ इस अपने ऐकान्तिक सम्बोधन को सुनकर विश्वास हो गया था) पुनः—"सरल प्रकृति आप जानिये करुनानिधान की।" (वि० ४२), इत्यादि।

यहाँ इस शब्द से जनाया कि एकान्त में बैठे हुए स्वामी की सृष्टि की इच्छा जानकर महारानीजी मूल प्रकृति-द्वारा इच्छा-मात्र से जगत्-रचना कर देती हैं। इच्छा, यथा—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छा० ६।२।३), सृष्टि-रचना आदि भी जीवों पर कृपा-दृष्टि से होती है। इस सम्बन्ध से भी 'कृपा-निधान' कहा है।

(४) 'जो सहससीस अहीस···'—इस ग्रन्थ में चार कल्पों की मिश्रित कथा है। किसी कल्प में श्रीलक्ष्मणजी शेषावतार हैं और किसीमें साकेत-वासी श्रीलक्ष्मणजी स्वयं-रूप से अवतीर्ण हैं। उपर्युक्त मूल अर्थ साकेत-विहारी परक है। दूसरे शेषावतारपरक भी इस तरह होगा कि जो सहस्र-शीर्ष शेषनाग हैं, जो चराचर के स्वामी हैं। बा० दो० १९७ तथा बा० दो० २५९ चौ० १ भी देखिये। श्रीरामजी पालक, श्रीसीताजी रचनेवाली और श्रीलक्ष्मणजी धारण-कर्त्ता हैं, इस तरह तीनों को लेकर भी अन्त में तीनों को 'सचराचर धनी' कहा जा सकता है।

(५) 'सुरकाज धरि नरराज तनु···'—ऊपर अवतार का कारण कहा, अब कार्य कहते हैं। 'दलन खल निसिचर' अर्थात् साधु निशाचर विभीषणादि को नहीं मारना है, यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं ॥" (अर० दो० १८)।

(६) 'राम सरूप तुम्हार, बचन···'—आपका रूप, वचन और बुद्धि की पहुँच से परे हैं, यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्ति० २।९), "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥" (कठ० ६।१२), तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहि सकल अनुमानी" (बा० दो० ३४०), जो वाणी और बुद्धि से नहीं जाना जाता, तो होगा ही नहीं, इसपर कहते हैं कि 'अविगत' अर्थात् व्यापक-रूप से सबमें पूर्ण है, फिर कहकर प्रकट किया जाय ? इस शंका पर कहते हैं कि वह 'अकथ्य' है, क्योंकि 'अपार' है, तो कोई कहाँ तक कहेगा। अच्छा ! मनुष्यों के लिये अपार होगा, पर वेद तो कहकर पार पाते होंगे, इसपर कहते हैं—'नेति नेति···', यथा—"महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एक रस अहई ॥" बा० दो० ३४०)।

इस काण्ड में कुल १३ छन्द हैं और सब २५-२५ दोहों पर हैं, (केवल एक में तापस-प्रसंग का एक दोहा अधिक है) उनमें इसी एक छन्द में 'तुलसी' कवि-नाम नहीं है, क्योंकि यहाँ तुलसी (दासजी) स्वयं वाल्मीकि-रूप में कह रहे हैं, संवाद प्रकट है, तो 'तुलसी' क्यों लिखें ? इस तरह ग्रन्थकार ने अपने पूर्व रूप का परिचय दिया है, तथा—"जनम जनम जानकी नाथ के गुन गन तुलसिदास गाये ॥" (गी० लं २३), अर्थात् पूर्व शरीर में भी इन्होंने ही गाया है। बा० मं० १ भी देखिये।

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि-संभु-नचावनिहारे ॥१॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा ॥२॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई ॥३॥

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन ॥४॥

अर्थ—जगत् खेल (तमाशा) है। आप देखनेवाले हैं और ब्रह्मा-विष्णु-महेश (तीनो गुणों के द्वारा) नचानेवाले हैं ॥१॥ वे भी आपका मर्म (भेद) नहीं जानते तब और कौन आपको जाननेवाला है? ॥२॥ वही जानता है जिसे आप जना देते हैं। आपको जानते ही (आपका साधर्म्य प्राप्त कर जीव) आप (ब्रह्म) ही हो जाता है ॥३॥ हे भक्त-उर-चन्दन! हे रघुनन्दन!! आप ही की कृपा से भक्त-लोग आपको जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जग पेखन तुम्ह ···'—यहाँ कठ-पुतली के खेल का रूपक है—जगत् खेल है, यथा—"क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥" (मनु० १।८०), अर्थात् (परधाम में रहनेवाला) परमेष्ठी (परमात्मा) यह सब खेल की भाँति बार-बार करता रहता है। तीनो गुण डोरी हैं और विधि, हरि, शम्भु नचानेवाले हैं। आप देखते हैं, इसीलिये वे तीनो नचाते हैं कि आप प्रसन्न हों। पर आप किस खेल से प्रसन्न होते हैं? यह मर्म वे भी नहीं जानते, यथा—विधि हरि हर ससि रवि दिसि पाला।··· राम रजाइ सीस सबही के ॥" (दो० २५३), "जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत···" (सुं० दो० २०)। जब वे तीनो आपके मर्म को नहीं जानते तो उनकी सृष्टि का कोई जीव कैसे जानेगा? यथा—"को वेत्ति भूमन् भगवन्परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्। क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥" (भाग १०।१४।२१), अर्थात् हे भगवन्! आप अनन्त परात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप अपनी योगमाया का विस्तार करके लीला करने लगते हैं, उस समय तीनो लोकों में ऐसा कौन है जो यह जान सके कि कहाँ, किसलिये, कब और कितनी आपकी लीलाएँ होती हैं। इसपर यह शंका होती कि तब तो ज्ञान-प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं, इसपर कहते हैं—

(२) 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।···'—अर्थात् शास्त्रों के द्वारा एवं अन्य किसी भी उपाय से अपनी कृपा द्वारा आप ही अपने को जना दें तो कोई भी आपको जान सकता है। फिर—'जानत तुम्हहिं तुम्हइ···', यथा—"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुं० ३।२।९), अर्थात् ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। इसका भाव यह है—"यस्यात्मा शरीरम्" (बृह० ३।७।२२, माध्य० ५।७।२२), तथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छा० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियाँ चिदचिदात्मक (जड़ चेतनात्मक) जगत् को ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को उनका आत्मा प्रतिपादन करती हैं। जैसे प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) अपने शरीर के प्रति आत्मा होने से 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देव हूँ' इस प्रकार अनुसन्धान करता है, वैसे परमात्मा भी आत्माओं का आत्मा है। अतः, उपासक (जीव) अपने शरीरी उपास्य (ब्रह्म) के लिये 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा अनुसन्धान कर सकता है। यद्यपि जीवात्मा का शरीर जड़ है, इससे यह अनुसन्धान नहीं करता कि मैं जीवात्मा हूँ, तथापि यहाँ प्रत्यगात्मा तो चेतन है। अतः, यह अपने शरीरी ब्रह्म के प्रति 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुसन्धान कर सकता है, यथा—त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते। अहं वै त्वमसि भगवो देवते।" इस श्रुति का अर्थ है कि हे भगवन्! हे दिव्य गुण विशिष्ट! मैं आप हूँ और आप मैं हैं···। यह अनुसन्धान प्रीति के प्रणय भाव में होता है। "मम तव, तव मम प्रणय यह।" कहा है, यथा—"तोर कोस गृह मोर सब" (लं० दो० ११५)। इस प्रकार की प्रणयात्मक उपासना से जीव में ब्रह्म के साधर्म्य (लक्षण) आ जाते हैं, यथा—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागतः।" (गीता १४।२), साधर्म्य के आठ लक्षण हैं, यथा—"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्य कामः सत्य सङ्कल्पः ॥" (छा० ८।१।५), अर्थात् यह आत्मा निष्पाप, वृद्धतारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। ये आठो लक्षण ब्रह्म में नित्य रहते हैं और जीव में इसके मुक्त होने पर नित्य धाम में प्राप्त होते हैं तो यह भी ब्रह्म संज्ञा से कहा जाता है। यही बात अगली अर्द्धाली के—'भगत-उर-चंदन' विशेषण से घटित है।

जैसे चन्दन वृक्ष अपने तटस्थ वृक्षों को वायु-द्वारा अपना गन्ध-गुण पहुँचा कर चन्दन बना देता है, उन-उन वृक्षों के आकार-पत्ते आदि वही (पूर्व नामवाले वृक्षों के ही) रहते हैं। वे चन्दन के गन्ध-गुण-प्राधान्य से चन्दन कहाते हैं। इस तरह आम, नीम, बबूल आदि भी चन्दन कहे जाते हैं। वैसे ही श्रीरामजी उपासकों—अर्थात् समीप रहकर प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवालों को – अनुग्रह-रूपी वायु से उपर्युक्त गुण देकर ब्रह्म संज्ञा भी प्राप्त कराते हैं। 'तुम्हरिहि कृपा···जानहिं भगत ···', यथा—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु ? स्वाम्।" (कठो० १।२।२३), अर्थात् यह परमात्मा जिस जीव को अपना मानकर (कृपा द्वारा) स्वयं वरण करता है, उसीको प्राप्त होता है। उसीको यह अपना स्वरूप प्रकाशित करता है। कृपा भक्ति से होती है, यथा—"मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० १९९), इसीसे कहा है—"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥" (गीता १८।५५), अर्थात् भक्ति के द्वारा वह मुझको, मैं जैसा और जो हूँ, तत्त्व से जान लेता है। तब मुझको तत्त्व से जानकर उसके पश्चात् वह (मुझमें ही) प्रवेश कर जाता है, तथा—"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥" (गीता ११।५४), अर्थात् अनन्य भक्ति से ही मैं इस भाँति तत्त्व से जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त—'त्वं वा अहमस्मि'···' की रीति से प्रणय द्वारा तादात्म्य-भाव प्राप्त होने पर—'अहं ब्रह्मास्मि' का भी अनुसन्धान होता है और मुक्त होने पर साधर्म्य प्राप्त जीव की ब्रह्म-संज्ञा भी होती है। पर उपर्युक्त रीति से उसमें जीव-भाव रहता ही है। जैसे चन्दन से हुए वृक्षों का रूप कह आये। अतः, जीव और ब्रह्म दो पदार्थ हैं और इनका भेद वास्तविक है। जैसे कि ज्ञान की पराकाष्ठा सूर्य हैं, यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६), "ज्ञान भानुगत" (उ० दो० १२०), उन सूर्य रूप जीव का भी आत्मा एवं प्रेरक ब्रह्म कहा गया है, यथा—"यस्यादित्यः शरीरम्" (बृह० ३।७।९)। अतः, भेद है ही।

सम्बन्ध—श्रीरामजी की कृपा से भक्त लोग उन्हें किस तरह जानते हैं, यही आगे कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगतबिकार जान अधिकारी॥५॥
नरतनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥६॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥७॥
तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥८॥

अर्थ—आपकी देह सच्चिदानन्दमय है, विकार-रहित है। इसे अधिकारी ही जानते हैं॥५॥ आपने सन्तों और देवताओं के कार्य करने के लिये मनुष्य-शरीर धारण किया है और प्राकृत (पाञ्चभौतिक देहधारी) राजाओं की तरह आप कहते और करते हैं॥६॥ हे श्रीरामजी! आपके चरितों को देख और सुनकर मूर्ख (आसुरी सम्पत्तिवाले) मोहते हैं और बुद्धिमान् (दैवी सम्पत्तिवाले) सुखी होते हैं॥७॥ आप जो कहते हैं और करते हैं, वह सब सत्य ही (यथार्थ ही) है, क्योंकि "जैसा काछ काछै वैसा नाच नाचै" (यह कहावत है, नर-शरीर धारणकर ऐसा ही कहना और करना चाहिये)॥८॥

विशेष—(१) 'चिदानंदमय देह तुम्हारी।'—ब्रह्म विग्रह (देह) सहित सच्चिदानन्द स्वरूप है, यथा—"विरराम महातेजः सच्चिदानन्दविग्रहः॥" (श्रीरामस्तवराज), "सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥" (वाराहपुराण), "अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।" (भाग० १०।१४।२) अर्थात् हे देव! मुझपर अनुग्रह करके जो

आपने शरीर प्रकट किया है, यह आपकी चिन्मयी इच्छा का मूर्तिमान् स्वरूप है, पञ्चभूतमय नहीं है। और जीव केवल स्वरूप से सच्चिदानन्द रूप है। 'विकार'—जन्म, जरा, मरण एवं षड्विकार, आदि। 'अधिकारी'—आगे के चौदह-स्थान सम्पन्न अथवा, आपके कृपापात्र—'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि ' जानहिं···' ऊपर कहा ही गया, यथा—"कही संभु अधिकारी पाई।" (बा० दो० ४७), अनधिकारी नहीं जानते, यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गीता ९।११)।

(२) 'नरतनु धरेहु संत-सुर··', यथा—"इच्छा-मय नर-बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा० दो० १५१), अर्थात् श्रीरामजी अपने नित्य किशोर रूप में इच्छानुसार बाल, पौगंड आदि अवस्थाएँ धारण करते और तदनुसार लीला करते हैं।

(३) 'राम देखि सुनि चरित···'—चरित एक ही है, पर उसीमें जड़ मोहित होते और बुध (पंडित) सुखी होते हैं। जैसे कि एक ही जगत् को लोभी धनमय, कामी नारिमय और ज्ञानी ब्रह्ममय देखते हैं। अन्यत्र कहा भी है, यथा—"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥" (उ० दो० ७३), तथा—"उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धरम रति॥" (अर० दो० १), इत्यादि।

दोहा—पूछेहु मोहि कि करउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥१२७॥

सुनि मुनिबचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसकाने॥१॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअरस बोरी॥२॥

अर्थ—आपने मुझसे पूछा कि 'मैं कहाँ रहूँ' और मैं यह पूछते हुए सकुचता हूँ कि आप जहाँ न हों वह स्थान बता दें तो मैं आपके लिये वही स्थान दिखा दूँ॥१२७॥ इस प्रकार प्रेमरस में साने हुए मुनि के बचन सुनकर श्रीरामजी सकुचकर मन में हँसे॥१॥ वाल्मीकिजी हँसकर अमृत रस में डूबी हुई मीठी वाणी फिर बोले॥२॥

विशेष—(१) 'पूछेहु मोहि कि···'—'सकुचाउँ', क्योंकि ऐसा करने में आपकी बराबरी होती है, प्रतिवादी बनता हूँ। 'जहँ न होहु' अर्थात् आप सर्वत्र ही तो हैं। 'सकुचि राम मन ··'—क्योंकि आप ऐश्वर्य गुप्त रखते हुए लीला करना चाहते हैं, मन में मुस्कुराकर अपनी प्रसन्नता जनाते हैं। अपनी बड़ाई सुनकर सकुचना आपका स्वभाव है, यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बर्नत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४)। कहा भी है—"प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः। ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम्॥" (भाग० ४।१५।२५), अर्थात् जैसे लज्जावान् उदार पुरुष अपने पुरुषार्थ की चर्चा को बुरा समझते हैं, वैसे ही लोकप्रसिद्ध समर्थ पुरुष अपनी स्तुति को बुरी समझते है।

(२) 'बालमीकि हँसि···'—मुनि हँसे कि मुझे अभी स्मरण हो आया कि जहाँ-जहाँ आप नहीं हैं, उन-उन स्थानों को गिनाता हूँ, क्योंकि यदि आप वहाँ होते, तो वे सब तरसते क्यों? वाणी प्रेमपूर्ण है, अतएव, उसे अमृत-रस से बोरी हुई कहा है, क्योंकि प्रेम ही अमृत है, यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह···" (दो० २३८)।

चौदह-स्थान-प्रदर्शन

सुनहु राम अब कहहुँ निकेता । जहाँ बसहु सिय-लखन-समेता ॥३॥
जिन्हके श्रवन - समुद्र-समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥४॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे । तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे ॥५॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! सुनिये, अब मैं स्थान बतलाता हूँ, जहाँ, आप श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ निवास करें ॥३॥ जिनके कान समुद्र के समान हैं और आपकी नाना प्रकार की कथारूपिणी अनेक सुन्दर नदियों से निरन्तर (अहर्निश) भरते ही रहते हैं, पर पूरे नहीं होते, अर्थात् बराबर श्रद्धा बनी ही रहती है, उनके हृदय आपके रहने के लिये सुन्दर घर हैं ॥४-५॥

विशेष—(१) यहाँ से १४ स्थान कहे जा रहे हैं, ये १४ प्रकार के भक्ति के अंग हैं। पहले ही—'जहाँ बसहु सिय-लखन समेता ।' कह दिया है। इसके अनुरोध से सर्वत्र आगे तीनो को ही समझना चाहिये, आगे प्रत्येक स्थान में छन्दानुरोध से कहीं एक और कहीं दो ही नाम देंगे। भक्ति के वर्णन में प्रथम नवधा है, यथा—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥" (भाग० ७।५।२३), इसमें प्रथम श्रवणभक्ति है, वाल्मीकिजी भी प्रथम इसीको कहते हैं।

(२) 'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना ।···'—पहले 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से व्यापक रूप से श्रीरामजी का सर्वत्र रहना कहा था, किन्तु उससे आश्रितों को लाभ नहीं होता, यथा—"व्यापक एक··· अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ॥" (बा० दो० २२), यहाँ से अब भक्तों को सुख देनेवाले माधुर्य रूप से तीनों मूर्त्तियों के बसने के लिये स्थान कहते हैं। कान समुद्र के समान सदा अतृप्त रहते हैं, कथाएँ बड़ी-बड़ी नदियों के समान हैं, जो समुद्र तक गई हैं। यद्यपि—'रामायन सतकोटि अपारा' सुनते हैं, तथापि तृप्त नहीं होते। 'श्रवन समुद्र समाना', यथा—"पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना । पर अघ सुनइ सहस दस काना ॥" (बा० दो० ३)—इसका विशेष देखिये। 'कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ।', यथा—"हरि अनंत हरि कथा अनंता । कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ॥" (बा० दो० १३९), "कीरति सरित छहूँ रितु रूरी ।" (बा० दो० ४१), 'सुभग'—कर्मनाशा आदि सुभग नहीं होतीं, वैसे बहुत-सी तमोगुणी देवों की कथाएँ भी सुभग नहीं होतीं। 'भरहिं निरंतर···'—प्रातःकाल से दोपहर तक, यथा—"प्रातकाल··· बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं । सुनहिं राम···" (उ० दो० २५), दोपहर से सन्ध्या तक, यथा—"करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी । लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥ बिगत दिवस···" (बा० दो० २३६), फिर सन्ध्या से आधी रात तक, यथा—"कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥" (बा० दो० २२५)। उनका ही हृदय सुन्दर घर है। 'गृह रूरे'—वहाँ आपके लिये सब तरह के पदार्थों से सुपास है। यह प्रथम स्थान हुआ।

लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाखे ॥६॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी । रूपबिंदु जल होहिं सुखारी ॥७॥
तिन्हके हृदय-सदन सुखदायक । बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥८॥

दोहा—जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुनगन चुनइ, राम बसहु हिय तासु ॥१२८॥

अर्थ—जिन्होंने अपने नेत्रों को पपीहा बना रक्खा है, आपके दर्शन-रूपी मेघों के अभिलषित रहते हैं ॥६॥ भारी नदियों, सागरों और तालाबों (के जल) का निरादर करते हैं और आपके दर्शनरूपी बूँदभर (स्वाती) जल से ही सुखी हो जाते हैं ॥७॥ उनके हृदय सुखदायक घर हैं। उनमें, हे रघुनायक ! आप भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ निवास कीजिये ॥८॥ जिसकी जिह्वा आपके यशरूपी निर्मल मानस-सरोवर में हंसिनी-रूपिणी होकर (आपके) गुण-गण-रूपी मोतियों को चुगती है, हे श्रीरामजी आप उसके हृदय में निवास करें ॥१२८॥

विशेष—(१) 'लोचन चातक जिन्ह करि···'—चातक की अनन्यता, यथा—'आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधिं द्विज। सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा ॥ तृपितो म्रियते वापि याचते वा पयोधरम्।" (पद्मपुराण, पातालखंड अ० ५१) तथा—"एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास। एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥···" से "एक अंग जो सनेहता, निसि दिन चातक नेह···" (दोहावली २७७-३१३) तक। अर्थात् वह गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र नदियों और मानस-सर आदि पवित्र तालाबों और सातों समुद्रों तक के जल का निरादर करके शरदऋतु के स्वाती नक्षत्र के जल का बूँद-मात्र ग्रहण करता है। वैसे आपके अनन्य भक्त निर्गुण ब्रह्मरूपी सिन्धु, ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्तिरूपी भारी-भारी नदियों और सब धर्मरूपी तालाबों का निरादर कर आपके अहर्निश दर्शनरूपी स्वाती की झड़ी के अभिलाषी रहते हैं, क्षणिक दर्शनरूपी एक बूँद भी पाकर सुखी हो जाते हैं। उदाहरण, सरित—"रिधि-सिधि संपति नदी सुहाई।" (दो० १), सिंधु—"जो आनंद-सिंधु सुखरासी।" (बा० दो० १९६), "आनँद सिंधु मध्य तव बासा ॥ बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥" (वि० १३६), अन्य भगवद्रूप सगुण ब्रह्म श्रीरामजी की अवस्था मात्र हैं और सब देवता अंग हैं। साधक की यह दृष्टि रहने से वे अनन्यता के बाधक नहीं होते।) 'सर'—"धरम तड़ाग ···" (उ० दो० ३०)।

अनन्य भक्तों ने इन्हें त्यागा भी है, यथा—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ ॥" (दो० १८५), तथा पूर्वोक्त—"रिधिसिधि संपति नदी···", "सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद निहारी ॥" (दो० १) पर कहा गया कि ऋद्धि आदि की उपेक्षा करके पुरवासी केवल रामसुख-चन्द्र के दर्शनों पर ही सुखी हैं, यह ऋद्धि-सिद्धि सम्पत्ति-रूपिणी नदियों का त्यागना है। "इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥" (बा० दो० २१५), यह निर्गुण ब्रह्म का त्यागना है। "सो सुख धरम करम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद पंकज भाऊ ॥" (दो० २९०), यह सब धर्मरूपी तालाब का त्यागना है, तथा—"रामचरन बारिज जब देखेउँ। तब निज जनम सफल करि लेखउँ ॥" (उ० दो० १०९), "श्रवननि और कथा नहिं सुनिहउँ·····रोकिहउँ नयन बिलोकत आनहिं···" (वि० १०४)।

यहाँ नेत्र-इन्द्रिय को भक्ति में लगाने की रूपासक्ति कही गई। यह दूसरा स्थान कहा गया।

(२) 'जस तुम्हार मानस बिमल·····'—यश मानस-सर है, जिह्वा हंसिनी है, उदारता, सुशीलता, धीरता, कृपालुता आदि गुण मोती के समूह हैं, गान, कीर्त्तन आदि चुगना हैं, यद्यपि यशरूपी मानस में गुण-गण मोती के अतिरिक्त और भी पदार्थ, नीति-धर्म आदि की भी बहुत बातें रहती हैं, तथापि अनन्य भक्त लोग गुण-गण-रूपी मोतियों को ही ग्रहण करते हैं। मोती चुगने में हंसिनी को स्वाद का आनन्द भी मिलता रहता है, वैसे ही इनकी जिह्वा गुण-गणों में, विविध प्रकार के गुणों के अनुभव में आनन्द अनुभव करती रहती है, यथा—"कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।" (गीता १०।९), "प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयनन्हि ढरिहै।" (वि० २६८), "कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।" (बा० दो० ४०)। 'मुकुताहल', यथा—"बिथुरे नभ मुकुताहल तारा।" (लं० दो० ११), यहाँ वाणी का लगना एवं कीर्त्तन भक्ति है। यह तीसरा स्थान हुआ।

प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा ॥१॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु-प्रसाद पट-भूषन धरहीं ॥२॥
सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी। प्रीतिसहित करि बिनय बिसेखी ॥३॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा ॥४॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥४॥

अर्थ—जिनकी नाक नित्य आदर के साथ आपकी प्रसादित पवित्र-सुन्दर-सुगन्ध (फूल, तुलसी, अतर आदि) सूँघती है ॥१॥ जो आपको अर्पण किया हुआ भोजन करते हैं और आपके प्रसाद वस्त्र और भूषण धारण करते हैं ॥२॥ जो देवता, गुरु और ब्राह्मण को देखकर सिर नवाते और प्रीति के साथ बहुत विनती करते हैं ॥३॥ जो अपने हाथों से नित्य श्रीरामजी के चरणों की पूजा करते हैं, श्रीरामजी का ही भरोसा जिनके हृदय में है, दूसरा नहीं ॥४॥ जो श्रीरामजी के तीर्थों में पैरों से चलकर जाते हैं, हे श्रीरामजी ! आप उनके हृदय में निवास करें ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ अर्चनभक्ति है, नासिका, मुख, रसना, त्वचा, सिर, मन, हाथ और चरण—इन आठो अंगों से अर्चन-विधि कही गई है। 'सीस नवहि'—कर्म, 'प्रीतिसहित'—मन, 'करि बिनय'—बचन से सुर, गुरु और द्विज की भक्ति कही गई है।

'प्रभु प्रसाद···', यथा—"त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥" (भाग० ११।६।४६), अर्थात् आपकी भोगी हुई माला, चन्दन, वस्त्र और अलङ्कारों को धारण करने तथा आपका उच्छिष्ट (जूठन) भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी माया को जीत लेंगे। 'सादर' यथा—"राम प्रसाद माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥" (वि० १७०), यह नहीं कि पुजारी माला प्रसाद देने को खड़ा है, बाबू साहब उधर देखते ही नहीं। निरादर का फल इन्द्र को मिला था। दुर्वासाजी ने माला प्रसाद दिया और इन्द्र ने अपने हाथी ऐरावत को पहना दिया और उसने सूँड़ से गिराकर पाँव से माला को कुचल दिया, यह देख दुर्वासा ने उसे भ्रष्ट-श्री होने का शाप दिया।—यह कथा वि० पु० १।९ में है। 'तुम्हहिं निवेदित भोजन···', यथा—"तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं उबरी जूठनि खाऊँगो।" (गी० मं० ३०), "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।" (गीता ३।१३)।

यहाँ पर वाल्मीकिजी श्रीरामजी से ही कह रहे हैं, फिर—'कर नित करहिं राउरि पद-पूजा' न कहकर 'राम-पद पूजा' कहा है। यह व्यंग्य से प्रार्थना है और ऊपर से माधुर्य-रक्षा भी है कि परमात्मा रामजी के पद की पूजा करते हैं, उनके हृदय में आप दाशरथी राम ही बसें, क्योंकि वे राम ही के लिये तरस रहे हैं। ऊपर कहा था—'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' को लेने से व्यंग्यार्थ स्पष्ट हो जाता है।

श्रीभरद्वाजजी ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा था—"एक राम अवधेस कुमारा।·····प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।" (बा० दो० ४५-४६) उसका उत्तर भी दक्षिण-घाट के वक्ता याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी के गुरु (वाल्मीकिजी) के ही मुख से दाशरथी राम और परमात्मा राम की एकता कहलवाते हैं। जिस रूप का नैष्ठिक होता है, उसीकी प्राप्ति पर उसे सन्तोष होता है, अन्यथा उद्वेग हो जाता है, यथा—"हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥ मुनि अकुलाइ उठा···" (अर० दो० ९), यहाँ परब्रह्म राम की उपासना कह फिर दाशरथी राम का निवास करना कहने में दोनों की एकता-सिद्धि है।

(२) 'रामभरोस हृदय·····', यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५), "हरिजन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५)।

(३) 'चरन राम तीरथ चलि जाहीं', यथा—"चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।

राम-सीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे ॥" (वि० १७०), यह चौथा स्थान कहा गया।

श्री अम्बरीषजी इसी प्रकार करते थे, यथा—"स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने। करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥ मुकुन्दलिङ्गालय दर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्। घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने। कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥" (भाग० ९।४।१८-२०)। ठीक ऐसा ही वर्णन स्कन्द पु० वैष्णव० वै० मा० १६।२४--२८ में भी है।

मंत्रराज नित जपहि तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा ॥६॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना ॥७॥
तुम्ह ते अधिक गुरुहि जिय जानी। सकल भाय सेवहि सनमानी ॥८॥

दोहा—सब करि माँगहि एक फल, राम-चरन-रति होउ।
तिन्हके मन-मंदिर बसहु, सिय-रघुनंदन दोउ ॥१२९॥

अर्थ--जो आपके मन्त्र-राज (श्रीराम षडक्षर तारक मन्त्र) को नित्य जपते हैं, और आपको परिवार के साथ पूजते हैं ॥५॥ अनेक प्रकार से तर्पण और हवन करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराते और बहुत दान देते हैं ॥७॥ गुरु को आप से अधिक जी से जानकर सम्मान-पूर्वक सर्व भाव से उनकी सेवा करते हैं ॥८॥ यह सब करके (इन सबका) जो एक फल माँगते हैं कि श्रीरामजी के चरणों में मेरी प्रीति हो, उनके मन रूपी मन्दिर में रघुकुल को आनन्द देनेवाले आप दोनों भाई और श्रीसीताजी निवास करें ॥१२९॥

विशेष—(१) 'मंत्रराज नित जपहिं·····'—यह मन्त्राराधन नवधाभक्ति में पाँचवीं भक्ति है, यथा—"मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥" (अर० दो० ३१), 'मंत्र-राज' षडक्षर राम-मन्त्र को कहते हैं, इसे नित्य-नियम से जपते हैं। 'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा'—यहाँ मन्त्र जाप के साथ मन्त्रार्थानुसार परिवार पूजन अभिप्रेत है। इसका विधान रामतापनीय उपनिषत्, रामार्चन चन्द्रिका, अगस्त्य संहिता एवं रामार्चा पूजा आदि में है। श्रीरामजी के परिवार, उनके परिकर और आवरण देवता हैं। ऊपर प्रतिमा रूप में पूजन कहा था।

(२) 'तरपन होम···बिप्र जेंवाइ···'—मन्त्र जाप कहा था, उसको यज्ञ भी कहा जाता है, यथा—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।" (गीता १०।२५), यज्ञ करके तर्पण, हवन, ब्राह्मण भोजन और दक्षिणा देना, विधि है। अतएव इन्हें भी कहा है। यहाँ अनुष्ठान-पूर्वक मन्त्र जाप कहा है।

(३) 'तुम्हते अधिक गुरुहिं जिय·····'—गुरु को श्रीरामजी से अधिक महत्त्व देना कहा है, क्योंकि गुरुजी की कृपा से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है, यथा—"गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ। बलिहारी उन गुरुन की गोविंद दियो लखाय ॥" यह प्रसिद्ध है। तथा—"गुरु बिनु भव-निधि तरै न कोई। जौ बिरंचि संकर सम होई ॥" (उ० दो० ९२)—इसका विशेष भी देखिये। गुरु से यहाँ शरणागति के दीक्षागुरु से तात्पर्य है। यह पाँचवाँ स्थान है। महा० आश्व० ५३-५६ में उत्तङ्क मुनि की कथा प्रसिद्ध है। उन्होंने केवल गुरु-भक्ति से ही महान् तपस्या का फल प्राप्त किया है, जिससे वे भगवान् कृष्ण को भी शाप देने में समर्थ हुए थे। उनकी गुरु-भक्ति, यथा—"उत्तङ्को महता युक्तस्तपसा जनमेजय। गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत्किञ्चिदपूजयत् ॥ सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः। औत्तङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत।" (५६।२-३), अर्थात् उत्तंक महातपोनिष्ठ थे, वे केवल गुरुजी को पूजा करते थे और किसीकी भी नहीं। और ऋषिपुत्र-गण उत्तंक की गुरुभक्ति देखकर ऐसा चाहते थे कि हमें भी वैसी गुरुभक्ति प्राप्त हो—महा० शान्ति० १०८।२६-२८ में भी ऐसी ही गुरुभक्ति कही गई है।

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥१॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥२॥
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख-सुख-सरिस प्रसंसा - गारी ॥३॥
कहहिं सत्य प्रियबचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥४॥
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥५॥

अर्थ—जिनके (हृदय में) काम, क्रोध, मद, मान और मोह नहीं हैं, तथा न लोभ, न क्षोभ, न राग और न द्रोह हैं ॥१॥ तथा कपट, दम्भ और माया नहीं हैं, हे रघुराय! आप उनके हृदय मे बसें ॥२॥ जो सबके प्रिय हैं, और सबका भला करते हैं, जिनको दुःख और सुख, प्रशंसा और गाली एक समान हैं ॥३॥ जो विचार कर प्रिय सत्य वचन बोलते हैं और जागते-सोते आपकी शरण हैं ॥४॥ आपको छोड़कर जिन्हें दूसरी गति नहीं है, हे श्रीरामजी! उनके मन में निवास कीजिये ॥५॥

विशेष—(१) 'काम कोह मद मान···'—अब हृदय-शुद्धि कहते हैं—कामादि नरक देनेवाले हैं, यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥" (गीता० १६।२१), "काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ ॥" (मु० दो० ३८)। अतः, इन्हें त्यागा है, अर्थात् कोई कामना एवं स्त्री की अभिलाषा नहीं है, कोई कैसा भी अपराध करे, तब भी क्रोध नहीं होता। जाति-विद्या, धन आदि का मद नहीं है, लोक-प्रतिष्ठा की चाह नहीं और न किसीका मोह है। न धन का लोभ, न व्यग्रता, न सांसारिक प्रेम और न किसीसे द्रोह है।

(२) 'कपट दंभ नहिं माया'—भीतर कुछ बाहर कुछ यह कपट है, बाहर साधु-वेष का आडम्बर बनाकर लोगों को ठगना एवं आत्मश्लाघा की चाह दम्भ है। छल की बातों से किसीको वश करना माया है। यह छठा स्थान हुआ, यहाँ ज्ञानवृत्ति है।

(३) 'सबके प्रिय सबके हित···'—सबके हित करने से सबके प्रिय हैं। 'दुख-सुख-सरिस···' अर्थात् ये धीर हैं, यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहि मन माँहीं ॥" (दो० १४९), "सम दुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥" (गीता १४।२४), अर्थात् जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित हो दुःख-सुख को समान समझता है, मिट्टी, पत्थर और सोने में समान भाव रखता है, धैर्यवान्, प्रिय-अप्रिय को सम समझता है तथा अपनी निन्दा और स्तुति में समान भाववाला है (वह गुणातीत है)।

(४) कहहिं सत्य प्रिय···'—सत्य प्रायः कठोर होता है, उसे प्रिय बनाकर लोग कहते हैं, यथा—"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।" (दो० ५२), वनवास दिया जाना सत्य था, पर माता को अप्रिय होता, उसे राज्य का रूप देकर कहा, तथा—"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥" (गीता १७।१५)। प्रिय वाद में भी कभी मिथ्या कहा जाता है, इसलिये विचारकर सत्य ही कहना कहा गया, यथा—"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (मनु० ४।१३८), अर्थात् सत्य बोलना और प्रिय बोलना चाहिये। ऐसा सत्य न बोलना चाहिये, जो अप्रिय हो, तथा ऐसा प्रिय भी न बोलना चाहिये जो असत्य हो, यह सनातन धर्म है।

(५) 'जागत सोवत सरन···'—अर्थात् हर अवस्था में प्रभु के रक्षकत्व का विश्वास है।

'तुम्हहिं छाड़ि गति···', यथा—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करें निःकाम।" (अर० दो० १६), अर्थात् मन आदि तीनों से मुझमें निरत रहते हैं, दूसरे का भरोसा नहीं। यह सातवाँ स्थान हुआ, यहाँ अनन्य गतिवृत्ति है।

जननी - सम जानहिं पर - नारी। धन पराव बिष ते बिष भारी ॥६॥
जे हरषहिं परसंपति देखी। दुखित होहिं परबिपति बिसेखी ॥७॥
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान-पियारे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥८॥

दोहा—स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात ॥१३०॥

अर्थ—परायी स्त्री को जो माता के समान मानते हैं, जिनकी दृष्टि में दूसरे का धन विष से भी भारी विष हैं ॥६॥ जो दूसरे की सम्पत्ति देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरे की विपत्ति पर विशेष दुखी होते हैं ॥७॥ हे श्रीरामजी ! जिन्हें आप प्राणों से भी अधिक प्रिय हों, उनके मन आपके लिये शुभ भवन हैं ॥८॥ हे तात ! जिनके आप ही स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु सब कुछ हैं, उनके मन-रूपी मन्दिर में श्रीसीताजी के साथ आप दोनों भाई निवास करें ॥१३०॥

विशेष—(१) 'जननी-सम जानहिं ···'—माया दो प्रकार की कही जाती है—१. चेतन-माया, यथा—"माया रूपी नारि" (अर० दो० ४३) और २. जड़-माया, द्रव्य, आदि। अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध में चेतन-माया से वैराग्य और उत्तरार्द्ध में जड़-माया से त्याग-वृत्ति कही गई है। 'जे हरषहिं पर···', यथा—"पर दुख दुखी, सुखी पर सुख ते, संत सील नहि हृदय धरौं।" (वि० १४१), "संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता।·····पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।" (उ० दो० ३७)। यह सब सन्तवृत्ति है और आठवाँ स्थान है।

(२) 'स्वामि सखा पितु···'—स्वामी पालक, सखा सहायक एवं विश्वासी, यथा—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा ॥" (अर० दो० १५), "त्वमेव माता च पिता त्वमेव·· " यह प्रसिद्ध है, तथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा···सबकै ममता ताग···" (सुं० दो० ४७, श्रीलक्ष्मणजी ने कर दिखाया है, यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।·" (दो० ७१)। यह नवाँ स्थान है, यहाँ आत्मनिवेदन भक्ति है (क० उ० ११० भी देखिये)।

'जे हरषहिं परसंपति···'—इसमें गुण से गुण मानने में उल्लास-अलंकार का पहला भेद है। पुनः 'दुखित होहि पर बिपति बिसेखी।' में दोष से दोष मानने में उसीका चौथा भेद है।

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। बिप्र - धेनु - हित संकट सहहीं ॥१॥
नीतिनिपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्हकर मन नीका ॥२॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥३॥
रामभगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥४॥

अर्थ—जो सबके अवगुणों को छोड़कर गुणों को ही ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गौ के हित के लिये संकट सहते हैं ॥१॥ नीति में निपुण होने की जिनकी जगत् में ख्याति (नाम) है, उनके अच्छे मन आपके लिये अच्छे घर हैं ॥२॥ जो आपके गुणों को और अपने दोषों को समझते हैं, अर्थात् जो कुछ मुझसे अच्छा बनता है, वह श्रीरामजी की प्रेरणा से और जो बिगड़ता है, वह मेरे प्राकृतिक दोषों से ही है। जिसको सब प्रकार से आपका ही भरोसा है (कि श्रीरामजी हमारा भला ही करेंगे) ॥३॥ राम-भक्त जिसको प्यारे लगते हैं, उसके हृदय में (आप) वैदेहीजी के साथ निवास करें ॥४॥

विशेष—(१) 'अवगुन तजि सबके गुन···', यथा—"सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि

बिकार।" (बा० दो० ६), "मधुकर सरिस संत गुनग्राही।" (बा० दो० ९), तथा—"देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥" (दो० २९८), "उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति···" (लं० दो० ४३)।

'नीतिनिपुन'—यथा—"अति नय निपुन न भाव अनीती।" (सु० दो० ४५)।

'जग लीका'—अर्थात् उनकी बाँधी हुई उत्तम नीति आज तक जगत् में प्रचलित है, जैसे मनु महाराज की स्मृति से उनकी लीक स्थिर है। यह दसवाँ स्थान है, यहाँ तितिक्षा-वृत्ति है, इसके धर्म विशेषकर क्षत्रियों में घटित हैं।

(२) 'गुन तुम्हार समुझइ निज ·'—यथा—"तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी जो निज करतूत।" (दोहावली ८८), "निज दूषन गुन राम के, समुझे तुलसीदास। होइ भलो कलिकालहूँ, उभय लोक अनयास॥" (दोहावली ७७), निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझे···" (वि० २३८)। "कोटिहुँ मुख कहि जाहिं न प्रभु के एक-एक उपकार।" (वि० १०२), तथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥" (अ० दो० १३०), एवं वि० १५८, १५९ में अपने अवगुण और वि० १७१ में अपने अवगुणों पर भी स्वामी के गुण देखिये। तथा—निज दूषन गुन राम के, समुझे तुलसीदास। होय भलो कलिकाल हूँ, उभय लोक अनयास॥" (दोहावली ७७)। 'सब भाँति तुम्हार भरोसा'—आपकी कृपा का ही भरोसा है, यथा—"प्रनत पाल पालिहि सब काहू।···अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो।" (दो० ३१३)। 'राम भगत प्रिय लागहिं जेही।', यथा—"गृही बिरति रत हरष जस, बिष्नु भगत कहँ देखि।" (कि० दो० १३), "सन्त भगवंत अंतर निरंतर नहीं···" (वि० ५७), क्योंकि "तन्मयाः" (नारद भक्तिसूत्र ७०), अर्थात् सन्त भगवन्निष्ठ होने से भगवन्मय हैं। अतएव भगवान् में प्रीति करनेवाला सन्तों से भी प्रीति करेगा ही, यदि नहीं करता तो वह दम्भी है, यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजनो दाम्भिका जनाः॥" (रहस्यत्रय-हरिदास)।

यह ग्यारहवाँ स्थान है, इसमें कार्पण्य-वृत्ति है।

जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥५॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लव लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥६॥
सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु-बाना॥७॥
करम - बचन - मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥८॥

दोहा - जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह॥१३१॥

येहि बिधि मुनिबर भवन देखाये। बचन सप्रेम राम-मन भाये॥१॥

अर्थ—जो जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्रिय वर्ग, प्यारे परिवार और सुखदायक घर, इन सबको छोड़कर आप ही में लव लगाये हुए रहता है, हे रघुराई! उसके हृदय में आप रहें॥५-६॥ स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिनके लिये समान है, (क्योंकि वे) जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) आपको ही धनुष-बाण धारण किये हुए देखते हैं॥७॥ और कर्म, वचन और मन से आपके चेरे (सेवक) हैं, हे श्रीरामजी! उनके हृदय में (आप) निवास करें॥८॥ कभी भी जिसे कुछ नहीं चाहिये, जो आपसे स्वाभाविक स्नेह रखता है, उसके हृदय में निरन्तर निवास करें, वह (तो) आपका स्वकीय घर है॥१३१॥ इस प्रकार मुनि-श्रेष्ठ वाल्मीकिजी ने १४ स्थान-रूप भवन दिखाये, उनके प्रेम-युक्त वचन श्रीरामजी के मन को प्रिय लगे॥१॥

विशेष—(१) 'जाति पाँति धन धरम···'—ऊपर प्रवृत्ति-मार्गवाले कहे गये, अब निवृत्तिवाले कहे जाते हैं। 'जाति' की उच्चता, 'पाँति'—उच्चकुल में सहभोजाधिकार एवं धन आदि इन सबके अभिमान को त्यागकर श्रीरामजी (आप) में लय लगाये हुए रहते हैं, यथा—"मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥" (उ० दो० १०९), "मेरे जाति पाँति न चहउँ काहू की जाति पाँति···' (क० उ० १०७), "सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई। ये सब राम-भगति के बाधक।···" (कि० दो० ६)। कहा भी है—"जातिर्विद्यामहत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन परिवर्ज्या वै पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥"

यह बारहवाँ स्थान वैराग्य-वृत्ति का है।

(२) 'सरग नरक अपबरग···'—अर्थात् हर अवस्था में वे प्रभु ही को देख सुखी होते हैं—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहि हौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१), "तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही॥" (दो० २९०), 'जहँ तहँ देख धरे'—भक्तों की गाढ़ स्मृति होने पर भगवान् उनकी आँखों के सामने ही सर्वत्र दीखने लगते हैं। गोपिकाओं के वचन हैं—"साँवरे रंग में हौं तो रँगी हमरो जग साँवरो साँवरो सूझै।" तथा—"लगे रहत मेरे नैनन आगे रामलखन अरु सीता।" (गी० अ० ५३)। यह तेरहवाँ स्थान अनन्य-वृत्ति का है।

(३) 'जाहि न चाहिय कबहुँ···'—ये निष्काम प्रेमी हैं, यथा—"सकल कामना-हीन जे, राम-भगति-रस लीन।" (बा० दो० २२), 'सहज सनेह', यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय बिषयन्हि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥" (वि० २६८), "जो मन लागै राम चरन अस। देह-गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥" (वि० २०४), प्रह्लादजी ने इस स्नेह का हरि से वरदान माँगा है, यथा "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥" (वि० पु० १।२०।१९), अर्थात् अविवेकी पुरुषों की जिस प्रकार विषयों में अविचल प्रीति होती है, आपका स्मरण करते हुए वैसी ही प्रीति मेरे हृदय से कभी दूर न हो। एवं—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥" (दो० १४१)। ये केवल प्रभु ही को चाहते हैं, इसीसे वे यहाँ निरन्तर रहते हैं। 'येहि बिधि मुनिबर भवन देखाये।' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनहु राम अब कहउँ निकेता।" (दो० १२७) से हुआ है। यह चौदहवाँ स्थान निष्काम प्रेम का है।

(४) 'बचन सप्रेम राम-मन भाये'—श्रीरामजी प्रेम-प्रिय हैं, यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६)। अतः, उन्हें सप्रेम वचन प्रिय लगे। 'मन भाये'···श्रीरामजी ने मन-ही-मन उक्त स्थानों को स्वीकार किया कि हम अवश्य इनमें रहेंगे। मन ही से स्वीकार किया, क्योंकि ऐश्वर्य गुप्त रखना चाहते हैं।

मुनि ने १४ स्थान कहे, क्योंकि पहले 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से सर्वत्र व्यापकता कह आये थे, वैसे यहाँ कहा कि जैसे आप १४ भुवनों में रहते हैं, वैसे इन १४ स्थानों में भी रहें। वा, १४ वर्ष वन में रहना है। अतः, १४ ही स्थान कहे हैं।

कह मुनि सुनहु भानु-कुल-नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥२॥
चित्रकूट - गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥३॥
सैल सुहावन कानन चारू। करि-केहरि-मृग-बिहग बिहारू॥४॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप-बल आनी॥५॥

अर्थ—फिर मुनि ने कहा कि हे सूर्यकुल के स्वामी! सुनिये, अब मैं इस समय के अनुसार सुख-

दायक निवासस्थान कहता हूँ ॥२॥ आप चित्रकूट पर्वत पर (जाकर) निवास करें, वहाँ आपको सब तरह का सुपास (सुविधा) है ॥३॥ वह पर्वत सुहावना है और वन सुन्दर है, हाथी, सिंह, हरिण आदि पशुओं और पक्षियों का वह विहार स्थान है ॥४॥ वहाँ पवित्र नदी है, जिसकी पुराणों ने बड़ाई की है और जिसे अत्रि मुनि की प्रिय स्त्री अनसूयाजी अपनी तपस्या के बल से (पृथ्वी पर) लाई हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु-भानुकुल-नायक'—पहले ऐश्वर्य स्वरूप के कथन में 'राम' यह ऐश्वर्य-परक नाम कहा था, यथा—"सुनहुँ राम अब कहउँ निकेता।" (दो० १२७), अब माधुर्य स्वरूप के स्थान कथन में 'भानु-कुल-नायक' यह माधुर्य नाम दिया।

'समय सुखदायक'—इस समय आपने जो रूप धारण किया है, इसके योग्य, क्योंकि -"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (दो० १२६), कह ही चुके हैं।

(२) 'तहँ तुम्हार सब भाँति……', यथा—"इहाँ सकल रितु रहब सुखारी।" (दो० १३५)।

(३) 'सैल सुहावन कानन चारू।'—पर्वत सुन्दर है, हरे-हरे वृक्ष हैं और वे पल्लव, फूल और फल से सम्पन्न रहते हैं, यथा—"फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल, ललित-लता-जाल हरति छबि बितान की। मंदाकिनि तटिनि तीर, मंजुल मृग बिहँग भीर, धीर मुनि गिरा गँभीर सामगान की ॥१॥ मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर, जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की। सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ, जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की ॥२॥" (गी० अ० ४४)। गी० अ० ४६-४७ एवं ५० में चित्रकूट शोभा देखने योग्य है। 'करि केहरि मृग…'—इनके विहार से सैल-वन की रमणीयता है, मृगया आदि के लिये भी अच्छा है (इसकी शोभा आगे विस्तार से कहेंगे)।

(४) 'अत्रि-प्रिया निज तप……'—यह कथा अर० दो० ४ चौ० १ में कही जायगी।

सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक - पोतक-डाकिनि ॥६॥
अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तनु कसहीं ॥७॥
चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू ॥८॥

दोहा—चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाये सरित-बर, सिय समेत दोउ भाइ ॥१३२॥

शब्दार्थ—पोतक = बालक, कसही (सं० कर्षण) = कष्ट देना = क्लेश पहुँचाना।

अर्थ—गंगाजी की यह एक धारा है, मन्दाकिनी इसका नाम है, जो समस्त पाप-रूपी बालकों के खा डालने के लिये डाइन के समान है, अर्थात् यह दर्शन-स्नान करनेवालों के पापों को बिना श्रम ही जड़ से नाश कर देती है ॥६॥ अत्रि आदि बहुत-से श्रेष्ठ मुनि वहाँ बसते हैं, योग और जप-तप करते हैं और (इन साधनों से) शरीर को कसते हैं ॥७॥ हे श्रीरामजी चलिये, उन सबके परिश्रम को सफल कीजिये और गिरि-श्रेष्ठ चित्रकूट को गौरव (प्रतिष्ठा) दीजिये ॥८॥ महामुनि वाल्मीकिजी ने चित्रकूट की अमित महिमा को गा (बखान) कर कहा, तब दोनों भाइयों ने श्रीसीताजी के साथ यहाँ आकर श्रेष्ठ नदी में स्नान किया ॥१३२॥

विशेष—(१) 'सब पातक', यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं ॥" (दो० १६६)। पातक—गोहत्या, ब्रह्महत्या आदि, उपपातक—छोटे पाप जो साधारण व्यवहार में प्रायः हुआ करते हैं। बालक की उपमा का भाव यह कि वहाँ रहने पर अनवधानता में होनेवाले पापों को जन्मते ही नाश कर देती है, बढ़ने नहीं पाते, पुनः पूर्व के संचित पापों को बिना श्रम नाश करती है, यह भी भाव है।

'करहि जोग जप तप···'—योग से चंचल मन का निरोध, जप से वाणी की पवित्रता और तप से शरीर का शोधन करते हैं। इस प्रकार कायिक, वाचिक और मानसिक शोधन कर चुके हैं। अतः, उन्हें सफलता प्रदान करनी चाहिये।

(२) 'सफल श्रम सब कर करहू'—क्योंकि श्रीराम-दर्शन से ही साधन-सफलता है, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दर्सन पावा॥" (दो० २०९)। श्रीरामजी के ही सम्बन्ध से चित्रकूट को महान् गौरव मिला। आगे दो० १३७-१३८ देखिये। 'चलहु'—इससे सिद्ध है कि वाल्मीकिजी साथ-साथ आये हैं। 'राम देहु गौरव गिरिबरहू', यथा—"थप्यो थिर प्रभाउ जानकी नाह।···रस एक रहित गुन कर्म काल। सिय राम लखन पालक कृपाल॥" (वि० २३), "उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं तेते॥···श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥" (दो० १३७)।

(३) 'चित्रकूट-महिमा अमित·····', यथा—"सब सोच बिमोचन चित्रकूट।····· अब चित चेतु चित्रकूटहिं चल।···" (वि० २३-२४), "यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः॥" (वाल्मी० २।५४।३०), तथा—"ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते। मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम्। तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः। अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमांव्रजेत्॥" "कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥" "तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ। समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर॥" (महा० वन० ८५।५९-६४)। "चित्रकूटे जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले। विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्म्या निषेवते॥" (महा० अनुशा० २५।२९)। 'आइ नहाये···'—आकर श्रीमन्दाकिनीजी में स्नान किया। श्री वाल्मीकिजी चित्रकूट महिमा कहते हुए साथ ही आये हैं, इसी-से श्रीरामजी का मुनि से विदा होना, प्रणाम करना नहीं लिखा गया, वाल्मीकीय रामायण में चित्रकूट के ही एक भाग में वाल्मीकिजी का निवास-स्थान कहा गया है। श्री गोस्वामीजी भी वाल्मीकि रूप के आवेश से साथ हैं। अतः, 'आइ नहाये' कहा है।

'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन'-प्रकरण समाप्त।

'चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण

रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥१॥
लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥२॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलिसाउज नाना॥३॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥४॥
अस कहि लखन ठाँव देखरावा। थल बिलोकि रघुबर सुख पावा॥५॥

शब्दार्थ—ठाहर = ठहरने का स्थान। ठाट = प्रबन्ध, उपाय। करारा = ऊंचा किनारा। पनच = रोदा, प्रत्यंचा। मुठभेरी = भिड़कर, समीप से मुक्के की भिड़न्त (मार)।

अर्थ—रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि यह घाट अच्छा है, अब कहीं ठहरने का प्रबन्ध करो॥१॥ तब श्रीलक्ष्मणजी ने पयस्विनी नदी के उत्तर तट के करार को देखा कि एक नाला चारो ओर धनुष की तरह फिरा हुआ है॥२॥ नदी प्रत्यंचा रूप है और शम, दम, दान बाण हैं, कलियुग के समस्त पाप अनेक सौजा (शिकार पशु) हैं॥३॥ चित्रकूट गिरि मानों अचल शिकारी है, जो मुठभेरी मारता है, उसकी घात नहीं चूकती॥४॥ ऐसा कहकर श्रीलक्ष्मणजी ने वह स्थान दिखाया, उस स्थल को देखकर श्रीरामजी ने सुख पाया॥५॥

विशेष—(१) 'चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा'—धनुष जब कान तक खींचा जाता है, तब गोलाकार हो जाता है, वैसे ही यह नाला फिरा हुआ है। नदी की जलधारा ही प्रत्यंचा है। यहीं पर स्नान-दान आदि किये जाते हैं, जैसे रोदे से बाण चलाये जाते हैं। बाणों से शिकार मारे जाते हैं, यहाँ इन बाणों से पाप नष्ट होते हैं। 'पय उतर करारा।'—पयस्विनी नदी श्रीकामतानाथ पर्वत के दक्षिण भाग से प्रारम्भ मानी जाती है और एक मील ही पर राघव प्रयाग में मन्दाकिनी से मिली हुई है, वहाँ से आगे उस मिलित नदी का पयस्विनी ही नाम कहा जाता है। वहाँ के हिन्दी स्कूलों में यही नाम पढ़ाया जाता है। अतः, वहाँ के रामघाट आदि स्थल पयस्विनी के ही तट पर हैं (साधारण लोग तो उसे मन्दाकिनी ही कहते हैं)।

कलि के सब पाप नाश हो जाते हैं, तो और युगों के पाप तो सूक्ष्म ही होते हैं। 'चल' अहेरी थक भी जाता है, पर यह 'अचल' अहेरी है। अतः, थकता नहीं। अचल है, पाप-समूह-रूप शत्रुओं से चलायमान नहीं होता, यथा—"चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अति कोपी॥" (लं० दो० ८०), अन्य तीर्थ चल अहेरी हैं, क्योंकि वहाँ के शम, दम, दान आदि स्त्रीकटाक्ष आदि से चूक जाते हैं, पर यहाँ पहाड़-वन आदि उदासीन भूमि है। अतः, सहज ही मन शुद्ध रहता है, उपर्युक्त 'यावता चित्रकूटस्य·····' देखिये, तथा—"चित्रकूट अचल अहेरि बैठो घात मानो, पातक के ब्रात घोर सावज सँहारि है॥" (क० उ० १४२)।

ऊपर मन्दाकिनी को डाकिनी रूप से पातक-रूपी बालकों का खाना कहा गया, अर्थात् जो चित्रकूट में रहकर पाप-रूपी बालक पैदा होते हैं, उन्हें खा जाती है और यहाँ बाहर के किये हुए पापों को भी नाश करना जनाया कि दूर के पापों को भी श्रीचित्रकूटजी शिकार की तरह मार डालते हैं। वा, मन्दाकिनी जल द्वारा मानसिक पापों को और चित्रकूट कायिक पापों को नष्ट करते हैं।

रमेउ राम-मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर-थपतिप्रधाना॥६॥
कोल-किरात-बेष सब आये। रचे परन-तृन-सदन सुहाये॥७॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनिबेष जनु, रति-रितुराज-समेत॥१३३॥

अर्थ—देवताओं ने जब जाना कि श्रीरामजी का मन (यहाँ) रम (लग) गया तब वे देव-थवई (सं०-सुर-स्थपति अर्थात् स्थापत्यकला के आदि आचार्य, विश्वकर्मा आदि) और अपने प्रधान इन्द्र के साथ चले॥६॥ सब कोल-किरातों के वेष में आये। पत्तों और तृणों के रचकर सुन्दर घर बनाये॥७॥ सुन्दर दो निवास-स्थान ऐसे बनाये जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक सुन्दर छोटा-सा और दूसरा विशाल (बड़ा लम्बा, चौड़ा और ऊँचा)॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ सुन्दर पर्णकुटी में प्रभु विराजमान (होकर ऐसे) सोहते हैं कि मानों मुनि-वेष धारण कर कामदेव रति और वसन्त के साथ सोह रहा हो॥१३३॥

विशेष—(१) 'रमेउ राम-मन···'—यहाँ श्रीरामजी का मन रम गया। वे यहाँ रमण करना चाहते हैं, इसलिये वैसी रम्य कुटी भी चाहिये। अतः, देवता विश्वकर्मा और इन्द्र के साथ आये। जैसा कार्य करना वैसे ही कोल-किरात के रूपों में आये। देव रूप से आते, तो उनका कुटी बनाना श्रीरामजी के नर-नाट्य के विरुद्ध होता। पुनः साक्षात् देवता भूमि पर स्पर्श नहीं करते। इससे भी इस वेष में आये।

(२) 'एक ललित लघु एक···'—बड़ी पर्णशाला श्रीसीतारामजी के लिये और छोटी निकट में ही श्रीलक्ष्मणजी के लिये है। वा, बड़ी तीनों के लिये और छोटी रसोई घर है, तथा—"बिरचित तहँ पर्नसाल, अति बिचित्र लखन लाल, निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी ॥" (गी० अ० ४४), यहाँ रम्य स्थल कहा। आगे रमण करना कहते हैं। ऐसा ही महर्षिजी ने भी कहा है, यथा—"रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः।" (वाल्मी १।१।३१)।

(३) 'लखन-जानकी-सहित···'—भाव यह कि मुनि वेष पर भी सोहते हैं। जैसे कामदेव सहायकों के साथ होने पर जगत् को मोहता है। यहाँ तीनों उपमान-उपमेय में वर्ण की और रमण की समता है। काम विकारयुक्त होने से नहीं सोहता था, पर आज मुनि वेष में होने से सोहता है। 'निकेत' पद एक वचन है। अतः, एक ही पर्णशाला में तीनों हैं। यहाँ की क्रीड़ा का वर्णन—"फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल···" (गी० अ० ४४), इस पूरे पद में देखने योग्य है।

अमरनाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला ॥१॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू ॥२॥
बरसि सुमन कह देव-समाजू। नाथ सनाथ भये हम आजू ॥३॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाये। हरषित निज निज सदन सिधाये ॥४॥
चित्रकूट रघुनंदन छाये। समाचार सुनि सुनि मुनि आये ॥५॥

अर्थ—देवता, नाग, किंपुरुष, दिकपाल, उस समय श्रीचित्रकूट में आये ॥१॥ सब किसीने श्रीरामजी को प्रणाम किया। (क्योंकि ऐश्वर्य दृष्टि से दुःख सुनाने आये हैं) नेत्रों का लाभ पाकर देवतागण आनन्दित हुए ॥२॥ देव-समाज फूल बरसाकर कह रहा है कि हे नाथ! हम आज सनाथ हुए, अर्थात् अभी तक अनाथ की तरह भूखों मरते थे, राक्षसों से सताये जाते थे, अब यज्ञ भाग मिलेगा और राक्षसों से भी रक्षा होगी ॥३॥ विनती करके उन्होंने अपने-अपने दुस्सह दुःख सुनाये और प्रसन्न होकर अपने-अपने घर गये ॥४॥ श्रीरघुनाथजी चित्रकूट में छा कर रहे। (कुटी बनाकर स्थायी रूप में ठहरे), तब समाचार सुन-सुनकर मुनि लोग आये ॥५॥

विशेष—(१) 'अमरनाग किन्नर···'—देवताओं का आना ऊपर कोल-किरात रूप में कहा गया। अभी उनका जाना नहीं कहा गया, फिर दोबारा आना कैसा? उत्तर यह है कि पहले सेवा के योग्य शरीर धरकर आये। कुछ थोड़े से देवता आये थे और अब शेष भी प्रत्यक्ष रूप से समाज के साथ आये, क्योंकि सब मिलकर दुःख सुनावेंगे। प्रथम के कोल-किरात रूपवाले भी कार्य करके अपने रूप में विमानों पर समाज के साथ है।

सब आये, क्योंकि सभी रावण से सताये हुए हैं, यथा—"रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सब ही के पंथहिं लागा॥" (ब० दो० १८१), "दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।" (लं० दो० २७)।

(२) 'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।'—ये सब प्रत्यक्ष रूप से दुःख सुनाने आये हैं। इससे इन्होंने प्रणाम किया है और इसीलिये 'राम' यह ऐश्वर्यपरक नाम दिया गया है। आगे मुनियों की दंडवत् करने में 'रघुकुल चंदा' माधुर्य नाम देंगे। 'दुख दुसह' अर्थात् घर में रहने नहीं पाते, रावण उर्वसी आदि को ले गया, पुष्पक विमान ले गया और सबको बन्दीखाने में डाल रक्खा है, इत्यादि।

(३) 'हरषित निज-निज····' अर्थात् प्रभु ने ढाढ़स दिया, इससे प्रसन्न होकर घर गये। नहीं तो भागे फिरते थे। 'चित्रकूट···छाये' अर्थात् यहाँ कुछ काल रहेंगे। अभी तक तो मार्ग ही चला करते थे।

'सुनि सुनि मुनि आये'—जैसे-जैसे सुनते हैं वैसे-वैसे आते-जाते हैं। 'छाये', यथा—"बरषा काल मेघ नभ छाये।" (कि० दो० १२)।

आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल - चंदा ॥६॥
मुनि रघुबरहिं लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं ॥७॥
सिय-सौमित्रि-राम-छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं ॥८॥

दोहा—जथाजोग सनमानि प्रभु, बिदा किये मुनिबृंद।
करहिं जोग जप जाग तप, निज आश्रमन्हि सुछंद ॥१३४॥

अर्थ—मुनियों के समूह को प्रसन्नतापूर्वक आते देखकर रघुकुल के चन्द्र रूप आह्लादवर्धक श्रीरामजी ने दंडवत् की ॥६॥ मुनि रघुवर श्रीरामजी को हृदय से लगा लेते हैं और (अपनी आशिष की) सफलता के लिये आशिष देते हैं ॥७॥ वे श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी की छवि को देखते हैं और अपने समस्त साधनों को सफल करके मानते हैं ॥८॥ प्रभु श्रीरामजी ने मुनिवृन्दों को यथायोग्य सम्मान करके विदा किया। अपने-अपने आश्रमों में वे स्वतन्त्रता से योग, जप, यज्ञ और तपस्या करने लगे ॥१३४॥

विशेष—(१) 'सुफल होन हित···', यथा—"तदपि देबि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥" (दो० १०२), 'साधन सकल सफल···'—वाल्मीकिजी ने कहा था—"चलहु सफल श्रम सब कर करहू।" (दो० १३१), उसीका यहाँ चरितार्थ हो रहा है। श्रीराम-दर्शन ही साधनों की सफलता है, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय-दरसन पावा॥" (दो० २०९), "आजु सकल सुकृत फल पाइहउँ।···सुतन्ह सहित दसरथहिं देखिहउँ···" (गी० बा० ४६)।

(२) 'जथाजोग सनमानि प्रभु···'—जो जिस योग्य था उसका वैसा सम्मान किया। 'प्रभु' अर्थात् अपने सामर्थ्य का भरोसा दिया। 'निज आश्रमन्हि सुछंद' अर्थात् पहले अगस्त्य, पर्वत आदि मुनियों के आश्रमों में और उनके परतन्त्र होकर जप-योगादि करते थे। अब अपने-अपने ही आश्रमों में करते हैं, क्योंकि जानते हैं कि ये विश्वामित्रजी के यज्ञ के रक्षक और—'मारीच-सुभुज-मद-मोचन' हैं। हमारी भी रक्षा करेंगे।

सम्बन्ध—अत्रि आदि महामुनियों के सम्मान करने से इनका प्रभाव और इनकी कथा कोलों ने सुनी तो आगे उनका आना कहते हैं—

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई ॥१॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना ॥२॥
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहिं पूछहिं मग जाता ॥३॥
कहत सुनत रघुबीर - निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई ॥४॥
करहिं जोहार भेंट धरि आगे। प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे ॥५॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥६॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥७॥
प्रभुहिं जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी ॥८॥

दोहा—अब हम नाथ सनाथ सब, भये देखि प्रभु पाय ।
भाग हमारे आगमन, राउर कोसलराय ॥१३५॥

शब्दार्थ—नवनिधि, यथा—"महापद्मस्तथा पद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥" (स्कन्द पु० वैष्णव० अ० मा० ७।५१), अर्थात् महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व, ये नव निधियों के नाम हैं ।

अर्थ—कोल-किरात यह (श्रीरामजी के आने का) समाचार पाकर ऐसे प्रसन्न हुए, मानों उनके यहाँ घर बैठे नवोनिधियाँ आ गई हों ॥१॥ वे दोनों में कन्द-मूल-फल भर-भरकर ऐसे चले, मानों दरिद्र लोग सोना लूटने जा रहे हों ॥२॥ उनमें से जिन्होंने इन दोनों भाइयों को देखा है, उनसे अन्य लोग मार्ग में पूछते हैं ॥३॥ रघुवीर श्रीरामजी की सुन्दरता कहते-सुनते आकर सबों ने श्रीरघुनाथजी के दर्शन किये ॥४॥ भेंट (के पदार्थ कन्द-मूल आदि जो लाये हैं) आगे रखकर प्रणाम करते हैं और अनुरक्त होकर प्रभु को देख रहे हैं ॥५॥ लिखे हुए चित्र की तरह जहाँ-तहाँ खड़े हैं (हिलते-डोलते नहीं), उनके शरीरों में पुलकावली है और नेत्रों में प्रेमाश्रु की बाढ़ आ गई ॥६॥ श्रीरामजी ने सबको प्रेम में निमग्न जाना । अतः, प्रिय-वचन कहकर सबका सम्मान किया ॥७॥ वे बार-बार प्रभु को प्रणाम कर-करके हाथ जोड़कर बड़े ही नम्र वचन कहते हैं ॥८॥ कि हे नाथ ! आपके चरणों के दर्शन पाकर अब हम सब सनाथ हुए । हे कोशलाधीश ! आपका यहाँ आगमन हमारे ही भाग्य से हुआ ॥१३५॥

विशेष—(१) 'यह सुधि कोल···', यथा—"ये उघरो कोउ कुँवर अहेरी । स्याम गौर धनु-बान-तून धर चित्रकूट अब आइ रहे, री ॥१॥ इन्हहिं बहुत आदरत महामुनि समाचार मेरे नाह कहे री । बनिता बंधु समेत बसे बन, पितु हित कठिन कलेस सहे री ॥" (गी० अ० ४२) । 'हरषे जनु नवनिधि···'—ये सब गरीब हैं, नव-निधियाँ इनके घरों में एकाएक आ जायँ तो इन्हें कितना हर्ष होगा, वैसा ही हर्ष हुआ । ये मारे प्रेम के दौड़कर दर्शनों के लिये जा रहे हैं, जैसे कंगाल लोग सोना लूटने को दौड़कर चलें । इनका प्रेम आगे कहा जायगा, यथा—"नर नारि निदरहिं नेह निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा ।" (दो० २५१), तथा—"बचन परस्पर कहत किरातिनि प्रेम बिबस जल नयन बहेरी ॥ तुलसी प्रभुहिं बिलोकत एकटक लोचन जनु बिनु पलक लहेरी ॥" (गी० अ० ४२), 'अब हम नाथ सनाथ···'—प्रभु के दर्शनों से ये सब सन्मार्गी हो गये, यही सनाथ होना है, यथा—"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई ।··· पाप करत निसिबासर जाहीं । ···जब ते प्रभु पद पदुम निहारे । मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥" (दो० २५०) । 'भाग हमारे···'—ऋषि-मुनि लोग साधन-निष्ठ हैं, पर हमारे पास तो कुछ नहीं है, केवल कृपा से दर्शन दिये । माधुर्य में भी इतने बड़े कोशलराज का कोलों के यहाँ आना उनके अहोभाग्य से ही है ।

धन्य भूमि बन पंथ पहारा । जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा ॥१॥
धन्य बिहग मृग काननचारी । सफल जनम भये तुम्हहि निहारी ॥२॥
हम सब धन्य सहित परिवारा । दीख दरस भरि नयन तुम्हारा ॥३॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी । इहाँ सकल रितु रहब सुखारी ॥४॥
हम सब भाँति करब सेवकाई । करि-केहरि - अहि-बाघ बराई ॥५॥
बन - बेहड़ गिरि - कंदर-खोहा । सब हमार प्रभु पग-पग जोहा ॥६॥
तहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब । सर निरझर भल ठाउँ देखाउब ॥७॥
हम सेवक परिवार समेता । नाथ न सकुचब आयसु देता ॥८॥

दोहा—बेदबचन मुनि-मन अगम, ते प्रभु करुना अयन।
बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बयन ॥१३६॥

अर्थ—हे नाथ! वे भूमि, वन, मार्ग और पहाड़ धन्य हैं, जहाँ-जहाँ आपने अपने चरण रक्खे हैं ॥१॥ वन में विचरनेवाले वे पक्षी और पशु धन्य हैं, आपको देखकर उन सबके जन्म सफल हुए ॥२॥ परिवार के साथ हम सब धन्य हैं कि नेत्रों-भर आपके दर्शन किये ॥३॥ आपने अच्छी जगह विचारकर निवास किया है। आप यहाँ सब ऋतुओं में सुखी रहेंगे ॥४॥ हमलोग सब प्रकार से हाथी, सिंह, सर्प और व्याघ्र से बचाकर आपकी सेवा करेंगे ॥५॥ हे प्रभो! वन, बीहड़ (ऊँचा-नीचा विषमस्थल), पर्वत, कन्दराएँ और खोह (दो पहाड़ों के बीच का तंग मार्ग) ये सब हमारे पैर-पैर (अर्थात् पग-भर भी ऐसी भूमि नहीं है, जिसे हमने न देखा हो) देखे हुए हैं ॥६॥ (हमलोग) जहाँ-तहाँ आपको शिकार खेलावेंगे और सरोवर, झरने आदि अच्छे-अच्छे स्थल दिखावेंगे ॥७॥ हम परिवार के साथ आपके सेवक हैं। हे नाथ! हमें आज्ञा देने में संकोच न कीजियेगा ॥८॥ जो वेद की वाणी और मुनियों के मन को अगम हैं। वे ही करुणा के स्थान प्रभु किरातों के बचन ऐसे सुन रहे हैं, जैसे पिता बालक के बचनों को ॥१३६॥

विशेष—(१) 'धन्य भूमि···'—हमारे ही भाग्य नहीं, किन्तु भूमि आदि के भी बड़े भाग्य हैं, यथा—"रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जनम सुफल करि लेखउँ।" (उ० दो० १०९), "फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ, धन्य न मोसम आन॥" (अर० दो० २६), "पुनि-पुनि सीय राम छबि देखी। मुदित सफल जग जीवन लेखी॥" (बा० दो० ३४८), अर्थात् प्रभु के दर्शनों ही से जन्म की सफलता है।

(२) 'इहाँ सकल रितु···'—गर्मी में ताप नहीं लगेगा, वर्षा में बूँदों का बचाव होगा और जाड़ा भी न लगेगा, यथा—"चित्रकूट सब दिन नीको लागत।" (गी० अ० ५०), 'सकलरितु' से यह भी जनाया कि ऋतुएँ वर्ष में छः होती हैं, छहों में (१ वर्ष) यहाँ रहेंगे वा, अभी तो वे जानते नहीं कि कब तक रहेंगे, पर स्थल में यह गुण दिखाते हैं कि यहाँ सब ऋतुएँ अनुकूल रहेंगी। वाल्मीकिजी ने कहा था—"तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू।" (दो० १३१), वही यहाँ चरितार्थ है। 'करि-केहरि-अहि-बाघ बराई' अर्थात् मन्त्र द्वारा उन्हें अलग कर देंगे, पास न आने पावेंगे।

'अहेर खेलाउब'—शिकारियों के साथ ऐसे सेवक हँकवारे रहते हैं। वे शिकार को भगाकर शिकारी के पास लाते हैं, एवं अवसर भी दिखाते हैं, वही सेवा करने को ये लोग कहते हैं।

(३) 'बेदबचन मुनि-मन···'—वेद 'नेति नेति' कहते हैं, यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति नेति कह बेद।" (लं० दो० ११७), 'नेति-नेति'—बा० दो० १२ में देखिये। "मन समेत जेहि जान न बानी।" (बा० दो० ३४०), तब दूसरों के वचन और मन की पहुँच कैसे हो सकती है? 'ते प्रभु' अर्थात् ऐसे समर्थ ईश्वर भी अपनी करुणा से सुगम है। 'जिमि पितु बालक···', यथा—"जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥" (बा० दो० ७)।

रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा ॥१॥
राम सकल-बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे ॥२॥
बिदा किये सिर नाइ सिधाये। प्रभुगुन कहत सुनत घर आये ॥३॥
येहि बिधि सिय-समेत दोउ भाई। बसहि बिपिन सुर-मुनि सुखदाई ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है, जो जाननेवाले हों, वे जान लें ॥१॥ तब श्रीरामजी ने सब वनवासियों (कोल-किरातों) को सन्तुष्ट किया, कोमल वचन कहकर उनके प्रेम को परिपुष्ट कर दिया ॥२॥

और विदा किया, वे सिर नवाकर चले, प्रभु के गुण कहते-सुनते अपने-अपने घर आये ॥३॥ इस तरह सुर-मुनि को सुख देनेवाले दोनों भाई श्रीसीताजी के साथ वन में निवास करते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'केवल प्रेम पियारा'—यथा—"रीझत राम सनेह निसोते।" (बा० दो० २७)। जाति, विद्या, बुद्धि, वेष आदि नहीं, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष है कि इन कोल-किरातों के पास तो कुछ भी नहीं, प्रेमपात्र ही है, उसीपर प्रभु इन्हें पुत्र के समान प्यार कर रहे हैं तो ऐसे प्रभु की शरण अवश्य होना चाहिये, यथा—"बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान। सुनि सन्मुख जो न राम सों नेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १९३), तथा—"नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥ न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥" (भाग० ७।७।५१-५२), अर्थात् हे दैत्यपुत्रो! भगवान् मुकुन्द को प्रसन्न करने में ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रत आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं, वे केवल विशुद्ध भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, और सब विडम्बनामात्र हैं। जब ऐसों को अपना लिया, तो जो उत्तम वृत्तिवाले शरण होंगे, उनके लिये क्या कहना है? यथा—"अपिचेत्सु ··मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।···किं पुनर्ब्राह्मणाः···"—(गीता ९।३०-३३)।

'राम सकल वनचर···'—कोमल वाणी से कहा कि हम यहाँ तुम्हारे ही भरोसे हैं। जो काम लगेगा, तुम्हीं से कहेंगे, क्योंकि यहाँ हमारा और कौन है? हम संकोच न करेंगे। प्रयोजन पड़ने पर बुला लेंगे। अभी अपने घर का काम देखो, इत्यादि। सबके हार्दिक प्रेम को जानकर उनका परितोष किया, इसीसे 'राम' कहा कि आप सबमें रमे हैं। 'सुर मुनि सुखदाई'—ऊपर सुर-मुनियों के प्रति सुख-दातृत्व कहा गया, यहाँ कोलों का भी कहकर साथ ही सुरमुनि के प्रसंग का भी उपसंहार करते हैं।

जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयेउ बन मंगल-दायक॥५॥
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु-बलित - बर - बेलि - बिताना॥६॥
सुर-तरु-सरिस सुभाय सुहाये। मनहुँ बिबुधबन परिहरि आये॥७॥
गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी॥८॥

दोहा—नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिं बिहग, श्रवनसुखद चितचोर॥१३७॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी जब से यहाँ आकर बसे तब से यह वन मंगल देनेवाला हो गया॥५॥ तरह-तरह के वृक्ष नाना भाँति से फूलते-फलते हैं और उनपर लपटी हुई सुन्दर लताओं के सुन्दर मण्डप छाये हुए हैं॥६॥ वे कल्पवृक्ष के समान स्वाभाविक शोभायमान हैं, मानों देवताओं के वन को छोड़कर आये हैं॥७॥ अतिशय सुन्दर भौंरों की पंक्तियाँ गुञ्जार कर रही हैं और सुख देनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्धित तीनों प्रकार की हवाएँ चल रही हैं॥८॥ नीलकण्ठ, कोयल, तोते, चातक, चकवा और चकोर आदि तरह-तरह के पक्षी कानों को सुख देनेवाली और चित्त चुरानेवाली भाँति-भाँति की बोलियाँ बोल रहे हैं॥१३७॥

विशेष—'मंगल-दायक'—यथा—"मंगल रूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते॥" (कि० दो० १२)—वहाँ पर इस कथन का चरितार्थ है। फलों, फूलों, पल्लवों से युक्त होना मंगल-दायक होना है, वही आगे कहते हैं। 'बलित'=आवेष्टित, लपटी हुई। 'नीलकंठ' एक पक्षी है, जिसका देखना दशहरे को शुभ है, पुनः मोर को भी नीलकंठ कहते हैं।

करि केहरि कपि कोल कुरंगा । बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥१॥
फिरत अहेर - रामछबि देखी । होहिं मुदित मृगबृंद बिसेखी ॥२॥
बिबुधबिपिन जहँ लगि जग माहीं । देखि रामबन सकल सिहाहीं ॥३॥
सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या । मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥४॥
सब सर सिन्धु नदी नद नाना । मंदाकिनि कर करहि बखाना ॥५॥
उदय-अस्त गिरि अरु कैलासू । मंदर मेरु सकल - सुर - बासू ॥६॥
सैल हिमाचल आदिक जेते । चित्रकूट - जस गावहिं तेते ॥७॥
बिंधि मुदित मन सुख न समाई । श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥८॥

दोहा—चित्रकूट के बिहँग मृग, बेलि बिटप तृन जाति ।
पुन्यपुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन-राति ॥१३८॥

अर्थ—हाथी, सिंह, बानर, शूकर, हिरण, ये सब (आपस के) विरोध को छोड़कर एक साथ विचरते हैं ॥१॥ शिकार करने के लिये फिरते हुए, श्रीरामजी की छवि को देखकर वन के पशुओं के समूह विशेष आनन्दित होते हैं ॥२॥ संसार में जहाँ तक देवताओं के वन हैं, श्रीरामजी के वन को देखकर वे सब ललचाते एवं उसकी प्रशंसा करते हैं ॥३॥ गंगा, सरस्वती, सूर्यपुत्री यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि धन्या (पुण्या) नदियाँ ॥४॥ सभी अनेक सरोवर, समुद्र, नदी, (सोन, ब्रह्मपुत्र, महानद आदि) नद, मन्दाकिनी नदी की बड़ाई करते हैं ॥५॥ उदयाचल, अस्ताचल, कैलास, मन्दराचल और सुमेरु पर्वत आदि सभी देव स्थान (पर्वत) ॥६॥ हिमालय आदि जितने पर्वत हैं, वे सब श्री चित्रकूट गिरि का यश गाते हैं ॥७॥ विन्ध्याचल प्रसन्न है, इसके मन में सुख नहीं समाता, (क्योंकि) इसने बिना परिश्रम के ही बहुत बड़ाई पाई है ॥८॥ चित्रकूट के पक्षी, पशु, लताएँ, वृक्ष, तृण जातियाँ, सब बहुत पुण्यवाले और धन्य हैं, देवता दिनरात ऐसा कहा करते हैं ॥१३८॥

विशेष—(१) 'बिगत बैर बिचरहिं ···'—पहले वन की रमणीयता कही थी, अब जीवों की निर्वैरता द्वारा उसका प्रभाव कहते हैं कि इसमें पशुओं में भी सात्विक भाव आ गये हैं। यह श्रीरामजी के निवास का प्रभाव है—दो० १२३ चौ० ८ का विशेष देखिये।

(२) 'फिरत अहेर···', यथा—"सरचारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छवि सो बरनै किमि कै ॥ अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है ॥" (क० अ० २७)।

(३) 'सुरसरि सरसइ दिनकर···'—गंगाजी ब्रह्मद्रव हैं और सर्व तीर्थमयी हैं, सरस्वतीजी ब्रह्मरूपा, यमुनाजी सूर्य की पुत्री, नर्मदाजी में शिवजी का निवास ही रहता है। धन्या सबोंका विशेषण है, धन्या नाम की एक नदी भी श्रीमद्भागवत में कही गई है। ये सब मन्दाकिनी की बड़ाई करती हैं कि इसके तट पर परात्पर श्रीरामजी निवास करते हैं।

(४) 'उदय-अस्त-गिरि···'—उदयाचल ब्रह्माण्ड का द्वार है, सूर्य उसीपर नित्य उदय होते हैं और अस्ताचल पर अस्त होते हैं, कैलास शिवजी का निवास-स्थान है, मन्दराचल को भगवान् ने कच्छप-रूप से पीठ पर धारण किया है और सुमेरु स्वर्णमय है और उसपर देवता लोग रहते हैं। ये राक्षसों से भयभीत होने पर वहीं छिपा करते हैं। ये सब चित्रकूट का यश गाते हैं, अर्थात् वन को वन, नदी को नदी

और पहाड़ को पहाड़ सिहाते हैं, इस तरह जाति जाति को सिहाती है। पहले वाल्मीकिजी ने कहा था—'राम देहु गौरव गिरिबरहू।' यहाँ उसका चरितार्थ प्रसंग है। अपने सजातीयों में बड़ाई पाने का बहुत बड़ा महत्त्व है, यथा—"सब ते कठिन जाति अपमाना।" कहा गया है, वैसे ही वहाँ जाति में सम्मान का भी महत्त्व है।

(५) 'बिंधि मुदित मन सुख·····'—क्योंकि चित्रकूट विन्ध्याचल का ही एक शृंग है। 'श्रम बिनु···'—महाभारत वन पर्व अ० १०४ श्लोक १-१५ में कथा है कि सूर्य सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। विन्ध्याचल ने कहा कि मेरी भी प्रदक्षिणा किया करो, तब सूर्य ने कहा कि मुझे ईश्वर के द्वारा जो मार्ग सनातन से दिया गया है, उसी मार्ग पर मैं चलता हूँ, इसपर विन्ध्याचल क्रुद्ध हुए और सूर्य-चन्द्रमा के मार्ग रोकने के लिये बढ़ने लगे, तब देवताओं ने बहुत रोका, न मानने पर उन्होंने घबराकर अगस्त्यजी से प्रार्थना की कि आप इनकी गति को रोकें। आप ही इन्हें रोकने में समर्थ हैं।

अगस्त्यजी अपनी स्त्री के साथ विन्ध्याचल के समीप गये, विन्ध्याचल भी (मूर्त्तिमान हो) इनके दर्शनों को आये। अगस्त्यजी ने विन्ध्य से कहा कि पर्वत श्रेष्ठ! हम किसी कार्य से दक्षिण दिशा को जाना चाहते हैं, इसलिये तुम हमें मार्ग दो और जबतक हम उधर से लौट कर न आवें, तबतक तुम हमारा मार्ग देखना, हमारे आने पर फिर तुम इच्छानुसार बढ़ना। इस प्रकार विन्ध्य से प्रतिज्ञा कराकर मुनि गये और अब तक उधर से नहीं लौटे। विन्ध्याचल का बढ़ना रुक गया। देखिये, इसने पहले बहुत श्रम किया था, पर बड़ाई नहीं पाई, और गुरु की आज्ञा मानने से श्रीरामजी ने कृपा करके पूर्व की चाह से कहीं अधिक बड़ाई दी कि सुमेरु आदि सभी इसे सराहते हैं।

(६) 'चित्रकूट के बिहँग मृग·····'—चित्रकूट की शोभा-वर्णन का उपसंहार करते हैं। 'दिन-राति'—देवताओं के सम्बन्ध से यह भी भाव है कि श्रीरामजी को एक वर्ष यहाँ रहना हुआ, क्योंकि ग्रन्थकार ने यहाँ छः ऋतुओं का वर्णन किया है और मनुष्यों के एक वर्ष में देवताओं के एक दिन और एक रात होते हैं। अतः, जब तक वहाँ श्रीरामजी रहे, देवगण बड़ाई करते रहे, क्योंकि इन्हें श्रीरामजी के दर्शनों एवं स्पर्श के सुख प्राप्त हैं, जो देवों के भाग्य में नहीं हैं।

नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम-फल होहिं बिसोकी॥१॥
परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी॥२॥
सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति-पावन-पावन॥३॥
महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥४॥
पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय-लखन-राम रहे आई॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी को देखकर आँखवाले जन्म की सफलता पाकर शोक-रहित हो जाते हैं, अर्थात् भव-चक्र से छूट जाते हैं॥१॥ इनके चरणों की धूलि का स्पर्श करके अचर (जड़) सुखी होते हैं, (क्योंकि) वे परम-पद के अधिकारी हो गये॥२॥ वे वन और पर्वत स्वाभाविक ही सुहावने, अत्यन्त मंगलमय और अत्यन्त पावन को भी पावन करनेवाले हैं॥३॥ उनकी महिमा किस तरह कही जा सकती है कि जहाँ सुख के समुद्र श्रीरामजी ने निवास किया है॥४॥ क्षीर सागर को छोड़ और श्रीअवध को छोड़कर जहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी (पैदल) आकर रह रहे हैं॥५॥

विशेष—(१) 'नयनवंत···होहिं बिसोकी'—आँखवाले श्रीरामजी के दर्शनों से स्व-स्वरूप के अधिकारी होकर शोक-रहित हो जाते हैं, यथा—"तरति शोकमात्मवित्" यह श्रुति है, तथा—"राम चरन पाथोरिज जब देखउँ। तब निज जनम सुफल करि लेखउँ॥" (उ० दो० २०९), "मम दरसन फल परम

अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥" (अर० दो० ३५)। अचर वर्ग चरण के स्पर्श से परम-पद के अधिकारी बनते हैं, जैसे अहल्या की कथा है, कहा भी है—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम-पद जोगू।" (दो० २१६)। "मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः ॥" (वाल्मी० ७।८२।१०)।

(४) 'पयपयोधि तजि अवध·····'—चित्रकूट की महिमा क्षीर-समुद्र और श्रीअवध से भी अधिक है, क्योंकि श्रीलक्ष्मीनारायणजी और शेषजी क्षीर-समुद्र में रहते हैं, वे उसे छोड़कर 'सिय राम लखन' रूप से अवध में आकर रहे, अब अवध को भी छोड़कर पैदल आकर यहाँ रहते हैं। अतः, क्षीर-सागर से अवध और उससे अधिक यहाँ की महिमा है।

इस ग्रन्थ में चार कल्प की कथाएँ एक साथ चल रही हैं, उनमें एक कल्प का अवतार क्षीर-सागर से होता है। वही प्रसंग यहाँ प्रधान है। यों भी अर्थ है कि श्रीलक्ष्मीनारायणजी क्षीर-सागर को छोड़कर और श्रीसीतारामजी श्रीअवध (एवं त्रिपाद विभूति के नित्य अवध = साकेत) को छोड़कर यहाँ आकर रहे।

अलंकार—'अर्थावृत्ति दीपक' है।

कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौ सत सहस होहिं सहसानन ॥६॥
सो मैं बरनि कहउँ बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं ॥७॥
सेवहिं लखन करम-मन-बानी। जाइ न सील सनेह बखानी ॥८॥

दोहा—छिन-छिन लखि सिय-राम-पद, जानि आपपर नेह।
करत न सपनेहुँ लखन चित, बंधु-मातु-पितु-गेह ॥१३९॥

अर्थ—जो लाखों (लाख-सहस्र मुखवाले) शेष भी हों, तो भी जैसी परम शोभा वन की है, वैसी नहीं कह सकते ॥६॥ फिर उसे मैं किस तरह बखान करके कह सकता हूँ ? क्या गड़े के कछुए मन्दराचल ले सकते हैं ? ॥७। श्रीलक्ष्मणजी वन, वचन, कर्म से सेवा करते हैं, उनका शील-स्नेह कहा नहीं जा सकता ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी क्षण-क्षण पर श्रीसीतारामजी के चरणों को देखकर और अपने ऊपर उनका स्नेह जानकर स्वप्न में भी भाई, माता, पिता और घर की ओर चित्त नहीं करते ॥१३९॥

विशेष—(१) 'डाबर कमठ कि मंदर लेहीं'—भगवान् ने कच्छप रूप होकर मन्दराचल को धारण किया था, दूसरे समुद्र के कछुए भी उसे नहीं धारण कर सकते, तो भला गढ़े के कछुए में कहाँ सामर्थ्य ? महर्षि वाल्मीकि आदि कवि समुद्र के कछुए हैं, मैं गढ़े का हूँ, दोनों कवि होने से एक जाति के हैं। श्रीगोस्वामीजी मानस के कवि हैं जिसका सर (तालाब) से रूपक है। कार्पण्य दृष्टि से तालाब को गढ़ा कहते हैं, भाव यह कि कहाँ समुद्र और कहाँ तालाब ? वाल्मीकिजी ने कुछ कहा, पर अमित कहकर छोड़ दिया, यथा—"चित्रकूट महिमा अमित, कहि महा मुनि गाइ।" (दो० १३२), तात्पर्य यह कि इसकी महिमा भगवान् ही चाहें, तो कह सकते हैं। 'बिधि केहीं'—उपमान, अनुमान, शब्द आदि वर्णन की किसी भी विधि से।

(२) 'सील सनेह'—शील नेत्र से और स्नेह हृदय से होता है।

(३) 'छिन-छिन लखि सिय·····'—अन्योन्य प्रीति है, श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामजी के चरणों के भक्त हैं और उनका इनपर स्नेह है। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।··· मोरे सबइ एक तुम स्वामी।" (दो० ७१), सुमित्राजी ने भी कहा था—"तात तुम्हारि मातु·····" (दो० ७३), यही सब यहाँ चरितार्थ है। 'सिय-राम-पद'—श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी के चरणों के

अतिरिक्त अन्य अङ्गों पर दृष्टि नहीं देते थे, यथा—"नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥ नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।" (वाल्मी ४।६।२२।२३), अर्थात् (लक्ष्मणजी ने कहा है—) मैं बिजायठ और कुण्डल तो नहीं जानता, हाँ, (श्रीसीताजी के) नूपर मात्र जानता हूँ, क्योंकि नित्य चरण-वन्दना करते हुए देखता था ।

राम-संग सिय रहति सुखारी । पुर-परिजन-गृह-सुरति बिसारी ॥१॥
छिनछिन पिय-बिधु-बदन निहारी । प्रमुदित मनहुँ चकोरकुमारी ॥२॥
नाह-नेह नित बढ़त बिलोकी । हरषति रहति दिवस जिमि कोकी ॥३॥
सिय-मन राम-चरन अनुरागा । अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥४॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा । प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा ॥५॥
सासु ससुर-सम मुनितिय मुनिवर । असन अमिअ सम कंद मूल फर ॥६॥
नाथ साथ साथरी सुहाई । मयन-सयन-सय-सम सुखदाई ॥७॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू । तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू ॥८॥

दोहा—सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलास ।
रामप्रिया जगजननि सिय, कछु न आचरज तासु ॥१४०॥

अर्थ—श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी, श्रीअवध-नगर, परिवार और घर की सुधि भूलकर सुखी रहती हैं ॥१॥ क्षण-क्षण पर पति के मुख चन्द्र को देख-देखकर ऐसी आनन्दित रहती हैं, मानों चकोर की बालिका (चन्द्रमा को देखकर) ॥२॥ पति का स्नेह अपने ऊपर नित्य बढ़ता हुआ देखकर वे ऐसी हर्षित रहती हैं, जैसे दिन में चकवी (चकवे के साथ) हर्षित रहे) ॥३॥ श्रीसीताजी का मन श्रीरामजी के चरणों में अनुराग पूर्वक लगा है, (इससे उन्हें) सहस्रों अवध के समान वन प्रिय लगता है ॥४॥ प्यारे प्रीतम श्रीराम के साथ पत्तों की कुटी प्यारी लगती है, हरिण और पक्षी प्यारे परिवार की तरह प्यारे लगते हैं ॥५॥ मुनियों की स्त्रियाँ और मुनिश्रेष्ठ सास-ससुर की भाँति, कन्द-मूल-फल (का आहार) अमृत भोजन की भाँति (प्रिय) हो रहे हैं ॥६॥ स्वामी के साथ सुन्दर साथरी सैकड़ों कामदेवों की शय्या के समान सुखदायी है ॥७॥ (वक्ता लोग कहते हैं कि) जिसकी अनुकूल दृष्टि मात्र से लोग लोकपाल हो जाते हैं, क्या उसे विषय-विलास (सांसारिक विषय सुख) लुभा सकता है ? ॥८॥ श्रीरामजी का स्मरण करते ही (उनके भक्त) लोग विषय-क्रीड़ा को तृण के समान त्याग देते हैं, श्रीसीताजी तो श्रीरामजी की प्यारी-पत्नी और जगत् की माता हैं, उनके लिये यह कुछ आश्चर्य नहीं ॥१४०॥

विशेष—(१) 'चकोरकुमारी'—यहाँ श्रीसीताजी की अनन्यता दिखाते हैं कि जैसे आकाश में असंख्य तारागण भी देख पड़ते हैं, पर चकोरकुमारी चन्द्रमा ही को देखती है, वैसे ही ये 'पुर-परिजन-गृह' की सुधि भुलाकर श्रीराम-मुख ही देखती हैं। 'कुमारी', क्योंकि श्रीसीताजी सुकुमारी हैं। श्रीजनकजी चकोरवत् हुए थे—"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥" (बा० दो० २१५), उनकी कुमारी का यहाँ 'चकोरकुमारी' होना युक्त ही है। कुमारी चकोरी की प्रीति नित्य बढ़नेवाली होती है, वैसे इनकी भी नित्य परिवर्द्धनशील प्रीति है। इस उत्प्रेक्षा में चन्द्रमा की असंगता से श्रीरामजी में असंगता समझी जाती, इसलिये आगे—'नाह-नेह···' कहा है।

(२) 'नाह-नेह नित···'—जैसे-जैसे दिन बढ़ता है, वैसे-वैसे चकवी का आनन्द बढ़ता है, इसी

तरह नाह-नेह के बढ़ने से श्रीसीताजी का आनन्द भी बढ़ता है। 'चकोरकुमारी' रूप से श्रीसीताजी की प्रीति और 'नाह-नेह नित···से श्रीरामजी की प्रीति कही गई। इस तरह दोनों का अन्योन्य प्रेम कहा गया। चन्द्रमा-चकोरी का सुख-सम्बन्ध रात में और चकवा-चकवी का सुख दिन में रहता है। इन दोनों उपमाओं से दिन-रात एवं निरन्तर सुख सूचित किया। श्रीसीताजी का प्रिय-मुख देखना शृंगार दृष्टि से है, क्योंकि चित्रकूट आपका विहार-स्थल है। आगे कहेंगे—"जिमि बासव बस अमरपुर··" (दो० १४१)। "फटिकसिला मृदु बिसाल···" (गी० अ० ४४)—देखिये।

(३) 'लोकप होहिं बिलोकत···', यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।" (दो० १०२), "जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत···" (उ० दो० २४)।

(४) 'सुमिरत रामहिं तजहिं जन,···', यथा—"राम-चरण-पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥" (दो० ८३)—इसका विशेष देखिये। "रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥ राम प्रेम भाजन भरत, बड़े न येहि करतूत।" (दो० ३२४)। 'जगजननि'—अर्थात् जगत् के सभी पदार्थ इन्हींसे हुए हैं, तब उनका लोभ इन्हें कैसे हो?

श्रीजानकीजी ने वन चलते समय जो कुछ वहाँ कहा था, वे सब बातें यहाँ चरितार्थ हुईं—

वहाँ		यहाँ
(१) "नाथ सकलसुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदन निहारे॥" (दो० ६४)		छिन छिन पिय बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी॥
(२) "छिन-छिन प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥" (दो० ६५)		नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
(३) "खग मृग परिजन।"	(दो० ६५)	प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा।
(४) "बन देवी बन देव उदारा। करिहैं सासु ससुर सम सारा॥"	(,,)	सासु ससुर सम मुनि तिय मुनिबर।
(५) "कंद मूल फल अमिय अहारू।"	(,,)	असन अमिय सम कंद मूल फर।
(६) "कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥"	(,,)	नाथ साथ साथरी सुहाई। मन-सयन-सय-सम सुखदाई॥
(७) "अवध सौध सत सरिस पहारू।"	(,,)	अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥
(८) "नाथ साथ सुर सदन सम, पर्नसाल सुख मूल।"	(,,)	राम लखन सीता सहित, राजत परन निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥

सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहि सोइ कहहीं॥१॥
कहहिं पुरातन कथा-कहानी। सुनहिं लखन सिय अति सुखमानी॥२॥
जब जब राम अवध-सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥३॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत-सनेह-सील-सेवकाई॥४॥
कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरज धरहिं कुसमय बिचारी॥५॥
लखि सिय लखन बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाँहीं॥६॥
प्रिया-बंधु-गति लखि रघुनंदन। धीर कृपाल भगत-उर-चंदन॥७॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं लखन अरु सीता॥८॥

दोहा—राम-लखन-सीता - सहित, सोहत परनिकेत ।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची - जयंत समेत ॥१४१॥

अर्थ—जिस तरह श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी सुख पावें, श्रीरघुनाथजी वही काम करते और वही बात कहते हैं ॥१॥ (श्रीरामजी) पुरानी कथाएँ और कहानियाँ कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी अत्यन्त सुख मानकर सुनते हैं ॥२॥ जब-जब श्रीरामजी श्रीअवध का स्मरण करते हैं तब-तब आँखों में आँसू भरते हैं ॥३॥ माता, पिता, परिवार, भाई और भाई श्रीभरतजी के स्नेह, शील और सेवा को स्मरण करके ॥४॥ कृपा सागर प्रभु श्रीरामजी दुखी हो जाते हैं। फिर कुसमय समझकर धैर्य धरते हैं ॥५॥ (श्रीरामजी को दुखी) देखकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो जाते हैं जैसे मनुष्य को परछाँई उसके अनुसार होती है ॥६॥ धीर, कृपालु और भक्तों के हृदय को (शीतल करने के लिये) चन्दन रूप रघुकुल को आनन्द देनेवाले श्रीरामजी प्यारी स्त्री और भाई की दशा देखकर ॥७॥ कुछ पुरानी कथाएँ कहने लगते हैं कि जिन्हें सुनकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सुख पाते हैं ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी पर्णकुटी में ऐसे सोह रहे हैं जैसे जयन्त और इन्द्राणी के साथ अमरावती में इन्द्र (सोहते हैं) ॥१४१॥

विशेष—(१) 'जब-जब राम अवध सुधि···'—श्रीरामजी ने तमसा तट पर पुरवासियों की दशा देखी ही है। उसका स्मरण कर आँखों में आँसू भर आते हैं और चलते समय माताएं और पिताजी एवं नगर के लोग अत्यन्त दुखी हुए। उन्हें स्मरण करके आप भी दुखी होते हैं। इसीसे 'कृपासिंधु' कहा है, यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी० सुं ११), तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता० ४।११)।

(२) 'सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।', यथा—"जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा॥" (बा० दो० २०४)। वाल्मी० २।६४-६५ में श्रीसीताजी को प्रसन्न करने के लिये श्रीरामजी का बहुत कहना है और गी० अ० ४४ में करने के कार्य भी पढ़ने योग्य हैं।

'कछु कथा पुनीता'—जैसे सत्ययुग में नल-दमयन्ती पर दुःख पड़ने और फिर धैर्य धरने पर शीघ्र दुःख छूटने की कथा है, तथा—"यह इतिहास पुनीत अति, उमहिं कही वृषकेतु।" (बा० दो० १५२), "सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥" (बा० दो० १५२)।

(३) 'जिमि बासव बस अमरपुर···'—राज्य छूट गया। वन को आये हैं। अतः, दुखी होंगे। इस शंका के निवारण करने के लिये कहते हैं कि आपको इन्द्र का-सा सुख है। श्रीसीताजी इन्द्राणी की तरह और श्रीलक्ष्मणजी जयन्त की तरह सुखी हैं। देवताओं ने ही कुटी बनाई। देवतागण प्रार्थना भी करते हैं। अतः, अमरावती का-सा सुख है, यथा—"देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम्।" (वाल्मी० १।१।३२), तथा—"अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्। भार्यामसरसङ्काशः शचीमिव पुरन्दरः॥" (वाल्मी० २।९४।२)।

(४) बृहद्रामायण के चित्रकूट माहात्म्य प्रसंग में यहाँ श्रीरामजी के गोप्य रहस्य रास-विहार आदि कहे गये हैं। उन सबको इस उपमा से सूचित किया। ऊपर से देखने में तो मुनि-वेष एवं वृत्ति में ही विशेष शोभा है।

जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहिं कैसे। पलक बिलोचनगोलक जैसे ॥१॥
सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ॥२॥
येहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग - मृग-सुर-तापस-हितकारी ॥३॥

कहेउँ राम-बन - गवन सुहावा । सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी की (वा, श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की) कैसे रक्षा करते हैं, जैसे आँखों की पलकें अपने गोलकों की रक्षा करती हैं ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी की (वा, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी रघुवीर श्रीरामजी की) ऐसी सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी पुरुष शरीर की ॥२॥ इस तरह पक्षियों, वन्यपशुओं, देवताओं और तपस्वियों के हित करनेवाले प्रभु वन में सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं ॥३॥ मैंने श्रीरामजी का सुहावना वन-गमन कहा, अब जिस प्रकार श्रीसुमन्त्रजी श्रीअवध को आये, वह सुनो ॥४॥

विशेष—(१) 'जोगवहिं प्रभु···सेवहिं लखन···'—इनमें दो-दो प्रकार के अर्थ किये गये, दोनों ही ग्राह्य हैं। दूसरे अर्थ में श्रीसीताजी की भी सेवा आ जाती है। 'सेवहिं' क्रिया भी बहुवचन की हो सकती है, आदर के लिये कम सम्भावना है, लें तो एकवचन में भी रह सकती है। पलकें नीचे-ऊपर की दो हैं, वैसे श्रीसीताजी और रामजी दो हैं। श्रीलक्ष्मणजी की रक्षा करते हैं, इससे दास पर प्रेम सूचित किया। अविवेकी पुरुष देह ही को आत्मा एवं सर्वस्व मानकर सेता है। दिन-रात इसीके पोषण में लगा रहता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी को अन्य किसी बात की सुधि ही नहीं रहती, यथा—"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥" (वि० पु० १।२०।१९), अर्थात् अज्ञानी पुरुषों की जिस प्रकार विषयों में अविचल प्रीति होती है, आपका स्मरण करते हुए वैसी ही प्रीति मेरे हृदय से दूर न हो, तथा—"विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते। वितन्वते तु तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ ॥" (स्कन्द पु० वै० १०।१०४-१०५), अर्थात् श्रीनारदजी ने राजा इन्द्रद्युम्न से कहा है कि अज्ञानी मनुष्यों का विषयों में जैसी प्रीति होती है, उससे सौ कोटिगुणी प्रीति का विस्तार वे श्रीहरि में करते थे। 'येहि बिधि'—उपर्युक्त—'जिमि बासव·····'। 'खग-मृग-सुर-तापस-हितकारी', यथा—"फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मुनि बृंद बिसेषी ॥" (दो० १३७)—देखिये। देवों को धैर्य दिया है और तपस्वियों को भी सुख है—"करहिं जोग जप जाग तप, निज आश्रमन्हि सुछंद ॥" (दो० १३५)। 'सेवहिं लखन···'—इसमें 'पूर्णोपमालंकार' है।

(२) 'कहेउँ राम बन गवन···'—श्रीरामजी का अभीष्ट वन के लिये था, इसीसे वे चौगुन चाव से आये। मार्ग में प्रेमियों को सुख देते और मुनियों से समागम करते हुए आये, इसहे इसे 'सुहावा' कहा है, तथा विराट के शरीर में रावण-रूप राजरोग था, यथा—"रावन से राजरोग बाढ़त बिराट उर·····" (क० सुं० २५), इस यात्रा से वह रोग अच्छा होगा, इससे भी यह 'सुहावा' है। पुनः पिता-मरण आदि शोकमय चरितों की अपेक्षा तो यह सुहावा है ही।

(३) "राम तुरत मुनि बेष बनाई। चले जनक जननी सिर नाई ॥" (दो० ७८) उपक्रम है और यहाँ—'कहेउ राम-बन·····' यह उपसंहार है।

'चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण समाप्त।

'सचिवागमन नगर नृप मरना'-प्रकरण

फिरेउ निषाद प्रभुहि पहुँचाई। सचिवसहित रथ देखेसि आई ॥५॥
मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयेउ बिषादू ॥६॥
राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी ॥७॥
देखि दखिनदिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥८॥

दोहा—नहिं तृन चरहिं न पियहिं जल, मोचहि लोचन बारि।
ब्याकुल भये निषाद सब, रघुबर-बाजि निहारि ॥१४२॥

अर्थ—निषाद (गुह) जब प्रभु को पहुँचाकर लौटा, तब उसने आकर मन्त्री समेत रथ को देखा ॥५॥ यहाँ मन्त्री को व्याकुल देखकर निषाद को जैसा विषाद हुआ, वह कहा नहीं जा सकता ॥६॥ राम, 'राम-सिय-लक्ष्मण' ऐसा पुकारकर वह पृथ्वी पर भारी व्याकुल पड़ा ॥७॥ दक्षिण दिशा को देख-देखकर रथ के घोड़े हिन-हिनाते हैं, मानों बिना पक्ष के पक्षी अकुला रहे हों ॥८॥ वे न घास चरते हैं और न जल पीते हैं। आखों से आँसू गिरा रहे हैं। रघुवर श्रीरामजी के घोड़ों को देखकर सब निषाद लोग व्याकुल हो गये ॥१४२॥

विशेष—(१) 'देखि दखिन दिसि'' '—क्योंकि श्रीरामजी इसी दिशा में गये हैं, आते होंगे।

'जनु बिनु पंख'''—पक्षी पक्ष के बिना पराधीन हो जाता है, वैसे ये बँधे हुए हैं। नहीं तो श्रीरामजी के पास चले जाते। जैसे पक्षी उड़कर चाहे जहाँ चले जाते हैं। अत्यन्त दीन हैं, यथा—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ५९)। सुमन्त्रजी यहाँ कई दिन पड़े रहे कि आगे वन के कष्ट देखकर कहीं सीताजी डरें एवं श्रीरामजी ही रथ की आवश्यकता से मुझे बुलावें तो साथ जाऊँ, यथा—"गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्। आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥" (वाल्मी० २।५९।३), अर्थात् गुह के साथ में वहाँ (शृंगवेरपुर में) कई दिन इस आशा में रहे कि कहीं श्रीरामजी मुझे बुलाकर (साथ ले चलें)। घोड़े व्याकुल थे ही। गुह निषाद साथ गये हैं, चार दिन में उनके लौटने की बात है, कहीं श्रीसीताजी के वन देखकर डरने पर, गुह लेते आवें तो राजा दशरथ का अभीष्ट पूरा करके अवध चलूँ। सुमन्त्रजी घोर वन की ओर जा नहीं पाये थे—"बरबस राम सुमंत्र पठाये।' यह कहा गया है। अतः, इन आशाओं से और व्याकुली से सुमन्त्रजी अभी तक यहीं पड़े थे।

'नहिं तृन चरहिं'''—घोड़े बँधे हुए हैं, यह ऊपर लिखा गया, फिर चरने की बात क्यों कही गई? 'चर—गतिभक्षणयोः' इस धातु के अनुसार यहाँ घास खाने का तात्पर्य है। सुमन्त्रजी व्याकुल हैं, पर निषाद के सेवक आदि उत्तम घास आदि लाकर रक्खे थे, पर ये विरह में नहीं खा-पी रहे हैं। 'ब्याकुल भये'''—यह समझकर कि—"जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु-पितु जीहहिं कैसे ॥" (दो० ९९)।

धरि धीरज तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू ॥१॥
तुम्ह पंडित परमारथग्याता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता ॥२॥
बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी ॥३॥
सोकसिथिल रथ सकइ न हाँकी। रघुबर-बिरह-पीर उर बाँकी ॥४॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥५॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। राम-बियोग बिकल दुख तीछे ॥६॥
जो कह राम लखन बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही ॥७॥
बाजि बिरह-गति कहि किमि जाती। बिनु मन फनिक बिकल जेहिभाँती ॥८॥

दोहा—भयेउ निषाद बिषादबस, देखत सचिव-तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग ॥१४३॥

गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरह-बिषाद बरनि नहिं जाई ॥१॥

अर्थ—तब निषाद धैर्य धारण करके कहने लगा कि हे सुमन्त्रजी ! अब विषाद छोड़ो ॥१॥ तुम पंडित हो और परमार्थ के जाननेवाले हो। विधाता को विपरीत जानकर धैर्य धारण करो ॥२॥ कोमल वाणी से भाँति-भाँति की कथाएँ कह-कह कर (फिर भी धैर्य न होने पर) बलात् (जबरदस्ती) लाकर उन्हें रथ में बैठाया ॥३॥ शोक से (उनके सब अंग) ढीले पड़ गये हैं। (इससे वे) रथ को हाँक नहीं सकते। उनके हृदय में श्रीराम-विरह की बड़ी तीव्रण पीड़ा है ॥४॥ घोड़े छटपटाते (दुःख से व्याकुल होकर लोटते-पोटते) हैं, मार्ग पर नहीं चलते। मानों जंगली पशु लाकर रथ में जोते गये हों ॥५॥ ठोकर खाकर गिर-गिर पड़ते हैं। लौटकर पीछे की ओर देखते हैं। श्रीरामजी के वियोग के तीव्रण दुःख से व्याकुल हो रहे हैं ॥६॥ जो कोई 'राम, लक्ष्मण और वैदेही' ऐसा कहता है, वे घोड़े हिन-हिनाकर प्रेम-पूर्वक उसकी ओर देखने लगते हैं ॥७॥ घोड़ों के विरह की दशा कैसे कही जाय ? जैसे बिना मणि के सर्प व्याकुल हों (ऐसी ही दशा है) ॥८॥ मन्त्री और घोड़ों की दशा देखकर निषाद-राज विषाद के वश में हो गये। तब चार अच्छे सेवकों को बुलाकर उनको सारथी (श्रीसुमन्त्रजी) के साथ कर दिया ॥१४३॥ गुह सारथी को (कुछ दूर) पहुँचाकर लौटा। श्रीरामजी के बिछोह का उसका दुःख कहा नहीं जाता ॥१॥

विशेष—(१) 'अब सुमंत्र···'—आप सुन्दर मन्त्र दाता हैं, पर होनहार पर कुछ वश न चला, होनी होकर ही रही, अब मेरे आने पर यह विचार कर विषाद छोड़िये कि श्रीरामजी तीनो बड़े आनन्द से मार्ग में जा रहे हैं, मैं साथ रहकर देख आया हूँ। 'तुम्ह पंडित परमारथग्याता।···'—पंडित हो, इससे सत्-असत् जानते हो कि सत् धर्म है। पिता की आज्ञा पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म को ग्रहणकर श्रीरामजी कैसे छोड़ें ? परमार्थ के ज्ञाता हो। अतः, इस अचानक विषम घटना को दैवी दुर्घटना अतएव अमिट समझकर धैर्य धरो। शोक करना व्यर्थ है। 'बिबिध कथा कहि-कहि···', यथा—"सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥" (दो० ९४), इन कथाओं को श्रीरामजी ने सुमन्त्रजी से कहा था, निषाद उन्हींका स्मरण करा समझाते हैं। 'बरबस आनी'—जब श्रीरामजी गये तब ये रथ से दूर तट पर जाकर ऊँचे से श्रीरामजी का गंगा पार-होना देखते थे—'रघुकुल तिलक चले···देखेउँ ठाढ़···'। जब वे ओझल हो गये तब वहीं पर गिर पड़े थे। इससे लाकर रथ पर बैठानाप ड़ा।

(२) 'बन मृग मनहुँ···'—घोड़े इधर-उधर भागते हैं, ऐंड़ें मारते हैं, वन ही की ओर को भागते हैं, मानों रथ में चलना ही भूल गये। जैसे जंगली पशु रथ में जोतने से चरफरावें।

(३) 'राम-बियोग बिकल दुख तीछे'—सुमन्त्रजी की माधुर्य-दृष्टि थी, वे राजकुमार रघुकुल-श्रेष्ठ के बिछोह से दुखी थे, इसलिये वहाँ 'रघुबर बिरह' कहा गया। घोड़ों के सम्बन्ध में 'राम-बियोग' कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी घोड़ों में भी रमते हैं। अतः, वियोग में छटपटाते हैं, क्योंकि—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५) कहा ही है।

(४) 'बाजि-बिरह-गति किमि···'—कवि तो अक्षर-अर्थ पाकर कुछ कहता है। घोड़े तो कुछ बोल नहीं सकते तो इनकी दशा कैसे कही जाय ? वा, जिसे श्रीरामजी मिल के बिछुड़े हों, वही जाने और कहे। हाँ, देखने में दशा वैसी है, जैसे सर्प की सर्वस्व-रूपिणी मणि के बिना दशा हो जाय। सर्प मणि बिना व्याकुल-बेहाल होकर जीता है, वैसे १४ वर्ष इनका जीवन रहेगा।

(५) 'भयेउ निषाद बिषादबस···'—निषाद हिंसक जाति होने से कठोर-चित्त होते हैं। जब वे ही दुखी हो गये तो औरों का क्या कहना है। 'सुसेवक चारि'—जो मन्त्री और घोड़ों की भी सेवा करें। चार सुसेवक इससे दिये कि चारो घोड़ों को लीक पर थाम्हे हुए ले जायँ।

चले अवध लेइ रथहिं निषादा । होहिं छनहिं छन मगन बिषादा ॥२॥
सोच सुमंत्र बिकल दुखदीना । धिग जीवन रघुबीर - बिहीना ॥३॥
रहिहि न अंतहु अधम सरीरू । जस न लहेउ बिछुरत रघुबीरू ॥४॥
भये अजस - अघ-भाजन प्राना । कवन हेतु नहिं करत पयाना ॥५॥
अहह मंद मन अवसर चूका । अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका ॥६॥
मीजि हाथ सिर धुनि पछताई । मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई ॥७॥
बिरद बाँधि बरबीर कहाई । चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥८॥

दोहा—बिप्र बिवेकी बेदबिद, संमत साधु सुजाति ।
जिमि धोखे मद-पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति ॥१४४॥

अर्थ—रथ को लेकर निषाद-लोग अयोध्या को चले । वे क्षण-क्षण पर (श्रीराम-विरह के) विषाद में डूब जाते हैं ॥२॥ सुमन्त्रजी दुःख से दीन और व्याकुल होकर शोच रहे हैं कि बिना रघुवीर के मेरे जीने को धिक्कार है ॥३॥ अन्त में यह अधम शरीर नहीं ही रहेगा (एक दिन छूटेगा ही), पर इसने रघुवीर के बिछुड़ते हुए यश नहीं पाया (अर्थात् बिछुड़ते ही प्राण-त्याग होने से प्रेम के सच्चा होने का यश होता, पर वह न हो पाया) ॥४॥ मेरे प्राण अपयश और पाप के पात्र हुए हैं, न जाने किसलिये नहीं जाते ॥५॥ हा ! यह मन्द मन अवसर चूक गया, हृदय अब भी तो दो टुकड़े नहीं होता ॥६॥ उस समय वे हाथ मल-कर और हाथों से सिर पीटकर पछताते हैं, मानों कोई कंजूस अपने धन की राशि को खो बैठा हो ॥७॥ वीर का बाना बाँधकर और बड़ा वीर कहलाकर मानों कोई योद्धा लड़ाई में से भाग चला हो ॥८॥ जैसे कोई विवेकी, वेदज्ञ, साधु-सम्मत और श्रेष्ठ-जाति का ब्राह्मण धोखे से मदिरा पान कर जाये और पछतावे, उसी प्रकार मन्त्रीजी शोच रहे हैं ॥१४४॥

विशेष—(१) 'सोच सुमंत्र···'—मार्ग में सुमन्त्रजी का शोचना कहते हैं कि वे प्रथम श्रीराम-विरह के जीवन को धिक्कारते हैं, फिर शरीर की निन्दा और फिर उसके आधार-भूत प्राणों की निन्दा और पीछे मन की निन्दा करते हैं, क्योंकि यह प्राणों का भी आधार है और यही दुःख का अनुभव करनेवाला है । फिर मन के रहने के आधार-भूत हृदय को ही दूषते हैं कि यही दो टुकड़े क्यों न हो गया तब तो उपर्युक्त सभी को निकलने पड़ते । 'अहह' अत्यन्त खेद सूचक है । 'अधम सरीरू', यथा—"छिति जल पावक गगन समीरा । पंचरचित यह अधम सरीरा ॥" (कि० दो० १०), पुनः, श्रीरामजी साथ लेते तो यह शरीर सुकृती होता, यथा—"राम समीप सुकृत नहिं थोरे ।" (गी० अ० ११), जब उन्होंने साथ नहीं रक्खा तो यह अधम ही है । 'अजस अघ'—छूट जाता तो यश होता, अन्यथा अयश हुआ । पुरवासियों से छिपाकर तमसा के किनारे से लेकर भागे, यह पाप किया । उसीके फल-रूप में अपयश हो रहा है, यथा—"बिनु अब अजस कि पावइ कोई ।" (उ० दो० १११) । पुनः, मेरे जाते ही यह समा-चार सुन राजा प्राण त्याग करेंगे, इसका पाप मुझे होगा । तीनों मूर्त्तियों के त्याग के पाप को अघ कहा है, यथा—"पैठत नगर···जनु मारेसि गुरु बाँभन गाई ।" (दो० १४६), इस पाप के फल-रूप में भी अपयश होना कहा है ।

(२) 'मनहुँ कृपिन धनरासि ···' कृपण को धन बहुत प्यारा होता है, क्योंकि वह कौड़ी-कौड़ी संचित करता है । थोड़ा-सा भी धन खो जाने पर उसे भारी दुःख होता है और जो कहीं उसके धन की राशि ही खो जाय तो क्या कहना है ? उसके दुःख की सीमा नहीं रह जाती । यहाँ सुमन्त्रजी कृपण हैं,

उन्हें श्रीराम-जानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी बहुत प्रिय हैं, इन तीनों में से एक के भी न लौटने पर उन्हें बहुत दुःख होता और तीनों ही नहीं लौटे तो सुमन्त्रजी को निस्सीम दुःख हुआ। अपनी भूल पर शोचते हैं कि हमने तमसा-तट पर पुरजनों को भी न जगा दिया।

(३) 'बिरद बाँधि बरबीर···'—सुमन्त्रजी वीर-रूप चतुर थे, श्रीरामजी को बातचीत-रूपी समर में हराकर विजय-रूप में लौटा लायँगे, यह इन्हें आशा थी। परन्तु न तो श्रीरामजी को बातचीत-रूपी समर में हरा सके कि वे लौटते और उक्त विजय होती और न समर में जूझ मरने की तरह साथ ही गये, किन्तु समर में भागने की तरह खाली रथ लेकर लौटे। अतः, इन्हें उस भागे हुए सुभट की तरह दुःख हुआ।

(४) 'बिप्र बिबेकी बेदबिद···'—इन सब गुणों से युक्त ब्राह्मण प्यास के कारण जल के धोखे में मदिरा पी जाय तो उसे मरण के समान दुःख होता है, क्योंकि मदिरा पीना निषिद्ध है, यथा—"यद्घ्राणमज्ञो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा। एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥" (भाग० ११।५।१२), अर्थात् सौत्रामणि यज्ञ में मद्य का केवल सूँघ लेना विहित है, पीना नहीं, यज्ञ आदि में पशु के आलभन (स्पर्श) का विधान है, हिंसा करने का नहीं और केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री-प्रसंग में प्रवृत्त होना चाहिये, विषय सुख के लिये नहीं—इस शुद्ध धर्म को मूर्ख नहीं जानते, तथा—"यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः। अपेतधर्मा ब्रह्महाचैव स स्यादस्मिंल्लोके गर्हितः स्यात्परे च॥" (महा० आदि ७६।६७), अर्थात् शुक्र ने कहा है कि आज से जो ब्राह्मण मदिरा पान करेगा, वह मन्दबुद्धि धर्मभ्रष्ट होगा, ब्रह्महत्या के पाप का भागी एवं लोक-परलोक में निन्दित होगा। वैसे सुमन्त्रजी नीति-कुशल, विवेकी और शास्त्रज्ञ थे। अच्छे मन्त्री थे। राजा के वचन-रूपी जल के धोखे में पड़ के श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी को स्नेह-पूर्वक रथ पर लेकर चले कि नृप वचन के बल से समझा-बुझाकर लौटा लाऊँगा, पर वे तीनों न लौटे तो अब स्नेह-रूप मदिरा पीने के प्रति पछताते हैं कि हम स्नेह से नाहक चले और रथ पर चढ़ाकर वन को चले, पुनः उनके स्नेह-वश ही आधी रात में सोये हुए पुरवासियों से चुराकर ले भागे। अब किसीको कौन मुँह दिखाऊँगा। वन ले जाकर छोड़ आने का अपयश होगा। अतः, स्नेह ही मदिरा हो गया, यथा—"जाहिं सनेह सुरा सब छाकें।" (दो० २२४), धोखा यह हुआ कि पहले इन्होंने विचार न कर लिया कि मैं किसका भेजा हुआ लौटाने जा रहा हूँ? वनवास तो कैकेयी ने दिया, यथा—"मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥" (दो० ७८), तब राजा के वचन से श्रीरामजी कैसे लौटेंगे? लौटने पर कैकेयी विरोध करेगी और श्रीरामजी को भी भ्रष्ट-प्रतिज्ञ कहेगी, इत्यादि विचार किये होते तो लौटाने की आशा से रथ पर लेकर न आते और न रात में तमसा-तट से ले भागने की ही घटना होती।

'धन रासि गँवाई'—यह वैश्यवर्ण के सम्बन्ध का उदाहरण है। 'बिरद बाँधि···'—यह क्षत्रिय-सम्बन्धी और 'बिप्र बिबेकी···'—यह ब्राह्मण-सम्बन्धी उदाहरण है।

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम - मन - बानी॥१॥
रहइ करमबस परिहरि नाहू। सचिव - हृदय-तिमि दारुनदाहू॥२॥
लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥३॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधिकपाटी॥४॥
बिबरन भयेउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी॥५॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जम-पुर - पंथ सोच जिमि पापी॥६॥

वचन न आव हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई ॥७॥
रामरहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहिं बिलोकत सोई ॥८॥

दोहा—धाइ पूँछिहहिं मोहि जब, बिकल नगर नर-नारि।
उतर देब मैं सबहिं तब, हृदय बज्र बैठारि ॥१४५॥

अर्थ—जैसे कोई श्रेष्ठ कुलवाली स्त्री, साधु स्वभाव, सयानी और मन-कर्म-वचन से पतिव्रता हो ॥१॥ वह कर्म (संस्कार) वश स्वामी को छोड़कर रहे (और उसके हृदय में कठिन दुःख हो) वैसे सुमन्त्रजी के हृदय में कठिन दुःख है ॥२॥ आँखों में जल भरा है, दृष्टि कम हो गई है, कानों से सुनाई नहीं पड़ता, व्याकुल होने से बुद्धि बावली-सी हो गई ॥३॥ ओष्ठ सूख रहे हैं, मुँह में लाटी लग गई (थूक सूख गया, यह असाध्य लक्षण है तब भी) प्राण नहीं निकलते, क्योंकि अवधि-रूपी किंवाड़े हृदय (रूपी कोठरी) में लगे हुए हैं, अर्थात् आशा है कि १४ वर्ष बीतने पर श्रीरामजी फिर मिलेंगे, इस आशा से प्राण नहीं निकल रहे हैं ॥४॥ (मन्त्री) पीला पड़ गया, वह देखा नहीं जाता, मानों इसने अपने माता-पिता को मार डाला है (उनकी हत्या लगी है) ॥५॥ मन में हानि और ग्लानि बहुत व्याप्त हो गई है, जैसे कोई पापी यमपुरी (नरक) को जाते हुए राह में शोचे ॥६॥ बोला नहीं जाता, वह हृदय में पछता रहा है कि मैं अयोध्या में जाकर क्या देखूँगा ? ॥७॥ जो कोई भी श्रीरामजी से रहित रथ को देखेगा, वह मुझे देखकर सकुचेगा, अर्थात् मेरा मुँह देखना न चाहेगा ॥८॥ जब नगर के स्त्री-पुरुष व्याकुल हो दौड़कर मुझसे पूछेंगे, तब मैं छाती पर वज्र रखकर ही उन सबको उत्तर दूँगा ॥१४५॥

विशेष—(१) 'जिमि कुलीन तिय·····'—उत्तम कुल की, सन्मार्ग-वर्त्तिनी, पण्डिता और मन-कर्म-वचन से पतिव्रता स्त्री हो, वह पति के मरने पर सती होने से कर्म-वश (गर्भवती होने के कारण पति की प्रथम दी हुई आज्ञा से) रह जाय, तो उसे पति-वियोग का भारी दाह हो। वैसे श्रीसुमन्त्रजी को श्रीरामजी की आज्ञा-वश उनके साथ न जा पाने से दारुण दाह हुआ, यथा—"मेंटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई ॥" (दो० ९८), जैसे कि राजा बलि की माता को मरने के पहले उसके पति विरोचन ने आज्ञा दी थी कि तुम्हारे गर्भ में जो बालक है, वह धर्मात्मा है, इसलिये तुम सती न होना। फिर बलि का जन्म हुआ, किन्तु बलि की माता को पति को, छोड़कर रह जाने का कठिन दाह हुआ ही।

(२) 'लोचन सजल डीठि भइ ·····'—आँखों में आँसू भर आने से दिखाई नहीं पड़ता, कोई कहकर समझावे, तो सुनाई नहीं पड़ता और अपनी बुद्धि बावली हो रही है, समझे कैसे ?

(३) 'मारेसि मनहुँ पिता·····'—श्रीरामजी पिता, और श्रीजानकीजी माता के समान हैं, क्योंकि राजा एवं राजपुत्र हैं, इनका वन भेजना वध करना है, यह समझने से हत्यारे की-सी आकृति हो गई है, ऐसे पापी का लोग मुँह नहीं देखते, वही आगे कहते हैं—'राम रहित रथ·····सकुचिहि मोहिं ·····'।

(४) 'जम-पुर-पंथ सोच·····'—श्रीराम-रहित होने से अयोध्या यमपुरी के समान है, श्रीसुमन्त्रजी ने अपनेको पापी माना है शोचते हैं कि मैंने श्रीरामजी को पुरवासियों से भी चुराकर वन भेज आने का महा पाप किया है, यमराज-रूप राजा के पूछने पर मैं इसका क्या उत्तर दूँगा।

'अवध काह मैं देखब जाई'—महाराजा का तन त्याग, माताओं के विलाप और प्रजावर्ग के हाहाकार एवं विलाप कैसे देखे जायँगे ? न देखने योग्य ही देखना होगा।

(५) हृदय बज्र बैठारि'—जैसे मकान न फटने के लिये चूना आदि से जमाकर पत्थर बैठाया

जाता है, वैसे हृदय न फट जाने के लिये उसपर वज्र बैठाकर ही उत्तर देना होगा, अर्थात् हृदय अत्यन्त कठोर करके उत्तर देना होगा, यथा—"हौं तो दियो छाती पवि·····" (वि० २५९)।

पुँछिहहिं दीन दुखित सब माता। कहब काह मैं तिन्हहि बिधाता ॥१॥
पूँछिहि जबहिं लखन - महतारी। कहिहउँ कवन सँदेस सुखारी ॥२॥
रामजननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥३॥
पूछत उतर देब मैं तेही। गे बन राम लखन बैदेही ॥४॥
जोइ पूँछिहि तेहि ऊतर देबा। जाइ अवध अब यह सुख लेबा ॥५॥
पूँछिहि जबहिं राउ दुख दीना। जिवन जासु रघुनाथ-अधीना ॥६॥
देहउँ उतर कवन मुँह लाई। आयेउँ कुसल कुँअर पहुँचाई ॥७॥
सुनत लखन - सिय - राम - सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहिं नरेसू ॥८॥

दोहा—हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, यह जातना-सरीर ॥१४६॥

अर्थ—जब सब माताएँ दीन-दुःखी होकर पूछेंगी, तब हे विधाता! मैं उनसे क्या कहूँगा? ॥१॥ जब श्रीलक्ष्मणजी की माता मुझसे पूछेंगी, तब मैं उनसे कौन-सा सुखदाई सँदेशा कहूँगा? ॥२॥ जब श्रीरामजी की माता इस प्रकार दौड़ती हुई आवेंगी, जैसे नवीन ब्याई हुई गाय अपने बछड़े का स्मरण करके दौड़कर आती है ॥३॥ उनके पूछने पर मैं यही तो उत्तर दूंगा कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकी वन को गये ॥४॥ जो ही पूछेगा, उसीको मैं उत्तर दूँगा, श्रीअयोध्याजी में जाकर अब मैं यही तो सुख लूँगा ॥५॥ जब दुःख से दीन महाराजा पूछेंगे जिनका जीवन ही रघुनाथजी के (दर्शनों के) अधीन है ॥६॥ तब मैं कौन मुँह लगाकर उन्हें उत्तर दूँगा कि कुमार को पहुँचाकर मैं कुशल-पूर्वक आ गया ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी का सन्देशा सुनकर राजा तृण की भाँति अपना शरीर छोड़ देंगे ॥८॥ जिस तरह प्यारे जल के बिछुड़ने (सूखने) से कीचड़ फट जाता है। उसी तरह प्रियतम प्यारे के बिछुड़ते मेरा हृदय फट नहीं गया, इससे जान पड़ता है कि मुझे विधाता ने यह यम-यातना शरीर (नरक के कष्ट भोगने के लिये) दिया है ॥१४६॥

विशेष—(१) श्रीसुमन्त्रजी शोचते जाते हैं कि किसे क्या उत्तर दूँगा। पुरवासियों के प्रति तो इतना कह सकते हैं कि आपलोगों का पालन श्रीभरतजी भी करेंगे ही, पर यह भी छाती अत्यन्त कठोर करके कहना पड़ेगा। फिर और सब माताओं, श्रीसुमित्राजी, श्रीकौसल्याजी इत्यादि के लिये कोई उत्तर नहीं पाते, निष्ठुर बात कैसे कहेंगे कि वन भेज आये। फिर शोचते हैं—'जोइ पूछिहि···'—अर्थात् कैकेयी जानती है कि श्रीसुमन्त्रजी लौटाने के लिये भेजे गये हैं। अतः, वह भी पूछेगी (राम-विमुखा का नाम नहीं लेते 'जोइ' के संकेत से कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त पूछनेवालों में यही एक नहीं कही गई। ऐसे राम-विमुख रहने पर जयन्त को भी 'ओही' कहा है। जब परम सन्त नारदजी का उसे संयोग हुआ और पाप नाश हुआ, वहाँ उसका नाम लिया गया है—"नारद देखा बिकल जयंता।" (अर० दो० १), तो उसे भी कहना ही होगा कि हाँ, वन को भेज आये, इसपर हर्षेगी, यह मुझसे कैसे सहा जायगा? हा! अब श्रीअवध जाकर यही तो सुख लेना है।

(२) 'पूँछिहि जबहिं राउ दुख·····'—उनका जीवन श्रीरामजी के बिना नहीं है, यथा—"नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना॥" (दो० ९५), 'कौन मुँह लाई'—इस

मुख से ऐसा न कहा जायगा कि कुमारों को पहुँचाकर मैं सकुशल आ गया, वा, कुमार कुशल-पूर्वक वन को चले गये, मैं पहुँचा आया।

(३) 'तृन जिमि तनु परिहरिहिं नरेसू।', यथा—"बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।" (दो० १६)।

(४) 'हृदय न बिदरेउ पंक जिमि···'—प्रियतम जल के वियोग में कमल, मछली आदि उत्तम कोटि के प्रेमी तो प्रथम ही मर जाते हैं। कीचड़ कुछ दिनों के बाद फटता है, अतएव निकृष्ट प्रेमी है, मेरा हृदय जो राम-वियोग होते ही फट गया होता, तो उत्तम कोटि का प्रेम समझा जाता। अब कई दिन बीत गये। अब फटता, तो भी कीचड़ की तरह निकृष्ट प्रेमियों में कहा जाता, पर वह भी न हुआ। अतएव कीचड़ से भी नीच है। इससे तो यही जान पड़ता है कि मुझे ब्रह्मा इसी देह से यम-यातना का दुःख भोगाना चाहता है। यातना-शरीर—मरने के पीछे पाप कर्मों के फल भोगने के लिये मोम के पुतले के समान लिंग-शरीर मिलता है। काटने पर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, फिर वह वैसा ही हो जाता है। पर काटने आदि का दुःख इसी स्थूल शरीर के काटने आदि के दुःख की तरह होता है।

येहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसा-तीर तुरत रथ आवा ॥१॥
बिदा किये करि बिनय निषादा। फिरे पाँय परि बिकल बिषादा ॥२॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु-बाँभन गाई ॥३॥
बैठि बिटपतर दिवस गँवावा। साँझ समय तब अवसर पावा ॥४॥
अवधप्रबेस कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथ राखि दुआरे ॥५॥
जिन्ह-जिन्ह समाचार सुनि पाये। भूप-द्वार रथ देखन आये ॥६॥
रथ पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे ॥७॥
नगर नारि नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीन गन जैसे ॥८॥

दोहा—सचिव आगमन सुनत सब, बिकल भयेउ रनिवास।
भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेतनिवास ॥१४७॥

अर्थ—(मन्त्रीजी) इस तरह मार्ग में पश्चात्ताप करते हुए जा रहे हैं, शीघ्र ही रथ तमसा किनारे आ पहुँचा ॥१॥ (उन्होंने) निषादों को विनती करके विदा किया। वे चरणों पर पड़कर दुःख से व्याकुल लौटे ॥२॥ नगर में पैठते हुए मन्त्री सकुच रहे हैं, मानों उन्होंने गुरु, ब्राह्मण और गो को मार डाला है ॥३॥ वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने दिन बिता दिया। सन्ध्या का समय हुआ, तब अवसर पाया ॥४॥ अँधेरे में श्रीअवध में प्रवेश किया। रथ को द्वार पर रखकर राज-भवन में गये ॥५॥ जिन-जिन लोगों ने समाचार सुन पाया वे राजा के द्वार पर रथ देखने के लिये आये ॥६॥ रथ को पहचान और घोड़ों को व्याकुल देख—कि उनके शरीर ऐसे गल रहे हैं, जैसे धूप से ओले (गलते हों) ॥७॥—नगर के स्त्री-पुरुष कैसे व्याकुल हो गये हैं, जैसे कि जल को घटते हुए समझ मछलियों का समुदाय व्याकुल हो ॥८॥ मन्त्री सुमन्त्रजी का आना सुनकर सारा रनिवास व्याकुल हो गया, उसे राजमहल ऐसा भयानक लगा कि मानों वह प्रेत का निवास-स्थान (श्मशान) है ॥१४७॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करत पंथ···' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बचन न आव हृदय पछिताई।" (दो० १४४) है। पुनः शोच का उपक्रम—"जम पुर पंथ सोच जिमि पापी।" (दो० १४४), से हुआ और उपर्युक्त—'यह जातना सरीर' पर उपसंहार है।

पापी इसी तरह शोचता हुआ वैतरणी नदी पर पहुँचता है जैसे श्रीसुमन्त्रजी तमसा तट पर पहुँचे। तम + सा = तम से युक्त, इस तरह तमसा ही मानों वैतरणी है। ऊपर शोच का उपक्रम और उपसंहार यमपुर के प्रसंग पर है ही। 'बिदा किये···'—वे लोग द्वार तक पहुँचाना चाहते थे, पर सुमन्त्रजी ने प्रार्थना करके लौटाया।

(२) 'पैठत नगर सचिव ···'—तमसा नदी से आगे चलने को नगर में पैठना कहते हैं। इससे जाना गया कि उस समय दक्षिण दिशा में तमसा तक नगर बसा था और उत्तर में सरयू तक। 'सचिव' अर्थात् ये उत्तम मन्त्री थे, पर ऐसा चूके हैं कि नगर में प्रवेश करते हुए आज लजाते हैं। संकोच की दशा उपमा से जनाते हैं, यथा—'जनु मारेसि गुरु···' श्रीरामजी गुरु, श्रीलक्ष्मणजी ब्राह्मण और श्रीजानकीजी गाय हुईं। सुमन्त्रजी इनको वन पहुँचाना मारने के समान समझे हुए हैं।

(३) 'साँझ समय तब···'—यह चांडाल समय कहा जाता है, हत्यारे के योग्य है, क्योंकि जिन पुरवासियों से छिपा कर रथ ले गये थे, उन्हें कौन मुँह दिखावें।

'अवधप्रबेस कीन्ह अँधियारे'—नगर भर में शोक है। इससे दीपक नहीं जलते। अँधेरे में पैठा कि कोई हमें न देखे। कवि शब्दों के द्वारा श्रीसुमन्त्रजी की आतुरता दिखाते हैं। 'पैठ भवन' पहले कह-कर तब 'रथ राखि' कहा है, अर्थात् लज्जा से शीघ्र ही महल में घुस गये, रथ की सँभाल आदि कुछ न की।

(४) 'समाचार सुनि पाये'—सब लोग सुधि लेते थे कि श्रीसुमन्त्रजी गये हैं, क्या होगा? इसीसे आते ही जान गये। 'गरहिं गात जिमि आतप ओरे'—अर्थात् घोड़े श्वेत वर्ण के हैं। उनके शरीर से पसीना चल रहा है। जैसे धूप में बर्फ गलती है। वियोग की ताप में गले जाते हैं।

(५) 'नगर नारि नर ···'—जब पशुओं की वैसी दशा है, तो ये तो मनुष्य हैं। अतः, इन्हें जल बिना मछली के समान कहा, यथा—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना।" (दो० ५६), 'मीन गन'—क्योंकि नगर ४८ कोस का है और उसमें स्त्री-पुरुष भी बहुत हैं।

अति आरति सब पूछहिं रानी। उतर न आव बिकल भइ बानी ॥१॥
सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृप जेहि तेहि बूझा ॥२॥
दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्यागृह गईं लिवाई ॥३॥
जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिअरहित जनु चंद बिराजा ॥४॥
आसन - सयन - बिभूषन - हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना ॥५॥
लेइ उसास सोच येहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती ॥६॥
लेत सोच भरि छिन छिन छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती ॥७॥
राम राम कह रामसनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही ॥८॥

अर्थ—सारी रानियाँ अत्यन्त आर्त्त होकर पूछ रही हैं, पर मन्त्री की वाणी व्याकुल हो गई है, इससे उत्तर नहीं कहा जाता ॥१॥ उसे कानों से कुछ सुनाई नहीं पड़ता और आँखों से देख नहीं पड़ता। उस जिस-तिस से पूछा कि राजा कहाँ हैं? ॥२॥ मन्त्री की व्याकुलता देखकर दासियाँ उसे कौसल्याजी के गृह में लिवा ले गईं ॥३॥ जाकर श्रीसुमन्त्रजी ने राजा को कैसा देखा कि मानों अमृत-रहित होने पर चन्द्रमा शोभित हो रहा है ॥४॥ आसन, शय्या और आभूषणों से हीन अत्यन्त मलिन राजा पृथ्वी पर पड़े हुए हैं ॥५॥ ऐसी लम्बी साँसें लेते और शोच कर रहे हैं कि मानों स्वर्ग से राजा ययाति गिरे हुए

(साँसें लेते और शोच रहे) हैं ॥६॥ (राजा) क्षण-क्षण पर सोच के मारे छाती भर-भर लेते हैं। (उनकी ऐसी दशा हो रही है) मानों संपाती पक्षों के जलने पर गिरा पड़ा है ॥७॥ राजा राम, राम, स्नेही राम, ऐसा (बार-बार) कह रहे हैं। फिर 'राम-लक्ष्मण-वैदेही' इस प्रकार कहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'अति आरति सब···'—अत्यन्त आर्त होने से सब रानियाँ एक साथ ही पूछ रही हैं, और लोग आर्त्त हैं, रानियाँ 'अति आर्त्त' हैं। 'बिकल भइ बानी'—कंठ गद्गद हो गया वा (वाणी की अधिष्ठात्री देवी) सरस्वती ही व्याकुल हो गई, तो उत्तर कैसे दे।

(२) 'कहहु कहाँ नृप···'—राजा कहाँ हैं बस, यही धुन लग गई। श्रवण आदि इन्द्रियाँ विकल हैं। 'दासिन्ह दीख ··कौसल्या गृह'···—राजा कैकेयी का त्याग तो पहले ही कर चुके थे। श्रीरामजी के चले जाने पर कैकेयी के घर में भी रहना त्याग दिया। वाल्मीकीय अ० स० ४२ में कहा है—"श्रीरामजी के चले जाने पर राजा देखने के लिये निकले, जब तक रथ की धूल भी देख पड़ती थी देखते रहे, फिर व्याकुल होकर गिर पड़े, तब श्रीकौसल्याजी और कैकेयी जी ने उठाना चाहा, तब राजा ने कैकेयीजी का त्याग किया और वे श्रीकौसल्याजी के ही भवन लाये गये।" इससे मन्त्री को दासियाँ वहीं लिवा ले गईं।

(३) 'अमिअ-रहित जनु चंदु बिराजा।'—अमृत रहित चन्द्रमा में प्रकाश, आह्लादकत्व आदि गुण नहीं रहते, वैसे राजा तेजोहीन, असमर्थ पड़े हैं। राम-विरह में यह दशा है, इससे सराहनीय है : अतः, 'बिराजा' कहा गया है, यथा—"जियन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥" (दो० १५५), तथा—"चकई साँझ समय जनु सोही।···" (दो० १२०)—देखिये।

(४) 'सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती।'—"राजा ययाति ने पुत्र को राज्य देकर वन में वानप्रस्थ आश्रम में रहकर एक सहस्र वर्ष से अधिक काल व्यतीत किया। अन्त में वे स्वर्ग गये, बहुत काल वहाँ उन्होंने निवास किया। एक दिन इन्द्र ने ययाति से पूछा कि आपने वन में किसके समान तपस्या की थी। राजा ने कहा कि हे इन्द्र! देव, मानव, गन्धर्व और महर्षियों में मैं अपने समान तपस्वी किसी-को नहीं देखता। तब इन्द्र ने कहा, आपने औरों के प्रभाव न जानकर ही अपने से श्रेष्ठ, तुल्य और छोटों का भी अपमान किया है, इससे आपका पुण्य क्षीण हो गया। अतः, अब स्वर्ग से नीचे गिरेंगे। राजा ने माँगा कि मैं यहाँ से च्युत हो, साधु-समाज में गिरना चाहता हूँ। वे स्वर्ग से नीचे गिर रहे थे कि साधु-धर्मनिष्ठ राजर्षि अष्टक उनसे बोले। महान् तेजस्वी आप कौन हैं? मेरे यहाँ एकत्रित साधु-समाज में आप परिचय दें।

राजा ने कहा, मैं नहुष का पुत्र ययाति हूँ। सब जीवों का अपमान करने पर पुण्य क्षीण होने से गिर रहा हूँ। फिर उन्होंने सत्संग की बातें कहीं। यह भी कहा कि गिरते हुए देवों के शोक करने एवं यहाँ का परिचय देने पर मैं यहाँ आपकी यज्ञ-भूमि पर आया। फिर ययाति ने स्वर्ग की बहुत बातें कहीं और कहा कि स्वर्गलोक जाने के तप, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और प्राणिमात्र पर दया—ये सात प्रधान द्वार हैं। पर अभिमान करने से ये मङ्गल पाने योग्य नहीं रहते। अपनी करणी का बखान करना अनुचित है।

ययाति अष्टक के नाना थे। इन अष्टक आदि नातियों के पुण्य प्रभाव से फिर स्वर्ग गये।" (महा० आदि० ८६-९३)।

वैसे ही राजा दशरथ श्रीराम-तिलक रूपी स्वर्ग तक पहुँच चुके थे, पर कैकेयी के धोखे में पड़कर इन्होंने अहंकार से सत्य धर्म की सराहना की और राम-शपथ भी कर ली। उसीका परिणाम हुआ कि उक्त मनोरथ रूपी स्वर्ग से गिरे। धर्मात्मा भरत-रूपी अष्टक के प्रेम-प्रभाव से श्रीराम-तिलक भी १४ वर्ष पीछे होगा, यही इनका फिर स्वर्ग मिलना है, यथा—"इच्छेयं त्वामहं द्रष्टुं भरतेन समागतम्।" (वाल्मी०

६।११९।२०), तथा—"प्रीतोऽस्मि भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते। अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम। गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात्तव ॥" (महा० वन० २९१।३६-३७), अर्थात् लंका में आये हुए राजा दशरथ ने श्रीरामजी से कहा है कि हे पुत्र ! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हें राज्य देता हूँ, ग्रहण करो। इसपर श्रीरामजी ने कहा है—हे राजेन्द्र ! यदि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपकी आज्ञा से मैं मनोहर अयोध्यापुरी को जाऊँगा।

इस प्रकार श्रीरामजी को राज्य देने का मनोरथ श्री भरतजी के द्वारा ही सिद्ध हुआ, अन्यथा कैकेयीजी ने भरतजी की टीका में १४ वर्ष की अवधि नहीं रक्खी थी। जब भरतजी ने अधिक समय का राज्य पद नहीं ग्रहण किया एवं प्रेम से राम-पादुका को ही राजा बनाया, तभी राजा दशरथ का मनोरथ सिद्ध हुआ—इसपर दो० ३१५ चौ० ७ भी देखिये।

(५) 'जनु जरि पंख परेउ संपाती'—संपाती ने अपनी कथा कि० दो० २७ में स्वयं कही है, अपनी मूर्खता से उसके दोनों पक्ष जले, वैसे ही राजा पछताते हैं कि मैं अपनी मूर्खता से स्त्री के विश्वास में पड़ा, अतः, मेरी यह अति दीन दशा हुई। मैं दोनों पक्ष रूप श्रीसीतारामजी से रहित हुआ। संपाती के पक्ष फिर जमे, वैसे रावण-वध पर पक्षरूप श्रीसीतारामजी इन्हें फिर मिलेंगे। इन दो दृष्टान्तों में फिर संयोग की बातें हैं, इससे दिये गये।

'राम राम कह···'—पहले 'अमिअ रहित जनु चंद बिराजा।' कहा गया था। अब रामनामामृत के सम्बन्ध से कुछ शक्ति हुई। अतः, उठकर सुमन्त्रजी से बात करेंगे।

दोहा—देखि सचिव जय जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनाम।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति, कहु सुमंत्र कहँ राम ॥१४८॥

भूप सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई ॥१॥
सहित सनेह निकट बैठारी। पूछत राउ नयन भरि बारी ॥२॥
राम-कुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लखन बैदेही ॥३॥
आने फेरि कि बनहिं सिधाये। सुनत सचिव-लोचन जल छाये ॥४॥
सोक-बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय-राम-लखन-संदेसू ॥५॥
राम-रूप - गुन - सील - सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥६॥
राज सुनाय दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयेउ न हरष हरासू ॥७॥
सो सुत बिछुरत गये न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना ॥८॥

दोहा—सखा राम-सिय-लखन जहँ, तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहित चाहत चलन अब, प्रान कहउँ सतिभाउ ॥१४९॥

अर्थ—राजा को देखकर मन्त्री ने जय जीव कहकर दंडवत्-प्रणाम किया, सुनते ही राजा व्याकुल होकर उठे (और बोले), सुमन्त्र ! कहो, राम कहाँ हैं ? ॥१४८॥ राजा ने सुमन्त्रजी को हृदय से लगा लिया, मानों डूबते-डूबते कुछ सहारा पा गये ॥१॥ प्रेम के साथ पास बैठाकर राजा आँखों में आँसू भरकर पूछ रहे हैं ॥२॥ हे स्नेही सखा ! श्रीरामजी का कुशल कहो, श्रीरघुनाथजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीवैदेहीजी कहाँ हैं ? ॥३॥ लौटा लाये हो कि वे वन को ही चल दिये, सुनते ही मन्त्री की आँखों में जल छा गया

॥४॥ शोक से व्याकुल हो राजा फिर पूछते हैं कि श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का सन्देश कहो ॥५॥ श्रीरामजी के रूप, गुण और स्वभाव का स्मरण करके राजा हृदय में सोचते हैं ॥६॥ कि हमने राज्य (तिलक) सुनाकर वनवास दिया, यह सुनकर (भी श्रीरामजी के) मन में न हर्ष हुआ और न शोक ॥७॥ ऐसे पुत्र के बिछुड़ते ही यदि प्राण न निकले, तो मेरे समान बड़ा पापी कौन होगा ? ॥८॥ हे सखा ! जहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं, वहीं मुझे पहुँचाओ, नहीं तो अब मेरे प्राण चलना चाहते हैं, मैं सत्य भाव से कहता हूँ ॥१४६॥

विशेष—(१) 'देखि सचिव···'—'जाइ सुमंत्र दीख कस राजा।' यह उपक्रम है और 'देखि सचिव···' यह उसका उपसंहार है। इतने में क्या-क्या देखा, यह कहा गया है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

(२) 'कछु अधार'—अर्थात् सुमन्त्र से कुछ काल तक प्रियपुत्र का सन्देश मिलेगा, यही कुछ आधार होगा, अन्त में तो डूबना ही है। राजा ने तीन प्रश्न किये हैं—राम कुशल कहो, तीनों कहाँ हैं ? और लौटा लाये कि वे वन ही गये। इनके उत्तर में—'सुनत सचिव लोचन जल छाये।' मात्र कहा गया, इसीसे राजा ने समझ लिया कि कोई नहीं लौटे।

(३) 'सोक बिकल पुनि पूछ···'—एक ही बात बार-बार पूछते हैं, क्योंकि शोक से व्याकुल हैं। पूछते हैं कि नहीं लौटे तो तीनों ने कुछ कहा ही होगा, वही कहो। 'राम रूप गुन···'—पूर्वोक्त "राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ···" (दो० १) भी देखिये।

(४) 'राज सुनाय ··सो सुत बिछुरत···'—इसपर—"मुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ। नारिबस न बिचारि कीन्हों काज सोचत राउ···" (गी० अ० ५७)—यह पूरा पद पढ़ने योग्य है।

'तहाँ मोहि पहुँचाउ'—यह आज्ञा सुमन्त्र ने क्यों नहीं मानी ? उत्तर यह है कि यह राजा का प्रेम-प्रमाद है, अन्यथा सुमन्त्र को भेजने के समय स्वयं भी क्यों न साथ हो लिये थे ? राजा के साथ जाने पर कौसल्यादि (उनकी रानियाँ) कब रुक सकतीं, फिर सबके साथ होने पर 'तापस बेष बिसेष उदासी' की सिद्धि कैसे होती ? राजा सत्यसन्ध हैं, वे उससे चलायमान न होंगे, यह सुमन्त्र जी जानते हैं, इससे राजा के इस प्रेम-प्रमाद की उपेक्षा कर दी है।

पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम - सुवन - सँदेस सुनाऊ ॥१॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। राम-लखन-सिय नयन देखाऊ ॥२॥
सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पंडित ज्ञानी ॥३॥
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधुसमाज सदा तुम्ह सेवा ॥४॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रियमिलन बियोगा ॥५॥
काल-करम-बस होहिं गोसाईं। बरबस राति-दिवस की नाईं ॥६॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहि मन माहीं ॥७॥
धीरज धरहु बिवेक बिचारी। छाड़िय सोच सकल हितकारी ॥८॥

अर्थ—बार-बार राजा मन्त्री से पूछते हैं कि परम प्यारे पुत्र का सन्देश सुनाओ ॥१॥ हे सखा ! वही उपाय शीघ्र करो (कि जिसमें) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के दर्शन नेत्रों को कराओ ॥२॥ मन्त्री ने धैर्य धारण करके कोमल वाणी से कहा कि महाराज ! आप पण्डित हैं, ज्ञानी हैं ॥३॥ वीर हैं और अच्छे धीरों में धुरन्धर (श्रेष्ठ) हैं, देव (अर्थात् दिव्य रूप हैं, लोकपालों के तेज आपमें) हैं ॥ आपने सदा ही साधु-समाज का सेवन किया है ॥४॥ जन्म, मृत्यु, सभी दुःखों और सुखों के भोग, हानि-

लाभ, प्यारों का मिलना और बिछुड़ना, ये सब, हे गोसाईं ! काल और कर्म के अधीन रात-दिन की नाईं बरबस होते रहते हैं ॥५-६॥ मूर्ख लोग सुख में प्रसन्न होते और दुःख में रोते हैं। धैर्यवान् लोग मन में दोनों को समान मानते हैं ॥७॥ विवेक से विचार कर धैर्य धारण करिये, हे सबके हित करनेवाले ! शोच करना छोड़िये ॥८॥

विशेष—(१) 'सचिव धीर धरि कह मृदु···'—स्वामी के भारी दुःख पर अपना दुःख दबा दिया और धैर्य धरके समझाने लगे, इससे 'सचिव' पद दिया गया। 'महाराज'—राजा धीर होते हैं, आप तो महाराज हैं। इन्द्र भी आपके बाहु-बल से बसते हैं। अतः, आपको तो धीर होना ही चाहिये। 'पंडित' =शास्त्र-वेत्ता, ज्ञानी = तत्त्व के वेत्ता। कहा भी है—"अनित्यं यौवन रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः। आरोग्यं प्रिय संवासो गृद्ध्येदेषु न पण्डितः ॥" (महा० स्त्री० २।२५ तथा शान्ति० २०५।४), अर्थात् रूप, यौवन, जीवन, द्रव्यसंचय, अरोगता और प्रिय सहवास—ये सभी अनित्य हैं, इससे पण्डित पुरुष इनकी आकांक्षा न करें।

(२) 'साधुसमाज सदा···'—साधुओं के द्वारा दुःख-सुख सहिष्णुता आती है, यथा—जिन्हके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये।" (बि० १३६)।

(३) 'बरबस राति-दिवस की नाईं।'—दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन का होना अनिवार्य है, वैसे ही काल-कर्म का भोग भी अनिवार्य ही है, परीक्षित ने काल से बचने के बहुत उपाय किये, पर न बचे। वैसे ही राजा नृग कर्म की थोड़ी चूक से भी न बचे, गिरगिट होना ही पड़ा। अतः, अनिवार्य वस्तु को भोगना ही चाहिये। महा० आदि० १।२४६-२५१ में भी काल-कर्म की प्रबलता देखने योग्य है।

'सुख हरषहि जड़···', यथा—"दुःखेर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्समेन वर्तेत सदैव धीरः। दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न सञ्ज्वरेन्नाऽपि हृष्येत्कथञ्चित् ॥" (महा० आदि० ९९।१०), अर्थात् धीर लोग दुःख में दुःखी और सुख में सुखी नहीं होते, सदा एकरस रहते हैं। यह जानकर कि भाग्य ही सबकी जड़ है। अतः, वे दुःख-सुख में लिप्त नहीं होते, यथा—"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥" (गीता० २।५६), अर्थात् दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग-रहित और सुखों की प्राप्ति में स्पृहा रहित एवं राग, भय और क्रोध रहित मुनि स्थितधी कहा जाता है।

'यहाँ सुमन्त्रजी राजा को शास्त्र दृष्टि से समझा रहे हैं, राजा भी पण्डित ज्ञानी यथार्थ हैं। पहले सुमन्त्रजी स्वयं भी इसी प्रकार व्याकुल थे—दो० १४३-१४६ में लिखा गया। यहाँ राजा की व्याकुलता अपने से अधिक जानकर धैर्य धरकर समझा रहे हैं। वास्तव में यहाँ पर श्रीसीता-रामजी के स्नेह की महिमा है कि जिसने जनक ऐसे सिद्ध ज्ञानियों को भी व्याकुल कर दिया है—"यह सियराम सनेह बड़ाई ॥ (दो० २७६), "महिमा सिय रघुबर सनेह की" (दो० २८५)—इन प्रसंगों को देखिये।

यहाँ 'राति' पहले कहा है, क्योंकि दुःख भोग वर्तमान है। रात बीतती ही है और फिर दिन होता ही है। वैसे यह दुःख निवृत्त होगा। श्रीरामजी १४ वर्ष पर आवेंगे, तब सुख रूप दिन होगा। यह भी कहा है।

दोहा—प्रथम बास तमसा भयेउ, दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जलपान करि, सियसमेत दोउ बीर ॥१५०॥

केवट कीन्ह बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गँवाई ॥१॥
होत प्रात बटछीर मँगावा। जटामुकुट निज सीस बनावा ॥२॥

रामसखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥३॥
लखन बान-धनु धरे बनाई। आप चढ़े प्रभु-आयसु पाई ॥४॥
बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा। बोले मधुरबचन धरि धीरा ॥५॥
तात प्रनाम तात सन कहेहू। बार बार पद-पंकज गहेहू ॥६॥

अर्थ—(श्रीरामजी का) पहला निवास तमसा नदी के किनारे पर हुआ, दूसरा गंगाजी के तट पर, श्रीसीताजी के साथ दोनों वीर उस दिन स्नान करके जल पीकर ही रह गये ॥१५०॥ फिर गुह केवट ने उनकी बहुत सेवा की, वह रात उन्होंने सिंगरौर में बिताई ॥१॥ प्रातःकाल होते ही वट का दूध मँगाया और उससे अपने मस्तक पर जटाओं का मुकुट बनाया ॥२॥ तब श्रीरामजी के सखा निषादराज ने नाव मँगवाई। श्रीरघुनाथजी प्रिया (श्रीसीताजी) को चढ़ाकर स्वयं भी (उस नाव पर) चढ़े ॥३॥ श्री लक्ष्मणजी ने धनुष-बाण को सँवारकर रक्खा और प्रभु की आज्ञा पाकर वे स्वयं भी चढ़े ॥४॥ मुझे व्याकुल देखकर रघुवीर श्रीरामजी धैर्य धरकर मधुर वचनों में बोले ॥५॥ हे तात! पिताजी से मेरा प्रणाम कहना और बार-बार उनके चरण-कमल पकड़ना ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम बास तमसा···'—वाल्मीकीय रामायण के मत से दो दिन जल पर ही रहे और गोस्वामीजी के मत से तमसा तट पर जल पर रहे। दूसरे दिन गंगातट पर केवट ने सेवा की अर्थात् कन्द-मूल-फल लाकर दिये और उन्हें सब किसीने भोजन किया।

कवि ने यहाँ दोनों मत दिखा दिये है। वाल्मीकीय रामायण का मत दोहे में ही आ गया, तदनुसार केवट की सेवकाई शय्या-रचना आदि ही है। श्रीगोस्वामीजी का मत—'प्रथम बास तमसा भयेउ (तहाँ) न्हाइ रहे जलपान करि' और 'दूसर सुरसरि तीर' (तहाँ) केवट कीन्ह बहुत सेवकाई।' इस तरह यथा-संख्यालंकार से अर्थ होता है।

'जटामुकुट निज सीस बनावा।'—पूर्व कहा गया था—'अनुज सहित सिर जटा बनाए।' पर यहाँ केवल श्रीरामजी को कहा गया है, इनकी प्रधानता में श्रीलक्ष्मणजी का भी जटा धारण समझा जायगा, क्योंकि लक्ष्मणजी श्रीरामजी के अनुगामी हैं।

(२) 'लखन बान-धनु धरे···'—अस्त्र-शस्त्र बना नाव पर धर दिये, क्योंकि यह नीति है कि नाव पर शस्त्रास्त्र धर के ही चढ़ना चाहिये, अन्यथा नाव कहीं डूब जाय तो शस्त्र-समेत तैरकर बचना कठिन हो जाता है। यह भी हेतु है कि अभी उसपार स्नान आदि करना ही है।

(३) 'बिकल बिलोकि मोहि···'—वे तो वीर हैं, उन्होंने स्नेह को भी जीत लिया है, पर मुझे विकल देखकर वे भी विकल हो गये, फिर धीर धरकर समझाने लगे। कहा भी है—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज बानि करुना निधान की।" (गी० सुं० ११)।

करबि पाय परि बिनय बहोरी। तात करिय जनि चिंता मोरी ॥७॥
बनमग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥८॥

छन्द—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं।
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पायँ पुनि फिरि आइहौं ॥
जननी सकल परितोषि परि परि पायँ करि बिनती घनी।
तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी ॥

सो०—गुरु सन कहब सँदेस, बार बार पद-पदुम गहि।
करब सोइ उपदेस, जेहि न सोच मोहि अवधपति ॥१५१॥

अर्थ—फिर चरणों पर पड़कर प्रार्थना करना कि हे तात! आप मेरी चिन्ता न करें ॥७॥ आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्य (के प्रभाव) से वन के मार्ग में हमारे लिये मंगल और कुशल है ॥८॥ हे तात! आपके अनुग्रह से मैं वन में जाते हुए सब सुख पाऊँगा। आपकी आज्ञा का अच्छी तरह पालन करके कुशल-पूर्वक लौट आकर चरणों के दर्शन करूँगा॥ सब माताओं के चरणों पर पड़-पड़कर उनको समझा बुझाकर उनसे बड़ी विनती करना। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी ने मन्त्री के द्वारा माताओं से प्रार्थना की कि आप सब वही उपाय करें, जिसमें कोशलाधीश श्रीदशरथजी कुशल से रहें॥ बार-बार श्रीगुरुजी के चरण-कमल पकड़कर उनसे बार-बार यह सन्देश कहना कि वे पिताजी को वही उपदेश करें, जिससे वे अवधनाथ मेरा शोच न करें ॥१५१॥

विशेष—'बनमग मंगल कुसल·····'—मंगल होगा—मुनियों के दर्शन होंगे। कुशल होगी—सुग्रीव आदि सखा मिलेंगे। पुनः स्वधर्म निर्वाह में विघ्न-बाधा न होगी। 'सब सुख पाइहउँ'—राजा को चिन्ता थी कि कुमारों को दुःख होगा। उसीपर कहते हैं, जाते हो वहाँ सब सुख मिलेगा। 'जननी सकल···'—माताओं से भी निहोरा करते हैं कि वे पिता से यह भी कहकर उन्हें न दुखावें कि आपने हमारे पुत्र को वनवास दे दिया। 'गुरु सन कहब···'—गुरुजी भविष्य के कल्याण की बात कहकर पिता को समझाते रहें कि इस वनवास से भू-भार हरण आदि बहुत कार्य होंगे। यह भी समझावें कि आप 'अवधपति' हैं, श्री अवध के सभी राजा उदार और धर्मात्मा होते आये हैं, आप भी सत्यरक्षा में धैर्य धारण करें, तब पुरी की रक्षा होगी।

पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु बिनती मोरी ॥१॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाह सुखारी ॥२॥
कहब सँदेस भरत के आये। नीति न तजिय राजपद पाये ॥३॥
पालेहु प्रजहि करम-मन-बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी ॥४॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु-मात-सुजन सेवकाई ॥५॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करइ न काऊ ॥६॥
लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहिं निहोरा ॥७॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई ॥८॥

दोहा—कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल-सनेह।
थकित बचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह ॥१५२॥

अर्थ—हे तात! सब पुरवासियों और परिवार के लोगों को निहोरा करके मेरी प्रार्थना सुनाना ॥१॥ कि वही मनुष्य मेरा सब प्रकार से हितकारी है, जिससे राजा सुखी रहें ॥२॥ श्रीभरतजी के आने पर उनसे मेरा संदेशा कहना कि राज्य-पद पाकर नीति न छोड़ दें (वा, नीति है कि पाये हुए राज्य-पद को न छोड़ें) ॥३॥ कर्म, मन एवं वाणी से प्रजा का पालन करना और सब माताओं को समान जानकर उनकी सेवा करना ॥४॥ हे भाई! पिता, माता और सुजन (स्वजन, परिजन एवं सज्जन) की सेवा करके अन्त

तक भाई-पना निबाहना ॥५॥ हे तात ! राजा को इस तरह से रखना कि जिससे कभी भी वे मेरा शोच न करें ॥६॥ उस समय श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे, तब श्रीरामजी ने उन्हें मनाकर फिर मुझसे प्रार्थना की ॥७॥ और बार-बार अपनी शपथ दिलाई और कहा कि हे तात ! पिताजी से यह श्रीलक्ष्मणजी का लड़कपन मत कहना ॥८॥ श्रीसीताजी ने प्रणाम कहकर कुछ कहना चाहा, पर वे स्नेह के कारण शिथिल हो गईं, उनकी वाणी स्थगित हो (रुक) गई, आँखों में आँसू भर आये और देह पुलकों (रोमांचों) से पल्लवित हो गई ॥१५२॥

विशेष—(१) 'नरनाह सुखारी' अर्थात् राजा नर मात्र के स्वामी और सेव्य हैं, उन्हें सुखी रखना ही चाहिये। पुरजन-परिजन में बहुत ऐसे भी होंगे, जो राजा को दोष देते होंगे, उनसे निहोरा कर मना किया है।

(२) 'नीति न तजिय राजपद पाये'—प्रायः लोगों को राज्य-पद पाने पर अभिमान हो जाता है, तब वे नीति छोड़ बैठते हैं, यथा—"जग बौराइ राज-पद पाये।" (दो० २२७), इसलिये कहते हैं कि श्रीभरतजी से ऐसा कहना कि वे नीति न छोड़ें, नीति के त्यागने से नरक होता है।

यद्यपि श्रीरामजी जानते हैं—"भरतहिं होइ न राज-मद, बिधि हरिहर पद पाइ।" (दो० २३१), फिर भी यह शिक्षा देते हैं, यह प्रीति का स्वभाव है कि बड़े भाई प्यार से छोटे को नीति सिखाते हैं, यथा—"राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥" (उ० दो० २४), तथा—"सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रान प्रिय राम, कहिउँ कथा संसार हित॥" (अर० दो० ५), वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये।

दूसरा अर्थ जो कोष्ठक में है, श्रीभरतजी के इन वचनों से उसका समर्थन होता है—"प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाज सकेली॥" (दो० २९७), वह 'प्रभु बचन' यही हो सकता है कि यहाँ श्रीरामजी ने राज्य करने की आज्ञा दी है।

(२) 'ओर निबाहेहु भायप भाई।·····'—अर्थात् हमारी माता एवं श्रीलक्ष्मणजी की माता को अपनी माता के समान मानना, और भी सब माताओं को तुल्य मानना, भाव यह कि इससे हम दोनों भाई भी प्रसन्न होंगे। 'पितु' शब्द प्रथम देकर माताओं के तुल्य होने का कारण जनाया कि पिता के अनुरूप ही सब माताएँ तुल्य हैं, यथा—"भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्त्तसे। तथा मातृषु वर्त्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः॥ यथा च तव कैकेयी सुमित्रा च विशेषतः। तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः॥ तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता। लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्॥" (वाल्मी० २।५२।३४-३६), तथा—"सर्वास्वेव यथा न्यायं वृत्तिं वर्त्तस्व मातृषु।" (वाल्मी० २।५८।२१)।

(३) 'लखन कहे कछु बचन कठोरा।·····लरिकाई॥'—राजा ने तीनो के विषय में लौटाने को श्रीसुमन्त्रजी से कहा था और यह भी कि जब नहीं लौटें तो तीनो का सन्देशा ही लाना। इसपर मन्त्रीजी कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी ने भी कुछ वचन कहे हैं, पर वे कठोर वचन थे, इससे श्रीरामजी ने अपनी शपथ देकर मना कर दिया, यथा—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥ सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेस कहिय जनि जाई॥" (दो० ९५), (इसपर भी कुछ लिखा गया है, वहीं देखिये) श्रीलक्ष्मणजी के कटु वचन औरों की दृष्टि से कुछ वैसे न थे, पर श्रीरामजी की दृष्टि से बहुत अनुचित थे कि जिनके वचन मानकर हम वन को आये, हमारे अनुगामी होते हुए श्रीलक्ष्मणजी को ऐसा न कहना चाहिये, फिर भी अभी लड़के ही हैं, यथा—"लालन जोग लखन लघु लोने।" (दो० १९९), ये श्रीलक्ष्मणजी के वचन वाल्मी० २।५८।२६-३३ में हैं।

शंका—जब श्रीरामजी ने इन्हें शपथ-पूर्वक मना किया था तब फिर श्रीसुमन्त्रजी ने क्यों कहा ?

समाधान—राजा ने तीनो का सन्देशा पूछा था, यथा—"सोक बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय राम लखन संदेसू॥" इसका उत्तर देते हुए मन्त्री ने श्रीलक्ष्मणजी के उत्तर के विषय में इतना ही कहा कि हाँ, श्रीलक्ष्मणजी ने भी कुछ कठोर वचन कहे थे, पर उन्हें कहने के लिये श्रीरामजी ने अपनी शपथ देकर मना कर दिया है, इससे हम न कहेंगे। बस, उत्तर भी हो गया और वह बात भी न कही गई। राम-शपथ सुनकर राजा सुमन्त्रजी से उसे कहलाने की भी हठ न करेंगे।

(४) 'कहि प्रनाम कछु·····'—यहाँ श्रीसीताजी का सन्देशा न कहा, केवल नौका पर चढ़ने के समय की दशा-मात्र कह दी। कारण यह कि वे वचन सुमन्त्रजी कह न सकते, यथा—"सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥" (दो० ९८), जब सुनकर यह दशा हुई थी तो कहते कैसे? उसके स्मरण से ही विह्वल हो रहे हैं।

मन्त्री के यहाँ के कथन का भाव वाल्मीकीय रामायण के इस प्रसंग (अ० स० ५८।३४–३७) के अनुसार है। इस तरह यहाँ पर महर्षिजी का भी मत दिखा दिया। राजा दशरथ अत्यन्त दुखी हैं, मृत्यु चाहते हैं, यथा—"सुनि सुमंत्र कि आनि सुंदर सुवन सहित जियाउ। दास तुलसी नतरु मो कहँ मरन अमिअ पियाउ॥" (गी० अ० ५७), श्रीसुमन्त्रजी की विह्वल दशा में भावी ने उनसे ऐसे वचन कहलाये कि जो श्रीसीताजी की दुःख दशा आदि वे न सह सकें और मृत्यु रूपी अमृत प्राप्त करें। यद्यपि पीछे वाल्मीकीय रामायण २।६०।५–१३ में ही फिर सावधान होने पर उन्हीं श्रीसुमन्त्रजी ने कौसल्याजी को और ही तरह समझाया है। अतः, यहाँ मन्त्री की व्याकुलता में ये वचन पूर्व दो० ९८ की घटना से कुछ पृथक् हैं, क्योंकि प्रथम सुमन्त्रजी का नाव के समीप होना नहीं पाया जाता।

तेहि अवसर रघुबर-रुख पाई। केवट पारहिं नाव चलाई॥१॥
रघु-कुल-तिलक चले येहि भाँती। देखेउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥२॥
मैं अपन किमि कहउँ कलेसू। जियत फिरेउँ लेइ राम-सँदेसू॥३॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयेऊ। हानि गलानि सोच बस भयेऊ॥४॥
सूत-बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥५॥
तलफत बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा॥६॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥७॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥८॥

दोहा—भयेउ कोलाहल अवध अति, सुनि नृप-राउर सोर।
बिपुल बिहँग-बन परेउ निसि, मानहुँ कुलिस कठोर॥१५३॥

अर्थ—उस समय रघुवर श्रीरामजी का रुख पाकर केवट ने पार ले जाने को नाव चलाई॥१॥ रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी इस तरह चल दिये और मैं अपनी छाती पर वज्र रखकर खड़ा-खड़ा देखता रहा॥२॥ मैं अपना क्लेश कैसे कहूँ कि श्रीरामजी का सन्देश लेकर जीता लौट आया॥३॥ ऐसा कहकर मन्त्री की वाणी रुक गई और वह हानि, ग्लानि और शोच के वश हो गया॥४॥ सारथी के इन वचनों को सुनते ही राजा पृथ्वी पर गिर पड़े, उनके हृदय में बड़ी भारी जलन होने लगी॥५॥ वे तड़प रहे हैं, कठिन मोह

उनके मन में भर (व्याप) गया है, मानों मछली को माँजा व्याप्त हो गया हो ॥६॥ विलाप करके सब रानियाँ रो रही हैं, बड़ी भारी विपत्ति है, उसका कैसे बखान किया जाय ? ॥७॥ उस विलाप को सुनकर दुःख को भी दुःख लगा और धैर्य का भी धैर्य दूर हो गया ॥८॥ राजमहल का हल्ला सुनकर श्रीअयोध्या-भर में अत्यन्त कोलाहल मच गया, ऐसा जान पड़ता है कि मानों पक्षियों के बड़े भारी वन में रात के समय कठोर वज्र गिरा हो ॥१५३॥

विशेष—(१) 'जियत फिरेउँ लेइ···'—अर्थात् यह आश्चर्य हुआ जो मैं जीता हुआ यहाँ तक आ सका। फिर आये ही क्यों ? इसका उत्तर 'लेइ राम सँदेसू' इस पद में है कि श्रीरामजी ने जो सबसे कहने को कहा था, यह सन्देशा लेकर आना आवश्यक था, क्योंकि—"मेंटि जाइ नहिं राम रजाई।···" (दो० ९८)—यह कहा ही गया है।

(२) 'हानि गलानि सोच···'—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी धन हैं, यथा—"मनहुँ कृपिन धन रासि गँवाई।" (दो० १४३), इनका हाथ से निकल जाना हानि है, उसीसे ग्लानि हुई, फिर उसीसे शोचवश हुए। वा जोते हुए लौट आने को ग्लानि है और राजा की दशा से शोच हुआ।

श्रीसुमन्त्रजी ऐसी हानि, ग्लानि और शोच वश हुए कि फिर श्रीरामचरित मानस में चौदह वर्ष तक किसी कार्य में इनकी चर्चा नहीं है, मानो ग्लानि के मारे इन्होंने किसीको मुँह नहीं दिखाया। 'परेउ धरनि'—पहले 'सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति···' कहा गया था, आशा से उठे थे, अब निराशा पर फिर गिर पड़े।

(३) 'मोह मन मापा'—गाप शब्द का अर्थ व्यापना है, यह नाप के अर्थ में भी कहा जाता है, अर्थात् मन की हद्द-पर्यन्त में मोह भर गया वा मोह से मन मतवाला हो गया, मात गया, यथा—"माँजहिं खाइ मीन जनु मापी ॥" (दो० ५३), 'सुनि बिलाप दुखहू···'—भाव यह कि मूर्त्तिमान दुःख और धैर्य भी दुःखी और अधीर हो गये, इस तरह दुःख की सीमा जनाई।

(४) 'बिपुल बिहँग-बन परेउ निसि·····'—अयोध्या वन है, पुरवासी विपुल विहँग हैं, मन्त्री का वचन वज्र है, वह प्रथम राजा पर गिरा, यथा—"सूत बचन सुनतहिं नर नाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥" वज्र से जलना होता ही है। मन्त्री रात ही में आया, पक्षी रात में बसेरा लिये हुए रहते हैं, कोई भी बाहर नहीं रहता। वैसे ही सभी पुरवासी श्रीअवध में हैं, सभी दुखी हुए। पूर्व कैकेयी से उसकी सखियों ने कहा था—"कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥" (दो० ४८), वह यहाँ चरितार्थ हुआ। 'नृप राउर'—राउर पद रावल का रूप है=राजमहल।

प्रान कंठगत भयेउ भुआलू। मनि-बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥१॥
इंद्रिय सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज बन बिनु बारी ॥२॥
कौसल्या नृप दीख मलाना। रबि-कुल-रबि अथयेउ जिय जाना ॥३॥
उर धरि धीर राम-महतारी। बोली बचन समय - अनुसारी ॥४॥
नाथ समुझि मन करिय बिचारू। राम - बियोग - पयोधि अपारू ॥५॥
करनधार तुम्ह अवधजहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय-पथिक-समाजू ॥६॥
धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू ॥७॥
जौ जिय धरिय बिनय पिय मोरी। राम लखन सिय मिलहि बहोरी ॥८॥

दोहा—प्रिया बचन मृदु सुनत नृप, चितयेउ आँखि उघारि ।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचत सीतल बारि ॥१५४॥

अर्थ—राजा दशरथ के प्राण कंठ में आ गये, मानों बिना मणि के सर्प व्याकुल हो ॥१॥ उनकी सभी इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गईं मानों बिना जल के सरोवर में कमल-वन हो ॥२॥ कौसल्याजी ने राजा को कुम्हलाये हुए देखा, तब वे जी से जान गईं कि सूर्यकुल के सूर्य अब डूबे (डूबना चाहते है) ॥३॥ श्रीरामजी की माता हृदय में धैर्य धरकर समय के अनुकूल बचन बोलीं ॥४॥ हे नाथ ! अपने मन में समझकर विचार कीजिये कि श्रीरामजी का वियोग अपार सागर है ॥५॥ आप मल्लाह हैं और अयोध्या जहाज है, समस्त प्रिय-वर्ग यात्रियों के समाज हैं, जो उसपर चढ़े हैं ॥६॥ आप धैर्य धारण करें तो पार हो जायँगे, नहीं तो सारा परिवार ही डूब जायगा ॥७॥ हे प्रिय नाथ ! यदि आप मेरी प्रार्थना को हृदय में धारण करें तो श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी फिर मिलेंगे ॥८॥ प्रिय स्त्री के कोमल वचन सुन राजा ने आँखें खोलकर देखा मानों तड़पती हुई दुःखी मछली पर ठंढा जल डाल दिया गया हो ॥ १५४ ॥

विशेष—(१) 'मनि-बिहीन जनु व्याकुल·····'—राजा ने पूर्व-जन्म में वर माँगते समय दो प्रकार के जीवन-मरण माँगे थे, यथा—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना ।" (बा० दो० १५०), वे चरितार्थ हो रहे हैं, यथा—'माँजा मनहुँ मीन कह ब्यापा ।' 'मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ।' 'तलफत मीन मलीन जनु' ।

(२) 'इंद्रिय सकल बिकल भइँ···'—यहाँ राजा—सर, दस इन्द्रियाँ—कमल-वन और श्रीरामजी—जल हैं । सर से परोपकार होता है, वैसे ही राजा से सबका पालन होता है । कमल देवताओं को चढ़ता है, वैसे राजा के हस्त आदि इन्द्रियों से देवताओं के कार्य हुए हैं, यथा—"सुरपति बसै बाहुबल जाके ।" (दो० २४) । 'उर धरि धीर राम···'—धैर्य के सम्बन्ध से 'राम महतारी' कहा है, क्योंकि श्रीरामजी धीर हैं । स्वयं विकल थीं, पर धीर धारण किया ।

(३) 'करनधार तुम्ह अवध···'—अभी ये कर्णधार हैं, पर ये अधीर होकर प्राण छोड़ देंगे । तब दूसरे कर्णधार श्रीभरतजी आकर सँभालेंगे, यथा—"अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह । सोक सिंधु बूड़त सबहिं, तुम्ह अवलंबन दीन्ह ॥" (दो० १८४), फिर १४ वर्ष तक ये ही रहे, ये भी अधीर होकर प्राण छोड़ने पर हुए, यथा—"बीते अवधि रहिहि जौं प्राना । अधम कौन जग मोहिं समाना ॥" (उ० दो० १), तब इनको सहारा देने को श्रीहनुमानजी आ गये, यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत । बिप्र रूप धरि पवन सुत, आइ गयो जनु पोत ॥" (उ० दो० १), फिर श्रीरामजी स्वयं आ गये, यथा—"बूड़त बिरह बारीस कृपा निधान मोहिं कर गहि लियो ।" (उ० दो० ४) । तब यह विरह-सागर ही समाप्त हो गया ।

(४) 'जौ जिय धरिय बिनय···'—ये शिक्षा नहीं देतीं, किन्तु विनय करती हैं । विनय के सभी वचन मृदु है । पर 'राम लखन सिय मिलिहिं बहोरी' यह वचन अत्यन्त मृदु है । यही शीतल जल से सींचने के समान है । जल बिना मछली तड़पती रहती है । जल के छींटे से जैसे वह आँख खोल दे वैसे राजा ने इस वचन से यही समझा कि मानों क्षण-भर को श्रीरामजी मिल ही गये । इससे उठकर राजा बैठ गये । 'प्रिय'—क्योंकि पटरानी हैं और इनके पुत्र को वनवास दिया तो भी ये प्रिय-वचन कह रही हैं और श्रीरामजी के मिलने की आशा दे रही हैं ।

धरि धीरज उठि बैठि भुआलू । कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू ॥१॥

कहाँ लखन कहँ राम सनेही। कहँ प्रिय पुत्र - बधू बैदेही ॥२॥
बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुगसरिस सिराति न राती ॥३॥
तापस-अंध-स्राप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई ॥४॥
भयेउ बिकल बरनत इतिहासा। राम-रहित धिग जीवन आसा ॥५॥
सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा ॥६॥
हा रघुनंदन प्रानपिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते ॥७॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित-चातक-जलधर ॥८॥

दोहा—राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयेउ सुरधाम ॥१५५॥

अर्थ—राजा धैर्य धरकर उठ बैठे (और बोले) श्रीसुमन्त्रजी ! कहो, कृपालु श्रीरामजी कहाँ हैं ? ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं ? स्नेही श्रीरामजी कहाँ हैं ? प्यारी पुत्र-वधू विदेह-कुमारी कहाँ हैं ? ॥२॥ राजा व्याकुल हैं और बहुत प्रकार से विलाप कर रहे हैं। रात युग के समान (भारी) हो गई। वह बीतती ही नहीं ॥३॥ अन्धे तपस्वी के शाप की स्मृति आई तो श्रीकौसल्याजी को उसकी सारी कथा सुनाई ॥४॥ तपस्वी के इतिहास का वर्णन करते हुए व्याकुल हो गये। (और बोले कि) श्रीरामजी के बिना जीने की आशा को धिक्कार है ॥५॥ मैं उस शरीर को रखकर क्या करूँगा, जिसने मेरे प्रेम-प्रण का निर्वाह नहीं किया ॥६॥ हा रघुकुल के आनन्द देनेवाले ! हा प्राण प्यारे ! तुम्हारे बिना जीते हुए मुझे बहुत दिन बीत गये ॥७॥ हा श्रीजानकीजी ! श्रीलक्ष्मणजी !! हा रघुवर !!! हा अपने पिता के चित्तरूपी-चातक के हितकारी मेघ !!! ॥८॥ राम-राम कहकर, फिर राम कहकर पुनः राम-राम-राम कहते हुए रघुवर श्रीरामजी के विरह (दुःख) में शरीर छोड़कर राजा सुरलोक को गये ॥१५५॥

विशेष—(१) 'कहु सुमंत्र···'—राजा सुमन्त्रजी से बातें करते हुए अधीर हो व्याकुल हुए थे। पीछे श्रीकौसल्याजी के वचनों पर उठ बैठे हैं, पर पूर्व के अभ्यास से सुमन्त्र को ही सम्बोधित करके कहते हैं, यद्यपि इस समय सुमन्त्रजी का यहाँ रहना नहीं पाया जाता।

(२) 'भइ जुग सरिस···'—दुःख के समय बहुत बड़े जान पड़ते हैं।

(३) 'तापस-अंध-स्राप सुधि···'—यह कथा वाल्मीकीय रामायण अ० स० ६३-६४ में विस्तार से है—श्रीरामजी के वन जाने की छठी रात को राजा ने श्रीकौसल्याजी से कहा है कि "मैं जब युवराज-पद को प्राप्त कुमार ही था। वर्षाऋतु में रात के समय सरयू-तट पर गया। वहाँ नदी में जल पीनेवाले जानवरों के प्रति शिकार की इच्छा से और अपनी 'शब्दवेधी' धनुर्धरों में ख्याति पाने की इच्छा से घात में था। अँधेरे में मुझे हाथी के गर्जन के समान शब्द मालूम हुआ। उसी ओर को मैंने शब्दवेधी तीक्ष्ण बाण चलाया, तब उस ओर से वनवासी के शब्द सुनाई पड़े—हा, हा, मुझ तपस्वी पर किसने शस्त्र प्रहार किया, मैंने किसीकी क्या बुराई की थी ? जो मुझे बाण से मारा। मैं वहाँ घबराकर गया, तब देखा कि वे तपस्वी बाण से घायल खून से लथपथ पड़े थे। मुझे देखकर वे बोले, तुमने मुझे क्यों मारा ? मैं अपने वृद्ध अन्धे माता-पिता के लिये जल लेने आया था, वे प्रतीक्षा करते होंगे। जाकर मेरे माता-पिता को यह सब वृत्तान्त कहकर उन्हें प्रसन्न करो जिससे वे तुम्हें शाप न दे दें और मेरे शरीर से बाण निकाल दो। बाण निकालते ही मृत्यु हो जायगी तो मुझे ब्रह्म-हत्या लगेगी—इससे मैं डरता था, यह जानकर उन्होंने

कहा कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, आप डरें नहीं, बाण-निकालें। मेरे बाण के निकालते ही उनके प्राण निकल गये। मैं उनके बताये हुए मार्ग से उनके माता-पिता के पास गया और वृत्तान्त सुनाया। तब वे बोले कि राजन्! यदि तुम अपना अनजान से किया हुआ कर्म स्वयं आकर न कहते तो तुम्हारे सिर के सैकड़ों एवं हजारों टुकड़े हो जाते। तुम यदि जान-बूझकर ऐसा किये होते, तो तुम्हारा रघुकुल ही नष्ट हो जाता, तुम्हारी क्या बात? मुझे अपने पुत्र का स्पर्श कराओ। मैं अकेला ही उन दोनों को वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्र पर लिपट पड़े और विलाप करने लगे। उनका पुत्र दिव्य-रूप हो स्वर्ग को प्राप्त हुआ। स्वर्ग जाते समय इन्द्र के साथ उस पुत्र ने आकर माँ-बाप को आश्वासन दिया और कहा कि आप लोगों की सेवा से मुझे बड़ा उच्च पद मिला। उन दोनों ने पुत्र को जलांजलि देकर मुझसे कहा—'तुम हमें भी बाण से मार डालो, तुमने अज्ञान से हमारे पुत्र को मार डाला, अतएव मैं तुम्हें बहुत ही कठोर शाप देता हूँ कि 'जिस प्रकार मैं पुत्र की मृत्यु का दुःख पा रहा हूँ। राजन्! तुम भी पुत्र शोक से ही मृत्यु पाओगे और मेरी-सी घोर दशा पाओगे।' इस तरह शाप देकर वे दोनो चिता में भस्म होकर स्वर्ग को गये। उस उदार मुनि का वचन आज पूरा हो रहा है।

(३) 'भयेउ बिकल बरनत···'—कहते-कहते ही ग्लानि हुई कि प्राकृत पुत्र के वियोग में उन्होंने प्राण छोड़ दिये और मैं श्रीरामजी-ऐसे दिव्य पुत्र के वियोग में भी जीता हूँ, इस आशा पर कि फिर मिलगे, इस जीने को धिक्कार है! यहाँ कौसल्याजी के वचन—"जौं जिय···राम लखन सियमिलहिं बहोरी।' का निराकरण है। 'सोतनु राखि करबि मैं ···', यथा—"करत राय मन में अनुमान। ··ऐसे सुत के बिरह अवधि लौ जौ राखउँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौ निज कान॥ राम गये, अजहूँ हौं जीवत समुझत ही अकुलान। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान" (गी० अ० ५९)।

(४) 'राम राम कहि राम···'—राजा ने राम-राम कहते ही प्राण छोड़े, दूसरा शब्द कहा ही नहीं, इसीसे ग्रन्थकार ने भी राम-राम से ही दोहे के पूर्वार्द्ध पद की पूर्त्ति की है। अभी 'सुरधाम' अर्थात् इन्द्र-लोक ही गये, क्योंकि इन्हें राम-तिलक देखने की वासना है, वह १४ वर्ष के बाद पूरी होगी, तब परधाम जायँगे। भगवान् ने जैसे सुग्रीवजी और विभीषणजी की राज्य-वासना के भोग की पूर्त्ति कराई। पुनः ध्रुव को ३६००० वर्ष राज्य-भोग कराया। वैसे इनकी भी वासना पूरी कराके नित्य धाम देंगे, क्योंकि यह सिद्धान्त है—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (अर० दो० ३०), अर्थात् राम-नाम जीवों को मुक्ति देने में कर्मज्ञानादि की अपेक्षा नहीं करता। लं० दो० ११० चौ० ५-६ भी देखिये।

जियन-मरन-फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥१॥
जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम-बिरह करि मरन सँवारा॥२॥
सोकबिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥३॥
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥४॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदन करहिं पुरबासी॥५॥
अथयेउ आजु भानु-कुल-भानू। धरमअवधि गुन-रूप-निधानू॥६॥
गारी सकल कैकइहि देहीं। नयनबिहीन कीन्ह जग जेहीं॥७॥
एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ज्ञानी॥८॥

दोहा—तब बसिष्ठ मुनि समयसम, कहि अनेक इतिहास।
सोक निवारेउ सबहि कर, निज बिज्ञान प्रकास ॥१५६॥

अर्थ—जीने और मरने का फल तो एक श्रीदशरथजी ने पाया, जिनका निर्मल यश अनेक ब्रह्माण्डों में छा गया ॥१॥ जीते जी वे श्रीरामजी का मुखचन्द्र देखा किये और राम-विरह करके (राम-विरह के द्वारा) मरण सँवारे (मरण को सुशोभित किये) ॥२॥ शोक से व्याकुल होकर सब रानियाँ रो रही हैं। राजा के रूप, शील, बल और तेज को बखान करके ॥३॥ अनेकों प्रकार से विलाप कर रही हैं और बार-बार भूमि पर गिरती हैं ॥४॥ व्याकुल होकर दास और दासियाँ विलाप कर रहे हैं, पुरवासी घर-घर रो रहे हैं ॥५॥ (और कहते हैं कि) आज धर्म की पराकाष्ठा और गुण तथा रूप के स्थान सूर्य-कुल के सूर्य अस्त हो गये ॥६॥ कैकेयी को सब गाली देते हैं, जिसने संसार-भर को नेत्रों से हीन कर दिया ॥७॥ इस तरह विलाप करते-करते रात बीती, (तब) समस्त ज्ञानी महामुनि आये ॥८॥ तब वसिष्ठ मुनि ने समयानुसार अनेक इतिहास कहकर और अपने विज्ञान का प्रकाश कर सबके शोक का निवारण किया ॥१५६॥

विशेष—(१) 'जियन-मरन-फल दसरथ···'—जगत् में किसीका जीवन बनता है, पर मरण दुर्गति से होता है और किसीके जीवनकाल में दुर्गति रहती है, पर मरण उत्तमता से होता है। राजा दशरथ के दोनों ही बने और इनका निर्मल यश संसार-भर को पवित्र करनेवाला हुआ, यथा—"जिअन मरन याको नाम, जैसे दशरथ राय को। जियत खेलाये राम, राम-बिरह तनु परिहरेउ ॥" (दोहावली २२१)

'अंड अनेक अमल जस छावा।', यथा—"भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥ भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप, भरत जस पिता तुम्हारा॥ बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥" (दो० १७२)।

(२) जियत राम-बिधु-बदन···'—यहाँ उक्त जीवन-मरण की श्रेष्ठता का स्वरूप कहा। किसी प्राकृत में विरह होता, तो दुर्गति होती, पर राम-बिरह से सुगति हुई। यह मरण की उत्तमता है। जीवित अवस्था में आपने निष्काम भाव से केवल श्रीरामजी को सुख देने के भाव से उनका मुख चन्द्र देखते हुए लाड़ लड़ाया और उनके विरह में उन्हींमें चित्त लगाये हुए देह का त्याग किया, यथा—"राम बिरह दसरथ मरन, मुनि मन अगम सुमीचु।" (दोहावली २२०), ऐसी विधि से मृत्यु क्रिया को भी सुशोभित किया। कौसल्याजी ने कहा भी है, यथा—"जिअइ मरइ भल भूपति जाना।" (दो० १६५)।

राजा के इन्हीं गुणों पर वश होकर परमकृतज्ञ श्रीरामजी ने भरतजी से कहा है, यथा—"निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौं पितु पग पानहीं करावौं। होउँ न उऋन पिता दसरथ ते, कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं॥" (गी० अ० ७२)।

(३) 'रूप सील बल तेज बखानी।'—'रूप'—राजा ऐसे सुन्दर थे कि वृद्ध होने पर भी लोकोत्तर सुन्दरी कैकेयी ने इनसे ब्याह के लिये पिता से आग्रह किया। 'शील' ऐसा था कि पुत्र को वन जाने को अपने मुख से नहीं कहा। पुनः दुःशीला कैकेयी के प्रति भी कठोर न बोले। 'बल', यथा—"सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥" (दो० २४), 'तेज', यथा—"आगे हाइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥" (दो० ९७), इन चार गुणों के अनुसार क्रमशः चारो पुत्र हुए, जो मानों गुण ही रूप धर-धरके प्रकट हैं। अर्थात् श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी मानों इनके रूप, शील, बल और तेज के ही प्रतिरूप हों।

'करहिं बिलाप अनेक प्रकारा।'—वाल्मी० २।६६।१७-२३ में रानियों के विलाप के कुछ प्रकार देखे जा सकते हैं।

'घर-घर रुदन करहिं पुरबासी।', यथा—"बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना। शून्यचत्वरवेश्मा-

न्ता न बभ्राज यथा पुरम् ॥" (वाल्मी० २।६६।२५), अर्थात् सब ओर लोग रोते हैं और स्त्रियाँ हाहाकार मचा रही हैं। घरों और चौराहों पर झाड़ू तक नहीं पड़ी।

'गारी सकल कैकइहि देहीं।', यथा—"नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।" (वाल्मी० २।६६।२९), अर्थात् अयोध्या के स्त्री-पुरुष सब एकत्र हो कैकेयी को धिक्कारने लगे।

'आये सकल महामुनि ज्ञानी'—"मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि एवं राजपुरोहित श्रीवसिष्ठजी आये।" (वाल्मी० २।६७।३-४)।

(४) 'तब बसिष्ठ मुनि समय·····'—वसिष्ठजी ने कहा कि राजा सुकृती थे और सत्य-पालन की निष्ठा में तो अद्वितीय हुए। अतः, ऐसे कीर्तिमानों की मृत्यु मृत्यु नहीं कही जाती, क्योंकि वे संसार में प्रलय तक यश-रूप से प्रतिष्ठित रहेंगे। फिर इन्होंने राम-विरह में शरीर छोड़ा है। ऐसा तो कोई न हुआ है और न होगा। फिर इनके लिये शोक न करना चाहिये, प्रत्युत इसपर सुख मानना चाहिये कि वे नर-राज से सुरराज हो गये, प्राकृत-तन से दिव्य-तन हो गये। मुनि ने पूर्व के राजा हरिश्चन्द्र आदि की कथाएँ कहीं और फिर दिखाया कि इनके समान धन्य वे भी नहीं हुए। वसिष्ठजी ने इन सब इतिहासों को शास्त्र की दृष्टि से कहा। फिर अपने अनुभव के विज्ञान से भी समझाया। जैसे कि शास्त्रीय ज्ञान कहने के पीछे शिवजी ने भी कहा है, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥" (अर० दो० ३८), तथा—"निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥" (उ० दो० ८८)।

तेल नाव भरि नृप-तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा॥१॥
धावहु बेगि भरत पहि जाहू। नृप-सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू॥२॥
एतनेइ कहेउ भरत सन जाई। गुरु बोलाइ पठयेउ दोउ भाई॥३॥
सुनि मुनि-आयसु धावन धाये। चले बेगि बरबाजि लजाये॥४॥

अर्थ—एक नाव में तेल भरकर उसमें राजा का शरीर रक्खा, फिर दूतों को बुलाकर ऐसा कहा॥१॥ कि शीघ्रता से दौड़कर भरतजी के पास जाओ। राजा का समाचार कहीं भी किसीसे न कहना॥२॥ श्रीभरतजी से जाकर तुम इतना ही कहना कि आप दोनों भाइयों को गुरुजी ने बुला भेजा है॥३॥ इस प्रकार मुनि की आज्ञा सुनकर दूत दौड़े, अपनी तेज चाल से वे श्रेष्ठ घोड़ों को भी लज्जित करते थे॥४॥

विशेष—'तेल नाव भरि नृप···'—श्रीभरतजी के आने तक राजा का शरीर बना रहे, इसलिये उसे तेल में रखना उचित समझा, तो नाव में तेल भरकर उसमें रक्खा, यथा—"तैल-द्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्।" (वाल्मी० २।६६।१६), वनस्पति कोश में 'तैलपर्णिक' श्वेत चन्दन का नाम कहा गया है। अतः, वह नाव भी श्वेत चन्दन की थी। 'दूत बोलाइ···'—मन्त्री लोग नीति-निपुण हैं, इसीसे राजा का मरण छिपाते हैं, अन्यथा कोई शत्रु के चढ़ आने की आशंका है। 'दूत', यथा—"एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन। श्रूयतामिति कर्त्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः॥" (वाल्मी० २।६८।५), अर्थात् सिद्धार्थ, विजय, जयन्त और अशोकनन्दन, इन चार मन्त्रियों को दूत बनाकर श्रीवसिष्ठजी ने तेज घोड़ों पर राजगृह (कैकय देश) भेजा है।

किन्तु श्रीरामचरितमानस में 'चले बेगि बरबाजि लजाये' कहा गया है, इससे जान पड़ता है कि पैदल अत्यन्त तेज चलनेवाले और धावन (दूत) भेजे गये हैं, जो घोड़ों से भी तेज चलने वाले थे।

अयोध्याकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त।

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध

'भरतागवन प्रेम-बहु'-प्रकरण

अनरथ अवध अरंभेउ जब ते। कुसगुन होहिं भरत कहँ तब ते ॥५॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥६॥
बिप्र जेंवाइ देहिं दिन दाना। सिब-अभिषेक करहिं बिधि नाना ॥७॥
माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि सोचत भरत मन, धावन पहुँचे आइ।
गुरु-अनुसासन श्रवन सुनि, चले गनेस मनाइ ॥१५७॥

शब्दार्थ—अभिषेक (अभि=ऊपर, सिच्=सींचना) = शिव-लिंग के ऊपर तिपाई के सहारे पर छेदवाला घड़ा रख कर जल टपकाना, वा बाधा-शान्ति वा मंगल के लिये मन्त्र पढ़कर कुश और दूब से जल छिड़कना। कलपना = अनुमान।

अर्थ—इधर जब से श्रीअयोध्याजी में अनर्थ प्रारम्भ हुआ, तब से उधर श्रीभरतजी को अपशकुन होने लगे हैं ॥५॥ वे रात में भयानक स्वप्न देखते हैं और जागने पर उनपर अनेक बुरी कल्पनाएँ करते रहते हैं ॥६॥ (शान्ति के लिये) ब्राह्मणों को नित्य दिन में भोजन करा के दान देते हैं और नाना भाँति से शिवजी का अभिषेक करते हैं ॥७॥ हृदय में शिवजी को मनाकर माता, पिता, परिवार के लोगों और भाइयों की कुशल माँगते हैं ॥८॥ इस तरह श्रीभरतजी मन में शोचते थे कि वे दूत आ पहुँचे, गुरुजी की आज्ञा अपने कानों से सुन गणेशजी को मनाकर चल पड़े ॥१५७॥

विशेष—(१) 'देखहिं राति भयानक सपना'—वाल्मी० २।६९।८-१८ में स्वप्न का विस्तृत वर्णन है। श्रीभरतजी ने वहाँ के दुःस्वप्न अपने मित्रों से कहे हैं कि मानों पिता मुरझाये हुए हैं। उनके बाल खुले हैं। पर्वत के शिखर से वे गोबर-भरे तालाब में गिर पड़े हैं, वे उस गोबर के तालाब में तैरने लगे हैं, अंजलि से तेल पीते हैं और बार-बार हँसते हैं। उन्होंने तिल-चावल खाया, उनका सिर नीचे हो गया, उनके शरीर-भर में तेल लगाया गया और वे तेल में डुबाये गये। और भी मैंने देखा कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथ्वी पर गिर पड़ा, सब संसार राक्षसों से पीड़ित है और अन्धकार से ढक गया है।.....इत्यादि।

यहाँ से श्रीभरत-चरित का प्रारम्भ होकर प्रथम १४ दोहों तक 'पितु-क्रिया' प्रसंग है। फिर मुख्य भरत-चरित प्रारम्भ होकर १५६ दोहों में होगा, जितना पूर्वार्द्ध में श्रीरामचरित कहा गया है। इसीसे इस काण्ड के आदि में—"जब ते राम ब्याहि घर आये।" और अन्त में—"भरत चरित करि नेम" कहा गया है। यहाँ से—'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी।" पर्यन्त १४ दोहे हैं, इतने दोहों में क्रिया-प्रसंग देकर जनाया कि १४ दिन में ही सब कृत्य हुए, तथा—"ततः प्रभात समये दिवसे च चतुर्दशे।" (वाल्मी० २।७९।१), अर्थात् चौदहवें दिन क्रिया समाप्त हुई है।

शंका—मुनि ने श्रीभरतजी को ही क्रिया के लिये क्यों बुलवाया? ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी तो निकट ही हैं, उन्हें क्यों न बुलवा लिया?

समाधान—क्रिया में सम्पत्ति का काम है, श्रीरामजी इसे त्याग चुके हैं, उदासीन वेष भी कर चुके

हैं। श्रीभरतजी राज्य के अधिकारी हैं, अतएव वे ही क्रिया के भी अधिकारी हैं, सब कुछ दे भी सकते हैं। वे आवेंगे तो राज्य-प्रबन्ध भी करेंगे, इन कारणों से उन्हें ही बुलाया गया।

'बिप्र जेंवाइ···'—यह विधि है, यथा—"जागे सीय सपन अस देखा।·····पूजि पुरारि साधु सनमाने॥" (दो० २२५)। भरतजी ने महेश को मनाया, पर 'हरि इच्छा भावी बलवाना' पर उनकी ओर से कुछ कल्याण नहीं हो सका। श्रीरामजी की ऐसी ही लीला की इच्छा थी। 'कुसल मातु···'—पहले माता का कुशल माँगते हैं, क्योंकि माता को जानते हैं कि वह क्रूर स्वभाव की है—वाल्मी० २।६२।२४-२६ में भरतजी ने उसके स्वभाव की निन्दा की है। अतः, उसके प्रति अमंगल होने की आशंका से उसकी कुशल माँगते हैं।

(२) गुरु-अनुसासन श्रवन·····'—गुरु-आज्ञा सुनते ही, दोघड़िया मुहूर्त्त भी न सोचा, केवल गणेश को मनाकर चल दिये, क्योंकि दुःस्वप्नों से शंकित थे ही, शीघ्र बुलाया जाना सुनकर और घबरा गये, कुशल भी न पूछ सके। पिताजी ने नहीं बुलाया, गुरुजी ने भी बिना कुछ कारण कहे ही बुलाया, इससे अधिक डर गये हैं। वाल्मीकीय रामायण में कुशल पूछना और सन्दिग्ध उत्तर पाना लिखा है और यह भी कहा गया है कि जल्दी में विदाई का सामान भी साथ न लिया, कह दिया कि पीछे आवेगा, तुरन्त सबसे विदा होकर चल दिये।

चले समीरबेग हय हाँके। नाँघत सरित सैल बन बाँके॥१॥
हृदय सोच बड़ कछु न सोहाई। अस जानहि जिय जाउँ उड़ाई॥२॥
एक निमेष बरष-सम जाई। येहि बिधि भरत नगर नियराई॥३॥
असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा॥४॥
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत-मन सूला॥५॥

शब्दार्थ—बाँके = दुर्गम, विकट। जानहिं = विचार करते हैं। करारा = काला कौआ।

अर्थ—वायु के समान बेगवाले घोड़ों को हाँकते हुए चले, विकट नदियों, पहाड़ों और वनों को लाँघते हुए चले जाते हैं॥१॥ उनके हृदय में बड़ा शोच है, इससे कुछ नहीं सोहाता, मन में ऐसा आता है कि उड़कर चला जाऊँ॥२॥ उन्हें एक निमेष एक वर्ष के समान बीतता है, इस तरह श्रीभरतजी अवध नगर के समीप पहुँचे॥३॥ नगर में प्रवेश करते हुए अपशकुन होते हैं, काले कौवे बुरे स्थानों में बैठकर बुरी तरह से (काँव-काँव की) रट लगाये हुए हैं॥४॥ गधे और गीदड़ प्रतिकूल (अपशकुन सूचक बोली) बोलते हैं, सुन-सुनकर श्रीभरतजी के मन में बड़ा दुःख होता है॥५॥

विशेष—(१) 'हय हाँके'—यद्यपि घोड़े वायु-वेग से स्वयं चलते हैं, तथापि उन्हें हाँकते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, पहाड़ों आदि को लाँघते (शीघ्र तय करते) जाते हैं—इन नदियों और पहाड़ों के नाम वाल्मी० २।७१।१-१८ में हैं। वहाँ यह भी लिखा है कि मार्ग में सात रातें बीतीं, परन्तु मानस में वैसा कुछ नहीं कहा गया और न कहीं ठहरना ही कहा गया है, इससे यहाँ अति शीघ्र आना है। कुछ लोग एक ही रात-दिन का अनुमान करते हैं। तब भी सन्तोष नहीं, क्योंकि—

(२) 'हृदय सोच बड़ कछु न···'—एक तो दुःस्वप्न, दूसरे गुरु-आज्ञा, फिर दूत लोगों ने भी कुछ कुशल न कही, वे केवल चलने की ही शीघ्रता कराते हैं। इससे शोच बढ़ गया, पहले शोच-मात्र था—"येहि बिधि सोचत भरत मन" अब 'बड़ सोच' है। 'कछु न सोहाई'—खाना, पीना, विश्राम करना आदि नहीं सुहाता, यथा—"किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनाऽनघ। अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे॥" (वाल्मी० २।७१।३५), अर्थात् (भरतजी सारथी से कहते हैं—) हे अनघ! मैं बिना कारण बतलाये

शीघ्रता से बुलवाया गया हूँ। मेरे मनमें अनेक प्रकार की शंकाएँ हो रही हैं। यद्यपि काश्मीर (कैकय देश) के मार्ग के सरित-शैल बाँके (मनोरम) हैं, तथापि इन्हें नहीं सोहाते, क्योंकि मन में बड़ा शोच है।

(३) 'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।'—पूर्व कहा गया—"दाहिन काग सुखेत सुहावा।" (बा० दो० ३०२), यहाँ उसका उल्टा कहा गया है। अतः, अशुभ है। बाईं तरफ विष्ठा आदि युक्त अशुभ स्थान पर करर रट लगाये हुए हैं, यथा—"काका कररत काग।" (दोहावली ४३६)। 'खर सियार बोलहिं ···'—राजकुमार के आगमन पर मंगल वाद्य वा, सलामी (तोपों के शब्द से स्वागत) होनी चाहिये, पर यहाँ गधे और सियार करुण शब्द में बोल रहे हैं। खर ग्रामीण पशु है, वह वन में और सियार जंगली है, वह ग्राम में बोलता है। यही प्रतिकूल बोलना है।

श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेषि भयावन लागा ॥६॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोये। राम - बियोग - कुरोग बिगोये ॥७॥
नगर - नारि - नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी ॥८॥

दोहा—पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गँवहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय बिषाद मन माहिं ॥१५८॥

अर्थ—सरोवर, नदी, वन और बाग शोभारहित हो गये, (जिससे) श्रीअवध नगर विशेष करके भयानक लगा ॥६॥ पक्षी, पशु, घोड़े और हाथी देखे नहीं जाते, वे राम-वियोग-रूपी कुरोग से नष्ट हो गये हैं ॥७॥ नगर के स्त्री-पुरुष बहुत ही दुखी हैं, मानों सभी अपनी सारी सम्पत्ति (जुए में) हारकर बैठे हों ॥८॥ नगर के लोग मिलते हैं, पर कुछ कहते नहीं, चुपके से प्रणाम करके चल देते हैं। श्रीभरतजी उनसे तथा वे श्रीभरतजी से कुशल समाचार भी पूछ नहीं सकते, क्योंकि (सबके) मन में डर और दुःख भरा है ॥१५८॥

विशेष—(१) 'श्रीहत सर सरिता···'—इसका विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।७१।२०-४३ में है।

'नगर बिसेषि भयावन लागा', यथा—"तां शून्यशृंगाटकवेश्मरथ्यां रजोरुणद्वारकपाटयन्त्राम्। दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥" (वाल्मी० २।७१।४५), अर्थात् अयोध्या के चौक, घर और गलियाँ सूनी हैं, धूल से द्वार के किंवाड़ को सिकड़ी आदि मलीन हो गई हैं, इन्द्रपुरी के समान सुशोभित नगरी की यह दशा देखकर श्रीभरतजी दुःख से भर गये। 'कुरोग बिगोये'—चारा पानी नहीं ग्रहण कर रहे हैं। रोग में नहीं खाया जाता।

(२) 'नगर-नारि-नर निपट·····'—जब स्थावरों की वैसी दशा है, तब ये तो चेतन हैं, इनकी दशा तो वैसी है, जैसे 'कोई सारी सम्पत्ति जुए में हार जाय'। यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सम्पत्ति हैं, यथा—"मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई।" (दो० १४३) देखिये।

(३) 'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'—चुपके से (अन्यत्र दृष्टि किये हुए से) प्रणाम करके चल देते हैं। चुप साधे हैं, क्योंकि अभी श्रीभरतजी के भीतर का हाल नहीं जानते। इससे डरते हैं कि कहीं इन्हें राज्य-प्राप्ति का हर्ष हो, तो हम दुखी होने से (राम-पक्ष के होने से) प्रतिकूल माने जायँगे। यदि इन्हें राम-वन पर दुःख हो और हम धन्यवाद दें, तो भी प्रतिकूल ही होगा। वा, लोगों के मन में दुःख है कि ये राज्य लेने आये हैं, इससे कोई बोलना नहीं चाहता। इसपर श्रीभरतजी के मन में और भी भय होता है कि ये लोग मुझसे क्यों विरोध मानते हैं?

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥१॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रवि-कुल - जलरुह-चंदिनि ॥२॥

सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहि भेंटि भवन लेइ आई ॥३॥
भरत दुखित परिवार निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बन मारा ॥४॥
कैकेई हरषित येहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥५॥

अर्थ—बाजार और मार्ग देखे नहीं जाते, नगर की दशों दिशाओं में मानों दावाग्नि लगी हों ॥१॥ पुत्र को आता हुआ सुनकर, सूर्यकुल-रूपी कमल के लिये चाँदनी-रूपिणी राजा कैकय की पुत्री कैकेयी हर्षित हुई ॥२॥ वह आरती सजाकर प्रसन्नता से उठ दौड़ी और द्वार पर ही (पुत्र से) भेंट कर उनको अपने साथ महल में लिवा ले आई ॥३॥ श्रीभरतजी ने कुटुम्ब भर को दुखी देखा, (वे ऐसे हो रहे हैं) मानों पाला के मारे हुए कमल के वन हों ॥४॥ (परन्तु) कैकेयी इस तरह प्रसन्न दीख पड़ती है कि मानों वन में आग लगाकर भिल्लनी प्रसन्न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकयनंदिनि'—इसे नगर-भर के विरुद्ध जानकर ग्रन्थकार ने अयोध्या सम्बन्धी नाम न दिया और दशरथ महाराज एवं महात्मा श्रीभरतजी का सम्बन्धी नाम भी न दिया, क्योंकि यह इनसे पृथक् स्वभाव की है। 'रवि-कुल-जलरुह-चंदिनि'—चाँदनी से कमल सिकुड़ जाते हैं और शीत से काले पड़ जाते हैं, वैसे ही सूर्यवंशी दुःख से संकुचित और झाँवरे हो रहे हैं।

(२) 'सजि आरती मुदित·····'—राजकुमर बाहर से आते थे, तब आरती होती थी। आज सब शोक में हैं, इसलिये स्वयं अपने पुत्र की आरती करने चली। इससे भी स्वयं उठ दौड़ी कि कोई पिता-मरण आदि सुना न दे, मैं ही पीछे ठीक से कहूँगी। कहाँ तो पति मृतक पड़ा है, सब दुखी हैं और यह प्रसन्न होकर आरती कर रही है। सत्य है—'अर्थी दोषं न पश्यति'।

(३) 'मानहुँ तुहिन बनज बन मारा'—परिवार के लोग बहुत हैं, इससे उन्हें वन कहा है और उनकी कोमलता दिखाने के लिये कमल कहा। पाले से कमल झुलस जाता है, वैसे ही ये सब मन से उदासीन और शरीर से काले पड़ गये हैं, तथा—भइउँ सरोज बिपिन हिमराती।" (दो० ११), इसका यहाँ चरितार्थ है।

(४) 'मनहुँ मुदित दव लाइ किराती'—इसका पूरा रूपक दो० ८३ चौ० २-३ में देखिये।

सुतहि ससोच देखि मन मारे। पूँछति नैहर कुसल हमारे ॥६॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निज-कुल-कुसल भलाई ॥७॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥८॥

दोहा—सुनि सुतबचन सनेहमय, कपटनीर भरि नयन।
भरत-श्रवन-मन-सूल सम, पापिनि बोली बयन ॥१५६॥

तात बात मैं सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी ॥१॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति-पुर पगु धारेउ ॥२॥

शब्दार्थ—सूल (शूल) = यह एक शस्त्र है, बरछे के आकार का होता है।

अर्थ—पुत्र को शोच करते हुए और उदास देखकर पूछती है कि हमारे नैहर में तो कुशल है ? ॥६॥ श्रीभरतजी ने वहाँ की सबकी और सब प्रकार की कुशल सुनाई, फिर अपने कुल की कुशल और भलाई पूछी ॥७॥ कहो, पिताजी कहाँ हैं ? सब माताएँ कहाँ हैं ? श्रीसीताजी और प्यारे भाई श्रीरामजी तथा श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं ? ॥८॥ पुत्र के स्नेहमय वचन सुनकर और आँखों में कपट के आँसू भरकर

ापिनी कैकेयी श्रीभरतजी के कानों और मन के लिये शूल के समान पीड़ित करनेवाले वचन बोली ॥१५६॥
तात ! मैंने सारी बातें बना लीं, बेचारी मन्थरा सहायक हुई है ॥१॥ पर बीच में विधाता ने कुछ थोड़ा-
ा कार्य बिगाड़ दिया कि राजा इन्द्र-लोक को पधार गये ॥२॥

विशेष—(१) 'सुतहि ससोच देखि·····'—उसने समझा कि यहाँ मैंने सब आनन्द ही का
ाज कर लिया है, नैहर में तो कुछ गड़बड़ी नहीं है ? 'हमारे' शब्द से उसका अति गर्व जनाया।

(२) 'कुसल भलाई'—श्रीभरतजी को सन्देह हो गया कि सब तो दुखी हैं और यही अकेली
र्षित क्यों हैं ? क्या कुल की भलाई में तो दाग नहीं लगा, इससे कुशल और भलाई दोनों पूछते हैं।

यहाँ कैकेयी तो श्रीभरतजी को 'सुत' अपना माने हुई है, इससे उसकी तरफ की बात में 'सुत'
ब्द देते हैं, पर श्रीभरतजी उसके मत में नहीं हैं। अतः, इन्हें 'कैकेयीसुत' आदि नहीं कहते हैं। यह कवि
ी सँभाल है।

(३) 'कहु कहँ तात कहाँ सब माता।'—कैकेयी राजा को अधिक प्रिय थी, इससे वे अधिकतर
सीके महल में रहते थे। आज पिता का आसन खाली देखते हैं, इससे प्रथम उन्हींको पूछा, यथा—"राजा
वति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने। तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः॥" (वाल्मी० २।७२।१२),
र्थात् राजा अधिकतर तुम्हारे ही घर में रहा करते थे, उन्हें मैं आज नहीं देख रहा हूँ। मैं उन्हींके
र्शनार्थ यहाँ आया हूँ। श्रीकौसल्याजी को श्रीभरतजी बहुत प्रिय थे। इससे इनके आने पर वे और उनके
ाथ सब माताएँ आ जातीं, पर आज कोई न आईं, इससे उन्हें भी पूछा। फिर श्रीसीताजी, श्रीरामजी
ौर श्रीलक्ष्मणजी जो कैकेयी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे और इसके ही पास अधिक रहते थे,
न्तु आज नहीं देख पड़ते, इससे पूछते हैं कि सब कहाँ हैं ? पुनः पिता के अनिष्ट विषयक स्वप्न देखे थे,
सेसे भी पहले पिता को ही पूछा।

(४) 'सुनि सुतबचन सनेहमय···'—'सनेहमय' और 'भरत श्रवन मन सूल सम' से कवि
ोभरतजी को निर्दोष एवं कैकेयी से भिन्न मतवाले दिखाते हैं। 'कपटनीर भरि नयन'—वह तो राजा
ौर श्रीकौसल्याजी आदि सौतों एवं श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को शत्रु माने बैठी है,
नके दुःख में उसे हर्ष है, यथा—"दुइ बर दान·····माँगहुँ आजु जुड़ावहु छाती॥ सुतहिं राज रामहिं
नवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥" (दो० २१), तो उसे इन सबके दुःख पर आँसू कहाँ आ सकते
? और, हँसती हुई पति-मरण सुनाती तो पहले ही श्रीभरतजी ताड़ जाते कि इसने ही दुष्टता की है।
सलिये उसने ऊपर से बनावटी आँसू आँखों में भर लिये। पुनः अप्रिय वचनों को भी प्रिय बना कर
हने लगी।

'भरत-श्रवन-मन-सूल सम'—ये वचन पहले सुनने में दुःख देंगे और फिर मन को पीड़ा पहुँचायेंगे।
से कहा है। इसके प्रतिकूल हरिगुण-श्रवण होता है—"विषयिन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। श्रवन सुखद
रु मन बिश्रामा॥ (उ० दो० ५२)।

(५) 'तात बात मैं सकल···'—पति का मरण पहले कहना था, क्योंकि 'पिता' कहाँ हैं ? यह
ोभरतजी ने पहले पूछा है, पर उसके मन में जो भाव मुख्य था, पहले वही कहा कि मैंने सब सँवार
ो। भाव यह कि कुशल न होती, पर मैंने सब बना ली। नहीं तो मैं घर से निकाली जाती—"भामिनि
इउ दूध कै माखी।" और तुम जेल में पड़े रहते—"भरत बंदिगृह सेइहहि" (दो० १९)। 'भइ मंथरा
हाय बिचारी'—यह न जनाती तो मुझे मालूम भी न होता। 'बिचारी' पद श्लिष्ट है—(क) यह बेचारी,
रीब है, दासी ही तो है। इसकी कौन गिनती ? पर यही सहायक हुई। (ख) बड़ी बुद्धि-विचारवाली
, यथा—"बार-बार बड़ बुद्धि बखानी।" (दो० २२)। प्रायः अभिमानी लोग दूसरे को 'बेचारा' या

'बेचारी' कहते हैं। यह भी हेतु है। मन्थरा की प्रशंसा इसलिये करती है कि इसने मन्थरा से कह रक्खा है—"जौ बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चखपूतरि आली॥" (दो० २२)। वह प्रतिज्ञा श्रीभरतजी से ही पूरी होगी, इसलिये जनाती है कि यही एक हमलोगों की हितैषिणी है और सब तो प्रतिकूल ही हैं।

(६) 'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'—पति का मरण इसके लिये बहुत बड़ी बात है, पर क्षोभ में अन्धी हो रही है। अतः, बड़ी हानि को थोड़ी ही कहती है। वा, श्रीभरतजी के आश्वासन ये भी कछुक ही कहती है कि जिससे वे अधीर न हों। 'बिधि'—अभिमानी लोगों का स्वभाव होता हानि को ब्रह्मा के सिर पर धरते हैं और लाभ के अभिमानी स्वयं बनते हैं, जैसे कि इसने अभी है—"तात बात मैं सकल सँवारी।"

सुनत भरत भये बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा॥३॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी॥४॥
चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥५॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महतारी॥६॥
सुनि सुतबचन कहति कैकेई। मरम पाछि जनु माहुर देई॥७॥
आदिहुँ ते सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥८॥

दोहा—भरतहि बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम-बन गौन।
हेतु अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥१६०॥

शब्दार्थ—मरम = मर्म स्थल। पाछि = चीर कर, हलका चीरा लगाना। माहुर = विष।

अर्थ—इस बात को सुनते ही श्रीभरतजी दुःख से ऐसे बेबस हो गये, मानों किसी सिंह की गर्जना सुनकर हाथी डर गया हो॥३॥ तात! तात!! हा तात!!! (ऐसा) पुकार कर और बड़े व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े (और बोले)॥४॥ आपको स्वर्ग जाते समय मैंने नहीं देख पाया, हा तात! मुझे आपने श्रीरामजी को नहीं सौंपा॥५॥ फिर धैर्य धारण कर और सँभाल कर उठे। (और फिर बोले) हे महतारी! पिताजी के मरण का कारण कहो॥६॥ पुत्र का वचन सुनकर कैकेयी कहने लगी, मानों मर्ममथल को चीरकर उसमें विष देती हो॥७॥ कुटिला और कठोर-हृदया कैकेयी ने प्रारम्भ से ही अपनी सारी कुटिल-कठोर करनी को प्रसन्न मन से कहा॥८॥ श्रीरामजी का वन जाना सुनते ही श्रीभरतजी को पिता का मरना भूल गया, हृदय में कारण रूप अपना सम्बन्ध (अपने को ही वनवास का कारण) समझकर चुप होकर वे स्तम्भित रह गये॥१६०॥

विशेष—(१) 'ब्याकुल भारी'—दुःस्वप्नों से और प्रजा को दुखी देखकर व्याकुल थे ही, अब 'भारी व्याकुल' हो गये। इसीसे कई बार 'तात' 'तात' कहा। 'जनु सहमेउ करि···', यथा—"सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराज॥" (दो० ३९)।

(२) 'चलत न देखन···'—अर्थात् मैंने आपको न देख पाया, यह मुझसे न बना और आपने अन्त समय में मुझे श्रीरामजी को न सौंपा, यह आपसे भी न बना। सौंपने का प्रयोजन वाल्मी० २।७२। ३२-३३ में कहा है—"जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं और मैं जिनका प्रिय दास हूँ।···धर्म जाननेवालों के लिये बड़े भाई पिता के तुल्य होते हैं। मैं उनका चरण ग्रहण करूँगा। इस समय वे ही मेरी गति

(अवलम्ब) हैं।" 'पितु मरन हेतु'—क्याकि अभी तो पिता की आयु शेष थी, असमय में मरण किस कारण से हुआ, वह कहो।

(३) 'मरम पाछि जनु ···'—'मरम', यथा—"मरम ठाहर देखई।" (दो० २५)। पिता का मरण कहना मर्म-स्थल का चीरना है और श्रीराम-वन-गवन का ब्योरा, मन्थरा के समागम से लेकर वरदान माँगने और पाने की सब कथाएँ कहना, उस घाव में माहुर देना है, यथा—"दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवादधाः। राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम्॥" (वाल्मी० २।७३।३), अर्थात् तूने महाराजा को मार, श्रीरामजी को तपस्वी बना, मुझे दुःख के ऊपर दुःख दिया, मानों घाव में नमक छिड़का। ऐसे समाचार को प्रसन्नता-पूर्वक कह रही है। इसीसे 'कुटिल कठोर' कहा, क्योंकि यह वज्र-हृदया है। तभी तो पति-मरण पर भी करुणा नहीं और पुत्र श्रीभरतजी पर भी दया नहीं है कि वे पिता-मरण पर दुखी हुए थे, श्रीराम-वन-गवन पर भी दुखी होंगे। अभी तो वह जानती है, मेरी-तरह मेरा पुत्र भी प्रसन्न होगा।

'थकित रहे धरि मौन ··'—सन्न रह गये और कुछ बोल न सके। इससे अत्यन्त विह्वलता जनाई, क्योंकि पिता के मरण पर तो विलाप भी किया था। पर राम-वनवास की बात और अपनेको ही उसका कारण समझ कर तो वे दंग रह गये कि अरे यह क्या हुआ? ये सारे पाप मेरे ही लिये किये गये। पिता के मरने की हत्या और श्रीराम आदि के वन-गमन के पाप तथा सारे अवध के सन्ताप के पाप मेरे ही लिये किये गये, मेरी कौन गति होगी?

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोन लगावति॥१॥
तात राउ नहिं सोचइ जोगू। बिढ़इ सुकृतजस कीन्हेउ भोगू॥२॥
जीवत सकल जनम फल पाये। अंत अमरपति-सदन सिधाये॥३॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥४॥

अर्थ—पुत्र को व्याकुल देखकर समझाती है, मानों वह जले पर नमक लगा रही है॥१॥ हे तात! राजा शोचने के योग्य नहीं हैं, उन्होंने जैसा पुण्य कमाया वैसा भोग भी किया (वा, उन्होंने आगे के लिये सुकृत-यश कमाया और पूर्व कृत सुकृत-यश का भोग भी किया।)॥२॥ जीते हुए उन्होंने जन्म का सम्पूर्ण फल पाया और अन्त में इन्द्रलोक को चले गये॥३॥ ऐसा विचार कर शोच छोड़ो और समाज (मन्त्री-सेना आदि) के साथ इस अयोध्यानगर का राज्य करो॥४॥

विशेष—'मनहुँ जरे पर लोन···'—जले हुए पर नमक लगाने से असह्य वेदना होती है। वैसे ही इसका समझाना और भी पीड़ा देनेवाला है, यथा—"अतिकटु बचन कहति कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥" (दो० २९)। नमक रस है, भोजन की वस्तु है, लगाने की नहीं। वैसे ही राज-रस भी भोगी के लिये है, यथा—"लोलुप भूमि भोग के भूखे।" (दो० १७८), राम-विरही के लिये नहीं। इसने अपनी करनी कही कि मैंने तुम्हारे ही लिये यह सब यत्न किया। इसपर जलन हुई कि बड़े भाई को रहते हुए छोटे को राजा होने से कुल को कलंक होगा। फिर—"तात राउ नहिं सोचइ जोगू।···" से "सोच परिहरहू।" तक के वचन नमक लगाना और—"सहित समाज राज पुर करहू।" यह घाव पर अंगार रखना है। वही आगे कहेंगे। कैकेयी ने समझा कि पिता मरण सुन भरतजी गिर पड़े और रोये हैं, पर राम-वन-गमन पर कुछ नहीं किया, इससे इसपर प्रसन्न ही हैं, तभी वह इस प्रकार समझाकर पिता का शोक दूर करने लगी। 'तात राउ नहिं···'—यही सब आगे वसिष्ठजी ने दो० १७१-१७२ में कहा है, पर उनका अभिप्राय उत्तम था, इसका भाव नीच है, पर वचन ठीक है—"लागहिं कुमुखि बचन···मगह गयादिक···"। (दो० ४२) का यहाँ भी चरितार्थ है।

'सहित समाज'—अर्थात् राज्य के सातो अंग अभी ठीक-ठीक बने हैं। अतः, तुरत गादी पर बैठ जाओ, नहीं तो कोई विघ्न न हो जाय, यथा—"त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम्। त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवं विधं कृतम्॥ मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक। त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम्॥" (वाल्मी० २।७२।५२-५३), अर्थात् (कैकेयी भरतजी से कहती है—) हे धर्मज्ञ! तुम अब राज्य सँभालो। तुम्हारे ही लिये यह सब मैंने इस प्रकार किया है। हे पुत्र! तुम शोक मत करो और न सन्ताप ही करो, धैर्य करो। यह अयोध्याराज बिना राजा का है, यह राज्य अब तुम्हारे ही अधीन है।

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अँगारू॥५॥
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा॥६॥
जौ पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥७॥
पेड़ काटि तै पालउ सींचा। मीनजियन निति बारि उलीचा॥८॥

दोहा—हंसबंस दसरथ जनक, राम - लखन - से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ॥१६१॥

अर्थ—यह सुनकर राजकुमार श्रीभरतजी अत्यन्त डर गये, मानों पके हुए घाव पर अंगार लग गया हो॥५॥ धैर्य धरकर लम्बी साँसें लेते हैं, (और कहते हैं कि) अरी पापिनि! तूने सभी प्रकार से कुल का नाश किया॥६॥ जो निश्चय करके तेरी अत्यन्त कुत्सित रुचि थी, तो तूने मुझे जन्मते ही क्यों नहीं मार डाला?॥७॥ तूने पेड़ को काटकर उसके पल्लवों को सींचा है और मछली के जीने के लिये जल उलीचा (निकाल फेंका) है॥८॥ सूर्य वंश ऐसा (उत्तम) वंश, दशरथ महाराज ऐसे पिता और श्रीराम-लक्ष्मणजी सरीखे भाई मुझे मिले। पर, हे माता! मुझे जनने (पैदा करने)-वाली तू हुई! (क्या कहूँ) विधाता से कुछ भी मेरा वश नहीं चलता। (भाव यह कि जहाँ और सब नाते अच्छे-अच्छे बनाये, वहाँ यह महा अयोग्य नाता दिया कि तुझ ऐसी दुष्टा के गर्भ से मेरा जन्म कराया। यदि मेरा वश चलता तो मैं उसे दंड देता)॥१६१॥

विशेष—(१) 'सुनि सुठि सहमेउ···'—'राजकुमार' अर्थात् राज्य के योग्य हैं, परन्तु धर्म-विरुद्ध मानकर ही त्याग रहे हैं। पहले कहा गया—"जनु सहमेउ करि केहरिनादा।" अर्थात् सहम (डर) तो प्रथम से ही था, अब 'सुठि सहमेउ'। 'पाके छत जनु···'—राजा की मृत्यु क्षत (फोड़ा), राम-वनवास उसका पकना और 'राज्य करो' यह कहना अंगार लगना है। पके हुए घाव पर आग का अंगार लगने पर उसमें अत्यन्त पीड़ा होती है, वैसा ही दुःख श्रीभरतजी को हुआ।

'सबहिं भाँति'—पिता की मृत्यु, कुल-रीति का तोड़ना, राम-वन से प्रिय परिजन प्रजा का दुखी होना, इत्यादि। पापिनी के बड़े-बड़े पाप हैं। 'कुरुचि', यथा—"हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरै गो। कुल कलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो॥" (गी० अ० ६०)। आगे इस कुरुचि को ही—'पेड़ काटि···' से कहते हैं—'जनमत काहे न···'—उस मृत्यु से यह अपयश की मृत्यु भारी है, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम···" (दो० ९४)।

(२) 'पेड़ काटि तै पालउ···'—उपर्युक्त कुरुचि कहते हैं—पेड़ राजा और पल्लव श्रीभरतजी हैं, सींचना इन्हें राज्य देना है। श्रीभरतजी मीन, अयोध्या सर, श्रीरामजी जल हैं। 'जननी तू जननी'—

व्यंग्यार्थ से अपने और माता में अनमेल कहा है, यथा—"दिनकर बंस पिता दसरथ से रामलखन से भाई। जननी ! तू जननी तो कहा कहउँ, बिधि केहि खोरि न लाई ॥" (गी० अ० ६०)।

जब तै कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥१॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥२॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही ॥३॥
बिधिहु न नारि-हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुनखानी ॥४॥
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय-सुभाऊ ॥५॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धिनी ! तूने जब हृदय में यह कुमत (बुरा विचार) ठाना, तभी तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो गया ? ॥१॥ वर माँगते हुए तेरे मन में पीड़ा क्यों न हुई, तेरी जीभ क्यों न गल गई और तेरे मुँह में कीड़े क्यों नहीं पड़ गये ? ॥२॥ राजा ने तेरी प्रतीति कैसे कर ली (जान पड़ता है कि) मरने के समय विधाता ने उनकी बुद्धि हर ली ॥३॥ स्त्रियों के हृदय की गति (चाल) ब्रह्माजी ने भी नहीं जानी, स्त्रियाँ समस्त कपट, पाप और अवगुणों की खान हैं ॥४॥ राजा तो सीधे, सुशील और धर्म में तत्पर थे, वे भला स्त्री-स्वभाव कैसे जान सकते थे ? ॥५॥

विशेष—(१) 'जब तै कुमति···'—ऊपर 'बिधि सन कछु न बसाइ' का ही प्रसंग लेकर विधि के कर्त्तव्य पर विचार करने लगे—ब्रह्मा को उचित तो यह था, जब से तेरे हृदय में कुमत आया, हृदय ही खंड-खंड कर देते। वर माँगते हुए मन में पीड़ा पैदा कर देते। जीभ गला देते, तेरे मुँह में कीड़े पैदा कर देते, पर उन्होंने कुछ नहीं किया। इससे भी चूके, तो भूप की मति ही न हरते। इन सबसे निश्चय होता है—"बिधिहु न···' वर माँगना पहले कैकेयी के हृदय में आया, फिर मन से ठीक किया, तब वाणी द्वारा मुँह से माँगा, इससे उसके इन्हीं अंगों की निन्दा की गई। 'मरन काल बिधि', यथा—"कालदंड गहि···निकट काल जेहि···" (लं० दो० ३५)—इनके विशेष देखिये।

(२) 'सरल सुसील धरम···'—ऊपर स्त्री-स्वभाव कहा, यथा—'सकल कपट अघ अवगुन खानी।' उसके न जानने में यहाँ राजा के तीन ही गुण कहते हैं कि राजा 'सरल' हैं, इसीसे उन्होंने तुझे 'सकल कपट की खानि' न जाना और तुझसे कह दिया कि कल श्रीरामजी का तिलक है, तुम मंगल सजो। तू कपट की खानि है, इसीसे उनसे श्रीरामजी की शपथ कराके माँगा। राजा 'धरमरत' हैं, इसीसे उन्होंने तुझे 'अघ की खानि' न जाना और तुझ स्त्री को भी जो वचन दिया, उसे सत्य कर दिखाया। नहीं तो जैसे ही सुना था कि वह कोप भवन में है, तो वहाँ जाते ही नहीं। राजा 'सुशील' हैं, इसीसे तेरे अवगुणों को न जाना, नहीं तो जानकर झिड़क देते।

(३) 'सो किमि जानइ' अर्थात् यह तो मैं ही जानता हूँ या तो श्रीरामजी वा उनके दास जानते हैं।

अस को जीव-जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं ॥६॥
मे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥७॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥८॥

दोहा—राम - बिरोधी - हृदय ते, प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहि ॥१६२॥

अर्थ—जगत् में ऐसे कौन जीव-जन्तु हैं, जिन्हें रघुनाथजी प्राणों से प्यारे नहीं हैं ॥१॥ वे ही श्रीरामजी तुझे बड़े शत्रु जान पड़े, तो तू है कौन ? मुझसे सत्य-सत्य बता (नर-स्त्री के वेष में डाकिनी, राक्षसी आदि तो नहीं है !) ॥२॥ (खैर) तू जो है सो है, मुख में स्याही लगाकर यहाँ से उठकर मेरी आँखों की ओट (और कहीं) जा बैठ ॥३॥ ब्रह्मा ने मुझे श्रीरामजी से वैर माननेवाले हृदय से पैदा किया है। अतः, मेरे समान और कौन पापी है ? मैं व्यर्थ ही तुझे कुछ कहता हूँ ॥१६२॥

विशेष—(१) 'अस को जीव-जंतु···'—जीव बड़े और जन्तु छोटे प्राणियों को कहते हैं, अर्थात् श्रीरामजी प्राणि-मात्र को प्रिय हैं, यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५), तथा—"जगदातमा प्रान पति रामा।" (लं० दो० ३३), आत्मा सभीको प्रिय होता है। भाव यह कि तू जड़ पाषाण आदि की तरह है। वा, जीव तीन भेदवाले ही कहाते हैं, यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥" (दो० २७६), इनके अतिरिक्त और सब प्राणी जन्तु हैं, जन्तुओं को भी श्रीरामजी प्रिय हैं यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषमबिष तामस तीछी ॥" (दो० २६१)। 'भे अति अहित राम···'—भाव, अहित तो तभी हुए, जब तुमने उनका राज्य छीना, फिर उन्हें घर-गाँव में भी न रहने दिया, वनवास दिया, अतएव 'अति अहित' हुए।

(२) 'जो हसि सो हसि···'—भाव यह कि पूछकर क्या करना है, तेरा वध कर नहीं सकता, क्योंकि इससे श्रीरामजी अप्रसन्न होंगे, यथा—"हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥" (वाल्मी० २।७८।२२)। जा, तेरा मुख देखने योग्य नहीं है। यहाँ माता का त्याग किया—गी० उ० ३७ देखिये। इससे यहाँ 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' (षट्-शरणागति में से एक) है।

(३) 'मो समान को पातकी·····'—यह कार्पण्य शरणागति है जैसे बालकाण्ड में ग्रन्थकार ने खलों के अवगुण कहते हुए अपनेको—"तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धंधक धोरी ॥" (दो० ११) कहा है। वास्तव में श्रीभरतजी परम साधु हैं। 'बादि' का छोड़कर भी अर्थ होता है, अर्थात् कुछ तू भी है, तुझे छोड़कर और कोई मेरे समान पापी नहीं है। यही बात आगे—"कारन ते कारज कठिन·····" (दो० १७९) में स्पष्ट होगी।

सुनि सत्रुहन मातु-कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई ॥१॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई ॥२॥
लखि रिस भरेउ लखन-लघु-भाई। बरत अनल घृत-आहुति पाई ॥३॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह-भर महि करत पुकारा ॥४॥

शब्दार्थ—हुमगि = हुंकार कर के जोर से कुछ उछलकर। मुँह भरि = मुँह के बल।

अर्थ—माता की कुटिलता को सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी के शरीर के सभी अंग क्रोध से जल रहे थे, पर कुछ वश नहीं चलता था ॥१॥ उसी समय कुबरी मन्थरा अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण पहने हुई वहाँ आई ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी उसे देखकर क्रोध से भर गये, मानों जलती हुई आग को घी की आहुति मिल गई हो ॥३॥ हुमँगकर और ताककर उसके कूबर पर लात मारी, वह पुकार करती हुई पृथ्वी पर मुँह के बल गिर पड़ी ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सत्रुहन मातु···'—यद्यपि शत्रु के हनन में समर्थ हैं, तथापि यहाँ तो माता ही नहीं, किन्तु स्वामी श्रीभरतजी की माता हैं, अतएव उनसे वश नहीं चलता। श्रीभरतजी ने उसे बहुत कुछ कहा, इससे उनकी रिस कुछ शान्त हुई, पर इनकी रिस ज्यों-की-त्यों भरी है, उसके उतारने का योग

भी विधाता ने लगा दिया कि उसी अवसर पर मन्थरा आ गई। 'तेहि अवसर'—वाल्मीकिजी ने १४ दिन के पीछे यह लिखा है और इस मानस में तुरत मन्थरा का आना और दण्ड पाना लिखा, इसलिये इस कल्प का चरित उससे उत्तम है। 'बसन बिभूषन···'—वस्त्रों के ऊपर भूषन हैं कि देख पड़े, क्योंकि वस्त्र के पीछे भूषण कहे गये हैं। पान खाती मुस्कुराती आई।

(२) 'लखि रिस भरेउ लखन···'—लखने (लक्ष्य करने) और अन्यायी पर क्रोध करने के सम्बन्ध से 'लखन-लघु-भाई' कहा है। लख गये कि इसीने सब अनर्थ किया है, तभी तो शोक के समय में इसे शृंगार भाया है। कैकेयी ने कहा था—"जौ बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चखपूतरि आली॥" (दो० २२), श्रीरामजी वन गये। अतः, मनोरथ पूर्त्ति पर उसीने ये वस्त्राभूषण दिये थे। मन्थरा भी अनेक सखियों से घिरी आई कि भरतजी आ गये। अब इनके राज्य पाने का भारी इनाम पाऊँगी। उसके इस दुष्ट अभिप्राय को लख कर शत्रुघ्नजी को भारी क्रोध हुआ। श्रीलक्ष्मणजी अन्यायी पर क्रोध करते हैं, यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥" (बा० दो० २५१), "बरु तीर मारहु लखन···" (दो० १००), तथा इस मन्थरा को भी जब-तब पीट देते थे, यथा—"दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥" (दो० १२), उनके छोटे भाई को भी वैसा होना युक्त ही है।

वाल्मीकिजी ने भी इस प्रसंग पर इन्हें लक्ष्मणानुज कहा है, यथा—"अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।" (२।७८।१)। एवं—"इति संभाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे। प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता॥" (२।७८।५), इत्यादि।

(३) 'करत पुकारा'—कैकेयी की दोहाई देती हुई क्योंकि वाल्मी० २।७८।१६-२४ में लिखा है कि कैकेयी छुड़ाने आई, वह भी डाँटी गई तब भरतजी की शरण गई, पीछे भरतजी ने शत्रुघ्नजी को रोका है।

कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिरप्रचारू॥५॥
आह दैव मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा॥६॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥७॥
भरत दयानिधि दीन्हि छड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई॥८॥

दोहा—मलिन बसन बिबरन बिकल, कृस सरीर दुखभार।
कनक-कलपबर - बेलि - बन, मानहुँ हनी तुषार॥१६३॥

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी झइँआई॥१॥
देखत भरत बिकल भये भारी। परे चरन तनुदसा बिसारी॥२॥

शब्दार्थ—प्रचारू = बह निकला। अनइस (सं० अनिष्ट) = बुराई। झइँ आई = चकाचौंध होना, तिलमिलाना।

अर्थ—उसका कूबर टूट गया, कपाल फूट गया, दाँत टूट गये और मुँह से रुधिर बहने लगा॥५॥ (वह कराहती हुई बोली) हाय! दैव! मैंने क्या बिगाड़ा, जो अच्छा करते हुए बुरा फल पाया॥६॥ यह सुनकर और नख से चोटी पर्यन्त इसे दुष्टा जान कर शत्रु को मारनेवाले श्रीशत्रुघ्नजी उसकी झोंटी पकड़-पकड़कर उसे (इधर-उधर) घसीटने लगे॥७॥ दयासागर श्रीभरतजी ने उसे छुड़ा दिया। फिर दोनो भाई श्रीकौसल्याजी के पास गये॥८॥ उनके वस्त्र मैले हैं, शरीर का रंग उतर गया है, वे दुःख के भार से व्याकुल हैं और शरीर दुबला हो गया है, ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों वन में किसी सोने की सुन्दर कल्पलता को पाले ने मार दिया है॥१६३॥ माता श्रीभरतजी को देखकर उठ दौड़ीं, पर उन्हें चकाचौंधी

आ गई इससे वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं ॥१॥ देखते ही श्रीभरतजी भारी व्याकुल हो गये और शरीर की दशा भूलकर उनके चरणों पर गिर पड़े ॥२॥

विशेष—(१) 'कूबर टूटेउ फूट कपारू···'—मन्थरा ने पहले कहा था—"जौ असत्य कछु कहउँ बनाई। तौ बिधि देइहि मोहिं सजाई॥" (दो० १८), तथा—"फोरइ जोग कपारु अभागा।" (दो० १५)। वे ही वचन चरितार्थ हो रहे हैं। ब्रह्माजी सबकी बुद्धि के देवता हैं। उन्होंने मन्थरा की बुद्धि में वैसी प्रवृत्ति कर दी कि वह सजधज कर आई और पीटी गई। पुनः पान खाती हँसती हुई आई है, इससे 'दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू' का दण्ड है। मन्थरा कैकेयी के पक्ष की है। अतः, इसके दंड से कैकेयी का भी अपमान हो रहा है, जो श्रीभरतजी ने कहा था—"खंड-खंड होइ हृदय न गयऊ।" (दो० १६१), इत्यादि।

(२) 'आह दैव मैं काह·····'—यहाँ बन-ठनकर आने का अभिप्राय खोला गया कि यह इसलिये प्रसन्नता-पूर्वक आई कि आज बहुत इनाम मिलेगा। श्रीशत्रुघ्नजी इसे नख से शिखा पर्यन्त दुष्टा जानकर (क्योंकि प्रसन्नता से सर्वांग सजकर आई इसीसे) सर्वांग में दण्ड देने लगे। पहले कूबर ही पर मारा था। 'करत नीक·····'—ऐसा कहते ही शत्रुघ्नजी को कैकेयी का वचन—'भइ मंथरा सहाय बिचारी' यह स्मरण आया, तब इसे सारे अनर्थों की जड़ जान और नख से सिख तक खोटी जान सर्वांग में दण्ड देने लगे। इसका गुप्तार्थ यह भी है कि जो बुराई का फल दे रहे हैं, अच्छा करते हैं।

(३) 'भरत दयानिधि दीन्हि·····'—श्रीभरतजी साधु हैं, इसीसे अति दयालु हैं, यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (अर० दो० १)। वाल्मी० २।७८।२१--२४ में लिखा है कि श्रीशत्रुघ्नजी को क्रुद्ध देखकर श्रीभरतजी ने समझाया कि स्त्रियाँ अवध्य होती हैं। इससे अब इस मन्थरा को छोड़ दो। मैं इस दुष्टा कैकेयी को अभी मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीरामजी मातृ-हत्या समझकर मुझसे घृणा न करते। इस मन्थरा को भी तुम्हारे द्वारा मारी गई सुनेंगे, तो वे हम-तुमसे बोलेंगे भी नहीं, तब श्रीशत्रुघ्नजी ने उसे छोड़ दिया।

(४) 'तनुदसा बिसारी'—देह के वस्त्र कहीं गिरे, आप कहीं गिरे।

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामलखन दोउ भाई॥३॥
कैकइ कत जनमी जग माँझा। जौ जनमि त भइ काहे न बाँझा॥४॥
कुल-कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस-भाजन प्रियजन द्रोही॥५॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥६॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥७॥
धिग मोहि भयेउ बेनु-बन-आगी। दुसह दाह - दुख - भूषन - भागी॥८॥

दोहा—मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिये उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति बारि॥१६४॥

अर्थ—हे माता! पिताजी कहाँ हैं, उन्हें दिखा दे। श्रीसीताजी एवं श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं? उन्हें दिखा दे॥३॥ इस संसार में कैकेयी क्यों जन्मी? जो जन्मी ही, तो वह बाँझ क्यों नहीं रह गई?॥४॥ कि जिसने कुल को कलंकित करनेवाले, अपयश के पात्र और प्रिय लोगों के द्रोही, मुझ (ऐसे कुपुत्र) को पैदा दिया॥५॥ मेरे समान अभागा तीनो लोकों में कौन होगा कि जिसके

कारण हे माता तुम्हारी ऐसी दशा हुई ॥६॥ पिता स्वर्ग को गये और रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी वन को गये। इन सब अनर्थों का कारण केतु-रूप केवल मैं ही हूँ ॥७॥ मुझे धिक्कार है कि जो मैं बाँस के वन में अग्नि रूप (पैदा) हुआ तथा कठिन दाह, दुःख और दूषणों का भागी हुआ ॥८॥ श्रीभरतजी के कोमल वचन सुनकर माता फिर सँभलकर उठीं और भरतजी को उठाकर छाती से लगा लिया और फिर वे आँखों से आँसू बहाने लगीं ॥१६४॥

विशेष—(१) 'मातु तात कहँ···गति असि तोरि···'—व्याकुलता में विलाप करते हुए पूछते हैं कि अमुक-अमुक कहाँ हैं ? ('देहि देखाई' यह दीप-देहली है) फिर उसीपर कहते हैं कि न मैं पैदा होता और न यह सब अनर्थ होता। मेरे सम्बन्ध से कुल कलंकित हुआ और मेरे ही कारण अमुक-अमुक को दुःख हुआ, जिससे मैं सबका द्रोही हुआ। कैकेयी बाँझ होती तो यह कुछ न होता। 'केतू। मैं'—केतु के उदय पर राजा का मरण और प्रजा को भी भाँति-भाति के कष्ट होते हैं—"उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा० दो० ३), "दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥" (उ० दो० १२०), वैसे ही मेरे कारण राजा की मृत्यु और प्रजा को भी भाँति-भाँति के दुःख हुए। 'बेनु बन आगी' अर्थात् मैं इसी कुल में पैदा हुआ और इसीको जला रहा हूँ, यथा—"भइ रघुबंस बेनु बन आगी।" (दो० ४६), कैकेयी के उस दोष को उससे उत्पन्न होने के कारण अपने में कह रहे हैं।

(२) 'पुनि उठी सँभारि'—क्योंकि पूर्व मूर्च्छित होकर गिर पड़ी थीं—"मुरुछित अवनि परी झइं आई।" ऊपर कहा गया, अब फिर उठीं, तिलमिलाकर गिरी थीं, इसीसे सँभलकर उठना कहा गया।

सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहुँ राम फिरि आये ॥१॥
भेंटेउ बहुरि लखन-लघु-भाई। सोक सनेह न हृदय समाई ॥२॥
देखि सुभाव कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई ॥३॥
माता भरत गोद बैठारे। आँसू पोंछि मृदु बचन उचारे ॥४॥
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमय समुझि सोक परिहरहू ॥५॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल-करम-गति अघटित जानी ॥६॥
काहुहि दोष देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥७॥
जो एतहुँ दुख मोहि जियावा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा ॥८॥

दोहा—पितुआयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर।
बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर ॥१६५॥

अर्थ—सीधे स्वभाववाली माता ने अत्यन्त प्रेम पूर्वक उन्हें हृदय से लगा लिया, मानों श्रीरामजी ही वन से लौट आये हों ॥१॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भाई शत्रुघ्नजी को हृदय से लगाया, शोक और स्नेह उनके हृदय में नहीं समाता (अर्थात् आँसू और रोमांच आदि से बाहर निकल पड़ता है) ॥२॥ इनका स्वभाव देखकर सभी लोग कहते हैं कि ये श्रीरामजी की माता हैं, ऐसी (शुद्ध स्वभाव की) क्यों न हों ॥३॥ माता ने श्रीभरतजी को अपनी गोद में बैठा लिया और उनके आँसू पोंछकर कोमल वचनों से कहा ॥४॥ हे वत्स ! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम अब भी धैर्य धरो, कुसमय समझकर हृदय के शोक को छोड़ो ॥५॥ काल-कर्म की व्यवस्था को अकाट्य जानकर हे तात ! हृदय में हानि और ग्लानि मत मानो और न किसीको दोष दो, मुझसे सब तरह से विधाता विरुद्ध है ॥६-७॥ जो मुझे इतने दुःख पर भी जिला रहा है, कौन जाने कि अब भी उसे क्या रुचता है ? ॥८॥ हे तात ! रघुकुल में वीर श्रीरामजी ने

पिता की आज्ञा से भूषण-वस्त्र त्याग दिये और वल्कल वस्त्र पहन लिये, (उस समय) उनके मन में कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं हुआ ॥१६५॥

विशेष—(१) 'सरल सुभाय माय···'—श्रीकौसल्याजी सरल-स्वभाववाली हैं, यथा—"राम मातु सुठि सरल चित···" (दो० १८१), इसीसे तो इनके पुत्र को जिस कैकेयी ने वन दिया और उसका राज्य छीना, पति को मारा, उसीके पुत्र को वात्सल्य से हृदय लगाती हैं। इनका सदा से ही ऐसा स्वभाव था, यथा—"सिथिल सनेह कहैं कौसिला सुमित्राजी सों, मैं न लखी सौति, सखी ! भगिनी ज्यों सेई है। कहैं मोहिं मैया, कहौं मैं न, मैया भरत की, बलैया लेहौं, भैया ! तेरी मैया कैकेयी है ॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी···' "रावरो सुभाव रामजन्म ही ते जानियत" (क० अ० ३)।

'अति हित मनहुँ राम फिरि आये।'—श्रीकौसल्याजी का प्रेम श्रीरामजी और श्रीभरतजी के प्रति समान ही है, दोनों का मिलान—

श्रीरामजी (वहाँ) (दो० ५१-५२)		श्रीभरतजी (यहाँ) (दो० १६४-१६८)
गोद राखि पुनि हृदय लगाये।	(१)	माता भरत गोद बैठारे।
नयन नेह जल पुलकित गाता।	(२)	लोचन मोचत बारि।
प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई।	(३)	अति हित मनहुँ राम फिरि आये।
बोली मधुर वचन महतारी।	(४)	आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे।
तात जाउँ बलि बेगि नहाहू।	(५)	अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू।
स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए।	(६)	थनपय स्रवहिं नयन जल छाए।

—इस मिलान से "राम भरत दोउ सुत सम जानी।" (दो० ५४), इसका भी चरितार्थ है।

(२) 'भेंटेउ बहुरि लखन-लघु-भाई'—भाव यह कि ये उन्हींके छोटे भाई हैं, जो वन में भी हमारे पुत्र के परम-बन्धु हैं। अतः, इनसे मिलने में श्रीलक्ष्मणजी के मिलने का-सा सुख हुआ। 'सोक सनेह न···' शोक पति की मृत्यु और पुत्र के वनवास का और स्नेह इन दोनों पुत्रों की भेंट का। शोक पहले से था। इससे वह पहले लिखा गया, स्नेह अब प्रकट हो रहा है।

(३) 'देखि सुभाव कहत सब···'—'सब कोई'—उपस्थित छोटे बड़े सभी लोग। 'राम मातु'—क्योंकि इनका श्रीराम का-सा सरल स्वभाव है, यथा—"राम कहा···सरल सुभाव छुआ छल नाहीं।" (बा० दो० २३६), "नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील सनेह निधान।···" (दो० २२७)। जैसा कारण होता है वैसा ही तो कार्य होता है।

(४) 'माता भरत गोद···'—'मृदु बचन' पहले कैकेयी के वचन शूल के समान कठोर थे—"भरत श्रवन मन सूल सम, पापिनि बोली बयन।" (दो० १५६)। अब ये मृदु वचन कहती हैं। 'अजहुँ बच्छ बलि धीरज···'—श्रीभरतजी अधीर हैं, क्योंकि आँसू चल रहे हैं और अपनेको कुल-कलंक, अभागी आदि कह रहे हैं। इसीसे माता धैर्य धरने को कह रही हैं। 'अजहुँ'—राजा की मृत्यु और श्रीरामजी के वनगमन की विपत्ति पर भी, क्योंकि दुःख में धैर्य ही चाहिये, कभी तो वह निवृत्त होगा ही।

(५) 'जनि मानहु हिय हानि गलानी'—श्रीभरतजी ने एक तो अपनेको दोष लगाया। दूसरे कैकेयी को दोष दिया। माताजी क्रम से दोनों का खंडन करती हैं। पहले का तो यहीं पर उत्तर है कि तुम अपने मन में हानि-ग्लानि न करो। राजा की मृत्यु और श्रीरामजी का वन जाना हानि है और अपनेको इस अनर्थ का कारण मानकर शोच करना ग्लानि है। हानि का कारण काल-कर्म की गति को कहती हैं। शुभाशुभ कर्मों का फल काल पाकर उदय होता है और वह अपरिहार्य है, यथा—"जनम मरन सब दुख सुख भोगा।···काल करम बस होहिं···बरबस राति दिवस की नाईं॥" (दो० १५७)। यही काल-कर्म की गति है।

दूसरे का उत्तर अगली अर्द्धाली में देती हैं, यथा—'काहुहिं दोष देहु जनि···' और सब दोष अपने भाग्य पर डालती हैं। यही उपर्युक्त काल-कर्म की गति है, यथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बेवस दुख-सुख छति लाहू॥" (दो० २८१), तथा—"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१)—इनके विशेष देखिये।

(५) 'जो एतहुँ दुख मोहि···'—'एतहुँ'—अर्थात् उपर्युक्त कर्म-गति एवं विधिवामता तथा अपने भाग्य का दोष, ये सभी एक ही हैं, उन्हींको यहाँ कहती हैं। क्या जाने आगे और क्या सहना पड़े, ऐसा कहने की रीति है, तथा—"पति सुरपुर सिय राम लखन बन, मुनि ब्रत भरत गह्यो। हौं रहि घर मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो॥" (गी० अ० ८४), पर यहाँ तो आगे दैव ने और भी दिखाया ही है कि श्रीभरतजी और शत्रुघ्नजी के सिर पर भी जटाएँ धारण कराईं, यथा—"भरत सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है। रामलखन रन जीति अवध आए, कैधों मोहि भ्रम···" (गी० लं० ११), इससे स्पष्ट है कि "अनुज सहित सिर जटा बनाए" (दो० ९३) की भाँति ही इन दोनों भाइयों ने भी जटाएँ धारण की हैं।

(७) 'पितुआयसु भूषन···'—यद्यपि वन के वस्त्र आदि कैकेयी ने दिये और उसीने वन भेजा है, फिर भी पिता के वरदान पर ही इनकी दृष्टि है। कैकेयी के कर्त्तव्य पर नहीं, क्योंकि इनके हृदय में राग-द्वेष नहीं है। 'रघुबीर' शब्द से त्याग-वीरता दिखाई है। 'बिसमय हरष न···', यथा—"राज सुनाय दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥" (दो० १४८), यह राजा का वचन है, श्रीरामजी का यही सुशील स्वभाव माता के भी हृदय में है।

मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सबकर सब बिधि करि परितोषू॥१॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम-चरन-अनुरागी॥२॥
सुनतहिं लखन चले उठि साथा। रहहिं न जतन किये रघुनाथा॥३॥
तब रघुपति सबही सिर नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥४॥

अर्थ—प्रसन्न मुख, मन में न किसीसे रंग (अनुरक्ति) और न किसीपर क्रोध, सबका सब तरह सन्तोष करके॥१॥ वे वन को चले, सुनकर श्रीसीताजी उनके साथ लगीं, (किसी प्रकार) नहीं रहतीं, क्योंकि वह श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त हैं॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी यह सुनते ही उठकर उनके साथ चले। श्रीरघुनाथजी ने बहुत यत्न किये, पर वे नहीं रहते॥३॥ तब रघुपति श्रीरामजी सबको माथा नवाकर चले, उनके साथ में श्रीसीताजी और छोटे भाई (मात्र) थे॥४॥

विशेष—(१) 'मुख प्रसन्न मन रंग···', यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा···" (सं० श्लोक)। मुख की प्रसन्नता श्रीरामजी के इन वचनों से स्पष्ट है, यथा—"भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहिं सनमुख आजू॥" (दो० ४१), पुनः—"मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।··· उर अनंद अधिकान।" (दो० ५१), तथा—"बिसमय हरष रहित रघुराऊ।" (दो० ११) देखिये। 'रंग न रोषू'—'रंग' का अर्थ अनुराग, प्रेम है, यथा—"ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकी नाथ के रंग न राते।" (क० उ० ४४)। यहाँ रंग का अर्थ यह कि राज्य की कुछ चाह (प्रेम, ममत्व) नहीं और रोष यह कि राज्य देकर छीना गया, तब भी क्रोध न हुआ। 'सब कर सब बिधि करि···' अर्थात् यह भी नहीं कि सबसे उदासीन हो गये हों। नहीं, सब दास-दासियों को गुरुजी को सौंप दिया। प्रियजन एवं पुरजनों को समझाया और कहा कि भरत साधु-स्वभाव हैं, आपलोगों को पालेंगे और चौदह वर्ष पर मैं भी आऊँगा, इत्यादि।

(२) 'रहइ न' अर्थात् हमने, राजा ने और भी सभी ने समझाया, पर वह न रही। 'रहइ न' और

'रहहिं न' ये वर्त्तमान क्रियाएँ दी गई हैं, क्योंकि श्रीकौसल्याजी की दृष्टि में वह दृश्य, मानों अभी सामने हो रहा हो, यथा—"लगेइ रहत मेरे नयननि आगे राम-लखन अरु सीता।" (गी० अ० ५३)।

राम लखन सिय बनहिं सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये ॥५॥
येहु सब भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥६॥
मोहि न लाज निज नेह निहारी। रामसरिस सुत मैं महतारी ॥७॥
जियइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत-कुलिस-समाना ॥८॥

दोहा—कौसल्या के बचन सुनि, भरत-सहित रनिवास।
ब्याकुल बिलपत राजगृह, मानहुँ सोक-निवास ॥१६६॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी वन को चले गये, न तो मैं साथ गई और न प्राणों को ही उनके संग भेजा ॥५॥ इन आँखों के सामने यह सब हुआ, तब भी अभागे जीव ने शरीर को नहीं छोड़ा ॥६॥ अपना स्नेह देखकर मुझे लज्जा भी नहीं आती कि राम ऐसे (सुशील, धर्मात्मा) पुत्र की मैं (निष्ठुर, अयोग्य) माता ! ॥७॥ जीना और मरना तो राजा ही ने अच्छी तरह जाना है। मेरा हृदय तो सैकड़ों वज्रों के समान (कठिन) है ॥८॥ श्रीकौसल्याजी के वचनों को सुनकर सारे रनिवास के साथ श्रीभरतजी व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं, राजमहल मानों शोक का निवास-स्थान है ॥१६६॥

विशेष—(१) 'राम लखन सिय बनहिं···तउ न तजा तनु···'—ऊपर श्रीरामजी का उत्तम स्वभाव कहकर अपनेको उनके अयोग्य मानकर धिक्कारती हैं कि श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी की तरह मैं प्रेमपूर्वक साथ हो लेती, वह भी न हुआ, तो प्राणों को ही साथ पठाती, अर्थात् वियोग में प्राण ही छोड़ देती, जैसे राजा ने किया। पर मुझसे दोनों में एक भी न हुआ, तो अभागी हूँ, क्योंकि श्रीराम-विमुख होकर अभागे ही जीते हैं, तथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी ॥" (वि० १४०)।

(२) 'रामसरिस सुत मैं···'—मैं ऐसे पुत्र की माता होने योग्य नहीं हूँ, यथा—"जिन्ह के बिरह बिषाद बँटावन खग-मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्ह की महतारी ॥" (गी० अ० ८५)। "बागन्ह बिटप बेलि कुँभिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥" (दो० ८२), उनकी माता मैं जीती रह गई !

(३) 'जियइ मरइ भल भूपति···' अर्थात् उनके दोनों बने, यथा—"जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा ॥" (दो० १५५)। 'मोर हृदय सत···'—क्योंकि—"सूल कुलिस असि अँगवनि हारे।" (दो० २४)। राजा श्रीदशरथजी तो श्रीराम-वियोग न सह सके और जिसने उन्हें रात-दिन गोद में खेलाया, वह जीती रहे ! भाव यह कि राजा ने तो पिता-भाव निबाह दिया, पर मुझसे मातृ-भाव न निबहा। भारी लज्जा की बात है, यथा—"कौसल्या दिन राति बिसूरति बैठि मनहि मन मौन। तुलसी उचित न होइ रोइबो प्रान गये सँग जौ न ॥" (गी० अ० ८३)।

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिये हृदय लगाई ॥१॥
भाँति अनेक भरत समुझाये। कहि बिबेकमय बचन सुनाये ॥२॥
भरतहु मातु सकल समुझाई। कहि पुरान श्रुति कथा सुहाई ॥३॥

छलविहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी ॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं। श्रीकौसल्याजी ने उन्हें छाती से लगा लिया ॥१॥ उन्होंने अनेक तरह से विवेकमय वचन कह-सुनकर श्रीभरतजी को समझाया ॥२॥ श्रीभरतजी ने भी सब माताओं को समझाया और वेदों और पुराणों की सुन्दर कथाएँ कहीं ॥३॥ श्रीभरतजी दोनों हाथ जोड़कर छल-रहित पवित्र सीधी सुन्दर वाणी बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि बिवेकमय बचन···', यथा—"जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥ सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १४९) तथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥" (दो० १७१)—इनके भाष्य देखिये। इन्हें श्रीरामजी का दिया हुआ अलौकिक विवेक प्राप्त है, यथा—"मातु बिवेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥" (बा० दो० १५०), उससे इन्होंने भरतजी को समझा दिया, जैसे वसिष्ठजी ने 'विज्ञान' से समझाया था।

(२) 'मातु सकल' से श्रीकौसल्याजी तथा श्रीसुमित्राजी को छोड़कर और माताओं को समझना चाहिये, (कैकेयी को तो प्रथम ही त्यागकर यहाँ आये हैं) कौसल्याजी का विवेक ऊपर स्पष्ट है और श्रीलक्ष्मणजी को उपदेश दिया है, 'पुरान-श्रुति' कथा पतिव्रताएँ सुन सकती हैं।

(३) 'छलबिहीन सुचि'—वाणी कपटरहित है, इसीसे शुचि है। माता की करनी में इनकी सम्मति नहीं है, इसीकी सफाई देते हैं, यह यथार्थ है। इसीसे इसे ग्रन्थकार शुचि कह रहे हैं। छलबिहीन'—मन से, 'शुचि सरल सुबानी'—वचन से और 'बोले भरत जोरि जुग पानी'—कर्म से, तीनों से शुचि वाणी है।

मनुष्य का जीवन सामाजिक होना चाहिये कि जिसके आचरण से संसार को शिक्षा प्राप्त हो। वैसा ही जीवन श्रीभरतजी का है। ये शुद्ध हैं, पर फिर भी शपथों के द्वारा सफाई देते हैं कि जिससे लोग भी इन दोषों से बचें, अन्यथा महान् पुरुषों के किसी ऊपरी असत् व्यवहार के मर्म को न समझकर तदनुसार लोग अनुचित आचरण करने लगते हैं।

जे अघ मातु-पिता-सुत मारे। गाइगोठ महि-सुरपुर जारे ॥५॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥६॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मन-भव कवि कहहीं ॥७॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौ येहु होइ मोर मत माता ॥८॥

दोहा—जे परिहरि हरि - हर - चरन, भजहिं भूतगन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौ जननी मत मोर ॥१६७॥

शब्दार्थ—गाइगोठ = गोशाला। उपपातक = छोटा पाप। माहुर = विष।

अर्थ—जो पाप माता, पिता और पुत्र को मारने से होते हैं, गोशाला और ब्राह्मणों के गाँव जलाने से होते हैं ॥५॥ जो पाप स्त्री और बालक का वध करने से होते हैं, जो पाप मित्र और राजा को विष देने से होते हैं ॥६॥ जो मन, वचन, कर्म से होनेवाले पाप और उपपाप हैं, जिन्हें कवि लोग कहते हैं ॥७॥ हे विधाता! वे सब पाप मुझे लगें, हे माता! जो इसमें मेरी सम्मति हो ॥८॥ जो लोग हरिहर-चरण छोड़ कर भयंकर भूत गणों को भजते हैं। हे माता! ब्रह्मा मुझे उनकी गति दें। यदि इस (कैकेयी के कर्त्तव्य) में मेरी सम्मति हो ॥१६७॥

विशेष—(१) 'जे अघ मातु···मीत महीपति···'—माता-पिता पूज्य हैं, पुत्र पोष्य है। अतः,

इनका मरना भारी पाप है। गऊ के द्वारा यज्ञ आदि धर्म होते हैं और ब्राह्मण लोग धर्म का प्रचार करते हैं। स्त्री और बालक दया के पात्र हैं, अतएव अवध्य हैं। तथा—"भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः। मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥" (महा० महाप्रस्थानिक० ३।१६), इसमें स्त्री-वध को भारी पाप कहा गया है। मित्र को मित्र पर और राजा को नौकर पर विश्वास रहता है, अतएव इनका मारना विश्वासघात करना—भारी पाप है, यथा—"सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः। तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते॥" (महा० शान्ति० १३९।९६), तथा—"राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते। भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम्॥" (वाल्मी० २।७५।३७), अर्थात् जो पाप राजा, स्त्री, बालक और बूढ़े के वध करने से होता है एवं निरपराध नौकर को त्याग करने से होता है, वह पाप उसे हो, जिसकी सम्मति से रामजी वन भेजे गये हों।

(२) 'जे पातक उपपातक अहहीं।···'—ऊपर भारी पाप गिनाये गये हैं। उपपातक—जैसे कि ओषधि बेचकर जीवन-यापन हिंसक शस्त्रों का बनाना, इंधन के लिये पेड़ काटना, नीचों से मित्रता, नीचों का आज्ञाकारी होना, असत्-शास्त्रावलोकन, आदि। पातक, तथा—"अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च कायिकं त्रिविधं स्मृतम्॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः। असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥ परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम्॥" (स्कन्द पु० काशी० पू० २७।१५२-१५४), अर्थात् बिना दी हुई वस्तु लेना, निषिद्ध हिंसा और परस्त्री-गमन—ये तीन शारीरिक पाप हैं। परुष, झूठ, चुगली (सब ओर से) और अंट-संट-बकना—ये चार वचन से होनेवाले पातक हैं और दूसरे के धन लेने का विचार, मन से किसीके अनिष्ट का चिन्तन और असत्य में आग्रह रखना—ये तीन मानस पाप हैं। 'करम बचन मनभव', यथा—"कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्। अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥" (वाल्मी० २।१०९।२१), 'कवि कहहीं'—वाल्मीकि, मनु आदि कवि कहते हैं।

(३) 'भजहिं भूतगन घोर'—हरि-हर सात्त्विक रीति से पूज्य हैं और उत्तम गति देते हैं, इन्हें छोड़कर भूत, पिशाच, यक्षिणी आदि तामसी जीवों की तामसी पूजा करते हैं, इससे उन्हींकी योनि को प्राप्त होते हैं, यही घोर गति है, यथा—"यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥" (गी० ९।२५), "क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥" छं० ३।१४।१), एवं—"यस्मिन्यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्। स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम॥" (महा० शान्ति० ३५२।३), अर्थात् जिस विषय में जो जिस प्रकार निश्चय रखते हैं, वे उसे ही प्राप्त होते हैं।

सर्व व्यापक एवं सर्वसाक्षी परमात्मा ही प्रत्येक व्यक्ति के भावानुसार फल प्रदान करता है, यथा—"फलमत उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३७), तथा—"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता० ७।२२), अर्थात् भगवान् की प्रेरणा से ही उनके शरीर-रूप देवों से फल मिलते हैं, तथा—"तुलसी परिहरि हरिहरहिं, पामर पूजहिं भूत। अंत फजीहत होहिंगे, गनिका के-से पूत॥" (दोहावली ६५)।

बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥१॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेदबिदूषक बिस्वबिरोधी॥२॥
लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं पर-धन पर-दारा॥३॥
पावउँ मैं तिन्ह कइ गति घोरा। जौ जननी येहु संमत मोरा॥४॥

शब्दार्थ—बेचहिं बेद=द्रव्य के लिये लोभ से अनधिकारी को वेद पढ़ाना या सुनाना। धर्मदुहना=धर्म का कार्य

लौकिक प्रयोजन साधने के लिये करना, जैसे द्रव्य लेकर कन्या ब्याहना, द्रव्य लेकर सच्ची गवाही देना। कहा भी है—"सुगति साधन भइ उदर भरनि।" (वि० १८४), पिसुन = चुगुल। बिदूषक = विशेष दूषित करनेवाला, हँसी उड़ानेवाला। लोलुप चारा = चंचल आचरणवाला।

अर्थ—जो वेदों को बेचते हैं तथा धर्म को दुह लेते हैं और जो चुगुल हैं, पराये पापों को कह देते हैं ॥१॥ जो कपटी, टेढ़े, झगड़ालू, क्रोधी, वेदों का परिहास करनेवाले, जगत्-भर के विरोधी ॥२॥ लोभी, व्यभिचारी, चंचल आचरणवाले एवं जो पराया धन और परायी स्त्री ताकनेवाले हैं ॥३॥ मैं उनकी घोरगति पाऊँ, हे माता! जो यह मेरा सम्मत हो ॥४॥

विशेष—(१) 'पिसुन पराय पाप कहि···'—पिशुनता (चुगुली) के रूप में पराया पाप कहना भारी पाप है, यथा—"अघ कि पिसुनता सम कछु आना।" (उ० दो० १११), 'कहि देहीं' का यह भी दूसरा भाव है कि कहकर उसे भी देते हैं, अर्थात् उसे भी पाप का भागी बनाते हैं, क्योंकि पराया पाप सुनने से भी पाप होता है (यदि उसे सुधारने के लिये सुने तो नहीं)।

'बेचहिं बेद'—वेद बेचना पाप है, यथा—"न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप। न च शूद्र-समाभ्याशे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥" (महा० आदि० ६४।२०), अर्थात् उस समय न तो कोई ब्राह्मण वेदों को बेचते थे और न शूद्रों को वेद सुनाते ही थे।

(२) 'बेद बिदूषक'—वेद में दूषण निकालना पाप है, यथा—"कलप कलप भरि एकएक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका ॥" (उ० दो० ९६), "सुरश्रुति-निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥" (उ० दो० १२०)। 'कपटी' मन से, 'कुटिल' तन से और 'कलहप्रिय' वचन से।

(३) 'लोभी लंपट लोलुप चारा'—यहाँ यथासंख्यालंकार की रीति से अर्थ होगा कि 'लोभी'—'जे ताकहिं परधन' और 'लंपट'—'जे ताकहिं परदारा' 'लोलुपचारा'—लोभी-लंपट दोनों ही का विशेषण है। 'ताकहिं' अर्थात् अवसर (घात) देखते हैं, यथा—"जिमिगवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।" (उ० दो० १२)।

पर-स्त्री पर कुदृष्टि भारी पाप है, यथा—"नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते। यादृशं पुरुष-स्येह परदारोपसेवनम् ॥" (मनु० ४।१३४), अर्थात् संसार में पुरुष की आयु का घटानेवाला कोई ऐसा पाप नहीं है, जैसा परस्त्री-गमन। परलोक में भी इसको घोर गति होती है, वही आगे कहा गया है। महा० अनुशा० १०४।२१ में भी यही श्लोक है। 'पर-धन'—जड़ माया और 'पर-दारा'—चेतनमाया।

जे नहिं साधु-संग अनुरागे। परमारथ-पथ बिमुख अभागे ॥५॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई। जिन्हहिं न हरि-हर-सुजस सुहाई ॥६॥
तजि श्रुतिपंथ बामपथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं ॥७॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ। जननी जौ यहु जानउँ भेऊ ॥८॥

दोहा—मातु भरत के बचन सुनि, साँचे सरल सुभाय।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह, सदा बचन मन काय ॥१६८॥

शब्दार्थ—भेऊ = भेद। परमारथ पथ = भगवत्प्राप्ति का मार्ग। बामपथ (वाम मार्ग) = जिस मार्ग में पंच मकार मुख्य हैं—मांस, मत्स्य, मद्य, मैथुन और मुद्रा। तन्त्र ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। बंचक बिरचि बेष = नाना वेष रचकर कपट से स्वार्थसाधक, यथा—"अन्तः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नाना-वेष-धरा कौलाः विचरन्ति महीतले ॥" तथा—"नाना बेष बनाव दिवस-निसि पर चित जेहि-तेहि जुगुति हरौं।" (वि० १४१)।

अर्थ—जो साधु-संगति में अनुरक्त नहीं हैं और जो अभागे परमाथ मार्ग से प्रतिकूल हैं ॥५॥ जो

नर-शरीर पाकर भगवान् का भजन नहीं करते और जिनको हरि-हर का सुन्दर यश नहीं अच्छा लगता ॥६॥ जो वेदमार्ग को छोड़कर वाम मार्ग में चलते हैं, ठग हैं, सुन्दर वेष रच-रचकर संसार को छलते हैं ॥७॥ उनकी गति मुझे शंकर दें, हे माता ! जो म यह भेद जानता होऊँ ॥८॥ श्रीभरतजी के सच्चे और स्वाभाविक सीधे वचन सुनकर कौसल्या माता कहती हैं कि हे तात ! तुम सदा तन-मन-वचन से श्रीरामजी के प्रिय हो ॥१६८॥

विशेष—(१) 'जे नहिं साधु-संग···'—साधु-संग करने से दोष छूटते हैं तथा सद्गुण आते हैं और स्व-स्वरूप-ज्ञान-पूर्वक भगवत्प्राप्ति होती है यही परमार्थ बनना है। ये सत्संग नहीं करते, इसीसे इन्हें 'परमार्थ-पथ-विमुख' और 'अभागे' कहा है, यथा—"संत-संग अपवर्गकर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३), तथा—"जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु-संगति पाइये।···" से "तेहि पथ चलत सबै सुख पावै।···" (वि० १३६) तक देखिये।

(२) 'जे न भजहिं हरि नर···'—'पाई' शब्द से नर-देह का पाना हरि-कृपा से जनाया, यथा—"कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥" (उ० दो० ४३), इस तन से हरि-भजन करके परलोक बनाना चाहिये, यथा—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥ सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताइ।" (दो० ४३), 'जिन्हहिं न हरि-हर-सुजस सुहाई।'—पूर्वार्द्ध में—'जे न भजहिं···' कहने के साथ इसका भाव यह कि और प्रकार की भक्ति न भी हो तो हरि-यश ही सुने, अन्यथा आत्मघाती होता है, यथा—"ते जड़ जीव निजातमघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती ॥" (उ० दो० ५२)।

(३) 'तजि श्रुति पंथ···बंचक···'—वेष रचकर अपनेको श्रुति के अनुकूल दिखाते हैं और इसीसे आस्तिक जनता को ठगते हैं।

(४) 'तिन्ह कइ गति मोहि संकर···'—पूर्व तीन शपथों में कैकेयी के कर्त्तव्य में अपनी सम्मति न होने की शपथें कीं और यहाँ उसके भेद न जानने की, क्योंकि उसमें सम्मत न होने से भी सन्देह रह जाता कि ये उसका वह दुष्ट अभिप्राय जानते रहे हैं और इसीसे उससे विरुद्ध हो अलग जाकर ननिहाल में रहे हैं। इसलिये इसकी भी सफाई दी कि मैं इसका मर्म भी नहीं जानता था। शंकर की शपथ की, क्योंकि वे संहारकर्त्ता हैं और नीति-विरोधी एवं श्रुति-विरोधी को कड़ा दण्ड देते हैं, यथा—"तदपि साप सठ देइहउँ तोहीं। नीति बिरोध सोहाइ न मोहीं ॥ जौ नहि दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ॥" (उ० दो० १०६), इसीसे साक्षी में भी इनका नाम आता है, यथा—"बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ येहि घाये ॥" (दो० २६१), यह श्रीभरतजी ने ही कहा है। "मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी ॥" (दो० २५७), "कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी ॥" (दो० २६३), इत्यादि।

(५) 'सदा बचन मन काय'—तीनो से प्रियत्व के उदाहरण, यथा—"लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ॥"—यह वचन, "सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥"—यह मन, "जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरेहि अनुरागा ॥"—यह कर्म (दो० २०७)।

राम प्रानहु ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे ॥१॥
बिधु बिष चवइ स्रवइ हिम आगी। होइ बारिचर बारि - बिरागी ॥२॥
भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू ॥३॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं ॥४॥

अस कहि मातु भरत उर लाये। थन पय स्रवहिं नयन जल छाये ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी के प्राणों से तुम्हारे प्राण हैं (अर्थात् श्रीरामजी तुम्हारे प्राणों के आधार हैं) और रघुपति श्रीरामजी को तुम भी प्राणों से अधिक प्यारे हो ॥१॥ चन्द्रमा चाहे विष टपकावे, पाला चाहे अग्नि गिरावे, जलचर (मछली) चाहे जल से प्रेम छोड़ दे ॥२॥ और चाहे ज्ञान होने पर मोह न मिटे, पर तुम (कभी) श्रीरामजी के प्रतिकूल नहीं हो सकते ॥३॥ 'यह तुम्हारा सम्मत है' (अर्थात् तुम्हारी सलाह से कैकेयी का कर्त्तव्य है) ऐसा जगत् में जो मनुष्य कहते हैं, वे सुख और सद्गति स्वप्न में भी न पावें ॥४॥ ऐसा कहकर माता ने श्रीभरतजी को अपनी छाती से लगा लिया, उनके स्तनों से दूध टपकने लगा और आँखों में जल भर आया (ये प्रेम की दशाएँ हैं) ॥५॥

विशेष—(१) 'राम प्रानहु ते प्रान···'—श्रीरामजी तो सभीके प्राणाधार हैं, यथा—"प्रान प्रान के जीव के जिय···" (दो० २९०), "प्रान प्रान के जीवन जीके।" (दो० ५५), पर यहाँ अत्यन्त प्रियत्व से तात्पर्य है। वैसा ही उत्तरार्द्ध में श्रीरामजी का अत्यन्त प्रेम भरत में कहा, यथा—"तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥" (दो० २०७)।

(२) 'तुम्ह रामहि प्रतिकूल न···'—अर्थात् चन्द्रमा और पाला आदि अपना प्राकृतिक नियम चाहे छोड़ दें, पर तुम श्रीरामजी के विरुद्ध नहीं हो सकते हो, अर्थात् तुम्हारी प्रकृति नहीं बदल सकती, यथा—"भरतहिं होइ न राज मद, बिधि हरिहर पद पाइ।···" से "मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृप मद भरतहिं भाई ॥" (दो० २३१) तक। 'बिधु' स्वर्ग का, 'बारिचर' जल एवं पाताल का और 'हिम आगी' भूलोक का—तीनो लोकों के दृष्टान्त दिये गये।

(३) 'मत तुम्हार यह जो···'—यह माताजी ने श्रीभरतजी पर दोष देनेवालों को शाप दिया है।

करत बिलाप बहुत येहि भाँती। बैठेहिं बीति गई सब राती ॥६॥
बामदेव बसिष्ठ तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥७॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे ॥८॥

अर्थ—इसी तरह से बहुत विलाप करते हुए बैठे-ही-बैठे सारी रात बीत गई ॥६॥ तब वामदेवजी और वसिष्ठजी आये और सब मन्त्रियों तथा रईसों को उन्होंने बुलवाया ॥७॥ मुनि ने श्रीभरतजी को बहुत तरह से समय के अनुकूल और योग्य परमार्थ के वचन कहकर उपदेश दिया ॥८॥

विशेष—(१) 'बामदेव बसिष्ठ तब···'—वामदेवजी प्रतिष्ठित और वसिष्ठजी के तुल्य ऋषि हैं क्योंकि ये वसिष्ठजी के वचनों का समर्थन करके प्रतीति करानेवाले हैं, यथा—"बोले बामदेव सब साँची।' (बा० दो० ३५८), मन्त्रियों और महाजनों को बुलवाया, क्योंकि ये लोग आते समय श्रीभरतजी से न मिले थे, इन्हें श्रीभरतजी के प्रति श्रीरामजी के विरोधी होने का सन्देह था, वह निवृत्त करने के लिये बुलवाया

(२) 'मुनि बहु भाँति भरत···'—राजा धर्मात्मा थे—उन्होंने आयु-पर्यन्त धर्म में बिताया, फि स्वर्ग में भी इन्द्रासन पर जा बिराजे, नरराज से देवराज हुए, तो उनके लिये शोक न करना चाहिये। प्रिय वियोग-जन्य दुःखों को सहना ही चाहिये, क्योंकि ये अपरिहार्य हैं, यथा—"त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेष प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ॥" (वाल्मी० २।७७।२३), अर्थात् सभी प्राणियं को तीन द्वन्द्व (भूख-प्यास, हानि-लाभ, जरा-मृत्यु) होते हैं, ये अनिवार्य हैं। अतः, तुम्हें ऐसा शोक नहं करना चाहिये, तथा—"यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ। समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमा गमः ॥" "अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ। पथि सङ्गतमेवैतद्भ्राता माता पिता सखा ॥" (महा० शान्ति० २८।३६।४१)।

'भरतागमन-प्रेम-बहु'-प्रकरण समाप्त।

'करि-नृप-क्रिया'-प्रकरण

दोहा—तात हृदय धीरज धरहु, करहु जो अवसर आज।
उठे भरत गुरुबचन सुनि, करन कहेउ सब साज ॥१६९॥

नृपतनु बेदबिहित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमान बनावा ॥१॥
गहि पगु भरत मातु सब राखी। रहीं राम-दरसन अभिलाषी ॥२॥

अर्थ—हे तात! अपने हृदय में धैर्य धारण करो और आज इस अवसर पर जो करना चाहिये, वह करो, श्रीभरतजी गुरुजी के वचन सुनकर उठे और सब साज-सामान करने को कहा ॥१६९॥ राजा के शरीर को वेदों में कही हुई रीति के अनुसार स्नान कराया गया और बहुत ही विचित्र विमान (अरथी) बनाया गया ॥१॥ सब माताओं के चरण पकड़ कर श्रीभरतजी ने उनको रख लिया (प्रार्थना करके सती होने से उन्हें रोका), श्रीरामजी के दर्शनों की अभिलाषा से वे सब रह गईं (सती नहीं हुईं) ॥२॥

विशेष—(१) 'उठे भरत गुरुबचन सुनि'—गुरु की आज्ञा का गौरव मानकर सुनते ही उठे।

(२) 'गहि पगु भरत मातु·····'—जब राजा का विमान ले चले, तब श्रीकौसल्याजी आदि रानियाँ सती होने को चलीं। इसपर श्रीभरतजी ने चरण पकड़कर रोका और समझाया कि पिता स्वर्गवासी हुए, श्रीरामजी वनवास में हैं। यदि आप सब भी न रहेंगी, तो मेरी रक्षा कौन करेगा? फिर धर्मशास्त्र में भी लिखा है कि जिसका पुत्र धर्म-रक्षा में समर्थ हो, वह स्त्री पति के साथ सती न हो। क्या मैं आपका पुत्र नहीं हूँ? लोक में भी मेरी निन्दा होगी कि माताएँ इसीसे जल मरीं कि वह राजा होने से उन विधवाओं की दुर्गति करेगा।

पुनः आप ही लोगों के सहारे तो मैं श्रीरामजी को लौटाने की प्रार्थना करूँगा, यदि अभी न भी लौटें, तो अवधि-पूर्ति पर तो उनके अभिषेक का सुख होगा ही, इत्यादि सुनकर श्रीराम-दर्शनाभिलाष से रह गईं। उन्होंने हरि-प्राप्ति को उस धर्म से विशेष माना।

चंदन अगर भार बहु आये। अमित अनेक सुगंध सुहाये ॥३॥
सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई ॥४॥
येहि बिधि दाहक्रिया सब कीन्ही। बिधवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही ॥५॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दस-गात बिधाना ॥६॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सब कीन्हा ॥७॥
भये बिसुद्ध दिये सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥८॥

दोहा—सिंहासन भूषन बसन, अन्न धरनि धन धाम।
दिये भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन काम ॥१७०॥

पितुहित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी ॥१॥

शब्दार्थ—अनेक सुगंध = गुग्गुर, पद्मक, केसर, कचूर, कस्तूरी, कपूर, इत्यादि। सरजुतीर = बिल्वहरिघाट पर। दाहक्रिया = मुर्दा जलाने का कर्म। सुमृति = स्मृति, धर्म-शास्त्र। दसगात = दस गात्र, मृतक का दाहकर्म के पीछे का शास्त्रीय कर्म, जो दस दिनों तक होता रहता है। इसी कर्म से क्रमशः प्रेत का शरीर बनता है, दसवें दिन पूरा होता है।

अर्थ—चन्दन-अगर एवं और भी बहुत-से बे-अन्दाज सुन्दर सुगन्धित पदार्थों के बहुत-से बोझ आये ॥३॥ श्रीसरयूजी के किनारे पर रचकर चिता बनाई गई, (वह ऐसी जान पड़ती थी कि) मानों स्वर्ग की सुहावनी सीढ़ी बनी है ॥४॥ इस प्रकार श्रीभरतजी ने सब दाह-क्रिया की और विधि-पूर्वक स्नान करके सभी ने तिलाञ्जलि दी ॥५॥ सब स्मृतियों, वेदों और पुराणों को शोधकर श्रीभरतजी ने दशगात्र का विधान किया ॥६॥ मुनि-श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, श्रीभरतजी ने वहाँ वैसा ही सहस्रों प्रकार से किया ॥७॥ विशेष शुद्ध होकर बारहवें दिन सब (तरह के) दान दिये, बहुत तरह की गायें, घोड़े, हाथी, रथ ॥८॥ सिंहासन, भूषण, वस्त्र, अन्न, पृथ्वी, धन और गृह श्रीभरतजी ने दान में दिये, पाकर ब्राह्मण लोग परिपूर्ण-काम हो गये, अर्थात् उन्हें फिर और कामना नहीं रह गई ॥१७०॥ श्रीभरतजी ने पिताजी के लिये जैसी करनी (अन्त्येष्टि-क्रिया) की, लाखों मुखों से भी वह नहीं कही जा सकती ॥१॥

विशेष—'चंदन अगर भार ····'—चन्दन अगर आदि चिता बनाने के लिये और सुगन्ध अतर (इत्र) आदि शव के अंग में लगाने के लिये आये, यथा—"चन्दनागुरुनिर्यासान्सरलं पद्मकं तथा। देवदारुणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथा परे ॥ गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाऽस्य भूमिपम्। ततः संधेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥" (वाल्मी० २।७६।१६-१७), अर्थात् कुछ लोग चन्दन, अगर, गुग्गुल की धूप (पालकी के इधर-उधर) जलाते जाते थे। (सरयू तट पहुँचने पर) देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ एकत्र कर चिता बनाई गई, चिता में और सुगन्धित वस्तुएँ डाली गईं, तब ऋत्विजों ने चिता पर शव को लिटा दिया।

'जनु सुरपुर सोपान···'—चिता की शोभा कही गई, यह भी भाव है कि इसके दर्शन से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है—"राजन राउर नाम जस··· ···" (दो० ३), फिर उनकी चिता में ऐसा महत्त्व योग्य ही है। 'सहस भाँति'—एक-एक वस्तु की जगह हजार-हजार और एक-एक विधि अनेक प्रकार से की, यह उत्कृष्ट श्रद्धा है। 'परिपूरन काम' अर्थात् बारहवें दिन ब्राह्मणों को तृप्त कर दिया, उन्हें और कुछ कामना न रह गई, यथा—"द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥१॥ ब्राह्मणेभ्यो ददौ रत्नं धनमन्नं च पुष्कलम्। वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥२॥···गाश्चापि शतशस्तदा। दासीदासं च यानं च वेश्मानि सुमहान्ति च ॥३॥ ब्राह्मणेभ्यो ददौ···" (वाल्मी० २।७७)।

'करि-नृप-क्रिया'-प्रकरण समाप्त।

'संग पुरबासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी'-प्रकरण

सुदिन सोधि मुनिबर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥२॥
बैठे राजसभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई ॥३॥
भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरममय बचन उचारे ॥४॥
प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी ॥५॥
भूप धरम - ब्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा ॥६॥

अर्थ—तब अच्छा दिन शोधकर तब मुनियों में श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी आये, उन्होंने मन्त्रियों और महाजनों (रईसों) को बुलाया ॥२॥ जब वे सब राज-सभा में जाकर बैठे, तब श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन दोनों भाइयों को बुला भेजा ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने श्रीभरतजी को अपने समीप बैठाया और वे नीति-मय एवं धर्ममय वचन बोले ॥४॥ कैकेयी ने जैसी कुटिल करनी की थी, मुनि-श्रेष्ठ ने पहले वही कथा कही ॥५॥ फिर राजा के धर्म-व्रत और सत्य-व्रत की प्रशंसा की कि जिन्होंने शरीर त्यागकर प्रेम को निबाहा है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुदिन सोधि·····'—गुरुजी ने सुदिन शोधा था कि श्रीभरतजी को राज्य देंगे, पर इन्होंने प्रभु-सेवा-धर्म की ओट से इस आज्ञा का भंग किया, तब भी गुरुजी एवं और सभी प्रसन्न ही हुए, यथा—"भा सबके मन मोद न थोरा।···भरत प्रान-प्रिय भे सब ही के॥" (दो० १८४)। इससे सेवा-धर्म को परम धर्म जनाया। परम धर्म के आश्रित होकर सामान्य धर्म का त्याग हो सकता है। परम धर्म पर सुदिन-सफलता भी है।

वाल्मी० २।७६।१ के अनुसार यह सभा नृप-क्रिया-समाप्ति पर १४ वें दिन हुई।

(२) 'बैठे राजसभा सब···'—श्रीभरतजी को आज राजगद्दी पर बैठाने का विचार करना है, कुल-परम्परा की रीति से उसका यही स्थल है। 'दोउ भाई'—क्योंकि पहले एक भाई श्रीभरतजी के न रहने से राम-तिलक में विघ्न हुआ था, इसलिये अब दोनों को साथ बुलाया। कहा भी है—"दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है।"

(३) 'भरत बसिष्ठ निकट बैठारे·····'—समीप में बैठाना अधिक आदर और प्रीति का सूचक है, यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं० दो० ३६)। 'नीति धरममय बचन·····'—पहले नीति-पद देकर पीछे धर्म शब्द कहा गया, क्योंकि श्रीभरतजी नीति की दृष्टि से राज्य ग्रहण कर सकते हैं, यथा—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।" (दो० ७१४), और धर्म की दृष्टि से नहीं, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।" (दो० १४), अर्थात् धर्म-दृष्टि से श्रीरामजी ही राज्य के अधिकारी हैं, गुरुजी ने श्रीभरतजी को तिलक करने के विचार से नीति को प्रधान रक्खा, धर्म को भी साथ रक्खा, इसीसे श्रीभरतजी को उत्तर देने का मार्ग मिला।

(४) 'कैकइ कुटिल कीन्हि'''—सभी ने कैकेयी को कुटिल कहा है—"कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।" (दो० ४६), इत्यादि, वैसे ही श्रीभरतजी कैकेयी की करनी को कुटिल मानते हैं। अतः, गुरुजी ने भी इनकी रुचि रखते हुए कहा। श्रीभरद्वाजजी के वचन—"तात कैकइहि दोष नहिं" (दो० २०६), की तरह न कहा, क्योंकि अभी इसका प्रभाव न पड़ता, यह भी नीति है।

(५) 'भूप धरम-ब्रत सत्य सराहा'—धर्म-ब्रत यह कि कैकेयी के दो वरदान थाती रूप में रक्खे थे। उन्हें उसने जब माँगा, तब दे दिया, धरोहर दे देना धर्म है। इस धर्म के रखने में प्राण तक दे दिये। सत्य-ब्रत यह कि राजा ने उससे कहा था—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥···सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।" (दो० २७), उसे भी प्राण देकर निबाहा। वह स्त्री थी, फिर उसने छल से राजा को वचन-बद्ध किया था। अतएव वह दान की अधिकारिणी नहीं थी, पर राजा ने उससे भी 'नहीं' न किया।

(६) 'जेहि तनु परिहरि'' —सत्यब्रत और धर्म-ब्रत की रक्षा से राम-प्रेम में न्यूनता आती, यथा—"वारउँ सत्य बचन स्रुति-सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ बिनु प्रयास सब साधन को फल हरि पाये सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे॥" (गी० अ० २), इसलिये राम-वियोग होते ही शरीर त्याग दिया, यह प्रेम की पराकाष्ठा निबाही।

कहत राम - गुन - सील-सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥७॥
बहुरि लखन-सिय-प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी॥८॥

दोहा—सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥१७१॥

अस बिचारि केहि देइय दोषू। ब्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव को कहते हुए मुनिराज श्रीवसिष्ठजी की आँखों में जल भर आया और उनका शरीर पुलकित हो गया ॥७॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी की प्रीति तो विस्तार-पूर्वक कहते हुए ज्ञानी मुनि श्रीवसिष्ठजी शोक और स्नेह में निमग्न हो गये ॥८॥ मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी ने दुःखी होकर कहा कि भरत! सुनो, भावी प्रबल है। हानि-लाभ, जीना-मरना, यश-अपयश, ये सब विधाता के हाथ हैं ॥१७१॥ ऐसा विचारकर किसे व्यर्थ दोष दिया जाय और किसपर व्यर्थ क्रोध किया जाय? ॥१॥

विशेष—(१) 'कहत राम-गुन-सील···'—'गुन' यह कि पिता की आज्ञा का पालन किया। वनवास की आज्ञा भी हर्ष से ग्रहण की, यथा—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥" (दो० ४०), 'सील' यह कि ऐसी निष्ठुर कैकेयी के निष्ठुर एवं प्रतिकूल वचनों पर भी उसे कुछ न कहा, प्रत्युत उसीमें सुख मान लिया, यथा—"राम जननि सिख सुनि सुख पावा॥" (दो० ७८), 'सुभाऊ', यथा—"तिलक कहँ बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिमि ज्यों विदर्‌यो समुझि सील सुभाउ॥" (गी० अ० ५७), तथा—"सब कर सब बिधि करि परितोषू॥" (दो० १६५)। "जासु सुभाउ अरिहु अनुकूला।" (दो० ३१)। "राम रूप गुन सील सुभाऊ।" (दो० १) भी देखिये।

(२) 'बहुरि लखन सिय प्रीति·····'—पहले श्रीजानकीजी साथ हुईं, तब श्रीलक्ष्मणजी साथ हुए और इसी क्रम से इनकी प्रीति हुई, पर यहाँ कहने में मुनिराज क्रम भूल गये, क्योंकि शोक-स्नेह में मग्न हैं, उत्तरार्द्ध में कहा ही है।

'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानी को शोक-स्नेह की मग्नता कैसी?—"यह सियराम सनेह बड़ाई।" (दो० २७६) प्रकट हुई है, क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (दो० २७६)।

(३) 'बिलखि कहेउ···'—भरतजी के मन में यह बात आ सकती है कि आपके रहते हुए ऐसे अनर्थ कैसे हो गये? उसका ऐसा ध्यान करते हुए दुखी होकर कहा कि भावी (हरि की इच्छा) इतनी प्रबल है कि उसपर मुझसे कुछ करते न बना। क्या करूँ? इस तरह अपनी लाचारी जनाई। उत्तरार्द्ध में उसी प्रबलता को समझाते हैं—'हानि लाभ·····' अर्थात् लाभ, जीवन और यश ही सब चाहते हैं, पर हानि, मरण और अपयश बलात् हो जाते हैं। यह विधि की प्रबलता है। पुनः लाभ आदि के प्रति भी कभी-कभी बहुत-से विघ्न न लगकर इनकी सिद्धि हो ही जाती है तो वह भी वैसा ही है। विधि का कार्य है। यद्यपि 'हानि-लाभ' की रीति से द्वन्द्व कथन की रीति है, तथापि उस प्रसंग में इन छहों के उदाहरण भी कहे जाते हैं—हानि अवधवासियों की हुई, लाभ वनवासियों को हुआ, जीवन सुग्रीव-विभीषण को और मरण वाली-रावण आदि को तथा यश श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीजनकजी को और अपयश मन्थरा और कैकेयी को हुआ, ये सब विधि के द्वारा हुए, यथा—"सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यच्च किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥" (वाल्मी० २।२२।२२), अर्थात् सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि और जीवन-मरण तथा इनके समान और बातें दैव के कृत्य हैं।

(४) 'अस बिचारि केहि···'—अर्थात् कैकेयी आदि के कर्त्तव्य भी विधि के ही कार्य हैं, यथा—"दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई॥" (दो० २६२)। अतः, कैकेयी को भी दोष न दीजिये और न उसपर रोष कीजिये। आगे पिता के विषय का शोक छोड़ने के प्रति कहते हैं—

तात बिचार करहु मन माहीं। सोच जोग दसरथ नृप नाहीं॥२॥
सोचिय बिप्र जो बेद-बिहीना। तजि निज धरम बिषय लयलीना॥३॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥४॥
सोचिय बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि-सिव-भगति-सुजानू॥५॥

सोचिय सूद्र बिप्र - अवमानी । मुखर मानप्रिय ज्ञानगुमानी ॥६॥
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥७॥

शब्दार्थ—सोचिय = शोक करने के योग्य । मुखर = अप्रिय एवं बहुत बोलनेवाला ।

अर्थ—हे तात ! अपने मन में विचार करो (तो) राजा दशरथ शोक करने के योग्य नहीं हैं ॥२॥ वह ब्राह्मण शोच करने के योग्य है, जो वेद न जानता हो और जो अपना धर्म छोड़कर विषय (भोग-विलास) में आसक्त हो ॥३॥ वह राजा शोचने के योग्य है जो नीति न जानता हो और जिसे प्रजा प्राणों के समान प्रिय न हो ॥४॥ वह वैश्य शोचने के योग्य है, जो धनवान् होते हुए भी कंजूस हो, जो अथिति-सेवा और शिव-भक्ति में निपुण न हो ॥५॥ वह शूद्र शोचने के योग्य है, जो ब्राह्मण का अपमान करनेवाला, बकवादी, प्रतिष्ठा चाहनेवाला और अपने ज्ञान का घमण्ड रखनेवाला हो ॥६॥ फिर वह स्त्री शोचने के योग्य है, जो पति से छल करनेवाली, कुटिला, झगड़ालू और अपनी इच्छानुसार (स्वतन्त्र) चलनेवाली हो ॥७॥

विशेष—(१) 'तात बिचार करहु मन ···'—राजा दशरथ के लिये शोक (शोच) करना योग्य नहीं है । मुख्य यही वक्तव्य है । इसीकी पुष्टि के लिये गुरुजी दो पक्ष कह रहे हैं । शोचनीय को कहकर उसके विपर्यय से अशोचनीय को सूचित करते हैं । यह वसिष्ठजी एवं ग्रन्थकार की लोक-शिक्षात्मक दृष्टि है । प्रथम चारो वर्णों के धर्म, फिर उनकी स्त्रियों के और फिर चारो आश्रमों के धर्म कहकर फिर सबके लिये करने के योग्य धर्म कहा है ।

(२) 'सोचिय बिप्र···' अर्थात् ब्राह्मणों को वेद जानना चाहिये, तभी वे अपना धर्माचरण करते हुए औरों को भी शिक्षा दे सकेंगे, तथा—"वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥" (मनु० १६६), अर्थात् तप और वेदाभ्यास ही ब्राह्मण के लिये विहित है । 'बिहीना' अर्थात् विशेष हीन, जो वेद की मूल-रूपा ब्रह्म-गायत्री भी न जाने ।

(३) 'सोचिय नृपति···', यथा—"राज कि रहै नीति बिनु जाने ।" (उ० दो० १११), और उसे प्रजा प्रिय रहनी चाहिये, यथा—"जासु राज प्रिय-प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥" (दो० ७०), यहाँ प्रसंगानुसार क्षत्रिय कहना चाहिये, पर 'नृपति' कहा, क्योंकि गुरुजी श्रीभरतजी को राजा दशरथ के निमित्त शोच करना छुड़ाना चाहते हैं ।

(४) 'सोचिय बयस कृपन···'—शिवजी की भक्ति से धन की वृद्धि होती रहेगी और उसीसे अथिति सेवा भी हुआ करेगी । अतिथि सेवा अत्यन्त आवश्यक है—"स्त्रीघ्नैर्गोघ्नैः कृतघ्नैश्च ब्रह्मघ्नैर्गुरुतल्पगैः । तुल्यदोषोभवत्येभिर्यस्यातिथिरनर्चितः ॥" (महा० अनुशा० १२६।२८), अर्थात् अतिथि-सत्कार न होने से स्त्री, गो और ब्राह्मण मारने का पाप एवं कृतघ्नता तथा गुरु शय्यागमन का दोष होता है । महा० अनुशा० अ० २ में भी गृही के लिये अतिथि सत्कार का महान् फल कहा गया है । क० उ० १६२ भी देखिये । मनुस्मृति आदि में शिवभक्ति नहीं लिखी गई । यहाँ समयानुसार लोकसंग्रह पर भी ग्रन्थकार की दृष्टि है, तथा—"देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवंशिवम् । प्रायस्ते धनिनो भोजाः···" (भाग० १०।८८।१), अर्थात् देवता, असुर और मनुष्य में जो विषय-भोग-रहित श्रीशिवजी का भजन करते हैं, वे प्रायः धनी और भोग-सम्पन्न होते हैं ।

(५) 'सूद्र बिप्र अवमानी', यथा—"बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कछु घाटि ।" 'ज्ञान गुमानी', यथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि देखावहिं डाटि ॥" (उ० दो० ९९), 'मानप्रिय'—ब्राह्मण आदि से भी अधिक मान चाहते हैं कि लोग हमें पूजें और श्रेष्ठ मानें । ब्राह्मण का अपमान किसी-को भी नहीं करना चाहिये, यथा—"दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा । ब्राह्मणो नाऽवमन्तव्यः सद-

सद्वा समाचरन् ॥१३॥" (महा० आदि० १९०।१३), अर्थात् दुर्बल ब्राह्मण भी अपने तेज से बलवान् होता है, भला-बुरा आचरण करता हुआ भी वह अपमान योग्य नहीं है।

(६) 'सोचिय पुनि पति बंचक···'—सब जातियों की स्त्रियों के लिये पातिव्रत धर्म एक ही है, इसी-लिये जाति-धर्म के साथ कहा और शूद्र के साहचर्य्य में कहा, क्योंकि स्त्रियाँ शूद्रवत् मानी जाती हैं। कहा भी है—"सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभगति लहइ।" (अर० दो० ५), यह श्रीअनसूयाजी ने श्रीसीताजी से कहा है, तथा—"जदपि जोषिता अनअधिकारी ॥" (बा० दो० १०९), "अधम ते अधम अधम अति नारी।" (अर० दो० ३४)। स्त्रियों का धर्म यह है कि वे पति की आज्ञा मानें, पति से कपट न करें, कुटिलता एवं कलह न करें, यही इसमें अभिप्राय है। 'इच्छाचारी'—बा० दो० १०१ चौ० ५ 'पराधीन···' प्रसंग देखिये।

सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहि गुरुआयसु अनुसरई ॥८॥

दोहा—सोचिय गृही जो मोहबस, करइ करमपथ त्याग।
सोचिय जती प्रपंचरत, बिगत बिबेक बिराग ॥१७२॥

बैखानस सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥१॥
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी। जननि-जनक-गुरु-बंधु - बिरोधी ॥२॥
सब बिधि सोचिय परअपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी ॥३॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई ॥४॥

अर्थ—उस ब्रह्मचारी के प्रति शोच करना चाहिये, जो अपने व्रत को छोड़ दे और जो अपने गुरु की आज्ञा पर नहीं चले ॥८॥ उस गृहस्थ के प्रति भी शोच करना चाहिये जो मोहवश होकर कर्म-मार्ग को छोड़ देता है। प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) में रत, ज्ञान-वैराग्य-हीन सन्यासी भी शोचनीय है ॥१७२॥ वह वानप्रस्थ शोचने के योग्य है, जिसे तप छोड़कर विषय-भोग प्रिय लगे ॥१॥ शोचने के योग्य वह है, जो चुगलखोर है, जो बिना कारण ही क्रोध करनेवाला है और जो माता, पिता, गुरु और भाई से वैर करनेवाला है ॥२॥ सब प्रकार वह शोचने के योग्य है, जो दूसरों की हानि करनेवाला, अपने ही शरीर का पोषण करनेवाला (उदरार्थी) और भारी निर्दय है ॥३॥ वही सभी प्रकार से शोचने के योग्य है, जो छल छोड़कर हरि का भक्त नहीं होता ॥४॥

विशेष—(१) 'सोचिय बटु···'—ऊपर वर्ण-धर्म और स्त्री-धर्म कह चुके, अब आश्रम-धर्म कहते हैं। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है—इसका यह व्रत है कि उपनयन-संस्कार के पीछे गुरु के यहाँ रहकर विद्या पढ़े। अच्छे गृहस्थों के यहाँ से भिक्षा लाकर निर्वाह करता हुआ गुरु-सेवा करे और उनकी आज्ञा में रहे। मद्य-मांस-सेवन, गन्ध-द्रव्य-सेवन, मधुर स्वादिष्ट भोजन, माल्यादि धारण, स्त्री-संग आदि दुर्व्यसनों से बचा रहे। देव, ऋषि और पितृ-तर्पण, देव-पूजा तथा प्रातः-सायंकाल में हवन करे और भिक्षाटन समय के अतिरिक्त आचार्य के समक्ष में रहे। यह व्रत छोड़कर यदि वह उच्छृंखल वृत्ति से रहे, तो शोचने के योग्य है। ब्रह्मचारी के धर्म मनु० २।१७३-२२३ में देखिये।

(२) 'सोचिय गृही जो मोहबस···', यथा—"नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥" (गी० १८।७), गृहस्थों के लिये ऋणत्रय (देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण) के अनुसार कर्म नियत हैं, मनु० ३।६८-७१ में गृहस्थों के लिये चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल और पानी का घड़ा—ये पाँचो हिंसा के स्थान कहे गये हैं, साथ ही इन पापों को नष्ट करने के लिये उन्हें

पंचमहायज्ञ प्रति दिन करने का आदेश दिया है—"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो वलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥" अर्थात् वेद का पठन-पाठन ब्रह्म-यज्ञ, पितरों का तर्पण करना पितृयज्ञ, होम करना देव-यज्ञ, जीवों को अन्न की वलि देना भूतयज्ञ और अतिथि-सत्कार नृयज्ञ है। इन पञ्चयज्ञों के करने से गृही उक्त हिंसा दोषों से बचा रहता है।

गृही का स्त्री-सम्बन्ध भी धार्मिक रीति से परमावश्यक है, यथा—"यमाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयान्नितराश्रमैः। वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा॥" (भाग० ३।१४।१९), अर्थात् इन्द्रिय रूप शत्रु अन्य आश्रमवालों के लिये दुर्जय हैं, परन्तु जैसे किले का स्वामी लूटनेवाले शत्रुओं को सुगमता से अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार विवाहिता स्त्री के साथ इन्द्रिय रूप शत्रु सहज में जीते जाते हैं।

इन सब अत्यावश्यक कर्मों का त्यागना निषिद्ध है।

(३) 'सोचिय जती प्रपंच···'—संन्यासी को प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) से पृथक् रहना चाहिये, वैराग्य और विवेक वृत्ति से कालक्षेप करना चाहिये, इसके बिना वह शोचने के योग्य है। 'प्रपंच रत', यथा—"बहु दाम सँवारहि धाम जती, विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥" (उ० दो० १००)। 'बिवेक' अर्थात् असत् (प्रपंच) को छोड़कर सत् (हरि-भजन) को ग्रहण करे, अर्थात् इन्द्रियों से जगत् व्यवहार छोड़कर हरि-भजन करे, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत् सब सपना॥" (अर० दो० ३८), इसपर बा० दो० ६।१ भी देखिये। 'बिराग', यथा—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी (अर० दो० १४)।

(४) 'बैखानस सोइ···'—वानप्रस्थ आश्रमवालों को ग्राम आदि बस्ती से पृथक् वन में रहन चाहिये और वहीं के कन्द-मूल-फल आदि से शरीर-निर्वाह करना चाहिये। उन्हींसे पंचयज्ञ करन चाहिये। शय्या, वाहन, वस्त्र, पलंग आदि त्याग देना चाहिये। जब इस आश्रम में परिपक्व वैराग्य हो जाय, तब संन्यास लेना चाहिये। यदि यह तप छोड़कर भोग-रत हो तो शोचनीय है।

आश्रम-वर्णन में क्रम भंग किया गया है कि गृही के पीछे वानप्रस्थ को न कहकर संन्यास कहा गया है। इसका कारण यह है कि आश्रम दो ही मुख्य हैं, गार्हस्थ्य और संन्यास। शेष दो इन्हींके साधक हैं, जैसे कि ब्रह्मचर्य में विद्या की प्राप्ति द्वारा धन और वीर्य-संचय से सन्तान की प्राप्ति हो, ये दोनों बातें गृही के लिये चाहिये। पुनः गार्हस्थ्य-सेवन से इन्द्रियाँ प्रबल हुईं, तो वे वानप्रस्थ से शान्त होती हैं और तब संन्यास आश्रम के योग्य होता है। इस तरह यहाँ दोनों के सहायक आश्रमों को उनके साथ-साथ रक्खा है।

क्रम भंग का यह भी हेतु है कि यहाँ गृही और यती को एक साथ रक्खा है कि गृही को कर्म त्यागना दोष रूप और यती को कर्म की ओट से प्रपंच-रत होना दोषरूप है, क्रिया-वैषम्य साथ दिखाया, यथा—"द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा। गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥" (महा० उद्यो० ३३।५७), अर्थात् जो गृहस्थ कुछ कर्म न करे और जो संन्यासी कर्म की ओर से प्रपंच करे—ये दोनों विरुद्ध-कर्म करने से शोभा नहीं पाते।

(५) 'सोचिय पिसुन अकारन···'—पिशुनता भारी पाप है, यथा—"अघ कि पिसुनता सम कछु आना।" उ० दो० १११), तथा—"मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्। लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥" (नारद पु० पूर्व० ३७।३८), अर्थात् मृग, मछली और सज्जन जो तृण, जल और सन्तोषपूर्ण वृत्तिवाले हैं, इनसे व्याध, धीवर और पिशुन (चुगल), संसार में बिना कारण ही वैर करनेवाले रहते हैं (यहाँ 'यथासंख्यालंकार की रीति से कहा गया है)। 'अकारन क्रोधी'—कारण पाकर क्रोध तो महियों को भी हो जाता है, यथा—"सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥" (उ० दो०), बिना कारण क्रोध करना भारी पाप है और सामान्य क्रोध तो पाप का मूल कहा ही गया है।

जननी-जनक आदि पूज्य हैं और इन्होंने वात्सल्य-पूर्वक बड़े-बड़े उपकार किये हैं। अतः, इनसे विरोध करना भारी पाप है। मनु० २।२२५-२३४ में लिखा है कि आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई का अपमान दुःखी होने पर भी नहीं करना चाहिये। ये चारो क्रमशः ब्रह्म, ब्रह्मा, पृथ्वी और आत्मा की मूर्त्ति हैं। इनसे सन्तान सैकड़ों वर्षों की सेवा से भी निस्तार नहीं हो सकता। अतः, पिता माता और गुरु को प्रसन्न रखना चाहिये। इन तीनो की सेवा से तीनो लोकों के सुख प्राप्त होते हैं। जिससे ये अनादृत होते हैं, उसकी सभी क्रियाएँ निष्फल होती हैं।

'पिसुन'—वचन के, 'क्रोधी'—मन के और 'बिरोधी'—तन के दोष हैं, तथा—"बैर अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥" (उ० दो० ३८)—इसके चरितार्थ रूप में यहाँ की यह चौपाई है।

'अकारन क्रोधी' के लिये भर्तृहरि शतक में उपमा नहीं मिली—'ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानोमहे।" गोस्वामीजी उसकी पूर्त्ति में दो उपमाएँ ढूँढ़ निकाली हैं—"खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥" (उ० दो० १२०)।

(६) 'सब बिधि सोचिय···'—'निज तनु पोषक' के साथ ही 'निरदय भारी' भी कहा है, इससे चोरी आदि दुष्टता करके जीविकावाले और मांसाहारियों पर लक्ष्य है। अथवा पुत्र, भृत्य, स्त्री आदि के रहते हुए उन्हें न देकर स्वयं उत्तम भोगों से शरीर-पोषण भी 'निज तनु पोषकता' रूप दोष है, यथा—"पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः॥" (वाल्मी० २।७५।३४), ऊपर के सब एक-एक विधि से शोचनीय कहे गये, पर ये सब प्रकार से शोचनीय कहे गये, क्योंकि इनके कर्त्तव्य मनुष्यता से बाहर के हैं, तथा—"भक्ष्यं पेयमथालेह्यं यच्चान्यत्साधु भोजनम्। प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत्॥" (महा० शान्ति० १६४।११), अर्थात् भक्ष्य, भोज्य और पेय आदि वस्तुओं को दूसरों के देखते रहते भी जो पुरुष अकेला भोजन करता है, उसे नृशंस (निर्दय) कहते हैं।

(७) 'जो न छाड़ि छल हरिजन होई'—स्वार्थ-साधकता ही छल है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००), तथा—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।" (लं० दो० २), "बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥' (बा० दो० ११)। ऊपर 'सब बिधि' कहा गया था, यही 'सब ही बिधि' कहकर 'ही' से विशेष जोर देकर कहा, क्योंकि मनुष्य-तन को पाने का मुख्य उद्देश्य हरि की भक्ति ही है—उ० दो० ४२ चौ० ७ से दो० ४४ तक देखिये। यह सभी वर्णों एवं आश्रमवालों के लिये है—गीता ६।३०-३२ तथा उ० दो० ८७ देखिये, तथा—"जिमि हरिभगति पाइश्रम, तजहिं आश्रमी चारि।" (कि० दो० १६)। सब कह कर अन्त में हरिजन होना कहा गया है, क्योंकि यही सब साधनों का फल है।

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥५॥
भयेउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥६॥
बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ-गुन-गाथा॥७॥

दोहा—कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु।
राम-लखन तुम्ह शत्रुहन, सरिस सुवन सुचि जासु॥१७३॥

अर्थ—कोसलाधीश श्रीदशरथजी शोच करने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनका प्रभाव चौदहो लोकों में प्रकट है॥५॥ हे भरतजी! जैसे तुम्हारे पिता थे, वैसा राजा न तो कोई हुआ, न है और न अब होनेवाला ही है॥६॥ ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र और लोकपाल सभी दशरथजी के गुणों की कथा का वर्णन करते

हैं ॥७॥ हे तात ! कहो तो कोई भी किस तरह उनकी बड़ाई कर सकता है कि जिनके श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, तुम और श्रीशत्रुघ्नजी-सरीखे पवित्र पुत्र हैं ॥१७३॥

विशेष—(१) 'सोचनीय नहिं कोसल राऊ ।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सोच जोग दसरथ नृप नाहीं ।" है । वसिष्ठजी ने श्रीभरतजी के हृदय में पिता-मरण का ही शोक समझा था, उसीके अनुसार समझा रहे हैं । श्रीराम-वन-गमन का शोक श्रीभरतजी के हृदय में है, इसपर गुरुजी की दृष्टि नहीं है, क्योंकि राज्य के निमित्त तो भाई-भाई में विरोध भी हो जाता है तो ये संयोग-वश प्राप्त राज्य के विरुद्ध में शोक क्यों करेंगे ? गुरुजी व्यावहारिक रीति से समझा रहे हैं । श्रीभरतजी की हार्दिक निष्ठा आगे उन्हींके द्वारा प्रकट करावेंगे । जैसे भरद्वाजजी ने स्वागत कर इनके त्याग का वैभव प्रकट किया है । राजा दशरथजी शोच के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उपर्युक्त दोष उनमें नहीं हैं । प्रत्युत चौदहो भुवनों में उनका यश व्याप्त है तो वे मृतक नहीं हैं, फिर शोक कैसा ? अपयशी जीते हुए भी मृतक-तुल्य है, यथा—"अजसी···जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥" (लं० दो० ३०), राजा में तो अपयश की बात कुछ नहीं है, चौदहो भुवनवाले उनका प्रभाव ही गाते हैं । 'भयउ न अहइ···'—यद्यपि कश्यप अदिति के यहाँ पूर्व वामन अवतार हुआ और आगे भी वसुदेव-देवकी के यहाँ कृष्णावतार होगा, तथापि एक तो 'भूप' वाला भाव उनमें वैसा नहीं है—'सुरपति बसइ बाहुबल जाके ।···' आदि वैभव, दूसरे इस प्रकार लीला एवं वात्सल्य के सुख उन्हें नहीं प्राप्त हुए । यहाँ तो चार भाइयों के रूप से अवतार है ।

अलंकार—'भाविक'—'भयउ न अहइ···' में ।

(२) 'बिधि हरि हर सुरपति···'—ब्रह्माजी प्रजा बढ़ाने की शक्ति में, विष्णु पालन-शक्ति में, शिवजी शत्रु-संहार-शक्ति में, इन्द्र पराक्रम में एवं राज्य-सुख-भोग-शक्ति में और दिक्पाल प्रजाओं की रक्षण-शक्ति में राजा दशरथ को अपने-अपने से बहुत बड़ा मानते हैं, तभी सराहते हैं, अन्यथा ये सब तो स्वयं बड़ाईवाले हैं, दूसरे के गुण क्यों गावेंगे ? राजा के बड़प्पन का और भी हेतु आगे कहते हैं ।

(३) 'कहहु तात केहि भाँति कोउ···'—भगवान् के अवतार लेने से राजा को यह महत्त्व मिला कि चारो भाइयों ने पिता को बड़ाई दी, यथा—"जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता । महिमा अवधि राम पितु माता ॥ (बा० दो० १५), स्वयं शुचि थे, तब उनके शुचि पुत्र हुए । श्रीलक्ष्मणजी इस समय श्रीरामजी के समीप हैं । इसलिये उनका नाम भी अवस्था-क्रम छुड़ाकर श्रीभरतजी से पहले और श्रीराम नाम के साथ रक्खा गया है ।

सब प्रकार भूपति बड़ भागी । बादि बिषाद करिय तेहि लागी ॥१॥
येहु सुनि समुझि सोच परिहरहू । सिर धरि राज-रजायसु करहू ॥२॥
राय राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा । पिताबचन फुर चाहिय कीन्हा ॥३॥
तजे राम जेहि बचनहि लागी । तनु परिहरेउ राम-बिरहागी ॥४॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना । करहु तात पितु-बचन प्रमाना ॥५॥

अर्थ—राजा सब प्रकार से बड़े भाग्यवान् थे, उनके लिये विषाद करना व्यर्थ है ॥१॥ यह सुनकर और समझकर शोच छोड़ो और राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके उसका पालन करो ॥२॥ राजा ने तुमको राज्य-पद दिया है, पिता के उस वचन को सत्य करना चाहिये ॥३॥ जिस वचन के लिये ही उन्होंने श्रीरामजी को छोड़ा (वनवास दिया) और राम-विरह रूपी अग्नि में शरीर ही त्याग दिया ॥४॥ राजा को वचन प्यारे थे, प्राण प्यारे न थे, (अतः,) हे तात ! पिताजी के वचनों को सत्य करो, अर्थात् राजा ने कैकेयी को वरदान दिया है कि भरत राज्य पावें, वह वचन तुम्हारे राज्य-ग्रहण करने से सत्य होगा ॥५॥

विशेष—'सब प्रकार भूपति बड़ भागी।'—पुत्रों के ही सम्बन्ध से नहीं, प्रत्युत गुण, वैभव, जाति, धर्म, कर्म आदि की उत्तमता और श्रीराम-विरह में तन-त्याग आदि सभी प्रकार से। 'सिर धरि राज···' —राजा की आज्ञा भंग न करनी चाहिये, ऐसा कहकर उस आज्ञा को स्पष्ट करते हैं कि 'राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा' फिर इसे ही 'पिता-बचन' कहकर महत्त्व देते हैं कि पिता की आज्ञा का पालन करना श्रेष्ठ धर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५२), फिर—'तजे राम जेहि बचनहिं लागी।···' से पिता के वचन का महत्त्व दिखाया, यथा—"तुलसी जान्यो दसरथहिं, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहि लागि बिनु, राम परिहरे प्रान॥" (दोहावली २१९), अतएव पिता के इस वचन को अवश्य ही सत्य करना चाहिये। आगे उदाहरणों से पुष्ट करके भी कहेंगे—'अबसि नरेस बचन फुर···'।

'बादि बिषाद करिय तेहि लागी।'—श्रीभरतजी का विषाद पिता की मृत्यु पर नहीं है—"मोहिं न मातु ··पितहु मरइ कर मोहि न सोकू॥" इन्हें श्रीरामजी के वनवास के दुःख का शोच है—"राम लखन सिय बिनु पग पनहीं।" से "एहि कुरोग कर···" (दो० २११) तक श्रीभरतजी के इस कुरोग का निदान त्रिकालदर्शी गुरुजी ने भी नहीं समझ पाया, ऐसा क्यों? इसका समाधान यह है कि—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥" (दो० २४०), वसिष्ठजी के पिता ब्रह्माजी का भी मन नहीं पहुँच पाता तो औरों की एवं वसिष्ठजी का न समझ पाना कौन आश्चर्य है, यहाँ गुरुजी ने मर्म नहीं जाना, आगे निषादराज एवं श्रीलक्ष्मणजी ने भी सहसा नहीं ही समझ पाया, तथा श्रीजनकजी भी भरतजी की महिमा की छाया भी छू पाने में अपने को असमर्थ कहेंगे। हाँ, उन्होंने यह अनुमान किया है—"भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (दो० २८८)।

करहु सीस धरि भूप-रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥६॥
परसुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोग सब साखी॥७॥
तनय जजातिहि जौबन दयेऊ। पितुआज्ञा अघ अजस न भयेऊ॥८॥

दोहा—अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु-बयन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति-अयन॥१७४॥

अर्थ—राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके करो, (इसमें) तुमको सब प्रकार से भलाई है॥६॥ देखो, श्रीपरशुरामजी ने पिता की आज्ञा रक्खी (मानी), उन्होंने माता को मार डाला, इसके सब लोग साक्षी हैं॥७॥ और राजा ययाति के पुत्र ने अपने पिता ययाति को अपनी जवानी दे दी, पिता की आज्ञा (होने) के कारण उन्हें पाप और अपयश नहीं हुए॥८॥ जो लोग उचित और अनुचित का विचार छोड़कर पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और सुयश के पात्र हैं और वे (अन्त में) इन्द्रपुरी स्वर्ग में बसते हैं॥१७४॥

विशेष—(१) 'परसुराम पितु आज्ञा·····'—राजा की आज्ञा आदर-पूर्वक करने में तुम्हें सब प्रकार की भलाई है। इसीपर उदाहरण देते हुए श्रीपरशुरामजी की और आगे ययाति की कथा कही कि श्रीपरशुरामजी ने तो पिता की आज्ञा से माता को मार डाला (—इसकी कथा—"माता पितहि उरिन भये नीके" (बा० दो० २७५) में लिखी गई है) और ययाति के पुत्र पुरु ने अपनी जवानी पिता को दे दी। ये दोनों कार्य मातृवध और मातृ-गमन अनुचित थे, पर इनसे दोनों को यश ही प्राप्त हुआ, कोई भी पाप के भागी नहीं हुए। यदि पापी होते तो इन्हें अपयश भी होता, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११), पर इन्हें यश ही प्राप्त हुआ। ययाति राजा नहुष के पुत्र थे। इनकी कथा महाभारत आदि० ७५-८५ अध्यायों में है। यह पुत्र से यौवन लेने का प्रसंग अ० ८४ के २८-

३५ श्लोकों में है, राजा ययाति ने अपने पुत्र (यदु, तुर्वसु और अनु के अस्वीकार करने पर) पुरु से कहा—तुम मेरे प्यारे पुत्र हो, तुम्हीं सबमें श्रेष्ठ होगे। बेटा! शुक्र के शाप से मैं जरा-ग्रस्त हो गया। अभी युवावस्था के भोगों से तृप्त नहीं हुआ। इसलिये तुम मेरी इस जरा को लो और मैं तुम्हारी युवा से कुछ वर्षों तक विषय भोग लूँ। आगे सहस्र वर्ष पूरे होने पर मैं अपने पापों के साथ जरा को ले लूँगा और तुम्हारा यौवन तुम्हें दे दूँगा (शुक्र ने ऐसा होना कह रक्खा था)। पिता की आज्ञा पर पुरु ने स्वीकार किया। उसने कहा कि आप मेरा यौवन लेकर इच्छित विषय भोगिये। मैं आपकी आज्ञानुसार ही करूँगा।

ययाति ने प्रसन्न होकर कहा कि पुत्र! मैं प्रसन्न चित्त से तुम्हें वर देता हूँ कि तुम्हारे राज्य में प्रजा सब कामनाओं की पूर्त्ति से प्रसन्न रहेगी। फिर उन्होंने शुक्राचार्य का स्मरण कर अपनी जरा पुरु को दी और उनकी युवावस्था ग्रहण की।

फिर वे उस युवावस्था से मनमाना विषय भोगने लगे। (पुरु की युवावस्था से उसके पिता ययाति पुरु की माता से क्रीड़ा करते थे इससे पाप का संयोग इन्हें था, पर इन्हें मातृ-गमन का पाप नहीं लगा।)

श्रीभरतजी बड़े भाई के रहते हुए छोटे का राजा होना अनुचित मानते हैं। उसीको खंडन करते हुए गुरुजी ने दो उदाहरण दिये कि ऐसे अनुचित कार्यों से भी पिता की आज्ञा से किये जाने पर यश ही हुआ, तब तुम्हें तो भलाई ही है, क्योंकि तुम्हारे लिये जो पिता की आज्ञा है वह लोक-वेद सम्मत है, यथा—"लोक-बेद-संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राज सो लहई॥" (दो० २०६)। पहले श्रीपरशुरामजी का उदाहरण दिया, इसपर श्रीभरतजी कह सकते थे कि वे ईश्वर के अवतार हैं, उनके कर्म करने का सबको अधिकार नहीं है, यथा—"न देव चरितं चरेत्।" कहा है। फिर वे तो ब्राह्मण थे और समर्थ भी थे, इससे फिर माता को जिला लिया। अतएव, यह मुझमें युक्त नहीं है। इसपर साथ ही मनुष्य राजकुमार का दूसरा उदाहरण दिया है। पुनः इसकी सत्यता पर सब लोकों की साक्षी दी कि यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

(२) 'अनुचित उचित बिचार तजि·····'—ऊपर कहा था कि अनुचित भी पिता की आज्ञा के पालने से पाप और अपयश नहीं होते। अब कहते हैं कि पिता की आज्ञा में अनुचित-उचित का विचार ही न करना चाहिये। ज्यों-की-त्यों उसे मान ही लेना चाहिये। उससे सुख और सुयश होता है और अन्त में स्वर्ग मिलता है। दोहे के पूर्वार्द्ध में साधन और उत्तरार्द्ध में उसका फल कहा है। ये फल पुण्य से प्राप्त होते हैं, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१), "पावन जस कि पुन्य बिनु होई।" (उ० दो० १११)। स्वर्ग भी पुण्य से ही मिलता है, यथा—"ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्···" (गीता ९।२०), 'बसहिं' अर्थात् बहुत काल रहते हैं। इस तरह लोक-परलोक दोनों का सुधरना जनाया, तथा—"पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः। प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता। शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति॥ तस्मात्पितुः वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः॥" (महा० शान्ति० २६६।१७-१९), अर्थात् पिता जो कहें, वही धर्म है, यह वेदों से निश्चित है। पुत्र पिता की प्रीति का पात्र है और पिता ही पुत्र का सर्वस्व है, क्योंकि शरीरादि सभी पिता की ही देन हैं। इसलिये पिता का वचन पालन करना चाहिये, इसमें कुछ विचार नहीं करना चाहिये। पिता के आज्ञाकारी पापों से छूटकर पवित्र हुआ करते हैं।—आगे दो० १७६ चौ० ४ भी देखिये।

अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोक परिहरहू॥१॥

सुरपुर नृप पाइहि परितोषू । तुम्ह कहँ सुकृत सुजस नहिं दोषू ॥२॥
बेदबिदित संमत सबही का । जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥३॥
करहु राज परिहरहु गलानी । मानहु मोर बचन हित जानी ॥४॥

अथ—अवश्य राजा के वचन सत्य करो, प्रजा को पालो और शोक छोड़ो ॥१॥ राजा स्वर्ग में भलीभाँति से सन्तोष पावेंगे । तुमको पुण्य तथा सुन्दर यश प्राप्त होगा, कोई दोष नहीं लगेगा ॥२॥ वेद में प्रसिद्ध है और सभी की सम्मति है कि जिसे पिता देवे, वही राज्य-तिलक पावे ॥३॥ (अतः) राज्य करो और ग्लानि को छोड़ो, हितकारी समझकर मेरा वचन मान लो ॥४॥

विशेष—(१) 'अवसि नरेस बचन फुर·····'—श्रीभरतजी पिता की इस आज्ञा के करने में दोष समझकर उदासीन हैं । इसीसे गुरुजी इसे करने को बार-बार कहते हैं—(१) सिर धरि राज रजायसु करहू । (२) पिता-बचन फुर चाहिय कीन्हा । (३) करहु तात पितु-बचन प्रमाना । (४) करहु सोस धरि भूप-रजाई । (५) अवसि नरेस बचन फुर करहू । आगे माता और मन्त्री लोगों ने भी ऐसा ही कहा है, यथा—"पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई ।···सिर धरि गुरु-आयसु अनुसरहू ।" तथा—"कीजिय गुरु-आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि ।" (दो० १७५) । गुरुजी ने राजाज्ञा और पिता की आज्ञा करने को कहा था, भरतजी की रुचि न देख माता और मन्त्री गुरु-आज्ञा कहते हैं कि भरतजी इसे मानें ।

'पालहु प्रजा'—प्रजा-पालन राजा का मुख्य धर्म है, इसलिये इसे करने के लिये बार-बार कहा गया है, यथा—"कौसल्यादि सकल महतारी । तेउ प्रजा-सुख होहिं सुखारी ॥" "परिजन प्रजा सचिव सब अंबा । तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥" "प्रजा पालि परिजन दुख हरहू ।" इत्यादि यहाँ है, अन्यत्र भी बहुत कहा गया है, यथा—"अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत्पृथिवीपतिः । पालयेद्वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं भवेत् ॥" (महा० आश्रम० ७।२३), अर्थात् जो राजा सहस्र अश्वमेधों के द्वारा यज्ञ करता है, और वह जो धर्म से प्रजा का पालन करता है—ये दोनों बराबर फल पाते हैं । 'सोक परिहरहू'—पिता सम्बन्धी शोक छोड़ दो । प्रजा के शोक-हरण का भाव भी निकलता है कि प्रजा-पालन कर उनका शोक दूर करो ।

(२) 'संमत सबही का'—ऋषि, संहिता, पुराणादि एवं सभी छोटों-बड़ों का ।

'जेहि पितु देइ सो·····'—यथा—"लोक वेद संमत सब कहई । जेहि पितु देइ राज सो लहई ॥" (दो० २०६) । श्रीशुक्राचार्यजी नीति के आचार्य हैं । उन्होंने ययाति राजा को आज्ञा दी है कि पिता चाहे जिस पुत्र को राज्य दे और इसमें सभी लोग सहमत हुए—"ऊपर ययाति की कथा लिखी गई कि उन्होंने सहस्र वर्ष के लिये पुत्र पुरु से युवा ले विषय भोगे । पर सहस्रवर्षों में उनकी विषय-तृष्णा बढ़ती ही गई । अन्त में पुरु को उनकी युवावस्था देकर कहा कि चाहे संसार भर के विषय-साधक सामग्री के साथ विषय भोग किया जाय, पर तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, जैसे घी देने पर अग्नि ।

प्रसन्न हो राजा ययाति ने छोटे पुत्र पुरु को राज्यपद देने का प्रस्ताव रक्खा । ब्राह्मणश्रेष्ठों ने कहा कि शुक्रसुता देवयानी का पुत्र यदु आपका ज्येष्ठ पुत्र है, उसको क्यों नहीं राज्य दिया जाता ? ययाति ने कहा कि ज्येष्ठ यदु ने मेरी आज्ञा नहीं मानी । अतः, पिता से प्रतिकूल आचरणवाला पुत्र पुत्र ही नहीं है, जो पितृ-भक्त एवं आज्ञाकारी है वही पुत्र है । अतः, मैं आज्ञाकारी पुत्र पुरु को ही राज्य दूँगा और श्रीशुक्राचार्यजी ने स्वयं मुझे वर दिया है कि जो पुत्र तुम्हारा आज्ञाकारी होगा, वही राज्याधिकारी होगा । अतः, आपलोग मेरे अनुरोध से पुरु को ही राज्य पर बैठावें । तब चारो वर्णों की प्रजा ने भी सम्मति दी कि हाँ, साधुगुणयुक्त एवं पितृभक्त छोटा पुत्र भी अधिकारी है । तब ययाति ने उसी छोटे पुत्र को राज्य दिया और स्वयं वन को गये । इसके आगे की कथा—"सुरपुरते जनु खसेउ जजाती ।" (दो० १४८) में है ।—महा० आदि० अ० ८५ ।

(३) 'करहु राज परिहरहु गलानी ।'—इसी आज्ञा के कारण पिता ने शरीर त्याग किया, इसकी ग्लानि छोड़ दो, क्योंकि कैकेयी के वरदानवाले राजा के वचन तभी सत्य होंगे, जब तुम राज्य ग्रहण करोगे। अतएव, इसीसे पिता भी सन्तुष्ट होंगे, यथा—"सुरपुर नृप पाइहि परितोषू ।" ऊपर कहा गया है। 'मानहु मोर बचन···'—उपर्युक्त राजा की आज्ञा, 'पितु-आज्ञा' को ही अपने वचन से भी पुष्ट करते हैं कि इसे ही गुरु की आज्ञा मानकर करो। इसीसे आगे सभी ने गुरु-आयसु कहा है, यथा—"कीजिय गुरु-आयसु अवसि···'—मन्त्री, "पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई ।"—माता, "मोहि उपदेस दीन्हि गुरु नीका ।"—भरत। श्रीभरद्वाजजी ने इसे ही लेकर कहा है—"गुरु अवमान दोष नहिं दूषा ।" (दो० २० ८)।

सुनि सुख लहब राम - बैदेही । अनुचित कहब न पंडित केही ॥५॥
कौसल्यादि सकल महतारी । तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी ॥६॥
मरम तुम्हार राम कर जानिहि । सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ॥७॥
सौंपेहु राज राम के आये । सेवा करेहु सनेह सुहाये ॥८॥

दोहा—कीजिय गुरु-आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि ।
रघुपति आये उचित जस, तस तब करब बहोरि ॥१७५॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीजनकीजी यह सुनकर सुख पावेंगे और कोई पंडित (बुद्धिमान) भी इसे अनुचित नहीं कहेगा ॥५॥ श्रीकौसल्याजी आदि सभी तुम्हारी माताएँ भी प्रजा के सुख पाने से सुखी होंगी ॥६॥ जो तुम्हारे और श्रीरामजी के मर्म (भेद) को जानेगा, सब प्रकार वह तुमसे अच्छा ही मानेगा ॥७॥ श्रीरामजी के आने पर उन्हें राज्य सौंप देना और सुन्दर स्नेह के साथ उनकी सेवा करना ॥८॥ मन्त्री लोग हाथ जोड़ कर कहते हैं कि गुरुजी की आज्ञा (का पालन) अवश्य कीजिये। श्रीरघुनाथजी के आने पर उस समय जैसा उचित होगा, तब फिर वैसा कीजियेगा ॥१७५॥

विशेष—(१) 'सुनि सुख लहब राम···'—यदि इसपर श्रीरामजी बुरा मानें, क्योंकि उनका भाग छीनकर दिया जा रहा है, इसका समाधान गुरुजी करते हैं कि श्रीसीतारामजी इससे सुख मानेंगे, यथा—"भरत प्रान-प्रिय पावहिं राजू ।" (दो० ४१), "भाइ भरत अस राउ" (दो० २५), इत्यादि श्रीरामजी के श्रीमुख वचन हैं। तुम्हारे राज्य-ग्रहण करने से पिता कैकेयीजी से उऋण होंगे। इससे भी श्रीरामजी सुख मानेंगे, यथा—"ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् । पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥" (वाल्मी० २।१०७।१०), पिता का दिया हुआ, राज्य ग्रहणकर प्रजा को सुखी करने से पंडित लोग भी उचित ही मानेंगे।

(२) 'कौसल्यादि सकल महतारी ।···'—उपर्युक्त बातों से श्रीभरतजी को सन्देह हो सकता है कि माताएँ तो अवश्य दुःख मानेंगी कि हमारे पुत्र को वन भेजवाकर ये राज्य करते हैं। इसका गुरुजी यहाँ समाधान करते हैं कि माताएँ प्रजा के सुख से सुखी ही होंगी, यथा—"बेगि प्रजा दुख मेटब आई ।" (दो० ६७), क्योंकि ये प्रजा को पुत्र के समान मानती हैं।

(३) 'मरम तुम्हार राम कर···'—भाव यह कि अनभिज्ञ लोग चाहे सन्देह भी करें कि श्रीरामजी को वन भेजवाकर राज्य करते हैं, पर जो तुम्हारी और श्रीरामजी की हार्दिक प्रीति एवं स्वभाव की एकता जानते हैं, वे सब तरह से भला ही मानेंगे, यथा—"राम प्रानहु ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे ॥" (दो० १६८) यह कौसल्याजी ने कहा है।

(४) 'सौंपेहु राज राम के आये ।···'—इसपर भी राज्य-ग्रहण का रुख न पाकर कहते हैं कि

श्रीरामजी के आने पर राज्य उन्हें सौंप देना और स्नेह-पूर्वक उनकी सेवा करना, तो यह स्नेह की शोभा होगी और राज्य करते ही रहने से धर्म की शोभा है, क्योंकि पिता-दत्त राज्य है, यह भी गर्भित है।

(५) 'कीजिय-गुरु-आयसु···'—'मनहुमोर बचन···' यह गुरु की आज्ञा है, इसे ही अवश्य करने को कहते हैं, क्योंकि 'गुरोराज्ञा गरीयसी' कहा जाता है, गुरुजी ने पिता की आज्ञा का भार दिया। मन्त्री लोग और आगे माताजी भी गुरु की आज्ञा को प्रधान करती हैं कि जिससे धर्म के डर से भी श्रीभरतजी मान लें। गुरुजी ने पिता की आज्ञा मानने का उपदेश दिया है, उसे ही मोर वचन कहा है वैसे ही भरतजी ने भी माना है—"मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका।"। अतः, भरतजी पर आज्ञा-भंग का दोष न होगा। 'कर जोरि'—क्योंकि ये लोग पहले सँभाल न सके थे, व्यवहार बिगड़ गया है, डरे हुए भी हैं, फिर इनका स्वाभाविक अधिकार भी राजा से हाथ जोड़कर कहने का है। गुरुजी को तो आज्ञा देने का अधिकार है। वसिष्ठजी का सभी मन्त्री बड़ा गौरव मानते थे, यथा—"जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्। नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः॥" (वाल्मी० २।६७।३७)। इसीसे यहाँ भी इनकी आज्ञा पर सभी सहमत हैं। 'तस तब करब'—मन्त्रियों को अभी श्रीभरतजी के हृदय का यथार्थ भाव नहीं मालूम है, इससे इन्हें सन्देह है कि १४ वर्ष राज्य करने से कहीं इनका हृदय राज्य में रम जाय, और प्रजा भी अनुकूल रहे, तो अभी से यह कैसे कहें कि श्रीरामजी को राज्य सौंप देना और उधर गुरुजी के वचनों को भी बचाना है, इसलिये ऐसा कहा।

'नीति धरम मय बचन उचारे।'—उपक्रम है, और यहाँ 'कीजिय गुरु-आयसु···'—यह उपसंहार है।

कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य गुरुआयसु अहई॥१॥
सो आदरिय करिय हित मानी। तजिय बिषाद कालगति जानी॥२॥
बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह येहि भाँति तात कदराहू॥३॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥४॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी धैर्य धरकर कहने लगी कि हे पुत्र ! गुरुजी की आज्ञा पथ्य है, अर्थात् इस अनर्थ-रूपी कुरोग में सेवन करने के योग्य है॥१॥ उसका आदर करना चाहिये और हित जानकर सेवन करना चाहिये, समय का फेर जानकर विषाद छोड़ो॥२॥ श्रीरघुनाथजी वन में हैं और राजा (श्रीदशरथजी) स्वर्ग में हैं और हे तात ! तुम इस तरह कदरा रहे हो॥३॥ हे पुत्र ! कुटुम्बियों, प्रजा, मन्त्रियों और सब माताओं को तुम्ही एक मात्र सहारा हो॥४॥

विशेष—(१) 'कौसल्या धरि धीरज···'—इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसीसे धैर्य हुआ और विवेकमय वचन भी कह रही हैं। 'पथ्य'—श्रीभरतजी श्रीराम-वियोग-रूपी कुरोग से दुखी हैं, उसमें यह गुरु-आज्ञा पथ्य की तरह हित है। श्रीभरतजी ने कहा भी है, यथा—"येहि कुरोग कर औषध नाहीं" (दो० २११), तथा—"राम बियोग कुरोग बिगोये।" (दो० १५७), और रोगी को पथ्य दिया जाता ही है। पथ्य रोगी को रुचिकर नहीं होता, पर आगे हित करता है। वैसे ही गुरु की आज्ञा भी परिणाम में हितकर होगी। (शरीर में रोग रहते हुए पथ्य नहीं दिया जाता, पर माता स्नेहवश भूल कर दे रही हैं, पर रोगी तो स्वयं समझदार हैं। अतः, वे हृदय में क्षुधा (राज्य-स्पृहा) न रहने से इस पथ्य को न ग्रहण करेंगे।) 'पूत पथ्य'—का यह भी भाव है कि यह पवित्र और पथ्य है, और कोई पथ्य-वस्तु भी अपवित्र होती है तो अग्राह्य होती है। जैसे उपर्युक्त मातृ-वध की आज्ञा, पिता को यौवन देना और उससे मातृ-गमन। यहाँ गुरु की आज्ञा वैसी नहीं है, किन्तु पवित्र है।

(२) 'काल गति'—जैसे जाड़ा, गर्मी और वर्षा एवं दिन-रात अपने नियत अवसर पर होते ही हैं वैसे ही कालानुसार सुख-दुःख भी होते ही हैं—दो० १४६ चौ० ५-६ देखिये। अतएव, अपरिहार्य हैं। इससे विषाद करना व्यर्थ है।

(३) 'सुरपुर नर-नाहू' की जगह 'सुरपति नरनाहू' भी राजापुर का पाठ है। उसका भाव यह है कि राजा इन्द्र हो गये, राजा यद्यपि इन्द्र नहीं हुए तथापि इन्द्र के सखा हैं। अतः, इन्द्र के तुल्य हैं और इन्द्रलोक में हैं भी। कहा भी है—'समानं ख्यातीति सखा' नरपति से सुरपति हो गये तो उनके प्रति हर्ष चाहिये, शोक नहीं। परन्तु समीचीन पाठ 'सुरपुर' ही जान पड़ता है, क्योंकि यही अन्यत्र आया है—'पितु सुरपुर'—(दो० १७७), 'बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा' (दो० १७८), तथा—"पठइ अमर पुर···' (दो० १७९), इत्यादि।

लखि बिधि बाम काल कठिनाई। धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥५॥
सिर धरि गुरुआयसु अनुहरहू। प्रजा पालि परिजन-दुख हरहू ॥६॥
गुरु के बचन सचिव अभिनंदन। सुने भरत हिय हित जनु चंदन ॥७॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी ॥८॥

शब्दार्थ—अभिनंदन = अनुमोदन, समर्थन। हित = हितकर।

अर्थ—ब्रह्माजी की प्रतिकूलता और समय की कठोरता देखकर धैर्य धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है ॥५॥ तुम गुरुजी की आज्ञा शिरोधार्य करके उसके ही अनुसार करो, प्रजा का पालन करके कुटुम्बियों के दुःख का हरण करो ॥६॥ गुरुजी के वचन और मन्त्रियों का समर्थन श्रीभरतजी ने सुने, जो उनके हृदय के लिये मानो चन्दन थे, अर्थात् उनके हृदय को शीतल करनेवाले थे ॥७॥ फिर उन्होंने माता की शील-स्नेह और सरल-रस से भरी हुई कोमल वाणी सुनी ॥८॥

विशेष—(१) 'लखि बिधि बाम काल···'—विधिवामता पर उपाय व्यर्थ जाते हैं और काल की गति का भी कोई खंडन नहीं कर सकता। यहाँ श्रीराम-वन-गमन में विधि-वामता और राजा की मृत्यु के प्रति काल-कठिनाई है।

(२) 'हित जनु चंदन'—चन्दन में शीतलता और सुगन्ध दो गुण हैं, वैसे इस वचन में भी परलोक-सुख शीतलता और लोक-सुयश सुगन्ध है। पिता एवं गुरु की आज्ञा का पालन करना महान् धर्म है। इसीसे लोक और परलोक का सुख होना कहा गया, परन्तु चन्दन पीने में कड़वा लगता है, वैसे यह वचन भी श्रीभरतजी के हृदय में कड़वा लगा। 'सील सनेह सरल रस सानी'—शील यह कि प्रतिकूल सौत के पुत्र का पक्ष लिया है। उसे राज्य पाने में सहायक हो रही हैं। स्नेह यह कि भरत की बलिहारी जाती हैं। सरलता यह कि हृदय से निश्छल हैं। जैसे भीतर ताप रहने पर ऊपर से चन्दन लेपन और दुःखद होता है वैसे श्रीभरतजी के हृदय में राम-विरह है। अतः, ये वचन कड़वे लग रहे हैं।

छंद—सानी सरल रस मातु-बानी सुनि भरत ब्याकुल भये।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये।
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की।

सो०—भरत कमल-कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि ॥१७६॥

अर्थ—माता की सरलता रूपी रस में सनी हुई (सीधी-सादी) वाणी सुनकर श्रीभरतजी व्याकुल हो उठे। कमल के समान उनके नेत्र आँसू बहाते हैं और हृदय के विरह के नये अँखुए को सींच रहे हैं, अर्थात् इस वचन से हृदय का विरह लहलहा उठा, हरा-भरा हो गया एवं और बढ़ गया। श्रीभरतजी की यह दशा देखकर सभी को उस समय देह की सुधि भूल गई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि स्वाभाविक स्नेह की सीमा (श्रीभरतजी) को सब लोग आदर-सहित प्रशंसा करते हैं। कमल के समान हाथों को जोड़कर धैर्यवानों में श्रेष्ठ श्रीभरतजी धैर्य धारण करके, मानों वचनों को अमृत में डुबाकर सबको उचित उत्तर देते हैं ॥१७६॥

विशेष—'भरत व्याकुल भये'—मेरे हृदय की गति न समझने से माता भी मुझे श्रीराम-विमुख करना चाहती है, यह समझकर व्याकुल हो गये। हृदय में जो विरह के अंकुर थे, वे उद्दीप्त हो आये। इनकी श्रीरामजी में ऐसी प्रीति की दशा देखकर सब प्रेम में देह-सुधि भूल गये। फिर सावधान होकर सभी सराहने लगे कि श्रीभरतजी सहज-स्नेह की सीमा हैं, यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही ॥" (दो० १८३)। 'धीर धुरंधर धीर धरि'—विरह की व्याकुलता बहुत अधिक है तभी तो धैर्य धारण करने में 'धीर धुरंधर' कहा है। केवल प्रेमी ही नहीं हैं, किन्तु उचित उत्तर देने में भी समर्थ हैं। अतः, धैर्य धरकर उत्तर देते हैं। बड़ों को उत्तर देना है और उत्तर प्रायः कड़ा होता ही है। इसलिये 'अमिअ जनु बोरि' कहा है, क्योंकि ये वचन सबको प्रिय लगेंगे, यथा—"भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे।" (दो० १८३)। 'उचित' अर्थात् सभी इसे सराहेंगे और ये वचन सबके अनुकूल होंगे। 'कर जोरि'—तन से, 'धीर धरि'—मन से और 'देत उचित उत्तर सबहि'—यह वचन से है।

मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का ॥१॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अबसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥२॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित - बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी ॥३॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक - भारू ॥४॥

शब्दार्थ—धरि—धारण करके, ठहरकर, निश्चय करके।

अर्थ—मुझे गुरुजी ने अच्छा उपदेश दिया और प्रजा, मन्त्री आदि सभी की यही सम्मति है ॥१॥ माताजी ने भी उसे उचित निश्चय करके वही करने की आज्ञा दी, मैं उसे शिरोधार्य करके अवश्य करना चाहता हूँ ॥२॥ (क्योंकि) गुरु, पिता, माता, स्वामी और हितैषी (मित्र) की वाणी सुनकर और उसे अच्छी जानकर प्रसन्न मन से करना चाहिये ॥३॥ उचित है कि अनुचित—ऐसा विचार करने से धर्म नष्ट हो जाता है और मस्तक पर पाप का भार चढ़ता है ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहिं उपदेस दीन्ह···'—इसमें पहले सबके वचनों का समर्थन किया।

(२) 'गुरु पितु मातु स्वामि···'—इन सबमें राज्य-ग्रहण करने को हित कहकर आज्ञा दी है। इसमें सामान्यधर्म का स्वरूप कहा गया—दो० ७० भी देखिये।

(३) 'उचित कि अनुचित किये···', यथा—"मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम। इह युक्तो नरो लोकान्यशश्च महदश्नुते ॥ यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः। धर्माधर्मविरुद्धं वा तत्कर्त्तव्यं युधिष्ठिर ॥" (महा० शान्ति० १०८।३-४), अर्थात् (भीष्म ने कहा—) माता, पिता और गुरुजनों की पूजा करनी मुझे बहुत मान्य है, इससे महान् लोक और महान् यश प्राप्त होते हैं। उनकी आज्ञा पर धर्माधर्म

का विचार न करना चाहिये।—दो० १७४ का विशेष भी देखिये। तब पिता एवं गुरु की आज्ञा का पालन क्यों न किया, इसका उत्तर यह है। यह सामान्यधर्म है और श्रीभरतजी विशेषतरधर्म पर आरूढ़ हैं। उसके आगे इसकी उपेक्षा हो जाती है, यदि इससे विशेषधर्म पर हानि आती हो, यथा—"सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥" (दो० २९०)। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६)।

तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥५॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥६॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू॥७॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू। दुषित-दोष-गुन गनहिं न साधू॥८॥

दोहा—पितु सुरपुर सिय-राम बन, करन कहहु मोहि राज।
येहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज॥१७७॥

अर्थ—आप तो मुझे वही सीधी शिक्षा दे रहे हैं कि जिसपर चलने से मेरा हित हो॥५॥ यद्यपि यह मैं भली-भाँति समझता हूँ, तथापि मेरे हृदय को सन्तोष नहीं होता॥६॥ अब आप मेरी प्रार्थना सुन लें और फिर मेरे योग्य शिक्षा दें, अर्थात् यह आज्ञा मुझे अयोग्य समझ पड़ती है॥७॥ मैं उत्तर दे रहा हूँ, मेरे अपराध क्षमा करें, (क्योंकि) साधु (सज्जन) लोग दुखी मनुष्यों के गुण-दोष को नहीं गिनते, अर्थात् उनके दोषों पर बुरा नहीं मानते॥८॥ पिताजी स्वर्ग में हैं और श्रीसीतारामजी वन में हैं (फिर आपलोग) मुझे राज्य करने को कहते हैं, इससे आपलोग मेरा हित समझते हैं अथवा अपना कोई बड़ा कार्य सधना समझते हैं॥१७७॥

विशेष—(१) 'उत्तर देउँ छमब अपराधू'—बड़ों को उत्तर देना पाप है, यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८)। इसलिये क्षमा माँगते हैं। 'दुखित दोष-गुन···'—यहाँ तात्पर्य दोष न गिनने पर है, गुण भी साथ कहा गया है, क्योंकि द्वन्द्व बोलने का मुहावरा है—गुण-दोष, पाप-पुण्य, भला-बुरा, इत्यादि। कहा भी है—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥" (वि० ३४)।

(२) 'पितु सुरपुर सिय-राम बन'···'—अर्थात् जिस मेरे राज्य की चर्चा के निमित्त मात्र से ऐसे-ऐसे अनर्थ हो गये, वही राज मुझे आपलोग करने को कहते हैं, रक्त से सने हुए भोगों को मुझे भोगने के लिये कहते हैं? यथा—"भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।" (गीता २।५)।

(३) 'येहि ते जानहु मोर हित···'—'हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई।', 'मानहु मोर बचन हित जानी।' और 'सो आदरिय करिय हित जानी।' इत्यादि, गुरुजी के और माता के वचनों के प्रति—'मोर हित' के उदाहरण हैं। पुनः—'पालहु प्रजा सोक परिहरहू।', 'तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा' इत्यादि वचनों के प्रति 'आपन बड़ काज' कहा है।

हित हमार सिय-पति-सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु-कुटिलाई॥१॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं॥२॥
सोक समाज राज केहि लेखे। लखन-राम-सिय पद बिनु देखे॥३॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू॥४॥

सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाय जप जोगा ॥५॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई ॥६॥
जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित येहू ॥७॥

शब्दार्थ—सोक समाज = शोक का समुदाय, शोकपूर्ण। आँक = निश्चय, अंक।

अर्थ—(वास्तव में) हमारा हित तो श्रीसीतापति श्रीरामजी की सेवा में ही है, वह सेवा माता की कुटिलता ने हर ली ॥१॥ मैंने अपने मन में विचार करके देख लिया कि और किसी उपाय से मेरा हित नहीं है ॥२॥ बिना श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के चरणों को देखे शोक से पूर्ण यह राज्य किस गिनती में है ? अर्थात् उनके चरणों में प्रेम बिना राज्य व्यर्थ है ॥३॥ जैसे वस्त्र के बिना बोझ भर गहनों का पहने होना व्यर्थ है, वैराग्य के बिना ब्रह्म-विचार व्यर्थ है ॥४॥ रोगी शरीरवाले के लिये बहुत-से भोग-विलास व्यर्थ हैं, बिना हरि-भक्ति के जप-योग व्यर्थ और बिना जीव के जैसे सुन्दर देह व्यर्थ है, वैसे ही रघुराज श्रीरामजी के बिना मेरा सब कुछ व्यर्थ है ॥५-६॥ मैं श्रीरामजी के पास जाऊँ, यह मुझे आज्ञा दीजिये। मेरा हित तो इस एक ही निश्चय (सिद्धान्त) में है (परन्तु जिसमें आपलोग मेरा हित समझते हैं, वह अंक-रहित शून्य के समान व्यर्थ है) ॥७॥

विशेष—(१) 'हित हमार सिय-पति ···'—'हमार' शब्द से बहुवचन होने से अहंकार सूचक है। भक्ति-सम्बन्ध में यह भूषण है, यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥" (अर० दो० १०), 'सो हरि लीन्ह' भाव यह कि मेरा हरा हुआ धन मिले, तभी अपना हित हो सकता है। यह उपर्युक्त दोहे के 'मोर हित' का निराकरण किया कि वह 'आन उपाय' से नहीं हो सकता।

(२) 'मैं अनुमानि ···'—यह गुरुजी के—"यह सुनि समुझि सोक परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू ॥" का उत्तर है कि उसमें औरों का हित चाहे हो, पर मेरा नहीं।

(३) 'सोक समाज राज ···'—यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी, इन तीनों के सम्बन्ध का शोक रहने से राज्य सुखदाई वस्तु होते हुए भी दुखदाई कहा गया, क्योंकि इसी राज्य के ही निमित्त इन तीनों का वनवास हुआ। इसी से शोक का समाज (समुदाय) कहा और उत्तरार्द्ध में तीनो के नाम देकर उसे स्पष्ट किया है। भाव यह भी है कि मैं श्रीरामजी को, मांडवी श्रीजानकीजी की और श्रीशत्रुघ्नजी श्रीलक्ष्मणजी की सेवा करते, तब सुखद समाज होता। उपर्युक्त 'हित हमार' का भाव यह भी है कि हम तीनो का हित इसमें है। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम प्रथम दिया गया, क्योंकि भगवान् से भी अधिक उनके दासों में प्रीति होनी चाहिये, यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥" (उ० दो० ११९)। बिना 'राम-लखन-सिय' की भक्ति के राज्य किस गिनती में हैं ? इसीपर कई दृष्टान्त दिये हैं। उनसे 'राम-लखन-सिय' को वस्त्र, वैराग्य, हरिभक्ति और जीव रूप कहा है और भूषण भार, ब्रह्मविचार, बहु भोग और सुन्दरदेह राज्य को कहा है। इनसे दिखाया है कि इन सबमें एक के बिना एक ही व्यर्थ है और 'बादि मोर सब बिनु रघुराई' अर्थात् मेरे तो एक श्रीरामजी के बिना सभी व्यर्थ हैं।

(३) 'एकहि आँक मोर हित येहू'—'एक ही आँक' का अर्थ—दृढ़ बात, पक्की बात, पक्का निश्चय, यथा—"एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं ॥" (दो० १८२)।

यहाँ तक 'येहि ते जानहु मोर हित' के प्रति अपना विचार प्रकट किया, आगे 'कै आपन बड़ काज' के प्रति कहते हैं—

मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़तावस कहहू ॥८॥

दोहा—कैकेई सुअ कुटिल मति, रामबिमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोहबस, मोहि से अधम के राज ॥१७८॥

कहउँ साँच सब सुनि पतियाहू। चाहिय धरमसील नरनाहू ॥१॥
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥२॥

शब्दार्थ—रसा = पृथ्वी। रसातल = पुराणानुसार पृथ्वी के नीचे के सात लोकों में से छठा लोक। रसातल पहुँचाना = नष्ट करना—ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—मुझे राजा बनाकर अपनी भलाई चाहते हैं, वह भी आपलोग मेरे प्रति स्नेह की जड़ता के वश होकर कह रहे हैं ॥८॥ कैकेयी का पुत्र, कुटिल बुद्धि, रामविमुख और निर्लज्ज—ऐसे मुझ अधम के राज्य में आपलोग मोह-वश सुख चाहते हैं ॥१७८॥ मैं सत्य ही कहता हूँ, सुनकर आप सब इसका विश्वास करें, धार्मिक को राजा होना चाहिये ॥१॥ आप लोग ज्योंही हठ करके मुझे राज्य देंगे, (अर्थात् मैं अपने वशभर तो लूँगा नहीं) त्योंही पृथ्वी रसातल को चली जायगी, अर्थात् ऐसे पापी के भार को न सह सकेगी। भाव यह कि पृथ्वी नष्ट हो जायगी ॥२॥

विशेष—(१) 'सोउ सनेह जड़तावस···'—स्नेह और वैर दोनों जब अत्यन्त हो जाते हैं, तब विवेक नहीं रह जाता, यथा—"तुलसी बैर सनेह दोउ, रहित बिलोचन चारि। सुरा सेवरा आदरहिं, निंदहिं सुरसरि बारि॥" (दोहावली ३२६)। अत्यन्त स्नेह में उसके दोष नहीं दीखते—यह स्नेह की जड़ता है।

(२) 'कैकेई सुअ कुटिल मति···'—मुझमें ये चार एवं अनेक दोष हैं, अतएव मैं अधम हूँ। ऐसे के राज्य में प्रजा को सुख नहीं हो सकता, यथा—"चढ़े बधूरे चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोक-समाज। करम-धरम सुख संपदा, त्यों जानिबे कुराज॥" (दोहावली ५१३)। "धरनि धेनु चारितु चरति, प्रजा सुवत्स पन्हाइ।" (दोहावली ५१२)। अधर्मी राजा के पाप से प्रजा पर दुकाल आदि आपत्तियाँ पड़ती हैं, इसलिये मन्त्री आदि को चाहिये कि ऐसे को राजा न बनावें।

'कैकेई सुव'—जिसने श्रीरामजी को वन दिया और पिता के प्राण लिये, उसीका मैं पुत्र हूँ। कैकेई कुटिल मति, राम-विमुखा और निर्लज्जा है, तो उसके दोष मुझमें भी हैं ही, क्योंकि कारण के गुण कार्य में आते ही हैं।

(३) 'चाहिय धरमसील नर नाहू।', यथा—"राजा पापयुतो यस्मिन् राष्ट्रे वसति तत्र वै। दुर्भिक्षं चैव मरणं तथैवोपद्रवा द्विजाः॥ तस्माद्राज्ञा प्रकर्त्तव्यो धर्मः श्रद्धापरेण हि। तथा प्रकृतयो राज्ञः शुचित्वेन प्रतिष्ठिताः॥" (स्कन्द पु० माहे० केदार० १५।१९-२१), अर्थात् हे विप्रगण! जिस राज्य में पापात्मा राजा रहता है, वहाँ प्रजा का विनाश करने के लिये दुर्भिक्ष, मृत्यु, उपद्रव तथा और भी बहुत-से अनर्थ पैदा हो जाते हैं। अतः, राजा को श्रद्धापूर्वक धर्म का पालन करते रहना चाहिये। राजा के पवित्र रहने पर प्रजा भी पवित्र रहकर स्थिरता से रहती है।

(४) 'रसा रसातल जाइहि तबहीं—राजापुर की प्रति में पहले 'रसा' पाठ लिखा गया है, फिर उसे काटकर हरताल देकर 'राजु' पाठ दिया गया है, परन्तु विचारने से यह किसी अनभिज्ञ का संशोधन है, जो रसा का अर्थ ही न जानता था। 'राजु' शब्द से बिना प्रयोजन पुनरुक्ति दोष आ जाता है और [illegible]

मेरे लिये राज्य माँगा गया, इतने ही में कितने अनर्थ हो गये। जब हठात् राज्य दिया जायगा, तब तो मेरे भार से पृथ्वी ही रसातल चली जायगी, यथा—"अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥" (बा० दो० १८३)। यह रसा है। अतः, अनरस न सह सकेगी। राजा का आदर्श ही प्रजा के लिये विधान रूप होता है, इसीसे 'यथा राजा तथा प्रजा' यह प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से श्रीभरतजी कहते हैं—'कहउँ साँच ···चाहिय धरमसील नरनाहू॥ मोहि राज हठि···' अर्थात् हठात् मुझे राज्य मिलने पर यही आदर्श प्रजा ग्रहण करेगी कि पिता को मारकर और भाईवर्ग को निकालकर भी जैसे हो छल से—धोखे से भी धन लेना चाहिये, फिर यह वृत्ति प्रजा की रोकी न जा सकेगी। अयोध्या की गद्दी चक्रवर्त्ति-पद की है। अतः, सारे संसार के प्रजावर्ग के इन अधर्माचरणों से सारी पृथ्वी रसातल (अधःपतन) को चली जायगी।

ऐसा कह श्रीभरतजी ने राज्य नहीं ग्रहण किया, तब इस आदर्श की प्रशंसा में श्रीरामजी का यह कथन भी संगत है—"कहउ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥" (दो० २६३)। आगे दिखाते हैं कि इसी अनरस से राजा ने प्राण ही छोड़ दिये। अनरस है--श्रीरामजी का वन दिया जाना।

मोहि समान को पाप-निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू॥३॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा॥४॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू॥५॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥६॥
राम पुनीत बिषयरस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे॥७॥

शब्दार्थ—अबासू (सं० आवास) = घर।

अर्थ—मेरे बराबर कौन पापों का निवास-स्थान (घोर पापी) होगा कि जिसके लिये श्रीसीतारामजी को वनवास हुआ॥३॥ राजा ने श्रीरामजी को वनवास दिया, उनके बिछुड़ते ही आप स्वर्ग को चले गये॥४॥ मैं ही शठ सारे अनर्थों का कारण हूँ, सावधानी से बैठा हुआ सब बातें सुन रहा हूँ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी के बिना घर को देखकर जगत् में उपहास सहकर भी मेरे प्राण बने ही रहे॥६॥ (ये प्राण) राम रूपी पवित्र विषय के रस से उदासीन (बे-परवाह) हैं, लोलुप हैं, भूमि और विषयभोग के इच्छुक हैं॥७॥

विशेष—(१) 'मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।'—श्रीसीतारामजी का वन दिया जाना महान् पाप है, इसका कारण मैं हूँ, फिर प्रतिज्ञाबद्ध होकर राजा ने श्रीरामजी को वनवास दिया और उसी ग्लानि से उन्होंने तुरत प्राण छोड़ दिये। इसका भी हेतु मैं ही हूँ। इतने अनर्थ मेरे कारण हुए। इसपर मुझे मृत्यु की कौन कहे, मूर्च्छा भी नहीं आई, किन्तु सब बातें सावधान बैठा सुन रहा हूँ, अतएव शठ हूँ।

(२) 'सहि जग उपहासू'—जगत् हँसता है और हँसेगा कि एक पुत्र श्रीरामजी हुए कि पिता के वचन सत्य करने और छोटे भाई भरत के राज्य प्राप्त होने के लिये वन को गये और एक पुत्र भरत भी है कि जिसके कारण पिता ने प्राण छोड़ दिये और बड़े भाई श्रीरामजी वन की बड़ी विपत्ति उठा रहे हैं, फिर भी यह शठ राज्य भोगने के लिये जीता-जागता बैठा है।

(३) 'राम पुनीत बिषय रस···'—जगत् का उपहास सहकर भी प्राण क्यों रहे, इसका कारण

कहते हैं कि ये रामरूपी पवित्र विषय रस (श्रीराम-भक्ति) के रूखे हैं, लोलुप हैं और भूमि-भोग के भूखे हैं, इसीसे शरीर में बने हैं।

कहँ लगि कहउँ हृदयकठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई ॥८॥

दोहा—कारन ते कारज कठिन, होइ दोष नहिं मोर।
कुलिस अस्थि ते उपल ते, लोह कराल कठोर ॥१७९॥

कैकेई-भव तनु अनुरागे। पाँवर प्रान अघाइ अभागे ॥१॥
जौ प्रियबिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे ॥२॥

अर्थ—मैं अपने हृदय की कठिनता कहाँ तक कहूँ, इसने वज्र का भी निरादर करके बड़ाई प्राप्त की हैं, अर्थात् यह वज्र से भी कहीं अधिक कड़ा है ॥८॥ कारण से उसका कार्य कठिन होता है, इसमें मेरा दोष नहीं, हड्डी से वज्र और पाषाण से लोहा भयंकर कठोर होता है ॥१७९॥ कैकेयी से उत्पन्न हुए इस शरीर में अनुराग रखनेवाले नीच प्राण अभाग्य से अब अघायँ ॥१॥ जो प्यारे के विरह दुःख में भी प्राण अधिक प्रिय लगे हैं, तो अब आगे हम और भी बहुत कुछ देखें-सुनेंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'कहँ लगि कहउँ हृदय···'—मेरा हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है (यहाँ प्रतीप अलंकार है), क्योंकि राजा वज्र को भी सह लेते थे, यथा—"सूल कुलिस असि अँगवनिहारे।" (दो० २४), वे श्रीराम वियोग को न सह सके और मुझको मूर्च्छा भी न आई, यथा—"राय राम कहँ कानन दीन्हा।···मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥" ये प्रमाण ऊपर कहे गये।

(२) 'कारन ते कारज कठिन···'—दधीचि की हड्डी से वज्र हुआ, पर वज्र हड्डी से अधिक कठोर होता है। पत्थर से लोहा होता है, लोहा पत्थर से अधिक कठोर होता है, क्योंकि लोहे की टाँकी से पत्थर काटा जाता है। लोहे के घन की चोट पत्थर नहीं सह पाता, पर लोहे की निहाई सहती है। इसी प्रकार मैं कैकेयी से पैदा हुआ, तो उसके हृदय से मेरा हृदय कठोर होना ही चाहिये, तब राम-वियोग एवं जग-उपहास सहने की कठोरता के विषय में हृदय का क्या दोष ?

अलंकार—'अर्थान्तरन्यास', क्योंकि पूर्वार्द्ध में सामान्य बात कहकर उत्तरार्द्ध में उसे विशेष बात से पुष्ट किया गया है।

(३) 'कैकेई-भव तनु ···'—भाव यह कि कैकेयी से उत्पन्न शरीर पर इन नीच प्राणों की ममता है, इसीसे ये भर-पूर अभागे हैं, अर्थात् इस शरीर को छोड़ देते, तो भाग्यशाली कहाते। राजापुर की प्रति में पुरानी लिपि के अनुसार 'र' और 'न' में बहुत ही कम अन्तर है। इसीसे 'पावर' को 'पावन' पढ़ा जाना सहज है। इसीसे 'पाँवर प्रान' का 'पावन प्रान' पाठान्तर हो गया है। 'पावन' शब्द से अर्थ में बहुत अड़चन हैं।

(४) 'देखब सुनब बहुत अब आगे'—अभी तक जो देखा है, उसे आगे—"लखन राम सिय कहँ···" से "कीन्ह कैकई सब कर काजू॥" तक में कहते हैं। पुनः आगे १४ वर्ष में अभी बहुत कुछ देखूँगा और सुनूँगा, यह अनुमान से निश्चय करते हैं।

लखन-राम-सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा ॥३॥
लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहिं सोक संतापू ॥४॥
मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू ॥५॥

राज्य-मद नहीं हो सकता (तब अयोध्या-मात्र की राज्य-प्राप्ति पर कैसे होगा ?) क्या कभी काँजी की बूँदों से क्षीर समुद्र बिगड़ (फट) सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥२३१॥

विशेष—(१) 'सुनि सुरबचन लखन···'—देववाणी सच्ची ही होती है, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी तुरत सकुचा गये कि हमसे बड़ी चूक हुई। जो श्रीभरतजी के भायप एवं भक्ति की उपेक्षा की और उनपर क्रोध करके भागवतापराध किया, जिसे प्रभु भी नहीं सहन करते। अपने परम अनन्य भक्त—जिन्होंने भक्ति के आगे अपने जीवन तक को कुछ नहीं समझा—ऐसे सरल स्वभाव श्रीलक्ष्मणजी की हार्दिक ग्लानि प्रभु से न सही गई। उन्होंने उनकी ग्लानि दूर करने के लिये आदर-पूर्वक उनका सम्मान किया, पास बैठाया और उनके उक्त वचनों को सुनकर नीति कहकर उनकी सराहना की। 'लखन सकुचाने', यथा—"लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया।" (वाल्मी० ४।९७।१९), अर्थात् लक्ष्मणजी बहुत लज्जित हुए और सिकुड़कर मानों अपने शरीर के अंगों में घुसे जाते हों।

(२) 'कही तात तुम्ह नीति सुहाई।'—मद कई प्रकार के होते हैं, यथा—"कुल जाती वयरूप अरु, ज्ञान ध्यान मद होइ। विद्याधन अष्टम मदहिं, कहत राजमद कोइ॥" इनमें राज्यमद सबसे कठिन होता है। इसीपर, बलि का राज्य ले लेने पर प्रह्लादजी ने भगवान् से कहा है—"मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात्॥ यया हि विद्वानपि मुह्यते यतस्तत्को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।" (भाग० ८।२२।१६-१७), अर्थात् मैं ऐसा मानता हूँ कि आपने आत्मा को मोहित करनेवाली राज्य-लक्ष्मी से इसे भ्रष्ट कर दिया, यह इसपर बड़ा अनुग्रह किया है। जिससे विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं उस लक्ष्मी के रहते हुए ऐसा कौन पुरुष है जो अपने स्वरूप को यथार्थ जान सके ?

(३) 'जो अँचवत मातहिं···'—साधु-संग से विवेक होता है, यथा—"बिनु सत्संग बिबेक न होई।" (बा० दो० २), विवेक होने से देहाभिमान निवृत्त होता है, जिससे मद आदि रह ही नहीं जाते, क्योंकि मद ऐहिक पदार्थों एवं गुणों के होते हैं, उन सबका सम्बन्ध देह से ही रहता है। कहा भी है—"साधु-संगत पाइये।···जिन्हके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गये॥" (वि० १३६), साधुसंग से शील-गुण भी आता है, जिससे उन्मत्तता नहीं आ पाती, यथा—"सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।" (उ० दो० ८९)।

(४) 'बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा।'—अर्थात् (उपर्युक्त 'कुटिल कुबंधु···' के) प्रति कहते हैं—श्रीभरतजी इस एकपाद विभूति से परे गुणवाले हैं, तथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥" (दो० २४०)।

(५) 'बिधि-हरि-हर-पद पाइ। कबहुँ कि काँजी···'—(यह 'भरतहि दोष देइ को जाए। जग बौराय राज पद पाए' के प्रति कहते हैं—) उत्पत्ति, पालन और संहार के अधिकार अकेले श्रीभरतजी को ही प्राप्त हो जायँ। तब भी वह काँजी के कण के समान होगा और क्षीर समुद्र-रूपी श्रीभरतजी पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा। इस दोहे के पूर्वार्द्ध में उपमेय और उत्तरार्द्ध में उपमान कहा गया है। जैसे क्षीर समुद्र श्वेत और गम्भीर है, वैसे श्रीभरतजी भी शुद्ध-सात्त्विक एवं अगाध हृदयवाले हैं, यथा—"भरत हृदय सियराम निवासू।" (दो० २९४), अर्थात् क्षीर-सागर में लक्ष्मीनारायण निवास करते हैं, वैसे भरतजी के हृदय में सीता-रामजी निवास करते हैं। क्षीरसागर मथने से अमृत प्रकट हुआ, तथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुरसाधु हित, कृपासिंधु मति धीर॥" (दो० २३८)। समुद्र मर्यादा में ही रहता है, वैसे भरत धर्म-मर्यादा में ही रहते हैं, इस भाव से लक्ष्मणजी के वचन 'चले धरम मरजाद मिटाई' का भी समाधान हो गया। क्षीरसिन्धु से चन्द्रमा प्रकट हुआ, वैसे भरतजी को भी 'नव बिधु बिमल···' कहा गया है।

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगन मगन मकु मेघहि मिलई ॥१॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी । सहज छमा बरु छाड़इ छोनी ॥२॥
मसक - फूँक मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृपमद भरतहि भाई ॥३॥
लखन तुम्हार सपथ पितु - आना । सुचि सुबंधु नहिं भरत-समाना ॥४॥

शब्दार्थ—मगन = लीन होना, तन्मय होना । गिलई = निगल जाय । आना = शपथ ।

अर्थ—चाहे अन्धकार दोपहर के सूर्य को निगल जाय, आकाश (जिसमें सब समाया हुआ है, वह) मेघ में तन्मय होकर चाहे मिल जाय, (वा, चाहे मेघों को आकाश में मार्ग न मिले) ॥१॥ (समुद्र पी जानेवाले) अगस्त्यजी चाहे गौ के खुर-बराबर जल में डूब जायँ, पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमा को छोड़ दे ॥२॥ तथा मच्छड़ की फूँक से चाहे सुमेरु पर्वत उड़ जाय, परन्तु हे भाई ! श्रीभरतजी को राज्य-मद नहीं हो सकता ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी ! तुम्हारी सौगन्द और पिता की सौगन्द (करके कहता हूँ), श्रीभरतजी के समान पवित्र और अच्छा भाई (कहीं) नहीं है ॥४॥

विशेष—(१) 'तिमिर तरुन तरनिहि···'—अन्धकार सूर्य के उदय के प्रथम ही से दूर हो जाता है, यथा—"उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ।" (बा० दो० २५५), "उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा ।" (बा० दो० २३८), उसका सूर्य के सम्मुख होना असम्भव है। सूर्य को निगलकर पेट में रखना तो अत्यन्त ही असम्भव है, ऐसा चाहे हो जाय। 'गगन मगन मकु···'—आकाश में अनन्त अवकाश है, यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता । नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥" (उ० दो० ९०), इसीमें सब ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं। उसके एक अल्पांश में मेघ पड़े रहते हैं, ऐसा बड़ा आकाश चाहे मेघों में डूब जाय, (वा, अनन्त आकाश में भी मेघों को चाहे राह न मिले, क्योंकि मगन का मग न भी हो सकता है ।)

(२) 'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी'—जो अंजलि से ही समुद्र पी गये, वे गोपद जल में डूबें, यह आश्चर्य ही है ।—बा० दो० २५५ चौ० ७ में अगस्त्यजी की कथा देखिये । 'सहज छमा···'—पृथ्वी का नाम ही सर्व-सहा है । क्षमा इसका स्वाभाविक गुण है । क्षोणी के साथ क्षमा शब्द विशेष संगत है । 'बरु' शब्द का पर्याय ही 'मकु' है—यह भी यहाँ स्पष्ट किया ।

(३) 'मसक-फूँक मकु मेरु उड़ाई ।'—पर्वत का नाम ही अचल है, प्रचण्ड वायु भी उसे नहीं उड़ा सकता । सुमेरु पर्वत तो लक्ष योजन ऊँचा है, उसका मच्छड़ की फूँक से उड़ाना तो अत्यन्त ही असम्भव है ।

यहाँ 'तरुन तरनि', 'गगन', 'घटजोनी', 'छोनी' और 'मेरु' ये पाँचो क्रमशः श्रीभरतजी की उपमाएँ और 'तिमिर', 'मेघ', 'गोपद जल', 'उद्वेग' और 'मसक-फूँक' ये पाँचो राज्य-मद की हैं । ये पाँचो दृष्टान्त पाँच तत्त्वों के हैं जैसे कि सूर्य में तेज है, वह अग्नि का गुण है और क्षोणी (पृथ्वी), गगन, गोपद-जल, फूँक (श्वासा-पवन) ये स्पष्ट हैं । इन पाँचो से सूचित किया कि ये सृष्टि के मूल हैं, ये मर्यादा छोड़ दें, तो सृष्टि ही न रह जाय । ये चाहे अपनी-अपनी मर्यादा भले ही छोड़ दें, पर श्रीभरतजी धर्म-मर्यादा नहीं छोड़ सकते । यह भी दिखाया कि ये पाँचो तत्त्वों से परे हैं, अर्थात् इन पाँचो की सृष्टि से परे हैं, यथा—"बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ।" ऊपर कहा है ।

क्षीर-सिन्धु अप्राकृत है, वैसे ही श्रीभरतजी भी दिव्य हैं, यह इस छठे दृष्टान्त का तात्पर्य है । 'भरतहि होइ न राज-मद' से उपक्रम कर छः दृष्टान्तों में उसे पुष्ट करके अन्त में—'होइ न नृप मद भरतहिं भाई ।' पर उसका उपसंहार किया, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी ने राज्य-मद के लिये छः उदाहरण

दिये थे—"जग बौराइ राज-मद पाये।" से उपक्रम कर—"केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" पर उपसंहार किया था, उसमें—शशि, नहुष, वेन, सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु इन छहों के उदाहरण दिये थे वहाँ 'जग' 'केहि न' से जगत्-भर को राज्य-मद में लिप्त कहा था। श्रीरामजी ने उसीके प्रति-उत्तर में—"बिधि प्रपंच महँ सुना न दोसा।" से श्रीभरतजी को निर्लेपता कहते हुए इन छः ही दृष्टान्तों से—'होइ न नृप मद भरतहिं भाई।' तक में श्रीभरतजी को अप्राकृत एवं जगत् के परे जनाया और इनका मद-राहित्य सिद्ध किया। इस तरह श्रीलक्ष्मणजी के 'जग बौराइ' को रखते हुए भी श्रीभरतजी के विषय में राज्य-मद का खण्डन किया।

(४) 'लखन तुम्हार सपथ ·····'—उपर्युक्त बातों की पुष्टि के लिये प्रथम श्रीलक्ष्मणजी की शपथ की, फिर पिता की। शपथ और आन पर्याय शब्द हैं, फिर भी इनमें कुछ सूक्ष्म भेद है। शपथ से सूचित किया कि जो मैं झूठ कहता होऊँ, तो मुझे तुम्हारे अकल्याण करने का पाप हो और आन शब्द संस्कृत के आणि अर्थात् मर्यादा, सीमा और सौगंद का वाचक है, अर्थात् मुझे पिता की सत्य-धर्म-मर्यादा के उल्लंघन का दोष हो। ऐसे ही केवट प्रसंग में भी दोनों शब्द आये हैं यथा—"मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ।" (दो० १००)। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—'कुटिल कुबंधु' उसपर यहाँ—'सुचि सुबंधु··· ' कहा गया है।

सगुन - खीर अवगुन-जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता ॥५॥
भरत हंस रबि - बंस - तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा ॥६॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥७॥
कहत भरत - गुन - सील-सुभाऊ। प्रेम - पयोधि मगन रघुराऊ ॥८॥

शब्दार्थ—सगुन (सगुण) = शुभ गुन। खीर (क्षीर) = दूध। बिभाग करना = पृथक्करण।

अर्थ—हे तात! सद्-गुण-रूपी दूध और अवगुण-रूपी जल को मिलाकर ही विधाता जगत् की रचना करता है ॥५॥ (पर) सूर्य-वंश-रूपी तालाब में श्रीभरतरूपी हंस ने जन्म लेकर गुण और दोष को अलग-अलग कर दिया है ॥६॥ इन्होंने गुण-रूपी दूध को ग्रहण कर और अवगुण-रूपी जल को त्याग कर के अपने यश से जगत् में प्रकाश फैला दिया है ॥७॥ श्रीभरतजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करते हुए श्रीरघुनाथजी प्रेम-रूपी सागर में मग्न हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'सगुन-खीर अवगुन-जल···'—यहाँ 'सगुन' में 'स' उपसर्ग 'सु' के अर्थ में है। अन्यत्र 'सह' के अर्थ में भी प्रायः हुआ करता है। 'मिलइ' का अर्थ 'मिलाकर' नहीं है, किन्तु 'मिला हुआ ही' अर्थ होगा, यथा—"भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये॥ कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥···जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार। संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥ अस बिबेक ··" (बा० दो० ६)—इसका भाष्य भी देखें। अर्थात् गुण-दोष मिला हुआ ही संसार सनातन से है। हंस में यह शक्ति है कि वह मिले हुए जल और दूध में से दूध मात्र को पी लेता है, जल को पृथक् कर देता है। वैसे सन्त एवं श्रीभरतजी में ही ऐसा विवेक है कि ये गुण (शुभ गुण) मात्र ग्रहण कर लेते हैं, अवगुण इन्हें छू नहीं पाता। 'निज जस···'—यहाँ यश को चन्द्रमा रूप मानकर उससे जगत् को प्रकाशित करना कहा गया है, यथा—नव बिधु बिमल तात जस तोरा।···" (दो० २०८)। 'जनमि'—हंस अपने स्वभाव से ही उक्त कार्य करता है, उसे कोई सिखाता नहीं, वैसे ही श्रीभरतजी में विवेक स्वभाव से ही है। श्रीभरतजी ने विवेक से यह निश्चय किया कि चाहे संसार के सातों द्वीपों का भी आधिपत्य क्यों न हो, उसमें न फँसकर भगवद्भक्ति

करनी चाहिये, यथा—"साधन सिद्धि राम-पद-नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥" (दो० २८८), तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सतहरि भजन जगत् सब सपना॥" (अर० दो० ३८)।

(२) 'कहत-भरत-गुन-सील···'—यह प्रसंग—"सब ते कठिन राज मद भाई।" से "निज जस जगत कीन्हि उँजियारी।" तक है। इस 'साधु सभा सेई' से शील कहा गया है, क्योंकि—"सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई।" (उ० दो० ८९)।

'गहि गुन पय···'—से सम्पूर्ण शुभ गुणों का ग्रहण करना एवं विवेक गुण कहा है। स्वभाव का वर्णन प्रसंग भर है, यहाँ भी 'भल' एवं 'जनमि कीन्ह' में शब्द से प्रकट है।

'प्रेम-पयोधि मगन···'—श्रीभरतजी प्रेम के अगाध समुद्र हैं, यथा—"राम सँकोची प्रेम बस, भरत सुप्रेम पयोधि।" (दो० २१७)। उनके प्रेम में वैसी ही वृत्ति श्रीरामजी की भी है, इसमें—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् (गीता ४।११) चरितार्थ है।

दोहा—सुनि रघुबर-बानी बिबुध, देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो, प्रभु को कृपानिकेतु॥२३२॥

जौ न होत जग जनम भरत को। सकल धरमधुर धरनि धरत को॥१॥
कवि-कुल-अगम भरत-गुन-गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥२॥
लखन राम सिय सुनि सुरबानी। अति सुख लहेउ न जाइ बखानी॥३॥

अर्थ—रघुवर श्रीरामजी की वाणी सुनकर और श्रीभरतजी पर उनका प्रेम देखकर सब देवता बड़ाई करते हैं कि श्रीरामजी के समान कृपालु प्रभु (समर्थ) और कौन है?॥२३२॥ यदि जगत् में श्रीभरतजी का जन्म नहीं होता, तो पृथ्वी पर सम्पूर्ण धर्मों की धुरी (अर्थात् बोझ) का धारण कौन करता?॥१॥ कवियों के कुल (समुदाय) के लिये अगम्य श्रीभरतजी के गुणों की कथा, हे श्रीरघुनाथजी! आपके बिना कौन जाने?॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी ने देवताओं की वाणी सुनकर अत्यन्त सुख पाया, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥

विशेष—(१) 'सकल धरमधुर धरनि···'—'सकल धरम'—वर्णाश्रम-धर्म, भागवत-धर्म, भ्रातृ-धर्म, राज-धर्म, इत्यादि। धर्म से ही श्रीभरतजी पृथ्वी को धारण करते हैं, यथा—"भरत भूमि रह राउरि राखी।" (दो० २६३), धर्म ही से पालन-पोषण करते हैं, यथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥" (बा० दो० १९६), वर्णाश्रम-धर्म, यथा—"पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सोमुख लाख जाइ नहिं बरनी॥" (दो० १७०)।

बालकाण्ड वन्दना-प्रसंग में श्रीभरतजी में मुख्य दो गुण कहे गये—एक धर्म दूसरा प्रेम, यथा—"जासु नेम-ब्रत जाइ न बरना॥" नेम-ब्रत यह धर्म है और—"राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" यह प्रेम है। वे ही दोनों गुण यहाँ कहे गये हैं—'सकल धरम धुर···' यह धर्म और आगे—"अचर सचर चर अचर करत को।" (दो० २३७) यह प्रेम है।

(२) 'को जानइ तुम्ह बिनु···'—यहाँ तो कवि शेषजी के शासक श्रीलक्ष्मणजी भी नहीं जान सके तो दूसरे कवि समूह व्यास, वाल्मीकि, शुक्र आदि क्या कह सकेंगे। भक्तों के गुण भगवान् ही यथार्थ जानते और कहते हैं, यथा—"तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके।" (दो० २६३), "भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (दो० २८८)।

(३) 'लखन राम सिय···'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले आया है, ये परम निर्मल हृदयवाले हैं। जब उन्होंने श्रीभरतजी को श्रीरामजी का विरोधी समझा था, तब उनपर क्रुद्ध थे, अब इन्हें सबसे

अधिक सुख हुआ। सुख इससे भी है कि हम बड़े भारी भागवतापराध से बचे। इन्हें तो अपनापन कुछ है ही नहीं, श्रीरामजी ही सबकुछ हैं, उनकी अनुकूलता में प्रसन्न और प्रतिकूलता में क्रुद्ध।

इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये ॥४॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा ॥५॥
चले भरत जहँ सिय - रघुराई। साथ निषाद-नाथ लघु भाई ॥६॥
समुझि मातु-करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥७॥
राम-लखन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥८॥

दोहा—मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर ॥२३३॥

शब्दार्थ—सहाये = सेना एवं सहायता करनेवाले। नियोग = आज्ञा, यथा—"पुरजन पाइ मुनीस नियोगू।" दो० २४४)।

अर्थ—यहाँ (इधर) श्रीभरतजी ने सब सेना के साथ पवित्र नदी श्रीमन्दाकिनीजी में स्नान किया ॥४॥ नदी के पास में सब लोगों को रखकर (ठहराकर) माता, गुरु और मन्त्रियों से आज्ञा माँग कर ॥५॥ निषादराज और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को साथ लेकर श्रीभरतजी वहाँ चले, जहाँ श्रीसीतारामजी हैं ॥६॥ माता की करतूत को समझकर सकुचाते हैं और मन में अनेक प्रकार के कुतर्क करते हैं ॥७॥ कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी मेरा नाम सुनकर कहीं अन्यत्र न चल दें ॥८॥ मुझे माता के मत में मानकर वे जो कुछ भी कहें, वही थोड़ा है। यदि वे मेरे पापों और अवगुणों को क्षमा करके आदर करें, तो अपनी ओर समझकर ही, अन्यथा मैं इस योग्य तो नहीं ही हूँ ॥२३३॥

विशेष—(१) 'इहाँ भरत सब सहित सहाये···'—पूर्व—"जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते (दो० २२५) पर श्रीभरतजी का प्रसंग छोड़ा था, बीच में उधर श्रीरामजी का प्रसंग कहने लगे थे, अब फिर पूर्व का प्रसंग लेते हैं, इससे 'इहाँ' कहा गया है। कवि अपनी स्थिति प्रेमियों की ओर ही रखते हैं। भगवत् की अपेक्षा भागवत की निष्ठा अधिक दिखाते हुए श्रीरामजी के पक्ष को 'उहाँ' शब्द से कहा है—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे···" (दो० २२५)। 'उहाँ' और 'इहाँ' से यह भी सूचित किया कि जितनी देर में श्रीभरतजी पिछले वासस्थल से मन्दाकिनी तट तक पहुँचे, उतनी ही देर में वहाँ की सब व्यवस्थाएँ हुईं। 'मंदाकिनी पुनीत', यथा—"नदी पुनीत पुरान बखानी। ·····सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥" (दो० १३१)। 'माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा।', यथा—"तुम्ह गुरु मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥" (दो० ३१४), यही आगे श्रीरामजी ने शिक्षा दी है।

(२) 'साथ निषाद-नाथ लघु भाई।'—निषाद-राज मार्ग के ज्ञाता हैं और श्रीशत्रुघ्नजी प्रायः साथ ही रहते हैं। इस तरह पता लगाकर फिर सबको मिलावेंगे। व्यर्थ ही सबको भटकना क्यों पड़े? निषाद-राज सखा हैं, इनकी ओट लेकर चलने से श्रीरामजी प्रसन्न होंगे और छोटे भाई के साथ देखकर श्रीलक्ष्मण-जी भी प्रसन्न होंगे, इससे भी इन्हें साथ लिया है। यह भी भाव है कि श्रीभरतजी अपनेको अपराधी माने हुए हैं और साथी शत्रुघ्न को भी वैसा ही मानते हैं, इससे माता-गुरु आदि अन्य सबका सहारा एवं उपाय छोड़कर प्रभु की शरण जाते हैं। शरण होने में जयन्तजी भी श्रीनारदजी से उपदिष्ट हो अकेले हो गये हैं। निषादराज तो पथ-प्रदर्शक हैं। पुनः श्रीरामजी उदासीन वृत्ति में हैं, भीड़ देख

अप्रसन्न न हों, वा स्थल देख सुभीता देखकर एवं आज्ञा लेकर तब सबको ले चलेंगे, यह भी भाव है।

(३) 'समुझि मातु-करतब···'—मनु ने कहा ही है—"तत्संसर्गी च पञ्चमः" अर्थात् पापी का संसर्गी भी पाप में भागी माना जाता। श्रीभरतजी श्रीकैकेयीजी के पुत्र हैं। इसलिये ग्लानि करते हैं। यद्यपि ये सर्वथा मातु-संसर्ग से भिन्न हैं, तथापि यह ग्लानि करते हैं, यह इनकी कार्पण्य भक्ति है।

(४) 'मातु मते महँ मानि···'—इसमें दो पक्षों की बातें उठाई हैं—माता के पक्ष का मुझे जानें अथवा अपनी ओर समझकर मुझे दास जान और मेरे दोष क्षमा कर मेरा आदर करें। 'अघ अवगुन छमि···', यथा—"कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू॥" (सुं० दो० ४६), "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० ×), "दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की।" (वि० ४२)।

जौ परिहरहिं मलिन मन जानी। जौ सनमानहिं सेवक मानी॥१॥
मोरे सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोष सब जनही॥२॥
जग जस - भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नवीना॥३॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥४॥
फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी। चलत भगति-बल धीरज-धोरी॥५॥

शब्दार्थ—शरण = रक्षक, आश्रय। धोरी = वह तीसरा बैल जो गाड़ी में बोझा अधिक होने पर आगे नहा (लगाया) जाता है। बा० दो० ११ चौ० ४ भी देखिये।

अर्थ—जो मुझे मलिन मन समझें तो त्याग दें और जो सेवक मानें तो सम्मान करें (यह उनकी रुचि पर निर्भर है, पर) मेरे लिये तो श्रीरामजी की जूती ही शरण है, श्रीरामजी सुन्दर स्वामी हैं और दोष तो सब सेवक का ही है॥२॥ संसार में पपीहा और मछली यश के पात्र हैं, वे अपने नेम और प्रेम में प्रवीण एवं नित्य नये हैं॥३॥ मन में ऐसा विचारते हुए राह में चले जाते हैं। संकोच (श्रीकैकेयीजी के सम्बन्ध से) और स्नेह (श्रीराम-स्वभाव समझने से) है, उससे सब शरीर शिथिल (ढीला) हो गया है॥४॥ माता की की हुई बुराई श्रीभरतजी के मन को पीछे लौटाती है, फिर वे भक्ति के बल से आगे चलते हैं और धैर्य रूपी धोरी आगे बढ़ाता है॥५॥

विशेष—(१) 'जौ परिहरहिं मलिन मन···'—दोहे के दोनों पक्षों का ही भाव इसमें स्पष्ट किया गया है। त्यागने का अनुमान पहले है, क्योंकि डर यही है कि मुझे माता के पक्ष का मान कर मलिन-मन ही मानेंगे और त्याग देंगे। दूसरे पक्ष में अपनी कृपालुता के महत्त्व से सेवक जानकर क्षमा कर दें, तो यह उनके योग्य ही है। 'जौं परिहरहिं···', यथा—"मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३), 'जौ सनमानहिं···', यथा—"मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।" (उ० दो० ८५), "मोरे अधिक दास पर प्रीती।" (उ० दो० १६), दोनों पक्षों में 'जौ' यह दुविधा सूचक पद है। भाव यह कि (क) प्रभु अन्तर्यामी हैं, इससे मेरे हृदय की जानेंगे और न त्यागेंगे। (ख) सेवक पक्ष में जब विशेष ध्यान देंगे तो यह आयेगा कि सच्चा प्रेम होता तो ननिहाल में सेवा छोड़कर क्यों रहता? इससे इधर भी सन्देह है। मुझे तो दोनों तरह में उनकी ही जूतियों का आश्रय है, चाहे जैसे रक्खें। 'रामहिं की पनहीं' में यह विशेषता है कि सेवक के सिर पर दोनों पक्षों में पनही रहती है, निरादर में सिर पर मारी जाती है और आदर में वह स्वयं सिर पर आदरपूर्वक रखता है। अर्थात् मुझे आदर-निरादर दोनों ही स्वीकार हैं, क्योंकि—'राम सुस्वामि दोष···'—श्रीरामजी सुन्दर स्वामी हैं, यथा—"जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागौं।···सुखद सुप्रभु तुम सों जग नाहीं।" (वि० ११७), "भयेहूँ उदास राम मेरे आस रावरी।"

(वि० १७८), "नाहिं न और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन।" (वि० २०६), 'दोष सब जनहीं'—सेवक धर्म पर दृष्टि करने से दास का निर्दोष रहना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इस वृत्ति में स्वामी की प्रसन्नता से सब दूषण भूषण हो जाते हैं।

(२) 'जग जस-भाजन ···'—चातक पक्षी और मछली जलचर हैं। चातक में 'नेम' और मीन में 'प्रेम' की प्रवीणता होती है, यथा—"नेम तो पपीहा ही के प्रेम प्यारो मीन ही के ···" (गी० सुं० ७), इन दोनों की अपनी-अपनी वृत्ति नित्य नवीन रहती है। स्वामी के निरादर पर भी ये दोनों बढ़े-चढ़े ही रहते हैं। मुझमें इन त्रिजग योनियों का-सा भी नेम-प्रेम नहीं है, क्योंकि नेम होता, तो स्वाति-बूँद रूप श्रीरामजी के दर्शनों को छोड़कर ननिहाल क्यों जाता, अनन्य भक्तों को इष्ट-रूप ही स्वाती की बूँद के समान है; यथा—"रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।" (दो० १२७), और प्रेम होता तो वन-गवन सुनते ही प्राण छोड़ देता, यथा—"तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान।" (गी० अ० ५९)। श्रीभरतजी की यह कार्पण्य वृत्ति है, इनमें नेम-प्रेम दोनों ही पूर्ण हैं, यथा—"असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा।" (दो० ३२३), "सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं।" (दो० ३२५), "राम प्रेम-भाजन भरत ···नित नव राम-प्रेम-पन पीना।" (दो० ३२४), इत्यादि।

(३) 'फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी।···'—उपर्युक्त 'सकुच-सनेह' की दशा यहाँ स्पष्ट करते हैं। माता की की हुई खोटाई का संकोच है। यह संकोच मन को पीछे की ओर खींचता है कि कैसे सामने होकर मुँह दिखाऊँगा ? भक्ति के भरोसे आगे चलने की वृत्ति हो जाती है। भक्ति-बल, यथा—"भगतिबंत अति नीचउ प्रानी। मोहिं प्रानप्रिय अस मम बानी॥" (उ० दो०८५), "कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये॥" (दो० २६८)। पुनः धैर्य धारण करने से साहस बढ़ता है, वह धोरी की भाँति सहायक होता है।

जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥६॥
भरत-दसा तेहि अवसर कैसी। जल-प्रवाह जल-अलि-गति जैसी॥७॥
देखि भरत कर सोच सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥८॥

दोहा—लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।
मिटिहि सोच होइहि हरष, पुनि परिनाम बिषाद॥२३४॥

सेवक बचन सत्य सब जाने। आश्रम निकट जाइ नियराने॥१॥

शब्दार्थ—उताइल=शीघ्रता से, त्वरा से। जल अलि=पानी का भँवर। यह एक काला कीड़ा खटमल की तरह होता है, पर आकृति में उससे बहुत बड़ा होता है। यह घूम-घूम कर प्रायः एक ही ओर तैरता है। जल-प्रवाह के विरुद्ध भी यह बड़ी तेजी से तैरता है। कभी धार के वेग पर रुक जाता है और फिर त्वरा से बढ़ता है। इसे 'भौंतुवा' भी कहते हैं, यथा—"कहा भयो जो मन मिलि कलिकाल्हि कियो भौंतुवा भोर को हो।" (वि० २२९)। (प्रवाह में कहीं गहरा स्थल होने से उस जगह का जल घूमता रहता है, तैरनेवाले प्रायः इसमें पड़कर डूब जाते हैं, जल का भ्रमर—भँवर—भी कहाता है।)

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी के स्वभाव का स्मरण करते हैं, तब मार्ग में उनके पैर जल्दी-जल्दी पड़ने लगते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी की दशा उस समय कैसी है कि जैसे जल के प्रवाह (बहाव) में भौंतुवे की चाल होती है ॥७॥ श्रीभरतजी का शोच और स्नेह देखकर निषाद उस समय देह की सुधबुध भूल गया ॥८॥ मंगल सूचक शकुन होने लगे, उन्हें सुनकर और विचारकर निषाद कहता है कि आपका शोच मिटेगा और सुख होगा (पर) अन्त में दुःख होगा ॥२३४॥ सेवक के सब वचन श्रीभरतजी ने सत्य समझे। वे प्रभु के आश्रम के समीप जा पहुँचे ॥१॥

विशेष—(१) 'रघुनाथ-सुभाऊ', यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।···जौ नर होइ··· कोटि बिप्र बध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥" (सुं० दो० ४३-४७), "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १)।

(२) 'जल-अलि-गति जैसी'—उपर्युक्त दोनों बातों (पीछे हटने और तेजी से आगे बढ़ने) पर यह उपमा है कि जो मातु-कृत खोरि समझकर रुकते और भक्ति के बल पर बढ़ते हैं।

(३) 'देखि भरत कर···', यथा—"देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥" (दो० १९४), वहाँ के 'सील' की जगह यहाँ 'सोच' है, इतना ही भेद है।

(४) 'लगे होन मंगल सगुन···'—निषादराज मार्ग दिखानेवाले थे, जब वे ही विदेह हो गये, तब मार्ग कौन बतलाता ? इसलिये शकुनों के द्वारा प्रकृति ने सहायता की। 'सुनि' शब्द से वे शकुन सूचित होते हैं जो कान से सुने जायँ, जैसे कि चेमकरी आदि कुछ पक्षियों की बोली, जो शुभ मानी जाती है। निषादराज विदेह हो गये हैं, इसलिये ऐसे शकुन हुए कि जिनसे उन्हें चेतना आ जाय। 'लगे होन' से और भी शकुनों का होना जनाया गया है, जो देखने से जाने जायँ। निषाद लोग शकुन-विचार में कुशल होते हैं—यह पूर्व कहा गया है। 'परिनाम बिषाद' से यह कि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं, जिससे दुःख सहित ही लौटना होगा। निषादराज ने शकुन से तीन बातें कहीं। वे सब सत्य हुईं—(१) 'मिटिहि सोच', यथा—"मिटी मलिन मन कलपित सूला।" (दो० २६६), "भे निसोच उर अपडर बीता।" (दो० २८१), (२) 'होइहि हरषु', यथा—"मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू।" (दो० ३०६), "भरत मुदित अबलंब लहे ते।" (दो० ३१५), (३) 'परिनाम बिषाद', यथा—"मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। राम बिरह सब साज बिहालू॥" (दो० ३२१), "भरत भवन बसि तप तन कसहीं॥" (दो० ३२५)।

(५) 'सेवक बचन सत्य···'—सेवक शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं—श्रीरामजी का सेवक (दास) और केवट जाति, यथा—"कैवर्ते दासधीवरौ" इत्यमरः। केवट शकुनियाँ होते ही हैं और भक्तों के अनुभव भी ठीक ही होते हैं।

भरत दीख बन - सैल - समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥२॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह भारी॥३॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहि भरतगति तेहि अनुहारी॥४॥

शब्दार्थ—ईति = कृषि (खेती) के हानिकारक उपद्रव। ये छः प्रकार के माने जाते हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियों की अधिकता और दूसरे राजा की देश पर चढ़ाई। भीति = डर।

अर्थ—वनों और पर्वतों की पंक्तियों को देखकर श्रीभरतजी को ऐसा सुख हुआ, मानों भूखा सुन्दर अन्न (भोजन) पाकर सुखी हो॥२॥ मानों 'ईति' के भय से प्रजा दुखी हो और तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों और भारी क्रूर ग्रहों की दशाओं से ग्रसित होने से पीड़ित हुई हो॥३॥ वह अच्छे सुन्दर राज्य एवं अच्छे देश में जाकर सुखी हो, उसीके अनुसार इस समय श्रीभरतजी की दशाएँ हो रही हैं॥४॥

विशेष—(१) 'मुदित छुधित जनु पाइ···'—श्रीअयोध्याजी में जब से अनर्थ होने लगा है, तब से आज ही इन्होंने वन-पर्वत की श्रेणियों की छटा से आनन्द पाया। भूखे को निकृष्ट भोजन भी दुर्लभ है, यदि उत्तम भोजन मिले, तब तो उसे अत्यन्त ही आनन्द होता है। यहाँ श्रीभरतजी क्षुधित हैं, यथा—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥" (दो० २११)। वन-शैल-दर्शन सुनाज हैं।

(२) 'ईति भीति जनु···'—'ईति' यथा—"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च

राजानः षडैता ईतयः स्मृताः ॥" यहाँ श्रीअयोध्या का राज्य खेती है, श्रीराम-तिलक की तैयारी उसका पकना है, कैकेयी की दुर्बुद्धि और कुचाल-रूप टिड्डियों और तोतों ने उसे चुग लिया, वही श्रीअयोध्या-वासियों के लिये ईति हुई, यथा—"कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली ॥" (दो० २५२)। 'त्रिविध ताप पीड़ित'—श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी इन तीनों के विरह ताप से सन्तप्त, यथा—"नाथ बियोग ताप तन ताये।" (दो० २२५), 'ग्रह भारी'—शनि आदि भारी ग्रहों के प्रकोप से मृत्यु होती है, वैसे ही यहाँ राजा की मृत्यु हुई। कहा भी है—"अवध-साढ़साती तब बोली।" (दो० १६)। श्रीभरतजी इन तीनों से दुखी हुए। कैकेयी की कुचाल से, पिता की मृत्यु से और श्रीरामजी के वनवास से। वन को 'सुराज' कहा है। आगे इसका रूपक कहते हैं—

रामबास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ॥५॥
सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू ॥६॥
भट जम - नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी ॥७॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ ॥८॥

दोहा—जीति मोह-महिपाल दल, सहित बिबेक भुआल।
करत अकंटक राज पुर, सुख संपदा सुकाल ॥२३५॥

अर्थ—श्रीरामजी के निवास से वन की सम्पत्तियाँ ऐसी शोभायमान हैं, मानों अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो ॥५॥ वैराग्य मन्त्री, विवेक राजा और शोभायमान (हरा-भरा) पवित्र वन पवित्र देश है ॥६॥ यम-नियम वहाँ के योद्धा हैं, पहाड़ राजधानी है, शान्ति और सुबुद्धि पवित्र और सुन्दर रानियाँ हैं ॥७॥ वह श्रेष्ठ राजा सम्पूर्ण (राज्य) अंगों से पूर्ण है, श्रीरामजी के चरणों के आश्रित रहने से उसके चित्त में चाव (उत्साह) रहता है ॥८॥ दल-समेत मोह-रूपी राजा को जीतकर नगर में ज्ञान-रूपी राजा अकंटक राज्य कर रहा है, वहाँ सुख, सम्पत्ति और सुकाल रहते हैं ॥२३५॥

विशेष—(१) यहाँ राज्य के सप्ताङ्ग का रूपक है, दो० १०४ चौ० २-८ देखिये। राज्य में खजाना (संपत्ति), मन्त्री, राजा, राष्ट्र (देश), सुभट (सेना), राजधानी और रानी एवं इनके अतिरिक्त सहायक (मित्र) भी चाहिये। वे सब यहाँ क्रम से कहे गये हैं। वन में श्रीरामजी का निवास ही सम्पत्ति का निवास है, इन्हींसे वन में शोभा है। वैराग्य मन्त्री है, अर्थात् यहाँ "तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (अर० दो० १४), ही अधिक बसते हैं। विवेक राजा है, अर्थात् यहाँ के निवासियों में सत्-असत् के ज्ञाता ही अधिक एवं प्रधान हैं और उनमें भी वैराग्य प्रधान है, सत्-मात्र ग्रहण कर असत् का त्याग है। यही वैराग्य का मन्त्रित्व है मन्त्री-बिना राजा व्यर्थ है, वैसे विराग-बिना विवेक व्यर्थ है, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९), सुन्दर देश वन है और उसमें प्रधान कामदगिरि (चित्रकूट पर्वत) राजधानी है (देश और राजधानी को एक लेने से मित्र भी सप्तांग में ही आ जाते हैं, ऐसे ही अन्यत्र कहा भी जाता है)। यम-नियम सुभट हैं, यम के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के भी पाँच ही भेद हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की भक्ति। इतने अंगों से सम्पन्न विवेक राजा के यहाँ 'शान्ति और सुमति' ऐसी शुचि (पतिव्रता) और सुन्दर रानियाँ सुरक्षित रहती हैं। 'राम-चरन आश्रित' से मित्र भी कहा। इसके अतिरिक्त और भी अंग होते हैं, उनकी पूर्त्ति के लिये 'सकल अंग संपन्न' कहा गया है।

(२) 'रामचरन आश्रित'—यह अन्त में कहा गया है। अतः, यह सबसे प्रधान अंग है, जैसे कोई

सामान्य राजा बड़े सम्राट् के आश्रित होने से निर्भय रहता है, वैसे यहाँ राम-चरण के आश्रित होने से विवेक राजा निर्भय है, उसके चित्त में चाव है, तात्पर्य यह कि शुष्क ज्ञान में अनेक विघ्नों का भय रहता है और इसीसे वह नहीं सोहता, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करन धार बिनु जिमि जलजानू॥" (दो० २७६), "यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (अर० दो० ४२)। "सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रस बर बेद बखाना॥" (बा० दो० ३६)।

ऊपर कहा गया—"जाइ सुराज सुदेस सुखारी।···" उसी सुराज्य का रूपक यहाँ तक कहा गया, अर्थात् जिस राज्य में प्रजा सब प्रकार सुखी रहे, वही सुराज्य है। इसीके आदर्श रूप में उत्तरकाण्ड का श्रीराम-राज्य वर्णित है।

(३) 'जीति मोह-महिपाल-दल···'—मोह आसुरी सम्पत्ति में राजा है, यथा—"मोह सकल व्याधिन कर मूला।" (उ० दो० १२०), "मोह दसमौलि···" (वि० ५८) (रावण भी असुरों में राजा था)—वि० ५८ में मोह-दल और विवेक-दल भी देखिये। पुनः विवेक-दल, यथा—"ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना॥ सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटक सब भागा (बा० दो० ८३), यहाँ चित्रकूट राजधानी के विवेक राजा ने मोह राजा को दल समेत जीत लिया। पहले 'राम-चरन आश्रित' लिखकर तब जीतना कहा गया है, अर्थात् भक्ति के आश्रित (सरस) ज्ञान ही मोह को सर्वात्मना जीत सकता है। शत्रु-रूप कंटक से रहित होने से 'अकंटक' कहा गया। (विवेक और मोह राजा की लड़ाई प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में भी विस्तार से कही गई है)।

यहाँ चित्रकूट का सूक्ष्म-रीति से माहात्म्य कहा गया कि यहाँ विवेक की वृद्धि और मोह का ह्रास होता है, यथा—"यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः॥" (वाल्मी० २।५४।३०)। इसपर विनय पद २३-२४ और गीतावली अ० पद ४६-४६ में ऐसा ही बहुत कुछ कहा गया है।

(४) 'सुख संपदा सुकाल'—वहाँ सुख सरस ब्रह्मानन्द है और सम्पत्ति श्रीरामजी का निवास है, इसीसे सदा सुन्दर काल की स्थिति है, यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु-सिय-लखन-समेत। राम नाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत॥" (दोहावली ४), "रस एक रहित गुन कर्म काल। सिय-राम-लखन पालक कृपाल।" (वि० २३), (यह चित्रकूट के ही वर्णन में कहा गया है)। यहाँ रामचरणाश्रित श्रेष्ठ राजा विवेक के साहचर्य से सुकाल है, यथा—"जथा अमल पावन पवन, पाइ कुसंग-सुसंग। कहिअ कुबास-सुबास, तिमि, काल-महीस-प्रसंग॥" (दोहावली ५०५)।

यहाँ तक मुख्य अंगों को कहा, आगे शेष सामान्य अंगों को भी कुछ कहते हैं—

बनप्रदेस मुनिबास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे॥१॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजासमाज न जाइ बखाना॥२॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिप बृष साज सराहा॥३॥
बैर बिहाय चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥४॥
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिधबिधि बाजहिं॥५॥
चक्क चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥६॥
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥७॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सब समाज मुद-मंगल मूला॥८॥

दोहा—रामसैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम।
तापस तप-फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम ॥२३६॥

शब्दार्थ—खगहा (खाँग = गैंड़े के मुँह पर का सींग = हा = हनन करनेवाला) = गैंड़ा। चरहिं = विचरते हैं।

अर्थ—वन-रूपी प्रान्त में बहुत-से मुनियों के निवास स्थान हैं, वे मानों (शहरों), नगरों (कसबों), ग्रामों और पुरवों के समूह हैं ॥१॥ बहुत प्रकार के रंग-विरंगे अनेकों जातियों के बहुत-से पशु-पक्षी प्रजा के समाज हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ गैंड़ों, हाथियों, सिंहों, बाघों, वराहों, भैंसों और बैलों का साज (अंगों की गढ़नि) देखने में सराहनीय है ॥३॥ वे सब वैर छोड़कर जहाँ-तहाँ एक साथ विचर रहे हैं, मानों चतुरंगिनी सेना हैं ॥४॥ वहाँ पानी के झरने झर रहे हैं और मतवाले हाथी गरज रहे हैं, मानों नाना भाँति के डंके और (नगाड़े) बज रहे हैं ॥५॥ चक्रवाकों, चकोरों, पपीहों, तोतों और कोकिलाओं के समूह और सुन्दर हंस प्रसन्न मन से अपनी-अपनी मनोहर बोलियों से बोलते एवं चहचहाते हैं ॥६॥ भ्रमरों के समूह गाते हैं और मोर नाचते हैं, मानों अच्छे राज्य में चारों ओर मंगल हो रहे हैं ॥७॥ लताएँ, वृक्ष और तृण सब फल-फूल-युक्त हैं। इस प्रकार सारा समाज आनन्द-मंगल का मूल हो रहा है ॥८॥ श्रीरामजी के पहाड़ की शोभा देखकर श्रीभरतजी के हृदय में अत्यन्त प्रेम हुआ, जैसे तपस्वी तपस्या का फल पाकर और नियम की पूर्त्ति होने पर सुखी होता है ॥२३६॥

विशेष—(१) 'मनहुँ सेन चतुरंगा'—रथ, हाथी, घोड़े और पैदल मिलकर चारो की चतुरंगिनी सेना होती है। यहाँ गैंड़ा 'रथ' हैं, क्योंकि इनकी पीठ चौड़ी होती है, हाथी 'हाथी' ही हैं, सिंह-बाघ, 'घोड़े' तथा वराह, महिष और बैल 'पैदल' हैं।

ऊपर शहर, कसबे, ग्राम और पुरवे आदि तथा उनकी प्रजा और फिर उनकी रक्षा के लिये सेना कही गई। सेना में डंके होते हैं, वे भी कहे गये। 'चक चकोर चातक सुक···'—इनका अपनी-अपनी बोली में बोलना ताल, सारंगी आदि बाजों का बजना है। भौंरे गायक हैं और मोर नाचनेवाले हैं। ये सब नाच, गान, वाद्य आदि मंगल के अंग हैं। इसलिये चारों ओर मंगल का होना कहा गया। 'बेलि बिटप तृन···'—वृक्ष पुरुष, लताएँ उनकी स्त्रियाँ, और तृण बच्चे हैं, इनके मुद-मंगल-मूलक समाज हैं। ये जलसा देखनेवाले हैं। इनका पुष्पित होना प्रसन्न होना है, फलों से लदकर झुकना वाह-वाह करना है। पुष्पों का गिरना इनाम देना है, श्वेत फूल रुपये और लाल-पीत मोहर अशरफी आदि हैं।

(२) 'रामसैल सोभा निरखि·· '—श्रीभरतजी तपस्वी हैं, श्रीरामजी के पर्वत के दर्शन इनके तप का फल हैं। जो—'पय अहार फल असन···' आदि नेम-व्रत करते आये, वह आज सफल हुआ, अर्थात् सब साधनों का फल श्रीरामजी की प्राप्ति ही है, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय-दरसन पावा॥" (दो० २०९)। यहाँ 'सुखी सिराने नेम' कहा। वन की शोभा से यहाँ आनन्दमय दृश्य दिखाने का भाव यह कि श्रीरामवनवास से भरतजी श्रीरामजी के कष्टों का स्मरण कर दुःखी थे। यहाँ यह उनका सुखमय साज देख सुखी हों और फिर लौटाने का विशेष आग्रह न करें। श्रीभरतजी इसीपर सुखी भी हुए कि श्रीरामजी के जैसे दुःखों का मैंने अनुमान किया था, वह बात नहीं है, सुखमय स्थलपर सुखी हैं। आगे—"जनु जोगी परमारथ पावा।" और फिर—"सानुज सखा समेत मगन मन···" तब—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (दो० २४०), कहा गया है, अर्थात् श्रीभरतजी का प्रेमानन्द श्रीरामजी के समीप जाने में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है।

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥१॥
नाथ देखियहि बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥२॥

तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा ॥३॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला ॥४॥
मानहु तिमिर-अरुनमय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुषमा-सी ॥५॥

अर्थ—तब केवट ने दौड़कर ऊँचे पर चढ़ और हाथ उठा कर श्रीभरतजी से कहा ॥१॥ हे नाथ! उन विशाल वृक्षों को देखिये (वा, जो वे वृक्ष देख पड़ते हैं) वे जो पाकर, जामुन, आम और तमाल के वृक्ष देख पड़ते हैं ॥२॥ उन श्रेष्ठ वृक्षों के मध्य में सुन्दर बड़ा बरगद का वृक्ष शोभा दे रहा है, उसे देखकर मन मोह जाता है ॥३॥ नीले और सघन उसके पत्ते हैं, फल लाल हैं और उसकी छाँह सघन है जो सब समय में सुख देनेवाली है, अर्थात् गर्मी में धूप से, वर्षा में जल से और जाड़े में ठंढक से तथा सब समयों में तेज हवा से बचाती है ॥४॥ मानों ब्रह्माजी ने परम शोभा को सर्वत्र से एकत्र करके अन्धकार और लालिमामयी राशि-सी रच दिया है ॥५॥

विशेष—(१) 'मानहु तिमिर-अरुनमय···'—अरुण शब्द का अर्थ गहरा लाल रंग और सूर्य तथा सन्ध्या की ललाई का भी होता है। इसके पत्ते नीले और सघन हैं, इससे अन्धकार की तरह हैं, ये बहुत हैं, इनकी प्रधानता मानकर 'तिमिर' प्रथम कहा गया है। फल पत्तों के बीच-बीच में पृथक्-पृथक् लाल रंग के हैं, इसलिये सन्ध्याकालीन सूर्य के रंग के हैं। बहुत फल हैं, इसलिये परिपूर्णता-बोधक 'मय' शब्द भी है। इस तिमिर और अरुणमयी राशि में परम शोभा पूर्ण है, इसीसे कहा गया कि मानों ब्रह्मा ने सर्वत्र से परम शोभा समेटकर सब यहीं लगा दी है।

'तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा।'—बट शिव रूप कहा गया है, यथा—"प्राकृतहू बट बृट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १४०), "मरकत बरन परन, फल मानिक से, लसै जटाजूट जनु रूख बेष हरु है।" (क० उ० १३९), बट की प्रधानता में उसके आसपास पाकर आदि वृक्ष उस वृक्ष के अंग रूप होने से शिव रूपी बट के मानों पाँचो मुख हैं।

ये तरु सरितसमीप गोसाँई। रघुबर परनकुटी जहँ छाई ॥६॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाये ॥७॥
बट-छाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि-सरोज सुहाई ॥८॥

दोहा—जहाँ बैठि मुनि-गन-सहित, नित सिय-राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान ॥२३७॥

अर्थ—हे गोसाईं! ये वृक्ष नदी के पास हैं, जहाँ पर श्रीरघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी की पर्णकुटी छाई हुई है ॥६॥ भाँति-भाँति के शोभायुक्त तुलसी के वृक्ष कहीं-कहीं श्रीसीताजी ने और कहीं-कहीं श्रीलक्ष्मणजी ने लगाये हैं ॥७॥ बट की छाया में सुन्दर वेदी श्रीसीताजी ने अपने कर-कमलों से बनाई है ॥८॥ जहाँ बैठकर सुजान श्रीसीतारामजी मुनि गणों के साथ नित्य ही शास्त्र, वेद, पुराण और इतिहास—इन सबकी कथाएँ सुनते हैं ॥२३७॥

विशेष—(१) 'ये तरु सरितसमीप···'—निषादराज की जाति के लोग यहाँ बसते हैं, इससे वह बहुत बार आने-जाने से इस स्थल की बातों को जानता है और यद्यपि इसे श्रीरामजी ने यमुना-तट पर से ही लौटा दिया था, यह संकोच से प्रभु के पास नहीं जाता था, तथापि यह अपने भाइयों से समाचार लेता था। यह बात गीतावली अ० ६६ में स्पष्ट कही गई है। इसीसे सब परिचय दे रहा है।

(२) 'कहुँ-कहुँ सिय'—यहाँ श्रीसीताजी की सेवा भी जना दी।

(३) 'जहाँ बैठि मुनि ···'—'सुजान' शब्द से सूचित किया कि यद्यपि सब जानते हैं, तथापि लोक-संग्रह के लिये सुनते हैं कि जिससे और लोग भी सुनें। पुनः "शास्त्रं सुचिन्तितमपि परिचिन्तनीयम्।" (पञ्चतन्त्र), "सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।" (अर० दो० ३६), इस नीति का भी पालन करते हैं। इतिहास—जैसे कि इस समय रामायण और महाभारत आदि हैं। पुराण—पद्म, आदि। बहुत-से मुनि रहते हैं, जो जिस ग्रन्थ के विशेष ज्ञाता होते हैं, वे उसे कहते हैं। मुनि लोग इससे भी बराबर कथा सुनाते रहते हैं कि जिससे इसीमें इनके मन लगे रहें, अन्यथा घर की सुधि होती रहने से कहीं यहाँ से लौट गये तो हमलोगों की विपत्ति बनी ही रहेगी। पुराण भी अनादि हैं, यह शंका नहीं कि ये द्वापर में ही बने हैं।

सखा-बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी ॥१॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥२॥
हरषहिं निरखि राम - पद - अंका। मानहु पारस पायेउ रंका ॥३॥
रजसिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर-मिलन सरिस सुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—सखा निषादराज के वचन सुनकर और उन वृक्षों को देखकर श्रीभरतजी के नेत्रों में (आनन्द के) आँसू उमड़ आये ॥१॥ प्रणाम करते हुए दोनों भाई चले, उनकी उस प्रीति को कहने में श्रीशारदाजी भी सकुचाती हैं (क्योंकि ये यथार्थ कह सकने में असमर्थ हैं।) ॥२॥ श्रीरामजी के चरणों के चिह्नों (कमल, ध्वज, अंकुश और वज्र) को देखकर प्रसन्न होते है, मानों किसी दरिद्र ने पारस पा लिया हो ॥३॥ चरण-रज को सिर पर रखकर वे अपने हृदय और नेत्रों में लगाते हैं और रघुवर श्रीरामजी के मिलने के समान सुख पाते हैं, अर्थात् उस रज में भी इष्ट श्रीरामजी का ही भाव रखते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सखा-बचन सुनि···'—वृक्ष देखकर आँसू भर आये, क्योंकि पूर्वोक्त बातों का स्मरण आ गया—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात। बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बरषा बात ॥" (दो० २११), और यह भी कि विपत्ति झेलने का कारण मैं ही हूँ।

(२) 'करत प्रनाम चले···'—साष्टाङ्ग दण्डवत करते हुए चले, यह प्रणाली अब भी है, लोग कामतानाथ की प्रदक्षिणा साष्टाङ्ग दण्डवत करते हुए करते हैं।

(३) 'पारस पायेउ रंका'—पारस-प्रभाव जाननेवाला ही रंक महान् हर्ष पाता है, वैसे ये चरण-रज का माहात्म्य जानते हैं, इससे वैसा हर्ष होता है। 'रजसिर धरि···'—अत्यन्त प्रीति है, जैसे शृंगवेरपुर में 'कनक बिंदु' पर प्रेम कहा गया है—'राखे सीस सीय सम लेखे।" (दो० १९८)।

देखि भरतगति अकथ अतीवा। प्रेम मगनखग मृग जड़ जीवा ॥५॥
सखहि सनेह बिवस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहि फूला ॥६॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेह सराहन लागे ॥७॥
होत न भूतल भाव भरत को। अचर सचर चर अचर करत को ॥८॥

दोहा—प्रेम अमिअ मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर-साधु-हित, कृपासिंधु रघुबीर ॥२३८॥

शब्दार्थ—अतीव = बहुत, अत्यन्त। भाव (भू-सत्तायाम् धातु से) = अस्तित्व, जन्म, उत्पत्ति वा प्रेम।

अर्थ—श्रीभरतजी की अत्यन्त अकथनीय दशा को देखकर पशु-पक्षी और जड़-जीव (वृक्ष आदि) प्रेम में निमग्न हैं ॥५॥ स्नेह के विशेषवश हो जाने से सखा गुह को मार्ग भूल गया, तब सुन्दर मार्ग

बतलाकर देवता-गण फूल बरसाते हैं ॥६॥ सिद्ध और साधक इस प्रेम की दशा को देखकर अनुरक्त हो गये और इनके इस स्वाभाविक स्नेह की बड़ाई करने लगे ॥७॥ कि जो पृथ्वी पर श्रीभरतजी का आविर्भाव (जन्म एवं प्रेम) नहीं होता, तो अचर को सचर तथा चर को अचर कौन करता ? ॥८॥ कृपा के समुद्र रघुवीर श्रीरामजी ने श्रीभरत-रूपी अगाध समुद्र को, विरह-रूपी मन्दराचल के द्वारा मथकर, साधु-रूपी देवताओं के लिये, प्रेम-रूपी अमृत को प्रकट किया ॥२३८॥

विशेष—(१) 'सखहि सनेह बिवस···'—ऊपर कहा गया—'प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा।' तब निषादराज तो चैतन्य मनुष्य हैं, उनका स्नेह से विवश होना कोई आश्चर्य नहीं। 'कहि सुपंथ सुर बरसहिं फूला'—जिधर मार्ग है, उसी ओर फूल बरसाते हैं कि उसी पर चले आवें। इस प्रकार मार्ग को कोमल बनाकर भी सेवा करते हैं, क्योंकि गुरु श्रीबृहस्पतिजी का उपदेश हो चुका है—"मानत सुख सेवक सेवकाई।" (दो० २१८)। गुरुजी कहीं यह न मान लें कि देवों ने मार्ग भुलाये हैं, क्रुद्ध होंगे, इससे भी स्वयं फूल बरसा कर मार्ग बतलाते हैं।

(२) 'निरखि सिद्ध साधक···'—सिद्ध जैसे कपिल आदि, साधक सौनक, आदि।

(३) 'होत न भूतल भाव भरत को।'—'भाव' का जन्म और प्रेम दोनों अर्थ यहाँ संगत हैं। 'जन्म' अर्थ, यथा—"जौ न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥" (दो० २३२) के अनुरोध से ठीक है और 'प्रेम' का अर्थ यहाँ ऊपर के प्रसंग से युक्त है, यह सिद्ध-साधकों की सराहना है, वे सहज स्नेह को ही तो सराहने लगे थे। आगे भी—'प्रेम अमिअ मंदर···' आदि कहा है। वा० दो० १६ चौ० ३-४ में जो इनमें धर्म और प्रेम गुण प्रधान कहे गये हैं, उन्हींका यहाँ वर्णन है। वा, उपर्युक्त 'सकल धरम धुर···' में धर्म का और यहाँ प्रेम का वर्णन है।

'अचर सचर चर अचर करत को।'—यहाँ वृक्ष-शिला आदि जड़ हैं, उन्होंने चेतन की वृत्ति धारण की है, यथा—"द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।" (दो० २१९), "भइ मृदु भूमि···तृन मृदुलाहीं" (दो० ३१०), और चर (चेतन) खग-मृग एवं देवता-गण जड़वत् हो रहे हैं, यथा—"समुझाये सुर गुरु जड़ जागे।" (दो० २४०), "प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा।" (दो० २३७), ये सब चर भी जड़ के समान हो गये।

(४) 'प्रेम अमिअ मंदर बिरह·····'—श्रीभरतजी क्षीर-समुद्र, श्रीराम-विरह मन्दराचल, साधु देवता, प्रेम अमृत और मथनेवाले यहाँ रघुवीर और वहाँ देवता-दैत्य हैं—ये उपमेय-उपमान हैं। वहाँ देवता-गण अमृत पीकर दैत्यों को जीत सके, वैसे ही यहाँ प्रेम से साधु लोग आसुरी-वृत्ति (कामादि) को जीतते हैं।

वहाँ मथनेवाले स्वार्थी थे, यहाँ अकेले श्रीरघुवीर हैं, वे भी 'कृपासिंधु' अर्थात् निस्स्वार्थ कृपावश मथते हैं। श्रीभरतजी को दुःख न हो, यह भी कृपालुता है। 'प्रगटेउ'—प्रेम श्रीभरतजी के हृदय में था, अब सबके देखने में भी आया। 'साधु हित'—प्रेम के विशेष अधिकारी सन्मार्गी एवं सद्भाववाले ही हैं। श्रीभरतजी प्रेम के समुद्र हैं, यथा—"भरत सुप्रेम पयोधि।" (२१७), और श्रीरामजी भी यहाँ 'कृपासिंधु' कहे गये हैं, क्योंकि कृपा करके ही यह विरह संयोग किया है, देवताओं को अमृत की आवश्यकता थी, उसीके लिये समुद्र मथा गया, वैसे ही साधुओं को प्रेम की आवश्यकता है, इसीलिये यहाँ भी मन्थन हुआ, यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस। रामभगति रस सिद्धि हित···" (दो० २०८)।

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लखन सघन बन ओटा ॥१॥
भरत दीख प्रभुआश्रम पावन। सकल - सुमंगल - सदन सुहावन ॥२॥

करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा ॥३॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे ॥४॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे। तून कसे कर सर धनु काँधे ॥५॥

अर्थ—सखा निषादराज-सहित श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी की मनोहर जोड़ी को सघन वन की आड़ के कारण श्रीलक्ष्मणजी ने नहीं देखा ॥१॥ श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के आश्रम को देखा, जो पवित्र, समस्त सुन्दर मंगलों का स्थान, और सुन्दर था ॥२॥ श्रीरामजी के आश्रम में प्रवेश करते ही उनके दुःख का दावाग्नि मिट गया, मानों योगी को परमार्थ प्राप्त हुआ ॥३॥ श्रीभरतजी ने देखा कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभु श्रीरामजी के आगे हैं और प्रभु के पूछे हुए वचनों का उत्तर अनुराग-पूर्वक कह रहे हैं ॥४॥ सिर पर जटा, कटि में मुनियों के-से वस्त्र बाँधे और उसीमें तरकस भी कसे हुए हैं, हाथ में बाण और कन्धे पर धनुष रक्खे हुए हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'लखेउ न लखन···'—यद्यपि लखना (लक्ष्य करना) ही इनका सहज गुण है, तथापि इन्होंने नहीं देखा, क्योंकि ये (श्रीभरतजी) सघन वन की ओट में थे। श्रीरामजी का लखना नहीं कहा गया, क्योंकि सम्भवतः उनके सम्मुख से भरतजी नहीं आ रहे हैं, पर लक्ष्मणजी के सम्मुख पड़ते हैं, इससे इनका न लख पाना और उसका कारण भी कहा गया।

'प्रभुआश्रम···सकल-सुमंगल-सदन ··', यथा—"मंगल मूरति लोचन भरि-भरि। हरषहिं निरखि दण्डवत करि-करि ॥" ((दो० २४८), "मंगल रूप भयउ बन तबते। कीन्ह निवास रमापति जबते ॥" (कि० दो० १२),

(२) 'मिटे दुख दावा'—पूर्व कहा था—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (दो० २११), वह जलन यहाँ शान्त हुई। 'जनु जोगी···'—अष्टांग-योग सिद्ध होने पर बहुत कष्ट झेलकर परमार्थ-रूप ब्रह्मानन्द को योगी पाता है, यथा—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी ॥ ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा ॥" (बा० दो० २१), वैसे ही श्रीभरतजी को भी बहुत कष्ट उठाने पर प्रभु के आश्रम की प्राप्ति हुई है, तब वैसा ही सुख भी हुआ। यही आनन्द अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥ पावा परम तत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥ जनमरंक जनु पारस पावा। ·" (बा० दो० ३४९)। "राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (दो० ९२), उनकी प्राप्ति है ही।

(३) 'पूछे बचन कहत अनुरागे।'—पूछने पर सदा अनुराग से ही उत्तर देते हैं, कभी सेवा में यदि बिना पूछे कुछ कहना होता है, तो पहले क्षमा माँग लेते हैं। श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की सेवा में खड़े हैं, इस तरह प्रथम भागवत के दर्शन हुए, तब भगवत् के। ऐसा ही नियम है, यथा—"संत संग अपवर्ग कर।···" (उ० बो० ३३)।

बेदी पर मुनि - साधु - समाजू। सीयसहित राजत रघुराजू ॥६॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति-कामा ॥७॥
कर-कमलनि धनु-सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥८॥

दोहा—लसत मंजु मुनि-मंडली, मध्य - सीय रघुचंद।
ज्ञानसभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंद ॥२३९॥

शब्दार्थ—जटिल = जटा सहित। फेरना = चारो ओर घुमाना। लसना = सोहना।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने देखा कि) वेदी पर मुनियों और साधुओं का समाज है और श्रीसीताजी

के साथ श्रीरघुनाथजी सुशोभित हैं ॥६॥ श्याम शरीर में वल्कल वस्त्र पहने और जटा धारण किये हुए हैं, मानों रति और कामदेव मुनि-वेष धारण किये हुए (बैठे) हैं ॥७॥ (श्रीरामजी) हस्त-कमलों से धनुषबाण फिरा रहे हैं, (जिसकी ओर) हँसकर देखते हैं (उसके) जी की जलन हर लेते हैं ॥८॥ सुन्दर मुनियों के समाज के बीच में श्रीसीताजी और रघुकुल-चन्द्र श्रीरामजी ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, मानों ज्ञान की सभा में भक्ति और सच्चिदानन्द (ब्रह्म) शरीर धारण किये हुए विराजमान हों ॥२३६॥

विशेष—(१) 'मुनि-साधु'—मुनि से मनन करनेवाले और साधु से सूधे स्वभाववाले सन्मार्गों को सूचित किया, आगे इन्हें केवल 'मंजु मुनि मंडली' से ही कहा है।

(२) 'जनु मुनिबेष कीन्ह रति-कामा'—ऊपर 'सीय सहित राजत' कहा है, उसीकी व्याख्या यहाँ है, किन्तु वेष का वर्णन श्रीरामजी का ही है और 'कीन्ह रति-कामा' से श्रीसीताजी का भी मुनि-वेष कहा गया है। आगे भी कहेंगे—"तापस-वेष जनक सिय देखी।" (दो० २८५), और पूर्व—"कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (दो० १९८) भी कहा है, जिससे श्रीसीताजी के राजसी वस्त्र आदि पाये जाते हैं जो कि वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट कहे गये हैं। इन सब प्रमाणों से पाया जाता है कि श्रीसीताजी ने तपस्विनी का कुछ चिह्नमात्र रक्खा था और साधारण वस्त्राभूषण रखना ही इनके लिये तापस-वेष है। श्रीसीताजी के विषय में 'वलकल' का 'वरकल' अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दर अर्थ होगा। व्याकरण में 'र' और 'ल' सवर्ण होने से अभेद कहे गये हैं। 'जटिल' से केश छूटे हुए और 'स्यामा' से षोड़श वर्ष तक की अवस्था का अर्थ है, यथा—"नारि बेष जे सुर बर बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा ॥" (बा० दो० ३२१), "तिन्ह के संग नारि एक स्यामा।" (अर० दो० २१), –इन स्थलों पर भी श्यामा का अर्थ पोड़शवर्षीया ही है। 'कर-कमलनि ···' से श्रीरामजी कर-कमलों में धनुष-बाण को और श्रीसीताजी कर में कमलों को फिरा रही हैं। यहाँ 'परिणाम-अलंकार' है, क्योंकि उपमेय 'कर' की क्रिया उपमान 'कमलनि' द्वारा कही गई है, तथा—"मुख ससि हरत अँधार" (अ० मं०)।

(३) 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।'– श्रीभरतजी ने पहले कहा था—"देखे बिनु रघुबीर-पद, जिय कै जरनि न जाइ।" (दो० १८२), उस जलन को इस क्रीड़ा से हर रहे हैं। यह क्रीड़ा गीतावली में भी कही गई है, यथा—"बिलोके दूरिते दोउ बीर। उर आयत, आजानु सुभग भुज, स्यामल गौर सरीर ॥१॥ सीस जटा, सरसीरुह लोचन, बने परिधन मुनि चीर। निकट निषंग संग सिय सोभित, करनि धुनत धनु तीर ॥२॥···" (अ० ६९)।

(४) "लसत मंजु मुनि-मंडली···"—मुनि लोग बहुत हैं और सब ज्ञानी हैं, इसलिये ज्ञान की सभा कही है। 'लसत' से भक्ति के साहचर्य में ज्ञान की शोभा दिखाई, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (दो० २७६), तथा—"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।" (भाग० १।५।१२), "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ॥" (दो० २९०)। ये मुनि लोग सरस ज्ञानी हैं। भक्ति-रूपा श्रीसीताजी और सच्चिदानन्द ब्रह्म-रूप श्रीरामजी हैं। माधुर्य की दृष्टि से 'जनु' शब्द से ये उपमा-रूप में कहे गये हैं कि ये तनु-धारी नहीं होते, पर यहाँ मानों शरीर धारण किये हुए (एकदेशी बने) बैठे हैं।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख-गन ॥१॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥२॥
बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने ॥३॥
बंधुसनेह सरस येहि ओरा। इत साहिब - सेवा बर जोरा ॥४॥

मिल न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकवि लखनमन की गति भनई ॥५॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥६॥

शब्दार्थ—गुदरना = निवेदन करना, पेश करना (फा०—गुजरान) वा, बीतना, पृथक् होना।

अर्थ—श्रीभरतजी भाई शत्रुघ्न और सखा गुह के साथ मन में मग्न हैं, वे हर्ष, शोक और सुख-दुःख-समूह को भूल गये ॥१॥ हे नाथ! पाहि (रक्षा कीजिये), हे गोसाईं! पाहि, ऐसा कहकर पृथ्वी पर लाठी की तरह गिर पड़े ॥२॥ (यद्यपि यह घटना श्रीलक्ष्मणजी के पीठ-पीछे हुई, तथापि) उनके प्रेम युक्त वचनों से श्रीलक्ष्मणजी ने उन्हें पहचान लिया और अपने हृदय में जान लिया कि श्रीभरतजी प्रणाम करते हैं ॥३॥ इस ओर तो भाई का स्नेह सरस (बढ़ा हुआ एवं अधिक) है और इधर स्वामी की सेवा अत्यन्त प्रबल ॥४॥ न तो जाकर मिला ही जाय और न सेवा से पृथक् होते ही बने, (वा, यह कहते नहीं बनता कि श्रीभरतजी आये हैं,) सुकवि श्रीलक्ष्मणजी के मन की दशा को इस तरह कहते हैं ॥५॥ कि वे सेवा पर भार रखकर इस प्रकार रह गये, मानों खेलाड़ी चढ़ी हुई पतंग को खींच रहा हो ॥६॥

विशेष—(१) 'बिसरे हरष-सोक···'—'गन' शब्द से हर्ष आदि अनेक तरह के बहुत-से हैं, उन सबको भूल गये। यह तुरीयावस्था है, यथा—"सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं ॥ तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥" (वि० १६७), हर्ष से सुख और शोक से दुःख का अनुभव होता है। यहाँ श्रीराम-शैल के दर्शनों पर, श्रीरामजी के आश्रम में प्रवेश करने पर और श्रीराम-चरण-चिह्न के देखने पर कई प्रकार से हर्ष हुए थे और पितामरण, माता की कुटिलता और श्रीराम-वन-गमन सुनने पर कई प्रकार से शोक हुए थे—इस समय उन सबको भूल गये।

(२) 'भूतल परे लकुट की नाईं।'—लकुट की नाईं कहकर दंडवत् की क्रिया जनाई, मनुजी की दंडवत् के प्रसंग में—'परे दंड इव' और यहाँ 'लकुट की नाईं' कहा है। दंडा मोटा होता है, वैसे मनुजी को—"हृष्ट तुष्ट तन भये सुहाये।" कहा है और श्रीभरतजी—'कृसतनु राम-बियोग' से पतली लकुटी की तरह दुबले हैं। अतः, जैसे निराधार खड़ी लकुटी गिर पड़ती है, वैसे गिर पड़े।

(३) 'पाहि नाथ कहि ·'—'नाथ' शब्द से अपना सनाथ होना चाहा एवं रक्षा चाही और 'गोसाईं' शब्द से अपनेको इन्द्रिय-परतन्त्र सूचित करते हुए इन्द्रियों के स्वामी श्रीरामजी से रक्षा चाही। 'जिय जाने' केवल हृदय से जाना, आँखों से नहीं देखा, क्योंकि उधर पीठ किये हुए थे।

(४) 'बंधुसनेह सरस येहि ओरा'—श्रीभरतजी बहुत दिनों पर मिल रहे हैं, इससे स्नेह अधिक है और इनपर क्रोध किया था, उसकी ग्लानि से भी स्नेह अधिक है।

'इत साहिब-सेवा···'—सेवा यह कि स्वामी श्रीरामजी ने कुछ पूछा था, ये अनुराग-पूर्वक उसका उत्तर दे रहे हैं, जब तक वह पूरा न हो तब तक दूसरी बात कैसे कहें? प्रभु की आज्ञा का पालन ही सेवा है, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००), 'बर जोरा' सेवा का पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसीसे—'रहे राखि सेवा पर भारू।' कहा है, यथा—"यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।" (वि० १०४)। 'चढ़ी चंग जनु···'—जब पतंग ऊँची चढ़ जाती है, तब खेलाड़ी यत्न-पूर्वक उसे खींचकर ही दूसरा काम कर सकता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की बातों का उत्तर दे रहे थे, वही चढ़ी हुई चंग है, अर्थात् उत्तर का विषय बड़ा था, पर उसे शीघ्र समाप्त करने के लिये यत्न-पूर्वक थोड़े में समाप्त करना (प्रसंग को समेटना) यह चंग का खींचना है, बात समाप्त करके तुरत कहा—'भरत प्रनाम करत···'। इस अर्थ में वाणी के साहचर्य में मन की व्यवस्था है। वा, श्रीलक्ष्मणजी खेलाड़ी हैं, उनका मन चंग है, हृदय आकाश है, बन्धु-स्नेह पवन है, श्रीरामजी की सेवा डोरी है। खेलाड़ी के हाथ से डोरी थोड़ी भी ढीली पड़ी कि वायु उसे आकाश में दूर चढ़ा ले जाता है। यहाँ ये सेवा में कुछ ढीले पड़े

(श्रीभरतजी के शब्दों की ओर कान गया) कि बन्धु-स्नेह ने मन को दूर कर दिया, फिर इन्होंने बन्धु-स्नेह की अपेक्षा स्वामी की सेवा का गौरव अधिक मानकर धीरे-धीरे मन को इधर खींचा और उसे पूर्ववत् नियुक्त कर सेवा-रूप प्रश्नोत्तर पूर्ण करके कहा—'भरत प्रनाम करत···'—जैसे खेलाड़ी चंग को स्वस्थान पर रख देता है। चंग खिचती हुई रुक-रुक कर आती है, वैसे ही मन बन्धु-स्नेह से रुक-रुक कर इधर आता है। यहाँ डोरी भी न टूटी अर्थात् सेवा न छूटी और मन सेवा में आ पहुँचा, अर्थात् चंग भी स्वस्थान पर आ गई।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥७॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥८॥

दोहा—बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलन लखि, बिसरे सबहिं अपान ॥२४०॥

अर्थ—(श्रीलक्ष्मणजी) पृथ्वी पर सिर नवाकर प्रेमपूर्वक कहते हैं कि हे श्रीरघुनाथजी! श्री भरतजी प्रमाण करते हैं ॥७॥ यह सुनकर श्रीरामजी प्रेम से उतावले होकर उठे, उनका वस्त्र कहीं गिरा, तरकस कहीं गिरा, धनुष कहीं और बाण कहीं ॥८॥ उनको 'बरबस' (बलवश, बल-पूर्वक) उठाकर कृपासागर श्रीरामजी ने अपने हृदय से लगा लिया, श्रीभरतजी और श्रीरामजी का मिलाप देखकर सभी को अपनी देह-सुधि भूल गई ॥२४०॥

विशेष—(१) 'कहत सप्रेम नाइ···'—प्रभु के सामने खड़े हुए श्रीलक्ष्मणजी प्रश्नोत्तर देने की सेवा में थे, इधर ज्यों ही श्रीभरतजी ने 'पाहि नाथ'!' कहते हुए दण्डवत् की और 'पाहि गोसाइं' कहते ही थे कि श्रीलक्ष्मणजी ने 'मन की गति' के समान शीघ्रता भी की कि अपना कथन शीघ्र पूर्ण कर पृथ्वी में झुक श्रीभरतजी का प्रणाम कहा, साथ ही झुककर श्रीरामजी की दृष्टि का व्यवधान भी छोड़ दिया कि श्रीरामजी उन्हें स्वयं देख लें और अपनी बात शीघ्र समाप्त करने की धृष्टता की क्षमा भी माँगी और निवेदन भी किया, तब श्रीभरतजी का 'पाहि गोसाइं' शब्द पूर्ण हो पाया और श्रीरामजी अधीर हो उठ दौड़े।

(२) 'उठे राम सुनि प्रेम···'—प्रेम की अधीरता की दशा उत्तरार्द्ध में कही गई है। पुनः, यथा—"सुमिरत सुलभ, दास दुख सुनि, हरि चलत तुरत, पट पीत सँभार न। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपद सुता अरु बारन ॥" (वि० २०६),

(३) 'कृपानिधान', यथा—"तुलसिदास दसा देखि भरत की उठि धाये अतिहि अधीर। लिये उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरह-जनित हरि पीर ॥" (गी० अ० ६९), "परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए ॥" (उ० दो० ४),

(४) 'बिसरे सबहिं अपान', यथा—"बनबासी पुरलोग महा मुनि किये हैं काठ के से कोरि।" (गी० अ० ७०)।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी ॥१॥
परम - प्रेम - पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहिमिति बिसराई ॥२॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई ॥३॥
कविहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा ॥४॥
अगम सनेह भरत-रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि-हरि-हर को ॥५॥

सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडरताँती ॥६॥

शब्दार्थ—गाँडर (सं० गण्डाली) = मूँज की तरह की एक घास, गण्ड-दूर्वा। ताँत = भेड आदि के चमड़े, नस आदि की डोरी, सारंगी आदि के तार, यथा—"बूझ्यों राग बाजी ताँति" (वि० २३४)।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीभरतजी के मिलने की प्रीति कैसे कही जाय? वह तो कवि-समाज के लिये कर्म-मन-वचन (तीनों) से अगम्य है ॥१॥ दोनों भाई परम-प्रेम से पूर्ण हैं, उन्होंने अपने-अपने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भुला दिया है ॥२॥ कहिये, उस सुन्दर प्रेम को कौन प्रकट करे? कवि की बुद्धि किसकी छाया का अनुसरण करे? ॥३॥ कवि को तो अर्थ और (उसके मूल) अक्षर का ही सच्चा बल रहता है, (जैसे) नर्तक नट ताल की गति के अनुसार ही नाचता है ॥४॥ श्रीभरतजी और रघुवर श्रीरामजी का स्नेह अगम है, जहाँ ब्रह्मा-विष्णु और महेश का मन भी नहीं जा सकता ॥५॥ उस प्रेम को मैं दुर्बुद्धि किस तरह कहूँ? क्या गाँडर (घास) की ताँत से कहीं अच्छा राग बज सकता है? ॥६॥

विशेष—(१) 'मिलनि प्रीति किमि ·····'—इसीके विस्तार-रूप में आगे की पाँचो अर्द्धालियाँ हैं। उस प्रीति के स्मरण से कवियों के मन आदि अपने-अपने धर्म भूल जाते हैं, इसीसे उसका वर्णन नहीं हो सकता।

(२) 'परम-प्रेम-पूरन दोउ···'—श्रीभरतजी अन्तःकरण-चतुष्टय को भूल भी जायँ, पर श्रीरामजी परब्रह्म हैं, वे कैसे भूले? इसका समाधान यह है कि भगवान् भक्तों के भाव के प्रति तदनुसार ही बर्ताव करते हैं, यह नियम है, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)। अन्तःकरण से परे आत्मा की चेतनता-मात्र शेष रही। 'केहि छाया···', यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ॥" (बा० दो० २४१)। वा 'केहि कवि मति छाया (भी) अनुसरई' अर्थात् किस कवि की बुद्धि में साहस है कि इस प्रेम की छाया का भी स्पर्श कर सके, कहना तो दूर की बात है, तथा—"सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काहु छलि छुवसि न छाँही॥" (दो० २८७)।

(३) जहँ न जाइ मन बिधि ·····'—त्रिदेवों की वृत्तियाँ अपने-अपने गुणों तक रहती हैं, पर यह प्रीति त्रिगुणातीत है, यह सूचित किया, यथा—"बिधि हरिहर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥" (बा० दो० २), तब साधु शिरोमणि श्रीभरतजी और उनके इष्ट की महिमा एवं प्रीति को ये कैसे कह सकते हैं?

(४) 'सो मैं कुमति कहउँ·····'—भेड़ की नसों की ताँत एवं तार हो तो उससे सुन्दर राग भी निकले, घास की बटी हुई ताँत तो कमानी रगड़ते ही टूट जाती है। गाँडर का अर्थ भेड़ भी होता है। इससे भी भाव होगा कि क्या भेड़ (गाँडर) की ताँत है कि उससे सुराग निकले, यह तो गाँडर (घास) की ताँत है। अतः, इससे कुछ आशा नहीं। अपनी कुबुद्धि को गाँडर (घास) से उपमा दी है।

(५) 'कविहि अरथ आखर बल·····'—दोनों भाई अपनी-अपनी दशा के प्रकट करने में मौन हैं, तो उसे कवि कैसे कहे, जब कि इसे अक्षर और अर्थ का बल नहीं मिल रहा है। जैसे नट ताल पर नाचता है, वैसे कवि भी अर्थ-अक्षर के बल पर ही कुछ कह सकता है। प्रेम का स्वरूप ही अनिर्वचनीय है, यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।" (नारदभक्ति सूत्र)। प्रेम का चित्र शब्द और उसके अर्थ की सामग्री से बन ही नहीं सकता, तो कवि-रूपी नट अपनी गति किस आधार से प्रकट करे।

मिलनि बिलोकि भरतरघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी ॥७॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥८॥

दोहा—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि, केवट भेंटेउ राम।
भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम ॥२४१॥

शब्दार्थ—धकधकी = कलेजा, वा धक-धक होना। धड़कना = धक-धक करना। जागना = सावधान होना।

अर्थ—श्रीभरतजी और रघुवर श्रीरामजी का मिलना देखकर देवता लोग डर गये और उनके कलेजे धड़कने लगे ॥७॥ जब देव-गुरु बृहस्पतिजी ने समझाया तब वे मूर्ख सचेत हुए और फूल की वर्षा कर प्रशंसा करने लगे ॥८॥ प्रेम-पूर्वक श्रीशत्रुघ्नजी से मिलकर श्रीरामजी ने केवट से भेंट की, अर्थात् उससे गले लगाकर मिले। श्रीलक्ष्मणजी को प्रणाम करते हुए देखकर श्रीभरतजी ने भी अत्यन्त प्रेम से उनसे भेंट की ॥२४१॥

विशेष—'मिलनि बिलोकि भरत·····'—पूर्व—'भरत राम की मिलनि लखि' पर से मिलने का प्रसंग छोड़ छः अर्द्धालियों में प्रीति का वर्णन किया, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लिया। अतः, इतनी देर बेसुध मिले रहे, यह सूचित किया। जब देवताओं ने देखा कि श्रीरामजी तो स्वयं श्रीभरतजी के स्नेह में तन-मन भूल गये, तब उनका कलेजा धड़कने लगा, वे मूर्च्छित हो गये कि अब तो अवश्य ही श्रीभरतजी के कहने से लौट जायँगे। तब गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर सचेत हुए। अज्ञान के कारण देवता 'जड़' कहे गये। सोने में मनुष्य जड़ के समान हो ही जाता है, उसका जगना ही सचेत होना है, यथा—"जरठाइ दिसा, रवि काल उग्यो, अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे।" (क० उ० ३१)। देवताओं की मोह-निशा बीती और उनके ज्ञान-रूपी सूर्य का उदय हुआ।

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥१॥
पुनि - मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥२॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा ॥३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर - कमल परसि बैठाये ॥४॥
सीय असीस दीन्हि मन माँही। मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—ललकि = प्रबल उत्साह से, चाव सहित। अनंदे = सुखी हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी अपने छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी से ललककर मिले, फिर निषादराज गुह को अपने हृदय से लगाया ॥१॥ फिर दोनों भाइयों (श्रीभरत-शत्रुघ्न) ने मुनिगणों की वन्दना की, वे उनसे मनोवांछित आशिष पाकर आनन्दित हुए ॥२॥ भाई के साथ श्रीभरतजी ने प्रेम से उमँगकर श्रीसीताजी के चरण-कमलों की धूलि को शिरोधार्य किया ॥३॥ फिर-फिर (बार-बार) प्रणाम करते हुए (श्रीसीताजी ने) उनके सिर पर हस्त-कमल फिरा कर उन्हें उठाकर बैठाया ॥४॥ श्रीसीताजी ने मन में आशिष दी, वे स्नेह में मग्न हैं, उन्हें अपनी देह की भी सुध नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'भेंटेउ लखन ललकि·····'—उपर्युक्त 'लछिमन करत प्रनाम' के अनुरोध से यहाँ लगा लेना चाहिये कि श्रीशत्रुघ्नजी के प्रणाम करने पर श्रीलक्ष्मणजी ललककर उनसे मिले। श्रीलक्ष्मणजी को चाव इससे है कि हमारा भाई परम भागवत् की सेवा में हैं अतएव परम भाग्यवान् है। 'निषाद' शब्द से उर लगाने में उसका भाग्य दिखाया।

(२) 'पुनि मुनिगन दुहुँ·····'—मुनिगण भी श्रीरामजी के साथ कुछ उधर ही बढ़ गये थे, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजी के पीछे श्रीसीताजी को ही प्रणाम करते।

(३) 'अभिमत आसिष'—जैसे कि श्रीभरतजी ने त्रिवेणी में माँगा था, यथा—"जनम जनम रति

राम पद, यह बरदान न आन ॥" (दो० २०४), एवं—"सीय राम पद सहज सनेहू ।" (दो० १९६), वह श्रीगंगाजी से माँगा था । वही इनका अभिमत था, वैसी ही आशिष पा सुखी हुए ।

श्रीरामजी विह्वल हो गये थे—'प्रेम अधीरा' कहा गया है, पर श्रीसीताजी सावधान रहीं, इसीसे प्यार और आश्वासन-सूचक मुद्रा से सिर पर हाथ फेरा, यथा—"सिर परसे प्रभु निज कर कंजा ।" (बा० दो० १४७), "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ । दीन दयाल सकल दुख हरेऊ ॥" (उ० दो० ८२) । फिर भी आशिष देती हुई स्नेह में मग्न हो गईं, इससे मन ही में आशिष दी । यहाँ मुनिगण हैं, उनके संकोच से भी मन ही में आशिष दी है, तथा—"तुलसी मन ते जो बनै, बनी बनाई राम ।" (दोहावली १५४)।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता । भे निसोच उर अपडर बीता ॥६॥
कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा । प्रेम भरा मन निजगति छूछा ॥७॥
तेहि अवसर केवट धीरज धरि । जोरि पानि बिनवत प्रनाम करि ॥८॥

दोहा—नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु सकल पुरलोग ।
सेवक सेनप सचिव सब, आये बिकल बियोग ॥२४२॥

शब्दार्थ—अपडर = झूठा भय । छूछा = खाली ।

अर्थ—सब प्रकार से श्रीसीताजी को अपने सानुकूल देखकर श्रीभरतजी शोच-रहित हो गये और झूठा भय (कि मेरे निमित्त इनके पति का अपमान हुआ, इससे रुष्ट होंगी—यह कल्पित भय) जाता रहा ॥६॥ उस समय न तो कोई कुछ कहता है और न कोई (कुसल-वार्त्ता आदि) पूछता है, सबका मन प्रेम से भरा हुआ है और इसीसे वह अपनी गति (चंचलता रूपी चाल) से खाली हो गया है ॥७॥ उस समय पर केवट धैर्य धरकर और हाथ जोड़ प्रणाम करके प्रार्थना करने लगा ॥८॥ हे नाथ ! मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी के साथ सब आपकी माताएँ, नगर-निवासी, सेवक, सेनापति और मन्त्री—ये सब आपके विरह से व्याकुल होकर आये हैं ॥२४२॥

विशेष—(१) 'भे निसोच···'—श्रीरामजी तो अपने अपराध पर रिसाते ही नहीं, यथा—"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ । निज अपराध रिसाहिं न काऊ ॥" (दो० २१७) । पर ये पतिव्रता-शिरोमणि हैं, अतएव पति के अपमान पर अवश्य रुष्ट होंगी—यह भय जाता रहा । 'सब बिधि सानुकूल···'—श्रीभरतजी ने तन-मन से प्रणाम किये हैं—'उमँगि अनुरागा'—मन से, 'सिर धरि···'—रज सिर पर धरना—तन से । वैसे ही श्रीसीताजी ने भी किया—'सिर कर कमल परसि··'—तन से, 'सीय असीष दीन्हि मनमाँहीं । भगत सनेह···'—मन से । अपने हाथ से सिर-स्पर्श किया, बैठाया और आशीर्वाद दिया और स्नेह में निमग्न हो देह सुधि भुला दी । अतः, सब प्रकार प्रसन्न जाना ।

(२) 'तेहि अवसर केवट धीरज धरि···'—इस प्रसंग में 'केवट' शब्द तीन बार (आदि, मध्य और अन्त में) आया है, यथा—"तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई ।" यह आदि में, "केवट भेंटेउ राम"—यह मध्य में और 'केवट धीरज धरि' यह अन्त में कहा गया है । इसका तात्पर्य यह है कि श्रीजनकजी के आगमन पर करुणा एवं स्नेह नदी का विस्तृत रूपक कहना है । वही भाव यहाँ भी दिखाने के लिये 'केवट' शब्द दिया, क्योंकि नदी से पार करना केवट का काम है । अतएव उसे धैर्य भी चाहिये ही, अन्यथा सभी डूब जायँ, यथा—"करनधार तुम्ह···धीरज धरिय त पाइय पारू । नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू ॥" (दो० १५३) । यहाँ चारो भाई स्नेह-नदी में निमग्न हो रहे हैं और उधर अवधवासी भी शोक-समुद्र में डूब रहे हैं, केवट के इस धैर्य-पूर्वक कथन से सभी पार होंगे । 'तेहि अवसर···'—केवट ने ठीक

अवसर से कहा, क्योंकि मिलना हो गया। अब कुशल-प्रश्न होने लगेगा तो राजा का मरण आदि कैसे छिपाये जा सकेंगे और कहने पर श्रीरामजी आदि शोक से व्याकुल हो जायँगे, फिर इन्हें समझावेगा कौन? अतएव गुरुजी और माताओं के आने पर यह बात प्रकट हो, इसलिये केवट ने अवसर सँभाला और धैर्य धारणकर प्रार्थना की।

(३) 'नाथ साथ मुनिनाथ के···'—श्रीवसिष्ठजी इस समय उधर प्रधान हैं और चक्रवर्त्ती जी के स्थान पर हैं, इससे उनके संग माता आदि का आना कहा, राजकुमार के साथ न कहा। निषादराज ने देखा था—"आगे मुनिबर बाहन आछे" (दो० २२०), तथा प्रथम मिलने में भी—"देखि दूरि ते··· कीन्ह मुनीसहिं दंड प्रनामू॥" (दो० १९२)—आगे मुनि को ही पाया था, तदनुसार मुनिनाथ के साथ सबका आना कहा। पुनः श्रीभरतजी तो इस समय यहाँ ही हैं और वे लोग गुरुजी के ही साथ हैं। श्रीरामजी को स्नेह-सरित से तुरत निकालने के लिये भी मुनि का नाम कहा कि गुरु एवं माता आदि से मिलने के लिये सावधान हो जायँ और चलें, यही निषाद का केवट-कर्म है।

(४) गुरु-पुरजन आदि केवट को श्रीलक्ष्मणजी के समान मानते आये, पूर्व लिखा गया है। इस समय यह सबसे श्रीरामजी को मिलाने में श्रीलक्ष्मणजी के समान कार्य कर रहा है।

सीलसिंधु सुनि गुरु-आगवनू। सियसमीप राखे रिपुदवनू॥१॥
चले सबेग राम तेहि काला। धीर-धरमधुर दीनदयाला॥२॥
गुरुहिं देखि सानुज अनुरागे। दंडप्रनाम करन प्रभु लागे।३॥
मुनिबर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई॥४॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंडप्रनामू॥५॥

अर्थ—शील-सागर श्रीरामजी ने गुरुजी का आगमन सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी को श्रीसीताजी के समीप (उनकी रक्षा में) रक्खा॥१॥ उस समय धीर, धर्म-धुरन्धर और दीनदयालु श्रीरामजी वेग से चले॥२॥ गुरुजी को देखकर भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु श्रीरामजी अनुरक्त हो गये और दण्डवत्-प्रणाम करने लगे॥३॥ मुनि-श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने दौड़कर उनको अपने हृदय से लगा लिया और प्रेम से उमँग कर दोनों भाइयों से मिले॥४॥ केवट ने प्रेम से पुलकित होकर अपना नाम कह दूर से ही दण्डवत्-प्रणाम किया॥५॥

विशेष—(१) 'सीलसिंधु सुनि···'—शील-गुण सदाचार में प्रवृत्त कराता ही है। अतः, धैर्य धरकर चले। श्रीशत्रुघ्नजी को श्रीसीताजी की रक्षा में रक्खा, क्योंकि वे शत्रु-दमन में समर्थ हैं और छोटे हैं। फिर श्रीभरतजी को रखने पर पुरजनों को सन्देह हो जायगा कि श्रीभरतजी को त्याग तो नहीं दिया। श्रीलक्ष्मणजी तो अपनी तरह मिलने को आतुर हैं ही। श्रीसीताजी को साथ नहीं लिया, क्योंकि सवेग चलकर शीघ्र मिलना है।

(२) 'चले सबेग राम···'—सब हमारे वियोग में विकल होकर आये हैं, इसलिये धैर्य धारण करके चले। सबकी व्याकुलता पर दया-दृष्टि है, इससे 'दीनदयाला' कहा है। 'सबेग' से श्रद्धा की विशेषता सूचित की। गुरु-भक्ति-रूप धर्म पर आरूढ़ हैं, इससे 'धरमधुर' कहा है।

(३) 'गुरुहिं देखि सानुज अनुरागे।···'—गुरु में अनुराग होना ही चाहिये, यथा—"परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। गुरु जहाँ से देख पड़ें, वहीं से दण्डवत करना चाहिये।

(४) मुनिबर धाइ लिये ···'—इधर प्रभु 'धरमधुर' हैं, अपने धर्म का पालन करते हैं, तो उधर

मुनि-श्रेष्ठ भी कोरे (रुक्ष) ज्ञानी नहीं हैं, किन्तु सरस ज्ञानी हैं, प्रेम से दौड़कर उठा लिया। 'धाइ' से मुनि का कुछ दूर रहना जाना गया।

(५) 'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।...'—यह अभी गुरुजी के पास से श्रीभरतजी के साथ ही आया था, श्रीभरतजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया, तब इसने क्यों किया? इसका समाधान 'प्रेम पुलकि' से हो जाता है कि यह श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को प्रणाम करते देखकर प्रेम उमड़ने से भूल गया कि मैं तो अभी ही वहाँ से आया था, किन्तु उनके साथ फिर प्रणाम किया, क्योंकि स्वामी तो प्रणाम करें और वह कैसे न करे? अपनेको नीच जानकर दूर से ही प्रणाम किया, पर मुनि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देते हैं, प्रेम में मर्यादा भूल जाते हैं। यह भी भाव है कि वह श्रीरामजी का सखा है। इस भाव से उनके साथ प्रणाम किया है, फिर ऋषि एक को उर लगावें, दूसरे को क्यों नहीं? 'केवट' शब्द उसकी जाति की न्यूनता का सूचक है।

राम - सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥६॥
रघुपति - भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरषहिं फूला ॥७॥
येहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ-सम को जग माहीं ॥८॥

दोहा—जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति - भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥२४३॥

शब्दार्थ—लुठत = भूमि पर लोटते हुए। बरबस = जोरावरी से (दोनों हाथों से उसे उठाकर)।

अर्थ—ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामजी के सखा निषादराज से जोरावरी से भेंट की, अर्थात् बलात् उसे उठाकर हृदय लगाया, मानों भूमि पर लोटते हुए स्नेह को समेट (बटोर) लिया हो ॥६॥ श्रीरघुनाथ जी की भक्ति सुन्दर मंगलों की जड़ है, (इस तरह) प्रशंसा करके देवता गण आकाश से फूल बरसाते हैं ॥७॥ (वे कहते हैं कि) इसके समान अत्यन्त नीच कोई नहीं है और श्रीवसिष्ठजी के समान जगत् में बड़ा कौन है अर्थात् कोई नहीं है ॥८॥ जिसको देखकर श्रीलक्ष्मणजी से भी अधिक आनन्द पूर्वक मुनिराज उससे मिले, यह श्रीसीता-पति के भजन का प्रकट प्रताप एवं प्रभाव है ॥२४३॥

विशेष—(१) 'राम-सखा रिषि बरबस भेंटा।'—शृंगवेरपुर में मुनि का मिलाप नहीं कहा गया, क्योंकि वह श्रीभरतजी के प्रति दुर्भाव से परीक्षा के लिये आया था और श्रीवसिष्ठजी रथ पर थे। वे श्रीरामजी के लिये भी रथ से नहीं उतर सकते, फिर यह तो श्रीरामजी का सखा ही है। श्रीभरतजी का वहाँ मिलना योग्य था, क्योंकि 'राम-सखा' को श्रीरामजी के तुल्य मानना योग्य ही था। यहाँ श्रीवसिष्ठजी भूमि पर हैं और इसने श्रीरामजी के साथ उनकी सखात्व-दृष्टि से दंडवत् की। श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामजी को 'धाइ' कर हृदय लगाया तो उनके सखा को क्यों न 'बरबस' हृदय लगावें? वहाँ 'धाइ' तो यहाँ 'बरबस' कहा गया है। पुनः शृङ्गवेरपुर में इससे श्रीभरतजी के मिलने पर देवताओं ने कहा था—"येहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा॥ करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥" (दो० १९३), सम्भवतः इसे वहाँ श्रीवसिष्ठजी ने अपने पर कटाक्ष समझा था। अतः, उस त्रुटि का यहाँ मार्जन किया। पुनः यहाँ के मिलने में केवट में 'प्रेम पुलकि' की अधिकता है इससे भी मुनि का झुकाव अधिक हो गया। तथा शृङ्गवेरपुर में यह श्रीरामजी के लिये प्राण देने को प्रस्तुत था एवं उसका सहज-स्नेह भी देखा। अतः, यहाँ मुनि का प्रेम उसपर अधिक हो गया। 'जनु महि लुठत सनेह समेटा।'—स्नेह चिकने पदार्थ तेल आदि को भी कहते हैं। चिकनी वस्तु शीघ्र हाथ में नहीं आती। इसी

तरह वह बराबर हटता जाता है और ऋषि उसे दोनों हाथों से पकड़कर उठाने का प्रयास करते हैं। इनके समेटने से उसका संकुचित होना एवं पीछे हटना जाना गया।

(२) 'जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक ··'—पहले इसे 'राम-प्रिय' श्रीलक्ष्मणजी के समान माना था, यथा—"जानि राम-प्रिय दीन्हि असीसा।" (दो० १९२), यहाँ श्रीरामजी के साथ है और उनका सखा है, यह जानकर श्रीलक्ष्मणजी से भी अधिक माना, अर्थात् श्रीरामजी के समान माना। यह श्रीरामजी के रुख के अनुसार है, यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥" (वि० १६४), इसीको उत्तरार्द्ध से स्पष्ट किया गया है—

(३) 'सो सीतापति-भजन को···'—प्रायः जहाँ श्रीरामजी का अधिक परत्व कहना होता है, वहाँ ग्रन्थकार उन्हें 'सीतापति', 'सीतानाथ' आदि शब्दों से श्रीसीताजी के सम्बन्ध द्वारा कहते हैं। श्रीसीताजी—"उद्भवस्थितिसंहारकारिणी···" हैं, इनका प्रभाव, यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" दो० १०२), "जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत···" (उ० दो० २४), ये भी जिन्हें अपना स्वामी मानें तो उसका कितना महत्त्व होगा? यथा—"श्रियोरमणसामर्थ्यात्सौन्दर्यगुणसागरात्। श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्तितम्॥" (हारीतस्मृति), (ऐसे प्रभु) श्रीरामजी का जो भजन करता है और उनकी कृपा का पात्र है, उसकी बड़ाई में जो भी कहा जाय थोड़ा ही है। भजन के प्रताप से ही श्रीवसिष्ठजी उससे बरबस मिले और भजन ही के प्रभाव से वह पवित्र माना गया, यथा—"विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥" (भाग० ७।९।१०), अर्थात् बारहो गुणों से पूर्ण ब्राह्मण भी यदि हरि-चरण-विमुख हो तो उससे उस श्वपच को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसका मन, वचन और कर्म एवं प्राण भगवान् को अर्पित है। यह चाण्डाल अपने कुल भर को पवित्र कर देता है, किन्तु वह बड़ा अभिमानी विप्र यह नहीं कर सकता।

आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥१॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥२॥
सानुज मिलि पल महँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥३॥
येहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं॥४॥

अर्थ—करुणा की खान, सुजान, भगवान् श्रीरामजी ने सब लोगों को दुखी जाना॥१॥ इससे जो-जो जिस भाव से (मिलने के) इच्छुक थे, उन-उनकी उसी-उसी तरह रुचि रक्खी॥२॥ भाई के साथ सब किसीसे पल-भर में मिलकर दुःख से होनेवाली उनकी कठिन जलन को मिटा दिया॥३॥ श्रीरामजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, जैसे एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब करोड़ों (जलपूर्ण) घड़ों में दिखाई देता है॥४॥

विशेष—(१) 'आरत लोग राम सब···'—'राम' हैं, इसीसे 'जाना', क्योंकि सबमें रमण करते हैं। 'करुनाकर' हैं, इसीसे सब दुःखियों पर दया आई, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥" (दो० ८४)। करुणा हो, पर आश्रितों की व्यवस्था न जाने, तो भी कार्य नहीं चलता। अतः, ये 'सुजान' भी हैं। जानकर भी पोषण का सामर्थ्य न हो, तो भी जानना व्यर्थ है। अतः, ये भगवान् (षडैश्वर्यवान्) भी हैं।

(२) 'जो जेहि भाय रहा···'—कोई पुत्र भाव, कोई सखा भाव, कोई राजा भाव, कोई शिष्य भाव आदि के थे, उनकी रुचि के अनुसार ही, किन्तु उसी उदासीन वेष से मिले, दूसरा रूप नहीं धारण

किया, क्योंकि १४ वर्ष इसी वेष में रहने की प्रतिज्ञा की है। इसीसे वैसी ही उपमा—'जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं' की दी गई है। इसमें सबके भाव घट और श्रीरामजी रवि हैं। उत्तरकाण्ड के मिलाप में अनेक रूप हुए, क्योंकि १४ वर्ष पूर्ण हो चुके थे।

(३) 'जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं', यथा—"एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" (ब्रह्मबिन्दु १२), तथा—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन्ह तैसी॥" (बा० दो० २४०), उसी एक रूप से ही अपने सत्य संकल्प गुण द्वारा अनेक होकर मिले, वे अनेक प्रतिरूप प्रतिबिम्बवत् ही हैं। जल से भरे हुए घड़े में ही सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। वैसे यहाँ सब के मन घट हैं और भावपूर्ण प्रेम जल है, यथा—"घट ज्यों जिनके मन आँच आँचे।" (क० उ० ११८), "प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥" (उ० दो० ४८)।

मिलि केवटहि उमँगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥५॥
देखीं राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि-अवली हिम-मारी॥६॥
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई॥७॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥८॥

दोहा—भेंटी रघुबर मातु सब, करि प्रबोध परितोष।
अंब ईस-आधीन जग, काहु न देइय दोष॥२४४॥

अर्थ—अनुराग से उमड़कर केवट से मिलकर सब अवध-पुरवासी अपने-अपने भाग्य की बड़ाई करते हैं॥५॥ श्रीरामजी ने दुखी-माताओं को देखा (वे ऐसी हो रही हैं) मानों पाले की मारी हुई सुन्दर वेलों की पंक्तियाँ हैं॥६॥ पहले श्रीरामजी कैकेयी से मिले, ये सीधे स्वभाव के हैं, मातृ-भक्ति रस में इनकी बुद्धि भींगी हुई है॥७॥ चरणों पर पड़कर फिर काल, कर्म और ब्रह्मा के सिर पर दोष रखकर उनको समझाया॥८॥ श्रीरघुनाथजी सब माताओं को विशेष समझा और प्रसन्न करके उनसे मिले, (और बोले कि) माता! जगत् ईश्वर के अधीन है। अतः, किसीको दोष न दीजिये॥२४४॥

विशेष—(१) 'मिलि केवटहि उमँगि···', यथा—"कहहिं लहेहु येहि जीवन लाहू। भेंटेउ राम भद्र भरि बाहू॥ सुनि निषाद निज भाग बड़ाई॥" (दो० १९५), ऐसा शृंगवेरपुर में हुआ था। पर वहाँ पुरवासी लोग इससे न मिले थे। यहाँ तो गुरुजी ने मार्ग खोल दिया, इससे सब कोई इससे मिलने में अपना अहोभाग्य समझते हैं और अपना भाग्य सराहते हैं।

(२) 'जनु सुबेलि-अवली'—यहाँ पान की लता समझना चाहिये, क्योंकि वह बड़ी नाजुक होती है और उसकी बड़ी सार-सँभार होती है, यथा—"कनक-कलपबर-बेलि बन, मानहुँ हनी तुषार॥" (दो० १६३)।

(३) 'सरल सुभाय भगति मति भेई।', यथा—"तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी काय मन बानी हूँ न जानी कै मतेई है।" (क० अ० ३), विधि-माया-वश कैकेयी की चूक को आपने नहीं देखा, यथा—"रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥" (बा० दो० २८)।

(४) 'काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'—काल का फेर था कि अभिषेक की तैयारी होने पर आपकी मति फिर गई। कर्म का फल है, समय पाकर इसी बहाने से उदय हुआ, (तापस अन्ध का शाप कर्म से ही हुआ था)। यह सब ब्रह्मा की करनी है, नहीं तो क्या उसी समय चेरी की बुद्धि फिरती और वह आपको उल्टा बोध कराती? 'काल, करम और बिधि' की प्रबलता, यथा—"भवितव्यं तथा तच्च नानु-

शोचितुमर्हसि। दैवं प्रजाविशेषेण को निवर्त्तितुमर्हति॥ विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्त्तते। कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे॥ कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः॥ कालो हि कुरुते भावान्सर्वलोके शुभाशुभान्॥" (महा० आदि० १।२४६-२४९)।

(५) 'अंब ईस-आधीन जग ···'—माताएँ कैकेयी को दोष देने लगीं, उसपर यह कहा है। 'ईस', यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१)। उपर्युक्त काल-कर्म आदि का भी नियन्ता ईश्वर ही है, यथा—"माया, जीव, काल के करम के सुभाय के करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये॥" (हनु० बाहुक ४९), ज्योतिषी काल का और मीमांसक कर्म का दोष कहते हैं, ब्रह्मा तो कर्मानुसार ही विधान करते हैं। ये भी श्रीरामजी के ही आश्रित हैं, यथा—"बिधिहि बिधिता जेहिं दई। सोइ जानकीपति···" (वि० १३५), अभिप्राय यह है कि हमें ऐसा ही करना था।

गुरु - तिय-पद बंदे दुहु भाई। सहित बिप्रतिय जे संग आई॥१॥
गंग-गौरि - सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदु बानी॥२॥
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका॥३॥
पुनि जननी-चरनन्हि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता॥४॥
अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये॥५॥
तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू॥६॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुरु सन कहेउ कि धारिय पाऊ॥७॥
पुरजन पाइ मुनीस-नियोगू। जल थल तकि तकि उतरे लोगू॥८॥

दोहा—महिसुर मंत्री मातु गुरु, गने लोग लिये साथ।
पावन आश्रम गवन किय, भरत लखन रघुनाथ॥२४५॥

अर्थ—दोनों भाइयों ने संग में आई हुई ब्राह्मणों की स्त्रियों के साथ गुरु-पत्नी के चरणों की वन्दना की॥१॥ उन सबों का गंगाजी तथा गौरीजी के समान सम्मान किया, वे सब प्रसन्न होकर कोमल वाणी से आशीर्वाद देने लगीं॥२॥ चरण पकड़ (प्रणाम) कर श्रीसुमित्राजी की गोद में जा लगे, मानों अत्यन्त कंगाल को सम्पत्ति से भेंट हुई॥३॥ फिर दोनों भाई माता कौसल्याजी के चरणों में गिर पड़े, इनके सब अंग प्रेम से व्याकुल हैं॥४॥ अत्यन्त अनुराग से माता ने हृदय से लगाया और नेत्रों के प्रेमाश्रुओं से उन्हें नहला दिया॥५॥ उस समय के हर्ष और शोक को कवि कैसे कहे? जैसे गूँगे का स्वाद (कथन अशक्य है)॥६॥ श्रीरघुनाथजी ने भाई के साथ माता से मिलकर गुरुजी से कहा कि (आश्रम पर) पधारिये॥७॥ मुनीश्वर श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर पुरवासी लोग जल, स्थल (अनुकूल) देख-देखकर उतरे (डेरा डाला)॥८॥ ब्राह्मण, मन्त्री, माता और गुरु आदि गिने (मुख्य-मुख्य कुछ) लोगों को साथ लिये हुए श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरघुनाथजी पवित्र आश्रम को गमन किये॥२४५॥

विशेष—(१) 'गंग-गौरि-सम···'—इन ब्राह्मणों की स्त्रियों में जो वैष्णवी हैं, उन्हें गंगा सम और शैव ब्राह्मणों की स्त्रियों को गौरि सम मानना जानना चाहिये। बिदाई के समय भी कहा गया है—"मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किये हरिहर सम जाने॥" (दो० ३१८)। कोई-कोई कहते हैं कि विधवाओं को गंगा सम और सधवाओं को गौरी सम मानना है।

(२) श्रीसुमित्राजी और श्रीकौसल्याजी से पीछे मिले, क्योंकि ये इन (श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी) की अपनी माता हैं, शेष विमाताओं से पहले मिले, क्योंकि शास्त्र में अपनी माता से दश गुणा विमाता का गौरव कहा है। यह भी भाव है कि ये दो मुख्या हैं, इससे पीछे मिले, क्योंकि आवरण के देवताओं की पूजा करने के पीछे प्रधान की पूजा होती है। यहाँ राम-लक्ष्मण रंक हैं और सुमित्रा का अंक सम्पत्ति है।

(३) 'तेहि अवसर कर···'—हर्ष मिलने का और विषाद श्रीरामजी आदि के उदासीन वेष देख एवं राजा की मृत्यु स्मरण करने से है। 'मूक जिमि स्वादू'—जैसे गूँगा उत्तम वस्तु खाकर स्वाद का अनुभव करता हुआ भी उसे कह नहीं सकता, क्योंकि वह बोल नहीं सकता। वैसे ही माताएँ अवाक् हो गई हैं। उनका अनुभव उनके ही हृदय में रह गया, कवि उसका अनुभव भी नहीं कर सकता, तो कहे कैसे ?

(४) 'जल थल तकि···'—अपने-अपने ठहरने के योग्य स्थल और उपयुक्त जल का सुपास देखकर ठहर गये, क्योंकि श्रीरामजी के आश्रम के पास मुनियों के आश्रम हैं, जिससे उन्हें कष्ट न हो और वहाँ थोड़ी जगह में सब समा भी नहीं सकते थे। मुनि ने यह सब समझकर ऐसी आज्ञा दी है।

सीय आइ मुनिबर - पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी ॥१॥
गुरुपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेम कहि जाइ न जेता ॥२॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के ॥३॥
सासु सकल जब सीय निहारी। मूँदे नयन सहमि सुकुमारी ॥४॥
परी बधिकबस मनहु मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली ॥५॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिय जो दैव सहावा ॥६॥
जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील-नलिन-लोयन भरि नीरा ॥७॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥८॥

दोहा—लागि लागि पग सबनि सिय, भेंटति अति अनुराग।
हृदय असीसहिं प्रेमबस, रहियहु भरी सोहाग ॥२४६॥

शब्दार्थ—भरी सोहाग = सिंदूर सौभाग्य का चिह्न है, उसका माँग में भरना (लगाना) सुहाग भरना है, इसके बिना स्त्रियाँ विधवा समझी जाती हैं।

अर्थ—श्रीसीताजी आकर मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी के चरणों में लगीं और उन्होंने स्व-इच्छित उचित असीसें पाईं ॥१॥ मुनियों की स्त्रियों के साथ गुरु-पत्नी-श्रीअरुन्धतीजी से मिलीं, (उनका मिलने में) जितना प्रेम है, उतना कहा नहीं जाता ॥२॥ (श्रीसीताजी ने) सभी के चरणों की (पृथक्-पृथक्) वन्दना करके उनसे अपने जी को प्यारे लगनेवाले आशीर्वाद पाये ॥३॥ (श्रीसीताजी ने) जब सासों को देखा तब डरकर उन सुकुमारी ने नेत्र बन्द कर लिये (सासों की वह विधवा-दशा देखी न गई) ॥४॥ (श्रीसीताजी ऐसी डरी हुई हैं कि) मानों हंसिनी व्याधा के वश में पड़ी हो (श्रीसीताजी हृदय में शोचती हैं कि) विधाता ने यह क्या कुचाल की है ? ॥५॥ उन सासों ने भी श्रीसीताजी को देखकर बहुत ही दुःख पाया (और वे शोचती हैं कि) जो कुछ दैव सहाता है, वह सहना ही होता है ॥६॥ तब

जनकपुत्री श्रीसीताजी ने धैर्य धारण किया और नीलकमल के समान नेत्रों में आँसू भरकर ॥७॥ सब सासों से जाकर मिलीं, पृथ्वी पर उस समय करुणा छा गई ॥८॥ सब (सात सौ सासों) के चरणों में लग-लगकर श्रीसीताजी बड़े ही अनुराग-पूर्वक मिल रही हैं, वे सब प्रेमवश हैं, हृदय से आशिष देती हैं: कि तुम सौभाग्य से भरी-पूरी (अखण्ड-सौभाग्यवती) रहोगी ॥२४६॥

विशेष—(१) 'उचित असीस·····'—'पति प्रिय होहू', 'होइ अचल तुम्हार अहिबाता।' आदि। पतिव्रता स्त्रियाँ पति की ही अचलता एवं प्रियत्व चाहती हैं, यथा—"प्रान नाथ देवर सहित, कुसल कोसला आइ। पूजिहि सब मन कामना, सुजस रहिहि जग छाइ ॥" (दो० १०३), इसपर 'मुदित सीय सुरसरि अनुकूला।' कहा है। आशीर्वाद का एक नाम न देने से एवं 'उचित असीस' कहने से सबके मत आ सकते हैं।

(२) 'मूँदे नयन सहमि·····'—श्रीसीताजी अत्यन्त सुकुमारी हैं, इससे डर गई हैं, वधिक-वश मराली की तरह दीखती हैं। सासों ने वैधव्य चिह्नों को बहुत कुछ स्पष्ट नहीं होने दिया, अन्यथा प्रथम ही रोना प्रारम्भ हो जाता। आगे गुरुजी प्रबन्ध से कहेंगे। केवल रानियों की दीन दशा पर ही श्रीसीताजी डर गई हैं। इसे कोई-कोई सासों में लगाते हैं, पर 'परी' एकवचन है और 'सुकुमारी' और 'मराली' भी श्रीसीताजी के ही विशेषण संगत हैं, पूर्व कई जगह कहे गये हैं।

(३) 'सो सब सहिय जो दैव सहावा।'—जैसा कि अभी श्रीरामजी ने समझाया ही है—'अंब ईस-आधीन जग···' इत्यादि, अर्थात् दैव ने ही कैकेयीजी की मति फेरकर ऐसा किया कि ये वन को आईं।

(४) 'जनकसुता तब उर·····'—धैर्य धरने के सम्बन्ध में 'जनकसुता' कहा, क्योंकि श्रीजनकजी धीर एवं ज्ञानी हैं, यथा—"ज्ञान-निधान···धरम धीर नरपाल।" (दो० २९१), "धुर धीर जनक से।" (दो० ३१६), श्रीसीताजी के हृदय में इस समय करुण रस है, उसका रंग कबूतर का-सा धूमिल कहा गया है, इसीसे इनके नेत्रों को 'नील-नलिन' की उपमा दी गई है।

(५) 'करुना महि छाई'—सासें सात सौ हैं, सभी श्रीसीताजी के साथ रोने लगीं, जंगल एवं मैदान में हैं, इससे दूर तक शब्द गये। 'करुना', यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥" (दो० ४६), (ऐसा ही भाव यहाँ भी है)।

(६) 'लागि लागि पग···'—सात सौ सासें हैं। अतः, यहाँ श्रीसीताजी ऐश्वर्य से अनेक होकर सबसे मिलीं, यथा—"सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई ॥" (दो० २५१), अन्यथा थोड़े समय में सबसे पृथक्-पृथक् मिलना असम्भव है।

बिकल सनेह सीय सब रानी। बैठे सबहि कहेउ गुरु ज्ञानी ॥१॥
कहि जगगति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ-गाथा ॥२॥
नृप कर सुरपुर-गवन सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा ॥३॥
मरन-हेतु निज नेह बिचारी। भे अति बिकल धीर-धुर-धारी ॥४॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी ॥५॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राज अकाजेउ आजू ॥६॥
मुनिबर बहुरि राम समुझाये। सहित समाज सुसरित नहाये ॥७॥
ब्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा ॥८॥

दोहा—भोर भये रघुनंदनहि, जो मुनि आयसु दीन्ह ।
श्रद्धा-भगति-समेत प्रभु, सो सब सादर कीन्ह ॥२४७॥

शब्दार्थ—धीर-धुर-धारी = धीर यहाँ धैर्य के अर्थ में है = धैर्य-रूपी बोझ को धारण करनेवाले । अकाजना = मरना । गति = व्यवहार, चाल ।

अर्थ—श्रीसीताजी और सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हो रही हैं, तब ज्ञानी गुरुजी ने सबको बैठने के लिये कहा ॥१॥ जगत् के व्यवहार को मायिक (भ्रमात्मक, ऐन्द्रजालिक) कहकर मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी ने कुछ परमार्थ की कथाएँ कहीं ॥२॥ तब राजा का स्वर्ग-गमन कह सुनाया, यह सुनकर श्रीरघुनाथजी ने दुस्सह दुःख पाया ॥३॥ मरने का कारण अपना स्नेह विचार कर धैर्य की धुरी के धारण करनेवाले श्रीरामजी अत्यन्त व्याकुल हो गये ॥४॥ वज्र की तरह कठोर कड़वी वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और सब रानियाँ विलाप करने लगीं ॥५॥ सब समाज शोक से अत्यन्त व्याकुल है, मानों आज ही राजा दशरथ मरे ॥६॥ फिर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने श्रीरामजी को समझाया, तब उन्होंने समाज के साथ श्रेष्ठ नदी (पयस्विनी) में स्नान किया ॥७॥ उस दिन प्रभु श्रीरामजी ने निर्जल व्रत किया, मुनि के कहने पर भी किसीने जल नहीं लिया ॥८॥ प्रातःकाल होने पर मुनि ने श्रीरघुनाथजी को जो-जो आज्ञाएँ दीं, उन सबको प्रभु ने श्रद्धा और भक्ति के साथ आदर सहित किया ॥२४७॥

विशेष—(१) 'गुरु ज्ञानी'—ज्ञानी विशेषण से इन्हें सावधान जनाया और यह भी कि ये सबके शोक दूर करेंगे, यथा—"सोक निवारेउ सबहिं कर, निज बिज्ञान प्रकास ।" (दो० १५६), यह श्रीअवध में किया था, वैसे यहाँ भी करेंगे ।

(२) 'कहि जगगति मायिक···'—जगत् का व्यवहार माया-कृत है, यथा—"जनम मरन जहँ लगि जग जालू । संपति बिपति करम अरु कालू ॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू । सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू ॥···मोह मूल परमारथ नाहीं ॥" (दो० ९१), (यह प्रसंग देखिये) जगत् के शत्रु-मित्र-मध्यस्थ आदि भाव मनःकल्पित हैं, अज्ञान ही इनका कारण है और यही माया है । 'कहे कछुक परमारथ-गाथा'—परमार्थ के बहुत अंश जगत् की गति कहने में आ गये, इससे कुछ परमार्थ-कथा कहनी पड़ी । परमार्थ-प्रसंग—"कहि परमारथ बचन सुदेसे ।" (दो० १६८) में देखिये ।

ज्ञानी मुनि ने प्रथम जगत् की व्यवस्था को अनित्य एवं भ्रमात्मक कहा, जगत् से अरुचि कराई । तब परमार्थ की कथाएँ कहीं । इस तरह सबके हृदय में बल देकर तब पिता का मरण सुनाया कि जिससे दुःख सहन हो एवं धैर्य रहे । ऐसे ही श्रीसुमन्त्रजी ने प्रथम परमार्थ की बातें कहकर तब श्रीरामजी के वन-गमन का असह्य सन्देशा राजा को सुनाया था—दो० १४६ चौ० २–८ देखिये ।

(३) 'मुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा ।'—श्रीरामजी ने पिता के सुखी रहने के निमित्त बहुत-से उपाय किये थे । श्रीलक्ष्मणजी से, पुरजनों से, श्रीसुमन्त्रजी से एवं श्रीसुमन्त्रजी के द्वारा गुरुजी से भी कहा था, प्रार्थना की थी, वे ही न रहे । फिर उन्होंने हमारे ही लिये स्नेहवश प्राण छोड़े, इसीसे श्रीरामजी 'अति बिकल' हुए । मरण सुनते ही दुस्सह दुःख हुआ और कारण सुनने पर तो वे अत्यन्त व्याकुल ही हो गये । श्रीरामजी 'धीर धुरधारी' हैं, तब भी अधीर हो गये, इससे अत्यन्त शोक जनाया ।

(४) 'कुलिस कठोर सुनत···'—वचन हृदय पर आघात पहुँचाने में वज्र से भी कठोर और सुनने में कड़वे हैं, यथा—"तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम् । राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा । वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परन्तपः ॥" (वाल्मी० २।१०२।१–२), अर्थात् श्रीरामजी ने भरतजी के मुख से पिता के मरने की जब शोकमय बात सुनी, तब वे अचेत हो

गये। जैसे इन्द्र युद्ध में दैत्यों पर वज्र प्रहार करते हैं, वैसे भरतजी के वचन रूपी वज्र प्रहार श्रीरामजी पर हुआ।

(५) 'मानहुँ राज अकाजेउ आजू।'—सबके एक-साथ रोने से ऐसा कहा गया, क्योंकि मरने पर सब एक-साथ ही रोते हैं।

(६) 'मुनिबर बहुरि राम···'—'बहुरि' का अर्थ यहाँ 'फिर' 'तब' है, दोहराने का नहीं। श्रीरामजी को समझाने में सभी सुनते और समझते हैं। 'राम' शब्द ऐश्वर्य-परक है, इससे यह भी गर्भित है कि यहाँ मुनि ने कुछ इनका ऐश्वर्य भी कहा, तब आप सावधान हुए।

(७) 'ब्रत निरंबु तेहि दिन ···'—धर्मशास्त्र की यह रीति है कि जिस दिन पिता मरे वा, पुत्र उसे सुने, उस दिन वह निराहार व्रत करे। इससे श्रीरामजी ने निर्जलव्रत किया, श्रीअवधवासी लोग भी स्वामी के साथ व्रत करने लगे। इसपर मुनि ने कहा कि आज तो व्रत श्रीरघुनाथजी के लिये कर्त्तव्य है और लोग तो श्रीअवध में कर ही चुके हैं, उनके लिये आवश्यक नहीं है। पर अवधवासियों ने स्वामि-भक्ति से स्वामी के साथ व्रत किया, क्योंकि स्वामी तो निराहार रहें और हमलोग आहार करें, यह अयोग्य है। मुनि ने सामान्य रीति कही और इन लोगों ने विशेषधर्म निबाहा, यह और भी उत्तम हुआ। इसपर मुनि को प्रसन्नता ही हुई। जैसे श्रीअवध में श्रीभरतजी ने राज्य लेने की गुरु-आज्ञा न मानी, तो उसपर गुरुजी प्रसन्न ही हुए थे।

(८) 'श्रद्धा-भगति-समेत प्रभु···'—धर्म में श्रद्धा प्रधान अंग है, यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ९९), भक्ति भी चाहिये ही, यथा—"भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे।" (बा० दो० १८८), आदर-सहित भी होना चाहिये, यथा—"भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥" (बा० दो० १५४)। श्रद्धा और भक्ति-सहित धर्म करना ही धर्म का आदर करना है। 'रघुनंदनहि'—आप रघुकुल को आनन्द देनेवाले हैं, कुल के अनुरूप, किन्तु विशेषता से धर्म कर रहे हैं। 'प्रभु'—समर्थ हैं, न भी करें तो इन्हें दोष नहीं, किन्तु लोक-संग्रह के लिये करते हैं, यथा—"यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।···" (गीता ३।२३-२४)।

करि पितुक्रिया बेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक - तम-तरनी॥१॥
जासु नाम पावक अघतूला। सुमिरत सकल सुमंगल-मूला॥२॥
सुद्ध सो भयेउ साधु संमत अस। तीरथ-आवाहन सुरसरि जस॥४॥

शब्दार्थ—आवाहन = आह्वान, मन्त्र के द्वारा किसी देवता का बुलाना।

अर्थ—वेदों में जैसी विधि कही गई है, वैसी विधि से पिता की क्रिया करके पाप-रूपी अन्धकार के नाश करनेवाले सूर्य-रूप श्रीरामजी पवित्र हुए॥१॥ जिसका नाम पाप-रूपी रुई को (शीघ्र जलाने के लिये) अग्नि है और स्मरण करने से सुन्दर मंगलों का कारण है॥२॥ वे शुद्ध हुए, (इसपर) साधुओं का सम्मत ऐसा है जैसे गंगाजी में तीर्थों का आवाहन, अर्थात् सर्वतीर्थमयी गंगाजी में और तीर्थों के आवाहन की आवश्यकता नहीं, पर लोक-रीति से होता है। वैसे शुद्ध सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीरामजी कर्म से शुद्ध नहीं हुए, वे नित्य शुद्ध ही हैं, पर लोक-रीति से कर्म किया, इससे यह भी कहा जाता है कि श्रीरामजी कर्म करके शुद्ध हुए। गंगाजी में तीर्थ ही आकर शुद्ध होते हैं, वैसे श्रीराम द्वारा किये जाने से तीर्थ ही अधिक प्रामाणिक एवं पवित्र माने गये॥३॥

विशेष—(१) 'करि पितुक्रिया···'—पिता की क्रिया की, और उससे शुद्ध हुए, इसीपर आगे सूर्य,

अग्नि और गंगाजी की उपमाएँ दीं। इससे सूचित किया कि श्रीरामजी समर्थ हैं। अतः, इन्हें दोष का स्पर्श नहीं हो सकता, यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा० दो० ६८), पाप नाश करने में आप सूर्य-रूप हैं, बिना श्रम के नाश करते हैं, यथा—"उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (बा० दो० २३८), तब इन्हें पाप कैसे स्पर्श कर सकता है? थोड़ी-सी भी आग रुई के पहाड़ को भस्म कर सकती है, वैसे ही आपका नाम पाप-पुंज का नाशक है, यथा—"तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" (उ० दो० ९१), अर्थात् श्रीरामजी के रूप-दर्शनों और नाम-स्मरण दोनों ही से पाप नाश होते हैं। श्रीशिवजी ने श्रीपार्वती जी से कहा है—"रामेति द्व्यक्षर जपे सर्वपापापनोदकः। गच्छन् तिष्ठन् शयानो वा मनुजो रामकीर्त्तनात्॥ इह निर्वर्त्तितो याति चान्ते हरिगणो भवेत्। रामेति द्व्यक्षरो मन्त्रो मन्त्रकोटिशताधिकः॥ न रामादधिकं किञ्चित् पठनं जगतीतले। रामनामाश्रया ये वै न तेषां यमयातना॥ रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च। अन्तरात्मस्वरूपेण यश्च रामेति कथ्यते॥ रामेति मन्त्रराजोऽयं भयव्याधिनिषूदकः। रामचन्द्रेति रामेति रामेति समुदाहृतः॥ द्व्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वकार्यकरो भुवि। देवा अपि प्रगायन्ति रामनाम गुणाकरम्॥ तस्मात्त्वमपि देवेशि रामनाम सदा वद। रामनाम जपेद् यो वै मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥" (स्कन्दपुराण, नागरखण्ड), अर्थ—'राम' यह दो अक्षरों का मन्त्र जपने से सारे पापों का नाश करता है। चलते, बैठते, लेटे हुए भी मनुष्य इस नाम का कीर्तन करने पर, इस लोक में कृतार्थ हो सुखी रहता है और अन्त में भगवान् का पार्षद होता है। 'राम' यह दो अक्षरों का मन्त्र सौ करोड़ मन्त्रों से अधिक (प्रभावशाली) है। संसार में राम-नाम से बढ़कर जप के योग्य और कुछ नहीं है। जिन्होंने राम-नाम का आश्रय ले रक्खा है, उन्हें यमलोक का भय नहीं है। जो हृदय से राम-नाम का उच्चारण करता है, वह चराचर में रमण करता है, अर्थात् सभी में आत्मतुल्यता प्राप्त कर सुखमय रहता है। 'राम' यह मन्त्रराज है, भय और रोग का नाशक है। 'रामचन्द्र', 'राम', 'राम' इस प्रकार उच्चारण करने पर यह दो अक्षरों का मन्त्रराज पृथ्वी में सारे कार्यों को सम्पन्न कर देता है। देवतागण भी श्रीराम-नाम के गुणसमूह का गान करते हैं। अतएव, हे देवेश्वरि! तुम भी सदा राम-नाम कहा करो। जो राम-नाम का जप करता है, समस्त पापों से छूट जाता है।"

सुद्ध भये दुइ बासर बीते। बोले गुरु सन राम पिरीते॥४॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी॥५॥
सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥६॥
सब समेत पुर धारिय पाऊ। आपु इहाँ अमरावति राऊ॥७॥
बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाँई॥८॥

दोहा—धरमसेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस, देखि लहहिं बिश्राम॥२४८॥

अर्थ—जब शुद्ध हुए दो दिन बीत गये, तब प्यारे श्रीरामजी प्रीति-सहित गुरुजी से बोले॥४॥ हे नाथ! कन्द, मूल, फल और जल के आहार करते हुए सब लोग सर्वथा दुखी हैं॥५॥ भाई के साथ श्रीभरतजी को, मन्त्री लोगों और सब माताओं को देखकर मुझे एक-एक पल युग के समान जा रहा है॥६॥ सबके साथ आप श्रीअवधपुर को पधारें, आप यहाँ हैं और राजा स्वर्ग में हैं, (अर्थात् श्रीअयोध्या सूनी है, कोई शत्रु न आ जाय)॥७॥ मैंने जो बहुत कहा, यह सब आपके साथ ढिठाई की, जैसा उचित हो, हे गोसाईं! वैसा आप करें॥८॥ (गुरुजी ने कहा) श्रीरामजी! तुम धर्म के पुल हो और करुणा के स्थान

हो, फिर तुम ऐसा क्यों न कहो ? (ऐसा कहना तुम्हारे योग्य ही है) परन्तु लोग दुखी हैं, दो दिनों से (तुम्हारे) रूप को देखकर विश्राम पा रहे हैं, पावें ॥२४८॥

विशेष—(१) 'सुद्ध भये दुइ बासर बीते'—पिता की जितनी अधिक योग्यता हो, उतने ही सूतक के कम दिन लगते हैं। जैसे कि शूद्रों को १ मास तो ब्राह्मणों को दस दिन, संन्यासी को वह भी नहीं। यहाँ सूतक के दिन न देने में सबके मत की रक्षा है। शुद्ध होने के पीछे की ही दिन-संख्या है। 'पिरीते' शब्द के 'प्यारे' और 'प्रीति-पूर्वक', ये दो अर्थ 'राम' और 'बोले' के साथ हैं।

(२) 'कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी'—यह मुनियों का भोजन है, पर अब अवधवासियों का यही आहार हो रहा है, तब दुखी अवश्य होंगे, क्योंकि ये सुर-दुर्लभ भोग भोगनेवाले हैं, यथा—"नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन बिषयनि हरै ॥" (गी० उ० १६)। पहले इन सबका आहार—"पय अहार फल असन ···"आदि कहा गया, यह श्रीरामजी के चले आने का है। अतः, उनकी दृष्टि में नहीं है। वह उनका स्वेच्छित व्रत-रूप में था, किन्तु यहाँ उपर्युक्त कन्द आदि के अतिरिक्त और आहार मिलता ही नहीं।

(३) 'सब समेत पुर धारिय पाऊ।'—निषादराज ने कहा था—"नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु ···" इसीसे उन्हींसे कहते हैं कि सबके साथ पुर को पधारिये। पिता के न रहने पर अब ये ही सबके रक्षक हैं, यथा—"गुरु प्रभाव पालिहि सबहिं···" (दो० ३०५), 'सब समेत' कहने का यह भी भाव है कि हमारा व्रत विशेष उदासीन रहने का है, लोगों के साथ रहने में उसमें बाधा पड़ेगी। 'आप इहाँ···' अर्थात् पुरी सूनी है।

(४) 'बहुत कहेउँ सब कियेउँ·····'—अर्थात् अब और ढिठाई करनी अयोग्य है, जो उचित हो वही कीजिये। 'गोसाईं' अर्थात् मैं भी आपके अधीन ही हूँ।

(५) 'धरमसेतु करुनायतन·····'—आप धर्म के पुल हैं, पुल पर से सभी पार होते हैं, वैसे ही आप धर्म के मार्ग-स्थापक हैं, यथा—"मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।" (गीता ३।२३), आपके आचरित मार्ग पर चलने से लोग भव-नदी से पार होते हैं। पिता की आज्ञा का पालन, गुरु-मर्यादा-रक्षण और लोगों पर दया (करुणा) है, यह सब धर्म ही है, इसीसे श्रीरामजी 'करुनायतन' भी कहे गये हैं।

(६) 'लोग दुखित दिन·····'—आप इनको दुखी मान रहे हैं, पर ये यहीं आकर विश्राम पा रहे हैं। 'लहहिं' का 'लहहुँ' पाठ भी हो तो अर्थ 'लहें' अर्थात् पावें यही होगा। दो दिन अर्थात् कुछ दिन और रहें, इन्हें आपके दर्शनों ही में सुख है, यथा—"पुरजन परिजन प्रजा गोसाँई। सब सुचि सरस सनेह सगाई॥ राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥" (दो० ३१३)।

रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महँ बिकल जहाजू ॥१॥
सुनि गुरुगिरा सुमंगल-मूला। भयेउ मनहु मारुत अनुकूला ॥२॥
पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघओघ नसाहीं ॥३॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि ॥४॥
राम - सैल - बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ॥५॥
झरना झरहिं सुधा-सम बारी। त्रिबिध ताप-हर त्रिबिध बयारी ॥६॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती ॥७॥
सुंदर सिला सुखद तरु-छाहीं। जाइ बरनि बन-छबि केहि पाहीं ॥८॥

दोहा—सरनि सरोरुह जलबिहग, कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहंग बहुरंग ॥२४६॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर सारा समाज भयभीत हो गया, मानों सागर में जहाज (डूबने के डर से) व्याकुल हो ॥१॥ उसपर गुरुजी के सुन्दर मंगल-मूलक वचन सुनकर मानों अनुकूल वायु हो गया ॥२॥ पवित्र पयस्विनी (एवं पवित्र जल) में तीनो (प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या) काल स्नान करते हैं, जिसके दर्शनों से ही पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं ॥३॥ मंगल-मूर्त्ति श्रीरामजी को प्रसन्नतापूर्वक दण्डवत् कर-करके आँखें भर-भर कर देखते हैं ॥४॥ श्रीरामजी के पहाड़ (कामतानाथ) और वन को देखने जाते हैं, जहाँ सभी सुख हैं और सभी दुःख नहीं हैं ॥५॥ झरने अमृत के समान जल स्रवते हैं, तीनो प्रकार के (शीतल, मन्द, सुगन्ध) पवन तीनो तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) को हर लेते हैं ॥६॥ वृक्ष, लता और तृण असंख्य जाति के हैं और उनके फल, फूल, पल्लव बहुत तरह के हैं ॥७॥ सुन्दर चट्टानें हैं, पेड़ों की छाया सुख देनेवाली है, इस प्रकार की वन की शोभा किससे वर्णन की जा सकती है ? ॥८॥ सरोवरों में कमल हैं, जलपक्षी कूजते और भौंरें गूँजते हैं, बहुत रंग के मृग और पक्षी वन में वैर-रहित होकर विहार कर रहे हैं ॥२४६॥

विशेष—(१) 'रामबचन सुनि सभय···'—सबकी अभिलाषा है कि श्रीरामजी चलकर राजा हों, यथा—"राजा राम जानकी रानी ।···अछतराज राजा ···" (दो० २७३), ये वचन उसके प्रतिकूल हैं, इससे भय हुआ, उसे रूपक से कहते हैं, यथा—'जनु जलनिधि महँ···'—इसमें विरह समुद्र, समाज जहाज, राम-वचन प्रतिकूल वायु और गुरु-गिरा अनुकूल वायु हैं। अनुकूल वायु जहाज को उसके गन्तव्य मार्ग की ओर ले चलता है, उसी तरह गुरु-वचन समाज के अभीष्ट-पोषक हैं, इसीसे सब किसीने उन्हें मंगल-मूलक माना है। (पहले जहाज हवा के सहारे पाल चढ़ाकर चलाये जाते थे, वैसा ही रूपक है)।

(२) 'पावन पय तिहुँ काल···'—यहाँ पुरवासियों की दिनचर्य्या कहते हैं।

(३) 'भरि भरि' और 'करि करि'—बहुत लोगों के प्रति एवं उनके बार-बार करने के प्रति हैं। दर्शनों और दण्डवत् में हर्ष अत्यन्त श्रद्धा-सूचक है।

(४) 'त्रिबिध बयारी'—झरनों के योग से शीतल, वृक्ष और पर्वतों की आड़ से मन्द और पुष्पों के सहयोग से सुगन्धित हवाएँ चलती हैं। इसीसे सब एक-साथ ही कहे गये हैं।

(५) 'बिटप बेलि तृन···'—यथासंख्य अलंकार से वृक्षों में फल, लताओं में फूल और तृणों में पत्तों की शोभा है। वा श्रीरामजी के योग से सभी त्रय-सम्पत्ति-पूर्ण हैं, यथा—"सब तरु फरे राम-हित लागी।···" (लं० दो० ४), "कामद भे गिरि राम प्रसादा " (दो० २७८), 'सुंदर सिला बिटप···'—यहाँ बैठने को चट्टानें, पेड़ों की सुन्दर छाया, खाने को फल, सूँघने को फूल, बिछाने को पत्ते, नेत्रों को सुख देनेवाले तृण आदि सभी सुपास की वस्तुएँ हैं।

(६) 'जाइ बरनि बन···'—यथा—"सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥···कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौ सत सहस होहिं सहसानन ॥" (दो० १३८)।

(७) 'कूजत गुंजत बैर बिगत···', यथा—"गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी।" से "बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥" (दो० १३७) तक। 'बैर बिगत बिहरत···'—चित्रकूट के ही प्रभाव से यहाँ त्रिदेव का भी छल छूट गया, यथा—"जहँ जनमे जग जनक जगतपति बिधि हरिहर परिहरि प्रपंच छल ॥" (वि० २४), अब तो यहाँ परात्पर प्रभु भी विराजते हैं, तो यह वैर छूटना कोई बड़ी बात नहीं। यहाँ अवधवासियों के पाँचो ज्ञान-इन्द्रियों का सुख कहा गया है—'हरषहिं निरखि दंडवत करि करि'—नेत्र का,

'झरना झरहिं सुधा-सम बारी।'—जिह्वा का, "त्रिबिध ताप-हर त्रिबिध बयारी।'—त्वचा का 'फल प्रसून पल्लव···'—फूल-सुगन्ध नासिका का और 'जलबिहग, कूजत-गुंजत भृंग।'—कल शब्द श्रवण इन्द्रिय का। पूर्वोक्त—'प्रजा दुखारी'···जाइ सुराज सुदेस सुखारी।···' (दो० २३४) का पोषक—यह भाव है। 'राम सैल बन देखन जाहीं।···' से 'बिगत बैर बिहरत···' तक यहाँ वन-पर्वत की शोभा कही गई।

कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुंदर स्वाद सुधा-सी ॥१॥
भरि भरि परनपुटी रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥२॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा ॥३॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं ॥४॥
कहहि सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी ॥५॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसन राम - प्रसादा ॥६॥
हमहिं अगम अति दरस तुम्हारा। जस मरुधरनि देव-धुनि-धारा ॥७॥
रामकृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिय जस राजा ॥८॥

दोहा—यह जिय जानि सँकोच तजि, करिय छोह लखि नेहु।
हमहिं कृतारथ करन लगि, फल तृन अंकुर लेहु ॥२५०॥

अर्थ—पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान स्वादिष्ट मधु (शहद) दोने में भर-भरकर और कन्द, मूल, फल और अंकुर (अँखुआं) की सुन्दर अँटियां (गट्ठों) को रचकर कोल, किरात, भील आदि वनवासी लोग विनय और प्रणाम करके और उन सबके स्वाद, भेद, गुण और नाम कहकर सबको देते हैं ॥१-२-३॥ अवधवासी लोग बहुत मूल्य देते हैं, पर वे लोग नहीं लेते और लौटाने पर श्रीरामजी की दोहाई देते हैं ॥४॥ वे प्रेम में निमग्न होकर वाणी से कहते हैं कि साधु प्रेम पहचान कर उसे मानते हैं, अर्थात् हार्दिक प्रीति-पूर्वक दिये हुए पदार्थों को पहचान कर उसे ग्रहण करते हैं, प्रेमी की जाति, गुण आदि नहीं देखते ॥५॥ आप धर्मात्मा हैं और हम नीच (हिंसक) जाति के निषाद हैं, आपके दर्शन तो हमें श्रीरामजी की प्रसन्नता एवं कृपा से प्राप्त हुए ॥६॥ आपके दर्शन हमको दुर्लभ हैं, जैसे मारवाड़ देश की भूमि में श्रीगंगाजी की धारा ॥७॥ कृपालु श्रीरामजी ने निषाद को निवाजा (उसपर कृपा की), वैसे ही उनके कुटुम्बी और प्रजा (आपलोगों) को भी होना चाहिये, अर्थात् हम सबों पर आपलोगों को भी कृपा करनी चाहिये ॥८॥ यह जी में जानकर संकोच को छोड़ और हमारा स्नेह देखकर हमपर कृपा कीजिये, हमें कृतार्थ करने के लिये फल, तृण और अँखुओं को लीजिये ॥२५०॥

विशेष—(१) 'मधु सुचि···भरि भरि परनपुटी···'—मधु, जो हिंसा करके निकाला जाता है, अशुचि होता है। पर ये लोग शुचि मधु लाये हैं। ये कोलों के घर की उत्तम-उत्तम वस्तुएँ हैं। इसलिये इसे पहले कहा गया। श्रीरामजी के लिये मधु नहीं लाये थे, क्योंकि वे उदासीन-वृत्तिवाले हैं। मधु का अर्थ मधुर नहीं और न यह कन्द आदि का विशेषण ही है। 'कंद मूल फल अंकुर'—अंकुर जैसे ताल आदि के अंकुर जो खाये जाते हैं, वा, फलों के कठोर बीजों के भीतर की गूदी, जैसे गरी, बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि की मींगी।

(२) 'कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा'—स्वाद—खट्टा, मीठा, आदि। भेद—यह कि कौन कहाँ का और कैसा है एवं वस्तुओं के जाति-भेद, आदि। गुण—वात, पित्त और कफ-नाशक, आदि। नाम—तेंदू,

शरीफा, पियार (जिसकी गूदी चिरौंजी कहाती है, चित्रकूटी इसे अँचार वा, चार कहते हैं), इत्यादि ।

☞"कोल किरात भिल्ल ···" से "लौका तिरा" तक दो दोहों में कोल आदि की सेवा और उनका स्नेह कहा गया है ।

(३) 'फेरत राम दोहाई देहीं'—दोहाई का प्रयोग समर्थ से रक्षा के लिये होता है और शपथ के रूप में भी । यहाँ इसके दोनों ही भाव हैं कि आप अन्याय करते हैं । अतः, श्रीरामजी की दोहाई है, अर्थात् वे हमारी रक्षा करें । पुनः यदि ऐसा करें तो आपको श्रीरामजी की शपथ है ।

(४) 'मानत साधु प्रेम ···', यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये ।" (बा दो० ३२५), अर्थात् जो हमारा सच्चा प्रेम देखिये तो ग्रहण कीजिये ।

(५) 'पावा दरसन राम-प्रसादा ।···'—पुण्यात्मा एवं साधु के दर्शन श्रीराम-कृपा से ही होते हैं, यथा—"जब द्रवै दीन दयालु राघव-साधु संगति पाइये ।" (वि० १३६), हम पापियों को तो आपके दर्शन दुर्लभ ही हैं । वही यहाँ कहते हैं—'जस मरुधरनि ···'—मरुभूमि में सामान्य जलाशय भी दुर्लभ है, वहाँ नदी का होना ही अगम, फिर गंगाजी की प्राप्ति तो अत्यन्त ही अगम है कि जिनका परम पुनीत जल सद्गति भी देता है और पीने में सुखद तो है ही । वैसे ही हमें सामान्य साधुओं के दर्शन भी अगम हैं, फिर भी अवधवासियों के दर्शन घर बैठे होना तो अत्यन्त ही अगम हैं ।

(६) 'रामकृपाल निषाद···'—यह भी भाव है कि आपके राजा ने हमारे राजा को 'निवाजा' और आप उनकी प्रजा हैं । अतः, निषादराज की प्रजा (हम सब) पर आपलोग भी वैसी कृपा करें, क्योंकि परिजन-प्रजा को भी राजा के अनुरूप होना ही चाहिये । श्रीरामजी ने कृपा करके निषादराज के दिये हुए कन्द-मूल आदि ग्रहण किये हैं, यथा—सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी । दोना भरि-भरि राखेसि आनी ।। सिय सुमंत्र भ्राता सहित, कंद मूल फल खाइ ।" (दो० ८९), भाव यह कि राजा ने राजा के फल-मूल लिये हैं और मूल्य नहीं दिये हैं, तो आप उनकी प्रजा हैं । अतः, हम निषाद की प्रजा के भी फल आदि ग्रहण करने की वैसी ही कृपा करें ।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे । सेवाजोग न भाग हमारे ।।१।।
देब काह हम तुम्हहिं गोसाँई । इंधन पात किरात मिताई ।।२।।
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न बासन-बसन चोराई ।।३।।
हम जड़ जीव जीवगन - घाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ।।४।।
पाप करत निसि - बासर जाहीं । नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ।।५।।
सपनेहु धरम - बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन - दरस प्रभाऊ ।।६।।
जब ते प्रभु - पद - पदुम निहारे । मिटे दुसह दुख दोष हमारे ।।७।।

शब्दार्थ—इंधन = जलाने की लकड़ी । पात = पत्ते एवं पत्तल । बासन = बरतन ।

अर्थ—आप ऐसे प्यारे पाहुन वन में आये हैं, सेवा के योग्य हमारे भाग्य ही नहीं हैं, अर्थात् हमलोगों में इतनी योग्यता नहीं है जिससे आपकी योग्यता-सेवा हो ।।१।। हे गोसाईं ! हम आपको देंगे क्या ? किरातों की मित्रता तो बस, इतनी ही है कि इनसे इंधन और पत्ते भले ही प्राप्त हो जायँ ।।२।। हमारी यही अत्यन्त बड़ी सेवा है कि बरतन और कपड़े न चुरा लें ।।३।। हम जड़ (मूर्ख) जीव हैं, समूह जीवों की हिंसा करनेवाले हैं, हृदय के कुटिल, कुचालवाले, दुर्बुद्धि और कुजाति हैं ।।४।। पाप करते-करते दिन-रात बीतते हैं, पर न कमर में कपड़ा रहता है और न पेट ही भर पाते हैं ।।५।। (हमलोगों में) कभी स्वप्न में भी धर्म-बुद्धि कैसी ? यह (जो आपलोगों की कुछ सेवा में प्रेम हुआ सो) तो श्रीरघुनाथजी के दर्शनों

का प्रभाव है ॥६॥ हमलोगों ने जब से प्रभु के चरण-कमल देखे, तब से हमारे दुस्सह दुःख और दोष मिट गये ॥७॥

विशेष—(१) 'तुम्ह प्रिय पाहुन बन···'—प्रिय पाहुन की विधि-पूर्वक उत्तम सेवा करनी चाहिये, पर हमारे भाग्य ही ऐसे नहीं है, क्योंकि इंधन-पात मात्र की ही सेवा करने का हम नीचों का अधिकार है, एवं इतना ही देने का विभव है। भाव यह कि आपकी योग्य सेवा भरद्वाज महर्षि ने की है।

अलंकार—'लोकोक्ति'—'देव काह हम ··' में। 'इंधन पात···' मात्र।

(२) 'हम जड़ जीव जीवगन-घाती।'—एक भी प्राणी की हिंसा भारी पाप है और जो समूह जीवों को मारते हैं उनके पाप की सीमा ही नहीं, यथा—"हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहिं कवनि मिति।" (बा० दो० १८३), हिंसा करते-करते हृदय से एवं स्वभाव से कुटिल, चाल से बुरे, और बुद्धि से कुत्सित हो गये, इसीसे कुजाति कहे जाते हैं। निष्ठुर होने से जड़ पाषाण के समान हृदय हो जाता है, इससे भी जड़-संज्ञा है।

(३) 'नहिं पट कटि···'—इतना पाप करने पर भी कुछ धनी नहीं हो गये, प्रत्युत भोजन-वस्त्र के कंगाल बने ही रहते हैं, क्योंकि सुख तो धर्म से होता है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।" (उ० दो० १०१)।

(४) 'मिटे दुसह दुख दोष'—अभी तो तुमलोग परम सात्त्विक हो, क्योंकि निःशुल्क वस्तुएँ देते और सेवा करते हो, इस सम्भवित प्रश्न के प्रति कहते हैं—"जब ते प्रभुपद···"। हिंसा का स्वभाव-रूपी दोष छूट गया और पेट न भरने का दुःख मिट गया। दुःख, यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०), पाप का स्वभाव और उसका फल दुःख दोनों निवृत्त हुए, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख···" (उ० दो० १००), अर्थात् कार्य और कारण दोनों ही छूट गये।

बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्हके भाग सराहन लागे ॥८॥

छन्द—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन-सनेह लखि सुख पावहीं॥
नरनारि निदरहिं नेह निज सुनि कोल-भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंस-मनि की लोह लै लौका तिरा॥

सोरठा—बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम ॥२५१॥

शब्दार्थ—लौका (लावुक) = तूँबी, लौकी एवं तितलौकी, जिसका कमंडलु बनता है।

अर्थ—उनके प्रेम-भरे वचनों को सुनकर पुरवासी लोग अनुरक्त हो गये और उनके भाग्य की प्रशंसा करने लगे (कि थोड़े ही समय में श्रीरामजी में इनका इतना प्रेम हो गया, ये धन्य हैं और बड़े भाग्यवान् हैं) ॥८॥ सब भाग्य की प्रशंसा करने लगे और अनुराग-भरे वचन सुनाते हैं। उनकी बोल-चाल, मिलने की रीति और श्रीसीतारामजी के चरणों का स्नेह देखकर सुख पा रहे हैं॥ उन कोल-भीलों की वाणी को सुनकर नर-नारी (श्रीअवधवासी) अपने-अपने स्नेह का निरादर करते हैं (अपने स्नेह को तुच्छ मानते हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामजी की कृपा है कि लोहा तुम्बे को लेकर तैर रहा है॥ सबलोग बड़े आनन्द से नित्य चारों ओर वन में विचरते हैं, जैसे पहली वर्षा

(पावस) के जल में मेढ़क और मयूर मोटे हो जाते हैं, अर्थात् आनन्द से फूल उठते हैं और विहार करते हैं ॥२५१॥

विशेष—(१) 'बोलनि मिलनि···'—'बोलनि'—"कहहिं सनेह मगन मृदुबानी ।·····" से "सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ ।" तक । 'मिलनि'—"मधु सुचि सुंदर स्वाद सुधासी ।···" से "फेरत राम दोहाई देहीं ॥" तक । 'सिय-राम-चरन-सनेह'—"यह रघुनंदन दरसप्रभाऊ ॥ जब ते प्रभु-पद-पदुम निहारे । मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥" इनमें ये मुख्य रूप में हैं, यों तो सब बातें प्रसंग-भर में हैं ।

(२) 'नरनारि निदरहिं नेह निज···'—अपनेको न्यून मानते हैं कि हमलोग श्रेष्ठ अधिकारी और श्रीरामजी के समीपवर्त्ती थे और ये कोल आदि नीच हैं, पर इनके तुल्य हमलोगों का प्रेम नहीं है । कोलों को देखकर इनकी प्रीति-प्रतीति और बढ़ी । पुनः कोल आदि ने अपनी न्यूनता और इनकी बड़ाई की थी । उत्तर में ये लोग भी उनकी बड़ाई और अपनी न्यूनता कहते हैं कि तुम्हारा प्रेम विशेष है, तभी तो श्रीरामजी ने हमें छोड़ा और तुम्हारे यहाँ आकर रहे, इत्यादि ।

(३) 'लोह लै लौका तिरा'—बड़े-बड़े तुम्बे जल में तैरनेवाले होते हैं । तैरना सीखनेवाले इसे कमर में बाँध कर तैरते हैं कि जिससे थकने पर डूबें नहीं, यह न स्वयं डूबे और न दूसरों को डूबने दे । लौके में थोड़ा लोहा रख दिया जाय, तो वह तैरता रहेगा । लौकों का बेड़ा बाँध दें, तो मनों लोहा उसपर तैरता रहेगा । पर लोहा स्वयं डूबनेवाला है, आश्रित को भी डुबानेवाला है । वैसे श्रीअवधवासी लोग तरण-तारण लौका रूप हैं और वनवासी कोल आदि लोहे की तरह तमोगुणी एवं पापाचारी हैं, पर आज श्रीरामकृपा से ऐसे शुद्ध प्रेमी हो गये कि श्रीअवधवासी लोग भी इनसे प्रेम की शिक्षा पा रहे हैं । यह लोहपर लौके का तैरना है कि कोल लोग ही इन्हें तारनेवाले हो रहे हैं ।

प्रायः नौका में लोहा आता-जाता है, श्रीअवधवासी नौका के समान तरण-तारण हैं, इनसे और लोग भक्ति की शिक्षा पाते हैं । पर आज ये ही कोलों से शिक्षा पा रहे हैं, यही लोह पर नाव का तैरना है, यह अर्थ विशेष संगत है, यदि नौका का विकृत रूप लौका माना जाय, क्योंकि प्राचीन प्रतियों का पाठ 'लौका' ही है । यहाँ भी 'लोकोक्ति-अलंकार' है ।

(४) 'कृपा रघुबंस-मनि की', यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल । तब प्रताप बड़वानलहिं, जारि सकइ खलु तूल ॥" (सुं० दो० ३३) ।

(५) 'जल ज्यों दादुर मोर···'—वर्षा के प्रथम जल से मेढ़क मोटे हो जाते हैं और आनन्द-पूर्वक कूदते और कलोल के शब्द करते हैं । मोर के भी पंख बढ़ते हैं और वह भी मोटा हो जाता है, फिर आनन्द से नाचता है और आह्लाद सहित बोलता है । वैसे, श्रीअवधवासी लोग श्रीराम-विरह रूपी ग्रीष्म के तपे हुए हैं, यथा—"ग्रीषम दुसह राम बनगवनू ।" (बा० दो० ४१) । घनश्याम रूप श्रीरामजी के दर्शनरूप जल से प्रफुल्लित होकर विचर रहे हैं । 'प्रथम' शब्द में यह भी ध्वनि है कि जैसे मोर-दादुर वर्षा के अन्त में फिर दुखी होते हैं—उनका वह सुख नहीं रह जाता—वैसे इन लोगों का भी यह सुख अल्प-काल का है, फिर श्रीराम-विरह होगा, उससे दुखी भी होंगे ।

पुरवासियों के विचरने का प्रसंग—"राम सैल बन देखन जाहीं ।···" (दो० १४८) से प्रारम्भ होकर यहाँ—"बिहरहिं बन···" पर समाप्त हुआ ।

पुर-जन-नारि मगन अति प्रीती । बासर जाहिं पलक-सम बीती ॥१॥
सीय सासु प्रति बेष बनाई । सादर करइ सरिस सेवकाई ॥२॥
लखा न मरम राम बिनु काहू । माया सब सियमाया माहू ॥३॥

सीय सासु सेवा बस कीन्ही । तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥४॥

अर्थ—श्रीअवधपुर के पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रीति में निमग्न हैं, अत्यन्त प्रीति के कारण उनके (सुख के) दिन पलक समान बीत जाते हैं ॥१॥ प्रत्येक सासों के लिये श्रीसीताजी एक-एक वेष (अर्थात् सात सौ सासों के लिये सात सौ रूप) बनाकर आदरपूर्वक उन सबकी एक समान सेवा करती हैं ॥२॥ इस भेद को श्रीरामजी के अतिरिक्त और किसीने नहीं जाना, (क्योंकि) सब माया श्रीसीताजी की माया में (माया के अन्तर्गत) ही हैं ॥३॥ श्रीसीताजी ने सासों को सेवा से अपने वश में कर लिया, इससे उन्होंने सुख पाकर शिक्षा और आशिष दी ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय सासु प्रति बेष ··· ···'—यहाँ से श्रीसीताजी की सास-सेवा को कहते हैं। 'सरिस' के यहाँ दो अर्थ हैं, एक तो समान अर्थात् किसी सास के प्रति न्यूनाधिक्य नहीं। दूसरा सदृश अर्थात् योग्य, जैसा कि पतोहू को चाहिये। श्रीरामजी ने भी श्रीसीताजी से कह रक्खा है, यथा—"वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः। स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥" (वाल्मी० २।२६।३२), अर्थात् शेष जो मेरी माताएँ हैं, उनको भी नित्य प्रणाम करना, क्योंकि मुझमें उनकी प्रीति और उनका सौहार्द्य वैसा ही है। भोगों से उन्होंने मेरा वैसा ही पालन-पोषण किया है। अतः, मेरी दृष्टि में सब माताएँ समान हैं।

'सादर'—श्रद्धा एवं शील-पूर्वक। सबकी पतोहू बनकर सेवा करती हैं, यह दुर्लभ है, यथा—"सासु ससुर गुरु मातु पितु, प्रभु भयो चहै सब कोइ। होनो दूजी ओर को, सुजन सराहिय सोइ॥" (दोहावली ३९१)। 'सिख'—जैसा अनसूयाजी ने शिक्षा दी है।

(२) 'लखा न मरम राम बिनु काहू।'—सब सासें यही जानती हैं कि पतोहू तो बराबर मेरे ही पास है। अतः, सबसे अधिक मुझे ही मानती है। यह भेद किसीको न जान पड़ा कि ये एक-एक रूप से सबके पास हैं। इसका कारण स्वयं कवि कहते हैं—'माया सब सिय माया माहू।'—जितनी अनन्त कोटि देवियाँ हैं, सब माया-रूपा हैं, ये सब श्रीसीताजी के अंश से हैं, यथा—"आदि सक्ति छबि निधि जग मूला॥ जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥" (बा० दो० १४७)। इनके भेदों को वे सब भी नहीं जान सकतीं, तो और कोई कैसे जाने ?

(३) 'राम बिनु'—यद्यपि ये दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं, तथापि पृथक विग्रहवान् हैं। अतः, ऐसा न कहा जाता, तो सन्देह होता कि श्रीरामजी ने भी नहीं जाना, फिर इनके परंब्रह्म होने में भी शंका होती। जनकपुर में भी ऐसी ही घटना पर कहा गया है—"सिय महिमा रघुनायक जानी।" (बा० दो० ३०६)।

लखि सियसहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥५॥
अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीच बिधि मीच न देई ॥६॥
लोकहु बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थल नरक न लहहीं ॥७॥
यह संसय सबके मन माहीं। रामगवन बिधि अवध कि नाहीं ॥८॥

दोहा—निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस, मीनहिं सलिल सँकोच ॥२५२॥

शब्दार्थ—बीच = अवकाश, दरार। नीच = नीचे का, वा, वह कीचड़ जिसे मछली नहीं खाती। एक सुन्दर कीच भी होता है, जिसे मछली खाती है। सँकोच = तंगी, कमी।

अर्थ—श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों के सरल-स्वभाव देखकर कुटिला रानी कैकेयी भरपूर (बहुत ही) पछताई ॥५॥ वह कैकेयी पृथ्वी और यमराज से माँगती है, पर न तो पृथ्वी अवकाश (रास्ता) देती है और न विधाता मृत्यु ही देता है ॥६॥ लोक और वेद में भी प्रसिद्ध है और कविगण कहा करते हैं कि श्रीरामजी के विमुख नरक में भी जगह नहीं पाते ॥७॥ यह संशय सभीके मन में है कि हे विधाता ! श्रीरामजी का गमन श्रीअयोध्या को होगा कि नहीं ? ॥८॥ श्रीभरतजी को न रात में नींद पड़ती है और न दिन में भूख ही लगती है, वे पवित्र शोच में व्याकुल हैं, जैसे नीचे के (वा, नीच) कीचड़ के बीच में डूबी हुई मछली को जल की तंगी से व्याकुलता हो ॥२५२॥

विशेष—(१) 'लखि सियसहित सरल·····'—पहले मन्थरा के कहने से श्रीकैकेयीजी ने इन्हें कुटिल समझा था, वह झूठ निकला, अब अघाकर (परिपूर्ण) पछताई कि मैंने इन्हें वनवास दिया, फिर भी ये सरल एवं सौम्य-भाव से ही मुझसे बर्ताव करते हैं। राजा का वह वचन—"फिरि पछितैहसि अंत अभागी ॥" (दो० ३५), यहाँ चरितार्थ हुआ। अतः, "कुटिल रानि पछितानि अघाई।" कहा गया।

राजा ने कैकेयीजी को बहुत समझाया था, पर उन्होंने नहीं माना। पुनः श्रीभरतजी के त्याग देने से दुखी थीं ही, इधर श्रीरामजी की शील-सरलता ने उन्हें सात्त्विक कर दिया, यथा—"भये सब साधु किरात किरातिनि, राम-दरस मिटि गइ कलुषाई।" (गी० अ० ४६), जो कैकेयीजी पहले 'किरातिनि', 'पापिनि' कही गई, वे अब साधु-वृत्ति को प्राप्त होकर अपने कुत्सित कार्य पर ग्लानि कर रही हैं।

(२) 'अवनि जमहि जाँचति ·····'—पहले पृथ्वी से, फिर यमराज से माँगा, अभीष्ट उत्तरार्द्ध से स्पष्ट होता है कि पृथ्वी से 'बीच' और यमराज से 'मीच' माँगी थी, पर देने में यमराज की जगह 'बिधि' कहा गया, इसका कारण यह है कि यमराज मृत्यु देने में स्वतन्त्र नहीं हैं, कर्मानुसार ब्रह्माजी की आज्ञा से प्राणियों को मृत्यु देते हैं, यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥" (कठ० २।६।४), अर्थात् ब्रह्मा के अन्तर्यामी-रूप से ब्रह्म के शासन-भय से मृत्यु प्राणियों को लेने के लिये नियत समय पर दौड़ती है, यथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥" (दो० १७१), इसलिये दो स्थलों से दोनों कहे गये कि यमराज से माँगा, वे ब्रह्मा की आज्ञा के बिना नहीं दे सके। पहले पृथ्वी से माँगा कि वह बीच (दरार) दे, तो मैं तुरत समा जाऊँ कि कोई मेरा मुँह न देख पावे, क्योंकि मैं अब जगत् में मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ। जब निराश हुई तब यमराज से माँगा कि वह (दरार) होता तो उत्तम होता, तुरत ही सबकी आँखों की ओट हो जाती। न हुआ तो यही (मृत्यु) सही, क्योंकि मरने पर भी शव को कुछ देर लोग देख-देख धिक्कारेंगे। यहाँ इसके पश्चात्ताप की पराकाष्ठा दिखाई।

(३) 'राम बिमुख थल·····'—पृथ्वी के फटने और मृत्यु के होने की कौन कहे, श्रीरामजी से विमुख नरक में भी छिपकर रहने को जगह न पावेगा। जहाँ पापी प्राणियों को बलात् स्थल दिया जाता है, वहाँ भी ऐसे को ठौर नहीं, यथा—"अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी ॥" (बा० दो० २८), तथा—"तुलसी श्रीरघुबीर तजि, करै भरोसो और। सुख संपति की का चली, नरकहु नाहीं ठौर ॥" (दोहावली० ६४)।

(४) 'यह संसय सबके मन माहीं।···'—पहले कहा गया कि श्रीरामजी ने गुरुजी से कहा—"सब समेत पुर धारिय पाऊ।" इसपर गुरुजी ने कहा था कि सब दो दिन और दर्शन कर लें। तब 'राम बचन सुनि सभय समाजू।' कहा गया था। फिर गुरु-वचन पर कुछ सान्त्वना कही गई थी। बीच में ग्रन्थकार श्रीअवध वासियों की चर्य्या कहने लगे थे। अब फिर वहीं से प्रसंग लेकर कहते हैं कि जब श्रीरामजी ने सबको लौटने के लिये कहा था, तब गुरुजी ने यह भी नहीं कहा कि सब आपको लौटाने आये हैं। तब

भला श्रीरामजी क्यों जायँगे ? सन्देह होना योग्य ही है कि जिस लिये सब आये, उसकी चर्चा पर भी गुरुजी सकुचते हैं। यहाँ समष्टि में सबकी बातें कहकर आगे श्रीभरतजी का शोच करना विस्तार से कहते हैं—

(५) 'निसि न नींद···'—श्रीभरतजी का शोच श्रीरामजी में अत्यन्त प्रीति के कारण है, इससे इसे 'सुचि' कहा गया है। शोच के कारण उन्हें नींद और भूख नहीं है, यह शोच की दशा है। 'नीच कीच बिच ··'—पूर्वार्द्ध के शोच को उपमा से समझाते हैं कि जब श्रीअवध से समाज-समेत चले थे, तब आशा थी कि गुरुजी श्रीरामजी को वन में ही राज्य देकर लौटा लायेंगे। पर उपर्युक्त श्रीरामजी और गुरुजी के संवाद से वह आशा न रह गई, जब कि गुरुजी ने लौटाने की चर्चा भी न की। यही मछली के जल का सूखना है। अब आगे के अनुमानवाले उपाय नीचे के कीचड़-रूप रह गये। कीचड़ में मीन के जीवनाधार जल का अल्पांश ही रहता है, ऐसे ही आगे अनुमित उपायों से श्रीरामजी के लौटने की (श्रीरामजी के संयोग रहने की) आशा बहुत कम रह गई है। उस दशा में जैसे मछली को शोच होता है, वैसे यहाँ श्रीभरतजी शोच करते हैं। जब नीचे के कीचड़ का जल सूख जाता है, तब तो मछली मर ही जाती है, वैसे आगे के अनुमानवाले उपायों से भी सफलता न होगी, तब तो इनके जीवनाधार रूपी श्रीराम-संयोग न रह जाने से जल बिना मीनवत् इनके प्राणों का त्याग हो जाना चाहिये, पर क्यों नहीं हुआ ? इसका समाधान यह है कि—"प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।···भरत मुदित अवलंब लहे ते। अस सुख जस सियराम रहे ते ॥" (दो० ३१५), "तुलसी प्रभु निज चरनपीठ मिस भरत प्रान रखवारो ॥" (गी० अ० ६७), "चल पीठ निज दीन्हें। मनहुँ सबनिके प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें ॥" (गीता० अ० ७५), इससे जीते रहे। अनुमानवाले उपायों का विस्तार आगे है—

कीन्ह मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली ॥१॥
केहि बिधि होइ राम - अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू ॥२॥
अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी ॥३॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। राम-जननि हठ करबि कि काऊ ॥४॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमय बाम बिधाता ॥५॥
जौ हठ करउँ त निपट कुकरमू। हर-गिरि ते गुरु सेवक-धरमू ॥६॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी ॥७॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई ॥८॥

शब्दार्थ—अवकलना (सं० अवकलन) = समझ पड़ना, ज्ञान होना।

अर्थ—माता के बहाने काल ने यह कुचाल की है, जैसे धान के पकते समय 'ईति' का भय हो जाय ॥१॥ किस तरह श्रीरामजी का राज्य-तिलक हो ? मुझे तो एक उपाय नहीं समझ पड़ता ॥२॥ (श्रीरामजी) गुरुजी की आज्ञा मानकर अवश्य लौटेंगे, पर श्रीरामजी की रुचि जानकर ही मुनि कहेंगे, अर्थात् उनकी रुचि के अनुसार ही कहेंगे ॥३॥ माता के कहने से भी रघुकुल भूषण श्रीरामजी लौटेंगे, पर श्रीरामजी (ऐसे सौम्य स्वभाव पुत्र) को उत्पन्न करनेवाली माता क्या कभी हठ करेगी ? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥ और मुझ सेवक की बात ही कितनी ? उसमें भी कुसमय है और विधाता भी टेढ़े हैं ॥५॥ मैं जो हठ करूँ, तो वह नितान्त कुकर्म है, क्योंकि शिवजी के पर्वत कैलास से भी सेवक-धर्म भारी है ॥६॥ एक भी युक्ति उनके मन में ठीक न जमी, श्रीभरतजी को सोच करते ही सारी रात बीत गई ॥७॥

प्रातःकाल स्नान करके प्रभु को सिर नवाकर बैठते ही ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने (श्रीभरतजी को) बुला भेजा ॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्ह मातु मिस काल···'—श्रीभरद्वाजजी ने कहा ही है—"गई गिरा मति धूति" उसीको लेकर एवं अचानक घटना पर ऐसा कहते हैं। काल ईश्वर की इच्छा है, यथा—"भृकुटि बिलास भयंकर काला।" (लं० दो० १४), यह घटना ईश्वर-इच्छा से हुई है, यथा—"तब कछु कीन्ह राम रुख जानी।" (दो० २१७), इसीसे वह परम समर्थ हैं। वैसे ही बाधा का दृष्टान्त भी देते हैं कि जिसका उपाय फिर न हो सके। 'ईति भीति जस···'—'ईति' के छः भेद पूर्व कहे गये, उनमें एक मूषक-बाधा भी है, वही यहाँ समझना चाहिये कि पकते हुए धान की तरह एक ही दिन तिलक को शेष था, तभी काल की कुचाल हुई। जैसे पकी बाली मूसा काट ले, तो फिर ठूँठ में बालियाँ नहीं फलतीं, चाहे कितना भी यत्न किया जाय। वैसे ही अब श्रीरामजी का तिलक इस समय पर होना असम्भव है। (दूसरे साल फिर धान होता है, वैसे १४ वर्ष पर तिलक होगा।) यहाँ राजा, गुरु, प्रजा सब किसान हैं, राम-राज्य-तिलक धान है, सुकृत-रूपी श्रम से सम्पन्न हुआ, फसल कटने को एक ही दिन रह गया कि उक्त बाधा हुई। यहाँ काल ही मूसा हुआ। मूसा रात में बाली काटता है, वैसे ही काल ने भी कैकेयी के द्वारा रात में ही विघ्न किया, यथा—"होइ अकाज आजु निसि बीते।" (दो० २१)।

'केहि बिधि···मोहि···'—पहले सोचा था—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥" (दो० १८६), तथा—"तुम्ह पै पाँच···जेहि सुनि बिनय मोहिं जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥" (दो० १८१), इनमें अब आशा नहीं जान पड़ती, इन्हींके विचार आगे प्रकट करते हैं—

(२) 'अवसि फिरहिं गुरु···'—पिता की आज्ञा मानकर वन को आये हैं, गुरुजी उनके भी गुरु हैं। अतएव उनकी आज्ञा से अवश्य लौट सकते हैं, यथा—"राउरि राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥" (दो० २६५)। पर मुनि तो श्रीरामजी की रुचि पालेंगे, यथा—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ॥" (दो० २५४)। अभी भी पहले जब श्रीरामजी ने उनसे सबके साथ लौटने को कहा था, तब गुरुजी ने उन्हींके अनुकूल कहा है कि लोग दो दिन और दर्शन पा लें। यह न कहा कि सब लौटाने आये हैं। 'पुनि' अर्थात् फिर कहना पड़ेगा तो ऐसा ही कहेंगे। अथवा, एक मुनि ने कहा था—"भूप सजेउ अभिषेक समाजू।···राम करहु सब संजम आजू।···" (दो० ९), इसपर रामजी का रुख दूसरा था, उन्होंने इसमें 'अनुचित एकू' ढूँढ़ निकाला और अचानक दुर्घटना के द्वारा (दैवकृत घटना से) सिद्ध नहीं हुआ। मुनि को इसपर रोना पड़ा है, यथा—"सुनहुँ भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।" (दो० १७१), इससे अब मुनि फिर यदि कुछ कहेंगे तो राम-रुख रखकर ही कहेंगे। श्रीराम-रुख उपर्युक्त 'मातु मिस काल कुचाली' से समझ ही चुके हैं। यह 'पुनि' का फिर (दोबारा) अर्थ लेने से भाव होगा। ऊपर 'पर' अर्थ का भाव तो कहा ही है। अतः, इस उपाय की आशा नहीं।

(३) 'राम-जननि हठ ···'—दूसरा उपाय सोचते हैं कि पिता की आज्ञा से वन आये हैं और माता का गौरव पिता से दस गुणा है। उनके आग्रह से भी लौट सकते हैं, पर वे हठ न करेंगी, क्योंकि उन्होंने तो—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४) कहकर पुत्र को सत्यसन्धता में आरूढ़ किया है। वे पति की आज्ञा और पुत्र के धर्म पर आक्षेप कैसे करेंगी? उन्होंने कहा भी है—"यह बिचारि नहिं करउँ हठ···" (दो० ५६)। अतः, वे हठ नहीं करेंगी, तब इस उपाय का भी भरोसा नहीं।

(४) 'मोहि अनुचर कर केतिक बाता।···'—फिर तीसरा उपाय सोचते हैं कि मैं ही कहूँ, तो सेवक की बात का कुछ गौरव नहीं, फिर उसमें भी कुसमय है और विधाता टेढ़े हैं। इससे सफलता में

सन्देह ही है। जो कहा जाय—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद-पुरान-साधु-सुर साखी॥" (दो० २१८), तो इस नियम से जब पाँव पकड़कर मैं मचल पड़ूँ, तो मेरी हार्दिक रुचि जानकर अवश्य पूरी करेंगे, उसपर कहते हैं—

(५) "जौ हठ करउँ·····"—सेवक के लिये हठ करना निन्द्य है, यथा—"जो सेवक साहिबहिं सकोची। निज रुचि चहै तासु मति पोची॥" (दो० २६७)। वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरतजी का हठ करने (अनशन व्रत करने=धरना देने) पर उद्यत होना और फिर अयोग्य कहकर श्रीरामजी के मना करने पर उसे छोड़ना लिखा है। यहाँ उसे मन में लेकर श्रीभरतजी को स्वयं खंडन करना कहा है। सेवक का धर्म स्वामी की आज्ञा को मानना है, अपनी ओर से कुछ करने के लिये कहना एवं उसके लिये हठ करना तो आज्ञा देना है। अतः, प्रतिकूल है।

'हर-गिरि ते गुरु ···'—कैलास को तो रावण उठा सका था, पर वह सेवक धर्म उठाने में असमर्थ हो गया, यथा—"होइहि भजन न तामस देहा।" (अर० दो० २२), मानों उसने दोनों को तौला था। कैलास स्वच्छ वर्ण और भारी है, वैसे सेवा-धर्म भी सात्त्विक एवं भारी है।

(६) 'एकउ जुगुति न···'—तीन उपाय कहकर बहुवचन द्वारा और भी बहुत-से उपाय जनाये, पर वे सब परीक्षा में ठीक न जान पड़े। 'प्रात नहाइ···'—इससे भरतजी की नित्यचर्या भी स्पष्ट हुई, इसीसे वहीं से गुरुजी ने बुला भेजा। 'रिषय'—यह बहुवचन है। अतः, वसिष्ठजी और-और ऋषियों की सम्मति से बुला रहे हैं। जावालि आदि साथ आये हैं। सम्भवतः, चित्रकूट के महर्षि अत्रि एवं वाल्मीकि आदि ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी के साथ हो गये हों। और ऋषियों का मत तो श्रीरामजी के वनवास से राक्षसों का नाश करना ही होगा। सम्भवतः इन सबकी सम्मति से भी—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ' यह प्रस्ताव अभी वसिष्ठजी रक्खेंगे।

'संग पुरबासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी।'-प्रकरण समाप्त।

'पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये।'-प्रकरण

वसिष्ठ-भरत-गोष्ठी

दोहा—गुरु-पद-कमल प्रनाम करि, बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब, जुरे सभासद आइ॥२५३॥

बोले मुनिबर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥१॥
धरमधुरीन भानु-कुल-भानू। राजा राम स्वबस भगवानू॥२॥
सत्यसंध पालक श्रुतिसेतू। राम-जनम जग-मंगल-हेतू॥३॥
गुरु-पितु-मातु-बचन-अनुसारी। खल-दल-दलन देव-हितकारी॥४॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ॥५॥

अर्थ—श्रीभरतजी गुरुजी के चरण-कमलों को प्रणाम कर उनकी आज्ञा पाकर बैठे। (तब) ब्राह्मण, महाजन, मन्त्री एवं सभी सभासद लोग आकर इकट्ठे हुए॥२५३॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी समय के अनुसार बोले, हे सुजान सभासदो और श्रीभरतजी! सुनिये॥१॥ श्रीरामजी धर्मधुरन्धर, सूर्यकुल के सूर्य, राजा, स्वतन्त्र और भगवान् हैं॥२॥ सत्य-प्रतिज्ञ हैं, वेदों की मर्यादा के रक्षक हैं। श्रीरामजी का जन्म

जगत् के कल्याण के लिये हुआ है ॥३॥ वे गुरु, पिता और माता के वचनों के अनुसार चलनेवाले हैं, दुष्ट-दलों के नाशक और देवताओं के हितकारी हैं ॥४॥ नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीरामजी के समान यथार्थ और कोई भी नहीं जानता ॥५॥

विशेष—(१) 'बिप्र महाजन सचिव·····'—इन सबको भी गोष्ठी के लिये ही गुरुजी ने बुला भेजा था। अतः, एक साथ ही नियत समय पर आ गये। यह भी आशय है कि गुरुजी का स्थल श्रीरामजी के पास ही है, इसीसे वहाँ से श्रीभरतजी बुलाते ही तुरत आ गये। इसी विचार के लिये गुरुजी ने श्रीरामजी से दो दिन का अवकाश माँगा था, यथा—"लोग दुखित दिन दुइ···" (दो० २४८)।

(२) 'बोले मुनिबर समय·····'—'समय'—सभा को विशेष सम्मान देने और अपना उत्साह प्रकट करने का समय नहीं है, क्योंकि सब दुखी हैं। अतएव, संक्षिप्त शब्दों में ही कहा। 'सुनहु सभासद भरत सुजाना'—सभासदों में वामदेव, जाबालि आदि ऋषि भी हैं, इसीसे प्रथम कहा। श्रीभरतजी को सुजान कहा, क्योंकि वक्तव्य विषय के समझने में ये विशेषज्ञ हैं। पुनः अन्त में सुजान शब्द के होने से इसे सभी में लगा सकते हैं।

(३) 'धरमधुरीन'—धर्म रथ है, सारा जगत् इसीके आश्रित है, श्रीरामजी उसकी धुरी के धारण करनेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि श्रीरामजी—'पितु आयसु सब धरमक टीका।' के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ होकर चले हैं। यदि वे इसमें कुछ भी ढीले पड़ें किंवा हेर-फेर करें, तो जगत् भी धर्म में दृढ़ता छोड़ बैठेगा, यथा—"मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्॥ (गीता ३।२३-२४), इसलिये उनकी प्रतिज्ञा पर हमलोगों को दृष्टि रखनी चाहिये। 'भानु-कुल-भानू'—सूर्य धर्म मार्ग के प्रवर्त्तक हैं, गीता ४।१-२ में निष्काम कर्मयोग रूप धर्म की परम्परा सूर्य से ही कही गई है, तथा सूर्योदय से दिन, घड़ी आदि के अनुसार ही धर्म किया जाता है। इसीसे सूर्यवंश के सभी राजा धर्माचरण में प्रमुख होते आये हैं। श्रीरामजी भी पिता के सत्यधर्म की रक्षा पर आरूढ़ हैं और स्वयं भी कैकेयीजी से प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि मैं १४ वर्ष वनवास को जाता हूँ। अपने कुल पर ध्यान रखते हुए प्रतिज्ञा छोड़ना उन्हें अभीष्ट न होगा, यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाउ बरु बचन न जाई॥" (दो० २७)। 'राजा'—वे किसीके कहने से कुछ का कुछ करें—यह नहीं हो सकता, यथा—"भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।" (अर० दो० ३६)। सारी प्रजा का रंजन करना राजा का काम है। पुनः वे तो स्वयं राजा हैं, उन्हें कोई राजा क्या बनावेगा? 'राम'—सबमें रमण करते हैं। अतः, सबके मन की जानते हैं, और सबको रमाते भी हैं। अतः, सबके लिये उचित विधान वे स्वयं करेंगे, उनके सम्मुख अपनी रुचि आगे रखना ठीक नहीं। बा० दो० १६६ चौ० ५-६ के अनुसार वे आनन्द के अधिष्ठान हैं, फिर उन्हें कहीं भी दुख नहीं, जिसका शोच करें। 'स्वबस', यथा—"निज तंत्र नित रघुकुल मनी।" (बा० दो० ५०)। अतः, वे किसी सम्बन्धी के दबाव में नहीं आ सकते कि उनपर लौटने ही का एवं ऐसा और कोई दबाव दिया जाय। 'भगवानू'—षडैश्वर्य पूर्ण हैं, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" (वि० पु० ६।५।७८), अर्थात् जीवों की उत्पत्ति, प्रलय, आना-जाना एवं उनकी विद्या-अविद्या को जो जानता है, वह भगवान् कहाता है, तथा—"ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज, ये छः ऐश्वर्य भगवान् में होते हैं।" (वि० पु० ६।५।७९), इनमें ज्ञान-बल से संहार, ऐश्वर्य-वीर्य से उत्पत्ति और शक्ति-तेज से जगत् का पालन कार्य होते हैं। अतः, इन्हीं भगवान् से संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होते हैं, अर्थात् संसार-भर की व्यवस्था ही उनके हाथ है। अतः, सबका सार-सँभार रखते हुए भी तुम सबका स्नेह रक्खेंगे, यह सब सामर्थ्य उनमें है।

(४) 'सत्य-संध', यथा—"सत्य-संध दृढ़व्रत रघुराई। (दो० ८१)। तब उनका दृढ़व्रत कोई

कैसे छुड़ावे ? और वे कैसे छोड़ेंगे ? 'पालक श्रुतिसेतू'—वे अधर्मियों से वेद-मर्यादा की रक्षा करते हैं, धर्म का संस्थापन करते हैं। मत्स्यादि रूपों को इसीलिये धारण करते हैं। आज दिन भी तो रावणादि असुर बढ़े हुए हैं, उनका शासन करना और धर्मात्मा ऋषियों की रक्षा करना भी है ही। तब कैसे कहा जाय कि हमारी ही रुचि रखिये। 'जग-मंगल-हेतू'—उन्होंने जगत् भर के मंगल के लिये अवतार लिया है, कुछ श्रीअवध ही के लिये नहीं। तब कौन कहे कि आप जगत् भर का मंगल न करें और घर में ही रहें। जगत् भर में हमलोग भी हैं, वे यथायोग्य हमारे और सबके भी मंगल की व्यवस्था करेंगे।

(५) 'गुरु-पितु-मातु-बचन···'—भू-भार-हरण की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, पिता के वचन का पालन भी करते हैं, फिर उसे छुड़ाकर गुरु और माता की आज्ञा का भार कैसे दिया जाय ? जो पहले से कर रहे हैं उसका खंडन होगा। 'खल-दल-दलन·····'—खलों का दलन वन को लीला से ही होगा और इसीसे देवताओं का हित भी होगा, यथा—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह···"(बा० दो० १२१), तब कैसे कहा जाय कि वन को न जाइये ?

(६) 'नीति प्रीति परमारथ···'—नीति रावण और बालि को सिखाई। देखिये—कि० दो० ८-६ और लं० दो० ८६-६०। तथा—"पुनि सुग्रीवहि लीन्हि बोलाई। बहु प्रकार नृप नीति सिखाई॥" (कि० दो० ११), "राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥" (उ० दो० २४), "मुखिया मुख सों चाहिये, खान-पान कहँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक॥ राजधरम सरबस एतनोई।" (दो० ३१५), आपने अपने राज्य में नीति कुशलता की पराकाष्ठा दिखाई है, यथा—"राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥" से "बिधु महि पूरि मयूषन्हि···" रामचंद्र के राज॥" (उ० दो० १९-२३) तक। प्रीति, यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई।···" (वि० १६४), (यह पूरा पद देखिये)। परमार्थ-पुरजन-उपदेश उ० दो० ४२-४६ में कहा गया है। स्वार्थ अर्थात् लोक-व्यवहार में निपुण हैं, इसीसे सबको प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं, यथा—"कोसलपुर बासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागत, सब कहँ रामकृपाल॥" (बा० दो० २०४)।

बिधि हरिहर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥६॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥७॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। राम-रजाइ सीस सबही के॥८॥

दोहा—राखे राम रजाइ रुख, हम सबकर हित होइ।
सुमुझि सयाने करहु अब, सब मिलि संमत सोइ॥२५४॥

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्रमा, सूर्य, आदि दिक्पाल, माया, जीव, समस्त कर्म, और समस्त काल॥६॥ सर्पराज, पृथ्वी के पालक राजा आदि की जहाँ तक प्रभुता (साहिबी) है और योग की सिद्धियाँ जो वेदों और शास्त्रों में कही गई हैं॥७॥ इन सबको हृदय में अच्छी तरह से विचार कर देखिये (तो समझ पड़ेगा कि) सभी के सिर पर श्रीरामजी की आज्ञा है, अर्थात् सभी उसे आदर सहित मानते हैं॥८॥ श्रीरामजी की आज्ञा और उनका रुख रखते हुए हम सबका हित हो, वही सम्मत आप सब चतुर लोग मिलकर अब (निश्चित) कीजिये॥२५४॥

विशेष—(१) 'बिधि हरिहर ससि···'—बिधि आदि बड़े-बड़े भी श्रीरामजी की आज्ञा का पालन करते हैं, तब हमलोग अपनी रुचि से उन्हें आज्ञा कैसे दें ? माया—विद्या-अविद्या, जीव—"बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (दो० २७६), ये तीनो जगत् में रहनेवाले हैं, इनके अतिरिक्त मुक्त, नित्य और कैवल्य, ये परधाम रहनेवालों के भेद हैं। 'करम कुलि'—नित्य, नैमित्तिक,

काम्य एवं वर्णाश्रम कर्म तथा सकाम-निष्काम आदि भेदों से बहुत हैं। 'कुलि-काला', यथा—"लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।·····काल जासु कोदंड॥" (लं० दो० मं०)।

(२) 'अहिप महिप···'—अहिप (शेष) से पाताल, महिप से सातों द्वीपों के राजा लोग, 'जहँ लगि प्रभुताई' से इन्द्र आदि स्वर्गवासी भी आ गये। सभी श्रीरामजी के आज्ञाकारी ही हैं, यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये॥" (हनु० बाहुक ४४)। "करम काल सुभाव गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति॥" (वि० २४६), "जग भल पोच····· राम रजाइ मेटि मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥" (दो० २९७), "ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के॥" (दो० २८१)। अतः, हमें भी आज्ञानुसार ही रहना चहिये। "आज्ञासम न सुसाहिब सेवा॥ (दो० ३००)।

(३) 'राखे राम रजाइ रुख···'—यहाँ वसिष्ठजी ने अपना मत भी कह दिया कि श्रीरामजी की आज्ञा और रुख में ही मैं सहमत हूँ, जैसा कि पूर्व ही श्रीभरतजी ने समझा था—"मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी।" 'रजाइ' के उदाहरण ऊपर आ गये हैं। 'रुख', यथा—"तात विचारो धौं हौं क्यों आवौं। तुम्ह सुचि सुहृदय सुजान सकल बिधि, बहुत कहा कहि-कहि समुझावौं॥ निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौ पितुपद पानही करावौं। होउँ न उऋन पिता दसरथ ते, कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं॥ तुलसिदास जाको सुजस तिहूँपुर क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावौं। प्रभु रुख निरखि उदास भरत भए, जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावौं॥" (गी० अ० ७२)। औरों को भी समझने को कहते हैं कि मेरी उपर्युक्त बातों को समझ-बूझकर सब कोई एक-मत होकर जो कहो वही किया जाय। किन्तु यह चेतावनी अवश्य है कि श्रीरामजी का रुख रखते हुए ही अपना हित सोचा जाय। राजा दशरथ ने राम रुख देखा है—"लखी राम रुख रहत न जाने···" (दो० ७७), तब फिर रखने का उपाय नहीं किया। आगे स्वार्थ की बात कहते हैं—

सब कहँ सुखद राम-अभिषेकू। मंगल-मोद मूल मग एकू॥१॥
केहि बिधि अवध चलहि रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ॥२॥
सब सादर सुनि मुनिबर-बानी। नय-परमारथ-स्वारथ-सानी॥३॥
उतर न आव लोग भये भोरे। तब सिर नाइ भरत कर जोरे॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी का राज्याभिषेक सबके लिये सुखदायक है, मंगल और मोद का मूल-रूप वही एक मुख्य मार्ग है॥१॥ रघुराज श्रीरामजी किस प्रकार से श्रीअवध लौट चलें, समझकर कहिये, वही उपाय किया जाय॥४॥ नीति, परमार्थ और स्वार्थ में सनी हुई मुनिश्रेष्ठ की उत्तम वाणी सबने आदर के साथ सुनी॥३॥ (पर) किसीको कुछ उत्तर स्फुरित न हुआ, सब-लोग भोरे (चकित) हो गये, तब श्रीभरतजी सिर नवाकर हाथ जोड़ बोले॥४॥

विशेष—(१) 'सब कहँ सुखद···'—मुनि ने अपने उपर्युक्त भाषण में सबका रुख न देखकर कहा कि जैसे आपलोगों को श्रीराम-तिलक सुखद है, वैसे मुझे भी, पर वह कैसे हो? यह आप ही लोग समझकर कहें। भाव यह कि मैंने उनका लौटने का रुख नहीं देखा, इससे मैं तो उन्हें लौटने को न कहूँगा। तब आप ही लोग कोई उपाय बतलावें, पर समझकर कहना, यह चेतावनी है। (श्रीवसिष्ठजी ने एक बार बिना श्रीरामजी का रुख लिये राजा दशरथजी से सहसा श्रीराम-तिलक के लिये कह दिया, उसमें ठगे गये हैं, इसीसे सबको सचेत करते हैं) 'केहि बिधि अवध···'—'रघुराऊ' अर्थात् श्रीरामजी को यहीं से राजा बनाकर ले चलने को आये थे, पर अब मेरे विचार में कोई विधि नहीं आती। अतः, आप

ही लोग कहें। श्रीभरतजी ने कहा था—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥" (दो० २५१), वैसा ही यहाँ गुरुजी ने भी कहा।

(२) 'नय-परमारथ-स्वारथ···'—क्रम से—'धरम धुरीन भानु···' से 'कोउ न राम सम···' तक नीति, 'बिधि हरिहर ससि' से 'हम सब कर हित होइ।' तक परमार्थ और—'सब कर हित होइ···' से 'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ।' तक स्वार्थ है। मुनि के कथन का उपक्रम—'बोले मुनिबर समय समाना।···' से हुआ और यहाँ—'सब सादर सुनि मुनिबर बानी।' पर उसका उपसंहार है।

भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक ते एक बड़ेरे॥५॥
जनम हेतु सब कहँ पितु-माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥६॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥७॥
सोइ गोसाइँ बिधि-गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥८॥

दोहा—बूझिय मोहिं उपाय अब, सो सब मोर अभाग।
सुनि सनेहमय बचन गुरु, उर उमगा अनुराग॥२५५॥

शब्दार्थ—छेकना = रोकना, मिटा देना। टेक टेकना = हठ करना, जिद ठानना।

अर्थ—सूर्यवंश में बहुत-से राजा हुए हैं, वे सब एक-से-एक अधिक और बड़े हुए॥५॥ सबके जन्म के कारण (मात्र) पिता-माता होते आये और शुभाशुभ कर्मों के फल विधाता देते रहे॥६॥ (पर सबके) दुःख को नष्ट कर (और उसपर) समस्त कल्याण (विधानों को) सज देनेवाली आप ही की आशिष है, यह समस्त जगत् जानता है॥७॥ हे गोस्वामी! आप वे ही हैं कि जिन्होंने ब्रह्माजी की गति रोक दी है, जो हठ आपने की उसे कौन हटा सकता था, अर्थात् कोई नहीं॥८॥ अब वही आप मुझसे उपाय पूछते हैं, यह सब मेरा ही अभाग्य है। (ऐसा) स्नेहमय वचन सुनकर गुरुजी के हृदय में अनुराग उमड़ पड़ा॥२५५॥

विशेष—(१) 'भानुबंस भये भूप···'—"बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना" (बा० दो० ५), इस उक्ति की रीति से जगत् में सबके लिये उन्नति और अवनति की व्यवस्था पाई जाती है। पर इस सूर्यवंश में एक-से-एक बढ़कर ही राजा होते आये और निर्विघ्न निबहते आये। इस कारण विचारने पर जान पड़ता है कि सबके माता-पिता जन्ममात्र के कारण होते थे, भाग्य नहीं बना सकते थे। यदि कहा जाय कि भाग्य के बनानेवाले ब्रह्मा हैं, तो वे तो कर्मानुसार ही सबका विधान करते हैं, इसीसे विधाता कहाते हैं और सबको यथासमय शुभ-अशुभ (दोनों) कर्मों के फल देते हैं। इस नियम को वे नहीं तोड़ सकते। तब निश्चय होता है कि इस कुल के राजाओं के अशुभ कर्मों के फल-रूप दुःखों को आप ही अपनी आशिष से निवारण करके उनके समस्त कल्याण करते आये हैं।

श्रीभरतजी का अभिप्राय यह है कि वैसी ही आशिष मैंने माँगी है, यथा—"आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहिं जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥" (दो० १८२), पर मुझे न मिली थी, वही मुझे देकर इस कुल का कल्याण सजिये (कीजिये)।

(२) 'सोइ गोसाइँ बिधि-गति···'—आप इस कुल के बहुत-से राजाओं के अशुभ संस्कारों को बार-बार शमन करते आये और उनकी जगह उनके कल्याण करते आये। इस तरह बार-बार आप ब्रह्मा की गति को रोकते आये हैं। 'सोइ' में यह भी ध्वनि है कि आप वही, कुल वही और मैं भी उसी कुल में उत्पन्न हूँ, फिर आप अब वैसी आशिष क्यों नहीं देते? 'जग जाना'—जगत् क्या कहेगा? कि गुरुजी

में अब वह सिद्धि नहीं रह गई या अब सूर्य-कुल में ही कोई दोष आ गया, इत्यादि। इन बातों को भी जगत् जानता है कि "राजा वैवस्वत मनु की सन्तान के लिये आप (वसिष्ठजी) ने यज्ञ कराया। मनु की पत्नी ने होता से कन्यार्थ प्रार्थना की, उसने वैसी ही आहुति दी। तब इला नाम की कन्या हुई। मनु ने दुखी हो गुरु वसिष्ठजी से कहा, ऐसा क्यों हुआ? वसिष्ठजी ने ध्यान से सब जाना और फिर उन्होंने अपने तपःप्रभाव से राजा को सुखी करने के लिये कहा। वसिष्ठजी ने श्रीहरि की स्तुति की। श्रीहरि ने सन्तुष्ट हो उस कन्या इला को सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बना दिया।

सुद्युम्न एक समय शिकार में गये थे। वहाँ एक शिवजी के विहार-वन में गये। वहाँ पूर्व के शिव-शाप से वे समाज के साथ स्त्री हो गये। फिर उन्होंने गुरु वसिष्ठजी का स्मरण किया। वसिष्ठजी ने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न हो एक महीना स्त्री और एक महीना पुरुष होकर रहने का वर दिया।" (भाग० ९।१), राजा दशरथ के पुत्र नहीं होता था आप ही ने आशिष देकर चौथेपन में उनको चार पुत्र दिये। श्रीदशरथजी की प्रार्थना पर गुरु वसिष्ठजी ने आशीर्वादात्मक वचन कहा है—"धरहु धीर होइहहिं सुतचारी।...." (बा० दो० १८८), फिर उसकी पूर्त्ति के लिये उन्होंने ही शृंगी ऋषि को बुलवा कर पुत्रेष्टि यज्ञ कराया है, इत्यादि, इत्यादि।

(३) 'बूझिय मोहि उपाय अब...'—अब मेरे विषय में मुझसे ही उपाय पूछ रहे हैं, यह सब मेरा ही अभाग्य है, आप तो वही सिद्ध हैं। भाव यह कि कन्या को पुत्र बनाने से श्रीरामजी को वन से श्रीअवध ले जाना कठिन कार्य नहीं है। यह मुनि के—'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ।' का उत्तर है।

तात बात फुरि राम - कृपाहीं। रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ॥१॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता ॥२॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरियहि लखन सीय रघुराई ॥३॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥४॥
मन प्रसन्न तन तेज बिराजा। जनु जिय राउ राम भये राजा ॥५॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुखसुख सब रोवहिं रानी ॥६॥

अर्थ—हे तात! बात सत्य है (पर वह सब) श्रीरामजी की कृपा से ही (होती आई)। श्रीरामजी से विमुख होकर वह सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती ॥१॥ हे तात! मैं एक बात कहता हुआ सकुचाता हूँ। वह यह कि बुद्धिमान् लोग सर्वस्व जाते समय आधा छोड़ देते हैं, अर्थात् आधा-मात्र ही ले लेते हैं ॥२॥ इस दृष्टि से तुम दोनों भाई वन को जाओ, (इसपर) श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी को लौटाया जाय ॥३॥ यह सुन्दर वचन सुनकर दोनों भाई प्रसन्न हुए, उनका सम्पूर्ण शरीर विशेष आनन्द से परिपूर्ण हो गया ॥४॥ मन प्रसन्न हो गया और शरीर में तेज विराजमान हो गया, मानों राजा जी उठे और श्रीरामजी राजा हो गये ॥५॥ लोगों को लाभ बहुत और हानि कम जान पड़ी, सब रानियाँ दुःख और सुख समान जानकर रो रही हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।'—इससे जाना गया कि ऋषियों की आशिष और शाप के फल श्रीरामजी के द्वारा ही सिद्ध होते हैं, यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्ह असीस।" (बा० दो० ७०), पुनः—"राम बिमुख न जीव सुख पावै।...बिमुख राम सुख पाव न कोई॥" (उ० दो० १२१)। "फलमत उपपत्तेः।" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२७)।

(२) 'अरध तजहि बुध सरबस जाता।'—यह लोकोक्ति है—"सर्वस देखी जात तो, आधा लेइय

बाँट ।" इसमें ठीक आधा ही अभिप्रेत नहीं है । तात्पर्य यह है कि अवधवासियों के सर्वस्व श्रीसीता-रामजी हैं, वे तुम्हारे जाने से लौटें, तो उतनी हानि नहीं है, जैसा कि आगे कहा है—"बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी ।" श्रीवसिष्ठजी ने यहाँ सहसा इतना ही विचारा कि पिता की आज्ञा में दोनों अपना-अपना हेर-फेर कर लें । बस, यही एक-मात्र उपाय है, जैसा कि श्रीभरतजी ने ही कहा है, यथा—"तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने । तत्प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥" (वाल्मी० २।८८।२७), अर्थात् श्रीरामजी को वन से लौटा कर उनके बदले में सुख से वन में बसूँगा जिससे बड़े भाई की चौदह वर्ष वनवास की प्रतिज्ञा मिथ्या न हो । गुरुजी यहाँ घबराये-से जान पड़ते हैं, उन्होंने इसमें न तो श्रीरामजी का रुख ही देखा और न श्रीकैकेयीजी के वरदान को ही देखा, सहसा यह प्रस्ताव कर बैठे । परीक्षा की यहाँ कोई बात नहीं है, श्रीभरतजी के भायप को तो उन्होंने अयोध्या-दरबार में ही भलीभाँति देख लिया है । हाँ, यह लोगों में श्रीभरतजी की महिमा को प्रसिद्ध करने की मुनि की दृष्टि भले ही कही जाय । यह आगे—'भरत महा महिमा जलरासी ।···' से स्पष्ट है ।

(३) 'जनु जिय राउ राम ···'—श्रीभरतजी को दो दुःख हैं—पिता के मरण का और श्रीरामजी के वन जाने का । इससे यह जनाया कि उनके दोनों दुःख निर्मूल हो गये । श्रीरामजी के वनवास के कारण ही पिता ने देह-त्याग किया, इससे उनके वनवास की निवृत्ति में ही दोनों दुःख निवृत्त हो गये ।

(४) 'बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी ।'—तीनो भाइयों की अपेक्षा श्रीरामजी अधिक सुखदायक हैं, यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥" (बा० दो० १९७), "प्रानहु ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल ॥" (बा० दो० २०४), इत्यादि । माताओं को चारो पुत्र एक समान हैं, इसलिये उनका दुःख वैसा ही अब भी रहेगा, दो का रोना तब था, वैसा ही अब भी रहेगा ।

'अरध तजहिं···' से 'हरषे दोउ भ्राता ।' तक, ये चारो चरण राजापुर की प्रति में नहीं हैं, शेष सब प्राचीन प्रतियों में पाये जाते हैं । समालोचकों के निर्णय से राजापुर की प्रति श्रीगोस्वामीजी की स्वयं लिखित नहीं है, किन्तु उन्हींके समय की प्रतिलिपि है और प्रामाणिक है । पर ये चरण लेखक की अन-वधानी से छूटे हुए प्रतीत होते है, क्योंकि बिना इनके प्रसंग अधूरा रहता है । कोई-कोई ऐसा भी अनुमान करते हैं कि इस काण्ड में बहुत स्थलों पर आशय से काम लिया गया है । वैसे ही इन चरणों को गुरुजी मन में लाये, पर कह न सके, क्योंकि वे श्रीकैकेयीजी की तरह कठोर-हृदय तो नहीं है । तब श्रीभरतजी ने लख लिया और आगे की बातें हुईं । जब श्रीवसिष्ठजी ही न कह सके, तो कवि ने भी उसे छोड़ दिया और छः ही अर्द्धाली रख कर छोड़ने का गुप्त वह भाव भी जना दिया कि वह जानकर छोड़ा गया है । श्रीभरतजी ने प्रसन्नता प्रकट कर उसमें श्रद्धा जनाकर गुरुजी का संकोच मिटाया, इत्यादि । किन्तु पहले पक्षवाले कहते हैं कि गुरुजी को जो कहना था, स्पष्ट कहा और सबलोगों ने और माताओं ने भी सुना और समझा, तभी तो तदनुसार व्यवस्था कही गई । मुझे तो पहला पक्ष समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि इसी तरह एक अर्द्धाली की कमी आगे दो० २७८ में भी है । वह भी छूटी हुई है, वहीं पर देखिये ।

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे । फल जग जीवन अभिमत दीन्हे ॥७॥
कानन करउँ जनम भरि बासू । येहि ते अधिक न मोर सुपासू ॥८॥

दोहा—अंतरजामी राम सिय, तुम्ह सरवज्ञ सुजान ।
जौ फुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान ॥२५६॥

अर्थ—श्रीभरतजी कहने लगे—मुनि ने जो कहा है उसके करने से जगत्-भर के जीवों को मनोवांछित देने का-सा फल होगा ॥७॥ (१४ वर्ष तो कुछ भी नहीं है) मैं जन्म-भर वन में वास करूँ, इससे बढ़कर मेरे लिये और अनुकूलता नहीं है ॥८॥ श्रीसीतारामजी अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ एवं सुजान हैं। यदि आप सत्य (हृदय से) ही कहते हैं, तो हे नाथ! अपने वचन को प्रमाण (पक्का) कर ही दीजिये, अर्थात् यह प्रस्ताव टलने न पावे, तभी मैं जानूँगा कि आपने हृदय से कहा है।

विशेष—(१) 'कहहिं भरत मुनि कहा·····'—'मुनि' शब्द सम्बोधन नहीं है, किन्तु यह बात श्रीभरतजी सभा के समक्ष में कह रहे हैं, क्योंकि शिष्य हैं। अतः, 'मुनि' सम्बोधन अयोग्य है।

(२) 'कानन करउँ जनम भरि बासू'—यहाँ गुरुजी से ही कहते हैं कि आप १४ वर्ष ही कहते हैं, पर मैं जन्म-भर वास करूँगा और उसे परम आनन्द मानूँगा।

(३) 'अंतरजामी राम सिय·····', तथा—"तुम्ह सर्बज्ञ कहउँ सतिभाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥" (दो० २१०)। मैं यदि कुछ बनाकर कहूँ, तो छिप नहीं सकता, मेरी अभिलाषा सत्य है और आप उसके लिये कह ही चुके हैं, तो अब प्रमाण कीजिये, अर्थात् मेरे बदले में श्रीरामजी को अवध लौटाइये और उन्हें राज्य दीजिये। श्रीभरतजी निश्चय जानते हैं कि श्रीरामजी का रुख ऐसा नहीं होगा, यदि गुरुजी कर दें, तो बड़ा भाग्य है, पर गुरुजी उनके रुख के विरुद्ध भी न करेंगे। अतः, मुनि ने ये वचन ऊपर से ही किसी और कारण से सहसा कह दिये हैं, इसलिये ठीक करने के लिये प्रार्थना करते हैं।

भरत-बचन सुनि देखि सनेहू। सभासहित मुनि भये बिदेहू ॥१॥
भरत - महा - महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला-सी ॥२॥
गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा ॥३॥
और करिहि को भरत - बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई ॥४॥

शब्दार्थ—जलरासी = समुद्र। बोहित (बोहित्थ) = बड़ी नाव (जहाज)। सरसी = छोटा तालाब। और = दूसरा, अधिक।

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर और उनका स्नेह देखकर मुनि सभा के समेत विदेह हो गये ॥१॥ श्रीभरतजी की महती महिमा समुद्र है, मुनि की बुद्धि उसके किनारे पर अबला (स्त्री) की तरह खड़ी है ॥२॥ वह पार जाना चाहती है, उसने हृदय में उपाय ढूँढ़े, पर वह न नाव पाती है, न जहाज और न बेड़ा ही ॥३॥ श्रीभरतजी की बड़ाई और कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं कर सकेगा, क्या छोटे तालाब की सीपी में सागर समा सकता है? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥

विशेष—(१) 'सभासहित मुनि भये बिदेहू।'—इन सबको यह आशा न थी कि वे हर्ष-पूर्वक १४ वर्ष का भी वनवास स्वीकार करेंगे। पर जब इन्होंने जन्म-भर के लिये माँगा और हठ की, तब इनका स्नेह बहुत उच्च कोटि का देखा गया। इसपर मारे प्रेम के लोगों का देहाध्यास न रह गया।

पहले—'सुनि सनेह मय बचन गुरु, उर उमँगा अनुराग॥' कहा गया था, पर इस बार तो मुनि सबके सहित विदेह ही हो गये। श्रीभरतजी की भक्ति की महिमा अगाध देख पड़ी, उसे समुद्र के रूपक से कहते हैं—

(२) 'भरत-महा-महिमा जलरासी।'—अबला जो कहीं अगाध समुद्र के किनारे जाय और वहाँ जहाज, नाव और बेड़ा भी न पावे, तो हार मानकर देखती खड़ी ही रह जायगी। पुरुष हो तो भला कुछ तैरने का भी साहस करे। बुद्धि स्त्रीलिंग है। अतः, उसे अबला कहा और बल-हीनता भी जनाई। वैसे

मुनि की मति ने श्रीभरतजी की महिमा के पार जाना अर्थात् उसके पूर्ण प्रभाव का पता लगाना चाहा, पर उसने उत्तम-मध्यम और निकृष्ट में एक भी साधन न पाया। जहाज उत्तम, नाव मध्यम और बेड़ा निकृष्ट साधन है, इन्हींसे जल-राशि का उतरना हो सकता है। श्रीभरतजी के महिमा-समुद्र के समक्ष में उस अबला की तरह मुनि की मति दंग हो गई, हृदय से हार गई, इसी प्रकार भरत-महिमा पर श्रीहनुमानजी ने भी हार मानी है, यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है।···यह जलनिधि खन्यों, मथ्यो लाँघ्यो, बाँध्यो, अचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार कर गयो है॥" (गी० लं० ११), भाव यह कि मुनि की मति श्रीभरतजी के महिमा-समुद्र में प्रवेश करने में भी असमर्थ है, जहाज से पार जाना हो सकता है, नाव से भी सागर में कुछ दूर तक जा सकते हैं, बेड़ा से उससे भी कम दूर जा सकते हैं। यहाँ तीनों न मिलने का तात्पर्य यह कि महिमा के कुछ अंश में भी प्रवेश नहीं कर पाते, यथा—"धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथा मति मोर प्रचारू॥ सो मति मोरि भरत महिमा हो। कहइ काह छलि छुवत न छोही॥" (दो० २८७)—यह जनकजी का हार मानना है। इन्होंने भी ब्रह्म विचार-रूपी जहाज, धर्मशास्त्र-रूपी नौका और राजनीति-रूपी बेड़े के रहते हुए भी हार मानी है। कहा भी है—"जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी।···" (दो० ३१७)। इस हार में गुरुजी को जो आनन्द हुआ, कदाचित् जीत जाते तो न होता प्रत्युत खेद होता। इसीसे आगे ये ही श्रीभरतजी के पैरवीकार हो गये और श्रीभरतजी के स्नेह में अपनी मुग्धता प्रकट की, यथा—"भरत सनेह बिचार न राखा।" कहा है।

(३) 'और करिहि को·····'—जब ब्रह्मा के पुत्र श्रीवसिष्ठजी ने हार मानी, (उपर्युक्त प्रमाण से श्रीहनुमानजी ने हार मानी है), तो दूसरा कौन श्रीभरतजी की बड़ाई कर सकता है? यहाँ वसिष्ठ आदि की मति तालाब की सीपी तथा और कवियों की एवं अपनी मति सरसी सीपी और श्रीभरतजी की महिमा समुद्र है।

वसिष्ठ-भरतगोष्ठी समाप्त।

चित्रकूट-प्रथम-दरबार

भरत मुनिहि मन भीतर भाये। सहितसमाज राम पहिं आये॥५॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसन। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासन॥६॥
बोले मुनिबर बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी॥७॥
सुनहु राम सरबज्ञ सुजाना। धरम-नीति-गुन-ज्ञान-निधाना॥८॥

दोहा—सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन-जननी-भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥२५७॥

भरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ॥९॥

अर्थ—श्रीभरतजी मुनि को मन में प्रिय लगे और वे समाज के साथ श्रीरामजी के पास आये॥५॥ प्रभु ने प्रणाम करके (गुरुजी को) श्रेष्ठ आसन दिया, मुनि वसिष्ठजी की आज्ञा सुनकर सबलोग बैठ गये॥६॥ मुनि-श्रेष्ठ देश, काल और अवसर के अनुसार विचार कर वचन बोले॥७॥ हे श्रीरामजी! सुनिये, आप सर्वज्ञ और सुजान हैं एवं धर्म, नीति, गुण और ज्ञान की खान हैं॥८॥ आप सबके हृदय के भीतर बसते हैं, सबके भाव और कुभाव को भी जानते हैं, पुरवासियों, माताओं और श्रीभरतजी का हित जिसमें हो, वह

उपाय बतलावें ॥२५७॥ आर्त्त लोग कभी विचार कर नहीं कहते, क्योंकि जुआरियों को अपने ही दाँव सूझते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'मन भीतर भाये'—पहले श्रीभरतजी ने राज्य-ग्रहण की आज्ञा नहीं मानी थी, किन्तु राम-प्रेम था, इससे भाये थे। यहाँ वन जाने की आज्ञा पर सन्नद्ध हैं और श्रीराम-भक्ति में परम अगाध देखे गये, इससे मन के भीतर जम गये।

(२) 'बोले मुनिबर बचन ···'—'बिचारी', क्योंकि गोष्ठी में बिना विचारे ही सहसा प्रस्ताव कर बैठे थे। इसीसे अब सावधान होकर बोले। 'देश'—चित्रकूट सात्त्विक मुनियों का देश है, सभा की एवं किसी की प्रशंसा आदि की आवश्यकता नहीं। 'काल'—आपत्-काल है, उदासीन-वृत्ति से ही बातचीत हो। 'अवसर'—सूक्ष्म रीति से कार्यवाही हो, जिसमें मध्याह्न से पहले सभा-विसर्जन हो जाय, अतएव—'अरथ अमित अति आखर थोरे।' की रीति से बोले।

(३) 'सुनहु राम सरबज्ञ ···'—श्रीरामजी के प्रति सब विशेषण अभिप्राय युक्त हैं—'सरबज्ञ' अर्थात् देवता, दैत्य, मुनि, विप्र, पृथ्वी आदि की व्यवस्था जानते हो, 'सुजान' अर्थात् चातुर्य गुण से आश्रितों के जी की भी जानते हो, यथा—"देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥" (दो० ३०३)। जान-सिरोमनि कोसल राऊ।" (बा० दो० २७)। अतः, हमलोगों के जी की भी जानते ही हो। 'धरम-नीति-गुन···'—सत्य-धर्म, भ्रातृ-धर्म, सेवक-धर्म, प्रजा-धर्म, राज-धर्म आदि सभी धर्मों के आप खजाना हैं, जिसमें आपका और सबका धर्म रहे, वैसा उपाय कहिये। 'नीति'—राजनीति भी आप जानते हैं, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।" (दो० १४), इसका निर्वाह भरतजी चाहते हैं, पुनः—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (दो० २२८), इसके अनुसार राक्षस आदि आपके आश्रितों के शत्रु हैं, उनका नाश करना आप चाहते हैं। 'गुन' अर्थात् शील, कृपा, करुणा आदि गुणों के आप ही एकमात्र आधार हैं। हम एवं सब माताओं आदि पर शील, श्रीभरतजी पर करुणा और आर्त्त देवता आदि पर कृपा की आवश्यकता है। 'ज्ञान-निधाना'—अपरोक्ष-ज्ञान, त्रिकाल-ज्ञान एवं शास्त्र-ज्ञान के भी आप स्थान हैं। अतः, हमलोगों को आवश्यक ज्ञान भी आप ही दे सकते हैं।

(४) 'सबके उर अंतर बसहु···'—सबके भीतर का भाव यह है कि आप लौट चलें और राज्य स्वीकार करें। आपके वन जाने में सबका कुभाव है, यह सब भी आप जानते ही हैं, यथा—"जानत हौ सब ही के मन की। ···ये सेवक संतत अनन्य गति ज्यों चातकहिं एक गति घन की। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की॥" (गी० अ० ७१), आपने स्वयं कहा भी है—"मानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहिं पल जिमि जुग जाता॥" (दो० २४७), फिर इनके दुःख-निवारण का उपाय बतलाइये। तात्पर्य यह कि इनका हित हो, चाहे जिस रीति से हो, श्रीरामजी सबके हितार्थ आगे चरण-पादुका देंगे, यथा—"तुलसिदास अनुजहिं प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हे। मनहुँ सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे॥" (गी० अ० ७५)।

'पुरजन-जननी···'—पुरजनों में ऋषि, विप्र भी हैं, इससे इन्हें प्रथम कहा। श्रीरामजी के भी पुरजन अति प्रिय हैं, यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)।

(५) 'आरत कहहिं बिचारि न काऊ।', यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न सँभारी।" (बि० ३४), तथा—"रहत न आरत के चित चेतू।" (दो० २६८), भाव यह कि मेरे ऊपर न डालिये (जैसा कि आगे प्रभु ने कहा ही है) हमलोग आर्त्त हैं। अतः, जिसमें हमें सुख देख पड़ेगा, वही कहेंगे, चाहे वह यथार्थ न भी हो। जैसे जुआरी जब पासा या कौड़ी फेंकते हैं, तब सब अपनी बाजी पड़ना कहते हैं, कि मेरी कौड़ी आई। वैसे हमलोग तो अपनी ही कहेंगे कि आप राजा हों, लौट चलें, इत्यादि।

इस जुए में आपका ही दाँव पड़ा, राजा-रानी में जुआ हुआ, रानी ने दाँव जीता। आप चाहते थे—श्रीभरतजी राजा हों और हम वन को जायँ, वही हुआ, पासा तो आपका पड़ा, पर हमलोग अपनी ही हाँकते हैं कि आप लौट चलें, राजा होवें—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू।" (दो० २५२), इत्यादि। अपने आर्त्त होने का कारण भी आगे मुनि ने ही कहा है—'भरत सनेह बिचार न राखा।' इत्यादि।

सुनि मुनि-बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ ॥२॥
सब कर हित रुख राउरि राखे। आयसु किये मुदित फुर भाखे ॥३॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई ॥४॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाँई। सो सब भाँति घटिहि सेवकाई ॥५॥

शब्दार्थ—माथे मानि = शिरोधार्य करके। घटिहि = करेगा, लगेगा। फुर भाखे = सच कहने में।

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं कि हे नाथ! आपके ही हाथ में इसका उपाय है ॥२॥ आपके रुख रखने में एवं आपकी आज्ञा (के प्रति कर्म से) करने में, (मन से) प्रसन्न होने में और (वचन से) उसे सत्य (ठीक) कहने में सबका हित है ॥३॥ पहले जो आज्ञा मुझे हो, उस शिक्षा को मैं शिरोधार्य करके करूँ ॥४॥ फिर हे गोसाईं! आप जिसे जैसा कहेंगे, वह सब प्रकार से सेवा में लगेगा ॥५॥

विशेष—(१) मुनि ने कहा था—'पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ।' उसके प्रति श्रीरामजी कहते हैं—'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥ सब कर हित रुख····' अर्थात् मुनियों ने श्रीरामजी को 'सर्वज्ञ' और 'सुजान' आदि में और अन्त में—'उर अंतर बसहु' कहा है। तदनुसार श्रीरामजी सब जानकर कहते हैं कि गोष्ठी में आपका जो रुख था—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" एवं "राम रजाइ सीस सबही के" पुनः मेरे रुख को भी आपने ही प्रकट किया है, यथा—"सत्य संध-पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥" अतः वैसी ही आज्ञा मुझको और सबको हो।

(२) 'प्रथम जो आयसु·····'—जब मैं गुरु-आज्ञा पर सन्नद्ध हो जाऊँगा, तब सभी होंगे, इसलिये पहले मुझे ही आज्ञा हो।

कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाखा। भरत-सनेह-बिचार न राखा ॥६॥
तेहि ते कहउँ बहोरि बहोरी। भगत-भगति बस भइ मति मोरी ॥७॥
मोरे जान भरत - रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव-साखी ॥८॥

दोहा—भरतबिनय सादर सुनिय, करिय बिचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि ॥२५८॥

अर्थ—मुनि ने कहा, हे श्रीरामजी! आपने सत्य कहा है, पर श्रीभरतजी के स्नेह ने मेरे विचार को नहीं रहने दिया ॥६॥ इसीसे मैं बार-बार कहता हूँ कि मेरी बुद्धि श्रीभरतजी की भक्ति के वश हो गई है ॥७॥ मेरी समझ में तो श्रीभरतजी की रुचि रखकर जो कुछ किया जायगा, वह शुभ ही होगा, मैं शिवजी की साक्षी देकर कहता हूँ ॥८॥ श्रीभरतजी की प्रार्थना आदर-पूर्वक सुनिये, फिर उसपर विचार कीजिये, तब साधु-मत, लोक-मत, राजनीति और वेदों का सार मत निचोड़कर वही कीजियेगा ॥२५८॥

विशेष—(१) श्रीरामजी ने मुनि को ही आज्ञा देना कहा था, उसपर मुनि कहते हैं कि श्रीभरतजी की भक्ति के वश होने से मेरे विचार तो उन्हींके अनुकूल होंगे। अतः, मैं स्वतन्त्र-रूप से

कोई सिद्धान्त की बात नहीं कह सकता। हाँ, इतना तो कहूँगा कि श्रीभरतजी की रुचि रखकर जो भी करेंगे, शुभ होगा, क्योंकि श्रीभरतजी परम भागवत (साधु) हैं और—"साधु ते होइ न कारज हानी।" (सुं० दो० ५), यह कहा है और आप सेवकों की रुचि रखते हैं, यथा—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद-पुरान-साधु-सुर-साखी॥" (दो० २१८)। 'सिव साखी'—शिवजी कल्याणकर्त्ता हैं, यदि हम झूठ कहते होंगे, तो वे दण्ड देंगे, क्योंकि संहारकर्त्ता भी हैं।

(२) 'करिय बिचारि बहोरि'—क्योंकि मुनि पहले ही कह चुके हैं कि मैं एक पक्ष में विवश हूँ। अतः, स्वतन्त्र आज्ञा नहीं दे सकता। काकु से यह भी ध्वनि है कि श्रीभरतजी की विनय सुनने पर क्या फिर आप उनसे भिन्न विचार कर सकेंगे? अर्थात् आप भी उन्हींके अनुकूल ढल पड़ेंगे और—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।···" ऐसा कह पड़ेंगे।

गुरु अनुराग भरत पर देखी। रामहृदय आनंद बिसेखी॥१॥
भरतहि धरम-धुरंधर जानी। निज सेवक तन-मानस-बानी॥२॥
बोले गुरु-आयसु-अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगलमूला॥३॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयेउ न भुवन भरतसम भाई॥४॥
जे गुरु-पद-अंबुज-अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़ भागी॥५॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥६॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत-बड़ाई॥७॥
भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥८॥

शब्दार्थ—अरगाई (अलं गानम्) = मौन होना, चुप होना, यथा—"झुकी रानि अब रहु अरगानी।" (दो० १३)।

अर्थ—श्रीभरतजी पर गुरु का अनुराग देखकर श्रीरामजी के हृदय में विशेष आनन्द हुआ॥१॥ श्रीभरतजी को धर्म-धुरन्धर तथा उन्हें तन-मन एवं वचन से अपना सेवक जानकर॥२॥ उन्होंने गुरुजी की आज्ञा के अनुकूल सुन्दर, कोमल और मंगल-मूलक वचन कहा॥३॥ हे नाथ! आपकी सौगन्द और पिता के चरणों की शपथ (करके कहता हूँ), श्रीभरतजी के समान भाई भुवन भर में नहीं हुआ॥४॥ जो गुरुजी के चरण-कमल के अनुरागी हैं, वे लोक में और वेद में भी बड़भागी (माने जाते) हैं॥५॥ (फिर) जिसपर आपका ही ऐसा अनुराग है उस श्रीभरतजी के भाग्य को कौन कह सकता है?॥६॥ छोटे भाई जानकर श्रीभरतजी के मुँह पर उनकी बड़ाई करते हुए मेरी बुद्धि संकुचित होती है॥७॥ श्रीभरतजी जो कुछ कहें वही करने में भलाई है—ऐसा कहकर श्रीरामजी चुप हो रहे॥८॥

विशेष—(१) 'रामहृदय आनंद बिसेषी।'—श्रीभरतजी में श्रीरामजी का स्नेह है। अतः, गुरुजी के अनुराग से उनकी अत्यन्त भलाई होगी, इसपर श्रीरामजी को विशेष आनन्द हुआ। यह भी सूचित किया कि गुरु-भक्ति करके गुरुजी की अनुकूलता से श्रीरामजी विशेष प्रसन्न होते हैं। शिष्य का अनुराग तो गुरु पर होता ही है, पर गुरु का अनुराग शिष्य पर हो जाना उसके बड़े भाग्य का सूचक है, इससे अपने प्यारे भरत जी के बड़े भाग्य पर विशेष प्रसन्न हुए। व्यावहारिक दृष्टि से विशेष आनन्द का यह भी कारण है कि यदि गुरुजी न्याय अपने हाथ में रखते तो मुझे परतन्त्रता थी, अब तो अनुराग से उन्होंने श्रीभरतजी पर ही डाल दिया, तो श्रीभरतजी अपने कहने में हैं और सयाने साधु हैं, यथा—"भरत कहुँ साधु सयाने।" (दो० २२५)। अतः, मेरे अनुकूल ही रहेंगे।

(२) 'भरतहिं धरम-धुरंधर जानी···'—यथा—"तात भरत तुम्ह धरम धुरीना।" (दो० ३०३) धर्म धुरन्धर हैं। अतः, हमारा भी धर्म बचावेंगे। हमारे 'निज सेवक' हैं। अतः, हमारे प्रतिकूल हठ न

करेंगे, आज्ञा मानेंगे। 'तन मानस बानी', यथा—"चलत पयादे खात फल ···" (दो० २२२),—तन, "सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा ॥···" (दो० २०२),—वचन, "केहि बिधि होइ राम अभिषेकू, मोहि अवकलत उपाय न एकू ॥···" से "एकउ जुगुति न मन ठहरानी।···" (दो० २५२) तक—मन। श्रीभरतजी में धर्म और प्रेम दोनों कई जगह आये है, वैसे इस अर्द्धाली में भी दोनों ही कहे हैं। बा० दो० १६ चौ० ३-४ से ही दोनों चल रहे है।

(३) 'बचन मंजु मृदु मंगलमूला।'—पहले जब मुनि ने कहा—'पुरजन जननी भरत·····' तब आपने जो उत्तर दिया, वह गुरु-आयसु के अनुकूल न था, इसलिये वहाँ—'कहत रघुराऊ' मात्र कहा गया और यहाँ गुरु आयसु की अनुकूलता से वचन के तीन विशेषण 'मंजु, मृदु और मंगलमूला' दिये गये, तथा—"बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन ॥" (दो० ४०)।

(४) 'नाथ सपथ पितु चरन दोहाई।—पिता के चरण मात्र की शपथ और गुरु के सर्वांग की शपथ की, इससे पिता में अधिक भक्ति दिखाई, क्योंकि श्रीभरतजी को भी पिता की आज्ञा के पालन में दृढ़ करना है कि जिससे वे इसके प्रतिकूल कुछ न कहें। श्रीभरतजी की प्रशंसा करने में संकोच दिखाते हुए भी उनकी कुछ प्रशंसा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाते हैं कि जिससे वे मेरी रुचि रक्खें। गुरु की शपथ से दिखाया कि मैं इन्हें इष्ट मानता हूँ, वैसे तुम भी मानो और इनकी आज्ञा का पालन करो। जो गुरु-भक्त होगा, वह गुरु की रुचि को भंग न करेगा।

(५) 'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई।·····'—सम्मुख में संकोच होता है, पर परोक्ष में तो बहुत बड़ाई किया करते हैं, जैसे कि निषादराज ने और भरद्वाजजी ने तथा आगे उ० दो० २ में श्रीहनुमानजी ने भी कहा है।

(६) 'भरत कहहिं सोइ किये·····'—पूर्वोक्त गुरु-वचन—'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय·····' को यहाँ पूरा किया।

दोहा—तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय कै बात ॥२५६॥

सुनि मुनि-बचन राम-रुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई ॥१॥
लखि अपने सिर सब छरभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू ॥२॥
पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज - नयन नेह - जल बाढ़े ॥३॥

अर्थ—तब मुनि वसिष्ठजी श्रीभरतजी से बोले—हे तात! सब संकोच छोड़कर कृपा के सागर प्यारे भाई से अपने हृदय की बात कहो ॥२५६॥ मुनि के वचन सुन, श्रीरामजी का रुख पा, गुरु और इष्टदेव की अनुकूलता से तृप्त होकर ॥१॥ सब छरभार (कार्य का बोझा) अपने सिर देखकर, श्रीभरतजी कुछ कह नहीं सकते, किन्तु विचार करने लगे ॥२॥ वे शरीर से पुलकित होकर सभा में खड़े हुए, उनके कमल के समान नेत्रों में स्नेह-जल की बाढ़ आ गई ॥३॥

विशेष—(१) 'तब मुनि बोले ···'—पूर्व की गोष्ठी में श्रीभरतजी ने मुनि से कहा था—"जौ फुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान ॥" (दो० २५६), वहाँ उस समय मुनि चुप हो रहे थे, उसका निर्वाह प्रबन्ध बाँधकर यहाँ किया कि लो, श्रीरामजी प्रसन्न हैं और यह कह भी चुके हैं—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।" अब अपने अभीष्ट पूरे कर लो, वचन देकर श्रीरामजी टलेंगे नहीं। यह श्री वसिष्ठजी की शिष्टता है, कोरा-कथन मात्र ही नहीं है। किन्तु कर्त्तव्य पूर्ण करके कहा, यथा—"देवि!

बिनु करनूति कहिबो जानि हैं लघु लोय। कहौं गो मुख की समरसरि कालि कालिख धोय।" (गी० मु० ५)। गुरु का कर्त्तव्य यही है ईश्वर को शिष्य के सम्मुख कर दे। 'सब सँकोच तजि'—संकोच, माता के किये हुए अपराध का, यथा—"मातु मते महँ मानि माहिं ···" (दो० २३३), सामने बात करने का, यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बयन।" (दो० २६०), इत्यादि। संकोच छोड़ दो, क्योंकि श्रीरामजी कृपासिन्धु और प्रिय-बन्धु हैं, उन्होंने तुम्हारे प्रेम से कृपा करके तुम्हें पूर्ण स्वत्व दे दिया कि जो कहो वही करें, तब संकोच क्या ?

(२) 'गुरु साहिब अनुकूल अघाई।'—पहले डरते थे कि ये प्रतिकूल होंगे, यथा—"लोग कहउ गुरु-साहिब-द्रोही।" (दो० २०४)। "अपडर डरेउँ न सोच समूले।" (दो० २६६), अब यहाँ दोनों की अनुकूलता से तृप्त हो गये।

(३) 'कहि न सकहिं कछु ···'—गुरु की आज्ञा से शपथ करके प्रभु मेरे लिये प्रतिज्ञा भी छोड़ने को सन्नद्ध हो गये, तो अब मुझे क्या कर्त्तव्य है ? यही विचार रहे हैं, क्योंकि—"सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥" (दो० २३०)।

(४) 'पुलकि सरीर सभा···'—खड़े होकर बोलना सभा की रीति है, अपने पर गुरु और स्वामी की प्रसन्नता देखकर प्रेम के आँसू चल पड़े। 'पुलक सरीर···'—तन से, 'नेह'—मन से और आगे 'कहब मोर···'—यह वचन से प्रेम प्रकट किया है।

भरत-भाषण [१]

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। येहि ते अधिक कहउँ मैं काहा॥४॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥५॥
मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥६॥
सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥७॥
मैं प्रभु कृपा-रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥८॥

दोहा—महूँ सनेह - सकोच - बस, सनमुख कही न बयन।
दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नयन॥२६०॥

शब्दार्थ—खुनिस (खिन्न-मनस्) = क्रोधित, रुखापन। जोही = देखी।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने कहा—) मेरा कहना तो मुनिनाथ ने ही सब पूरा कर दिया, अर्थात् जो मैं कहना चाहता था वह उन्होंने ही पूरा कर दिया। और इससे अधिक मैं क्या कहूँ ? ॥४॥ मैं अपने स्वामी का स्वभाव जानता हूँ कि वे अपराधी पर भी कभी क्रोध नहीं करते॥५॥ और मुझपर तो बहुत कृपा और स्नेह रखते हैं, (यहाँ तक कि) मैंने खेलते हुए (बालपन में) भी कभी उन्हें क्रोधित नहीं देखा॥६॥ मैंने बचपन से कभी साथ नहीं छोड़ा, स्वामी ने कभी भी मेरा मन भंग नहीं किया॥७॥ मैंने स्वामी की कृपा की रीति हृदय में (विचार कर) देखी है कि खेल में हारने पर भी वे मुझे जिता देते थे॥८॥ मैंने भी स्नेह और संकोच के वश सामने कभी बात नहीं की। प्रेम के प्यासे मेरे नेत्र आज तक स्वामी के दर्शनों से तृप्त नहीं हुए॥२६०॥

विशेष—(१) 'कहब मोर मुनिनाथ निबाहा।···'—गुरुजी ने जो पहले कहा था—"पुरजन जननी-भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥" उसीमें मेरा कथन आ गया, वही तो मैं भी कहता। पुनः पूर्वगोष्ठी में गुरुजी से श्रीभरतजी ने कहा था—'कीजिय बचन प्रमान' उसकी पूर्त्ति भी—"मोरे जान

भरत रुचि राखी।···" में आ गई। इससे श्रीरामजी पर स्वीकृति का भार दे दिया, अब वह बात भी श्रीभरतजी चाहे कहें या न कहें, पर गुरुजी ने तो अपना कथन सत्य कर दिया।

(२) 'मैं जानउँ निज नाथ···'—'मैं जानउँ'—श्रीभरतजी स्वभाव-ज्ञाताओं में प्रधान हैं, यथा—"राम रावरो स्वभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत।" (वि० २५१)—इस पद में विपरीत यथासंख्यालंकार की रीति से श्रीभरतजी स्वभाव-ज्ञाता कहे गये हैं। औरों के नाथ प्रायः क्रोध करते हैं, पर मेरे नाथ नहीं, यथा—"साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धरयो॥" (दोहावली ४७), प्रत्युत वे कृपा और स्नेह रखते हैं, यथा—"एक कहत भइ हार रामजी की एक कहत भैया भरत जये। प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि···" (गी० बा० ४३)। 'खेलत खुनिस न कबहूँ देखी।'—बालपन के खेल में प्रायः क्रोध आया करता है, पर स्वामी ने उस अवस्था में भी क्रोध नहीं किया, यथा—"सिसु पन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहुँ लखेउ न काउ॥" (वि० १००), अब बड़े होने पर क्रोध क्यों करेंगे।

(३) 'सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू।'—बराबर साथ रहने पर कभी स्वभाव-भेद से अनादर का कारण आ जाता है, पर मैं बराबर साथ रहा, तो भी कभी मेरा मन तोड़ा।

शंका—श्रीरामजी के विश्वामित्र के साथ जाने में एवं ननिहाल जाने में तो संग छूटा ही।

समाधान—मुनि के साथ पिता की आज्ञा से श्रीरामजी के वन चले जाने से साथ छूटा और दूसरी बार भी पिता की आज्ञावश जाना पड़ा, अपनी ओर से इन्होंने साथ नहीं छोड़ा। यहाँ 'परिहरेउँ न संगू' पद में अपनी ओर से न छोड़ना कहा गया है।

(४) 'हारेहु खेल जितावहिं मोही।'—भाव यह कि अब भी माता की करनी से मेरी हार हुई है इसमें भी मुझे जिताया, क्योंकि त्याग न करके आदर किया और मेरे अनुकूल हो गये।

यहाँ तक स्वामी का स्वभाव और अपनी कृतज्ञता कही, आगे अपनी वृत्ति कहते हैं—

(५) 'महूँ सनेह सँकोच-बस···'—भाव यह कि कभी कोई बात पूछने की इच्छा होती थी, तब भी सामने सिर उठाकर बात नहीं की, यथा—"नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं॥" (उ० दो० ३५), कभी ऐसा अवसर ही नहीं आया कि सम्मुख होऊँ, तो आज कैसे बात करूँ। तब आये ही क्यों? इसपर कहते हैं—'दरसन तृपिति न···' अर्थात् दर्शनों के लिये दौड़ा आया और आपत्काल के कारण बात कहनी पड़ रही है, यथा—"छोटेहु ते छोह करि आये मैं सामुहें न हेरो। एकहि बार आजु बिधि मेरो सील सनेह निबेरो॥" (गी० अ० ७३)।

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥१॥
यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥२॥
मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥३॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥४॥

शब्दार्थ—बीच···पारा=भेद डाल दिया, पार्थक्य ला दिया। प्रसवना=पैदा करना।

अर्थ—ब्रह्मा मेरा दुलार नहीं सह सका (ईर्ष्यावश) उस नीच ने माता के व्याज से भेद डाल दिया॥१॥ यह भी कहते हुए आज मुझे शोभा नहीं, (क्योंकि) अपनी ही समझ से कौन साधु और पवित्र हुआ है? अर्थात् कोई नहीं॥२॥ 'माता नीच और मैं साधु सदाचारी हूँ', ऐसा हृदय में लाने से करोड़ों कुचालों (की तुल्यता) का दोष है॥३॥ क्या कोदो की बाली में सुन्दर धान फलता है? क्या काली घोंघी कहीं मोती पैदा कर सकती है?॥४॥

विशेष—(१) 'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा।'—आपका स्नेह और कृपा दैव से न सहा गया। इससे उस नीच ने माता के बहाने भेद डाला, यथा—"बिघन मनावहिं देव कुचाली।" (दो० १०) "बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।" (दो० २०१), 'नीच' यह विधि का विशेषण है, इससे समझा गया कि पूर्व कहा है, यथा—"ऊँच निवास नीच करतूती।" (दो० ११), माता का भी विशेषण माना गया, क्योंकि आगे—'मातु मंद मैं···' कहा ही है। यदि 'नीच' को 'बीच' का ही विशेषण मानें, तो अर्थ होगा कि छोटे को बड़ा पद और बड़े का निरादर कराके नीचा पद दिया, जिससे कुल में दाग लगाया, यह नीच रीति का बीच (भेद) है।

(२) 'यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा।···'—माता मन्द है, किन्तु मैं साधु सुचाली हूँ, यह किसी के विश्वास योग्य नहीं है, इसीसे यह कहने में मेरी शोभा नहीं है। जो बात औरों के विश्वास योग्य न हो, वह अपने ही मुँह से अपनी प्रशंसा के विषय में कभी प्रामाणिक नहीं हो सकती। इसीको दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(३) 'फरइ कि कोदव बालि ···'—कोदव कदन्न (निषिद्ध अन्न) है और सुशालि देवान्न है। कोदव रूपा निषिद्ध-वृत्ति-माता से उत्पन्न मैं सुशालि-बाली की तरह साधु-सुचाली नहीं हो सकता। काई-सेंवार आदि के समीपवाले घोंघे काले हो जाते हैं, उनसे मोती कभी नहीं हो सकता, वैसे मन्थरा आदि के संसर्गवाली कैकेयी से साधु-सुचाली पुत्र नहीं हो सकता।

यहाँ तक माता के सम्बन्ध से अपनेको दोषी कहा। आगे केवल अपनेको ही दोषी कहते हैं और उपर्युक्त विधि और माता को निर्दोष कहते हैं।

सपनेहुँ दोषक लेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥५॥
बिनु समुझे निज-अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू ॥६॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥७॥
गुरु गोसाइँ साहिब सिय-रामू। लागत मोहि नीक परिनामू ॥८॥

दोहा—साधु-सभा-गुरु-प्रभु निकट, कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ ॥२६१॥

शब्दार्थ—दोसक = दोष का। लेस = संसर्ग, लगाव। अवगाहू = अथाह। परिपाक = फल, पूर्णता। गोसाईं = इन्द्रियों के स्वामी, समर्थ। काकु = व्यंग्य।

अर्थ—इससे स्वप्न में भी किसीको दोष का लगाव नहीं है, मेरा अभाग्य रूपी समुद्र अथाह है ॥५॥ मैंने अपने पापों का फल बिना समझे हुए व्यर्थ ही माता को व्यंग्य वचन कह-कहकर जलाया ॥६॥ मैं हृदय में सब ओर खोजकर सभी ओर से हार गया, एक ही प्रकार से भले ही मेरा भला जान पड़ता है ॥७॥ कि गुरुजी गोस्वामी हैं और श्रीसीतारामजी स्वामी (इष्ट देव) हैं, इससे मुझे परिणाम अच्छा जान पड़ता है ॥८॥ इस साधु-समाज, गुरु और स्वामी के समीप श्रेष्ठ स्थल चित्रकूट तीर्थ में सद्भाव से कहता हूँ, प्रेम है वा कपट, झूठ है वा सत्य, इसे तो मुनि और रघुकुलभूषण श्रीरामजी जानते हैं ॥२६१॥

विशेष—(१) 'मोर अभाग उदधि···', यथा—"मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी। सब उत्पात भयेउ जेहि लागी॥" (दो० २००)। 'बिनु समुझे निज···'—अपने ही बुरे कर्मों के फल-भोग का समय प्राप्त है, यथा—काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१),

इसका भाष्य देखिये। इसे न समझकर व्यर्थ ही माता को व्यंग्य एवं कठोर वचन कहा, यथा—"पापिनि सबहि भाँति कुल नासा।···" से "राम बिरोधी हृदय ते···" (दो० १६०-१६२) तक, तथा—"मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके। न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि॥" (वाल्मी० २।७४।७), अर्थात् तू बड़े कठोर हृदय की है, राज्य का तुझे लोभ है, तू मेरी माता रूप में शत्रु है। अरी दुर्वृत्ते! अरी पतिघातिनि, मैं तुझसे बोलना नहीं चाहता।

(२) 'हृदय हेरि हारेउँ ···'—उपर्युक्त अभाग्य-सिन्धु से पार पाने के लिये और कोई उपाय न मिला, यही एकमात्र उपाय है—'गुरु गोसाइँ···'।

(३) 'साधु-सभा-गुरु-प्रभु ···'—इन चारो स्थलों में झूठ बोलना महापाप है, दूसरे इनके समक्ष में कपट प्रकट भी हो जाता है। साधु, गुरु और प्रभु सर्वज्ञ हैं। श्रीरामजी साधु-सभा में बैठे हैं, यथा—"बेदी पर मुनि साधु-समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥" (दो० २३८), तथा—"अंतरजामी राम सिय, तुम्ह सरबज्ञ सुजान।" (दो० २५६), तथा उत्तम स्थल चित्रकूट में त्रिदेव को भी कपट-छल छोड़ना पड़ा है, यथा—'-जहँ जनमें···बिधि हरिहर परिहरि प्रपंच छल।" (वि० २४)

भूपतिमरन प्रेम पन राखी। जननी कुमति जगत सब साखी॥१॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर-नर-नारी॥२॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला॥३॥
सुनि बन-गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लखन-सिय-साथा॥४॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहिं पाये। संकर साखि रहेउँ येहि घाये॥५॥

अर्थ—प्रेम-प्रण की रक्षा के लिये राजा का मरण और माता की दुर्बुद्धि (दोनों) का सारा जगत् साक्षी है॥१॥ माताएँ व्याकुल हैं, अतएव देखी नहीं जातीं, श्रीअवधपुर के नर-नारी दुस्सह ज्वर से जल रहे हैं॥२॥ इन सब अनर्थों का मूल (कारण) मैं ही हूँ, यह सुन-समझकर सब दुःख सहता हूँ॥३॥ श्रीरघुनाथजी श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को साथ लेकर मुनि-वेष बनाकर बिना जूतियों के पैदल ही वन को गये, यह सुनकर, श्रीशंकरजी साक्षी हैं कि ऐसे घाव से भी मैं जीता ही रह गया॥४-५॥

विशेष—(१) 'भूपतिमरन प्रेम पन राखी। ···'—'प्रेम पन' के यहाँ दो अर्थ हो सकते हैं—प्रेम-प्रण और प्रण (अर्थात् सत्य का प्रण)। प्रेम का प्रण, यथा—"सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥" (दो० १५४), सत्य का प्रण—सत्य-प्रण की रक्षा में श्रीराम-वियोग हुआ, यथा—"तुलसी जान्यो दसरथहि, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहि लागि बिनु, राम परिहरे प्रान॥" (दो० २१९), और फिर प्रेम-प्रण की रक्षा में शरीर-त्याग, यथा—"बंदउँ अवधभुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद। बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥" (बा० दो० १६)।

(२) 'महीं सकल अनरथ कर मूला।'—'सकल' उपर्युक्त 'भूपति मरन', 'जननी कुमति', 'बिकल महतारी', 'जरहिं दुसह जर पुर-नर-नारी' इन सभी अनर्थों का कारण मैं ही हूँ। माता की कुमति मेरे राज्य के लिये हुई, उसीसे शेष सब अनर्थ हुए।

'सो सुनि समुझि···'—माता से सुना और स्वयं समझा, यथा—"हेतु अपनपौ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥" (दो० १६०), जब मैं सब अनर्थों का कारण हूँ, तो कहूँ किससे? विवश होकर सब सहा, अर्थात् व्यथाएँ तो बहुत हैं, पर ये सब अपने ही कर्मों के फल हैं, अतः, इन्हें भोगना पड़ा।

(३) 'संकर साखि रहेउँ येहि घाये।'—शूल तो उपर्युक्त कारणों से ही हुआ था, पर जब यह जाना

कि बिना जूती और पैदल ही मुनि-वेष से वन को गये, तब अत्यन्त पीड़ा हुई। पर प्राण न गये, क्योंकि अभी कर्म-भोग शेष हैं। इस बात पर शिवजी की साक्षी दी कि जो यह झूठ हो तो वे हमारा कल्याण न करें, क्योंकि कल्याण-कर्त्ता हैं और कराल दण्ड दें, क्योंकि कालरूप भी हैं, यथा—"करालं महाकाल-कालं ···" (उ० दो० १०७)।

बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू ॥६॥
अब सब आँखिन्ह देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥७॥
जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषमबिष तामस तीछी ॥८॥

दोहा—तेइ रघुनंदन लखन सिय, अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख, दैव सहावइ काहि ॥२६२॥

शब्दार्थ—बेहू (सं० बेध)=छिद्र, छेद। तामस=तमोगुण प्रकृतिवाली। तीछी=तीक्ष्ण।

अर्थ—फिर निषाद गुह का स्नेह देखकर वज्र से भी कठिन इस हृदय में छिद्र न हुआ, अर्थात् वह फट न गया ? ॥६॥ अब यहाँ आकर मैंने सब आँखों से देखा, यह जड़ जीव सब सहवाकर जीता है ॥७॥ जिन्हें देखकर मार्ग की तीक्ष्ण तामसी साँपिनें और बिच्छियाँ अपने कठिन विष छोड़ देती हैं ॥८॥ वे ही श्रीरघुनन्दन, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी जिसे शत्रु जान पड़ें, उस कैकेयी के पुत्र को छोड़कर दैव यह दुस्सह दुःख और किसे सहावे ? अर्थात् मैं ही इसके योग्य पात्र हूँ ॥२६२॥

विशेष—(१) 'बहुरि निहारि निषाद···'—निषाद हिंसक-जाति होने से कठोर हृदय के होते हैं, उस जाति के 'गुह' का तो उनपर इतना प्रेम और मुझ भाई की ओर से ऐसे अनर्थ उन्हीं पर किये गये। उसका ऐसा प्रेम आँखों से देखा कि वह आपके लिये प्राण देने को उपस्थित था। (इससे जान पड़ता है कि जब निषादराज ने अपने परिजनों को श्रीभरतजी के मित्र-भाव होने का संकेत दिया, तब स्वाभाविक चतुर राजकुमार श्रीभरतजी ने उसकी तैयारी जान ली थी और ये उसका आशय भी जान गये थे।)

'कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू।'—कर्म-शेष से प्राण न निकले, तो कलेजा तो फट जाना चाहिये, पर वह भी न हुआ, क्योंकि यह वज्र से भी कठोर है।

'सहेउँ सब सूला'—'रहेउँ येहि घाये' और 'कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू।' इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक दुःख होना कहा गया।

(२) 'जियत जीव जड़···'—जीव को जड़ कहा, क्योंकि चेतन होता, तो न सह सकता। 'जियत जीव' का जीते-जी भी अर्थ होता है, इससे भाव होगा कि हम सुनते थे कि मरने पर यम-यातना शरीर से कष्ट भोगाया जाता है, पर वह शरीर बना ही रहता है। वैसे ही मेरे जीते-जी भी दुःख भोग-भोगकर यह शरीर बना ही है।

(३) 'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि···'—साँपिनि और बिच्छी स्त्रीलिंग हैं, क्योंकि कैकेयीजी के लिये (उपलक्ष्य में) ये उपमाएँ हैं। यह भी भाव है कि सर्प और बिच्छू की अपेक्षा सर्पिणी और बिच्छी अधिक तीक्ष्ण विषवाली होती हैं। ये तीक्ष्ण तामसी जीव भी श्रीरामजी को देखकर सदा का क्रूर स्वभाव छोड़ देते हैं, पर कैकेयी सदा साथ रहनेवाली और मनुष्य-योनि की है, वह इनसे भी क्रूर-कर्मा निकली कि सदा प्रेम करती थी और फिर वैर करने लगी, तथा—"अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥ भे अति अहित राम तेउ तोहीं। को तू अहसि सत्य कहु मोहीं॥" (दो० १६१)। 'सहावइ काहि' अर्थात् सहा नहीं जाता, पर विवश होकर सहना पड़ता है। 'काहि'—ऐसा दूसरा पात्र विधाता को मिले कहाँ, क्योंकि ऐसी क्रूर माता संसार में नहीं मिली कि जिसके पुत्र को ब्रह्मा चुने, इससे

मुझे ही चुना। यहाँ श्रीभरतजी ने गुरु-आज्ञा ('कहहु हृदय कै बात') से अपने हृदय की ग्लानि कही।

सुनि अति बिकल भरत-बरबानी। आरति - प्रीति-बिनय नय-सानी ॥१॥
सोकमगन सब सभा खभारू। मनहु कमल-बन परेउ तुषारू ॥२॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोध कीन्ह मुनि ज्ञानी ॥३॥
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर - कुल - कैरव-बन - चंदू ॥४॥

अर्थ—आर्त्ति, प्रीति, विनती और नीति में सनी हुई अत्यन्त व्याकुल श्रीभरतजी की श्रेष्ठ-वाणी सुनकर सब शोक में डूब गये, सभा-भर में खँभार (खलबली) पड़ गई, मानो कमल के वन में पाला पड़ा हो ॥१-२॥ ज्ञानी मुनि श्रीवसिष्ठजी ने अनेक प्रकार की पौराणिक (प्राचीन) कथाओं को कहकर श्रीभरतजी को समझाया ॥३॥ फिर सूर्यकुल-रूपी कुई-वन के चन्द्रमा रूप रघुकुल के आनन्द देनेवाले श्रीरामजी उचित वचन बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'आरति-प्रीति-बिनय नय-सानी।'—वाणी में चारो बातें मिश्रित हैं, जहाँ-जहाँ पृथक्-पृथक् भी हैं, जैसे—"देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर नरनारी॥"—आर्त्ति, "प्रेम पन" एवं "निषाद सनेहू।"—प्रीति, "गुरु गोसाइँ साहिब सियरामू।…"—विनय और—"फरइ कि कोदव…"—नीति है।

(२) 'मनहु कमल-बन परेउ तुषारू।'—पाले से झुलस जाने पर कमल का सिर नीचे को लटक पड़ता है, वैसे ही सभा के सिर शोक से लटक गये हैं, उदासी छा गई है। पहले सब कमल के समान प्रफुल्लित थे कि श्रीभरतजी लौटने को ही कहेंगे। पर उनके शोक-पूर्ण वचनों से सभी दुखी हो रहे, यह भी डरे कि कहीं ऐसी दशा में श्रीभरतजी प्रान न छोड़ दें।

(३) 'कहि अनेक बिधि कथा…'—नल, हरिश्चन्द्र आदि की पुरानी कथाएँ कहीं कि इन सबपर विपत्ति पड़ी और धैर्य धारण करने से दूर हुई। ज्ञानी हैं इससे ज्ञान-विषयक भी कथाएँ कहीं जिनसे शोक दूर हो, यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज॥" (दो० २२०), समझाने के प्रसंग में प्रायः मुनि को ज्ञानी कहा गया है, यथा—"यहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महा-मुनि ज्ञानी॥ तब बसिष्ठ मुनि…सोक निवारेउ…" (दो० १५६), तथा—"बैठन सबहिं कहेउ गुरु ज्ञानी॥ …मुनिबर बहुरि राम समुझाये॥" (दो० २४६)। श्रीभरतजी अधिक शोकाकुल हैं, अतएव प्रधान श्रोता इन्हींको कहा गया और सुना-समझा तो सब किसीने।

(४) 'बोले उचित बचन रघुनंदू।…'—यहाँ रामजी चन्द्रमा और उनके वचन किरण हैं, चन्द्रमा के प्रकाश से कुई का वन प्रफुल्लित हो जाता है, वैसे श्रीरामजी के इस भाषण से कुल-भर सुखी होगा। इसी प्रसंग के उपसंहार में कहा है—"सत्यसंध रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज॥" (दो० २६४)। 'रघुनंदू' शब्द से भिन्न दूसरे चरण में 'दिनकर कुल' कहा गया, क्योंकि रघुनाथजी से पृथक् होकर कुलवाले श्रीअयोध्याजी में जाकर कहेंगे।

श्रीराम-भाषण

तात जाय जिय करहु गलानी। ईस-अधीन जीव-गति जानी ॥५॥
तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे ॥६॥
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई ॥७॥
दोस देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुरु-साधु-सभा नहिं सेई ॥८॥

दोहा—मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥२६३॥

शब्दार्थ—पुन्यश्लिलोक (पुण्यश्लोक) = पवित्र यशवाले, पुण्यात्मा। तर = तले, नीचे।

अर्थ—हे तात! ईश्वर के अधीन जीव की गति जानकर भी हृदय में व्यर्थ ग्लानि करते हो ॥५॥ मेरे मत (विचार) से तीनो कालों और तीनो लोकों के पवित्र यशवाले तुम्हारे नीचे हैं, अर्थात् तीनो लोकों में तुम्हारे समान पवित्र यशवाला न हुआ, न है और न होगा ॥६॥ तुमपर हृदय में (भी) कुटिलता लाते ही (उसका बना-बनाया) लोक और परलोक नष्ट हो जाता है ॥७॥ वे ही मूर्ख लोग माता को दोष देते हैं, जिन्होंने गुरु और साधुओं के समाज का सेवन नहीं किया ॥८॥ तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप, प्रपंच (मायिक व्यवहार) और सम्पूर्ण अमंगल के बोझ मिट जायँगे तथा लोक में सुयश और परलोक में सुख प्राप्त होंगे ॥२६३॥

विशेष—(१) 'ईस-अधीन जीव-गति ···'—यह—'देखि न जाहिं बिकल महतारी···' का उत्तर है, भाव यह कि ये सब लोग दैवाधीन हैं, अपने-अपने कर्मानुसार ईश्वर के विधान से उन्हें दुःख सहना ही है, (दो० १७१ का भाष्य देखिये) इसपर ग्लानि करना व्यर्थ है, यथा—"तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" (गीता० २।२७), दैव पर तो किसीका वश नहीं है, तथा—"उमा दारु जोषित···" (कि० दो० १०) देखिये। 'पुन्य सिलोक'—नल आदि भी पुण्यश्लोक हैं, यथा—"पुण्यश्लोकस्य धीमतः" (महा० वन० ७६।१), पर वे तुम्हारे नीचे हैं।

(२) 'उर आनत'—जो प्रकट कहेंगे, उनकी दुर्गति का तो ठिकाना ही नहीं।

(३) 'दोस देहिं जननिहिं जड़···'—यह जगत् की दृष्टि का भाव लेकर जो श्रीभरतजी ने कहा था—"फरइ कि कोदव बालि सुसाली।···" इन बातों का उत्तर है। गुरु-साधु-सभा के सेवन से शील-गुण आता है, तब किसीपर दोष-दृष्टि नहीं रहती, क्योंकि यह बोध हो जाता है कि अपनी श्रेष्ठता सभी चाहते हैं, पर असमर्थता एवं दैवाधीनता वश अवगुणों से अपने को नहीं बचा पाते, तो इनका दोष क्या? पुनः साधुओं की यह भी वृत्ति है, यथा—"अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।" (दो० १३०), उनके संग से यह वृत्ति भी आ जाती है। कैकेयी को प्रायः सभी ने दोष दिया है, यहाँ श्रीरामजी ने ही उसे सर्वथा दोष-रहित कहा है, क्योंकि—"नीति प्रीति परमारथ-स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (दो० २५३)।

(४) 'मिटिहहिं पाप प्रपंच···'—ऊपर श्रीभरतजी और श्रीकैकेयीजी को निर्दोष कहा और यह भी कहा कि तुमपर कुटिलता लाने से लोक-परलोक नष्ट हो जाते हैं। पुनः माता को दोष देनेवाले जड़ हैं, इनमें कैकेयीजी को तो प्रायः सभी ने बुरा-भला कहा, किसी-किसीने श्रीभरतजी को भी कहा ही है। अतः, उन सबको पाप-मुक्त होने के लिये यह दोहा महामन्त्र-रूप कहा है और साथ ही श्रीभरतजी की पवित्रता का भी वर्णन किया। श्रीभरतजी को यह आशीर्वाद है और—"मोर अभाग उदधि अवगाहू॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू।" आदि उनकी ग्लानि का यहाँ निराकरण भी है।

कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी ॥१॥
तात कुतरक करहु जनि जाये। बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये ॥२॥
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ॥३॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुषतनु गुन - ज्ञान-निधाना ॥४॥

शब्दार्थ—बाधक = बाधा = (हानि) पहुँचानेवाले । बधिक = वध करनेवाले, प्राणहारक ।

अर्थ—हे श्रीभरतजी ! मैं अपने स्वभाव से ही सत्य कहता हूँ, श्रीशिवजी इसके साक्षी हैं । पृथ्वी तुम्हारे ही रखने से ठहरी हुई है एवं ठहर सकती है ॥१॥ हे तात ! व्यर्थ ही कुतर्क मत करो, वैर और प्रेम छिपाने से नहीं छिपते ॥२॥ (देखिये) मुनियों के समीप पक्षी-पशु जाते हैं और बाधा करनेवालों एवं वध करनेवालों को देखकर वे भाग जाते हैं ॥३॥ मित्र और शत्रु को तो पशु-पक्षी भी जानते हैं, फिर मनुष्य का शरीर तो गुण और ज्ञान का खजाना ही है (अतः, क्यों न जानेगा) ॥४॥

विशेष—(१) 'कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी', यथा—"जो कीजिये सो सुभ सिव साखी ॥" (दो० २५७)—श्रीवसिष्ठजी, "संकर साखि रहेउँ येहि घाये ।" (दो० ६२१)—श्रीभरतजी, वैसे ही यहाँ सत्य के प्रतिपादन में श्रीरामजी ने भी शिवजी की ही साक्षी दी है । 'भरत भूमि रह राउरि राखी ।'—ऊपर का भाव तो यह है कि पृथ्वी तुम्हारे ही द्वारा स्थिर है, यथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥" (बा० दो० १९६), और अन्तरंग भाव यह है कि मैं वचन दे चुका हूँ कि जो कहोगे वही करूँगा । जो मैं वन को न गया तो पृथ्वी का भार न उतरेगा, फिर पृथ्वी भार से रसातल को चली जायगी । मेरा अवतार इसकी रक्षा के लिये है, यथा—"प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ।" (बा० दो० २०५) ।

श्रीभरतजी ने कहा था—"चाहिय धरमसील नरनाहू ॥ मोहिं राज हठि देइहहु जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥" (दो० १७८)—इसका भाष्य भी देखिये । उसका यहाँ निराकरण है कि पृथ्वी तुम्हारे ही धर्म के आधार पर ठहरी हुई है, यथा—"भरतहिं धरम धुरंधर जानी । निज सेवक ··" (दो० २५८), तथा—"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः । यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥" (महा० कर्ण० ६९।५८), अर्थात् धारण करना धर्म का कार्य है, धर्म प्रजा को धारण करता है । इस प्रकार जो धारण संयुक्त है, वह धर्म है । 'बैर प्रेम नहिं दुरइ ··'—दो० १६२ चौ० १ में इसका भाष्य देखिये ।

(२) 'मुनिगन निकट ··'—उपर्युक्त—'बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये' को ही समझा रहे हैं । पशु-पक्षी भी शत्रु-मित्र जान लेते हैं, यथा—"निज हित अनहित पसु पहिचाना ।" (दो० १८), मित्र जानकर निकट जाते हैं, शत्रु जानकर दूर भागते हैं और मनुष्य शरीर तो गुण-ज्ञान का खजाना है, तो भला कैसे न जानेगा ? श्रीभरतजी ने कहा था—"प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ ।" उसीका यह उत्तर है, आगे भी—'तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके ।' कहा है । भाव यह कि मैं पशु-पक्षी से भी गया बीता नहीं हूँ, तुम्हें जानता हूँ और इसीसे तुम्हारा आगमन जानकर प्रेम-पूर्वक मिलने को यहाँ रहा अन्यथा अन्यत्र चल देता । जैसे अहित जानकर पशु-पक्षी दूर भागते हैं ।

तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके । करउँ काह असमंजस जीके ॥५॥
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी ॥६॥
तासु बचन मेटत मन सोचू । तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ॥७॥
ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा । अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा ॥८॥

दोहा—मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज ।
सत्य - संध - रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज ॥२६४॥

अर्थ—हे तात ! मैं तुम्हें भली-भाँति से जानता हूँ, पर क्या करूँ ? हृदय में बड़ी दुविधा है ॥५॥

राजा (दशरथ) ने मुझे त्याग कर सत्य की रक्षा की है और प्रेम-प्रण की रक्षा के लिये उन्होंने शरीर का त्याग किया ॥६॥ उनका वचन मेटते हुए मन में शोच हो रहा है, पर उससे अधिक तुम्हारा संकोच (मुलाहजा) है ॥७॥ उसपर भी गुरुजी ने मुझे आज्ञा दी है। अतः, जो तुम कहो उसे अवश्य मैं करना चाहता हूँ ॥८॥ तुम मन प्रसन्न करके और संकोच छोड़कर जो कहो, मैं आज वही करूँ, सत्य-प्रतिज्ञ रघुवर श्रीरामजी के वचन सुनकर सारा समाज सुखी हो गया ॥२६४॥

विशेष—(१) 'तात तुम्हहिं मैं जानउँ···'—श्रीभरतजी ने कहा था—'प्रेम प्रपंच ··जानहिं मुनि रघुराउ।' उसके प्रति यहाँ कहते हैं। श्रीमुख से कहा भी गया है—"सुनहु लखन भल भरत सरीखा।···" से "निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥" (दो० २३०-२३१), तक। इसपर देवताओं ने कहा है—"कवि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥" (दो० २३२)।

(२) 'करउँ काह असमंजस जीके।'—इस दुविधा में पड़ा हूँ कि मैं पिता को प्राण से भी अधिक प्रिय था, उन्होंने सत्य-रक्षा के लिये मेरा त्याग किया, पर सत्य का नहीं—ऐसे वे सत्य-प्रिय थे। पुनः उन्होंने मेरे प्रेम के निर्वाह में अपने प्राण निछावर कर दिये, तब उनके वरदान की पूर्त्ति मुझे करनी ही चाहिये, यथा—"तात ! बिचारे धौं हौं क्यों आवौं। तुम सुचि सुहृद सुजान सकल बिधि, बहुत कहा कहि-कहि समुझावौं ॥१॥ निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौ पितु पग पानही करावौं। होउँ न उऋन पिता दसरथ ते कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं ॥२॥ तुलसिदास जाको सुजस तिहूँ पुर क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावौं। प्रभु रुख निरखि निरास भरत भये, जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावौं ॥३॥" (गी० अ० ७२)। ऐसे पिता के वचन मेटने में संकोच होता है। दूसरी तरफ तुम्हारा शील-संकोच उससे भी अधिक है। अधिक के कई कारण कहे जाते हैं—(क) राजा ने लोक-लज्जा से एवं सत्य-धर्म की रक्षा के लिये दैवात् मुख से राम-शपथ करने से श्रीराम-हित के लिये ही श्रीरामजी का त्याग किया और श्रीभरतजी ने माता-पिता-गुरु आदि के वचनों (सामान्यधर्म) को त्यागकर अनन्य परम भागवत धर्म को ही रक्खा, यथा—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। ···· " इस गीता के चरम वाक्य में कहा है। इस भक्ति के नाते श्रीभरतजी का संकोच अधिक है, यथा—"मानौं एक भगति कर नाता।" (अर० दो० ३४), (ख) राजा युवराज पद ही देते थे, वह भी चौथेपन तक राज्य भोगकर, और ये सम्पूर्ण राज्य दे रहे हैं, अपने से छुआ भी नहीं। (ग) पिता ने तन दिया, ये सर्वस्व धन दे रहे हैं। तन की अपेक्षा सर्वस्व धन देना अधिक कहा गया है, यथा—"सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः। न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥" (भाग० ८।२०।९), यह बलि ने कहा है कि युद्ध से न लौटकर वहाँ तन देना सुलभ है, पर सत्पात्र के उपस्थित होने पर श्रद्धापूर्वक धन त्याग करना दुर्लभ है, इत्यादि।

(३) 'मन प्रसन्न करि सकुच तजि ··'—माता की करनी के कारण ग्लानि है, वह (माता) निर्दोष है। अतः, मन प्रसन्न करो। पुनः मैं तुम्हारे अनुकूल मानने का वचन दे चुका हूँ, इससे भी प्रसन्न हो जाओ। संकोच यह कि मैं बड़े को आज्ञा कैसे दूँ ! यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बयन।" (दो० २६०), यह संकोच भी छोड़ दो, क्योंकि मैं स्वयं कहने को कहता हूँ। और—"तापर गुरु मोहिं आयसु दीन्हा।···" (ऊपर कहा गया), अर्थात् उसे न मानने में गुरु-अवज्ञा होगी। इससे मैं निस्सन्देह मानूँगा। अतः, प्रसन्न मन से कहो। 'आजु' अर्थात् १४ वर्ष बीतने पर नहीं, किन्तु आज ही करने को तैयार हूँ।

(४) 'सत्य-संध-रघुवर ·'—श्रीरामजी सत्य-पालन में दृढ़व्रत हैं, यथा—"धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च (वाल्मी० १।१।१२), "रामो द्विर्नाभिभाषते ॥" (वाल्मी० २।१८।३०), और श्रीभरतजी लौटाने आये ही हैं, अभी कहेंगे और श्रीरामजी लौट चलेंगे, यह अनुमान कर समाज सब सुखी हो गया (यहाँ श्रीराम-भाषण समाप्त हुआ) और यही समझकर देवता डर गये, वह आगे कहते हैं—

सुरगन - सहित सभय सुरराजू । सोचहिं चाहत होन अकाजू ॥१॥
बनत उपाय करत कछु नाहीं । रामसरन सब गे मन माहीं ॥२॥
बहुरि बिचारि परसपर कहहीं । रघुपति भगत-भगति-बस अहहीं ॥३॥
सुधि करि अंबरीष दुरबासा । भे सुर-सुरपति निपट निरासा ॥४॥
सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा । नरहरि किये प्रकट प्रहलादा ॥५॥

अर्थ—देवगण के साथ देवराज इन्द्र डरकर सोच रहे हैं कि अब अकाज होना चाहता है ॥१॥ कुछ उपाय करते नहीं बनता, मन में सब श्रीरामजी की शरण में गये ॥२॥ फिर विचार कर वे एक-दूसरे से कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी अपने भक्त की भक्ति के वश हैं ॥३॥ अम्बरीष और दुर्वासा की सुधि करके देवता और देवराज नितान्त निराश हो गये ॥४॥ (फिर कहने लगे कि) देवताओं ने बहुत काल तक दुःख झेला, (परन्तु) नृसिंह भगवान् को प्रह्लादजी ने ही प्रकट किया था ॥५॥

विशेष—(१) 'सुरगन-सहित सभय···'—इस काण्ड-भर में हर्ष और शोक के लिये दो स्थान हैं—स्वर्ग और श्रीअवध । जब श्रीअवधवासी प्रसन्न होते हैं, तब देवता दुखी होते हैं और जब देवता प्रसन्न होते हैं, तब श्रीअवधवाले दुखी होते हैं । यहाँ अब देवताओं के डरने की पारी आई है । देवगण गौण हैं, डर में इन्द्र प्रधान है, क्योंकि यह राजा है, इसे मेघनाद बाँध लाया था, इससे मान-हानि का भारी दुःख है । 'अकाज' यह कि श्रीरामजी वन तक आकर भी लौट जायँगे । सोचते हैं कि सम्मुख जाकर प्रार्थना करने से ऐश्वर्य खुलने और ब्रह्माजी का वचन झूठा होने का भय है । श्रीभरतजी का भी भय है कि उनका मनोरथ भंग होने से भागवतापराध होगा । रावण का भय तो है ही । सोचते हैं कि क्या करें, भक्त पर माया नहीं लगेगी, यथा—"माया पति सेवक सन माया । करइ त उलटि परइ सुरराया ॥" (दो० २१७), यह बृहस्पतिजी ने पहले ही समझा रक्खा है । इससे कुछ उपाय करते नहीं बनता ।

(२) 'रामसरन सब गे मन माहीं ।'—मन से ही प्रपत्ति की, क्योंकि प्रकट जाने और दंडवत् करने में उपर्युक्त भय है, पुनः श्रीअवधवासी बुरा मानेंगे ।

(३) 'बहुरि बिचारि परसपर···'—श्रीरामजी की शरण तो श्रीभरतजी भी हैं ही, प्रभु भक्तों के प्रेम-वश हैं, तब उनके आगे हमारी शरणागति व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि हमलोग स्वार्थ के लिये शरण हुए और श्रीभरतजी निष्काम हैं । इससे भी उनके विपक्ष में हमारी न चलेगी, इसीके उदाहरण आगे कहते हैं—

(४) 'सुधि करि अंबरीष दुरबासा ।···'—दुर्वासा मुनि श्रीअम्बरीष भक्त के विपक्षी बनकर भगवान् की शरण गये, तब उन्होंने कोरा उत्तर दे दिया, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥"—अर० दो० ४४ चौ० ६ देखिये । इनकी कथा दो० २१७ चौ० ७ में देखिये । दूसरा प्रमाण श्रीप्रह्लाद भक्त का देते हैं कि देवताओं के बहुत काल के विषाद पर आपने ध्यान नहीं दिया, यही कहा कि काल की प्रतीक्षा करो, यह जब पुत्र प्रह्लाद से वैर करेगा तब मारा जायगा । और, श्रीप्रह्लादजी की पुकार पर तुरत खम्भ फोड़कर प्रकट हो गये—इनकी कथा बा० दो० २५ चौ० ४ में कही गई है । इसी तरह यहाँ भी श्रीभरतजी के आगे हमारी सुनवाई न होगी ।

लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा । अब सुर काज भरत के हाथा ॥६॥
आन उपाय न देखिय देवा । मानत राम सुसेवक सेवा ॥७॥
हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहिं । निज गुन-सील रामबस करतहिं ॥८॥

दोहा—सुनि सुरमत सुरगुरु कहेउ, भल तुम्हार बड़ भाग।
सकल सुमंगल-मूल जग, भरत-चरन - अनुराग ॥२६५॥

अर्थ—सिर पीटकर और कानों से लगकर (वे परस्पर) कहते हैं कि देवताओं का कार्य अब श्रीभरतजी के हाथ में है ॥६॥ हे देवताओ ! और उपाय नहीं देख पड़ता। श्रीरामजी अपने अच्छे सेवक की सेवा को मानते हैं, अर्थात् उसपर प्रसन्न होते हैं ॥७॥ अपने गुण-शील से श्रीरामजी को वश करनेवाले श्रीभरतजी का प्रेम-सहित हृदय से स्मरण करो ॥८॥ देवताओं का यह मत सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी ने कहा—भला किया, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं, (क्योंकि) जगत् में श्रीभरतजी के चरणों का अनुराग सब सुन्दर मंगलों का कारण है ॥२६५॥

विशेष—(१) 'लगि लगि कान ···'—उपर्युक्त दो प्रमाणों से निश्चय कर लिया तब सिर पीटकर अपना अभाग्य जनाते हैं, मानों अभाग्य की रेखाओं को मिटाते हैं। कानाफूसी करने हैं, क्योंकि डर है कि कहीं कोई श्रीभरतजी के पक्ष का न सुन ले, तो स्वार्थ की हानि होगी। वा, रावण ही को पता लग जाय कि श्रीरामजी को तो श्रीभरतजी लौटाये जाते थे, पर देवताओं की प्रेरणा से ही इधर आ रहे हैं, तब वह और कष्ट देगा।

(२) 'आन उपाय न···'—देवता जब दुखी होते हैं, तब भगवान् को शरण में पुकार करते हैं। यहाँ वह उपाय भी न रह गया, क्योंकि रघुवर भक्त के वश हो रहे हैं। अतः, भक्त के विरुद्ध कुछ न सुनेंगे। तब हृदय से श्रीभरतजी का ही सप्रेम स्मरण किया जाय। 'सब' एक साथ और 'सप्रेम' स्मरण करो जिससे शीघ्र सफलता हो। 'मानत राम···'—इससे यह भी जनाया कि भक्त की सेवा का फल वे स्वयं देते हैं, भक्त की ओर से दिये जाने का प्रयोजन नहीं, यथा—"सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि ···" (हनु० बाहुक १२)।

(३) 'सकल सुमंगल-मूल···'—श्रीभरतजी विश्व के भरण-पोषण करनेवाले हैं। अतः, इनकी भक्ति से अवश्य मंगल होगा। 'तुम्हार बड़ भाग'—अवधवालों को खड़ाऊँ देंगे और तुम्हारा शरीर से काम करेंगे। इससे तुम्हारे भाग्य में बहुत अधिकता होगी।—यह मानों गुरु का आशीर्वाद हो जायगा।

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु - सय सरिस सोहाई ॥१॥
भरत - भगति तुम्हरे मन आई। तजहु सोच बिधि बात बनाई ॥२॥
देखु देवपति भरतप्रभाऊ। सहज-सुभाय-बिबस रघुराऊ ॥३॥
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहिं जानि राम - परछाहीं ॥४॥
सुनि सुर - गुरु-सुर संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सकोचू ॥५॥

अर्थ—सीतापति श्रीरामजी के सेवक की सेवा सैकड़ों कामधेनुओं के समान सुन्दर है ॥१॥ यदि श्रीभरतजी की भक्ति तुम्हारे मन में आई है, (अतः) शोच छोड़ दो, विधाता ने सारी बात बना दी ॥२॥ हे देवराज ! श्रीभरतजी का प्रभाव देखो कि रघुराज श्रीरामजी उनके सहज स्वभाव से उनके विशेष वश में हो रहे हैं ॥३॥ हे देवताओ ! श्रीभरतजी को श्रीरामजी की परछाँई (प्रतिरूप) जानकर अपने मन को स्थिर करो, डर नहीं है ॥४॥ देव-गुरु बृहस्पतिजी और देवताओं का यह सम्मत सुनकर अन्तर्यामी प्रभु को शोच और संकोच हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'सीतापति सेवक···', यथा—"सो सीतापति-भवन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।"

(दो० २४३) देखिये। भाव यह कि श्रीभरतजी की ही नहीं, कोई भी सीतापति-सेवक क्यों न हो, सबकी सेवा का फल सैकड़ो कामधेनुओं के समान है। देवलोक की कामधेनु सुन्दर नहीं है, क्योंकि वह अर्थ आदि तीन ही फल देती है और भक्तों की सेवा से चारो-फल मिलते हैं, यथा -"लहहिं चारि फल अछत तन, साधु समाज प्रयाग।" (बा० दो० २)—वह अनित्य ही फल देती है और यह नित्य।

(२) 'देखु देवपति···'—पहले श्रीभरतजी में इनकी कुबुद्धि जानकर इन्हें अन्धा माना था, यथा—"सहस नयन बिनु लोचन जाने।" (दो० २१७) और अब श्रीभरत-भक्ति देखकर इन्हें आँख-वाला माना, इसीसे 'देखु' कहा।

'सहज-सुभाय···'—औरों के कई जन्मों के साधनों से भी वश नहीं होते, पर श्रीभरतजी के सहज स्वभाव से ही श्रीरामजी वश में हैं। मनु को कई हजार वर्ष कठिन तप करने पड़े हैं, तब उनके वश होकर उनका पुत्रत्व ग्रहण किया है और यहाँ तो विशेष वश हैं।

(३) 'भरतहिं जानि राम-परछाहीं।'—मनुष्य की परछाँई उसके ही अधीन रहती है, वैसे ही श्रीभरतजी श्रीरामजी के अधीन हैं, उन्हींके मन की करेंगे, यथा—"जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥" (दो० १४०)। 'अंतरजामी प्रभुहि सँकोचू'—प्रभु अन्तर्यामी हैं, इससे देवगुरु और देवताओं का सम्मत जान लिया, भले ही वे 'लगि लगि कान' कहते थे। इसीसे प्रभु को संकोच है कि श्रीभरतजी की भक्ति का फल देवताओं को अवश्य मिलना चाहिये और इधर श्रीभरतजी का भी मन न टूटे, दोनों कैसे हों?

'सुरगन सहित सभय सुरराजू' से सुर सम्मत का उपक्रम हुआ और यहाँ 'सुनि सुर-गुरु-सुर संमत सोचू।' पर उसका उपसंहार है।

निज सिर भार भरत जिय जाना। करत कोटिबिधि उर अनुमाना॥६॥
करि बिचार मन दीन्ही ठीका। रामरजायसु आपन नीका॥७॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥८॥

दोहा—कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज-जुग-हाथ॥२६६॥

शब्दार्थ—दीन्ही ठीका = दृढ़ निश्चय किया, ठीक देना = मन में पक्का करना, यथा—"नीके कै ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ी उर आखर दूकी।" (क० उ० ८८)।

अर्थ—श्रीभरतजी ने अपने हृदय में अपने ही सिर पर सारा भार देखा, तब वे करोड़ों प्रकार के अनुमान मन में करते हैं॥६॥ विचार करके उन्होंने मन में यह पक्का निश्चय किया कि अपना भला श्रीरामजी की आज्ञा में ही है॥७॥ श्रीरामजी ने अपना प्रण छोड़कर मेरे प्रण को रक्खा, यह छोह (ममत्व) और स्नेह कुछ थोड़ा नहीं किया॥८॥ सीतानाथ श्रीरामजी ने (मुझपर) सब तरह से अत्यन्त और अपरिमित कृपा की, श्रीभरतजी दोनों करकमलों को जोड़कर और प्रणाम करके बोले॥२६६॥

विशेष—(१) 'निज सिर भार भरत···'—सभा का प्रसंग—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु···' पर छूटा था। बीच में सुर-सम्मत कहा गया, अब वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं। गुरुजी ने श्रीरामजी पर भार दिया, उन्होंने फिर गुरुजी पर ही धर दिया। तब गुरुजी ने श्रीभरतजी की ओर संकेत करके लौटा दिया, फिर श्रीरामजी ने श्रीभरतजी पर ही रख दिया, यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई॥ मन प्रसन्न करि···' श्रीभरतजी ने इसे जाना कि श्रीरामजी के उपर्युक्त असमंजस-निवृत्ति का भार, श्रीरामजी की सत्य-प्रतिज्ञा-रक्षा का भार एवं प्रजा के दुःख-निवृत्ति-सहित उन्हें सुख पहुँचाने का भार इत्यादि श्रीरामजी के भाषण के सभी भार मेरे सिर पर हैं। इन सबके विषय में मुझे ही कहना होगा।

अन्तर्यामी प्रभु ने ऐसी प्रेरणा तुरत दी। 'करत कोटि बिधि उर···'—अभी तक केवल अपने ही स्वार्थ पर दृष्टि थी, अब तो सब बातों की ओर ध्यान देना पड़ा, इससे बहुत प्रकार के अनुमान करने पड़े।

(२) 'करि बिचार मन ···'—श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला है, गोष्ठी में यही बात गुरुजी ने भी कही थी, यथा—"करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥ राखे राम रजाइ रुख, हम सबकर हित होइ।" (दो० २५४)। 'जो मारग श्रुति साधु बतावै तेहि मग चलत सबै सुख पावै।" (वि० १३६।१२)—यह यहाँ चरितार्थ है।

'रजायसु'—श्रीरामजी राजा हैं, उनकी आज्ञा में हम सबका भला होगा। 'सकल सयाने एक मत' की कहावत चरितार्थ हुई। स्वामी की आज्ञा का पालन एक विशिष्ट सेवा है, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००), वही विचार करके ठीक किया।

(३) 'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'—मन में विचारते हैं कि श्रीरामजी ने अपना प्रण तो पिता की आज्ञा पालन के लिये किया था, यथा—"तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥" (वाल्मी० २।१८।३०)। इस ग्रन्थ में भी कैकेयी से, पिता से, माता कौसल्या और प्रजा एवं निषाद आदि से १४ वर्ष वनवास के लिये कहा है। उसे त्यागने पर भी उद्यत हो गये, यथा—'कहहु करउँ सोइ आजू।' यह निश्चय है कि मैं श्रीअयोध्याजी से यही निश्चय करके आया हूँ कि श्रीरामजी को लौटा लाऊँगा। अन्तर्यामी प्रभु ने जानकर भी मुझे ऐसा वचन दिया। इससे अधिक कृपा और क्या हो सकती है! परमा शक्ति श्रीसीताजी के स्वामी होकर भी मेरे वश हो रहे हैं, तो अब मुझे क्या कर्त्तव्य है? यही विचारते हुए अपना ही प्रण छोड़ना अच्छा समझा और श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला माना। वही आगे कहते हैं—

(४) 'सब बिधि'—मुझे निर्दोष किया, महत्त्व दिया और मेरा दुलार रक्खा।

भरत-भाषण [२]

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा - अंबुनिधि अंतरजामी॥१॥
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥२॥
अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोष देव दिसि भूले॥३॥
मोर अभाग मातु - कुटिलाई। बिधिगति बिषम काल-कठिनाई॥४॥
पाउँरोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतहाल पन आपन पाला॥५॥

शब्दार्थ—समूले = कारण सहित, जड़ सहित। पाँउ रोपना = प्रतिज्ञा करना, अड़ जाना।

अर्थ—हे स्वामी! हे कृपासिन्धु!! और हे अन्तर्यामी!!! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहलाऊँ? ॥१॥ गुरुजी को प्रसन्न और स्वामी को अपने अनुकूल पाकर मेरे मलिन मन की कल्पित व्यथा मिट गई (जो वास्तविक न थी) ॥२॥ मैं अपने व्यर्थ डर से डर गया था, शोच जड़ समेत न था, अर्थात् शोच का कोई कारण हो न था। हे देव! स्वयं दिशा भूल जाय तो सूर्य का दोष नहीं, अर्थात् डर की बातें मैंने ही कल्पना कर ली थीं, पर आपकी ओर से वे बातें कुछ भी न थीं ॥३॥ मेरा दुर्भाग्य, माता की कुटिलता, विधि की टेढ़ी चाल और काल की कठिनता ॥४॥ इन सबने मिलकर प्रतिज्ञापूर्वक मुझे नष्ट कर डाला था, पर हे शरणागतरक्षक! आपने अपने प्रणत-पालक प्रण को रक्खा, अर्थात् मुझ प्रणत की रक्षा की ॥५॥

विशेष—'कहउँ कहावउँ का···'—स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का धर्म है, कहना (आज्ञा देना) नहीं। कृपा के समुद्र स्वयं ही सेवक पर कृपा करेंगे और अन्तर्यामी स्वतः जानते हैं, तो कहना और कहलाना व्यर्थ ही है। मेरा हित आप स्वयं करेंगे।

(२) 'गुरु प्रसन्न साहिब···'—शूल पहले कहे गये, यथा—"भूपति मरन प्रेम पन राखी।···सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला।···जियत जीव जड़ सबइ सहाई॥' (दो० २६१), उनकी निवृत्ति यहाँ की गई।

(३) 'अपडर डरेउँ न सोच समूले।'—'अपडर', यथा—"राम-लखन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥ मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।" (दो० २३३), 'समूले'—इस डर के मूल प्रभु हैं उनकी ओर से कुछ बात न थी, पर मैंने ही कल्पना कर ली थी। जैसे कि सूर्य तो सदा पूर्व ही से उदय होते हैं, पर जिसे दिशा-भ्रम होता है, वह कहता है कि पश्चिम में उदय हुए हैं, यथा—"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सोइ कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥" (उ० दो० ७२), भाव यह कि आप तो सदा मुझपर एकरस कृपा करते ही रहे, पर मैंने ही भ्रम से भय की कल्पना कर ली थी कि आप मुझपर अप्रसन्न होंगे, मेरा त्याग करेंगे।

(४) 'मोर अभाग मातु-कुटिलाई।'—'अभाग', यथा—"सपनेहुँ दोषक लेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥" (दो० २६०), 'मातु-कुटिलाई', यथा—"जननी कुमति जगत सब साखी।" (दो० २६१), 'बिधिगति बिषम', यथा—"बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥" (दो० २६०), 'काल-कठिनाई', यथा—"कीन्हि मातु मिस काल कुचाली।" (दो० २५२) इत्यादि सब श्रीभरतजी ने ही पहले कहा है। मेरे अभाग्य के उदय से माता में कुटिलता आई, जिससे आपको वनवास हुआ। पुनः अशुभ कर्मों के उदय में विधि की गति विषम हुई। उन्हीं कर्मों के भोग का काल कठिन हो गया।

यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु बेद बिदित नहिं गोई॥६॥
जग अनभल भल एक गोसाँई। कहिय होइ भल कासु भलाई॥७॥
देव देवतरु-सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥८॥

दोहा—जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥२६७॥

अर्थ—आपकी यह नई रीति नहीं है, अर्थात् सदा से चली आती है। यह लोक और वेद (दोनों) में प्रत्यक्ष है, छिपी हुई नहीं है॥६॥ जगत बुरा है, हे गोसाईं! एक आप ही भले हैं, (अन्यथा फिर) आप ही कहिये कि किसकी भलाई से भला होता है॥७ हे देव! आपका स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है और सबके लिये सम्मुख है, वह कभी भी किसीके लिये विमुख (प्रतिकूल) नहीं है॥८॥ उस वृक्ष को पहचानकर उसके निकट जाय, तो उसकी छाया सब शोच को नष्ट करनेवाली है। जगत् भर के राजा, रंक, भले, बुरे सभी उससे माँगते ही तुरत मनोरथ पाते हैं॥२६७॥

विशेष—(१) 'जग अनभल भल एक···'—ऊपर—"मोर अभाग मातु-कुटिलाई।···" आदि चार ही कहे गये और उनसे प्रभु का रक्षकत्व कहा गया। उसीको लेकर श्रीभरतजी कहते हैं कि चार ही नहीं, जगत्-भर जीव का अनभला ही है, एक आप ही की भलाई से सबका भला होता है, यथा—"है है जब तब तुमहिं ते तुलसी को भलेरो।" (वि० २७२), "रावरी भलाई सब ही की भली भई।" (वि० २५२)। जगत् स्वार्थ का ही उद्देश्य रखता है, आपके विचित्र संयोग से उसी जगत् में सबका भला होता रहता है।

(२) 'देव देवतरु-सरिस सुभाऊ।'—कल्पवृक्ष की छाया में कोई भी जाय, वह सबके सम्मुख ही

रहता है, वैसे ही आप शत्रु-मित्र सभी के सम्मुख ही रहते हैं, यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति ॥" (वि० २३३)। आप शरण लेने में हित-अहित का विचार नहीं करते। यथा—"अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (दो० १८२)। बैरिउ राम बड़ाई करहीं।" (दो० १९९), "बयर भाव मोहि सुमिरत निसिचर ॥ देहिं परम गति सो जिय जानी।" (लं० दो० १४३), इत्यादि। 'सनमुख बिमुख न' '—दो० २१८ चौ० ३-५ के भाष्य देखिये। 'पहिचानि तरु'—जाने बिना प्रतीति न होगी और प्रतीति बिना प्रीति न होगी, फिर प्रीति बिना भक्ति कहाँ? यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)। जानेगा, तभी सम्मुख होगा, यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।" (सुं० दो० ४५), विभीषणजी ने हनुमानजी से जाना, तब आकर शरण हुए।

लखि सब बिधि-गुरु-स्वामि-सनेहू। मिटेउ छोभ नहिं मन संदेहू ॥१॥
अब करुनाकर कीजिय सोई। जन-हित प्रभु-चित छोभ न होई ॥२॥
जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥३॥
सेवक - हित साहिब - सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥४॥
स्वारथ नाथ फिरे सबही का। किये रजाइ कोटि बिधि नीका ॥५॥
यह स्वारथ - परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू ॥६॥

अर्थ—सब तरह से गुरु और स्वामी का (अपने विषय में) स्नेह देखकर मन का क्षोभ (उद्वेग) मिट गया, अब मेरे मन में कुछ सन्देह नहीं रह गया ॥१॥ हे करुणाकर! अब वही कीजिये, जिससे इस दास के लिये (वा, इस दास का हित हो और) स्वामी के चित्त में उद्वेग न हो ॥२॥ जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपना हित चाहता हो, उसकी वह बुद्धि नीच है ॥३॥ सेवक का हित तो इसीमें है कि वह समस्त सुखों और लोभों को छोड़कर स्वामी की ही सेवा करे ॥४॥ हे नाथ! आपके लौटने में सभीका स्वार्थ है और आपकी आज्ञा (के पालन) करने में करोड़ों प्रकार का भला है ॥५॥ यही स्वार्थ और परमार्थ का सार है तथा सब पुण्यों का फल और सब शुभ गतियों का शृंगार है ॥६॥

विशेष—(१) 'लखि सब बिधि-गुरु···'—गुरु का स्नेह, यथा—"राउर जापर अस अनुरागू।" "कृपा सिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय कै बात ॥" (दो० २५९), स्वामी का स्नेह, यथा—"निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा ॥" (दो० २६५)। 'नहिं मन संदेहू' अर्थात् प्रभु मेरा नाम सुनकर अन्यत्र न चल दें—ऐसा सन्देह था, वह मिट गया।

(२) 'जन-हित-प्रभु चित···'—मेरा क्षोभ आपने दूर किया, तब मेरा धर्म ऐसा नहीं होना चाहिये कि मेरे निमित्त प्रभु के चित्त में क्षोभ हो, क्योंकि—

(३) 'जो सेवक साहिबहि···'—अर्थात् सेवक का स्वार्थी होना भारी दोष है, इसलिये—

(४) 'सेवक-हित···'—शरीर में सुख और धन का लोभ मन से त्याग दे। उपर्युक्त 'निज हित चहइ'—में वचन से चाह करना (माँगना), वचन का दोष कहा गया है; उसे भी त्याग दें और शुद्ध मन, वचन और तन से सेवा करे, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (दो० ३००)।

(५) 'स्वारथ नाथ फिरे···'—'सबही का' अर्थात् माता, मन्त्री, प्रजा आदि का, क्योंकि यही सब चाहते हैं और आपकी आज्ञा का पालन करोड़ों प्रकार से अच्छा है, क्योंकि यह परमार्थ है। 'कोटि बिधि' का गुप्तार्थ भू-भार-हरण आदि लेने से 'कोटि बिधि' बहुत उपयुक्त है।

(६) 'यह स्वारथ-परमारथ सारू ।···'—'यह'—आपकी आज्ञा का पालन । यहाँ 'सकल सुकृत फल' से कर्म का, 'परमारथ सारू' से ज्ञान का और 'सुगति' से भक्ति का शृंगार कहा गया है । शृंगार, यथा—"संत सुमति तिय सुभग सिंगारू ।" (बा० दो० ३१) ।

देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥७॥
तिलक समाज साजि सब आना । करिय सुफल प्रभु जौ मन माना ॥८॥

दोहा—सानुज पठइय मोहि बन, कीजिय सबहिं सनाथ ।
नतरु फेरियहि बंधु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ ॥२६८॥

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई । बहुरिय सीय-सहित रघुराई ॥१॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुना - सागर कीजिय सोई ॥२॥

अर्थ—हे देव ! मेरी एक प्रार्थना सुनकर, फिर जैसा उचित हो, वैसा कीजियेगा ॥७॥ मैं तिलक की सारी सामग्री सजाकर लाया हूँ, हे प्रभो ! जो मन माने तो उसे सुफल कीजिये, अर्थात् यदि उचित समझिये, तो राज्य-तिलक कराइये, जिससे इसका लाना सफल हो ॥८॥ भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ मुझे वन भेजिये और आप सबको सनाथ कीजिये, नहीं तो, हे नाथ ! दोनों भाइयों को ही लौटा दीजिये, मैं आपके साथ चलूँ ॥२६८॥ नहीं तो, तीनों भाई वनवास को चले जायँ और हे रघुराई ! आप श्रीसीताजी के साथ लौटें ॥१॥ प्रभु (आप-) का मन जिस प्रकार प्रसन्न रहे, हे करुणा सागर ! वही कीजिये ॥२॥

विशेष—'देव एक बिनती ···'—बिनती-मात्र करता हूँ (आज्ञा नहीं देता) उसमें उचित जैसा हो वैसा कीजिये । प्रथम तिलक स्वीकार करने के लिये कहा, किन्तु उसमें पिता के वचन का उल्लंघन होता है । इसपर तीन उपाय और कहे कि आपके प्रतिनिधि-रूप में हम दोनों भाई जायँ और उस पिता के वचन की पूर्त्ति करें । वा, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी वन जायँ मैं साथ चलूँ । अथवा हम तीनों वन को जायँ और आप श्रीसीताजी के साथ लौटें । इनमें अथवा और भी जिस तरह आपकी प्रसन्नता हो, वही करुणा-दृष्टि से किया जाय । प्रथम 'सनाथ' करना कहकर फिर 'करुना-सागर' भी कहा गया । भाव यह कि आपके बिना श्रीअवधवासी एवं प्रजा-वर्ग अनाथ हैं, यथा—"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊं । करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥" (दो० ५६), करुणा करके इन सबको सनाथ कीजिये ।

अलंकार—'उक्ताक्षेप'—दोहे में ।

प्रथम दो के बदले दो का जाना कहा, यदि वह न रुचे, तो मुझे साथ रखिये और दोनों छोटे भाई श्रीअयोध्याजी की रक्षा के लिये जायँ । यदि वह भी न रुचे, क्योंकि तीन घर से आये थे, उसपर फिर तीनों भाइयों का जाना कहा । अन्त में यह कहा कि जिस तरह प्रसन्नता हो, वही कीजिये । प्रतिनिधि-रूप में जाना गुरुजी ने ही कहा था, वाल्मी० २।८८।२७ में भी शृंगवेरपुर में श्रीभरतजी ने कहा है—दो० २५५ चौ० २ देखिये । अतः, यह नीति एवं धर्म-सम्मत है ।

'जेहि बिधि···'—उपर्युक्त चार विधियों में एवं अन्य यदि कोई उपयुक्त विधि हो, करुणाकर वही करें । उपर्युक्त 'उचित होइ तस करिअ' की व्याख्या की ।

सारांश—श्रीभरतजी ने चार विधियाँ कही हैं—प्रथम राज्य-तिलक स्वीकार करने की प्रार्थना की, क्योंकि मेरे लिये राज्य माँगा गया, जब मुझे स्वीकार नहीं है, तब श्रीरामजी का है ही । मेरे राज्य में श्रीरामजी बाधा करेंगे, इस दृष्टि से ही माता ने आपका वनवास माँगा था, वह भी न रह गया, जब राज्य लेता ही

नहीं, तब बाधा-रक्षण व्यर्थ है। यह अयोध्याजी में ही निश्चित हुआ था, इसीसे गुरु अनुशासन से तिलक सामग्री लाई गई है। दूसरी विधि यह कि बदले में हम दोनों भाई जायँ, पिता की आज्ञा में दोनों हेर-फेर कर लें, यह भी गुरु-सम्मत ही है—गोष्ठी में गुरुजी ने कहा था—'तुम्ह कानन गवनहु···'। तीसरी विधि में अपने साथ जाने की प्रार्थना की, यथा—"घर फेरिये लखन लरिका हैं, नाथ साथ हौं आवौं।" (गी० अ० ७३), "रखिअहिं लखन भरत गवनहिं बन। जौं यह मत मानै महीप मन॥" (दो० २८३)—यह कौसल्याजी का भी मत है। अतः, यह भी समीचीन है। तीसरी विधि में हवि के भाग की दृष्टि से तीनों भाई मिलाकर श्रीराम तुल्य होते हैं। इसलिये बदले में तीनों के जाने में पूर्ति समझकर कहा है। पाँचवीं विधि श्रीरामजी की ही इच्छा पर कही गई है।

देव दीन्ह सब मोहिं अभारू। मोरे नीति न धरम बिचारू॥३॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू॥४॥
उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥५॥
अस मैं अवगुन-उदधि-अगाधू। स्वामि-सनेह सराहत साधू॥६॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥७॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ॥८॥

दोहा—प्रभु प्रसन्न मन सकुचि तजि, जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सब, मिटिहि अनट अवरेब॥२६६॥

शब्दार्थ—मोहि अभारू=मुझ ही पर भार, वा मोहि-अभारू (आभार=बोझ)=मुझे बोझा। चेतू=ज्ञान, बोध। अनट (सं० अनृत=अत्याचार)=अन्याय, उपद्रव, अत्याचार।

अर्थ—हे देव! आपने सब भार मुझ ही पर दे दिया और मुझे न तो नीति का विचार (बोध) है और न धर्म ही का॥३॥ अपने स्वार्थ के लिये सब बातें कह रहा हूँ, आर्त्त के चित्त में चेत नहीं रहता (कि उसे क्या कहना चाहिये?)॥४॥ स्वामी की आज्ञा सुनकर उसका उत्तर दे, ऐसे सेवक को देखकर लज्जा भी लजा जाती है, अर्थात् वह पराकाष्ठा का निर्लज्ज है॥५॥ मैं अवगुणों का ऐसा गहरा समुद्र हूँ, पर स्वामी स्नेह से मुझे साधु कहकर मेरी बड़ाई करते हैं॥६॥ हे कृपालु! मुझे अब तो वही मत सुहाता है कि जिसमें स्वामी (आप) के मन में संकोच न जाने पावे॥७॥ प्रभु (आप) के चरणों की शपथ, मैं सत्य-भाव से कहता हूँ कि जगत्-भर के मंगल के लिये एक-मात्र उपाय यही है॥८॥ कि हे प्रभो! आप प्रसन्न-मन से संकोच छोड़कर जिसे जो आज्ञा दें, वही सब शिरोधार्य करके करेगा और सब उपद्रव और अवरेब (उलझनें) मिट जायँगे॥२६६॥

विशेष—(१) 'देव दीन्ह सब मोहि·····'—आपने बोझे को छोटा जानकर ही मुझपर रक्खा, पर मुझे नीति और धर्म का विचार नहीं है, इसीसे भारी लगा। भार, यथा—'कहहु करउँ सोइ आज' इसीको—'निज सिर भार भरत जिय जाना।' कहा है। यदि धर्म और नीति का विचार नहीं है, तो—'सानुज पठइय·····' आदि कैसे कहा है? इसपर कहते हैं—'रहत न आरत के चित चेतू' और इसीसे—'कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू।' अर्थात् वे वचन स्वार्थ-दृष्टि से कहे गये हैं।

(२) 'उतर देइ ···'—स्वामी की आज्ञा होने पर कोई हेतु दिखाकर भी विरोध करना उत्तर देना ही है। जब आपने आज्ञा दी—'कहहु करउँ सोइ आज' उसपर भी उत्तर दे रहा हूँ, यथा—"देव दीन्ह सब मोहि अभारू।····" इससे उत्तर देनेवाला सेवक हूँ। अतएव—'अवगुन उदधि अगाधू।' हूँ। उसपर भी स्वामी स्नेह से मुझे साधु कहकर मेरी बड़ाई करते हैं, यह स्वामी की असीम कृपा है।

इससे भक्तों को उपदेश है कि किसी भी व्यवस्था पर प्रभु की इच्छा को प्रधान मानते हुए उसपर बाधा न करें और न यही कहें कि मुझको ऐसा कर दीजिये।

(३) 'प्रभु प्रसन्न मन सकुचि तजि·····'—पहले श्रीभरतजी ने कहा था—'जनहित प्रभुचित छोभ न होई।' उसीको फिर दोहराया—'सकुच स्वामि मन जाइ न पावा।' यहाँ फिर तेहराया है—'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि···' तीन बार कहकर प्रतिज्ञा की जाती है, वैसे तीन बार निःसंकोच इच्छित आज्ञा देने की प्रार्थना की है। 'अनट अवरेब'—अर्थात् अन्याय के उपद्रव और उलझनें पड़ गईं, वचन पालने की प्रतिज्ञाएँ की गईं। यहाँ ही प्रथम दरबार समाप्त होता है, इसमें कुछ निर्णय न हुआ। श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज।' वैसे ही श्रीभरतजी ने उनसे कहा—'प्रभु प्रसन्न मन सकुज तजि, जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि···' अर्थात् इन्होंने उनपर और उन्होंने इनपर छोड़ा। दोनों के कथन में अपने-अपने भाव-मात्र की पृथक्ता है, तात्पर्य एक है।

भरत-बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥१॥
असमंजस - बस अवध - निवासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी ॥२॥
चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु-गति देखि सभा सब सोची ॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के पवित्र वचन सुनकर देवतागण हर्षित हुए। धन्य हो, धन्य हो, इस तरह प्रशंसा कर उन्होंने बहुत फूल बरसाये ॥१॥ श्रीअयोध्यावासी दुविधा में पड़ गये (कि प्रभु लौटेंगे कि नहीं), तपस्वी और वनवासी मन में बहुत आनन्दित हुए ॥२॥ संकोची-स्वभाव से श्रीरामजी चुप ही रह गये, (कि क्या कहें ?) प्रभु की वह दशा देखकर सब सभा शोच करने लगी ॥३॥

विशेष—(१) 'भरत-बचन सुचि····'—स्वार्थ ही विकार है, श्रीभरतजी के वचन में उसका सर्वथा त्याग है। स्वामी को पूर्ण आज्ञा देने को कहा और संकोच भी हटा दिया, इसीसे वचन को 'सुचि' अर्थात् पवित्र कहा है। देवता पहले डरे हुए थे, यथा—"सुरगन सहित सभय सुरराजू।" अब अनुकूल वचन सुनकर हर्षित हुए और बहुत फूल बरसाये।

(२) पहले बृहस्पतिजी ने कहा था—'राम भगत परहित निरत··' वह बात यहाँ चरितार्थ हुई। अतएव देवतागण फूल बरसाकर सेवा जना रहे हैं। सराहते हैं कि साधु हो, साधु हो, जो अपना स्वार्थ छोड़ कर पराया कार्य साधते हो, यथा—"भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहि फूल।" (दो० २०५), श्रीभरत जी की शरण हुए थे, उसका फल तुरत पाया। श्रीभरतजी पहले लौटाने के ही उपाय में थे, उस स्वार्थ को छोड़कर—'किये रजाइ कोटि बिधि नीका।' पर स्थिर हो गये, इसीसे देवता सुखी हुए कि श्रीरामजी की इच्छा तो वन में रहने की है ही।

(३) 'प्रमुदित मन तापस बनबासी।'—तपस्वी लोग प्रभु के साहचर्य से निर्भय तप करेंगे और कोल-किरात आदि प्रभु के दर्शनों से कृतार्थ होंगे। प्रभु के लौटने से उन्हें विक्षेप होता, वह मिट गया।

(४) 'चुपहि रहे रघुनाथ···'—श्रीरघुनाथजी को जो कहना है, उसमें उनकी ही स्वार्थ-सिद्धि है और सब श्रीअवधवासियों की स्वार्थ-हानि है, इससे शील-संकोच के मारे सहसा कह नहीं सकते। पुनः अन्तर्यामी हैं, इससे श्रीजनकजी का आगमन भी जान रहे हैं। इससे उनका भी कहना-सुनना हो ले, तब निर्णय किया जाय, इसलिये भी चुप हैं, अन्यथा उनका आना व्यर्थ-सा हो जायगा। 'सभा सब सोची'—सम्पूर्ण सभा-भर के लोग शोच में पड़ गये कि प्रभु क्यों नहीं बोलते हैं ? किस बात के संकोच में पड़ गये ? क्या श्रीभरतजी ने अपने वन जाने को कहा, उसका शोच है ? वा, तीनो भाइयों के वन जाने पर शोच है किहम घरमेंरहें लड़के क्यों कष्ट झेलें ? इत्यादि।

पहला दरबार समाप्त हुआ।

श्रीजनक-आगमन

जनक-दूत तेहि अवसर आये। मुनि वसिष्ठ सुनि बेगि बोलाये ॥४॥
करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे। बेष देखि भये निपट दुखारे ॥५॥
दूतन्ह मुनिबर बूझी बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता ॥६॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरे हाथा ॥७॥
बूझब राउर सादर साईं। कुसल-हेतु सो भयउ गोसाईं ॥८॥

दोहा—नाहिं त कोसलनाथ के, साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध बिसेष ते, जग सब भयउ अनाथ ॥२७०॥

अर्थ—उसी समय श्रीजनकजी के दूत आये, सुनकर श्रीवसिष्ठ मुनि ने तुरत उनको (वहाँ अपने पास) बुला लिया ॥४॥ प्रणाम करके उन्होंने श्रीरामजी को देखा (तब इनका) मुनि-वेष देखकर वे अत्यन्त दुखी हुए ॥५॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने दूतों से (यह) बात पूछी कि विदेहराज श्रीजनकजी का कुशल-क्षेम कहो ॥६॥ यह सुनकर, सकुचाकर और पृथ्वी में सिर नवाकर वे श्रेष्ठ दूत हाथ जोड़े हुए बोले ॥७॥ हे स्वामी ! आपका जो सादर पूछना है, हे गोस्वामी ! वही कुशल का कारण हो गया ॥८॥ नहीं तो, हे नाथ ! कोशलनाथ (दशरथ महाराज) के साथ ही कुशल तो चली गई। सारा जगत् अनाथ हो गया और मिथिला तथा श्रीअवध तो विशेष करके अनाथ हो गये ॥२७०॥

विशेष—(१) 'जनक-दूत तेहि···'—जब सब सोच में पड़े थे और श्रीरघुनाथजी चुप थे, उसी समय श्रीजनकजी के दूत आये। यहाँ 'विदेह' पद नहीं दिया गया, क्योंकि विदेह को दूत भेजने आदि की सुधि कहाँ ? तब गुरुजी ने बुलाया, क्योंकि वे श्रीदशरथजी के स्थान पर हैं। विवाह की चिट्ठी लेकर आये थे, तब राजा ने ही बुलाया था। 'बेगि बोलाये'—इससे अपना प्रेम और श्रीजनकजी का सम्मान जनाया। पुनः श्रीजनकपुर के दूतों का सहसा आना सुनकर मुनि को उनकी कुशलता में सन्देह भी हो गया कि कहीं जामातृ के शोक में 'सम समधी' के समत्व से राजा दशरथ की नाईं ये भी 'विदेह'=देह रहित तो नहीं हो गये। इससे भी शीघ्र बुलाया कि सभा-विसर्जन होने के पहले सबलोग इनका आना जान लें और श्रीरामजी उत्तर भी न दे पावें, जनकजी भी आ लें, तब निर्णय हो।

(२) 'करि प्रनाम तिन्ह राम···'—पहले ब्याह के साज में देखा था और आज यह वेष देखकर अत्यन्त दुखी हो गये कि कहाँ वह दुलहा-रूप और कहाँ यह वल्कल वस्त्र-सहित वेष ! प्रणाम वसिष्ठजी को किया, साथ ही समष्टि में सभा को भी हो गया।

(३) 'सुनि सकुचाइ नाइ···'—प्रश्न के उत्तर देने में दूत सकुचा गये कि श्रीअवध में ऐसा अनर्थ हुआ और हम विदेह की कुशलता कैसे कहें ? दुःख का समय समझकर सिर नीचा कर लिया। पुनः मुनि के प्रश्न में उन्होंने व्यंग्योक्ति समझी। व्यंग्य यह कि जिस विपत्ति में जगत् भर दुखी हो गया, उसमें उन्हें क्यों कुछ खेद होगा ? वे तो विदेह हैं न ? देही होते तो समधियाने की घोर आपत्ति पर सहानुभूति प्रकट करते, दौड़े आते। उनपर किसी नाते के दुःख का प्रभाव क्योंकर पड़े, जिसे देह ही पर ममत्व नहीं है। 'चरबर'—क्योंकि व्यंग्य समझ गये। इसीसे सकुच गये और लज्जा से सिर नीचा कर लिया, पर चुप ही रहें तो गुरुजी की अवज्ञा होती है, इसलिये हाथ जोड़े हुए बोले।

(४) 'बूझब राउर सादर···'—भाव (क) जिस 'विदेह' शब्द से आपने आदर देकर पूछा है, बस, वही कुशलता का कारण हो गया, अर्थात् ऐसी उच्च दशा ज्ञान की न होती, तो इस शोक-समुद्र में

डूब गये होते। (ख) आपने आदर-सहित कुशल पूछी है, तो अब कुशल होगी, नहीं तो इस समाचार पर उनकी विदेहता जा ही चुकी थी। वे विकल हो गये और कुशल रहने की आशा न थी। पर आपके वचन से जो 'बिदेह' और 'कुसलाता' ये दो शब्द निकले हैं, ये ही आशीर्वाद-रूप से उन्हें पुनः विदेह और कुशल-सहित करेंगे।

अलंकार—'गूढ़ोत्तर प्रथम', क्योंकि उत्तर गूढ़ अभिप्राय युक्त है, मुनि के कहे हुए 'बिदेह भूप' पद में ही दूत ने उत्तर दे दिया है।

(५) 'नाहिं त कोसलनाथ के, साथ····'—कुशल तो कोशलाधीश के साथ-साथ स्वर्ग को चली गई। तब जगत-भर की कुशल कैसे होगी ? भाव यह कि कुशल तो स्वर्गवासी इन्द्रादि की होगी। श्रीजनकपुर के दूत हैं, वहाँ के सोच को अधिक दिखाने के लिये 'मिथिला' शब्द 'अवध' से प्रथम कहा।

कोसलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोकबस बौरा ॥१॥
जेहि देखे तेहि समय बिदेहू। नाम सत्य अस लाग न केहू ॥२॥
रानि कुचालि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि ॥३॥
भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू ॥४॥
नृप बूझे बुध-सचिव-समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू ॥५॥
समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिय कि रहिय न कह कछु कोऊ ॥६॥
नृपहि धीर धरि हृदय बिचारी। पठये अवध चतुर चर चारी ॥७॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ ॥८॥

दोहा—गये अवध चर भरतगति, बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत, चार चले तिरहूति ॥२७१॥

अर्थ—कोशलराज श्रीदशरथ महाराज की गति (मृत्यु) सुनकर श्रीजनकजी के नगरवासी सभी शोकवश बावले हो गये ॥१॥ उस समय जिन्होंने विदेहजी को देखा, उनमें से किसी को भी इनका विदेह ऐसा नाम सत्य न लगा ॥२॥ राजा जनक को रानी कैकेयी की कुचाल सुनते ही कुछ सूझ नहीं पड़ा, (वे ऐसे विकल हो गये) जैसे मणि के बिना साँप को कुछ नहीं सूझ पड़ता ॥३॥ श्रीभरतजी को राज्य और रघुवर श्रीरामजी को वनवास (यह सुनने से) श्रीजनकजी के हृदय में ह्रास हुआ ॥४॥ राजा ने पंडितों और मन्त्रियों के समाज से पूछा कि आज क्या करना उचित है ? विचारकर कहिये ॥५॥ श्रीअयोध्याजी में दोनों तरह असमंजस समझकर, चलिये या रहिये (न जाइये), इनमें से कुछ भी कोई नहीं कहता था ॥६॥ राजा ने ही धैर्य धरकर और हृदय में विचार कर चार चतुर जासूसों (खोफियों) को श्रीअवध भेजा ॥७॥ (और उनको आज्ञा दी कि) श्रीभरतजी के सद्भाव या दुर्भाव को समझकर शीघ्र आना, कोई तुम्हें जान न पावे ॥८॥ दूत श्रीअवध को गये, श्रीभरतजी की व्यवस्था समझकर और उनकी करतूत देखकर—जैसे ही श्रीभरतजी चित्रकूट को चले वैसे ही दूत तिरहुत को चले ॥२७१॥

विशेष—(१) 'जनकौरा'—'श्रीजनकजी का नगर', यथा—"सिय नैहर जनकौर नगर निय-रायेन्हि।" (जानकी-मंगल), यहाँ जनक-नगर-निवासी से तात्पर्य है, श्रीअवधपुर में "घर-घर रुदन करहिं पुरबासी।" (दो० १५५) मात्र ही कहा गया है और जनक पक्ष के एवं जनकपुर के लोग तो शोक में बावले हो गये, यह उनमें विशेषता है, जो उपर्युक्त 'मिथिला' पद में कहा गया, उसकी सत्यता यहाँ सिद्ध है। आगे श्रीजनकजी को कहते हैं—

(२) 'जेहि देखे तेहि समय···'—विदेह को तो देह से ही ममत्व नहीं, फिर समधी, दामाद में ऐसी प्रीति क्यों ? अतएव जान पड़ता है कि ये झूठे ही विदेह कहाते हैं, उस समय सभी कोई ऐसा समझने लगे।

(३) 'मनि बिनु ब्यालहि'—सर्प मणि छिन जाने पर व्याकुल होकर छटपटाता है। मणि लेने-वाले पर अत्यन्त कुपित होता है, पा जाय तो उसके प्राण ही ले ले। वैसे राजा व्याकुल होकर छटपटाने लगे और अनर्थ-कर्त्ता पर रोष से भर गये। व्याकुलता में उन्हें कोई कल्याण का मार्ग न सूझ पड़ा।

(४) 'भरत राज रघुबर बनबासू ·'—छोटी रानी का पुत्र, वह भी छोटा, उसे राज्य और बड़ी रानी का और बड़ा पुत्र वन को भेजा गया, इस अनीति से दुःख हुआ कि यह कार्य लोक-वेद दोनों ही से निन्दित है। इसपर उपर्युक्त रोष भी सम्भव है।

'नृप बूझे बुध-सचिव ·'—क्योंकि ये दोनों उचित-अनुचित समझनेवाले हैं, यथा—"सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई ॥" (बा० दो० २५७)।

(५) 'समुझि अवध असमंजस दोऊ।'—दोनों असमंजस कि राजा का मरण सुनने पर जाना चाहिये, न जायँ तो अनुचित है। यदि जायँ तो कैकेयीजी के पक्ष के समझे जायँगे। कौसल्याजी एवं नगरवासी विरोध मानेंगे। यदि कैकेयीजी को समझावें और वे न मानें, तो उनसे विरोध हो। फिर इधर हमारे भाई-भाई में भी फूट की सम्भावना हो, क्योंकि भाई कुलवज मुझे अपने दामाद के विरोधी समझेंगे। दोनों ही दामाद हैं, हम किस तरफ क्या कहेंगे ? इत्यादि दुविधा ही रही।

(६) 'चतुर चर चारी'—चर यहाँ गुप्तचर (जासूस) के लिये है। 'चार चले' एवं 'चारी' शब्द से यह भी ध्वनि है कि वे बहुत तेज चलनेवाले भी थे। इसीके अनुसार 'आयेहु बेगि' भी कहा गया है। 'चार' से चार दूतों की संख्या भी जनाई कि चार दूतों के जाने से चारों का विचार दृढ़ होगा।

(७) 'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ'—श्रीभरतजी की साधुता प्रसिद्ध थी, यथा—"भरत नीति रत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम सकल जगजाना ॥" (दो० २२०), और जब श्रीअवध में अनर्थ हुआ, तब वे अन्यत्र थे, अब आये हैं। तो देखना चाहिये कि वे पूर्ववत् हैं कि माता के पक्ष में हैं, यह जानने पर किसी कर्त्तव्य का निश्चय किया जाय।

(८) 'गये अवध चर भरतगति ·'—'गति' अर्थात् हार्दिक व्यवस्था, जो कि कैकेयीजी को डाँटने से, कौसल्याजी के समक्ष में शपथ करने से, सभा में विह्वल होने और गुरु, मन्त्री आदि सभी के कहने पर भी राज्य न ग्रहण करने से जान पड़ी। 'करतूति'—सबको लेकर प्रभु को मनाने जा रहे हैं। यह नेत्रों से देखा है।

इस प्रकार कर्त्तृत्व से राजा जनक की परम तत्परता सिद्ध है कि उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से कर्त्तव्य का निश्चय किया है और फिर बड़ी तत्परता से बड़ी दूर से अत्यन्त शीघ्र चित्रकूट भी पहुँचे।

दूतन्ह आइ भरत कइ करनी। जनक-समाज जथामति बरनी ॥१॥
सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥२॥
धरि धीरज करि भरत बड़ाई। लिये सुभट साहनी बोलाई ॥३॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे ॥४॥
दुघरी साधि चले ततकाला। किये बिश्राम न मग महिपाला ॥५॥
भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सब लागा ॥६॥
खबरि लेन हम पठये नाथा। तिन्ह कहि अस महि नायेउ माथा ॥७॥

साथ किरात छ-सातक दीन्हे। मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे ॥८॥

शब्दार्थ—दुघरी साधि = दुघड़िया मुहूर्त्त, इससे सब दिन सब ओर का यात्रा-विधान हो सकता है। ततकाला = उसी समय। हम = हमको। छ-सातक = छः सात के लगभग।

अर्थ—दूतों ने जनकपुर में आकर श्रीजनकजी के समाज में अपनी बुद्धि के अनुसार श्रीभरतजी की करनी का वर्णन किया ॥१॥ उसे सुनकर गुरु, कुटुम्बी, मन्त्री और राजा सब शोच और स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो गये ॥२॥ धैर्य धारण कर तथा श्रीभरतजी की बड़ाई करके अच्छे-अच्छे योद्धाओं और साहनियों (हाथी, घोड़े आदि के दारोगाओं) को बुला लिया ॥३॥ घर, नगर, देश (प्रान्त) में रखवालों को रखकर, हाथी, घोड़े और रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ तैयार कराईं ॥४॥ दुघड़िया मुहूर्त्त साधकर उसी समय चल दिये। राजा ने मार्ग में विश्रम भी नहीं किया ॥५॥ आज सवेरे ही प्रयाग-राज-स्नान करके चले, सबलोग यमुना पार उतरने लगे थे (तब) ॥६॥ हे नाथ! हमको हमारे स्वामी ने खबर लेने के लिये भेजा है, उन्होंने ऐसा कहकर पृथ्वी पर सिर रखकर प्रणाम किया ॥७॥ मुनिश्रेष्ठ ने शीघ्र ही कोई छः सात किरातों को साथ में देकर दूतों को शीघ्र विदा किया ॥८॥

विशेष—(१) 'जनक-समाज जथामति बरनी।'—'जनक-समाज' से जनाया कि वहाँ उस समय निमिवंशी अधिक थे। 'जथामति'—करनी अकथनीय थी, उनकी बुद्धि में जितना आया, उतना ही उन्होंने कहा।

(२) 'भे सब सोच सनेह बिकल अति'—शोच व्यर्थ में राजा की मृत्यु का तथा श्रीरामजी के बनवास का और स्नेह श्रीभरतजी के सद्भाव का। पहले कैकेयी के कर्त्तव्य पर शोच था, अब सोचते हैं कि व्यर्थ ही इतने अनर्थ हुए।

(३) 'लिये सुभट साहनी बोलाई।'—सुभटों को नगर की रक्षा के लिये और साहनियों को हाथी-घोड़े आदि तैयार कराने के लिये बुलाया। 'घर पुर देस'—शत्रु से देश की रक्षा करना, उससे अधिक जनकपुर को और उससे भी अधिक घर की। अतः, घर प्रथम कहा।

(४) 'दुघरी साधि चले'—कर्मकाण्ड में राजा की दृढ़ निष्ठा है। अतः, यात्रा-विधान किया, सम्भवतः उस दिन यात्रा का कोई योग न था, इसलिये शिवजी के मत से द्विघटिका मुहूर्त्त शोधकर चले। 'महिपाला'—इतने बड़े राजा होते हुए विश्राम भी नहीं किया, प्रेम से रातो-दिन दौड़े चले आये।

(५) 'भोरहिं आजु नहाइ···'—भोर होते ही प्रयागराज पहुँचे और स्नान कर चल दिये।

(६) 'तिन्ह कहि अस महि नायेउ माथा।'—कथन-समाप्ति पर प्रणाम किया। प्रणाम करके बोलना और वचन की पूर्त्ति पर भी प्रणाम के साथ विसर्जन करना शिष्टाचार है। यह भी संकेत किया कि कहना था, सो कहा, अब हमें जाने की आज्ञा हो।

(७) 'किरात छ-सातक दीन्हे'—श्रीजनक महाराज का भारी समाज है, जिससे ये लोग अच्छे मार्ग से सुविधापूर्वक उन्हें ला सकें। एक-दो से भी काम चल जाता, पर राजा के सम्मान के लिये भी अधिक भेजे।

'बोले चरबर जोरे हाथा' उपक्रम है और यहाँ—'मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे।' पर उपसंहार है।

दोहा—सुनत जनक आगमन सब, हरषेउ अवध-समाज।
रघुनंदनहि सकोच बड़, सोच-बिवस सुरराज ॥२७२॥

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई ॥१॥

अस मन आनि मुदित नर-नारी । भयउ बहोरि रहब दिन चारी ॥२॥
येहि प्रकार गत बासर सोऊ । प्रात नहान लाग सब कोऊ ॥३॥

अर्थ—श्रीजनक महाराज का आना सुनकर श्रीअवध का सारा समाज प्रसन्न हो गया, इससे रघुनन्दन श्रीरामजी को बड़ा संकोच हुआ और देवराज इन्द्र विशेष शोच में पड़ गये ॥२७२॥ कुटिला कैकेयी ग्लानि से गली जाती है (सूखी जाती है, उसका शरीर क्षीण होता जाता है), वह किससे कहे और किसे दोष दे ? (क्योंकि अपना ही दोष है और समाज-भर में उससे सहानुभूति रखनेवाला भी कोई नहीं है) ॥१॥ नरनारी मन में ऐसा लाकर (समझकर) प्रसन्न हैं कि फिर अब चार (कुछ) दिन रहन हुआ (नहीं तो आज ही विदाई होती) ॥२॥ इस तरह वह दिन भी समाप्त हो गया, प्रातःकाल सब कोई स्नान करने लगे ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनत जनक आगमन···'—श्रीअवध के समाज को हर्ष हुआ कि परम ज्ञानी श्रीजनकजी अवश्य लौटा ले चलेंगे, जो श्रीरामजी न भी लौटेंगे, तो कुछ दिन और रहने को मिलेगा ही। वही आगे कहा है—'अस मन आनि···'। 'रघुनंदनहि सकोच बड़···'—संकोच तो भरतजी के ही आने पर हुआ था, अब ये भी आये तो अधिक हो गया, इसीसे 'बड़' कहा गया है। इन्द्र को बहुत ही शोच हुआ, वह सोचता है कि श्रीजनकजी श्वशुर हैं, पिता के समान हैं, इनकी आज्ञा श्रीरामजी टाल ही नहीं सकते। अभी तक एक श्रीभरतजी के लिये ही झखते थे, अब तो दो आ गये।

(२) 'गरइ गलानि कुटिल···'—अपनी कुटिलता पर पछता रही है कि समधिनियों के आगे कौन मुँह दिखाऊँगी ? पश्चात्ताप से उसका शरीर क्षीण होता जाता है, मानों वह पापों का प्रायश्चित्त कर रही है, यथा—"ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥२२७॥ यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२८॥ यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२९॥ कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥ (मनु० ११), अर्थात् पापी अपने पाप को प्रकट करने से और (मैंने बुरा किया, ऐसे) पछताने से, तप तथा अध्ययन करने एवं दान देने से पाप से छूटता है। वह जैसे-जैसे पाप प्रकट करता है, वैसे-वैसे पापों से छूटता है। जैसे-जैसे उसका मन अपने पाप कर्म की निन्दा करता है, वैसे-वैसे उस अधर्म से छूटता है। पाप करके पश्चात्ताप करे तो पाप से छूटता है और फिर ऐसा कभी न करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा पर वह पवित्र होता है। 'काहि कहइ···'—सोचती है कि महिलाओं की सभा में मैं किसका दोष कहकर आड़ लूँगी। मन्थरा तो नीच चेरी है, इसका नाम लेने से लोग मुझे और भी मन्द-बुद्धि समझेंगे। यह भी भाव है कि पहले इसने पृथ्वी से बीच माँगा और यमराज से मृत्यु माँगी, पर सुनवाई नहीं हुई, तो और अब किससे कहे ? सभी तो इसके शत्रु हो रहे हैं, सहानुभूति करनेवाला मिले तो उससे कहे भी। इससे ग्लानि की सीमा जनाई।

(३) 'येहि प्रकार गत बासर'—ऐसे ही मनोरथ करते हुए दिन-रात बीत गया। 'बासर' से यहाँ दिन-रात का तात्पर्य है।

करि मज्जन पूजहिं नर-नारी । गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी ॥४॥
रमा-रमन-पद बंदि बहोरी । बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥५॥
राजा राम जानकी रानी । आनँद - अवधि अवध-रजधानी ॥६॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा । भरतहि राम करहु जुबराजा ॥७॥
येहि सुखसुधा सींचि सब काहू । देव देहु जग जीवन-लाहू ॥८॥

दोहा—गुरुसमाज भाइन्ह सहित, राम-राज पुर होउ ।
अछत राम राजा अवध, मरिय माँग सब कोउ ॥२७३॥

अर्थ—स्नान करके सब नर-नारी गणेशजी, गौरीजी, त्रिपुरों के शत्रु शिवजी और सूर्य भगवान् की पूजा करते है ॥४॥ फिर लक्ष्मीनाथ विष्णु भगवान् के चरणों की वन्दना करके पुरुष हाथ जोड़कर और स्त्रियाँ आँचल पसार कर प्रार्थना करती हैं ॥५॥ कि श्रीरामजी राजा हों, श्रीजानकीजी रानी हों और आनन्द की सीमा श्रीअवध राजधानी ॥६॥ फिर से स्वतन्त्रता-पूर्वक समाज-सहित बसे और श्रीरामजी श्रीभरतजी को युवराज बनावें ॥७॥ हे देव ! इस सुखरूपी अमृत से सब-किसीको सींचकर (हमलोगों को) जगत् में जन्म लेने का लाभ दीजिये ॥८॥ गुरु, समाज और भाइयों के साथ श्रीरामजी का राज्य श्रीअवधपुर में हो, श्रीरामजी के राजा रहते हुए ही हमारी मृत्यु हो, यही (वरदान) सब कोई माँगते हैं ॥२७३॥

विशेष—(१) 'करि मज्जन पूजहिं·····'—श्रीअवधवासी इन पंचदेवों की उपासना करके फल-रूप में श्रीरामजी की भक्ति माँगते हैं, फल में सबकी श्रीरामजी में ही अनन्यता है, साधन मे प्रकृति-भेद से नानात्व है, कहा भी है—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पय-सामर्णव इव ॥" (शिव-महिम्नस्तोत्र) । 'आनंद-अवधि', यथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं । सुख की सींव अवधि आनंद की अवध बिलोकि हौं जाइ हौं ॥ · · " (गी० बा० ४६) । श्रीगोस्वामीजी ने भी विनयपत्रिका में पाँचो की प्रार्थना करके श्रीराम-भक्ति माँगी है, यथा—"बसहु राम सियमानस मोरे ।"—गणेशजी से, "देहि माँ मोहिं प्रण प्रेम, यह नेम निज राम घनस्याम तुलसी पपीहा ॥"—गौरी से, 'देहु कामरिपु राम-चरण रति '—शिवजी से, "तुलसी राम भगति बर माँगै ।"—सूर्य से और—"देहि अवलंब कर-कमल कमलारमन अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी ।"—विष्णु भगवान् से, इत्यादि । वास्तव में यह उपासना श्रीरामजी की ही है, दा० मं० श्लोक० १ की टीका भी देखिये ।

(२) 'सुबस बसउ फिरि····· '—जैसा कि राजा श्रीदशरथजी ने कहा है—"सुबस बसिहि फिर अवध सुहाई ।" (दो० ३५), 'सहित समाजा'—राजा के प्रधान अंग सात हैं, शेष और भी जितने अंग हैं, उनसब से सम्पन्न श्रीअवध बसे । 'फिरि'—क्योंकि अभी उजड़ चुकी है, यथा—"अवध उजारि कीन्हि कैकेई ।" (दो० २८), साथ ही श्रीभरतजी को युवराज बना लें, यथा—'राज दीन्हि सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुवराज ।' (कि० दो० ११), पीछे युवराज बनाने में न जाने कोई विघ्न हो जाय, वा श्रीरामजी के पुत्र होंगे, तो श्रीभरतजी फिर क्यों पावेंगे, इसलिये अभी से युवराज हो जायँ, यह श्रीभरतजी पर सबकी प्रीति एवं कृतज्ञता है ।

(३) 'येहि सुखसुधा·····'—अभी तक विरहानल से सन्तप्त रहे, अब इस सुख-रूपी अमृत से सींचकर तर कर दीजिये । 'गुरुसमाज'—गुरुजनों का समाज—माता, गुरु, पूज्य-वर्ग का और लोगों का समाज भी । 'जग जीवन-लाहू', यथा—"सियराम सरूप अगाध अनूप·····तुलसी के मते इतनों जग जीवन को फल है ।" (क० उ० ३१) । 'अछत राम···'—श्रीरामजी का अकल्याण हम सब न देखें, प्रत्युत उनके आगे ही हम सब मरें ।

सुनि सनेहमय पुरजन-बानी । निंदहिं जोग बिरति मुनि ज्ञानी ॥१॥
येहि बिधि नित्य करम करि पुरजन । रामहिं करहिं प्रनाम पुलकि तन ॥२॥
ऊँच नीच मध्यम नर - नारी । लहहिं दरस निज निज अनुहारी ॥३॥

लवध्यन सबही सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं ॥४॥
लरिकाइहि ते रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी ॥५॥

अर्थ—श्रीअवध नगर-निवासियों की स्नेह-पूर्ण वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने योग और वैराग्य की निन्दा करते हैं ॥१॥ इस तरह श्रीअवधपुरवासी अपने नित्य-कर्म करके पुलकित शरीर से श्रीरामजी को प्रणाम करते हैं ॥२॥ उत्तम, नीच और मध्यम (सभी वर्गों के) नर-नारी अपने-अपने (भाव एवं अधिकार के) अनुसार दर्शन पाते हैं ॥३॥ श्रीरामजी सावधानी से सबका सम्मान करते हैं, सब कोई कृपानिधान श्रीरामजी की प्रशंसा करते हैं ॥४॥ लड़कपन से ही रघुवर श्रीरामजी की ऐसी बानि (टेव) है कि वे प्रीति को पहचान कर नीति का पालन (निर्वाह) करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निंदहिं जोग बिरति···'—इन लोगों ने योग-वैराग्य के बहुत साधन किये हैं, पर प्रेम नहीं हुआ और इनकी सहज-वृत्ति में प्रेम की उच्च दशा है। प्रेम से भगवान् शीघ्र मिलते हैं और अत्यन्त कृपा करते हैं, यथा—"उमा जोग जप ज्ञान तप, नाना ब्रत अरु नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निःकेवल प्रेम ॥" (लं० दो० ११६)। "ज्ञान दया दम ··तब पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (उ० दो० ४८)। इसलिये प्रेम के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए ये लोग अपने योग-वैराग्य की निन्दा करते हैं।

(२) 'येहि बिधि नित्य करम ·····'—यह पुरजनों की नित्य-चर्या है, श्रीअवध में पहले भी करते थे, यथा—"आशंसते जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा। आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः। सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ॥" (वाल्मी० २।२। ५१-५२) 'पुलकि तन'—श्रीरामजी के स्मरण एवं प्रणाम में पुलक होना ही चाहिये, यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'सावधान सबही सनमानहिं', यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ।" (क० उ० १२६)। 'कृपानिधानहिं'—और लोग स्वार्थ-दृष्टि से दूसरे का सम्मान करते हैं, पर श्रीरामजी कृपा करके ही करते हैं, क्योंकि आप तो आप्त-काम हैं, यथा—"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥" (गीता ३।२२)। 'पालत नीति प्रीति···'—हृदय की प्रीति जानकर और बाह्य वृत्ति से उसकी नीति को भी जानकर दोनो का निर्वाह करते हैं।

सील - सँकोच - सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ॥६॥
कहत राम - गुन-गन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे ॥७॥
हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहि राम जानत करि मोरे ॥८॥

दोहा—प्रेम-मगन तेहि समय सब, सुनि आवत मिथिलेस।
सहित सभा संभ्रम उठेउ, रवि-कुल-कमल-दिनेस ॥२७४॥

शब्दार्थ—सुमुख = प्रसन्न मुख, मिष्ट-भाषी। संभ्रम = उतावली से, उत्कंठा से—"संभ्रम चलि आईं सब रानी।" (बा० दो० १९२)।

अर्थ—रघुराज श्रीरामजी शील और संकोच के सागर हैं, सुन्दर वदन, प्रसन्नमुख एवं मधुर भाषी, सुन्दर नेत्रवाले (अर्थात् शीलवान् एवं कृपालु) और सरल स्वभाववाले हैं (तब उपर्युक्त बर्ताव उनका योग्य ही है) ॥६॥ श्रीरामजी के गुण-गणों को कहते-कहते अनुराग में भर गये और सभी अपने-अपने भाग्य की प्रशंसा करने लगे ॥७॥ कि हमारे समान पुण्य-राशिवाले जगत् में बहुत थोड़े होंगे कि जिन्हें

श्रीरामजी अपना करके जानते हैं, अर्थात् ममत्व रखते हैं ॥८॥ उस समय सब कोई प्रेम में मग्न हैं। श्रीजनकजी महाराज को आते हुए सुनकर सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य श्रीरामजी सभा के साथ उत्साह एवं उतावली से उठे ॥२७४॥

विशेष—(१) 'सील-सँकोच-सिंधु···', यथा—"सील सिंधु सुंदर सब लायक समरथ सदगुन खानि हौ।" (वि० २२३)। शील और संकोच से स्वभाव की बाहरी सुन्दरता और सरलता (निष्कपट हृदय होने) से भीतरी सुन्दरता है। शरीर की सुन्दरता मुख और नेत्र से कही गई। अर्थात् श्रीरामजी शरीर और स्वभाव, दोनों से सुन्दर हैं।

(२) 'कहत राम-गुन-गन अनुरागे'—राम-गुण-गान से अनुराग होता है, यथा—"तब हनुमंत कही सब, राम कथा निज नाम। सुनत जुगल तनु पुलक मन, मगन सुमिरि गुन ग्राम ॥" (सुं० दो० ६), "प्रभु गुन सुनि मन हर्षि है नीर नयनन्हि ढरिहै।" (वि० २६८)।

(३) 'हम सम पुन्यपुंज जग थोरे।···'—हमें श्रीरामजी अपना करके मानते हैं, यथा—"प्रनवउँ पुर नरनारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहिं न थोरी ॥" (बा० दो० १५), श्रीमुख-वचन भी है, यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३) "राम कहैं जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसीदास ॥" (दोहावली १४१)।

(४) 'संभ्रम उठेउ, रवि-कुल-कमल-दिनेस'—क्योंकि अच्छे कुलवाले दूसरे का सत्कार करते हैं, फिर ये तो सूर्यकुल को प्रकाशित एवं प्रफुल्लित करनेवाले हैं, क्यों न सत्कार के लिये ऐसे उठें, यथा—"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।" (दो० २३९)।

भाइ-सचिव - गुरु-पुरुजन - साथा। आगे गवन कीन्ह रघुनाथा ॥१॥
गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं ॥२॥
रामदरस लालसा उछाहू। पथश्रम लेस कलेस न काहू ॥३॥
मन तहँ जहँ रघुबरबैदेही। बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही ॥४॥
आवत जनक चले येहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माँती ॥५॥

अर्थ—भाई, मन्त्री, गुरु और पुरवासी को साथ लिये हुए श्रीरघुनाथजी ने आगे गमन किया ॥१॥ राजा श्रीजनक ने ज्योंही गिरिश्रेष्ठ कामतानाथ के दर्शन किये, त्योंही प्रणाम करके उन्होंने रथ त्याग दिया (अर्थात् पैदल चलने लगे) ॥२॥ श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा और उत्साह है, इसीसे मार्ग के थकावट-सम्बन्धी क्लेश किसीको नहीं है ॥३॥ (क्योंकि) उनका मन तो वहाँ है जहाँ रघुवर-वैदेही (श्रीसीतारामजी) हैं, फिर बिना मन के देह के दुःख और सुख की सुधि किसको हो (क्योंकि दुःख-सुख का अनुभव मन के द्वारा ही होता है) ॥४॥ इस तरह श्रीजनकजी महाराज समाज के साथ चले आते हैं, समाज के साथ उनकी बुद्धि प्रेम से मतवाली हो रही है ॥५॥

विशेष—(१) 'आगे गवन कीन्ह···'—इस समय अपने घर के ज्येष्ठ श्रेष्ठ श्रीरामजी ही हैं। अतएव अगवानी के लिये आगे चले। 'रघुनाथा'—क्योंकि कुल-व्यवहार में प्रवृत्त हैं। 'गिरिबर दीख जनकपति···'—श्रीजनकजी का कुल ही 'जनक' कहाता है, क्योंकि इनके पूर्वज पहले पिता मात्र से उत्पन्न हुए हैं। कथा बा० दो० २१४ में दी गई है। अतः, जैसे रघुकुल के स्वामी रघुपति कहे जाते हैं, वैसे 'जनक-पति' श्रीजनकजी जनक कुल के स्वामी हैं। गिरिवर को देखकर उतरे और प्रणाम किया। ऐसा ही श्रीभरतजी ने भी किया है, यथा—"सैल सिरोमनि सहज सुहावा।···देखि करहिं सब दंड प्रनामा···" (दो० २२४)।

(२) 'रामदरस लालसा उछाहू ।···', यथा—"भरतहिं सहित समाज उछाहू ।" (दो० २२४) ।

(३) 'बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही ।', यथा—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥" (वि० पु० ६।७।२८), तथा—"वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च । कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ॥ तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते ॥ तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् । मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः ॥" (वि० पु० २।६।४५-४७), अर्थात् जब एक ही वस्तु सुख और दुःख एवं ईर्ष्या और कोप का कारण हो जाती है, तब उसमें वस्तुता (नियतस्वभावत्व) कहाँ है ? क्योंकि एक ही वस्तु कभी प्रीति का कारण होकर फिर वही दुःख का कारण होती है, वही कभी क्रोध का कारण और फिर कभी प्रसन्नता का कारण होती है । अतः, वस्तु कोई सुखमय नहीं है और न दुःखमय ही है । ये सुख-दुःख तो मन के ही परिणाम (विकार) हैं—वि० १२४ के 'सिद्धान्त-तिलक' में मन पर विशेष विवेचन देखिये ।

(४) 'आवत जनक चले···', यथा—"जाहिं सनेह सुरा सब छाके ॥ सिथिल अंग मग पग डगि डोलहिं ॥ बिह्वल बचन प्रेम बस बोलहिं ॥" (दो० २२४) ।

आये निकट देखि अनुरागे । सादर मिलन परसपर लागे ॥६॥
लगे जनक मुनि-जन-पद बंदन । रिषिन्ह प्रनाम कीन्ह रघुनंदन ॥७॥
भाइन्ह सहित राम मिलि राजहिं । चले लिवाइ समेत समाजहिं ॥८॥

दोहा—आश्रम सागर सांतरस, पूरन पावन पाथ ।
सेन मनहुँ करुना-सरित, लिये जाहिं रघुनाथ ॥२७५॥

अर्थ—जब समीप आये तब परस्पर देखकर अनुराग से पूर्ण हो गये और आदर के साथ आपस में मिलने लगे ॥३॥ श्रीजनकजी इधर के मुनि गणों के चरणों को वन्दना करने लगे, और भाइयों के साथ रघुनन्दन श्रीरामजी ने भी उधर के ऋषियों को प्रणाम किया ॥७॥ भाइयों के साथ श्रीरामजी राजा से मिल कर समाज के साथ उनको लिवा ले चले ॥८॥ श्रीरामजी का आश्रम सागर है, वह शान्त-रस रूपी पवित्र जल से पूर्ण है, मानों श्रीजनकजी की सेना (एवं समाज) करुणा नदी है, उसे श्रीरघुनाथजी (आश्रम-सागर को) लिये जाते हैं ॥२७५॥

विशेष—(१) 'लगे जनक मुनि ·'—श्रीरामजी के साथ के मुनियों को श्रीजनकजी ने प्रणाम किया और श्रीजनकजी के साथ शतानन्द आदि ऋषियों को श्रीरामजी ने प्रणाम किया । 'रघुनंदन'—शब्द रघुकुलोचित मर्यादा-निर्वाह के सम्बन्ध से दिया गया है ।

(२) 'आश्रम सागर सांतरस ··'—यहाँ सम अभेद रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा है । आश्रम साधु की कुटी को कहा जाता है । श्रीरामजी भी तपस्वी वेष में हैं । वहाँ सब शान्त रस की ही व्यवस्था रहती है, यथा—"जहाँ बैठि मुनि गन सहित, नित सियराम सुजान । सुनहिं कथा इतिहास नित, आगम निगम पुरान ॥" (दो० २३७) । इसलिये वह शान्तरस जल से पूर्ण कहा गया है । इस रस में जगत् की असारता, अनित्यता, दुःख आदि का विचार, वा परमात्म स्वरूप आलम्बन, तपोवन, तीर्थ आदि एवं सत्संग आदि उद्दीपन, रोमांचादि अनुभाव तथा हर्ष, दया आदि संचारी भाव होते हैं, इसका स्थायी भाव निर्वेद (कामादि वेगों की निवृत्ति) है । इस रस में योगियों को एक अलौकिक प्रकार का आनन्द होता है । जिसमें संचारि आदि भावों की स्थिति हो सकती है, इसीसे यह रस में परिगणित है, अन्यथा-[illegible]

सम्बन्धी मनोविकारों का तो इसमें शमन होता है—हिं० श० सा०। इस रस का रंग श्वेत है और नारायण इसके देवता हैं—काव्य प्रभाकर।

(३) 'सेन मनहुँ करुना-सरित ···'—सेना और समाज सब करुणारस से पूर्ण शोकमय हैं। वे मुनि-समूह से पूर्ण श्रीरामजी के आश्रम पर पहुँचकर शान्ति प्राप्त करेंगे, जैसे सागर में पहुँच कर नदियाँ शान्त हो जाती हैं। नदियाँ पहाड़ या सर से निकलती हैं। यह करुणा नदी सबके मानस-सर से निकली है, क्योंकि करुणा मन से होती है। यहाँ पर किसी नदी का नाम नहीं दिया गया। पर प्राप्य स्थान 'सागर' और लिये जानेवाले को 'रघुनाथ' कहा है। इससे गंगाजी के समान लक्षित किया है। श्रीभगीरथजी भी रघुकुल के ही राजा होने से रघुनाथ कहे जा सकते हैं। सागर भी सगर के पुत्रों के द्वारा खोदे जाने से कहा गया है। उन्हींके उद्धार के लिये वहाँ गंगाजी गई भी हैं। जैसे भगीरथ के पीछे-पीछे गंगाजी कोलाहल करती हुई चली हैं, वैसे ही श्रीरामजी के पीछे-पीछे सब समाज रोता हुआ जा रहा है। शेष अंग आगे कहते हैं—

बोरति ज्ञान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद-नारे ॥१॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरु-बर कर भंगा ॥२॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ॥३॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥४॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥५॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठे अंबुधि अकुलाई ॥६॥

शब्दार्थ—तोरावति (सं० त्वरावती) = वेगवती। अवर्त्त (आवर्त्त) = घुमाव, चक्कर, जिसका बीघों तक घुमाव होता है और जिसके केन्द्र में थोड़ी दूर में ही जल घूमता रहता है, जहाँ गढ़ा होता है, वही 'भँवर' है। ऐक = अन्दाज।

अर्थ—(वह करुणा नदी) ज्ञान-वैराग्य रूपी किनारों को डुबाती चलती है, शोक भरे वचन नदों और नालों की तरह इसमें मिलते जाते हैं ॥१॥ सोच और लम्बी साँसें वायु और लहरें (उठती) हैं, जो धैर्यरूपी नदी-तट के बड़े-बड़े वृक्षों को गिराती चलती हैं ॥२॥ कठिन दुःख वेगवती धारा है डर और भ्रम अगणित भँवर और उसके आवर्त्त हैं ॥३॥ पण्डित लोग केवट हैं और उनकी बड़ी-बड़ी विद्याएँ ही बड़ी-बड़ी नावें हैं, वे खे नहीं सकते हैं, क्योंकि उन्हें इस नदी का ऐक (अटकल) ही नहीं सूझ रहा है ॥४॥ वन के विचरनेवाले बिचारे कोल-किरात गण बटोही हैं। वे इस नदी को देखकर हृदय से हारकर थक रहे (स्तम्भित हो रहे) हैं ॥५॥ यह करुणा नदी जब आश्रमरूपी समुद्र में जा मिली, तब मानों वह सागर अकुला उठा (अर्थात् वहाँ भी रोने का अत्यन्त कोलाहल हुआ) ॥६॥

विशेष—(१) 'बोरति ज्ञान बिराग ···'—करुणा नदी इतनी बढ़ी कि ज्ञान-विराग रूपी किनारे डूब गये, अर्थात् ज्ञानी-वैरागी भी उसमें निमग्न हो गये। सबमें करुणा ही दिखाई देती है। 'बचन ससोक···' —राजा के रूप-गुण आदि पर जो शोक के वचन कहे जाते हैं, उनसे करुणा और बढ़ती है, जैसे नद नालों के जल पा-पाकर नदी तीव्र होती और बढ़ती है। 'सोच उसास समीर···'—शोकातुर होकर लोग लम्बी साँसें (आहें) भरते हैं, जिससे बड़े-बड़े धैर्यवानों का धैर्य छूट जाता है। जैसे नदी में पवन के झकोरों से लहरें ऊपर को उठती और किनारों को बहुत काटती हैं, तट के बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ ले जाती हैं। कठिन दुःखरूपी तीव्र धारा में लोगों के हृदय में तरह-तरह के भय और भ्रम हो रहे हैं। जैसे बड़ी नदी में अनेक भँवर और आवर्त्त पड़ते हैं। भय राज्य नष्ट होने का, भ्रम श्रीरामजी के लौटने वा

न लौटने का, अथवा भय सबके शोक में डूबने का है। जिसका कोई उपाय नहीं दीखता और भ्रम अर्थात् किसीका चित्त सावधान नहीं है।

इस नदी का ज्ञान-किनारा ज्ञानी विदेहराज का समाज है और श्रीभरतजी का समाज वैराग्य-रूपी तट है, क्योंकि इन्होंने भरद्वाज के ऐश्वर्य को भी तृण के समान त्यागा है। नद, जैसे महानद अर्थात् भारी नदी, ये मिथिला-समाज के सशोक वचन हैं, क्योंकि वे अभी आये हैं। अतः, इनमें करुणा जल अधिक है। श्रीअवधवासियों का शोक प्रभु के सहवास में कई दिन रहने से कुछ कम हो गया है। अतः, करुणा जल कम है, ये नाले-रूप हैं।

(२) 'केवट बुध बिद्या ' '—बड़े-बड़े विद्वानों की बड़ी-बड़ी विद्याएँ बड़ी-बड़ी नावें हैं। इस विषय का अन्दाज हो उन्हें नहीं मिल रहा है, उनकी बुद्धि चकरा गई है कि कैसे लोगों को धैर्य करावें? जैसे भयंकर बाढ़ में केवट नाव का लंगर डाल देते हैं, और मुसाफिरों को जवाब दे देते हैं कि नाव कस में नहीं है। अतः, अभी न खेवेंगे। नाव का मार्ग-निश्चय करने को केवट लोग ऐकना कहते हैं।

(३) 'बनचर कोल किरात बिचारे।····'—भयंकर बढ़ी हुई नदी के तट पर पथिक लोग चकित होकर खड़े रहते हैं, क्योंकि उसमें उनका कुछ चारा (वश) नहीं चलता, वैसे कोल-किरात खड़े स्तम्भित हो एकटक देख रहे हैं, इनका कुछ वश नहीं है। ये विचारते हैं कि जब बड़े-बड़े विद्वान् हार बैठे हैं, तो हमलोगों का क्या वश है?

(४) 'आश्रम उदधि मिली·····'—आश्रम पर पहुँचने से वहाँ श्रीअवध का रनवास था। सम्बन्धियों को देखकर उनका भी आर्त्त स्वर से रोना बढ़ा और इधर तो आर्त्तस्वर से रोना था ही, इससे बड़ा कोलाहल हुआ, जैसे गंगा आदि बड़ी नदियों के समुद्र में मिलने पर होता है। 'उठेउ अकुलाई' से यह भी जनाया कि यहाँ का रनिवास और मुनि-मंडली आदि भी उठ खड़े हुए और सबकी शान्ति भंग हो गई, जैसे नदी के जल के टक्कर से समुद्र का जल भी क्षुब्ध हो जाता है।

सोक-बिकल दोउ राज-समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज-लाजा ॥७॥
भूप-रूप-गुन-सील सराही। रोवहिं सोकसिंधु अवगाही ॥८॥

छन्द—अवगाहि सोक-समुद्र सोचहिं नारि-नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर-सिद्धि-तापस-जोगिजन-मुनि देख दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥

सोरठा—किये अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरज धरिय नरेस, कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन ॥२७६॥

अर्थ - दोनों राज-समाज उस शोक से व्याकुल हो गये, उनका न ज्ञान रहा, न धैर्य और न लज्जा ही रह गई ॥७॥ राजा दशरथजी के रूप, गुण और शील को सराहकर सब रो रहे हैं और शोक-सागर में डूब रहे हैं ॥८॥ सभी स्त्री-पुरुष शोक-सागर में डूबे हुए शोच रहे हैं और अत्यन्त व्याकुल हैं। सब टेढ़े ब्रह्मा को दोष देकर क्रोधपूर्वक कहते हैं कि इस बाम-विधि ने क्या (आश्चर्य) कर डाला? ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी और मुनि लोग विदेह राजा श्रीजनकजी की दशा को देखकर कहते हैं कि कोई भी समर्थ नहीं है, जो इस स्नेह-रूपी नदी को पार कर सके। जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ

मुनियों ने लोगों को अगणित प्रकार से उपदेश किये और श्रीवसिष्ठ मुनि ने विदेहजी से कहा कि राजन्! आप धीरज धरिये ॥२७६॥

विशेष—(१) 'सोक-बिकल दोउ·· '—शोक से सभी व्याकुल हैं इससे ज्ञान न रहा, यथा—"चढ़े बधूरे (बौंड़र) चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोकसमाज। करम धरम सुख संपदा, त्यों जानिबे कुराज॥" (दोहावली ५१३), अर्थात् बौंड़र में पड़ी हुई पतंग की तरह शोक-समाज में ज्ञान नष्ट हो जाता है। सभी रोने से चुप नहीं होते, इससे धीरज न रहा और वस्त्र आदि का सँभार न रहने से लज्जा न रही। वा ज्ञानियों का ज्ञान, धीरों का धैर्य और स्त्रियों की लज्जा न रही। 'भूप-रूप-गुन-सील सराही।' रोवहिं···' यथा—"सोक-बिकल सब रोवहिं रानी। रूप-सील-बल-तेज बखानी॥" (दो० १२५),—देखिये, तारा और मन्दोदरी आदि के विलाप-प्रसंग भी ऐसे ही हैं।

(२) 'सोक-सिंधु अवगाही'—स्वजनों को देखकर दबा हुआ भी शोक उभड़ आता है। अतः, जैसे-जैसे श्रीमिथिलावासी शोक करते हैं, वैसे-वैसे श्रीअवधवासी और भी शोक में डूबते जाते हैं, यथा—"स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृत्तद्वारमिवोपजायते॥" (कुमारसम्भव)। अतः शान्तरस सागर भी शोक-मय हो गया।

(३) 'तुलसी न समरथ कोउ·····'—यहाँ सुर-सिद्ध आदि के साथ ही ग्रन्थकार की भी उक्ति है कि जब ऐसे ज्ञानी की यह दशा है, तो स्नेह-नदी को तैरने में दूसरा कोई समर्थ नहीं हो सकता।

(४) 'किये अमित उपदेस·····'—सामान्य मुनि तो दशा ही देखकर दंग हैं, श्रेष्ठ मुनियों ने जहाँ-तहाँ के लोगों को अगणित उपदेश दिये और विदेहजी से श्रीवसिष्ठजी ने कहा। उपदेष्टा भी अधिकारानुसार हैं, श्रीजनकजी को श्रीवसिष्ठजी ने ही कहा। इन्हें उपदेश नहीं दिया केवल कहा है, क्योंकि ये स्वयं महान् ज्ञानी हैं, इससे कहा कि आपके धैर्य धारण करने से सभी धैर्य धरेंगे। आपको मोह कहाँ? यह तो श्रीरामजी के स्नेह की महिमा है, जिसे आपने सबको दिखाया है।

(५) 'अमित उपदेस'—होतव्यता होकर ही रही, फिर अपरिहार्य बातों पर शोक करने से कोई लाभ नहीं, अब तो धैर्य धरना ही चाहिये। देखिये, अमुक-अमुक पर ऐसी-ऐसी विपत्तियाँ पड़ीं, और धैर्य धारण करने पर निवृत्त हुईं। सुख-दुःख तो आगमापायी हैं, समय के हेर-फेर से आते-जाते रहते हैं, अतएव उनसे अलिप्त रहना चाहिये, दो० १४६ में श्रीसुमन्त्रजी की उक्ति भी देखिये।

जासु ज्ञान - रवि भव-निसि-नासा। बचनकिरन मुनि-कमल बिकासा॥१॥
तेहि कि मोह - ममता नियराई। यह सिय - राम - सनेह - बड़ाई॥२॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥३॥
राम-सनेह सरस मन जासू। साधु-सभा बड़ आदर तासू॥४॥
सोह न राम - प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू। ५॥

अर्थ—जिन श्रीजनकजी के ज्ञान-रूपी सूर्य से भवरूपी रात नष्ट हो जाती है और जिनके वचन-रूपी किरणों से मुनि-रूपी कमल विकसित होते हैं॥१॥ उनके पास क्या मोह और ममता जा सकती हैं? (कभी नहीं) यह तो श्रीसीतारामजी के स्नेह की बड़ाई है॥२॥ विषयी, साधक और सयाने सिद्ध, जगत् में तीन तरह के जीव वेदों ने कहे हैं॥३॥ जिनका मन श्रीरामजी के स्नेह में सरस (आर्द्र, भींगा हुआ) है, उसीका साधु-समाज में बड़ा आदर होता है॥४॥ (क्योंकि) श्रीरामजी के प्रेम के बिना ज्ञान शोभित नहीं होता, जैसे बिना मल्लाह के नाव (की शोभा नहीं)॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि कि मोह ममता ···'—उत्कृष्ट ज्ञान सूर्य के समान कहा जाता है, यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता० ५।१६), वैसा ही इनका 'ज्ञान रवि' कहा गया है, ऐसे ज्ञान के समक्ष में मोह और ममता नहीं जा सकते, यथा—"भयेउ ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (दो० १६८), इनको भव-रात्रि नाश हो चुकी है, इनके उपदेश से श्रीशुकदेवजी एवं और भी बड़े-बड़े मुनियों के सन्देह दूर होते हैं। अतः, इन्हें मोह (अहं बुद्धि) और ममता (मेरे समधी, मेरे जामाता आदि की प्रीति) नहीं हो सकते। मोह और ममता ही 'मैं-मोर' कहाते हैं, ये भाव श्रीसीतारामजी के विषय में हैं, पर ये अज्ञान-दृष्टि से नहीं हैं। मैं श्रीरामजी का श्वशुर हूँ, वे मेरे जामाता हैं, इत्यादि उपासना के अंग हैं। अतः, इनसे ज्ञानी की शोभा है, यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (अर० दो० १७), 'यह सिय-राम-सनेह-बड़ाई', यथा—"इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥" (बा० दो० २१५), आगे रामस्नेह की महिमा कहते हैं—

(२) 'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव ···'—यहाँ जगत् में रहनेवाले जीवों के तीन भेद कहे गये हैं—विषयी बद्ध हैं, साधक मुमुक्षु और सिद्ध सयाने जीवन्मुक्त हैं। श्रीजनकजी जीवन्मुक्तों में हैं, यथा—"रिपि राज! राजा आजु जनक समान को।···गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की छोरी अनायास साधु सोधक अपान को॥" (गी० बा० ४६)। यहाँ 'जग' शब्द से जगत् में रहनेवाले ही तीन प्रकार के जीव कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त मुक्त, कैवल्य और नित्य—ये तीन भेद और होते हैं। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन है। इस ग्रन्थ के उपोद्घात् (भूमिका) में तथा मेरे 'मानस-सिद्धान्त-विवरण' के अध्याय २ में भी इनपर कुछ लिखा गया है, वहीं देखिये। 'राम-सनेह सरस ···'—तीन में कोई भी हो, पर उसमें श्रीरामस्नेह की सरसता हो, तो वही साधु-सभा में मान्य है। 'बड़ आदर'—सामान्य आदर तो साधु सभीका करते हैं, यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७)। 'सोह न राम-प्रेम बिनु ···'—मल्लाह के बिना नाव डूब जाती है अथवा टूट जाती है, वैसे ही प्रेम के बिना ज्ञान सिद्ध नहीं हो पाता, यथा—"तबहि दीप बिज्ञान बुझाई।" (उ० दो० १२८), क्योंकि—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥" (उ० दो० ४४)। अतएव—"अस बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (अर० दो० ४२), तथा—"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।" (भाग० १।५। १२)।

मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाये। रामघाट सब लोग नहाये॥६॥
सकल सोक-संकुल नर-नारी। सो बासर बीतेउ बिनु बारी॥७॥
पसु-खग-मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कवन बिचारू॥८॥

दोहा—दोउ समाज निमिराज, रघुराज नहाने प्रात।
बैठे सब बट-बिटप-तर, मन मलीन कृस गात॥२७७॥

अर्थ—मुनि श्रीवसिष्ठजी ने श्रीविदेहजी को बहुत प्रकार से समझाया, (फिर) सब लोगों ने श्रीरामघाट पर स्नान किया॥६॥ सब स्त्री-पुरुष शोक से भरे हुए थे (इससे) वह दिन (सबको) बिना जल का बीत गया, अर्थात् किसीने जल तक नहीं ग्रहण किया, भोजन करने की कौन बात॥७॥ पशु-पक्षी और मृगों तक ने भी आहार नहीं किया, तब प्यारे कुटुम्बियों (के आहार) का कौन विचार किया जाय?॥८॥ निमिकुल के महाराज श्रीजनकजी के समाज और रघुकुल के राजा श्रीरामजी एवं श्रीभरतजी के समाज, दोनों ने (दूसरे दिन) प्रातःकाल स्नान किया और सबलोग वट-वृक्ष के नीचे जाकर बैठे, सब मन से मलिन और शरीर से दुर्बल हो गये हैं॥२७७॥

विशेष—पहले 'धीरज धरिय नरेस, कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन' पर यह प्रसंग छोड़कर ग्रन्थकार श्रीजनकजी की अभीप्सा के प्रति सन्देह निवृत्ति करने लगे थे। उसे पूरा करके फिर समझाने से ही प्रसंग उठाते हैं, यथा—'मुनि बहु बिधि···'—मुनि वे ही श्रीवसिष्ठजी हैं, 'बहुबिधि' के भाव दोहे के अर्थ में कहे गये हैं, तथा दो० १७१-१७३ का समझाना भी यहाँ 'बहु बिधि' में ले सकते हैं। श्रीरामघाट वह है, जहाँ श्रीसमाजी बराबर स्नान करते थे। 'न कीन्ह अहारू' अर्थात् आहार सामने रक्खा रहने पर भी न खाया। जब शोक में तिर्यग्योनि की यह दशा हुई, तब चैतन्यों की कौन कहे। फिर जो श्रीरामजी के प्रिय पण्डित हैं, उनके विषय में विचार उठाना ही व्यर्थ है। यों ही सभी जान सकते हैं। 'रघुराज'—शब्द का 'रघु' शब्द पहले चरण के साथ और 'राज' दूसरे चरण में रखकर ग्रन्थकार ने संकेत किया कि श्रीरामजी सभी कुलमलों से पृथक् रहेंगे, बन में ही रहेंगे। 'मन मलीन'—भीतर से और 'कृसगात' ऊपर शरीर से शोक ग्रस्त है। अतः, तन-मन से मलिन हैं।

जे महिसुर दसरथ - पुर - बासी। जे मिथिलापति-नगर-निवासी ॥१॥
हंस-बंस गुरु जनक - पुरोधा। जिन्ह जग-मग परमारथ सोधा ॥२॥
लगे कहन उपदेस अनेका। सहित धरम-नय-बिरति-बिबेका ॥३॥
कौसिक कहि-कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी ॥४॥
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ। नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ ॥५॥

अर्थ—जो ब्राह्मण श्रीदशरथजी के नगर श्रीअयोध्याजी के निवासी थे और जो श्रीमिथिलाजी के राजा श्रीजनकजी के नगर के रहनेवाले थे ॥१॥ सूर्यवंश के गुरु श्रीवसिष्ठजी और श्रीजनकजी के पुरोहित श्रीशतानन्दजी, जिन्होंने जगत् के मार्ग में ही परमार्थ का मार्ग खोजा था ॥२॥ वे सब धर्म, नीति, वैराग्य और विवेक सहित अनेक उपदेश कहने लगे ॥३॥ श्रीविश्वामित्रजी ने अनेक पुरानी कथाएँ कह-कहकर सब सभा को अच्छी वाणी से समझाया ॥४॥ तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीविश्वामित्रजी से कहा कि हे नाथ! कल सब लोग बिना जल के ही रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जिन्ह जग-मग···'—इन्होंने बाल-बच्चों में रहते और लोक-व्यवहार करते हुए भी परमार्थ तत्त्व का साक्षात् कर लिया है, अतएव ये दोनों मार्गों की व्यवस्था भली भाँति जानते हैं। इसमें यह उपदेश भी है कि लोक-व्यवहार करते हुए भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। ये दोनों गुरु लोग इसके आदर्श हैं, इन्होंने शोध लिया है। इनके बतलाये हुए मार्ग से दूसरे भी उसे पा सकते हैं, यथा—"यथा लाभ संतोष सुख, रघुबर चरन सनेह। तुलसी जो मन खूँद सम, कानन बसहु कि गेह ॥" (दोहावली ६२), तथा—"जे जन रूखे बिषय रस, चिकने राम-सनेह। तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसहिं कि गेह ॥" (दोहावली ६१)। 'दसरथ-पुर-बासी' प्रथम कह गये, क्योंकि पुराना होने से इनका शोक कम पड़ गया, इससे अधिक सचेत हैं।

(२) 'सहित धरम-नय-बिरति-बिबेका।'—धर्म-शास्त्र और नीति-शास्त्र ये जगत्-मार्ग (प्रवृत्ति) के हैं और वैराग्य-शास्त्र पातंजलि तथा विवेक-शास्त्र वेदान्त ये परमार्थ-मार्ग के हैं। अधिकार के अनुसार उपदेश दिये—किसीको धर्म, किसीको नीति, आदि के। 'जग-मग परमारथ सोधा।' से यहाँ चरितार्थ है कि ये दोनों मार्गों के ज्ञाता हैं, इससे दोनों मार्गों के उपदेश दिये।

(३) 'कौसिक कहि-कहि···'—श्रीविश्वामित्रजी का नाम पहले यहाँ ही कहा गया, ये श्रीजनकजी के साथ आये हैं, कथा कहने में इनका नाम कहना ही था, इससे पूर्व नहीं कहा गया। पुरानी एवं पौराणिक कथाओं में इनकी विशेष प्रवृत्ति है, क्योंकि ये बहु कालीन ऋषि हैं। प्रायः ये पुरानी ही कथा कहते

हैं, यथा—"कहत कथा इतिहास पुरानी।" (बा० दो० २२५), "लगे कहन कछु कथा पुरानी।" (बा० दो० २३६), वैसे यहाँ भी कहा है। 'समझाई सब सभा सुबानी।' श्रीवसिष्ठजी और श्रीशतानन्दजी अपने-अपने पक्ष को समझाया और इन सबों की सभा को श्रीविश्वामित्रजी ने समझाया, क्योंकि ये किसी एक वर्ग के नहीं हैं और इनकी सुन्दर वाणी अत्यन्त प्यारी लगती है, इससे सभी सुनते हैं। दोनों समाजनों का सम्बन्ध इनकी कृपा से हुआ, इससे भी ये दोनों के प्रिय हैं।

(४) 'कौसिकहिं कहेऊ'—क्योंकि इनका दबाव दोनों समाजों पर है, जब चक्रवर्त्तीजी को श्रीजनकजी शीघ्र बिदा नहीं करते थे, तब भी इन्होंने ही जाकर समझाया था।

मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई ॥६॥
रिषिरुख लखि कह तिरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू ॥७॥
कहा भूप भल सबहिं सुहाना। पाइ रजायसु चले नहाना ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर फल-फूल-दल, मूल अनेक प्रकार।
लइ आये बनचर बिपुल, भरि-भरि काँवरि भार ॥२७८॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी ने कहा कि श्रीरामजी उचित कह रहे हैं। (आज भी) अढ़ाई पहर दिन बीत गया ॥६॥ ऋषि (श्रीविश्वामित्रजी) का रुख देखकर तिर्हुतराज श्रीजनकजी ने कहा कि यहाँ अन्न-भोजन करना ठीक नहीं है (श्रीरामजी तो फलाहार करते हैं, तो हमलोग अन्न कैसे पावें ?) ॥७॥ राजा जनक ने अच्छी बात कही, वह सबको अच्छी लगी। आज्ञा पाकर सब स्नान करने चले ॥८॥ उसी समय (श्रीरामजी की इच्छा से) अनेक प्रकार के फूल, फल, दल और मूल बहँगों एवं बोझों में भरभर कर वनवासी कोल-किरात आदि ले आये ॥२७८॥

विशेष—'तेहि अवसर···'—निषादराज साथ हैं, सम्भवतः इन्होंने प्रेरणा की हो, इससे ये लोग सभी सेवा में लग गये।

कामद भे गिरि रामप्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा ॥१॥
सर-सरिता-बन- भूमि - बिभागा। जनु उमगत आनँद - अनुरागा ॥२॥
बेलि-बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग-मृग-अलि अनुकूला ॥३॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू ॥४॥

शब्दार्थ—अपहरत = विशेष हरण करता है। 'अप' उपसर्ग यहाँ 'विशेषता' के अर्थ में है।

अर्थ—श्रीरामजी की प्रसन्नता एवं कृपा से (चित्रकूट के) सब पर्वत मनोकामना देनेवाले हो गये, दर्शन करने से ही विषाद को विशेष हरण कर लेते हैं ॥१॥ वहाँ के तालाब, नदी, वन और भूमि के अनेक विभाग मानों आनन्द और अनुराग में उमँग रहे हैं ॥२॥ सभी बेलें और वृक्ष, फल और फूल से युक्त हो रहे हैं। पक्षी, पशु और भ्रमर सुहावनी बोली बोल रहे हैं ॥३॥ उस समय वन में अधिक उत्साह था, सब किसीको सुख देनेवाली तीन तरह की वायु चल रही थी ॥४॥

विशेष—(१) 'कामद भे गिरि रामप्रसादा।'—इतने लोगों के लिये कन्द, मूल, फल शीघ्र ही कहाँ से आ गये ? उसीका उत्तर दे रहे हैं कि श्रीरामजी की कृपा से, यथा—"बिन ही रितु तरुवर फरहिं, सिला बहहिं जल जोर। राम-लखन-सिय करि कृपा, जब चितवहिं जेहि ओर॥" (दोहावली १७३), तथा—"सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥" (लं० दो० ४)। 'राम'—क्योंकि सबमें रमते हैं, सब जड़-चेतन की आत्मा हैं, तो उनके लिये यह बड़ी बात नहीं।

'अपहरत बिषादा'—वि० २३ देखिये।

(२) 'सर-सरिता-बन-भूमि-बिभागा।'—'बिभाग' शब्द सबके साथ है, क्योंकि आगे—'जनु महि करत जनक पहुनाई।' कहा ही है, ये सब पृथ्वी के ही अंग हैं। वन-शैल की शोभा का वर्णन—"जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयो बन मंगलदायक॥" (दो० १३६), से "सो बन सैल सुभाय सुहावन।···" (दो० १३८), तक किया गया है। मंगलदायक पूर्व से था ही, अब अधिक उत्साह युक्त हो गया, इससे अनुराग उमँगता है।

(३) 'बेलि-बिटप सब सफल···'—बेलें फूलयुक्त और वृक्ष फलयुक्त, वा, फूलवाले फूलों से और फलवाले फलों से लदे रहते हैं, जिनमें दोनों चाहिये, वे दोनों ही से सम्पन्न हो गये हैं, यथा—"फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास।" (बा० दो० २१२)।

'त्रिबिध समीर'—सर-नदी आदि के सम्पर्क से शीतल, वृक्षों से रुक-रुक चलने से मन्द और पुष्पों के सम्बन्ध से सुगन्धित है।

यहाँ पाचों ज्ञानेन्द्रियों के सुख कहे गये हैं—'अवलोकत अपहरत···'—नेत्र का, 'सर-सरिता···' जिह्वा का, पुष्पादि की सुगन्धि से—नासिका का, 'बोलत खग मृग अति अनुकूला।'—श्रवण का और 'त्रिबिध समीर···'—त्वचा का।

'बोलत खग-मृग-अलि अनुकूला', यथा—"सुंदर खग गन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥" "कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥" (अर० दो० ३९)।

जाइ न बरनि मनोहरताई। [जनु महि करत जनक-पहुनाई॥५॥
तब सब लोग नहाइ नहाई।] राम जनक मुनि आयसु पाई॥६॥
देखि-देखि तरुबर अनुरागे। जहँ-तहँ पुरजन उतरन लागे॥७॥
दल फल मूल कंद बिधि नाना। पावन सुंदर सुधा-समाना॥८॥

दोहा—सादर सब कहँ राम-गुरु, पठये भरि-भरि भार।
पूजि पितर-सुर-अतिथि-गुरु, लगे करन फलहार॥२७६॥

अर्थ—वन की रमणीयता कही नहीं जा सकती, मानों पृथ्वी श्रीजनकजी की पहुनाई कर रही है॥५॥ तब सब लोग नहा-नहाकर, श्रीरामजी, श्रीजनकजी और मुनि की आज्ञा पाकर॥६॥ सुन्दर वृक्षों को देख-देखकर पुरवासी अनुरक्त हो गये और जहाँ-तहाँ उतरने लगे॥७॥ श्रीरामजी के गुरु श्रीवसिष्ठजी ने नाना प्रकार के पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान स्वादवाले दल, फल, मूल और कन्द भार भर-भरकर सबको आदर के साथ भेजे और वे लोग पितृ, देवता, अतिथि और गुरु को पूजकर फलाहार करने लगे॥२७६॥

विशेष—(१) 'जनु महि करत जनक-पहुनाई।'—ऊपर—'जाइ न बरनि मनोहरताई।' तक वन-शैल का शृंगार कहा गया, जो कि उपर्युक्त करुणरस के विरुद्ध है। उसीका समाधान करते हैं कि पृथ्वी जड़ है, इसे अवसर-कुअवसर का ज्ञान नहीं, इसने तो इतना ही सोचा कि श्रीजनकजी श्रीरामजी के श्वशुर हैं। इनको वस्तु लेंगे नहीं और यहाँ ये अतिथि हैं। इनका स्थल के योग्य सत्कार होना ही चाहिये। श्रीजानकीजी भूमिजा हैं, उस सम्बन्ध से वह पति मानकर इनकी सेवा करती है, यथा—"देखे-सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम, साँचे तिरहुति नाथ साखी देति मही है।" (गी० बा० ८५), अर्थात् पृथ्वी ने कन्या देकर सच्चे भाव से इन्हें पति माना है। पत्नी को सेवा स्वीकार करने

ं श्रीजनकजी का धर्म रहा। राजा की पहुनाई है। वृक्षों पर बेलें छाई हैं, वे ही तम्बू, और चँदोवे ं। अमृत के समान स्वादिष्ट फल-मूल भोजन हैं। पक्षी-पशु नर्त्तकी, भ्रमर गायक, मोर नट इत्यादि ाब सामग्री योग्य हैं। पृथ्वी की पहुनाई पर यह भी कहा जाता है कि वह सेवा से प्रसन्न करके ाहती है कि ये श्रीरामजी को न लौटावें। हमारा भार उतारने दें। मैं श्रीरामजी की ऐसी ही सेवा करती रहूँगी।

यहाँ श्रीबैजनाथजी का यह भी भाव है कि करुणा वियोग-पर्यन्त रही। श्रीरामजी के संयोग से शृंगार जग उठा, क्योंकि श्रीजनकपुरवासियों की दृष्टि में श्रीरामजी के प्रति नित्य शृंगार रस ही प्रधान है।

ऊपर [ ] इस कोष्ठक में लिखे हुए दो चरण राजापुर की प्रति में नहीं हैं। परन्तु और प्राचीन ातियों में हैं। इनका रहना आवश्यक है। रसाभास का समाधान हो जाता है। सम्भवतः प्रतिलिपि-र्त्ताओं से छूट गये हैं।

(२) 'देखि-देखि तरुवर···'—कल शोक में निमग्न थे, इससे अभी तक जहाँ-के-तहाँ ही सब रह ाये थे। जब श्रीरामजी एवं जनकजी तथा गुरुजी ने कहा, तब आसन खोले। अब वन की शोभा पर ुग्ध हो-होकर रुचि के अनुसार उतरने लगे। 'तरुवर'—ग्रीष्म के दिन हैं। अतः, विशाल छायावाले बड़े-ड़े वृक्षों के नीचे डेरा डाला।

'दल फल मूल···पावन···'—'पावन' पद से सूचित किया गया है कि इनमें कुछ अपावन भी होते हैं, फल में गूलर, कैथा आदि और मूल में गाजर आदि तथा दल में बड़ी पालकी-सोवा आदि—ऐसे कुछ लोगों के मत हैं।

(४) 'सादर सब कहँ राम-गुरु ···'—'राम-गुरु' से यहाँ श्रीवसिष्ठजी श्रीविश्वामित्रजी दोनों ही हो सकते हैं, पर श्रीविश्वामित्रजी ने ही फलाहार की अनुमति दी है। इन्हीं की ओर से भेजा जाना युक्ति संगत भी है, क्योंकि श्रीवसिष्ठजी श्रीअयोध्याजी के हैं। उनके देने में उन्हें संकोच होगा ही।

(५) 'पूजि पितर-सुर···'—यह भोजन की विधि है कि पितृ, देवता और अतिथि का भाग निकालकर फिर गुरुजनों को देकर भोजन करना चाहिये। 'पठये'—सबके आसनों पर भेजवा दिये।

येहि बिधि बासर बीते चारी। राम निरखि नर-नारि सुखारी ॥१॥
दुहुँ समाज असि रुचि मनमाहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं ॥२॥
सीताराम संग बनबासू। कोटि अमरपुर-सरिस सुपासू ॥३॥
परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥४॥
दाहिन दैव होइ जब सबहीं। रामसमीप बसिय बन तबहीं ॥५॥
मंदाकिनि-मज्जन तिहुँ काला। राम-दरस मुद-मंगल-माला ॥६॥
अटन राम-गिरि-बन तापस-थल। असन अमिय-सम-कंद-मूल-फल ॥७॥
सुख-समेत संवत दुइ साता। पल-सम होहिं न जनियहि जाता ॥८॥

दोहा—येहि सुख-जोग न लोग सब, कहहिं कहाँ अस भाग।
सहज सुभाय समाज दुहुँ, राम-चरन-अनुराग ॥२८०॥

अर्थ—इस तरह चार दिन बीत गये। श्रीरामजी को देखकर नर-नारी सुखी हैं ॥१॥ दोनों समाजों के मन में ऐसी रुचि है कि श्रीसीतारामजी के (साथ लिये) बिना लौटना अच्छा नहीं ॥२॥ श्रीसीतारामजी

के साथ वन का निवास करोड़ों देवलोकों के समान सुविधादायक है ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीवैदेहीजी को छोड़कर जिसे घर अच्छा लगता है, उसके विधाता उल्टे हैं (ऐसा जानो) ॥४॥ जब हम सबोंके दैव दाहिना हो, तभी श्रीरामजी के पास हम लोगों का वन में निवास हो ॥५॥ मन्दाकिनीजी में तीनों काल स्नान और आनन्द-मंगलों के समूह श्रीरामजी के दर्शन ॥६॥ श्रीरामजी के पर्वतों और वनों एवं तपस्वियों के स्थानों में विचरते तथा अमृत-समान कन्द-मूल-फल भोजन करते हुए ॥७॥ सुखपूर्वक १४ वर्ष तो पल के समान (बीत) जायँगे, जाते हुए जान ही न पड़ेंगे ॥८॥ सब लोग कहते है कि इस सुख के योग्य हम लोग नही हैं। (भला) ऐसे भाग्य हमारे कहाँ ? दोनों (श्रीअवध और श्रीमिथिला के) समाजों का सहज स्वभाव से श्रीरामजी के चरणों में अनुराग है ॥२८०॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि बासर बीते···'—जैसा ऊपर कहा गया कि प्रातःकाल स्नान कर श्रीरामजी के पास बैठते हैं। दोपहर को कन्द आदि का विधिवत् फलाहार करते हैं। 'बीते बासर चारी'—ऐसा प्रथम ही अवध-वासियों का अनुमान था—"भयेउ बहोरि रहब दिन चारी।" (दो० २७२), भाव यह कि प्रथम दिन तो जनकजी आते ही हैं, शोक में ही बीतेगा। फिर तीर्थ में तीन रात्रि तो अवश्य निवास करेंगे ही। वे चार दिन आनन्द से बीत गये।

शंका—अवध-वासियों को 'सुद्ध भये दुइ बासर बीते' पर ही श्रीरामजी ने लौटने को कहा। इन्हें चार दिन तक क्यों न कहा ?

समाधान—(क) ये बहुत दूर से रात-दिन बिना बिश्राम किये दौड़े हुए आये हैं। अतः, इन्हें विशेष विश्राम मिलना चाहिये, यथा—'किय बिश्राम न मग महिपाला"। (ख) अवधवासी घर के हैं। अतः, इन्हें कहने में संकोच कम था और ये श्वशुर हैं और बड़े हैं, इससे कहने में कुछ अधिक संकोच था।

'कोटि अमरपुर ···'—देवलोक में एक कल्पवृक्ष है और यहाँ सब गिरि कामद हो रहे हैं। यहाँ मन्दाकिनीजी हैं जिनसे स्वर्ग की गंगाजी भी ईर्ष्या करती हैं। वहाँ अमृत और यहाँ अमृत-तुल्य कन्द-मूल-फल, वहाँ नन्दनवन का विहार है और यहाँ श्रीराम-वन-पर्वत के विहार हैं। वहाँ असुरों का भय रहता है और यहाँ—'राम-दरस मुद-मंगल-माला।' प्राप्त है। वे श्रीरामजी के लिये तरसते हैं और यहाँ श्रीरामजी साथ हैं। विरक्तों की दृष्टि में स्वर्ग सुख 'सूख हाड़' सम और 'रमाबिलास' वमन के समान कहा गया है, वे ही श्रीराम साहचर्य में भ्रमरवत् लुब्ध रहते हैं, इससे श्रीराम-सान्निध्य के सुख का गौरव स्पष्ट होता है। ये अवधवासी भी 'सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई' आये हैं और यहाँ के निवासानन्द के लालायित हैं, इससे भी 'कोटि अमरपुर···' का समाधान होता है।

'परिहरि लखन राम बैदेही···', यथा—"राम बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यानमय ···" (दोहावली १)—यह ध्यान यहाँ सदा प्राप्त रहेगा। अन्यथा विधि-वामता ही है।

(२) 'सुख-समेत संवत दुइ साता।'—कई भाग होने से कोई भी वस्तु अल्प हो जाती है, थोड़ी जान पड़ती है, इसीसे १४ के दो भाग (७+७) करके कहते हैं, उसमें 'दुइ' शब्द से एक-एक सात को दिखाते हैं कि थोड़े ही तो हैं। वे भी सुख के साथ होने से जान ही न पड़ेंगे, यथा—"प्रेम मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान ॥" (बा० दो० २००), "ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभु-पद-प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट् बीति ॥" (उ० दो० १५)। वैसे यहाँ—'राम निरखि नर नारि सुखारी' हैं, क्योंकि श्रीरामजी सुख रूप ही हैं, यथा—"सुख स्वरूप रघुबंस मनि, मंगल मोद निधान।" (दो० २००), इनके दर्शनानन्द में दिन व्यतीत होते कैसे जान पड़ेंगे ?

'सहज सुभाय समाज दुहूँ···'—इसका उपक्रम 'दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं।' से हुआ है। यहाँ उपसंहार है और इस बीच में कहा हुआ स्नेह 'सहज सुभाय···अनुराग' है, अर्थात् श्रीरामजी में

स्वाभाविक अनुराग यही है कि स्वभावतः सर्व सुखसम्पन्न घर के सुख से कहीं अधिक सुख वन के नाना कष्ट झेलते हुए श्रीराम-समीपता में ही रहा है।

येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं ॥१॥
सीयमातु तेहि समय पठाईं। दासी देखि सुअवसर आईं ॥२॥
सावकास सुनि सब सिय-सासू। आयउ जनकराज - रनिवासू ॥३॥
कौसल्या सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी ॥४॥
सील सनेह सकल दुहुँ ओरा। द्रवहि देखि सुनि कुलिस कठोरा ॥५॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन ॥६॥
सब सियराम-प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति ॥७॥
सीय - मातु कह बिधि-बुधि बाँकी। जो पयफेन फोर पबि - टाँकी ॥८॥

दोहा—सुनिय सुधा देखियहि गरल, सब करतूति कराल।
जहँ-तहँ काक-उलूक-बक, मानस सकृत मराल ॥२८१॥

शब्दार्थ—सावकास = अवकाश सहित, खाली। बिसूरति = दुःख या चिन्ता करती है। टाँकी = छेनी।

अर्थ—सभी लोग इस तरह मनोरथ कर रहे हैं, उनके प्रेम-सहित वचन सुनते ही (सबके) मन हर जाते हैं ॥१॥ उसी समय श्रीसीताजी की माता श्रीसुनयनाजी की भेजी हुई दासियाँ (श्रीअयोध्याजी के रनवास से मिलने का) अच्छा अवसर देखकर आईं ॥२॥ उनसे श्रीसीताजी की सब सासों को अवकाश सहित सुनकर श्रीजनक-राज का रनवास आया ॥३॥ श्रीकौसल्याजी ने आदरपूर्वक सबका सम्मान किया, समयानुसार आसन लाकर दिये ॥४॥ दोनों ओर सबके पूर्ण रीति से शील और स्नेह को देखकर (और तत्सम्बन्धी वचन) सुनकर कठोर वज्र भी पिघले जाते हैं ॥५॥ (सबके) शरीर पुलकित और शिथिल हैं, नेत्रों में (शोक और प्रेम के) आँसू हैं, वे सब अपने-अपने पैरों के नखों से पृथ्वी पर लिखने और सोचने लगीं ॥६॥ सब श्रीसीतारामजी की प्रीति को मूर्त्ति-सी हैं, मानों करुणा ही बहुत-से वेषों से चिन्ता कर रही है ॥७॥ श्रीसीताजी की माता ने कहा कि ब्रह्मा की बुद्धि बड़ी बाँकी (विचित्र एवं टेढ़ी, तीक्ष्ण) है, जो दूध के फेन को (भी) वज्र की टाँकी से फोड़ रही है ॥८॥ अमृत सुनने में (ही) आता है और विष (सबको, सर्वत्र) दिखाई पड़ता है, (इस प्रकार) उसके सभी कर्त्तव्य कठोर हैं, जहाँ-तहाँ कौए, उलूक और बगुले दिखाई देते हैं, हंस एक मानसर में ही हैं ॥२८१॥

विशेष—(१) 'देखि सुअवसर आईं'—अवसर देखने गई थीं कि भोजन आदि से निवृत्त तो हैं ? किसी कार्य में तो नहीं लगी हैं ? इत्यादि, वे अच्छा अवसर देखकर आ गईं। अवसर पर ही कार्य करना श्रेयस्कर होता है, यथा—"समयहि साधे काज सब, समय सराहहिं साधु।" (दोहावली ४४८)।

(२) 'आसन दिये समय सम'—शोक का समय है और ग्रीष्मऋतु है। अतः, कुश-साथरी आदि शीतल आसन काले या हरे रंग के वनस्थल के अनुसार कुशासनी आदि दिये। स्वयं लाकर दिये, यह आदर एवं सम्मान है। 'द्रवहिं देखि सुनि···', उनके स्नेह के आचरण देख और स्नेहमय वचन सुनकर, यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पखाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥" (दो० २१९)—देखिये।

(३) 'महि नख लिखन लगीं···'—यह स्त्रियों के शोच समय की मुद्रा है, यथा—"चारु चरन

नख लेखति धरनी।" (दो० ५७)। 'जनु करुना बहु बेष ···'—७०० श्रीअवध की रानियाँ हैं, और मिथिला-नरेश का रनवास है, सब एक मुद्रा से शोच करती हैं, इसीसे मूर्त्तिमान् करुणा के बहुत रूपों से उपमा दी गई है कि एक तो करुणा और वह भी मूर्त्तिमान् होकर, फिर भी चिन्ता करती हुई बहुत वेष में मानों बैठी है। अत्यन्त प्रेम देखकर 'प्रीति कि सि मूरति' और अति करुणा से 'जनु करुना···' कहा है।

(४) 'सीय-मातु कह बिधि···'—पहले श्रीसुनयनाजी बोलीं, क्योंकि दुःख में आश्वासन देने आई हैं। विधि की ओर से श्रीकैकेयीजी के कर्त्तव्य पर विचार करती हैं। ब्रह्मा सबकी बुद्धि के देवता हैं, वे ही प्राचीन कर्मानुसार बुद्धि से विचार स्फुरण कराते हैं। पर जहाँ अचानक कुछ-से-कुछ हो जाता है, वहाँ ब्रह्मा की विचित्रता एवं कुटिलता कही जाती है, उसी रीति से श्रीसुनयनाजी कह रही हैं कि श्रीरामजी दूध के फेन के समान स्वच्छ, सात्त्विक स्वभाव के और कोमल हैं, उन्हें वनवास देकर दुःख दिया गया, यही वज्र की टाँकी से दूध के फेन का फोड़ना है। वा, राजा श्रीदशरथजी, श्रीकौसल्याजी और श्रीरामजी का सात्त्विक संयोग दूध के फेन का जुड़ना है, श्रीकैकेयीजी वज्र की टाँकी हैं, मन्थरा हथौड़ी, श्रीअवधवासी निहाई और सरस्वती (ब्रह्मा की बुद्धि रूपा शक्ति) ठोंकनेवाली है। जल के फेन से नमुचि दैत्य को इन्द्र ने मारा है, वह वज्र के समान कठोर था, यथा—"अजर अमर कुलिसहु नाहिंन बध सो पुनि फेन मरयो।" (वि० २३९), ब्रह्मा ने यहाँ उसका उल्टा किया, यही विचित्रता है।

(५) 'सुनिय सुधा···'—सबके सुनने में आया कि श्रीरामजी का तिलक है और देखने में आया वनवास, यथा—"का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥" (दो० ४७), श्री राम-तिलक सुधा और वनवास विष है। सायंकाल में सुना गया राज्य-तिलक और प्रातःकाल में दिया गया वनवास, यह एवं उसके और भी सभी कर्त्तव्य कठोर हैं। जैसे कि काक, उलूक और वक तो जहाँ-तहाँ सुख से रहते हैं, हंस एक मानससर में ही सुख से रहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है। पर, उसने हंस के समान श्रीरामजी को जहाँ-तहाँ का कर दिया। जो श्रीअवध-रूपी मानससर के योग्य थे, उन्हें वन-वन जहाँ-तहाँ फिरने का संयोग कर दिया। यहाँ 'ललित-अलंकार' है, क्योंकि वर्ण्य का प्रतिबिम्ब कहा गया है।

वा, अमृत सुनने ही में आता है और विष ठौर-ठौर प्रत्यक्ष है। हंस एक मानससर में ही सुने जाते हैं और काक, उलूक और वक सर्वत्र भरे पड़े हैं, अर्थात् सुखदायी पदार्थ तो इस कराल करतूतवाले ब्रह्मा ने सुनने-मात्र को रक्खा है और दुःखद पदार्थों को भर दिया है। उसी स्वभाव से उसने श्रीरामजी का तिलक तो सुनने मात्र को रचा है, पर १४ वर्ष के वनवास का दुःख आँखों से देख रही हैं। यही ब्रह्मा की बुद्धि के टेढ़ेपन का कर्त्तव्य है।

सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा। बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥१॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल-केलि-सम बिधिमति भोरी॥२॥
कौसल्या कह दोष न काहू। करमबिबस दुख-सुख-छति-लाहू॥३॥
कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥४॥
ईस-रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥५॥
देबि मोहबस सोचिय बादी। बिधिप्रपंच अस अचल अनादी॥६॥

अर्थ—यह सुनकर श्रीसुमित्रा देवी शोक के साथ कहती हैं कि ब्रह्मा की चाल बड़ी ही उल्टी और विचित्र है॥१॥ जो संसार को उत्पन्न करके पालता है और फिर नष्ट कर देता है, लड़कों के खेल के समान

(कर्त्तव्य करनेवाली) ब्रह्मा की बुद्धि भोली है ॥२॥ (इसपर) श्री कौसल्याजी कहती हैं कि इसमें दोष किसीका नहीं है, कर्म के विवश ही दुःख-सुख और हानि-लाभ होते हैं ॥३॥ कठिन कर्म-गति को ब्रह्माजी जानते हैं, जो सबको शुभ और अशुभ सभी (कर्मों के) फलों को देनेवाले हैं ॥४॥ ईश्वर की आज्ञा सभी के सिर पर है, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति (पालन), संहार, विष और अमृत के भी (सिर पर है) ॥५॥ हे देवि ! मोहवश व्यर्थ (आप) शोच करती हैं, ब्रह्मा का रचा हुआ संसार (भव-जाल) ऐसा ही अचल है और यह अनादि काल से ऐसा ही है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि ससोच कह···'—सुमित्राजी ने सुनयनाजी के वचनों का समर्थन किया। इन्होंने भी विधि को ही दोष दिया, क्योंकि 'ससोच' हैं। 'बड़ि बिपरीत बिचित्रा'—अमृत घर-घर होना चाहता था, क्योंकि सुखकारी है, पर वह देखने को भी नहीं मिलता। विष छिपा रहता तभी अच्छा था, क्योंकि मृत्युकारी है, पर वह सर्वत्र है। उसी ब्रह्मा की सन्तान जीवमात्र हैं, इनका सुख भी उसे अभीष्ट ही होना चाहिये। पर सब उल्टा ही है, विचित्रता यह है कि बहुत काल में रचता है, फिर संहार भी कर देता है। तब तो ब्रह्मा बालकों के घरौंदा बनाने-बिगाड़ने की तरह प्रपंच रचता है, अतएव वह भोली बुद्धि का है।

(२) 'कौसल्या कह दोष न काहू।'—श्री सुनयनाजी ने भी विधि को ही दोष लगाया है, पर अपने शील के कारण उनकी बात का खण्डन नहीं किया, क्योंकि वे बराबर की हैं। सुमित्राजी छोटी हैं, इनकी ओट से कहा कि विधि का दोष कुछ नहीं। वह तो कर्म का यथार्थ फल देता है, सुख-दुःख में परिवर्त्तन नहीं कर सकता, यथा—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८), "जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥" (दो० १४९) 'कठिन करम-गति जान बिधाता।···'—कर्म की गति कठिन है, यथा—"गहना कर्मणोगतिः॥" (गीता ४।१७), 'जान बिधाता'—अर्थात् विधाता ही जानता है, जीव नहीं जानता, यथा—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥" (गीता ४।५), "जीव करम बस सुख दुख भागी।" (दो० ११), "सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥" (दो० ७६), अर्थात् ईश्वर (ब्रह्मा) शुभ और अशुभ फल कर्म के अनुसार ही देता है।

(३) 'ईस-रजाइ सीस सबही के।'—अर्थात् विधि आदि सब भी ईश्वर (श्रीरामजी) के अधीन हैं, यथा—"बिधि हरि हर ससि रबि···अहिप महिप···राम रजाइ सीस सबही के॥" (दो० २५३), तात्पर्य यह कि दोष किसीका नहीं, ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। अपने अधिकारानुसार जगत्-भर ईश्वर की आज्ञा में यन्त्रित है। 'उतपति थिति लय बिषहु अमी के'—बिना ईश्वर की आज्ञा के उत्पत्ति आदि किसी बात को भी प्रवृत्ति नहीं है। ईश्वर की आज्ञा से मार्कण्डेय मुनि के लिये बिना समय ही प्रलय हो गया, यथा—"मारकंडेय मुनिबर्जहित कौतुकि बिनहि कल्पान्त प्रभु प्रलयकारी।" (वि ६०), प्रह्लाद और शिव जो विष पीकर भी नहीं मरे, इत्यादि।

(४) 'देवि मोहबस सोचिय बादी।···'—श्री कौसल्याजी उपर्युक्त बातों का सारांश कहती हैं कि हे देवि ! हम सब अज्ञानवश व्यर्थ ही शोच करती हैं। विधि का प्रपंच अनादि काल से ऐसा ही चला आता है और चला जायगा, यथा—"तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" (गीता २।२७), 'अस' अर्थात् वर्त्तमान है, 'अचल' अर्थात् आगे भी ऐसा ही रहेगा। 'अनादि' अर्थात् भूतकाल से ऐसा ही चला आता है। इस तरह तीनो कालों में प्रपंच की सत्ता कही गई। अतः, उपर्युक्त अमृत, विष, हंस, काक आदि सब तीनों कालों में ऐसे ही रहते हैं, तब शोच करना व्यर्थ ही है।

भूपति जियब मरब उर आनी । सोचिय सखि लखि निज-हित-हानी ॥७॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी । सुकृती - अवधि अवधपति - रानी ॥८॥

दोहा—लखन राम सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोच ।
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहि भरत कर सोच ॥२८२॥

अर्थ—राजा दशरथ का जीना और मरना हृदय में लाकर जो शोच किया जा रहा है, हे सखि ! वह शोच अपने ही हित की हानि को देखकर है ॥७॥ श्रीसीताजी की माता ने कहा कि आपकी यह सुन्दर वाणी सत्य है, आप पुण्यात्माओं में सर्वश्रेष्ठ अयोध्याजी के राजा श्रीदशरथजी की रानी हैं (इससे आपका ऐसा कहना योग्य ही है) ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी वन को जायँ, इसका परिणाम (फल) अच्छा है, बुरा नहीं, (पर) व्याकुल हृदय से श्रीकौसल्याजी कहती हैं कि मुझे श्रीभरतजी का शोच है (कि श्रीराम-वियोग में न जाने उनकी क्या दशा हो ?) ॥२८२॥

विशेष—'सोचिय सखि···'—जो शोच किया जाता है वह अपने हित की हानि के प्रति, मृतक-प्राणी के प्रति नहीं, उसके लिये तो शोच करना व्यर्थ है। 'सुकृती-अवधि अवधपति-रानी'—श्रीकौसल्याजी ने सबको निर्दोष किया, यह धर्म की बात है, इसीसे इनके सुकृत सम्बन्ध की सराहना की गई। "भल परिनाम न पोच'—श्रीरामजी धर्म-मार्ग पर आरूढ़ हैं, पिता की आज्ञा का पालन श्रेष्ठ धर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका ।" (दो० ५४), धर्माचरण का परिणाम अच्छा ही होता है, यथा—"समुझि हृदय परिनाम उछाहू ।" (दो० ६९) । 'न पोच'—धर्मात्मा की दुर्गति हो नहीं सकती, यथा—"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥" (गीता ६।४०) ।

'गहबरि हिय कह···'—कौसल्याजी श्रीभरतजी के विषय में घबराई हुई हैं कि जैसे राजा दशरथ कहते थे—"सो सुत बिछुरत गये न प्राना ।" (दो० १४८), "हृदय दाड़िम ज्यों न बिदरयो···" (गी० अ० ५७), वैसे ही भरतजी भी कहते हैं—"कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू ।···जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥" (दो० २६१), अतः, अपने पिता की तरह यह भी राम-वियोग में कहीं अमंगल दशा न प्राप्त कर ले, यथा—"गूढ़ सनेह भरत मन माहीं । रहे नीक मोहिं लागत नाहीं ॥" (दो० २८३) ।

ईस - प्रसाद असीस तुम्हारी । सुत - सुतबधू - देवसरि बारी ॥१॥
राम-सपथ मैं कीन्हि न काऊ । सो करि कहउँ सखी सति भाऊ ॥२॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई । भायप भगति भरोस भलाई ॥३॥
कहत सारदहु कर मति हीचे । सागर सीप कि जाहिं उलीचे ॥४॥
जानउँ सदा भरत कुल-दीपा । बार-बार मोहि कहेउ महीपा ॥५॥
कसे कनक मनि पारिखि पाये । पुरुष परिखियहि समय सुभाये ॥६॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा । सोक सनेह सयानप थोरा ॥७॥
सुनि सुरसरि-सम पावनि बानी । भई सनेह बिकल सब रानी ॥८॥

अर्थ—ईश्वर की कृपा और आपकी आशिष से पुत्र और पुत्रवधू दोनों (मुझे) गंगा-जल (की भाँति पवित्र मिले) हैं ॥१॥ मैंने श्रीरामजी की शपथ कभी नहीं की है, हे सखि ! मैं वह भी करके सद्भाव से कहती हूँ ॥२॥ श्रीभरतजी का शीलगुण, विनम्र स्वभाव, बड़ाई (की महिमा), भाईपना,

शक्ति, भरोसा और भलापन ॥३॥ कहते हुए सरस्वती की भी बुद्धि हिचकिचाती (अशक्त हो जाती) है, क्या (कभी) सीप से समुद्र उलीचा जा सकता है ? अर्थात् सीपी से सागर उलीचे जाने की तरह शारदा से कहा जाना असम्भव है ॥४॥ "मैं सदा से श्रीभरतजी को कुल का दीपक जानता हूँ । (वा तुम सदा जानो)"—मुझसे राजा ने बार-बार ऐसा कहा था ॥५॥ सोना (कसौटी पर) कसे जाने पर और मणि की परीक्षा पाने पर (यथार्थ जाना जाता है) वैसे ही पुरुष की परीक्षा समय पड़ने पर उसके स्वभाव से सहज ही में हो जाती है ॥६॥ आज मेरा ऐसा कहना अनुचित है, (क्योंकि) शोक और स्नेह से चतुरता कम पड़ जाती है ॥७॥ कौसल्याजी की यह गंगाजी के समान पवित्र एवं निर्मल वाणी सुनकर सब रानियाँ स्नेह से विह्वल हो गईं ॥८॥

विशेष—(१) ईस-प्रसाद असीस···'—ईश से ईश्वर और शिवजी के अर्थ होते हैं, यहाँ शिष्टाचार कहती हैं, ऐसी रीति है । 'देवसरि बारी'—गंगाजी के समान स्वच्छ हैं, गंगाजी की शपथ भी सहसा नहीं की जाती, पर अत्यन्त सत्यता के लिये की भी जाती है, वैसे शपथ करना है, इससे गंगाजी के तुल्य कहा । धर्मात्मापने से पवित्रता में भी गंगाजी के सदृश कहा है । 'राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ'—स्त्रियाँ प्रायः पुत्र की शपथ नहीं करतीं । कोई भारी संकट पर ही करती हैं । वैसे ये यहाँ अपने सद्भाव कथन के लिये शपथ करती हैं, तात्पर्य यह कि श्रीभरतजी की बड़ाई करती हुई यह भी कहेंगी कि श्रीभरतजी वन को जायँ, उसपर लोग कह सकते हैं कि कैसी युक्ति से कैकेयी से बदला ले रही हैं, इसके निवारण के लिये और अपने सद्भाव (दुर्भाव नहीं) दिखाने लिये प्राणप्रिय पुत्र की शपथ करती हैं कि यदि मैं अहित भाव से कहती होऊँ, तो मेरे श्रीरामजी और श्रीसीताजी काम न आवें, यह शपथ का भाव है ।

(२) 'भरत सील गुन बिनय···'—'गुन' को शील-विनय के विशेषण मानें, तो सात ही गुण कहे गये हैं, सागर भी प्रधान सात ही हैं, वे अगाध और अनन्त हैं । वैसे श्रीभरतजी उन सातो गुणों के गम्भीर समुद्र हैं, वे सभी गुण उनमें अनन्त भाव के हैं । जब सरस्वती से कहा जाना असम्भव है, तब मैं वा और कोई कवि क्या कह सकते हैं ? अतः, ऐसे ही कहकर छोड़े देती हूँ । श्रीहनुमानजी ने भी कहा है, यथा—"यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अचयो है । तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है ॥" (गी० लं० ११), आगे दो० २८७ चौ० ६-८ भी देखें ।

(३) 'जानउँ सदा भरत····'—राजा ने बार-बार कहा, क्योंकि पहले मुझे प्रतीति नहीं होती थी, अब मैंने जाना कि वे ठीक ही कहते थे । यहीं के कथन से राजा का पूर्व-कथन जाना गया ।

(४) 'कसे कनक मनि···'—आपत्ति पड़ने पर भरत के स्वभाव की परीक्षा हुई कि कुल-मर्यादा की रक्षा इन्होंने ही की, अन्यथा और से न हो सकती थी । अतएव यथार्थ कुल के प्रकाशित करनेवाले दीपक हैं, यह मैंने आँखों से देखा । सोने की परख कसौटी पर रखने से और मणि की जौहरी की परीक्षा से होती है । सोने की परीक्षा चार तरह से की जाती है, यथा—"और भूप परखि सुलाखि तौति ताइ लेत लसम के खसम तुही पै दसरथ के ।" (क० उ० २४), तथा—"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदनतापताडनैः । तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥" (चाणक्यनीति) । इसी प्रकार गुरु रूपी जौहरी ने मणि रूप श्रीभरतजी की परीक्षा लेकर इनकी कीर्त्ति प्रकट की है—"तुम्ह कानन गवनहु···भरत मुनिहि मन भीतर आये ।" (दो० २५५-२५६), तथा श्रीभरद्वाजजी भी श्रीभरतजी के त्याग की कीर्त्ति दिखाने के लिये 'संपति चकई···' आदि की व्यवस्था की है ।

(५) 'अनुचित आजु कहब···'—अनुचित यह है कि आज सभी श्रीभरतजी के त्याग की

बड़ाई करते हैं, मैं भी करूँ, तो तात्पर्य यह होता है कि श्रीभरतजी ! तुम किसीके भी कहने पर राज्य
लो, त्याग में ही तुम्हारी बड़ाई है, इत्यादि। इसीसे सकुचा गईं कि शोक से चित्त खिन्न है और भरतज
के स्नेह में उनकी बड़ाई करते हुए व्यावहारिक चतुरता थोड़ी पड़ गई, इसीसे सहसा उपर्युक्त बा
कही गईं।

(६) 'सुनि सुरसरि-सम···'—श्रीकौसल्याजी ने पहले पुत्र और पुत्रवधू को गंगाजी के समान कह
था, अब उनकी वाणी ही गंगाजी के समान पवित्र कही गई, क्योंकि इस वाणी ने मन्थरा, कैकेयी औ
सरस्वती एवं ब्रह्मा आदि सबको निष्पाप बनाया, यह इसमें पावनता-गुण है। पुनः अपने पुत्र-पुत्रवधू क
शपथ करके भी श्रीभरतजी की सराहना करती हैं और उन्हींके कल्याण की चिन्ता कर रही हैं, यह पर
पावन भाव इस वाणी में है।

दोहा—कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेक निधि-बल्लभहि, तुम्हहिं सकइ उपदेसि ॥२८३॥

रानि राय सन अवसर पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई ॥१॥
रखियहि लखन भरत गवनहिं बन। जौ यह मत मानइ महीप-मन ॥२॥
तौ भल जतन करब सुबिचारी। मोरे सोच भरत कर भारी ॥३॥
गूढ़ सनेह भरत - मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं ॥४॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी धैर्य धरकर कहती हैं कि हे श्रीमिथिलेश्वरी देवि ! सुनिये, आप विवेक
समुद्र राजा श्रीजनकजी की प्यारी पत्नी हैं (अतः) आपको कौन उपदेश दे सकता है ? ॥२८३॥ हे रानी
अवसर पाकर राजा से आप अपनी तरह समझाकर कहियेगा ॥१॥ कि श्रीलक्ष्मणजी (घर) रख लिये
जायँ और श्रीभरतजी वन को जायँ, जो यह मत राजा के मन में ठीक जान पड़े ॥२॥ तो भले प्रका
विचार करके अच्छा (पूर्ण) यत्न करें, श्रीभरतजी का मुझे भारी शोच है ॥३॥ क्योंकि श्रीभरतजी के म
में गूढ़ प्रेम है (इससे) उनका घर रहना मुझे अच्छा नहीं लगता (कहीं राजा की नाईं ये प्राणन छो
दें) ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसल्या कह धीर धरि···'—ऊपर कहा गया—'भईं सनेह बिकल सब रानी।
ये भी विकल थीं, इसीसे यहाँ 'धीर धरि' कहा है। ये कौसल्या अर्थात् निपुणा हैं और पूर्वजन्म से ही इन्हें
अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसीसे सबको समझाती हैं।

(२) 'बिबेक निधि-बल्लभहि'—श्रीजनकजी ज्ञान के खजाना हैं और आप उनकी प्रिया हैं, तं
अवश्य विवेकयुक्ता होंगी, अन्यथा उन्हें प्रिय न होतीं, आप स्वयं सब जानती हैं, तो आपको उपदेश देन
धृष्टता है।

(३) 'अपनी भाँति···'—अपनी ओर से ही कहना, हमारी तरफ से नहीं, अन्यथा कहीं मेर
मान रखने के विचार से वे स्वयं विचार न करें। जैसे अपनी आवश्यक बातें आप कहा करती हैं, वैसे इन्हें
भी अपनी बुद्धि के अनुसार सँभालकर कहें। अपनी ओर से ऐसे ही श्रीसुनयनाजी ने आगे कहा भी है
यथा—"कहो समयसिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि।"

(४) 'रखियहि लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी के लौटने में उन्हें केवल श्रीराम-वियोग का एक ही दुःख
होगा और श्रीभरतजी के साथ जाने से उनके दो दुःख मिटेंगे—एक अपयश का, दूसरा श्रीराम-वियोग
का, इसलिये इस हेर-फेर के लिये कह रही हैं। 'जौ यह मत···'—भाव यह कि मैं हठ नहीं करती, जं
राजा के मन में यह बात ठीक समझ पड़े, तब ऐसा करें।

(५) 'गूढ़ सनेह भरत-मन माहीं ।···'—श्रीलक्ष्मणजी का स्नेह प्रकट है कि सबका स्नेह तृण के समान तोड़कर साथ हो लिये । पर श्रीभरतजी का स्नेह गूढ़ अर्थात् गुप्त एवं गम्भीर अभिप्राय-युक्त है । 'ये प्रवृत्ति को लिये हुए निर्लिप्त रहकर राम-स्नेह निबाहते हैं ।' तभी तो श्रीवसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी और देवता आदि भी इनका गूढ़स्नेह सहसा न जान सके । इस स्नेह में बलात् घर रखने पर ये कहीं प्राण न छोड़ दें, यही डर है ।

लखि सुभाव सुनि सरल सुबानी । सब भईं मगन करुनरस रानी ॥५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि । सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि ॥६॥
सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ । तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥७॥
देबि दंडजुग जामिनि बीती । राममातु सुनि उठी सप्रीती ॥८॥

दोहा—बेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सति भाय ।
हमरे तौ अब ईस-गति, कै मिथिलेस सहाय ॥२८४॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी का स्वभाव देखकर और उनकी सीधी निष्कपट अच्छी वाणी सुनकर सब रानियाँ करुण रस में डूब गईं ॥५॥ आकाश से फूलों की झड़ी लग गई और 'धन्य ! धन्य !' यह ध्वनि छा गई । सिद्ध योगी और मुनि लोग स्नेह से शिथिल हो गये ॥६॥ देखकर सब रनवास स्तब्ध रह गया, तब श्रीसुमित्राजी ने धैर्य धरकर कहा ॥७॥ कि हे देवि ! दो घड़ी रात बीत गई । यह सुनकर श्रीरामजी की माता प्रीति-पूर्वक उठीं एवं प्रीति-पूर्वक कहने लगीं ॥८॥ कि शीघ्र आप डेरे को पधारें । हमें तो अब ईश्वर ही का अवलम्ब है, या श्रीमिथिलेशजी हमारे सहायक हैं ॥२८४॥

विशेष—(१) 'सब भईं मगन करुनरस रानी ।'—वाणी करुणारस-पूर्ण थी, इसीसे सुनकर सब उसी रस में निमग्न हो गईं, इसकी दशा, यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ । मनहुँ करुनरस कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥" (दो० ४६), तथा—"मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना बिरह निवास ।" (बा दो० ३५७)—भी देखिये । इस प्रसंग का उपक्रम—"जनु करुना बहु बेष बिसूरति ।" से हुआ और यहाँ—'सब भईं मगन···' पर उपसंहार है । भाव यह कि प्रसंग-भर करुण-रस पूर्ण है ।

(२) 'नभ प्रसून झरि धन्य ···'—श्रीकौसल्याजी के वचनों में देवताओं ने अपने स्वार्थ को सिद्धि देखी, वे जान गये कि इनका अभिप्राय श्रीरामजी के लौटाने का नहीं है, किन्तु ये श्रीरामजी के वन जाने में भलाई माने हुई हैं, यथा—'भल परिनाम न पोच ।' इसीसे फूल-वर्षा कर धन्य-धन्य कहते हैं । सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि'—ये लोग प्रायः स्नेही होते, पर यहाँ इन्होंने माता की सरल स्नेह और धर्म में निष्ठा देखी कि पुत्र-वियोग की पीड़ा सहने को प्रस्तुत हैं, पर यह नहीं कहतीं कि श्रीरामजी रख लिये जायँ । इनमें स्वार्थ का लेश नहीं है, अतएव ये स्नेह में मुग्ध हो गये ।

(३) 'सब रनिवास बिथकि···'—करुणा के कारण सब स्तब्ध हो गईं । श्रीसुमित्राजी सबके लिये सुष्ठु-मित्रा हैं । सबकी धर्म-रक्षा पर इनकी दृष्टि है । इसीसे बोलीं कि दो दंड रात भी बीत चुकी, अर्थात् लगभग ३ घड़ी दिन रहते बैठक हुई और दो घड़ी रात भी बीत गई । पति-सेवा में पहुँचना चाहिये । किसी-किसीका यह भी भाव है कि लक्ष्मणजी के लौटाने के प्रस्ताव पर इन्हें बुरा लगा, इससे ये सभा-विसर्जन कराने लगीं । इन्होंने लक्ष्मणजी का, प्रभु-सेवा में ही सौभाग्य माना एवं कहा है ।

'ईसगति'—ईश का अर्थ यहाँ श्रीशिवजी है, क्योंकि आगे श्रीसुनयनाजी ने दुहराते हुए स्पष्ट कर दिया है, यथा—"सदा सहाय महेस भवानी ।" श्रीकौसल्याजी की तरह श्रीरामजी ने भी कहा है, यथा—"मुनिमिथिलेस राखि सब लीन्हा ।" (दो० ३०४) ।

'राम मातु सुनि उठी'—तन से, 'सप्रीती'—मन से और 'कह सनेह'—वचन से, तीनो से स्नेह प्रकट किया। वैसे ही आगे दो० २८५ में सुनयनाजी का भी बर्ताव है—'अस कहि पग परि प्रेम अति'—क्रमशः वचन, तन और मन का स्नेह है।

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गह पाय पुनीता ॥१॥
देवि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ - घरनि राम - महतारी ॥२॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं ॥३॥
सेवक राउ करम - मन - बानी। सदा सहाय महेस भवानी ॥४॥
रउरे अंग जोग जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै ॥५॥

शब्दार्थ—गह = ग्रहण करना, जगना, स्पर्श करना। घरनि = स्त्री, घरवाली। अंग = सहायक, मित्र।

अर्थ—श्रीकौसल्याजी के स्नेह को देखकर और उनके विनम्र वचन सुनकर श्रीजनकजी की प्रिया श्रीसुनयनाजी ने उनके पवित्र चरण स्पर्श किये ॥१॥ (और कहा) हे देवि! आपकी ऐसी नम्रता उचित ही है, (क्योंकि) आप श्रीदशरथ महाराज की स्त्री और श्रीरामजी की माता हैं ॥२॥ प्रभु (बड़े लोग) अपने नीच जनों को भी आदर देते हैं। (जैसे कि) अग्नि धुएँ को और पहाड़ तृण को सिर पर धारण करते हैं ॥३॥ राजा (श्रीजनकजी तो) कर्म, मन और वचन से आपके सेवक हैं और सहायक तो सदा शिव-पार्वतीजी ही हैं ॥४॥ आपका सहायक होने के योग्य जगत् में कौन है? क्या दीपक सूर्य का सहायक होकर शोभा पाता है? ॥५॥

विशेष—(१) 'जनकप्रिया गह पाय पुनीता।'—श्रीकौसल्याजी का पद बड़ा है, क्योंकि जामाता की माता और चक्रवर्त्ती की बड़ी रानी हैं। फिर भी इनमें इतनी नम्रता है, यह समझकर इन्होंने चरण-स्पर्श किया, विनती की और कहा कि हमलोग तो आपके दास-दासी हैं, सहायक होने के योग्य नहीं।

(२) 'दसरथ-घरनि राम-महतारी।'—भाव यह कि श्रीदशरथजी महाराज स्नेह के खजाना थे, आप उनकी रानी हैं, तो आपमें ऐसा स्नेह क्यों न हो? श्रीरामजी श्रीकैकेयीजी के निष्ठुर वचनों पर भी मृदु भाषण ही करते रहे, फिर आप उन्हीं की माता हैं तो, ऐसा मृदु-विनम्र वचन क्यों न कहें? स्त्री की तीनों प्रकार की श्रेष्ठता आपमें है—स्वयं देवि अर्थात् दिव्य स्वरूपा हैं। आपके पति श्रेष्ठ और पुत्र भी श्रेष्ठ हैं, यथा—"महिमा अवधि राम···" (बा० दो० १५), "दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (दो० २०८)। माता और पत्नी में योग्यता का अंश रहता है।

(३) 'प्रभु अपने नीचहु···'—आपने जो विनम्र वचनों से मुझे आदर दिया, वह ऐसा ही है, जैसा स्वामी सेवक को आदर दे, यथा—"प्रभु सक तिभुवन मारि जियाई। केवल सकहि दीन्हि बड़ाई॥" (लं० दो० ११२), जैसे कि अग्नि जलते समय धुएँ को सिर पर और पर्वत तृणों को सिर पर रखता है, क्योंकि ये इन्हें अपना एवं अपनेसे छोटा मानते हैं। यद्यपि धुएँ और तृण से अग्नि और पर्वत को कोई लाभ नहीं, तथापि ये आदर देते हैं। वैसे ही राजा और मैं धुएँ और तृण के समान हैं। आपने कृपा कर अपना मानकर आदर दिया है। यहाँ 'वाचक लुप्तोपमालंकार' है।

(४) 'सेवक राउ करम-मन···'—भाव राजा सहायक नहीं, किन्तु सेवक हैं। राजा ने स्वयं भी विनय में कहा है, यथा—"येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये॥" (बा० दो० ३२६)। इस प्रसंग में भी—'नृप बूझे बुध···'—वचन से, 'नृपहि धीर धरि हृदय बिचारी।'—मन से और 'दुघरी साधि चले···'—तन से सेवा है। हाँ, महेश-भवानी सदा सहायता करने के योग्य हैं, क्योंकि ईश्वर हैं।

(५) 'रउरे अंग जोग जग···'—यह 'कै मिथिलेस सहाय' का उत्तर है। 'जग को है' अर्थात् राजा श्रीजनकजी की कौन गणना, सारे जगत् के देव, दनुज आदि भी सहायक होने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि यह कुल सभी की रक्षा करता आया है, यथा—"सुरपति बसइ बाहँ बल जाके। नरपति सकल रहहि रुख ताके ॥" (दो० २४), आप सूर्य के समान जगत्-भर में अद्वितीय प्रतापवाले राजा की रानी हैं। राजा (श्रीजनकजी) दीप के समान अपने राज्य मात्र के रक्षक हैं जैसे दीपक घर भर को ही प्रकाशित कर सकता है। दीपक सूर्य का सहायक बनने से शोभा नहीं पाता, छवि हीन देख पड़ता है। वैसे, सहायक बनने में राजा की शोभा नहीं, किन्तु ये सेवक हैं।

राम जाइ बन करि सुर-काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू ॥६॥
अमर नाग नर राम बाहु-बल। सुख बसिहहिं अपने-अपने थल ॥७॥
यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाखा ॥८॥

दोहा—अस कहि पग परि प्रेम अति, सियहित बिनय सुनाइ।
सियसमेत सियमातु तब, चली सुआयसु पाइ ॥२८५॥

अर्थ—श्रीरामजी वन में जाकर देवताओं का कार्य करके श्रीअवधपुर में अचल राज्य करेंगे ॥६॥ देवता, नागदेव (पातालवासी), मनुष्य, सब श्रीरामजी के बाहुबल से अपने-अपने स्थलों (लोकों) में सुख पूर्वक निवास करेंगे ॥७॥ यह सब श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने कह रक्खा है, हे देवि ! मुनि का कहा हुआ झूठा नहीं हो सकता ॥८॥ ऐसा कहकर अत्यन्त प्रेम से चरणों में पड़कर और श्रीसीताजी के लिये अत्यन्त प्रेम-पूर्वक प्रार्थना करके (कि इसे साथ में दीजिये, सब देख लें) सुन्दर आज्ञा पाकर श्रीसीताजी के साथ श्रीसीताजी की माता (अपने स्थल को) चलीं ॥२८५॥

विशेष—(१) 'राम जाइ बन···यह सब जागबलिक कहि राखा।'—श्रीकौसल्याजी ने कहा था—'भल परिनाम न पोच' ये मुनि की वाणी से उसका समर्थन एवं विस्तार करती हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीजनकजी के गुरु हैं, यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५), ये कभी जनकजी के यहाँ भविष्य का ध्यान करके कहे रहे होंगे, उसे रानी ने भी सुना था, वह कह रही हैं। पीछे श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने श्रीकाकभुशुण्डीजी से श्रीरामचरित पाया और श्रीभरद्वाजजी को सुनाया। यह मानस के मुख-बन्ध में कहा गया। बा० दो० ४४ चौ० ४-८ भी देखिये।

(२) 'अमर नाग नर राम···', यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिना ये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३), अमर स्वर्ग के, नाग पाताल के और नर भूलोक के, अर्थात् तीनो लोकों के—"आयेउ जनकराज रनवासू। (दो० २८०) यह उपक्रम है और यहाँ 'सिय समेत सिय मातु तब, चली···' यह उपसंहार है। पाँच दोहों में यह राज महिलाओं के मिलने का वर्णन हुआ।

यह राजमहिलाओं का मिलना लोक-शिक्षा के लिये बड़े महत्त्व का है, जो लोग श्रीगोस्वामीजी को सभ्य स्त्री-जाति के अनभिज्ञ एवं स्त्री-निन्दक कह बैठते हैं। उन्हें इसपर ध्यान देना चाहिये कि इनका वर्णन एवं और भी श्रीसीताजी, अनसूयाजी आदि का चरित-चित्रण भी तो इन्हींने किया है। फिर इन्हींने मन्थरा, शूर्पणखा आदि का भी वर्णन किया है। जहाँ जैसा पात्र देखा गया, वहाँ वैसा, किन्तु व्यापक दृष्टि से कहा है। नारी-जाति पर जहाँ कटाक्ष है, वहाँ उसी श्रेणी की स्त्रियों पर है। यदि कहा जाय—"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥" (सुं० दो० ५८), में तो किसी खास पात्र का सम्बन्ध नहीं है, तो उत्तर यह है कि वहाँ भी गँवार, शूद्र और पशु के साहचर्य में कहकर गँवा-

रिनी, अनाचारिणी एवं पशु के समान बुद्धिवाली स्त्रियों पर कहा है कि जैसे जबतक ठीक स्वर नहीं होता, तब तक ढोल कसा एवं चढ़ाया जाता है। वैसे ही ये सब जब तक सुधर न जायँ, तब तक दण्ड देकर कसे जायँ, सुधारे जायँ। पशु भी जब ठीक चलते हैं, तब मारे नहीं जाते, यह प्रत्यक्ष ही है। फिर ढोल का बजाया जाना ताड़ने में नहीं है, वह तो उसके गुण प्रकट करने की क्रिया है। वे स्त्रियाँ भी जब सुधर जायँ, तब उनके गुणों से लोगों में प्रशंसा हो। 'अधिकारी'—शब्द से भी स्पष्ट है कि जो ढोल सुरीला होता है, उसे नहीं कसा-ठोंका जाता, वैसे किसी भी श्रेणी की स्त्रियाँ सदाचारिणी होने से दण्ड की अधिकारिणी नहीं हैं, इत्यादि।

प्रिय परिजनहि मिली बैदेही। जो जेहिं जोग भाँति तेहि तेही ॥१॥
तापस-बेष जानकी देखी। भा सब बिकल बिषाद बिसेखी ॥२॥
जनक राम-गुरु आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी आई ॥३॥
लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन प्रेम प्रान की ॥४॥

अर्थ—विदेह नन्दिनी श्रीसीताजी अपने प्यारे कुटुम्बियों से, जो जिस योग्य थे, उनसे उसी प्रकार से मिलीं ॥१॥ श्रीजानकीजी का तपस्विनी-वेष देखकर सब विशेष दुःख से विशेष व्याकुल हो गये ॥२॥ श्रीरामजी के गुरु श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर श्रीजनकजी अपने डेरे को चले और वहाँ आकर उन्होंने श्रीसीताजी को देखा ॥३॥ राजा श्रीजनकजी ने अपने पवित्र प्रेम और प्राणों की पवित्र पाहुनी श्रीजानकीजी को अपने हृदय से लगा लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'जो जेहिं जोग···'—समान वर्गों से गले लगकर मिलीं, छोटों के सिर पर हाथ रक्खा और बड़ों के चरण-स्पर्श किये, किसीसे मृदुवाणी से कुशल ही पूछी। 'बैदेही'—अत्यन्त स्नेह से विदेह-दशा को भी प्राप्त हैं। "भा सब बिकल बिषाद बिसेषी।'—पहले सुनकर सबको ही स्नेह से व्याकुलता थी, यथा—"सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥" (दो० २०१), अब आँखों से भी तापस (समान्य) वेष देखा, इससे सब विशेष विषाद से विकल हो गये।

(२) 'पाहुनि पावनि प्रेम प्रान की।'—पवित्र प्रेम और प्राणों की पाहुनी है, पाहुन का पूजा-सत्कार करना चाहिये। कन्याएँ ब्याह होने पर पति-घर की हो जाती हैं। फिर नैहर आती हैं तो पाहुन की भाँति कुछ दिन रह कर फिर विदाई में कुछ लेकर जाती हैं। यहाँ श्रीजानकीजी तपस्विनी वेष में हैं। अतः, कुछ लेना नहीं है। अतः, राजा ने हृदय के प्रेम से ही इनका पूजा-सत्कार किया। अतएव हृदय में लगाया।

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप-मन मनहु प्रयागू ॥५॥
सिय-सनेह-बट बाढ़त जोहा। तापर राम-प्रेम-सिसु सोहा ॥६॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान-बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल-अवलंबनु ॥७॥
मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय-रघुबर-सनेह की ॥८॥

अर्थ—उनके हृदय में अनुराग-समुद्र उमड़ा, राजा का मन ही मानों प्रयाग हो गया ॥५॥ श्रीसीताजी में स्नेहरूपी अक्षयवट को उन्होंने बढ़ते देखा, उस (सिय-सनेह-बट) पर श्रीराम-प्रेमरूपी बालक शोभित हो रहा है ॥६॥ (श्रीजनकजी का) ज्ञानरूपी चिरजीवी मार्कण्डेय ऋषि, मानों व्याकुल होकर डूबते-डूबते (उस श्रीराम-प्रेम) बालक का सहारा पा गया ॥७॥ (ग्रन्थकार कहते हैं कि) विदेह राजा श्रीजनकजी की बुद्धि मोह में नहीं डूबी है, किन्तु यह सिय-रघुवर के प्रेम की महिमा है ॥८॥

विशेष—भाग० स्कं० १२ अ० ८-६-१० में विस्तृत कथा है। यहाँ संपेक्ष में लिखा जाता है। "महर्षि मार्कण्डेय मृकण्ड ऋषि के पुत्र हैं। इन्होंने विधिपूर्वक बड़ी तपस्या की। इनके तप के समय ब्रह्मा-शिव आदि को भी विस्मय हुआ। यह देख इन्द्र को भय हुआ। उसने समाज के साथ काम को विघ्न करने के लिये भेजा। कामदेव ने अपनी सभी कलाओं के द्वारा मुनि को डिगाने की चेष्टा की। उसने अपने बाण भी चलाये, किन्तु उसके सभी उपाय व्यर्थ हुए। मुनि शान्त बने ही रहे। अन्त में इनपर प्रसन्न होकर इनके पास नर-नारायण ऋषि आये, जो साक्षात् भगवान् के ही रूप हैं। इन्होंने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, पुनः पूजा करके स्तुति की। नर-नारायण भगवान् ने इनसे वर माँगने को कहा। इन्होंने भगवान् की माया देखने की इच्छा की, जिस माया से लोगों में भेद दृष्टि हो जाती है।

एक समय महर्षि मार्कण्डेयजी पुष्पभद्रा नदी के तट पर बैठे हुए सन्ध्योपासन कर रहे थे। उसी समय प्रचण्ड वायु चलने लगा। बड़े प्रचण्ड शब्द करते हुए कराल मेघों की घटा हो आई। भारी वर्षा होने लगी। इन्होंने देखा कि चारो ओर से समुद्र ने पृथ्वी को डुबा दिया। मुनि ने प्रलय-समुद्र में घबराये हुए इधर-उधर डूबते-उतराते हुए लाखों वर्ष बिताये। अन्त में घबराये हुए मुनि ने पृथ्वी के एक टीले पर एक बरगद का वृक्ष देखा। उसकी ईशान कोण की एक शाखा में एक शिशु को देखा। वह एक पत्ते के दोनें पर लेटा हुआ अपनी प्रभा से अन्धकार का हरण कर रहा था। वह परम सुन्दर भगवान् का रूप था। ज्यों ही मुनि उस बालक के समीप कुछ पूछने के विचार से गये, त्यों ही उसके श्वास के साथ मशक की भाँति उस भगवद्रूप के उदर में चले गये। वहाँ इन्होंने सम्पूर्ण विश्व का कौतुक देखा। अपने आश्रम पर आकर वहाँ के ऋषियों को भी देखा। पुनः उन भगवान् के श्वास के साथ फिर बाहर निकलकर उसी प्रलय-समुद्र में आ गये। तब भगवान् ने उस प्रलय दृश्य को समेट लिया। मुनि ने फिर आश्रम में अपनेको बैठा हुए देखा। फिर उन्होंने इस माया से छूटने के एक मात्र उपाय रूप भगवान् की शरणागति की।"

महा० वन० १८८-१८६ में यह कथा विस्तृत रूप में है, किन्तु तात्पर्य यही है। वहाँ पीछे मार्कण्डेय जी के पूछने पर श्रीनारायण ने अपना परंब्रह्म परत्व भी कहा है।

रूपक—राजा श्रीजनकजी परम ज्ञानी हैं, पर उन्होंने प्रेम और प्राण की पाहुनी श्रीजानकीजी को हृदय में लगा लिया और कुछ क्षणों के लिये प्रेम में विह्वल हो गये। शरीर-सम्बन्ध के पिता-पुत्री-भाव का अनुराग उमड़ पड़ा। पुत्री-भाव में उसी अनुराग की मोह-संज्ञा होती है, पर वास्तव में श्रीसीताजी ईश्वरी हैं, इससे वह अनुराग ही लिखा गया। पुत्री के प्रेम में जब ज्ञान डूबने लगा, उसी समय उनके मन में ईश्वरी श्रीसीताजी में ईश्वरी भाव आया। यही मन-रूपी प्रयाग में ज्ञान-रूपी मुनि का सिय-सनेह-वट देखना है। जब ईश्वरीभाव हो गया, तब ज्ञान-रूप मुनि अभय हुआ--यही वट पर जाना एवं उनका आश्रय लेना है। किंचित् पुत्रि-भाव-रूपी मोह-जल नीचे रह गया। श्रीसीताजी ने धनुष उठा लिया था, उसे श्रीरामजी ने तोड़ा, तब श्रीजनकजी ने उन्हें परंब्रह्म, शक्तिमान् और इन्हें उनकी आदिशक्ति माना था। वही ज्ञान उदित हुआ, यही वट पर परंब्रह्म के बालरूप के दर्शनों का सहारा पाना है। श्रीसीताजी और श्रीरामजी के प्रति अभिन्न परंब्रह्म का ज्ञान होने पर उपर्युक्त मोह-कल्पना निवृत्त हुई। मार्कण्डेय मुनि चिरजीवी हैं, वैसे श्रीजनकजी का ज्ञान अक्षय है। वहाँ भगवान् की माया के द्वारा मुनि ने उनकी महिमा देखी है, वैसे यहाँ 'सिय-रघुबर सनेह' की महिमा प्रकट होने के लिये श्रीजनकजी के ज्ञान की क्षणिक विह्वलता हुई है।

विदेहजी का अनुराग 'सिय-सनेह' 'राम प्रेम' ज्ञान—उपमेय हैं। समुद्र, प्रयाग का अक्षयवट, सिसु रूप भगवान् चिरजीवी मुनि—उपमान हैं, 'जनु'—वाचक और 'सोहा'—यह धर्म है। अतः, यहाँ पूर्णोपमा है।

'मोह मगन मति नहिं बिदेह की।···'—देह में अहंबुद्धि का होना मोह है। श्रीजनकजी तो विदेह हैं, तब उन्हें मोह-मग्नता कहाँ? यह श्रीसीतारामजी के स्नेह की महिमा है कि जो बड़े-बड़े ज्ञानियों के ज्ञान को विकल कर देती है। श्रीरामजी के प्रेम में ज्ञान का व्याकुल होना ज्ञान की शोभा है, यथा—"जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा।" से "सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।···" (दो० २७६), तक। ऐसा ही श्रीजानकीजी की विदाई के समय बा० दो० ३३७ में तथा श्रीजनकजी के प्रथम श्रीराम-दर्शन पर बा० दो० २१५ में भी इनके ज्ञान का प्रेम में विह्वल होना कहा गया है, क्योंकि भक्ति बिना ज्ञान की शोभा नहीं है। गीता में भी भक्ति को ज्ञान का मुख्य अंग कहा गया है, यथा—"मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचरणी।" (१३।१०), यह ज्ञान के अंगों के वर्णन प्रसंग में कहा गया है।

दोहा—सिय पितु-मातु-सनेह-बस, बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ, समय सुधरम बिचारि॥२८६॥

तापसबेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष बिसेषी॥१॥
पुत्रि पबित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥२॥
जिति सुरसरि कीरति-सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी॥३॥
गंग अवनिथल तीनि बड़ेरे। येहि किये साधु-समाज घनेरे॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी माता-पिता के स्नेह-वश व्याकुल होने से अपनेको नहीं सँभाल सकीं, फिर भी पृथ्वी की पुत्री श्रीसीताजी ने समय और अपने सद्धर्म का विचार कर धैर्य धारण किया॥२८६॥ तपस्विनी के वेष में श्रीजानकीजी को देखकर श्रीजनकजी को अधिक प्रेम और सन्तोष हुआ॥१॥ (उन्होंने कहा) बेटी! तुमने दोनों कुल (पिता और पति के कुल) पवित्र किये, जगत् में सब कोई तुम्हारा उज्ज्वल सुन्दर यश कहते हैं॥२॥ तुम्हारी कीर्त्ति-नदी ने देवनदी श्रीगंगाजी को भी जीतकर करोड़ों ब्रह्माण्डों में गमन किया॥३॥ पृथ्वी पर गंगाजी ने तीन ही बड़े-बड़े स्थान बनाये हैं (हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर) और तुम्हारी इस (कीर्त्ति-नदी) ने तो बहुत-से साधुसमाज-रूपी बड़े-बड़े स्थान बनाये॥४॥

विशेष—(१) 'सिय पितु-मातु-सनेह-बस···'—माता-पिता इनके स्नेह में व्याकुल हुए, तो ये भी वैसी व्याकुल हुईं, क्योंकि—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गी० ४।११), ऐसा श्रीमुखवचन है। 'धरनिसुता धीरज···'—पृथ्वी धैर्य-धारण करने में प्रधान है, ये उसकी पुत्री हैं, इससे धैर्य धर सकीं, अर्थात् विकलता अत्यन्त थी, यथा—"धरि धीरज उर अवनि कुमारी।" (दो० ६३), 'समय सुधरम बिचारि'—समय आपत्ति का है, इसमें ही धैर्य-धर्म की परीक्षा होती है, यथा—"धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परखियहिं चारी॥" (अर० दो० ४)। ऐसा विचारते हुए उन्होंने धैर्य धारण किया कि यदि माता-पिता दुखी समझेंगे, तो लौटाने की चेष्टा करेंगे, तो इनसे कैसे कहूँगी कि मैं पति के साथ ही जाऊँगी। जो पति के साथ वन न जाऊँगी, तो पातिव्रत-धर्म की हानि होगी।

अलंकार—'परिकरांकुर', क्योंकि क्रिया का अभिप्राय विशेष्य पद 'धरनिसुता' में है।

(२) 'तापसबेष जनक···'—इनका यह वेष देखकर और लोग तो दुखी हुए थे, यथा—"तापस-बेष जानकी देखी। भा सब बिकल बिषाद बिसेखी॥" (दो० २८५), क्योंकि वे सब इनको सुकुमारता जानते हैं, यथा—"पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥" (दो० ५८), पर श्रीजनकजी को पातिव्रत-धर्म पर आरूढ़ होने से प्रेम और सन्तोष हुआ। 'बिसेषी'—पहले से भी अधिक हुआ। इसीकी सराहना आगे की ३ अर्द्धालियों में है।

(३) 'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ ।'—कुलदोऊ'—नैहर और ससुराल के दोनों । 'पुत्रि'—क्योंकि पुन्नाम नरक से त्राण करने में पुत्रत्व की सफलता है, वैसे ही यहाँ दोनों कुलों के उद्धार करने के भाव पर 'पुत्रि' यह सम्बोधन है । 'कुल दोऊ'—कुल पद को श्लिष्ट मानकर दोनों किनारों का भी अर्थ होता है कि दोनों कुल तुम्हारी कीर्त्ति सरि से सुशोभित होते रहेंगे ।

'सुजस धवल जग···', यथा—"कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम् । न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥" (वाल्मी० २।४०।२४), अर्थात् वैदेही जानकीजी धन्य हैं, जो पति के पीछे शरीर की छाया की भाँति जा रही हैं । अपने पातिव्रत-धर्म में दृढ़ हैं, जैसे सूर्य की प्रभा मेरु पर्वत को नहीं छोड़ती । भाव यह कि मैं ही नहीं, किन्तु सारा जगत् कहता है, आगे इसी कीर्त्ति को श्रीगंगाजी के रूपक से कहते हैं, 'कुलदोऊ' को यहाँ उसी कीर्त्ति-गंगा के दोनों कूल (किनारे) कह सकते हैं ।

(४) 'जिति सुरसरि कीरति···'—'बिधि अंड'—विधि का अर्थ ब्रह्मा है, अंड मिलाने से ब्रह्माण्ड हो जाता है । गंगाजी स्वच्छ वर्णा हैं, उसी तरह कीर्त्ति भी उज्ज्वल ही कही जाती है । इससे बालकाण्ड में भी इसकी नदी की उपमा दी गई है, यथा—"कीरति सरित छहूँ रितु रूरी ।" (बा० दो० ४१) । 'गंग अवनि-थल तीनि···', यथा—"हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे । सर्वत्र दुर्लभा गङ्गा त्रिषु स्थाने विशेषतः ॥" इस कीर्त्ति-नदी ने तो बहुत-से साधु-समाज-रूपी बड़े-बड़े स्थल बना दिये, भाव यह कि साधु-समाज बड़े-बड़े स्थल हैं और सामान्य लोगों के समाज सामान्य स्थल हैं । यह भी भाव है, जो साधु तुम्हारी कीर्त्ति गावेंगे, वे ही बड़ाई पावेंगे ।

पितु कह सत्य सनेह सुबानी । सीय सकुच महँ मनहु समानी ॥५॥
पुनि पितु-मातु लीन्हि उर लाई । सिष आसिष हित दीन्हि सुहाई ॥६॥
कहति न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥७॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ । हृदय सराहत सील सुभाऊ ॥८॥

दोहा—बारबार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि ।
कही समय सिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि ॥२८७॥

शब्दार्थ—समाना = घुस जाना, पैठना । समय सिर = ठीक समय पर, अवसर पर, यथा—"जौ घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास ।" (दोहावली २७८) ।

अर्थ—पिताजी ने तो स्नेह से सत्य ही सुन्दर वाणी कही, (पर) श्रीसीताजी मानों सकुच में समा गई हैं ॥५॥ माता-पिता ने फिर श्रीसीताजी को हृदय से लगा लिया और सुन्दर हितकारी शिक्षा और आशिष दी ॥६॥ श्रीसीताजी संकोच के मारे नहीं कहती हैं, पर उनके मन में संकोच है कि यहाँ रात में रहना अच्छा नहीं है ॥७॥ श्रीसीताजी का रुख देखकर रानी ने राजा को जनाया । (दोनों दम्पती) हृदय में इनके शील-स्वभाव की बड़ाई करते हैं ॥८॥ श्रीसीताजी से बारबार मिल, भेंटकर सम्मान-पूर्वक इनको विदा किया, (तब) ठीक अवसर पाकर सयानी रानी ने सुन्दर वाणी से श्रीभरतजी की दशा भी कही ॥२८७॥

विशेष—(१) 'पितु कह सत्य सनेह···'—यद्यपि यह नीति है कि अपनी सन्तान की बड़ाई नहीं करनी चाहिये, न उनके सम्मुख और न परोक्ष में ही, तथापि स्नेह में राजा उस नीति को भूल गये, प्रेम के मारे कह चले । श्रीसीताजी को अत्यन्त संकोच हुआ । कहा भी है—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं ।" (अर० दो० ४५), अर्थात् अपनी बड़ाई पर हर्ष न होना अच्छे लोगों का लक्षण है, यथा—

"चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे।" (दो० २०५)। वहाँ के 'भजि पैठे' का ही भाव यहाँ 'समानी' में है।

(२) 'पुनि पितु-मातु लीन्हि·····'—इनका संकोची स्वभाव देखकर अधिक प्रेम हुआ, इससे फिर हृदय लगाया। 'कहति न सीय सकुचि···'—१४ वर्ष व्रत-निर्वाह के विचार से पति के साथ चली हैं, यहाँ रात रहने से वह व्रत भंग होगा। प्रथम मैंने वन-यात्रा समय पति से एवं सुमन्त्र से भी सभी नातों के सुखों से विरक्ति कही है। अब यदि नैहर के नातों में सुख से रहती हूँ और पतिदेव की सेवा से रहित रहती हूँ, तो धर्म व्रत खण्डित होगा। पुनः यह भी संकोच है कि यहाँ रात में न रहना चाहिये, यह माता-पिता से कैसे कहें? संकोच की बात है। 'लखि रुख रानि जनायेउ राऊ।'—स्त्रियों की चेष्टा स्त्रियाँ जान लेती हैं, यथा—"अहिरेव अहेः पादान्विजानानि न संशयः।" (वाल्मी ५।४२।९), अर्थात् साँप ही साँप के पैरों को जानता है। रुख लखना यों भी कहा जाता है कि किसी तारे की ओर देखा, जिस तारे से रात के समय का पता लगता है, वा पूछा कि कितनी रात बीती होगी, इत्यादि। यहाँ 'पिहित अलंकार' है।

(३) 'सनमानि'—बहुत कुछ देकर कन्या को नैहर से विदा किया जाता है, पर ये तापस व्रत में हैं, इससे सम्मान मात्र ही किया गया। प्यार के साथ मिलकर साथ में अपने प्रिय वर्ग को भेजा कि पहुँचा आवें, इत्यादि। 'कही समय सिर भरतगति···'—श्रीकौसल्याजी ने कहा था—"रानि राय सन अवसर पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥" उसीका यहाँ चरितार्थ है। वहाँ के 'अवसर पाई' के अनुसार यहाँ 'समय सिर' और जो वहाँ 'अपनी भाँति कहब' कहा है है, उसीको यहाँ—'सुबानि सयानि' कहा है। 'भरतगति'—का अर्थ आगे खोला है—"सुनि भूपाल भरत व्यवहारू।" इस समय राजा प्रेम में मग्न हैं, इसीसे अवसर पाकर रानी ने चतुरता एवं मृदुवाणी से कहा।

सुनि भूपाल भरत - व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू॥१॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन। सुजस सराहन लगे मुदित मन॥२॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत-कथा भव-बंध बिमोचनि॥३॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥४॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काह छलि छुअति न छाँही॥५॥

अर्थ—राजा ने सोने में सुगन्ध और अमृत में चन्द्रमा के सार-रूप अमृत के समान श्रीभरतजी का व्यवहार सुनकर॥१॥ अपनी अश्रु-पूर्ण आँखें मूँद लीं, उनके सब अंग पुलकित हो गये और आनन्दित मन से वे (श्रीभरतजी के) सुन्दर यश की बड़ाई करने लगे॥२॥ (राजा जनक ने रानी से कहा—) हे सुमुखी! हे सुलोचनी! सावधान होकर सुनो, श्रीभरतजी की कथा भव-बन्धन-रूपी आवागमन छुड़ाने-वाली है॥३॥ धर्म-नीति, राज-नीति और वेदान्त शास्त्र में अपनी बुद्धि के अनुसार मेरी प्रवृत्ति है अर्थात् इनमें मैं बहुत कुछ कह सुन सकता हूँ॥४॥ पर वही मेरी बुद्धि श्रीभरतजी की महिमा कहेगी क्या? वह तो छल करके भी उस महिमा की छाया तक को नहीं छू पाती॥५॥

विशेष—(१) 'सोन सुगंध सुधा ससि सारू।'—ये श्रीभरतजी के व्यवहार के विशेषण हैं। 'सोने में सुगंध' यह मुहावरा है, सर्वोत्कृष्ट के अर्थ में कहा जाता है। सोना उत्तम पदार्थ है, यदि उसमें सुगन्ध भी आ जाय, तो वह सर्वोत्कृष्ट होगा। उत्तम-से-उत्तम कहा जायगा। वैसे ही श्रीभरतजी माता-पिता का दिया हुआ राज्य करते तो उन्हें दोष नहीं था, यथा—"करतेहु राज त तुम्हहि न दोसू।" (दो०

२०६), "बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥" (दो० १७४), यह सोने की तरह उत्तम होता। पर जो इन्होंने कुल के सर्वोत्कृष्ट धर्म पर दृष्टि की, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४) इस सुहावनी रीति का पालन किया, श्रीरामजी को मनाने आये हैं और उनके सेवक भाव से ही रहना चाहते हैं। यह उत्तम-से-उत्तम है, यही सोने में सुगन्ध है, यथा—"तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई॥" (दो० २०६), यश और सुगन्ध की समता है। नाग लोक में भी अमृत है, पर जो अमृत चन्द्रमा का सार रूप है वह सर्वोत्तम है। वैसे ही श्रीभरतजी के जितने धर्माचरण हैं सभी उत्तम हैं, अमृतरूप हैं, यथा—"समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥" (दो० ३२२), पर उसमें श्रीराम-भक्ति सर्वोत्तम चन्द्रमा का सार रूप अमृत है, यथा—"नवबिधु बिमल···राम भगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥" (दो० २०८), तथा—"अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत येहु। सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर चरन सनेहु॥" (दो० २०७), "परम पुनीत भरत आचरनू···राम सनेह सुधा कर सारू॥" (दो० ३२५)।

(२) 'मूँदे सजल नयन···'—श्रीभरतजी का सद्व्यवहार सुनने से उनमें राजा की प्रीति हुई। उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये और श्रीभरतजी के ध्यान में उन्होंने आँखें मूँद लीं, यथा—"हरहिय राम चरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥ मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥" (बा० दो० १११), जैसे वहाँ 'हरषित बरनइ लीन्ह' वैसे यहाँ—'सुजस सराहन लगे मुदितमन।' कहा है। वहाँ—"सावधान सुनु सुमति भवानी।" (बा० दो० १२१), कहा है, वैसे यहाँ—"सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि" है। 'सावधान', क्योंकि गूढ़ है; 'सुमुखि', क्योंकि इस मुख से परम भक्त का यश कहा है; 'सुलोचनि', क्योंकि दिव्य दृष्टिवाली हो। अतः जो कहता हूँ, उसे विचारना। 'भरत-कथा भवबंध···'—'कथा' अर्थात् प्रबन्ध सहित कहूँगा। 'भव-बंध बिमोचनि', यथा—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥" (दो० ३२६)।

(३) 'इहाँ जथा मति मोर प्रचारू।'—उत्तम वक्ताओं की ऐसी रीति है, यथा—"तदपि जथा-श्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ···" (बा० दो० ११३), "जथा मति गावा।" (उ० दो० १२९), यह विनीत भाव है, पर तात्पर्य यह है कि इन शास्त्रों में मुझे अधिकार है, सन्देह नहीं है।

(४) 'सो मति मोरि भरत···'—महिमा को कहेगी क्या? छल-बल करके उसकी छाया को भी नहीं छू पाती। हनुमानजी की छाया को छल करके सिंहिका ने पकड़ा है, पर उस तरह भी मेरी मति का श्रीभरत-महिमा का स्पर्श करना (जानना) असम्भव है। छल से छूना उपमाओं के द्वारा उसका दिग्दर्शन कराना है, ऐसी ही धारणा श्रीवसिष्ठजी की भी है, यथा—"भरत-महा-महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला-सी। गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥" (दो० २५६), पुनः यही दशा श्रीहनुमानजी की भी हुई, यथा—"तीरते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है।···यह जल निधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है॥" (गी० ल० ११)।

बिधि गनपति अहिपति सिवसारद। कबिकोबिद बुध बुद्धिबिसारद॥६॥
भरत-चरित-कीरति-करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥७॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥८॥

दोहा—निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत-सम जानि।
कहिय सुमेरु कि सेर-सम, कवि-कुल-मति सकुचानि ॥२८८॥

अर्थ—ब्रह्मा, गणेश, शेष, शिव, शारदा, कवि, कोविद, पण्डित (एवं और भी) जो बुद्धि में प्रवीण हैं ॥६॥ सब किसीको श्रीभरतजी के चरित, कीर्त्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मल ऐश्वर्य, समझने में और सुनने में सुख देनेवाले हैं। पवित्रता में गंगाजी का और स्वाद में अमृत का निरादर करनेवाले हैं ॥७-८॥ इनके गुणों की अवधि नहीं है, वे उपमा-रहित पुरुष हैं, श्रीभरतजी को श्रीभरतजी के ही समान जानो, क्या सुमेरु पहाड़ को सेर के समान कह सकते हैं! (अतः,) कविगणों की बुद्धि सकुचा गई ॥२८८॥

विशेष—(१) 'बिधि गनपति···'—ब्रह्मा जीव-मात्र की गति जानते हैं, उनसे बुद्धिमत्ता की हद है, इसीलिये इन्हें प्रथम कहा। ये वेदों के भी आदि वक्ता हैं, यथा—तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग० मं०), गणेशजी—'विद्यावारिधि बुद्धि विधाता' हैं। इसीसे व्यासजी के लेखक बने। शेषजी दो हजार जिह्वाओं से भगवान् का यश गाते रहते हैं। शिवजी के द्वारा व्याकरण विद्या ही का प्रादुर्भाव हुआ और शाबर मन्त्र का उद्घाटन एवं उसमें प्रकट-प्रभाव-संस्थापन इन्होंने ही किया है, फिर श्रीराम-नाम निष्ठा के द्वारा भी श्रीशिवजी समर्थ हैं और त्रिभुवन गुरु भी कहे जाते हैं। सरस्वती वक्ताओं की वाणी की अधिष्ठात्र देवी है। कवि शुक्राचार्य आदि, कोविद बृहस्पति आदि और जो बुद्धि में निपुण लोग हैं। यहाँ इन नौ वक्ताओं की गणना की है, नौ संख्या की सीमा है, इससे संसार के सम्पूर्ण वक्ताओं को ले लिया।

शंका—सन्त वन्दना में तो हरि को भी कहा है, यथा—"बिधिहरिहर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० २), पर यहाँ नहीं कहा।

समाधान—आगे कहते हैं—"भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी ॥" श्रीरामजी के हरि (विष्णु) भगवान् अभिन्नांश हैं, अतएव अभेद हैं, श्रीरामजी के द्वारा अकथ्य कहे जाने में वे भी आ गये। उपर्युक्त सन्त-महिमा में छः ही असमर्थ माने गये हैं और यहाँ नौ का असमर्थ होना कहा। नौ अंक की सीमा है, अर्थात् जितने भी वक्ता हों, पार न पावेंगे एवं सब मिलकर भी पार नहीं पा सकते। नौ में विधि-शिव ईश्वर ही हैं, गणेश, शेष और शारदा सुकवि हैं, यथा—"बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं ॥" (दो० ३२४)। इन बड़ों को पूर्वार्द्ध में कहकर तब सामान्यों को उत्तरार्द्ध में कहा है।

(२) 'भरत-चरित-कीरति-करतूती···'—इनके उदाहरण, 'चरित', यथा—"भरत चरित करिनेम···" (दो० ३२६), 'कीरति', यथा—"कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा।···" (दो० २०६), 'करतूती', यथा—"गये अवध चर···देखि करतूति।"। (दो० २७१), 'धरम', यथा—"जौ न होत जग जनम भरत को। सकल धरमधुर धरनि धरत को ॥" (दो० २३२), 'सील', यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कही न बयन ॥" (दो० २६०), 'गुन', यथा—"गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।···" (दो० २३१), 'बिमल बिभूती', यथा—"राम प्रेम भाजन भरत, बड़े न यहि करतूति। चातक हंस सराहियत, टेक बिबेक बिभूति ॥" (दो० ३२४), इत्यादि। इसमें श्रीभरतजी के चरित आदि सात गुण कहे गये हैं। इनमें 'चरित' को प्रथम कहा है, क्योंकि इन (श्रीजनकजी) की दृष्टि चरित पर ही विशेष मुग्ध है, यथा—"बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेउ बेगि···" (दो० २७०), अर्थात् चरों से श्री भरतजी का सद्भाव (सदाचार = चरित) सुना, वही यहाँ भी कह रहे हैं—"भरत कथा भव बंध···"। सात ही कहकर इन्हें सातो समुद्रों

के समान अगाध जनाया, यथा—"भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥ कहत सारदहु कर मति होचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥" (दो० २८२), इसमें शील को प्रथम कहा है, क्योंकि श्रीकौसल्याजी की दृष्टि में शील गुण ही मुख्य जँचा है। आगे कवि स्वयं भी ऐसे ही सात कहेंगे, यथा—"भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं। ···" (दो० ३२४), इनमें 'रहनि' और 'समुझनि' को इन्होंने प्रधान माना है, यथा—"आयसु होइ त रहउँ सनेमा।" इसपर गुरुजी ने कहा—"समुझब कहब करब···" (दो० ३२२)।

तीनो जगह सातों सागरों की तरह श्रीभरतजी के गुणों की अगाधता कही गई है और साथ ही वक्ताओं के वर्णन की अगमता भी कही गई है, यथा—"सागर सीप कि जाहिं उलीचे।' 'अगम सबहि बरनत···' बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं।'···इत्यादि।

(३) 'समुझत सुनत सुखद सब काहू।'—श्रीभरत-चरित समझकर प्रतीति होती है, तब वह प्रीति-सहित सुना जाता है और फिर सब किसीको उससे सुख प्राप्त होता है, क्योंकि यह श्रीगंगाजी से अधिक पावन और अमृत से अधिक स्वादिष्ट है, यथा—"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।" (दो० ३२६), "राम भगत अब अमिअ अघाहू।" (दो० २०८)। पवित्र होने से मनन करने पर हृदय शुद्ध होता है और स्वादिष्ट होने से इसके सुनने के लिये कान लालायित रहते हैं। 'सुचि', यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू।" (दो० ३२५)। यहाँ 'द्वितीय व्यतिरेक अलंकार' है।

(४) 'निरवधि गुन निरुपम पुरुष'—उपर्युक्त अगाधता का कारण यहाँ खोला कि इनके गुण ही सीमा-रहित हैं और इनके योग्य उपमा भी नहीं है। अतः, श्रीभरतजी के समान श्रीभरतजी ही हैं—यह निश्चय किया। अन्य उपमाएँ—सुमेरु पर्वत जो कि कई लक्ष योजन विस्तृत है—उसके समक्ष में सेर (पत्थर का छोटा बटखरा) की तरह तुच्छ हैं। 'कविकुल' उपर्युक्त विधि आदि हैं। वे यही समझकर सकुच गये कि सुमेरु को सेर के समान कहने से हँसी होगी। कविता यश के लिये की जाती है, अपयश कौन ले? यथा—"सिय बरनिय तेहि उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई॥" (बा० दो० २४६)। यहाँ 'अनन्वयोपमालंकार' है।

अगम सबहि बरनत बरबरनी। जिमि जलहीन मीन गम धरनी॥१॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥२॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥३॥
बहुरहि लखन भरत बन जाहीं। सब कर भल सबके मन माहीं॥४॥

शब्दार्थ—अनुभाव = महिमा, प्रभाव, यथा—अनुभावः प्रभावे च···" (अमरकोष)। बरबरनी = परम सुन्दरी। गम = चलना।

अर्थ—हे परम सुन्दरी! सभी के लिये (श्रीभरतजी के चरित आदि का) वर्णन करना वैसे ही अगम है, जैसे जलरहित भूमि पर मछली का चलना॥१॥ हे रानी! सुनो, श्रीरामजी श्रीभरतजी की अपरिमित महिमा को जानते हैं, पर वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते॥२॥ इस प्रकार प्रेम के साथ श्रीभरतजी की महिमा का वर्णन करके और स्त्री के हृदय की इच्छा को लखकर राजा ने कहा॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी (घर) लौटें और श्रीभरतजी वन को जायँ, इसमें सबका भला है तथा यही सबके मन में (भी) है।

विशेष—(१) 'अगम सबहि बरनत ' '—यहाँ महिमा को अवर्ण्य दिखाते हुए कहते हैं कि जैसे

सूखी भूमि पर मछली नहीं चल सकती। मछली जल के आधार से चलती है। वैसे कवि लोग विषय (वारि) सम्बन्धी गुणों को ही वैषयिक उपमाओं के द्वारा कह पाते हैं, पर श्रीभरतजी के दिव्य गुण विषय से नीरस हैं, इससे कवियों के लिये अगम्य हैं। 'बरबरनी' शब्द यहाँ श्रीसुनयनाजी के प्रति और—"दुहुँ सँकोच सकुचति बरबरनी।" (दो० ११६), में श्रीसीताजी के लिये कहा गया है, वहाँ ही इसके भाव देखिये।

दोनों जगह इशारे से गुह्य अभिप्राय लक्ष्य कराने के प्रसंग में यह विशेषण आया है, यहाँ पति का परिचय सकुचते हुए लखाया गया है और यहाँ श्रीकौसल्याजी का अभिप्राय अपनी तरफ से लक्ष्य कराया गया है। दोनों जगह सफलता मिली है, इससे श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली भी 'बरबरनी' का अर्थ हो सकता है।

(२) 'जानहिं राम न सकहिं बखानी।'—श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं, इससे श्रीभरतजी की महिमा भी जानते ही हैं, यथा—"तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके।" (दो० २६३)। पर महिमा अमित होने के कारण उसे नहीं कह सकते। यहाँ महिमा को अमित कहना अभीष्ट है। जब श्रीरामजी ही नहीं कह सकते, तब इनसे अधिक समर्थ तो कोई है ही नहीं।

(३) 'तिय जिय की रुचि···'—भरत-गति कहकर रानी ने अपनी रुचि भी संकेत से जनाई। श्री कौसल्याजी के कथनानुसार अपनी ही ओर से कहा और उसीपर राजा अपना मत प्रकट करते हैं, यही श्रीकौसल्याजी ने कहा था—"अपनी भाँति कहब सकुचाई॥ रखियहिं लखन भरत गवनहि बन। जौ यह मत मानइ महीप मन॥" (दो० २८३), पहले उस रुचि को स्पष्ट करके फिर उसे सर्वमत से समर्थन करते हैं—बहुरहिं···'।

देवि परंतु भरत - रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥५॥
भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि राम सीम समता की॥६॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥७॥
साधन सिद्धि राम-पग - नेहू। मोहि लखि परत भरत-मत येहू॥८॥

दोहा—भोरेहु भरत न पेलिहहिं, मनसहु राम-रजाइ।
करिय न सोच सनेहबस, कहेउ भूप बिलखाइ॥२८९॥

अर्थ—परन्तु, हे देवि! श्रीभरतजी और श्रीरघुनाथजी की (परस्पर) प्रीति और प्रतीति तर्कद्वारा अनुमान नहीं की जा सकती॥५॥ यद्यपि श्रीरामजी समता की सीमा हैं, तथापि श्रीभरतजी (भी) स्नेह तथा ममता की सीमा हैं॥६॥ सारे परमार्थ, स्वार्थ और सुखों की ओर श्रीभरतजी ने (जाग्रत की एवं कर्म-वचन की कौन कहे?) स्वप्न में भी मन से नहीं देखा॥७॥ श्रीरामजी के चरणों का स्नेह ही साधन है और यही सिद्धि है (बस) यही श्रीभरतजी का सिद्धान्त मुझे जान पड़ता है॥८॥ राजा ने बिलखकर (प्रेमार्द्र होकर) कहा कि श्रीभरतजी भूलकर भी श्रीरामजी की आज्ञा को मन से भी नहीं टालेंगे (कर्म-वचन से टालने की कौन बात?)। आप (श्रीभरतजी के) स्नेहवश होकर शोच न करें॥२८९॥

विशेष—(१) 'देवि परंतु···'—जो सब कोई चाह रहे हैं कि श्रीभरतजी वन को श्रीरामजी के साथ जायँ और श्रीलक्ष्मणजी घर लौटें। यह बात तो तब छेड़ी जाय कि जब इनके आपस की प्रीति-प्रतीति की थाह मिले। प्रीति—श्रीभरतजी के सब चरित ही श्रीराम-प्रीति में रँगे हुए हैं और श्रीरामजी की प्रीति श्रीभरतजी में भी पूर्ण है, यथा—"तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे।" (दो० १६८), "राम तुम्हहिं

प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं।" (दो० २००), "सुनहु भरत रघुबर-मन माहीं। प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥' (दो० २०७), इत्यादि। प्रतीति—"आपन जानि न त्यागि हैं, मोहिं रघुबीर भरोस॥" (दो० १८३), "भरत कहे महँ साधु सयाने।" (दो० २२६), "तात भरत···मोहिं सब भाँति भरोस तुम्हारा।" (दो० ३०४), इत्यादि। भाव यह कि प्रीति के कारण श्रीरामजी श्रीभरतजी का रुख रखकर आज्ञा देंगे, तब श्रीभरतजी उसे हर्ष से मानकर करेंगे। यह श्रीरामजी को विश्वास है और श्रीभरतजी श्रीरामजी में प्रीति के कारण उनका रुख रक्खेंगे। श्रीरामजी की आज्ञा में ही मेरा कल्याण है, इसमें श्रीभरतजी को पूर्ण विश्वास है, तब उपर्युक्त हेर-फेर की आवश्यकता ही न आवेगी। इसीकी पुष्टि में कहते हैं—

(२) 'भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि·····'—यद्यपि श्रीरामजी समता की सीमा हैं, यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥" (गीता ९।२९), प्रभु की समता का भाव यह है कि जो जिस प्रकार उनके सम्मुख होता है, उसे वे उसी भाव से प्राप्त होते हैं, अर्थात् उसीके भाव के अनुसार उससे बरतते हैं, कहा भी है—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों, ज्यों दर्पन मुख काँति।" (वि० २३३), तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥" (गीता ४।११), इस नियम से जब श्रीभरतजी स्नेह और ममता की सीमा होकर सम्मुख आये हैं, तब तो श्रीरामजी भी श्रीभरतजी के प्रति स्नेह और ममता की सीमा-रूप से ही बरतेंगे, तब श्रीभरतजी को दुःख क्योंकर रहेगा।

(३) 'परमारथ स्वारथ सुख सारे·····'—'परमार्थ', यथा—"नाहिंन डर बिगरिहि परलोकू।" 'स्वार्थ'—"नहिं दुख जिय जग जानिहि पोचू।" (दो० २१०), तथा—"अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।" (दो० २०४)।

(४) 'साधन सिद्धि राम-पग-नेहू।···'—कर्म और ज्ञान में साधन दूसरा रहता है और फल दूसरा होता है, पर यहाँ श्रीभरतजी में साधन और फल दोनों एक ही हैं। भक्त लोग भक्ति करके फिर भक्ति ही चाहते हैं, यथा—"परहु नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ॥" (दोहावली ९२)। "जनम-जनम रति राम-पद, यह बरदान न आन।" (दो० २०४), 'मोहि लखि परत भरत-मत येहू।'—भाव यह कि पूरा जानना तो दुर्गम ही है, हाँ, ऐसा कुछ जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि भजन से दूसरा फल चाहने में भगवान् और उनकी सेवा की अपेक्षा फल ही श्रेष्ठ और प्राप्य हो जाता है, इससे भक्ति और भगवान् की लघुता होती है। हाँ, यह अवश्य है कि भक्त अन्त में भगवान् को प्राप्त होते हैं और भगवान् को पाकर फिर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, यथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६), "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गीता ९।३१), यही सर्व श्रेष्ठ मुक्ति है। अतः, भक्त लोग अपना भाव क्यों बिगाड़ें? इससे वे कुछ कामना नहीं रखते।

(५) 'भोरेहु भरत न पेलिहहिं·····'—भाव यह कि श्रीभरतजी वही प्रसन्न होकर करेंगे, जो श्रीरामजी की आज्ञा होगी, अपनी ओर से कोई पृथक् रुचि न करेंगे, यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई।" (दो० १८५), आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००), उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८), इत्यादि उन्हीं के वचनों से सिद्ध है। 'करिय न सोच ···'—श्रीकौसल्याजी ने कहा था—"मोरे सोच भरत कर भारी।" (दो० २८३), उसीको अपनी ओर से यहाँ श्रीसुनयनाजी ने प्रकट किया था, उसीपर राजा कहते हैं कि जब श्रीभरतजी श्रीरामजी की आज्ञा को प्रसन्न हो न मान सकते और प्राण त्याग करने पर उद्यत होते तब शोच की बात थी, किन्तु वह बात नहीं है।

(६) 'कहेउ भूप बिलखाइ'—अभी श्रीजानकीजी के वात्सल्य में इनका चित्त करुणार्द्र हो चुका

था, उनके जाते ही रानी ने श्रीभरतजी का प्रसंग छेड़ दिया। उसपर श्रीभरतजी की परिस्थिति की आलोचना करते हुए श्रीभरतजी के भविष्य पर चित्त गया कि श्रीरामजी अवश्य वन को जायँगे और श्रीभरतजी विरह-पीर सहते हुए श्रीअवध का सेवन करेंगे, यथा—"सीता-रघुनाथ-लखन बिरह पीर सहनि।" (गी० अ० ८१)। "देह दिनहि दिन दूबरि होई।..." (दो० ३२४), इत्यादि। सोचते हुए उनकी ब्रह्म विवेकिनी बुद्धि पर श्रीभरत-स्नेह का पूरा प्रभाव पड़ा। वे वात्सल्य-दृष्टि से विह्वल हो गये और गद्गद स्वर से कहा कि रानी! शोच न करो।

राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक-सम बीती ॥१॥
राज-समाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे ॥२॥
गे नहाइ गुरु पहि रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई ॥३॥
नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक-बिकल बनबास दुखारी ॥४॥
सहितसमाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू ॥५॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सब ही कर रउरे हाथा ॥६॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ ॥७॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक-सरिस दुहुँ राज-समाजा ॥८॥

दोहा—प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिन्हहिं तिन्हहिं बिधि बाम ॥२९०॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीभरतजी के गुणों को प्रीति-पूर्वक कहते एवं विचारते हुए दम्पति (राजा-रानी) को रात पलक के समान बीत गई ॥१॥ प्रातःकाल दोनों (अवध-मिथिला के) राज-समाज जगे और नहा-नहाकर (अपने-अपने इष्ट-) देवताओं की पूजा करने लगे ॥२॥ स्नान करके श्रीरघुनाथजी गुरु श्रीवसिष्ठजी के पास गये और उनके चरणों में प्रणाम करके रुख पाकर बोले ॥३॥ हे नाथ! श्रीभरतजी, श्रीअवधपुरवासी और माताएँ सब शोक से व्याकुल हैं और फिर वनवास से दुखी हैं ॥४॥ तथा समाज के साथ श्री मिथिलाजी के स्वामी राजा जनकजी बहुत दिन से क्लेश सहते हैं ॥५॥ हे नाथ! जो उचित हो, वही कीजिये, सभीका हित आपके हाथों में है ॥६॥ श्रीरघुनाथजी ऐसा कहकर अत्यन्त सकुच गये, उनका यह शील-स्वभाव देखकर मुनि पुलकित हो गये ॥७॥ (और बोले) हे रामजी! तुम्हारे बिना सम्पूर्ण सुख की सामग्रियाँ दोनों राज-समाजों के लिये नरक के समान हैं ॥८॥ हे श्रीरामजी! तुम प्राणों के प्राण, जीवों के जीव और सुखों के भी सुख हो, हे तात! तुमको छोड़कर जिनको घर सुहाता है, उन्हें विधाता बाम हैं (ऐसा जानो) ॥२९०॥

विशेष—(१) 'राम-भरत-गुन...'—यदि प्रीति पूर्वक भगवत्-भागवत-गुणगान हो, तो समय नहीं जान पड़ता। सुख के दिन पल के समान बीत जाते हैं, यथा—"सुख समेत संवत दुइ साता। पलसम होहिं न जनियहि जाता ॥" (दो० २७९), 'दंपतिहिं'—रात में दम्पती एक-साथ भी रहें और प्रीति-पूर्वक भगवत्-भागवत यश कहें, तो कामादि वासनाएँ दूर हो जायँ, यह उपदेश भी है। इसलिये 'दंपति' यह सामान्य पद दिया गया है।

श्रीसुनयनाजी और श्रीजानकीजी का संवाद समाप्त हुआ। इसका उपक्रम—"कही समय सिर भरत गति।..." से हुआ और यहाँ—"राम-भरत-गुन गनत " पर उपसंहार है।

(२) 'न्हाइ न्हाइ सुर···'—यह इनका नित्य-नियम पूर्व दो० २७२ में विस्तार से कहा गया। यहाँ उसीको सूदम में कहा है। 'बोले रुख पाई'—प्रातकृत्य करके सवेरे ही आये। इससे मुनि समझ गये कि कुछ कहना है। इससे तुरत उन्होंने पूछा।

(३) 'नाथ भरत पुरजन···'—शोक राजा की मृत्यु का है और वन में रहने से दुःख है, भाव यह कि मुझे तो वन में रहना ही है, इससे दुःख नहीं है। करुणामय स्वभाव होने से आप पराये दुःख में दुखी हो जाते हैं, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (दो० ८८), समाज-समेत दुःख सहते राजा को भी बहुत दिन हो गये। भाव यह कि हमें तो लौटना नहीं है, फिर व्यर्थ आपलोग क्यों कष्ट झेल रहे हैं ? 'उचित होइ सोइ·····'—श्रीभरतजी राज्य की रक्षा करें, माताएँ महलों में रहें, पुरजन, प्रजा अपने-अपने घरों में रहें। राजा पिता के समान हैं, अतएव उनको मैं नहीं कह सकता कि आप लौटें। आप ही के कहने से सबके कष्ट दूर होंगे, इस रीति से सबका हित आप ही के द्वारा होगा।

(४) 'अस कहि अति सकुचे···'—संकोच यह कि यह कहना भी बड़ों के प्रति आज्ञा देने के समान है और इसमें अपना हठ गर्भित है कि हम कभी अपना व्रत न छोड़ेंगे। पहले भी ऐसे संकोच सहित कहा था, यथा—"बहुत कहेउ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाँई॥" (दो० २४७)। अति संकोच इससे भी अधिक है कि पहले श्रीरामजी ने कहा था—"नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥ सब कर हित रुख राउरि राखे।···" (दो० २५७), उसपर मुनि ने अपनी परवशता कही थी। वैसी ही बात फिर मुनि से कहना पड़ रहा है। अतः, दोबारा जानकर भी गुरुजी को संकोच देने का अति संकोच हुआ, तथा जिनके आने से भाग्य मानना चाहिये उन्हें बार-बार यहाँ से जाने को कहना पड़ रहा है, इसका परिस्थितिवश अति संकोच है। 'लखि सील सुभाऊ'—शील यह कि श्रीभरतजी आदि स्नेहियों के लिये परोक्ष में भी न कहा कि जायँ, किन्तु कष्ट सहते हैं, यही कहा और यह कि हम मारे स्नेह के वियोग का दुःखद शब्द नहीं कह सकते, यथा—"सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥" (दो० ८४), आपके कहने से किसीको भी दुःख न होगा। मेरा इतना संकोच मानते हैं, इस शील पर भी पुलक है।

(५) 'तुम्ह बिनु राम सकल···'—यह—'बनबास दुखारी' और 'सहत कलेसू' का उत्तर है। 'नरक सरिस' अर्थात् अत्यन्त दुःख रूप, क्योंकि नरक में बड़ा दुःख होता है।

(६) 'प्रान प्रान के जीव के···', यथा—"पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥" (दो० ५५), "राम प्रान-प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥" (दो० ७३), "आनँदहू के आनँददाता।" (बा० दो० २१६), इन प्रसंगों को देखिये। "बिपय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥" (बा० दो० ११६), अर्थात् आप सभी के प्रकाशक हैं। 'तुम्ह तजि तात सुहात गृह···' इसकी प्रतिद्वन्द्वी (जोड़ की) अर्द्धाली भी है, यथा—"दाहिन दैव होइ जब सबहीं। राम समीप बसिय बन तबहीं॥" (दो० २७९)।

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद - पंकज भाऊ॥१॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम-प्रेम परधानू॥२॥
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही॥३॥
राउर आयसु सिर सबही के। बिदित कृपालहिं गति सब नीके॥४॥
आप आश्रमहिं धारिय पाऊ। भयउ सनेह-सिथिल मुनिराऊ॥५॥

अर्थ—वह सुख, कर्म और धर्म जल जाय (अर्थात् व्यर्थ है), जिसमें श्रीरामजी के चरण कमल में प्रीत्यात्मक भाव नहीं है ॥१॥ जिसमें श्रीराम-प्रेम प्रधान न हो वह योग कुयोग है और ज्ञान अज्ञान है ॥२॥ सब लोग तुम्हारे बिना दुखी और तुमसे ही सुखी हैं। जिसके जी में जो (भाव) है, उसे तुम जानते हो ॥३॥ आपकी आज्ञा सभी के सिर पर है (सभीको मान्य है), हे कृपालु ! आपको सबकी सब गति (दशा) अच्छी तरह मालूम है ॥४॥ आप आश्रम को पधारें (यह कहकर) मुनिराज श्रीवसिष्ठजी स्नेह से शिथिल हो गये (इससे कुछ नहीं बोल सके) ॥५॥

विशेष—(१) 'सो सुख करम धरम···', यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहि थोरे। राम-प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हलोरे ॥" (वि० १९४)। 'भजन हीन सुख कवने काजा।" (उ० दो० ८३), "जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु-पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करै न सहस सहाइ ॥" (दो० १८५), यहाँ 'सो सुख करम धरम···'—इस अर्द्धाली में उपासना बिना कर्मकाण्ड की व्यर्थता कही है और 'जोग कुजोग···' इस चरण में ज्ञानकाण्ड (रूक्ष ज्ञान) की व्यर्थता कही गई है। "सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू" (दो० २७६)—देखिये, इत्यादि। 'तुम्ह बिनु दुखी·····'—लोग तुम्हारे बिना दुखी थे। यहाँ तुम्हीं से सुखी भी हैं। 'तुम्ह जानहु···'—अर्थात हम बनाकर नहीं कहते हैं यथा—"सीताराम संग बनबासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू ॥" (दो० २७९)—यह प्रमाण है। यह सब आप जानते ही हैं। यहाँ 'तिरस्कार-अलंकार' है।

(२) 'राउर आयसु सिर···'—तुम्हीं से सुखी हैं। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि लोग नहीं लौटेंगे, इसलिये कहते हैं कि आपकी आज्ञा सबके लिये शिरोधार्य है। अतः, साथ रहने को हठ न करेंगे। 'गति सब', यथा—"तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस···" (उपर्युक्त), आप कृपालु हैं। अतः, उनके कष्ट पर चित्त दें। श्रीरामजी ने कहा था—"हित सबही कर रौरे हाथा।" उसके उत्तर में कहते हैं कि आपकी आज्ञा पर ही सबका हित निर्भर है।

(३) 'आप आश्रमहि धारिय पाऊ।'—इतना ही कह पाया—'मैं उपाय करता हूँ' —यह न कह पाया कि प्रभु के उपर्युक्त शील-स्वभाव के प्रति स्नेह उमड़ पड़ा, वाणी रुक गई। यही शील-स्वभाव इनके चित्त में बस गया। इसीसे आगे श्रीजनकजी के यहाँ भी—'सील सनेह सुभाय सुहाये' कहा है। इस संवाद के उपक्रम में—'मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ।' कहा गया है और यहाँ—'भयउ सनेह सिथिल मुनि राऊ।' पर इसका उपसंहार है।

करि प्रनाम तब राम सिधाये। रिषि धरि धीर जनक पहिं आये ॥६॥
राम-बचन गुरु नृपहिं सुनाये। सील सनेह सुभाय सुहाये ॥७॥
महाराज अब कीजिय सोई। सब कर धरमसहित हित होई ॥८॥

दोहा—ज्ञान-निधान सुजान सुचि, धरमधीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमंजस-समन, को समरथ येहि काल ॥२९१॥

अर्थ—श्रीरामजी प्रणाम करके वहाँ से चल दिये, धैर्य धरकर ऋषि वसिष्ठजी श्रीजनकजी के पास आये ॥६॥ गुरुजी ने श्रीरामजी के शील और स्नेह-युक्त तथा स्वाभाविक सुन्दर वचन राजा को सुनाये ॥७॥ (और बोले कि) महाराज ! अब वही कीजिये, जिसमें सबका धर्म के साथ भला हो ॥८॥ हे राजन ! आप ऐसे ज्ञान के खजाने, सुजान, पवित्र धर्मवाले, धैर्यवान् और मनुष्यों के पालनेवाले के अतिरिक्त इस समय दुविधा मिटाने को और कौन समर्थ है ? ॥२९१॥

विशेष—(१) 'बंदि चरन बोले···' उपक्रम है और यहाँ 'करि प्रनाम तब···' यह उपसंहार है। बीच में सब व्यवस्था हुई। 'रिपि धरि धीर···'—शिथिल हो गये थे, इससे धैर्य धरना कहा गया। 'सील सनेह सुभाय सुहाये'—श्रीरामजी के शील आदि गुण बिना प्रकट किये गुरुजी से न रहा गया, जैसे श्रीसुमन्त्रजी ने श्रीरामजी के रोकने पर भी उनका शील-स्वभाव राजा श्रीदशरथजी से कहा ही है, दो० १५१ चौ० ७ देखिये। 'धरमसहित हित'—जैसे कि श्रीरामजी और श्रीभरतजी पिता की आज्ञा पालें, शेष सब श्रीरामजी की आज्ञा मानें। इसमें हित है वा और जिस भाँति से हो। अब इस कार्य के योग्य गुण राजा में होना कहते हैं—

(२) 'ज्ञान-निधान सुजान···'—सबके धर्म-सहित हित के विधान के लिये ज्ञान आदि चाहिये, ये सब गुण आपमें पूर्ण हैं। आप ज्ञान एवं शास्त्र-विधि के द्वारा सब धर्म की विधि देखेंगे। सुजानता से नीति और शुचि धर्मवाले स्वभाव से पवित्र भागवत-धर्म को भी जानेंगे। धीरता से आपके विचार उत्तम होंगे, मैं तो स्नेह से शिथिल हो गया हूँ। आपकी धर्म-धीरता धनुर्भंग-प्रतिज्ञा के समय से ही सब जानते हैं। आप नर-पाल हैं। अतः, प्रजा के दुःख-निवारण का उपाय करें। स्वार्थ साधन भी अच्छी प्रकार 'नर पाल' (राजा) ही जानते हैं, यथा—"लोक वृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः। तस्माद्राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि॥" (महा० सभा० ५५।६), अर्थात् बृहस्पति ने कहा है कि लौकिक व्यवहार से राजव्यवहार अलग है। राजा को सावधानी से सदा ही स्वार्थ की चिन्ता में रत रहना चाहिये।

(३) 'तुम्ह बिनु···'—मैंने भी कुछ प्रयास किया था, यथा—"तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। ···" इसे श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के प्रति अपनी ओर से कहा भी, पर उन्होंने इसे प्रमाणित नहीं किया। अतएव अब आप ही सोचिये कि जिससे सबका धर्म रहे और हित हो। श्रीरामजी ने गुरुजी पर और गुरुजी ने राजा पर भार रक्खा। आगे राजा भी कुल भार भरतजी पर रक्खेंगे, यथा—"राम सत्यब्रत धरम रत···"।

सुनि मुनि-बचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे॥१॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥२॥
रामहि राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आप प्रिय प्रेम प्रमाना॥३॥
हम अब बन ते बनहिं पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥४॥
तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेखी॥५॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीजनकजी (सम्बन्धियों के) अनुराग में लीन हो गये, उनकी वह दशा देखकर उनके ज्ञान और वैराग्य को भी वैराग्य हो गया, (अर्थात् उनकी ज्ञान और वैराग्य की वृत्ति न रह गई) ॥१॥ वे स्नेह में शिथिल हैं और मन में विचारते हैं कि हम जो यहाँ आये, यह अच्छा नहीं किया ॥२॥ राजा दशरथजी ने श्रीरामजी को वन जाने को कहा और स्वयं अपने प्यारे के प्रेम को सत्य किया ॥३॥ हम अब (उन्हीं श्रीरामजी को) वन से भी वन को भेजकर अपने ज्ञान की बड़ाई लेकर बड़े आनन्द-पूर्वक लौटूँगा। (अर्थात् मन के रूखे-ज्ञान का घमंड लेकर लौटूँगा कि मुझ-सा ज्ञानी नहीं है, मुझमें ममता का लेश भी नहीं है) ॥४॥ तपस्वी, मुनि और ब्राह्मण सुन और देखकर प्रेमवश होकर विशेष व्याकुल हुए ॥५॥

विशेष—(१) 'लखि गति ज्ञान···'—अर्थात् जामातृ-भाव का प्रेम ही रह गया, किन्तु ब्रह्म में होने से वह कवि के द्वारा अनुराग ही कहा गया। श्रीजनकजी को जब-जब श्रीसीतारामजी के स्नेह का संयोग होता है, तब-तब वे अनुराग का ही स्वागत करते हैं। कई बार से अपनी उपेक्षा देख इस बार

ज्ञान-वैराग्य ने ही इनसे वैराग्य कर लिया, अर्थात् वे स्वतः हट गये, क्योंकि "जाहि राम पद गूढ़ सनेहू' (बा० दो० १६)—यह उन्हें प्रकट हो गया। 'प्रमुदित फिरब···'—अपने ज्ञान की रुक्षता को धिक्कार देते हैं कि लोग यही कहेंगे कि ये श्रीरामजी को वन भेजने और विवेकी होने की प्रशंसा कराने ही को यहाँ आये हैं। इन्हें भला स्नेह वा ग्लानि क्यों हो, ये विदेह हैं न? यथा—"कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू।" (बा० दो० ३३४), "जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति ऐसिओ मूरबि देखे रह्यो पहिलो बिचारु।·····" (गी० बा० ८०)। 'हम अब बन ते·····'—इससे इनका मत भी यही जान पड़ता है कि श्रीरामजी नहीं लौटेंगे, किन्तु पिता की आज्ञा पूरी करेंगे। राजा दशरथ ने वन भेजकर प्रेम का प्रण रक्खा, शरीर छोड़ दिया। अतः, उनके प्रेम की बड़ाई होती है। हम यहाँ से वन की आज्ञा दे प्रमुदित लौटेंगे (क्योंकि शरीर छूटेगा नहीं) तो यह बड़ाई होगी कि विदेह बड़े ज्ञानी हैं, इत्यादि व्यंग्य सहने पड़ेंगे।

(२) 'तापस मुनि महिसुर सुनि देखी।···'—अभी 'गुनत मन माहीं' का प्रसंग चला आ रहा है, तो 'सुनि' का अर्थ क्या होगा? उत्तर यह है कि पहले मन में गुना (विचारा) फिर विह्वलता में वे शब्द—"आये इहाँ कीन्ह···" से "बिबेक बड़ाई॥" तक मुख से भी निकल आये जिससे तापस आदि ने इनकी प्रेम-दशा देखी और वचन भी सुने, अथवा मुनि के वचन सुन और विदेह की दशा देख···।

'भये प्रेमबस बिकल बिसेखी।'—यह समझकर विशेष व्याकुल हुए कि ऐसे बड़े ज्ञानी भी प्रेम-दशा के लिये तरस रहे हैं और जीवन को धिक्कार रहे हैं, इसीपर प्रेमवश हुए।

श्रीजनक-भरत-गोष्ठी

समय समुझि धरि धीरज राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा॥६॥
भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसर-सरिस सुआसन दीन्हे॥७॥
तात भरत कह तिरहुतिराऊ। तुम्हहिं बिदित रघुबीर-सुभाऊ॥८॥

दोहा—राम सत्यब्रत धरमरत, सब कर सील सनेहु।
संकट सहत सकोचबस, कहिय जो आयसु देहु॥२९२॥

शब्दार्थ—आगे भइ लीन्हे = आगे होकर (बढ़कर) लिया, अगवानी की। स्वागत किया, यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई।···" (दो० ९७), आयसु (आदेश) = आज्ञा, अनुमति।

अर्थ—समय का विचार करके राजा श्रीजनकजी धैर्य धरकर समाज के साथ श्रीभरतजी के पास चले॥६॥ श्रीभरतजी ने आगे बढ़कर उनको लिया (अर्थात् स्वागत किया) और समय के अनुसार उनको अच्छा आसन दिया॥७॥ तिरहुत-राज श्रीजनकजी कहते हैं कि हे तात श्रीभरतजी! तुमको रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव विदित है॥८॥ श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और धर्मपरायण हैं, (उनके हृदय में) सबका शील और स्नेह है, इससे वे संकोचवश संकट सहते हैं, तुम जो 'आयसु' दो, वह उनसे कहा जाय॥२९२॥

विशेष—(१) 'समय समुझि धरि'—शोक का समय है, धैर्य चाहिये, श्रीभरतजी के ही पास चलें, वे ही पिता की आज्ञा मानें, तो अवरेब मिटे। बहुत समय यहाँ रहना भी ठीक नहीं, इत्यादि।

(२) 'तुम्हहिं बिदित रघुबीर सुभाऊ।', यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।" (दो० २५९), श्रीरामजी के स्वभाव की व्यवस्था—'संकट सहत सकोच बस···' से कहते हैं कि वे संकोच के कारण न तो यह कह सकें कि जाओ और न दूसरों का क्लेश ही देख सकें, यथा—"सानुज भरत सचिव सब

माता।…" कह चुके हैं। वे 'बिसेष उदासी' व्रत लिये हुए हैं, हमसबों के साथ रहने में उस व्रत का भी संकोच है। यदि कह दें कि आपलोग जायँ, हमलोग न लौटेंगे, तो शील-स्नेह में त्रुटि आती है, इस दुविधा में संकट सहते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि संकट तुम्हीं से मिटेगा, उन्हें एकान्त-वास करने दो और समाज लेकर लौट चला जाय। 'आयसु' शब्द का मुख्यार्थ आदेश के अनुसार आज्ञा ही है, पर इसे अनुमति में भी कहा जाता है, यही यहाँ अभीष्ट है, पर जान पड़ता है कि भरत-महिमा पर दृष्टि रखते हुए राजा ने यह सम्मानार्थक श्लिष्ट शब्द कहा है।

सुनि तनु पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरत धीर धरि भारी ॥१॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता-सम आपू। कुल-गुरु-सम हित माय न बापू ॥२॥
कौसिकादि मुनि सचिव-समाजू। ज्ञान-अंबु-निधि आपुन आजू ॥३॥
सिसु सेवक-आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइय स्वामी ॥४॥
येहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर ॥५॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता ॥६॥

शब्दार्थ—मौन = चुप रहना।

अर्थ—यह सुनकर श्रीभरतजी शरीर से पुलकित हो और नेत्रों में जल भरे हुए भारी धैर्य धरकर बोले ॥१॥ हे प्रभो! आप समर्थ हैं और पिताजी के समान प्रिय तथा पूज्य हैं, कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी के समान हितैषी तो माँ-बाप भी नहीं हैं ॥२॥ श्रीविश्वामित्र आदि मुनियों और मन्त्रियों का यह समाज है, उसमें भी आज ज्ञान के सागर आप भी उपस्थित हैं ॥३॥ अपना बालक, सेवक और आज्ञा के अनुसार चलनेवाला जानकर, हे स्वामी! मुझे शिक्षा दीजिये ॥४॥ (कहाँ तो) इस (पूज्य गुरुओं और ज्ञानियों के) समाज और (चित्रकूट पुण्य) स्थल में और फिर आपका मुझसे पूछना और (कहाँ) मैं मौन, मलिन और फिर मेरा बावलों का-सा बोलना? ॥५॥ मैं छोटे मुँह से बड़ी बात कहता हूँ, हे तात! विधाता को (मुझपर) प्रतिकूल जानकर क्षमा कीजियेगा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि तनु पुलकि नयन भरि बारी।'—श्रीजनकजी के वचनों का स्पष्ट भाव जान पड़ा कि श्रीरामजी सत्य-सन्ध और धर्म-धुरन्धर हैं। अतः, उन्हें संकोच में डालना उचित नहीं और वे तुम्हारे ही स्नेहवश संकोच से कष्ट सह रहे हैं। इससे अपने ऊपर प्रभु का स्नेह समझ कर श्रीभरतजी के हृदय में प्रेम उमड़ आया और वचनों में भावी-वियोग की स्थिति भी समझ पड़ी, इसीसे वे अधिक शिथिल हो गये, अतएव बोलने के लिये भारी धैर्य धरना पड़ा। 'तनु पुलकि'—तन, 'बोले बचन'—वचन और 'धीर धरि भारी'—में वचन की दशा प्रकट है। वियोग सम्भावना पर यह प्रेम की दशा है।

पहले दरबार में भी अपने ऊपर प्रभु की कृपा देखकर स्नेह से विह्वल हो गये थे, यथा—"पुलक सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥" (दो० २५९)।

(२) 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता…'—श्रीजनकजी यहाँ प्रधान हैं, उन्होंने प्रश्न भी किया है। इससे उन्हींसे कहते हैं कि आप समर्थ हैं, पिता के समान प्रिय और पूज्य हैं, साथ ही कुल-गुरु भी हैं, इससे दोनों के प्रति कहते हैं कि भला मैं माता-पिता और गुरु के समक्ष कैसे आज्ञा एवं अनुमति दे सकता हूँ? यह 'कहिये जो आयसु देहु' का उत्तर है। 'कुल-गुरु-सम हित माय न बापू', यथा—"भानुबंस भये भूप… जनम हेतु सब कहँ पितु-माता।…दलि दुखसजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥" (दो० २५४)। 'ज्ञान-अंबु-निधि आपुन आजू'—पहले नाते के अनुसार बड़ाई की थी, यहाँ उनके ज्ञान गुण की बड़ाई की है।

(३) 'कौसिकादि मुनि सचिव-समाजू ।···'—श्रीविश्वामित्रजी पूर्वावस्था में राजा भी थे और फिर तपोबल से ब्रह्मर्षि भी हो गये और दूसरे ब्रह्मा हैं। इससे उन्हें आदि में कहा। पुनः आप उपस्थित हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं। 'आजू'—हमारे भाग्य से आज असमंजस मिटाने को आ गये हैं। भाव यह कि पूर्व समाज में आप और श्रीकौशिकजी न थे। 'सिसु सेवक-आयसु···'—आप अपना 'बच्चा' जानकर, गुरु एवं श्रीकौशिक आदि 'सेवक' जानकर और सचिव-समाज 'आज्ञाकारी' मानकर मुझे शिक्षा दें। वा मैं आपलोगों का शिशु (अबोध बालक) हूँ, अतएव असमर्थ हूँ। सेवक हूँ। अतः, आज्ञा देकर सेवा कहिये, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा" (दो० ३००), 'आयसु अनुगामी' हूँ जैसी आज्ञा देंगे, अवश्य करूँगा, अर्थात् मैं शिक्षा का और आज्ञा पाने का ही अधिकारी हूँ, आज्ञा देने का नहीं।

(४) 'येहि समाज थल बूझब ···'—क्रमालंकार से यों भी अर्थ होगा कि कहाँ यह ज्ञानियों, वृद्धों एवं गुरुजनों का समाज और कहाँ मैं ! जिसे ऐसे समाज में मौन ही रहना उचित है। कहाँ चित्रकूट ऐसा पवित्र स्थल और कहाँ मैं मलिन (पापी) और कहाँ आप-जैसे ज्ञानाम्बुनिधि का पूछना और कहाँ उत्तर में मेरी बावली बातें। महान् अन्तर है। 'समाज' के जोड़ में 'बालक', 'स्थल' के जोड़ में 'मलिन' और 'बूझब राउर' के जोड़ में 'बोलब बाउर'—यह अयोग्यता दिखाई।

(५) 'छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता।'—'छोटे मुँह और बड़ी बात' यह मुहावरा है, अर्थात् योग्यता से अधिक कहना, बड़ों के सामने बोलने का साहस करना, इस धृष्टता को क्षमा कीजियेगा, क्योंकि 'बाम बिधाता' अर्थात् मेरा भाग्य फूटा है। अतः, मैं दया का पात्र हूँ।

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा-धरम कठिन जग जाना ॥७॥
स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू ॥८॥

दोहा—राखि राम रुख धरमब्रत, पराधीन मोहि जानि।
सबके संमत सर्बहित, करिय प्रेम पहिचानि ॥२९३॥

अर्थ—वेदों, शास्त्रों और पुराणों में प्रसिद्ध है और सारा संसार जानता है कि सेवा-धर्म कठिन है ॥७॥ स्वामि-धर्म और स्वार्थ में परस्पर विरोध है, इन दोनों में अन्ध वैर है, इनमें (परस्पर) प्रेम का ज्ञान हो ही नहीं सकता, अर्थात् स्वामि-धर्म की स्थिति में स्वार्थ न रहेगा और स्वार्थ की स्थिति में स्वामि-धर्म का निर्वाह नहीं ॥८॥ श्रीरामजी के रुख, धर्म और व्रत रखते हुए, मुझको पराधीन जानकर, सबके प्रेम को पहचान कर और सबकी सम्मति से जो सबके लिये हितकारी हो, वही करिये ॥२९३॥

विशेष—(१) 'सेवा-धरम कठिन ···', यथा—"सब ते सेवक धरम कठोरा।" (दो० २०२), "हर गिरि ते गुरु सेवक धरमू।" (दो० २५२)। 'स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू।'—उपर्युक्त सेवाधर्म ही स्वामि-धर्म है, उसका निर्णय करते हैं—स्वामि-धर्म वासना-रहित है और स्वार्थ वासना सहित है। अतः, परस्पर विरोध है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (दो० ३००), इन दोनों में एक ही एक पात्र (अधिकारी) में रहता है, मैं स्वामि-धर्म ही चाहता हूँ, स्वार्थ नहीं, अतएव—

(२) 'राखि राम रुख धरम···'—श्रीभरतजी ने पहले भी कहा है—"अब कृपाल मोहिं सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥" (दो० २६८), वैसे ही यहाँ भी कहते हैं—'राखि राम रुख ···'। श्रीजनकजी ने जो-जो कहे थे, उनके उत्तर यहाँ सब आ गये हैं—'कहिय जो आयसु देहु' इसका उत्तर है—'पराधीन मोहि जानि' अर्थात् परतन्त्र तो आज्ञा सुनकर तदनुसार करता है, अतएव मैं कुछ नहीं कह सकता। श्रीरामजी सत्यव्रत हैं, तो उनका 'व्रत' न टूटे, वे धर्मरत हैं, तो 'धर्म' (पिता की आज्ञा

का पालनरूप धर्म) भी रहे। वे 'सब कर सील सनेह' रखना चाहते हैं, वह बना रहे। अतः, सबका प्रेम पहचानकर सबकी सम्मति जो हो, वह किया जाय। और फिर—'संकट सहत सँकोच बस' पर कहते हैं—'राखि राम रुख' अर्थात् जैसा उनका रुख हो, वैसा ही किया जाय।

(३) 'सर्वहित, करिय'—इसमें अपना और परिजन, प्रजा, सबका हित भी आ गया। यही तो गुरुजी ने भी कहा है, यथा—"पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥" (दो० २५०), गुरुजी ने यह भी कहा था—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" (दो० २५४), इसीसे यहाँ श्री भरतजी ने 'रुख' को प्रथम कहा और उसीके अनुकूल अपनी पराधीनता कही।

भरत-बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहितसमाज सराहत राऊ॥१॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥२॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥३॥
भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध - कुमुद-द्विजराजू॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर और उनका स्वभाव देखकर समाज के साथ राजा श्रीजनकजी उनकी बड़ाई कर रहे हैं॥१॥ श्रीभरतजी के वचन सुगम हैं और अगम भी, कोमल और सुन्दर हैं पुनः कठोर भी, उनमें अक्षर तो बहुत थोड़े ही हैं, परन्तु अर्थ अत्यन्त अमित हैं॥२॥ जैसे मुख दर्पण में देख पड़ता है और दर्पण अपने हाथ में है, पर वह मुख (का प्रतिबिम्ब) पकड़ा नहीं जाता, ऐसी ही अद्भुत यह वाणी है॥३॥ राजा जनकजी, श्रीभरतजी, मुनि (श्रीवसिष्ठजी-श्रीविश्वामित्रजी) और साधु-समाज, ये सब वहाँ गये, जहाँ देवतारूपी कुमुदों के (प्रफुल्ल करने के) लिये चन्द्रमा रूपी श्रीरामजी थे॥४॥

विशेष—(१) 'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।...'—उत्तम वाणी में ये सात बातें होनी चाहिये कि उसका-वाक्य प्रबन्ध सुगम हो, भाव की गम्भीरता में अगम हो, कानों को सुनने में मृदु एवं रोचक हो, सर्व-शास्त्रों से निर्दूषित होने से उसमें मंजुता और समझने में कठोरता हो और फिर अक्षर अत्यन्त थोड़े पड़ें, पर उनमें अर्थ अमित हों।

इन सातो को यहाँ देखिये—वाक्य-प्रबन्ध की सुगमता यह कि पहले इन्होंने श्रीजानकीजी और गुरुजी और कौशिक आदि की प्रशंसा योग्य एवं हेतु-पूर्ण वाक्यों से की, फिर 'सिसु सेवक ...येहि समाज ...' से अपना कार्पण्य कहा, तब अधिकारानुसार क्षमा माँगी। तब—"आगमनिगम..." से सेवा-धर्म की महिमा कही, पुनः—"स्वामि धरम..." से उस सेवा-धर्म के करने का प्रकार दिखाया कि उसमें स्वार्थ का लेश भी न रहना चाहिये। तब दोहे में अपना स्वार्थ-रहित शुद्ध स्वामि-धर्म कहा है।

इनमें—'सेवा-धरम कठिन जग जाना'—विषय वाक्य है। स्वामि-धर्म और स्वार्थ का मिश्रित स्वरूप—संशय और स्वार्थ इसका पूर्वपक्ष हैं, ये (संशय और पूर्वपक्ष) दोनों—"स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध..." इस अर्द्धाली में कहे गये हैं। फिर दोहे में इसका सिद्धान्त कहा गया है।

भाव की अगमता यह कि रामरुख को प्रथम कहकर प्रधानता दी, क्योंकि गुरुजी ने पहले ही दृढ़ कर दिया था—"राखे राम रजाइ रुख..." (दो० २५४), फिर श्रीजनकजी ने कहा था—"राम सत्य ब्रत धरम रत..." (दो० २९२), तदनुसार श्रीरामजी का धर्म और व्रत भी रखने को कहा। श्रीजनकजी ने कहा था—'संकोच बस संकट सहत' अर्थात श्रीरामजी तुम्हारे संकोच से संकट सहते हैं, उसपर कहते हैं—'पराधीन मोहि जानि'—मुझे पराधीन जानिये, मैं स्वामी की आज्ञा में ही प्रसन्न हूँ तो संकोच कैसा? 'सब कर सील सनेह'—रखने में संकट सहते हैं, उसपर कहते हैं—"सबके संमत सर्वहित..." अर्थात्

सबका श्रीरामजी में प्रेम है, तो सभी उनकी आज्ञा के पालन में अपना हित समझकर सम्मत दे देंगे।

सुनने में मृदु और रोचक स्पष्ट ही हैं। इसका सिद्धान्त-भूत विषय शास्त्र-सम्मत है ही, यही इसमें मंजुता है। अर्थ के अमित होने में कठोरता है, वही आगे—'ज्यों मुख मुकुर···' से कही गई है। 'रुख' 'धरम' 'व्रत' आदि में अक्षर थोड़े हैं और इनका अर्थ-विस्तार बहुत है। वा, सम्पूर्ण वाक्य में भी अक्षर थोड़े और अर्थ बहुत हैं और उनका समझना और व्यवस्था करना कठिन है।

(२) 'ज्यों मुख मुकुर···'—ऊपर 'आगमनिगम···स्वामिधरम···' में कहा हुआ शुद्ध सेवाधर्म मुख है, और—'राखि राम रुख···' यह दोहा मुकुर है, इसमें कहा है—'पराधीन मोहिं जानि' यह सेवा-धर्म का प्रतिबिम्ब है। आशय यह है कि मैं अपना स्वार्थ नहीं चाहता। जो स्वामी की आज्ञा होगी, वही करूँगा और सबका प्रभु में प्रेम है, उसे पहचानिये, तो स्पष्ट हो जायगा कि स्वामी की आज्ञा में सभी अपना हित मानेंगे और सम्मत दे देंगे। इस तरह अर्थ-व्यवस्था है, पर सहसा पकड़ में नहीं आती। यही वाणी की अद्भुत-रूपता है।

कोई-कोई सुगम आदि को क्रमशः सबमें लगाते हैं—'सुगम'—'प्रभु प्रिय पूज्य···', 'अगम'—'कौसिकादि···', 'मृदु'—'सिसु सेवक आयसु ···', 'मंजु'—"मौन मलिन मैं···', 'कठोर'—'सेवा धरम कठिन जग···स्वामिधरम···', 'अरथ अमित अति आखर थोरे'—'राखि राम रुख धरम···', इत्यादि।

(३) 'गे जहँ बिबुध-कुमुद···'—आगे दरबार में क्या निर्णय होगा, वह यहीं पर बीज-रूप में जना दिया कि जैसे चन्द्रमा का जन्म सिंधु में होता है, पर वह ब्रह्माण्ड-भर में विचरता है और संकुचित कुईं को प्रफुल्लित करता है। वैसे ही श्रीरामजी का जन्म श्रीअयोध्याजी में हुआ, पर वे जगत् में विचरेंगे, अर्थात् अभी लौटकर घर न जायँगे और संकुचित कुईं के समान देवताओं को (जो शोच में पड़े हैं,) विकसित करेंगे। आज देवताओं के कार्य के लिये वन जाना ही निश्चित करेंगे। देवताओं के शोच-प्रसंग में भी यही 'बिबुध' शब्द कई बार आया है, यथा—"पालु बिबुध कुल ··बिबुध बिनय सुनि ··बिबुध बिकल निसि···" (दो० २९४), देवताओं में यह विशेष बुद्धिमानी है कि दुःख पड़ने पर भगवान् की ही शरण जाते हैं। इससे प्रभु उनका दुःख हरते हैं, इसीसे उन्हें 'बिबुध' कहा है। आगे दुःख-निवृत्ति पर इनका प्रफुल्ल होना भी कहेंगे, यथा—"राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी।" (बा० दो० २४)।

सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नवजल जोगा ॥५॥
देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी ॥६॥
राम - भगति - मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे ॥७॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भये अलेख सोचबस लेखा ॥८॥

दोहा—राम-सनेह - सँकोच - बस, कह ससोच सुरराज।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि, नाहिं त भयउ अकाज ॥२९४॥

शब्दार्थ—नवजल जोगा = माँजा व्यापने से। जोगा = संयोग से, मिलने से। अलेख = बे-अन्दाज, बहुत अधिक। लेखा = देवता। पंच = सब लोग, यथा—"पंच कहें सिव सती ··" (बा० दो० ७८), वा, पाँच एवं उससे अधिक प्रधान लोगों का समाज।

अर्थ—यह समाचार पाकर सबलोग शोच से ऐसे व्याकुल हैं, मानों मछलियाँ नये (पहली वर्षा के) जल के योग से (माँजा के द्वारा) छटपटा रही हैं ॥५॥ देवताओं ने पहले कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी की गति देखी, फिर विदेह श्रीजनकजी का विशेष स्नेह देखा ॥६॥ और फिर श्रीभरतजी को देखा कि वे श्रीराम-

भक्ति-मय हैं, अर्थात् उनमें भीतर-बाहर श्रीराम-भक्ति ही ओत-प्रोत है। तब स्वार्थी देवता गण घबराकर हृदय से हार गये, (कि ये सब अवश्य श्रीरामजी को लौटा ले जायँगे, अब कोई उपाय नहीं, क्या करें ?) ॥७॥ और फिर समाज के सब-किसीको श्रीराम-प्रेम-मय देखा, तो देवता लोग बे-अन्दाज शोच के वश में हो गये ॥८॥ देवराज इन्द्र शोच के साथ कहने लगे कि श्रीरामजी स्नेह और संकोच के वश होनेवाले हैं। अतः, अब सब पंच मिलकर माया रचो और (छल-विधान करो), नहीं तो अब कार्य बिगड़ता है ॥२९४॥

विशेष—(१) यहाँ देखी, निरखि, निहारे और पेखा पर्याय हैं, भिन्न-भिन्न शब्द देना रचना-सौष्ठव है।

(२) 'सुनि सुधि सोच···'—गोष्ठी का निर्णय—'राखि राम रुख धरम ब्रत···' सुनकर सबलोग शोच में व्याकुल हो गये, जैसे मछली माँजा से व्याकुल होती है, क्योंकि श्रीराम-वियोग का निश्चय हो गया। श्रीरामजी का रुख वनवास करने और पिता की आज्ञा के पालन करने का है ही, अन्यथा तमसा तट से क्यों छिपकर भाग आते। 'नव जल जोगा', यथा—"माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा।" (दो० १५६)—देखिये।

(३) 'कुल-गुरु-गति', यथा—"भये सनेह सिथिल मुनि राऊ"। 'बिदेह सनेह'—"सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे।···" से "तापस मुनि···" तक। 'राम-भगति-मय भरत', यथा—"राम-प्रेम-मूरति तन आही।" (दो० १८३), "तुम्ह तौ भरत मोर मत येहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" (दो० २०७)। 'सब कोउ राम प्रेम-मय', यथा—"सहज सुभाय समाज दुहुँ, राम चरन अनुराग॥" (दो० २८०)। 'हहरि हिय हारे'—देवता लोग स्वार्थान्ध होने के कारण श्रीभरतजी की वाणी का अभिप्राय नहीं समझ सके, इसीसे घबरा उठे। श्रीभरतजी की वाणी "गहि न जाइ अस अदभुत बानी।" तो कही ही गई है। 'भये अलेख सोच···'—पहले तीन तक को ही देखा, जब सभी को वैसा प्रेमी देखा, तब इनके शोच का लेखा ही न रहा।

(४) 'राम-सनेह सँकोच-बस···', यथा—"राम सँकोची प्रेमबस, भरत सुप्रेम पयोधि। बनी बात बिगरन चहति, करिय जतन छल सोधि॥" (दो० २१७), वही भाव यहाँ भी है। वहाँ बृहस्पति ने समझाया, पर फिर भी वही हाल है, क्योंकि ये स्वार्थान्ध हैं। पुनः धीरता-अधीरता, ज्ञान-अज्ञान ये जीवों के स्वभाव हैं, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (बा० दो० ११५), देवता भी तो बद्ध जीव ही हैं।

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही॥१॥
फेरि भरतमति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छलछाया॥२॥
बिबुध-बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥३॥
मो सन कहहु भरत-मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥४॥

अर्थ—देवताओं ने सरस्वती का आवाहन करके उसकी सराहना की (और कहा) हे देवि ! (हम) देवता आपकी शरण में प्राप्त हैं (हमारी) रक्षा कीजिये ॥१॥ अपनी माया करके श्रीभरतजी की बुद्धि को फेरकर छल रूपी छाया से देवताओं के कुल का पालन कीजिये ॥२॥ चतुर देवी देवताओं की प्रार्थना सुनकर और उन्हें स्वार्थवश जड़ जानकर (इन्द्र से) बोली ॥३॥ कि मुझसे कहते हो कि श्रीभरतजी की बुद्धि फेर दो, हजार आँखों से भी तुम्हें सुमेरु पर्वत नहीं सूझता ॥४॥

विशेष—(१) 'करि छलछाया'—श्रीरामजी का लौटाना ग्रीष्म का तपन है। अतः, ये लोग छल-रूपी छाते की छाया चाहते हैं। 'बिबुध-बिनय सुनि···'—विनय के साथ बिबुध कहा, क्योंकि विनती में बड़ी बुद्धि लगाई। जड़ कहने में 'सुर' छोटा-सा नाम दिया। 'जड़ जानी'—बृहस्पतिजी ने दो बार

समझाया, फिर भी न समझा, यथा—"समुझाये सुर गुरु जड़ जागे।" (दो० २४०), "स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू।" (दो० २१९)। इससे सयानी देवी ने जान लिया कि ये जड़ हो गये हैं, इसीसे इन्होंने भरत-भारती नहीं समझी।

(२) 'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।'—यहाँ श्रीभरतजी प्रेम-प्रभाव सहित सुमेरु हैं, यथा—"कहिय सुमेरु कि सेर सम ···भरत अमित महिमा···" (दो० २८१), सुमेरु बहुत ऊँचा और भारी है, एक आँखवाला भी उसे देख सकता है, तुम हजारों आँखों से भी नहीं देख पाते, आश्चर्य है! श्रीभरतजी की थाह श्रीवसिष्ठजी, श्रीजनकजी और विधि हरिहर भी नहीं पा सकते, प्रत्युत उन्हें देखकर प्रेम में मग्न हो जाते हैं, यह तुम्हें नहीं सूझता? भला उनकी मति फेरी जा सकती है?

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी ॥५॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी ॥६॥
भरत-हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥७॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥८॥

दोहा—सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाट।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाट ॥२६५॥

करि कुचालि सोचत सुरराजू। भरत-हाथ सब काज अकाजू ॥१॥

शब्दार्थ—अरति=अलग्न, मन का किसी काम में न लगना। उचाट=चित्त का उचट जाना।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और महेश की माया बड़ी भारी है, वह भी श्रीभरतजी की बुद्धि की ओर नहीं देख सकती ॥५॥ मुझसे कहते हो कि उसी बुद्धि को तुम भोली कर दो, क्या चाँदनी सूर्य की चोरी कर सकती है? ॥६॥ श्रीभरतजी के हृदय में श्रीसीतारामजी का निवास है, भला जहाँ सूर्य का प्रकाश है, वहाँ क्या कभी अँधेरा हो सकता है? ॥७॥ सरस्वती ऐसा कहकर ब्रह्मा के लोक को चली गई, देवता व्याकुल हो गये, मानों रात में चकवा व्याकुल हो रहा हो ॥८॥ मन के मैले और स्वार्थी देवताओं ने कुमन्त्र का बुरा ठाट रचा, उससे प्रबल मायाजाल रचकर भय, भ्रम, अलग्नता और उच्चाटन फैलाया ॥२६५॥ कुचाल करके (भी) इन्द्र सोचता है कि (मेरा) कार्य-अकार्य श्रीभरतजी के हाथ है, (चाहे बनावें या बिगाड़ें) ॥१॥

विशेष—(१) 'बिधि-हरि-हर माया···'—इनमें से प्रत्येक की माया बड़ी प्रबल है। तीनों की माया मिलकर भी श्रीभरतजी की बुद्धि के तेज के सामने दृष्टि नहीं कर सकती और भोरी करना तो बड़ा भारी काम है। तब अकेली मेरी माया यहाँ क्या कर सकती है? यथा—"कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥" (दो० २८५), अर्थात् उनके समक्ष में मेरी माया अत्यन्त तुच्छ है। यह कुछ नहीं कर सकती। श्रीभरतजी की मति गुणातीत है। अतः, वहाँ त्रिदेव की त्रिगुणमयी माया नहीं लगेगी।

(२) 'चंदिनि कर कि चंडकर चोरी।'—चन्द्रमा में सूर्य से ही प्रकाश आता है। अतः, चन्द्रमा भी सूर्य को नहीं चुरा सकता, तो उसकी चाँदनी को सामर्थ्य कहाँ? यहाँ त्रिदेव चन्द्रमा, शारदा चाँदनी और श्रीभरत-मति प्रचण्ड किरणवाले दोपहर के सूर्य के समान है, अर्थात् शारदा की माया से श्रीभरतजी की मति का भोरी होना असम्भव है। 'चंदकर' भी पाठ कोदोराम एवं ना० प्र० सभा का है। वह विशेष उपयुक्त होता है। रात में 'चाँदनी' की प्रवृत्ति रहती है, और चोरी भी रात ही में विशेष कर होती है। चाँदनि चन्द्रमा की चोरी नहीं कर सकती, यह अर्थ होता है। दूसरा दृष्टान्त दिन का है—सूर्य और

तम का। 'चंडकर' पाठ में एक ही प्रसंग में सूर्य की उपमा दो बार आती है, तथा उसमें 'कर' शब्द को भी श्लिष्ट मानकर दो अर्थ लेने पड़ते हैं।—ऐसा भी किसी-किसीका मत है।

परन्तु 'चंडकर' पाठ राजापुर, भा० दा० और रा० गु० द्वि० आदि का है। अतः प्रामाणिक है,

(३) 'भरत-हृदय सिय-राम···'— मेरा छल अन्धकार-रूप है, श्रीभरतजी के हृदय में श्रीसीताराम-रूपी तरुण सूर्य का निवास है, यथा—"सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्।" (सनत्कुमार संहिता), अतः, वहाँ मेरी माया स्वतः नष्ट हो जायगी। भाव यह कि त्रिदेव और उनकी शक्तियाँ श्रीसीतारामजी के अंश से प्रादुर्भूत होती हैं, यथा—रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च।" (रा० ता० उ०), तथा—"बिधि-हरि-हर-मय।" (बा० दो० १८)। अतः, सबकी माया उनके अन्तर्भूत हैं, यथा—"माया सब सिय माया माहू।" (दो० २५१), "मायापति सेवक सन माया।" (दो० २१७)। शारदा भी ब्रह्मा की शक्ति ही है, तो इसकी माया वहाँ कैसे पहुँच सकती है? श्रीसीतारामजी ज्ञान स्वरूप सूर्य हैं, वहाँ अज्ञानरूप तम नहीं जा सकता।

(४) 'अस कहि सारद गइ '—ब्रह्मा के लोक में वह रहती है, यथा—"भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥" (बा० दो० १०), इन्हें उत्तर देकर वहीं चली गई। शरणागत त्याग का दोष देवी को नहीं, क्योंकि यह काम उसकी शक्ति से हो नहीं सकता था। 'बिबुध बिकल···'—रात में चकवे-चकवी का वियोग रहता है, इसीसे व्याकुलता रहती है। श्रीरामजी के श्रीअवध लौटने से देवताओं को भी राज्यश्री से वियोग रहेगा, वे अप्सरा आदि से सदा वियोगी रहेंगे, इससे भावी दुःख को समझकर व्याकुल हो गये, तथा—"सम्पति चकई···" (दो० २१५)।

(५) 'सुर स्वारथी मलीन मन···'—'मलीन मन'—क्योंकि सरस्वती की शिक्षा मन में न बैठी। 'भय'—बाघ, सिंह आदि का, 'भ्रम'— हम कहाँ आ पड़े हैं, कहाँ श्रीअयोध्या, 'अरति'—चित्त घर के बाल-बच्चों में जाता है, इधर से प्रीति हटती है। 'उचाट'—अब तो श्रीरामजी लौटेंगे नहीं ही, वन ही में रहेंगे, जाना तो होगा ही, अच्छा हो कि शीघ्र चल दें। भय, भ्रम और अरति—ये उचाट के ही अंग हैं, आगे प्रसंग में ये स्पष्ट चरितार्थ हैं, यथा—"प्रथम कुमत करि कपट सँकेला। सो उचाट सबके सिर मेला॥···" से "सुर-पति-छल भारे॥" तक (दो० ३०१-३०२)।

(६) 'करि कुचालि सोचत सुरराजू।'—कुचाल का ठाट करने पर सरस्वती के वचनों के स्मरण करने पर फिर शोच हुआ कि जिनके हाथों से सब बनना-बिगड़ना है, उन श्रीभरतजी पर तो माया लगेगी नहीं, फिर औरों पर डालना ही व्यर्थ है। अतः, अभी माया-जाल रचकर ठीक कर लिया है। डालना पीछे दो० ३०१ में लिखा जायगा।

इन्द्र सन्मार्गियों का अनिष्ट करता है। इससे उसे व्यर्थ ही मानसी व्यथा हो रही है। श्रीभरतजी से यह भी भय है कि कहीं मेरी कुचाल से बच जायँगे, तो फिर न जाने मुझपर क्या करेंगे? क्योंकि श्रीरामजी इनके हाथ में है।

इन भय, भ्रम, अरति और उचाट की तान्त्रिक क्रिया सूक्ष्म रीति से श्रीबैजनाथजी की टीका में लिखी गई है।

चित्रकूट द्वितीय दरबार

(सार्वजनिक सभा)

गये जनक रघुनाथ - समीपा। सनमाने सब रवि-कुल-दीपा॥२॥
समय समाज धरम अबिरोधा। बोले तब रघुबंस - पुरोधा॥३॥

जनक - भरत संबाद सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई ॥४॥
तात राम जस आयसु देहू। सो सब करइ मोर मत येहू ॥५॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी ॥६॥
बिद्यमान आपुन मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू ॥७॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई ॥८॥

दोहा—राम-सपथ सुनि मुनि जनक, सकुचे सभासमेत।
सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत ॥२९६॥

शब्दार्थ—अबिरोधा = अनुकूल। पुरोधा = पुरोहित। कहाउति = वक्तव्य, उक्ति।

अर्थ—श्रीजनकजी श्रीरघुनाथजी के पास गये। सूर्यकुल के दीपक (श्रेष्ठ) श्रीरामजी ने सबका सम्मान किया ॥२॥ तब रघुकुल के पुरोहित श्रीवसिष्ठजी समय, समाज और धर्म के अनुकूल वचन बोले ॥३॥ उन्होंने श्रीजनकजी और श्रीभरतजी का संवाद सुना कर फिर श्रीभरतजी की सुन्दर उक्ति (कही हुई बात) सुनाई ॥४॥ हे तात श्रीरामजी! मेरा मत तो यह है कि जैसी आप आज्ञा दें, वैसा ही सब करें ॥५॥ यह सुनकर श्रीरघुनाथजी दोनों हाथ जोड़कर सच्ची, सीधी और कोमल वाणी बोले ॥६॥ कि आपकी और श्रीमिथिलेशजी की विद्यमानता (उपस्थिति) में मेरा कहना (आज्ञा देना) सब तरह भद्दा है ॥७॥ आपकी और राजा जनकजी की जो आज्ञा होगी, आपकी शपथ, सत्य ही वह (सबको) शिरोधार्य होगी ॥८॥ श्रीरामजी की शपथ सुनकर सभा के साथ मुनि और श्रीजनकजी सकुचा गये। सभी श्रीभरतजी का मुँह देखने लगे, कुछ उत्तर देते नहीं बनता ॥२९६॥

विशेष—(१) 'गये जनक रघुनाथ-समीपा···'—पहले—"भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू॥" (दो० २९३), पर प्रसंग छोड़कर देवताओं की बातें कहने लगे थे, अब फिर वहीं से प्रसंग उठाया। वहाँ 'गे जहँ···' और यहाँ—'गये जनक···' वहाँ 'भूप' को प्रधान कहा गया, वैसे यहाँ भी—'गये जनक·····' कहा है। 'गये' शब्द आदरार्थक और बहुवचन है, क्योंकि इनके साथ समाज भी है, श्रीरामजी ने गुरुजी से कहा, गुरुजी ने श्रीजनकजी पर रख दिया, फिर वे ही श्रीभरतजी के पास गये और वहाँ से सम्मत कर सबके साथ श्रीरामजी के पास आये। 'सनमाने सब रबिकुल दीपा।'—सम्मान यह कि आगे से बढ़कर लिवा लाये, स्वयं लाकर आसन दिया और बैठने की प्रार्थना की। सम्मान के सम्बन्ध में रविकुल-दीप कहा, क्योंकि अब ये ही इस कुल में ज्येष्ठ हैं, राजा के सम्मान करने के योग्य श्रीदशरथजी थे, वे नहीं हैं, तो अब श्रीरामजी ही है। पहले 'बिबुध कुमुद द्विजराजू' कहा, अब 'रविकुल दीपा' कहते हैं, इससे सूचित किया कि देवताओं की तरफ अधिक ढरेंगे, उनकी रक्षा में चित्त है, उन्हींको प्रफुल्लित करेंगे, क्योंकि रविकुल के सम्बन्ध में 'दीपा' और बिबुध पक्ष में—'द्विजराजू' कहा गया है।

(२) 'समय समाज धरम अबिरोधा।'—शोक का समय है, इससे अल्प वचन; समाज बुद्धिमानों का है, इससे विचारपूर्वक, सारी व्यवस्था पिता-वचन-रक्षा रूप धर्म पर करनी है। अतः, उसे भी रखते हुए बोले। बोलने में श्रीवसिष्ठजी प्रधान हैं, क्योंकि ये ही सबसे बड़े हैं और श्रीजनक आदि की बातें ज्यों-की-त्यों कहनी हैं। फिर श्रीरामजी से भी इन्होंने ही वचन दिया था कि मैं प्रबन्ध करता हूँ, आप आश्रम पर चलिये। इससे किये हुए प्रबन्ध को आकर कहा भी है, यही उचित है।

(३) 'जनक-भरत संबाद···'—"तात भरत कह तिरहुति राऊ।···" से "राखि रामरुख धरम

व्रत···" तक जो कुछ कहा गया, वह सब कहा। श्रीभरतजी की 'कहाउति' को 'सुहाई' कहा, क्योंकि उसमें उनके शुद्ध सेवक धर्म की व्यवस्था है और वे वचन सुहावने हैं भी, यथा—"सुगम अगम मृदु मंजु···"।

(४) 'तात राम जस आयसु देहू।·····'—यही गुरुजी का निश्चय सबसे पहले था, वही श्रीजनकजी का भी हुआ और श्रीभरतजी ने भी वही माना। अतः, सर्वनिश्चित मत गुरुजी ने यहाँ कहा। 'आयसु देहू' के साथ 'राम' शब्द ऐश्वर्यपरक है। मुनि ऐश्वर्य-दृष्टि से आज्ञा देने को कहते हैं, पर श्रीरामजी ने माधुर्य ही में उत्तर दिया। अतः—'सुनि रघुनाथ···' कहा गया, क्योंकि आज्ञा देना गुरु और राजा पर रख दिया। श्रीभरतजी इसी कांक्षा से आये हैं कि श्रीरामजी राजा हों, गुरुजी तदनुसार ही कह रहे हैं कि यदि श्रीरामजी आज्ञा देते हैं तो मानों राजा हो गये। राजा ही की आज्ञा सब पर चलती है।

'सब भाँति भदेसू'—छोटा बड़ों को कैसे आज्ञा दे? आप दोनों सब प्रकार बड़े हैं, यथा—"प्रभुप्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥" (दो० २९२)।

(५) 'राउर राय रजायसु होई।···'—भाव यह कि यदि मैं आप दोनों की आज्ञा न माननेवाला होता, तो मुझसे ही कहलाया जाता। मैं तो शपथ-पूर्वक प्रस्तुत हूँ। आप पिता के समान हैं, यथा—"कुल गुरु सम हित माय न बापू।" और राजा पिता के तुल्य हैं ही। मैं भी पिता की आज्ञा के पालन पर तत्पर हूँ। अतः, आप दोनों चाहे उसे करवावें और चाहे छुड़ा दें। धर्म-अधर्म का भार आप दोनों पर है। पहले समाज में भी श्रीरामजी ने ऐसा ही कहा था, यथा—"प्रथम जो आयसु मो कहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥" (दो० २५७), अब यहाँ शपथ करके भी कहा। श्रीसुनयनाजी ने याज्ञवल्क्य की भविष्य उक्ति कही थी—"राम जाइ बन···अमर नाग नर··" (दो० २८४), यह बात श्रीमिथिलेशजी भी जानते ही हैं। अतः, श्रीरामजी उन्हींपर रखते हैं कि वे अन्यथा कैसे कहेंगे? गुरुजी श्रीराम-रुख जान ही गये हैं।

(६) 'राम-सपथ सुनि मुनि·····'—सकुच का कारण यह कि श्रीरामजी जिस धर्म पर आरूढ़ हैं, उसे कैसे छुड़ावें? और जो लौटने की बात न कहें, तो लोग कहेंगे कि आये ही क्यों? और श्रीभरतजी को दुःख होगा। पूर्व विचारों से यह निश्चित हो चुका है कि श्रीरामजी के सत्य-व्रत आदि न छूटें। तब तो श्रीभरतजी को ही श्रीअवध-रक्षा का भार लेना होगा, जो उनके लिये अत्यन्त दुखद है। पर उन्हें कोई कैसे कहे? इसलिये सब उन्हींका मुख देखने लगे कि वे स्वयं कहें।

सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरज भारी॥१॥
कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निबारा॥२॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल-गुन-गन जगजोनी॥३॥
भरतबिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥४॥

शब्दार्थ—घटज = अगस्त्यजी। निबारा = रोका। कनकलोचन = हिरण्याक्ष। छोनी = पृथ्वी। जग-जोनी = ब्रह्मा। उधरी = छूटी, मुक्त हुई।

अर्थ—सभा को संकोच के वश में देखकर श्रीरामजी के भाई श्रीभरतजी ने भारी धैर्य धारण किया॥१॥ और कुसमय समझकर (अपने बढ़ते हुए) स्नेह को सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचल को श्रीअगस्त्यजी ने रोका है॥२॥ शोक-रूपी हिरण्याक्ष ने (अपनी) बुद्धि-रूपिणी पृथ्वी के (नाना पदार्थ-रूपी) निर्मल गुण-गणों को हर लिया॥३॥ (तब) ब्रह्मा-रूपी श्रीभरतजी के विवेक-रूपी विशाल वराह (भगवान्) के द्वारा बिना श्रम उसी समय वह मुक्त हुई, अर्थात् अपयश एवं वियोग-जन्य दुःख के द्वारा

बुद्धि के हरे हुए निर्मल गुण-समूह, त्याग, विराग, धैर्य, स्थिरता, शान्ति, क्षमा आदि विवेक के द्वारा फिर आ गये, यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिवेक जहाज ॥" (दो० २२०) ॥४॥

विशेष—(१) 'सभा सकुचबस भरत···'—ऊपर 'सकुचे सभाममेत' कहा गया, वही बात लेकर यहाँ 'सकुच बस' कहा गया। धैर्य के सम्बन्ध से रामबन्धु कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी धीरधुरन्धर हैं, उनके भाई हैं। अतः, ये भी धीर हैं। इसीसे इन्होंने भारी धैर्य धरकर अपने शोक और स्नेह को दबाया। उसीको दो रूपकों से कहते हैं। शोक और स्नेह से अधीरता आती है, यथा—"सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयेउँ लाइ रजायसु बाँये ॥" (दो० २९९), "सोक सनेह सयानप थोरा।" (दो० २८२)।

(२) 'कुसमय देखि सनेह सँभारा·····'—विन्ध्याचल बढ़कर सूर्य की गति को रोकना चाहता था, तब डरकर देवताओं ने श्रीअगस्त्यजी से कहा, उन्होंने उसे रोक दिया। इसकी कथा दो० १३७ चौ० ८ में देखिये। यहाँ श्रीभरतजी का स्नेह विन्ध्याचल है, श्रीभरतजी अगस्त्य हैं। श्रीरामजी सूर्य हैं, उनकी प्रतिज्ञा-रूपी गति का बाधक जानकर बढ़ते हुए अपने स्नेह को श्रीभरतजी ने रोका। यद्यपि पहले से ही निश्चय कर चुके हैं—"राखि राम रुख धरम ब्रत ··" आदि, तथापि यहाँ भावी वियोग की दृष्टि पर स्नेह उमड़ आया था, जिससे बुद्धि में सहसा यह बात आई कि किसी प्रकार प्रभु आँखों से ओट न हों, इससे श्रीरामजी की प्रतिज्ञा की राह रुक जाती। इसलिये इस स्नेह को इन्होंने रोक लिया, प्रकट न होने दिया।

(३) 'सोक कनकलोचन मति·····'—भूमि की तरह इनकी बुद्धि बड़ी उपजाऊ है, स्वस्थ होने पर आगे कही गई है, यथा—"बिमल बिवेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली ॥" पर सहसा उठे हुए शोक ने उसे क्षण-भर के लिये विक्षिप्त कर दिया, जैसे हिरण्याक्ष के पाप-प्रभाव से पृथ्वी की उपज मारी गई थी, पर इन्होंने विवेक-द्वारा उक्त शोक का निवारण किया और धैर्य धारण करने पर उनकी बुद्धि में निर्मल गुण-गण फिर आ गये, तब उन भरत-भारती की आगे प्रशंसा की गई है। शोक से बुद्धि के दिव्य गुण हर जाते हैं, यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (दो० २७१), जैसे वाराह भगवान् से हिरण्याक्ष का नाश हुआ, वैसे विवेक से शोक का, यथा—"सोक निवारेउ सबहिं कर, निज बिज्ञान प्रकास ॥" (दो० १५६), वहाँ बहुत काल में और भारी युद्ध होने पर हिरण्याक्ष मारा गया और यहाँ बिना श्रम (अनायास) और उसी समय क्षण-भर में ही (तेहिकाला) बुद्धि-रूपा पृथ्वी मुक्त हुई और उसकी आसुरी वृत्ति (शोक) का नाश हुआ। हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् की कथा—"धरि बराहबपु एक निपाता" (बा० दो० १२१), में दी गई है। ब्रह्मा 'जग जोनी' हैं, वैसे श्रीभरतजी भी विश्व-भरण-पोषण करनेवाले हैं।

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे ॥५॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा ॥६॥
हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख-पंकज आई ॥७॥
बिमल बिवेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली ॥८॥

दोहा—**निरखि बिवेक बिलोचनन्हि, सिथिल सनेह समाज।**
करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय-रघुराज ॥२९७॥

शब्दार्थ—निहोरे = प्रार्थना की। साली (शाली) = परिपूर्ण, युक्त, वाली, जैसे सम्पत्तिशाली = धनवाला, एवं बलशाली, गुणशाली, आदि।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने) प्रमाण करके सबको हाथ जोड़े, श्रीरामजी, राजा, गुरु और साधु-समाज से उन्होंने प्रार्थना की ॥५॥ (और कहा—) आज मेरे इस अत्यन्त अनौचित्य के लिये क्षमा कीजियेगा, (जो कि) मैं कोमल मुख से कठोर वचन कह रहा हूँ ॥६॥ हृदय में सुहावनी सरस्वती का स्मरण किया, वह उनके हृदय (मन) से मुख-कमल पर आई ॥७॥ निर्मल विवेक, धर्म और नीति से पूर्ण श्रीभरतजी की भारती (वाणी) सुन्दर हंसिनी है ॥८॥ विवेक-दृष्टि से समाज को स्नेह-शिथिल देखकर, सबको प्रणाम करके, श्रीभरतजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी का स्मरण करके बोले ॥२९७॥

विशेष—(१) 'करि प्रनाम सब कहँ···'—यह सज्जनों के समाज में बोलने की रीति है कि बड़ों से प्रार्थना करके वक्तृत्व में अनौचित्य हो जाने की क्षमा माँग ले।

(२) 'छमब आजु अति···', यथा—"छोट बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता ॥" (दो० २९२), 'बदन मृदु'—बालक का मुख कोमल होता है। 'बचन कठोरा'—गुरुजनों के प्रति ढिठाई करता हूँ। यहाँ तन, वचन और मन से नम्रता प्रकट की—'करि प्रनाम···'—तन से, 'छमब आजु···कहउँ···'—वचन से और 'हिय सुमिरी···'—मन से।

(३) 'हिय सुमिरी सारदा सुहाई।'—'सारदा सुहाई'—यह परा वाणी है जो शुद्ध श्रीराम-तत्त्व का निरूपण करती है और नाभि-कमल में इसका स्थान है, इसके स्वामी श्रीरामजी हैं, यथा—"सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥" (बा० दो० १०४), उसने हृदय से आकर मुख-कमल पर वैखरी वाणी को प्रकाशित किया। तात्पर्य यह कि जो पहले मन में निश्चित किया था, यथा—"करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपन नीका ॥" (दो० २६५), उसीके प्रकट करने का अनुसन्धान किया। वाणी का रूपक हंसिनी से है। हंसिनी मानस सर में रहती है, कमल पर आकर बैठती है और फिर मुक्ता-गण को चुगती है। वैसे ही यह वाणी मन (मानस) से निकलकर मुख-कमल पर आई और आगे इसे—'बिमल बिवेक धरम नय···' में बिमल गुण-गण-रूपी मोतियों के चुनने के स्वभाववाली भी कहते हैं, यथा—"जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु। मुकताहल गुनगन चुनइ ···" (दो० १२८), ब्रह्माजी पद्मासन हैं, तो उनकी शक्ति सरस्वती भी पद्मासना है। अतः मुख-कमल पर उसका आना युक्त है। यह भरत-भारती केवल श्रीराम-तत्त्व ग्रहण करेगी, श्रीरामजी के ही सुन्दर गुणों को अति उत्तम रीति से चुनेगी, इसलिये इसे 'मंजु मराली' कहा गया। 'बिमल'—अर्थात् विवेक, धर्म और नीति समल (मलिन) भी होते हैं, पर यह निर्मल विवेक आदि से ही पूर्ण है।

(४) 'निरखि बिवेक बिलोचनन्हि···'—'निरखि बिवेक ···'—मन से, 'करि प्रनाम'—तन से और 'बोले'—वचन से। प्रथम 'सभा सकुच बस···' से प्रसंग प्रारम्भ कर बीच में रूपक कहा। यहाँ 'निरखि बिवेक···' इससे वहींसे प्रसंग लिया गया है। पहले श्रीभरतजी की वाणी को बिमल-विवेक, धर्म और नीति-पूर्ण कहा गया। उनमें यहाँ पहले विवेक का कार्य कहते हैं कि सब समाज (अर्थात् श्रीजनकजी-श्रीवसिष्ठजी आदि) की माधुर्य पर ही दृष्टि है, इससे वे सब स्नेह में शिथिल ही हैं। पर इन्होंने स्नेह और शोक को विवेक से दबाकर धैर्य धारण कर लिया, ऊपर कहा गया। वही बात लेकर कहते हैं कि अब श्रीसीतारामजी का स्मरण-रूपी मंगलाचरण करके बोले—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी ॥१॥
सरल सुसाहिब सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बज्ञ सुजानू ॥२॥

समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन-अघ हारी ॥३॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाँई। मोहि समान मैं साइँ दोहाई ॥४॥

अर्थ—हे प्रभो! आप मेरे पिता, माता, सुहृद, गुरु, स्वामी, पूज्य, परम-हितैषी और हृदय के प्रेरक एवं जाननेवाले हैं ॥१॥ सरल, अच्छे इष्टदेव, शील के खजाने, दीनों के पालक, सर्वज्ञ, सुजान ॥२॥ समर्थ, शरणागत के हितकर्ता गुणों को ग्रहण करनेवाले तथा अवगुणों और पापों के हरनेवाले हैं ॥३॥ हे स्वामी! (श्रेष्ठता में आप) गोसाईं के समान गोसाईं (आप) ही हैं और मेरे समान (अधमता और स्वामि-द्रोहिता में) मैं ही हूँ, यह मैं स्वामी (आप-) की दोहाई (शपथ) करके कहता हूँ।

विशेष—(१) 'प्रभु पितु मातु···अवगुन-अघ हारी।'—इसमें स्वामी के लिये बीस विशेषण दिये गये हैं। इनके भाव—'प्रभु' अर्थात् आप परम समर्थ हैं, जो चाहें सब कर सकते हैं। पिता, गुरु और श्रीजनकजी के भी वचनों को एक-साथ पालन कर सकते हैं। अघटित को घटित कर सकते हैं। 'पितु मातु'—पिता-माता के समान पालन, रक्षण एवं दुलार करनेवाले हैं। 'सुहृद'—मित्र हैं, पुनः अच्छा हृदय होने से प्रतीति के योग्य हैं, यथा—"स्वारथ रहित सखा सब ही के ॥' (दो० ७३)। 'गुरु'—शिक्षा देनेवाले हैं। वेद-शास्त्र सब आपही के वचन हैं। 'स्वामी'—ऐश्वर्य-पूर्वक सर्वमान्य हैं। 'पूज्य'—आप देव, मुनि आदि सबके पूजा करने के योग्य हैं। 'परमहित'—परलोक के भी उपकार करनेवाले हैं। 'अंतरजामी'—सबके अन्तःकरण के प्रेरक और जाननेवाले हैं। 'सरल'—सुलभ ऐसे हैं कि श्वान तक आपके यहाँ न्याय के लिये पहुँचा, तथा—'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि।" (वि० १३५)। 'सुसाहिब'—अच्छे इष्ट-देव हैं। आश्रित की रक्षा में सन्नद्ध रहते हैं, यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हो।" (क० उ० १२६)। 'सीलनिधानू'—कैसा भी हीन, दीन, मलिन क्यों न हो, सबको आदर करते हैं, यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (भगवद्गुणदर्पण), 'प्रनतपाल'—दीनों के पालनेवाले हैं, यथा—"कृतभूप बिभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०९), 'सर्बज्ञ'—विश्व-भर के नाम, रूप, गुण, स्वभाव और ज्ञानादि जानते हैं। 'सुजानू'—चातुर्य गुण से सब विद्या, बोली आदि भी जानते हैं तथा अपने जनों की रुचि आदि जानते हैं। 'समरथ', यथा—"जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य। अस समरथ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य ॥" (उ० दो० ११९), तथा—"स्वामि सुसील समरथ सुजान सो तोसो तुही दसरत्थ दुलारे ॥" (क० उ० १२), 'सरनागत हितकारी'—सुग्रीव विभीषण आदि का हित किया। 'गुनगाहक'—किसीके भी गुण मात्र लेते हैं, यथा—"बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर।" (लं० दो० ४३), 'अवगुन-अघ हारी', यथा—"जनम कोटि अघ नासहिं तबही।" (सुं० दो० ४३), पुनः, यथा—"गुन गहि अघ अवगुन हरै अस करुनासिंधु।" (वि० १०७)।

(२) 'स्वामि गोसाइँहि सरिस·····'—बीस विशेषण देकर तब कहते हैं कि आप ऐसे स्वामी के समान आप ही हैं। बीसो विश्वा गुण-निधान आप ही हैं और वैसे ही स्वामि-द्रोहिता में मेरे समान मैं ही हूँ, अर्थात् मेरी इस एक स्वाहि-द्रोहिता के बराबर आपके बीसो गुण नहीं हो सकते, यथा—"स्वामी की सेवक हितता सब कछु निज माइँ द्रोहाई। मैं मति तुला तौलि देखी भइ मेरिहि दिसि गरुआई ॥" (वि० १७१), "बड़ो माइँ द्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं ॥" (वि० २५८), 'दोहाई' शब्द के शपथ और (द्रोहाई) द्रोहिता दोनों अर्थ हैं, अपनी अधमता की सत्यता के लिये शपथ करना भी कहा गया है। यहाँ 'अनन्वयोपमालंकार' है।

प्रभु-पितु-बचन मोहबस पेली। आयेउँ इहाँ समाज सकेली ॥५॥

जग भल पोच ऊँच अरु नीचू । अमिअ अमरपद माहुर मीचू ॥६॥
राम-रजाइ मेटि मन माहीं । देखा-सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥७॥
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥८॥

दोहा—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर ।
दूषन भे भूषन-सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर ॥२९८॥

अर्थ—प्रभु (आप) के और पिताजी के वचन का मोहवश उल्लंघन करके सारे समाज को बटोरकर यहाँ आया ॥५॥ जगत् में भला और बुरा, ऊँचा और नीचा, अमृत और अमरत्व, विष और मृत्यु ॥६॥ किसीको भी कहीं नहीं देखा और नहीं सुना कि जिसने श्रीरामजी की आज्ञा को मन से भी मेटा (टाला) हो (कर्म और वचन की कौन कहे ?) ॥७॥ मैंने सब प्रकार से वही ढिठाई की, परन्तु हे प्रभो ! आपने उसे स्नेह और सेवा मान लिया ॥८॥ हे नाथ ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा हित किया, (जिससे मेरे) दूषण भूषण के समान हो गये और मेरा सुन्दर सुयश (संसार में) चारो ओर फैल गया ॥२९८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पितु-बचन मोहबस·····'—प्रभु ने श्रीसुमन्त्रजी के द्वारा कहा था—"नीति न तजिय राजपद पाये ।" (दो० १५१), उस आज्ञा को न माना और पिता ने राज्य दिया, उनका वचन माता और गुरुजी से सुना, वह भी न माना और फिर आपके यहाँ भी समाज बटोर दबाव डालकर आपका धर्म छुड़ाने आया, जिससे आपके चित्त का विक्षेप किया ।

(२) 'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई ।'—उपर्युक्त—"मोहिं समान मैं साइँ दोहाई ।" को यहाँ तक कहकर पूरा किया । 'प्रभु मानी सनेह सेवकाई ।'—मुझ-ऐसे धृष्ट के दोषों को आपने स्नेह और सेवा के रूप में मान लिया, ऐसे सुस्वामी हैं । इसीको आगे कहते हैं—

(३) 'कृपा भलाई आपनी··· ···'—सुयश यह कि श्रीभरतजी बड़े प्रेमी हैं और त्यागी हैं, श्रीरामजी के लिये इन्होंने बहुत कुछ त्याग दिया, इत्यादि । 'भलाई आपनी', यथा—"राम भलाई आपनी भल कियो न का को । जुग-जुग जानकि नाथ को जग जागत साको ॥···" (वि० १५२) । 'कृपा' यथा—"नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति ।·· " (वि० २२१) ।

राउरि रीति सुबानि बड़ाई । जगत बिदित निगमागम गाई ॥१॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी । नीच निसील निरीस निसंकी ॥२॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये । सकृत प्रनाम किहें अपनाये ॥३॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधुसमाज बखाने ॥४॥

अर्थ—आपकी सुन्दर रीति, सुन्दर बानि (आदत) और बड़ाई सारे जगत् में प्रसिद्ध है, वेदों और शास्त्रों ने गाई है ॥१॥ क्रूर, कुटिल, खल, दुर्बुद्धि, कलंकी, नीच, निःशील, अनाथ एवं नास्तिक और निःशंक ॥२॥ ऐसों को भी शरण एवं सम्मुख आया हुआ सुनकर एक ही बार प्रणाम करने पर उन्हें अपना लिया ॥३॥ (शरणागत के) दोष देखकर भी कभी उन्हें हृदय में नहीं लाये और (उनके) गुणों को सुनकर ही सज्जनों के समाज में उनका प्रशंसात्मक वर्णन किया ॥४॥

विशेष—(१) 'राउरि रीति सुबानि·····'—उपर्युक्त भलाई कुछ मेरे ही साथ नहीं की गई, किन्तु जगत्-भर में प्रसिद्ध है, वेदों और शास्त्रों ने गाई है । इसे ही आगे—"कूर कुटिल···" से कहते हैं । 'रीति', यथा—"ऐसी कौन प्रभु की रीति । बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥" (वि० २१४),

"जानत प्रीति रीति रघुराई।" (वि० १६४), "यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। 'सुबानि', यथा—"सहज बानि सेवक सुखदायक।" (सु० दो० १३), "एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥" (अर० दो०), 'बड़ाई', यथा—"रघुबर रावरि इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई।" (वि० १६३), इत्यादि बहुत प्रमाण हैं।

(२) 'कूर कुटिल खल···'—'कूर'—कठोर हृदयवाले, निर्दय। 'कुटिल'—मन, वचन, कर्म से टेढ़े। 'खल', यथा—"खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥" (उ० दो० १२०), 'कुमति'—दुर्बुद्धि, विचार शून्य। 'कलंकी'—अयशी, पापी, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।" (उ० दो० १११), 'नीच'—वर्णाधम वा स्वभाव का नीच, यथा—"नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास। ढीलि देत भुइँ गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास॥" (दोहावली ४०१), 'निसील'—जिसकी आँखों में शील न हो, तोताचश्म। 'निरीस'—अनाथ, नास्तिक एवं उच्छृंखल। 'निसंकी'—बड़ों का संकोच न माननेवाले, इत्यादि नौ को गिनाकर ऐसे ही जो असंख्य प्रकार के पापी हैं उन्हें सूचित किया, क्योंकि नौ अंकों की सीमा है। 'सुनि'—किसीके भी कहने मात्र से, वा जो सम्मुख आकर अपना शरण होना वचन से कहे और एक बार प्रणाम करे, बस, सुनते ही उसे अपना लेते हैं।

(३) 'सकृत प्रनाम·····', यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३), अर्थात् एक बार भी, जो दीन एवं शरण होकर 'मैं आपका हूँ' ऐसी याचना करता है। मैं उसे सब प्राणियों से अभय देता हूँ, तथा—"एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥" (महा० शान्ति ४७। ९०), अर्थात् दश अश्वमेधयज्ञों की समाप्ति के पश्चात् अवभृथ-स्नान करने से जितना फल प्राप्त होता है, वह श्रीकृष्णभगवान् के एक बार प्रणाम की समता भी नहीं कर सकता, क्योंकि उन यज्ञ करनेवालों का पुनर्जन्म होता है, परन्तु कृष्णभगवान् को प्रणाम करनेवालों का नहीं। इसी भाव का श्लोक स्कन्द पु० वै० वै० मा० १३।३ में है।

(४) 'देखि दोष कबहुँ न उर आने।'—देखी बात प्रामाणिक होती है, सुनी में सन्देह रहता है, पर आप गुण-ग्राहक स्वामी हैं। अतः, सुने हुए गुण को मान लेते हैं और देखे हुए दोष को भी भुला देते हैं, यथा—"साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धरयो॥" (दोहावली ४७), "सुनि सेवा सही को करै परिहरै को दूषन देखि।···" (वि० १९१), तथा बा० दो० २८ चौ० ५-८ भी देखिये।

को साहिब सेवकहि नेवाजी। आप समाज साज सब साजी॥५॥
निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने॥६॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥७॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना॥८॥

दोहा—यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमौर।
को कृपाल बिनु पालिहै, बिरदावलि बरजोर॥२९९॥

अर्थ—ऐसे और कौन स्वामी हैं? जो सेवक पर कृपा करके आप ही सब साज-समाज उसका सज दें॥५॥ अपनी करनी (आपने जो सेवक पर बहुत-से उपकार किये हैं) को स्वप्न में भी नहीं समझते, (किन्तु) सेवक के संकोच का शोच (आप) अपने हृदय में बराबर रखते हैं॥६॥ हे गोस्वामी! ऐसे

एक आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं है, यह मैं हाथ उठाकर प्रतिज्ञा-पूर्वक सत्य कहता हूँ ॥७॥ पशु (वानर-भालू आदि) नाचते हैं, सुग्गे पाठ (जो उन्हें पढ़ाया जाता है, उस-) में प्रवीण हो जाते हैं, परन्तु (तोते की पाठ-प्रवीणता का) गुण और (पशु के नृत्य करने की) गति, पढ़ानेवाले (पाठक) और नचानेवाले (नट) के अधीन है, अर्थात् प्रशंसा का श्रेय पाठक और नट को ही है, शुक और पशु को नहीं ॥८॥ इसी प्रकार आपने मुझ सेवक को सुधारकर और सम्मान करके साधु-सिरमौर बना दिया। हे कृपालु! आपके बिना और कौन अपनी प्रबल विरुदावली को हठ-पूर्वक पालेगा? अर्थात् कोई नहीं ॥२९९॥

विशेष—(१) 'आप समाज साज···'—आप ही अपने रीझने के योग्य साज-समाज (गुण वैभव) दास को दे देते हैं और फिर आप ही उन गुणों पर प्रसन्न होते हैं, ऐसा दूसरा स्वामी कौन है?, यथा—"मोहिं कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै। सोभा सुख छतिलाहु भूप कहँ केवल कांति मोल हीरै॥" (गी० लं० १५), अर्थात् पाठक अपने प्रसन्न होने के योग्य पाठ तोते को पढ़ाता है और फिर सुनकर उससे प्रसन्न होता है, इसी बात को आगे शुक और पशु के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(२) 'निज करतूति न समुझिय सपने।'—सेवक पर आपने जो बहुत-से उपकार किये हैं उनकी स्मृति चित्त में स्वप्न में भी नहीं आने पाती, यथा—"निज गुन अरिकृत अनहितो दास-दोष सुरति चित रहति न दिये दान की। बानि बिसारनसील है मानद अमान की॥" (वि० ४२), "किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी।" (भाग० १०।८१।३५), अर्थात् (भगवान्) अपने बहुत कुछ दिये हुए को भी थोड़ा मानते हैं, और भक्त के थोड़े उपहार को भी बहुत मानते हैं। सेवक का संकोच देख कर स्वयं सोचते हैं कि हमने इसे ऐसी योग्यता न दी, यह हमसे चूक हुई। सेवक तो संकोच करता है कि हमसे कुछ सेवा न हो पाई और प्रभु बहुत कृपा कर रहे हैं, पर आप उल्टे स्वयं उसपर शोच करते हैं, यथा—"सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ।" (सुं० दो० ४९), "केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच यहि नहिं कछु दीन्हा॥" (दो० १०१), "लंक जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को कहो ऐसे साहिब की सेवा न खटाय को।" (क० उ० २२)।

(३) 'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी।'—भुजा उठाकर ईश्वर को साक्षी करके प्रतिज्ञा करते हैं।

(४) 'पसु नाचत सुक पाठ प्रवीना।'—पशु भालू, बन्दर, आदि। नट जैसे-जैसे डोरी घुमाता है, पशु वैसे-वैसे नाचता है और पाठक जो कुछ पढ़ावेगा, तोता वही पढ़ेगा, किन्तु प्रशंसा पशु और तोते को होती है, वैसे भक्तों को आप स्वयं वैसे गुण दे देते हैं और आप ही जगत्-रूप से उनकी प्रशंसा भी अनेक मुखों से करते हैं, यथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥" (गीता ११।३३)।

(५) 'यों सुधारि सनमानि जन···'—उपर्युक्त—'पसु नाचत···' उपमान है और यह दोहा उपमेय है, यथा—"आपु हौं आपु को नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकी नाथ पढ़ायो॥···" (क० उ० ६०), "नट-मरकट-इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥" (कि० दो० ६)। 'को कृपाल बिनु···', यथा—"कौन देव बरियाइ बिरद हित हठि हठि अधम उधारे।···" (वि० १०१), 'बरजोर'—यह 'बिरदावलि' और 'पालिहै' दोनों के साथ है।

यहाँ तक सर्वसाधारण पर भलाई करना कहा, आगे अपने पर उसका सम्बन्ध दिखाते हैं। वा, अपने अवगुणों के साथ प्रभु के गुण दिखाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में प्रभु के सुलभता और कृतज्ञता गुणों की प्रधानता है।

सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयेउँ लाइ रजायसु बाँये॥१॥

तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा । सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥२॥
देखेउँ पाय सुमंगल - मूला । जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला ॥३॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू । बड़ी चूक साहिब अनुरागू ॥४॥
कृपा अनुग्रह अंग अघाई । कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ॥५॥
राखा मोर दुलार गोसाँई । अपने सील सुभाय भलाई ॥६॥
नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई । स्वामि-समाज सँकोच बिहाई ॥७॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी । छमिहि देव अति आरति जानी ॥८॥

दोहा—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि ।
आयसु देइय देव अब, सबइ सुधारी मोरि ॥३००॥

शब्दार्थ—बाँया लाना = विरुद्ध करना, जानकर त्याग करना। अनुग्रह = दुःख दूर करने की इच्छा, अंगीकारत्व। अविनय = ढिठाई, उद्दंडता।

अर्थ—मैं शोक से, स्नेह से किंवा बाल-स्वभाव (लड़काई) से (आपकी) आज्ञा को बायें लाकर यहाँ आया ॥१॥ तब भी, हे कृपालो ! आपने अपनी ओर देखकर सभी प्रकार से मेरी भलाई ही मानी ॥२॥ सुन्दर मंगलों के कारण रूप आपके चरणों के दर्शन किये और स्वामी को स्वाभाविक ही अपने अनुकूल जान लिया ॥३॥ इस बड़े समाज में अपना भाग्य देखा कि बड़ी भारी चूक होने पर भी स्वामी का मुझपर इतना अनुराग है ॥४॥ आपकी कृपा और अनुग्रह से मैं अंग-अंग से (पूर्ण) अघा गया, हे कृपानिधे ! आपने सब कुछ अधिकता से ही किया है ॥५॥ हे गोसाईं ! अपने शील-स्वभाव और भलाईपने से आपने मेरा दुलार रक्खा ॥६॥ हे नाथ ! मैंने स्वामी (आपका) और समाज का संकोच छोड़कर नितान्त ढिठाई की है ॥७॥ हे देव ! अत्यन्त विपत्ति (दशा) जानकर मेरी रुचि के अनुकूल (कही हुई) इस अविनय या विनय की वाणी को क्षमा कीजियेगा ॥८॥ सुहृद, सुजान और सुसाहिब से बहुत कहना बड़ा अनुचित (दोष) है। हे देव ! मुझे अब आज्ञा दीजिये, वही मेरा सब सुधार करेगी, अर्थात् मेरे सुधार का दूसरा उपाय नहीं है ॥३००॥

विशेष—(१) 'सोक सनेह कि बाल सुभाये ।···', यथा—"स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः । द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥" (वाल्मी० २।९७।११), अर्थात् स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल होकर भरत हमलोगों से मिलने आ रहे हैं—यह श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा है। बाल-स्वभाव यह कि गुरु, माता और मन्त्रिगण के समझाने पर भी हठपूर्वक यहाँ आया। जैसे बालक हठ करते हैं। शोक पिता-मरण एवं राम-वन-गमन का तथा स्नेह श्रीराम-दर्शनार्थ है। 'निज ओरा', यथा—"कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू । आए सरन तजउँ नहिं ताहू ॥" (उ० दो० ४३)। 'सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ।', यथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे । पुन्य सिलोक तात तर तोरे ॥ उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई । जाइ लोक पर लोक नसाई ॥ ··मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार । लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥" (दो० २६३), इत्यादि सुयश दिये।

(२) 'देखेउँ पाय सुमंगल-मूला ।'—चित्रकूट आने का लाभ कहते हैं कि श्रीअवध में जो कामना थी—"देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ ।" (दो० १८२), तदनुसार—'देखेउँ पाय···'। पुनः पहले (मार्ग में) समझा था—"राम लखन सिय सुनि मम नाऊँ । उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥" (दो० २३२), उसपर यहाँ कहते हैं—"जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला ।"

(३) 'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू।'—श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी और श्रीजनकजी आदि का समाज है, इससे बड़ा कहा है। 'बड़ी चूक'—आज्ञा-उल्लंघन है। इतनी भारी चूक पर भी स्वामी का ऐसा अनुराग है, यही तो भाग्य की बड़ाई है।

(४) 'कृपा अनुग्रह अंग·····'—कृपा-अनुग्रह से मैं पूर्ण तृप्त हो गया। कृपानिधे! आपने मेरी योग्यता की अपेक्षा से मुझपर बहुत अधिक कृपा और अनुग्रह किये। कृपा से मेरे दोष नाश किये और फिर अनुग्रह से मुझे अंगीकार किया।

(५) 'राखा मोर दुलार···'—आप ही ने रक्खा, अन्यथा विधि ने तो इसे नाश ही कर डाला था, यथा—"बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥" (दो० २६०)। 'अपने सील सुभाय भलाई'—शील-स्वभाव से दोषों को न देखा और भलाई के स्वभाव से दुलार किया। वा, शोक से आया तो आपने शील से दुलार किया। स्नेह से आया, तो अपने स्वभाव से और बाल स्वभाव के प्रति भलाई से मेरा दुलार रक्खा। यह उपर्युक्त चौपाई के अनुसार भाव है।

(६) 'निपट·····ढिठाई'—बड़ों के समाज में बोलना ही ढिठाई है और स्वामी के समक्ष में भी संकोच छोड़कर बोलना नितान्त ढिठाई है।

(७) 'अबिनय बिनय जथा रुचि बानी।·····'—ढिठाई है वा प्रार्थना है, रुचि के अनुसार कही गई है, वह क्षमा के योग्य है, क्योंकि मैं आर्त्त हूँ, आर्त्त के चित्त में चेत (सावधानता) नहीं रहती, यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥" (वि० ३४)।

(८) 'सुहृद सुजान सुसाहिबहि···'—सुहृद स्वयं सदा हित ही करता है, सुजान अपने जनों के हृदय की भी जानता है, यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (दो० ३१३), और वह जो कुछ करता है, वह शास्त्र-दृष्टि से ही करता है। सुसाहिब अपने सेवक का सदा-सँभार स्वयं करता है और उसके दोषों पर भी दृष्टि नहीं देता। जिसमें ये तीनों गुण हैं, ऐसे स्वामी से कहना कि मुझे ऐसा कीजिये, बड़ा दोष है। 'बहुत कहब' अर्थात् थोड़ा भी कहना दोष ही है, बहुत कहना तो बड़ा दोष है, क्योंकि उपर्युक्त गुण विशिष्ट स्वामी से कहने से स्वामी में निर्दयता, बेसमझी एवं कुस्वामीपने का दोषारोपण होता है, यही विचारकर ये कहते हैं—'आयसु देइय देव अब·····' आगे भी कहेंगे—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।···"—यहाँ भी शंका सम्भव है कि मैं आज्ञा दूँ और कहीं तुम न मान सको, उसपर श्रीभरतजी आगे शपथपूर्वक अपनी प्रतिज्ञा कहते हैं।

प्रभु-पद-पदुम-पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुखसीवँ सुहाई॥१॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥२॥
सहज सनेह स्वामि-सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥३॥
अग्यासम न सुसाहिब-सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥४॥
अस कहि प्रेमबिवस भये भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥५॥
प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई। समय सनेह न सो कहि जाई॥६॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाये समीप गहि पानी॥७॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमलों की धूलि, जो सुन्दर सत्य, सुकृत और सुख की सुन्दर सीमा है, उसकी शपथ करके अपने हृदय की जागते, सोते और स्वप्न अवस्था की रुचि कहता हूँ॥१-२॥ स्वाभाविक स्नेह से, स्वार्थ, छल और चारो फलों (वा, चारो फलों के स्वार्थ-रूपी छल) को छोड़कर स्वामी की सेवा करूँ

(यही मेरी रुचि है, क्योंकि) ॥३॥ आज्ञा (पालन) के समान अच्छे स्वामी की दूसरी सेवा नहीं है, हे देव ! वही प्रसाद (प्रसन्नता की दात) मुझ सेवक को प्राप्त हो ॥४॥ ऐसा कहकर वे प्रेम के अत्यन्त विवश हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया और उनकी आँखों में जल भर आया ॥५॥ अकुलाकर प्रभु के चरण-कमलों को पकड़ लिया, वह समय और स्नेह एवं उस समय का स्नेह कहा नहीं जाता ॥६॥ कृपा-सागर श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर वाणी से उनका सम्मान करके हाथ पकड़कर (उन्हें अपने) समीप बैठाया ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-पदुम-पराग·····'—सत्य-सुकृत आदि चरण-रज के विशेषण हैं, जो इस रज की अन्यथा शपथ करेगा, अर्थात् झूठी सौगन्द करेगा, उसके ये सत्य आदि नष्ट हो जायँगे।

'सीवँ' अर्थात् सत्य आदि की सीमा (हद) बस, यहीं तक है। 'सुहाई' शब्द सत्य आदि के साथ है, क्योंकि सत्य आदि दोषों से असुहावन भी होते हैं।

इस रज से अहल्या को सत्य, अर्थात् सत्य शुद्ध अपना रूप, निषाद को सुकृत और दण्डक-वन को सुख प्राप्त हुआ, इनके द्वारा रज के महत्त्व का प्रमाण है।

(२) 'रुचि जागत सोवत सपने की।'—तुरीया तो स्वाभाविक शुद्ध ही है, उसमें प्रभु की प्राप्ति रहती ही है। जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न, इनमें विक्षेप-विकार होते हैं, इससे इन्हीं की रुचि शपथ करके कही।

(३) 'सहज सनेह स्वामि···'—यही तीनो अवस्थाओं की रुचि है, यथा—"स्वारथ परमारथ रहित, सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत येह ॥" "परहुँ नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ ॥" (दोहावली ६०+९२), 'स्वार्थ' देह-सुख-साधन, 'छल' कहना कुछ और करना कुछ, पुनः अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चार फलों की इच्छा छोड़कर। वा, चारो फलों का स्वार्थ ही छल है, यथा—"भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी ॥" (कि० दो० ९२)—वि० २४० के 'सिद्धान्त-तिलक' में सहज स्नेह वृत्ति एवं उसके प्रमाण-उदाहरण देखिये।

(४) 'अस कहि प्रेमबिबस···'—'अस'—आप प्रसन्न हैं, तो प्रसाद-रूपी आज्ञा मिले, ऐसा कहते ही भावी वियोग पर व्याकुल हो गये और चरण-कमल पकड़ लिये कि इनका वियोग मुझे असह्य है। फिर प्रेम के विवश होने की दशा पुलक आदि से हो आई, यथा—"कंप पुलक तनु नयन सरीरा। गहे चरन अतिप्रेम अधीरा ॥" (दो० ३९), "चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत ॥" (मु० दो० ३२), इत्यादि। 'करि प्रनाम बोली भरत—उपक्रम है और यहाँ 'अस कहि प्रेमबिबस···' यह उपसंहार है। 'अस कहि'—वचन, 'प्रेम बबस'—मन और 'पुलक सरीर···'—तन, तीनों से प्रेम-विवश हैं। इस भाषण के उपक्रम में भी तीनो से प्रेम-वशता लिखी गई है। अतः, प्रसंग भर प्रेम पूर्ण है। श्रीभरत-जी का भाषण यहाँ समाप्त हुआ।

(५) 'कृपासिंधु सनमानि···'—इसपर स्वामी के हृदय में समुद्र-रूपा कृपा उमड़ आई और सुन्दर प्रेममयी वाणी से आश्वासन किया कि भैया ! अधीर न हो, समीप बैठाकर जनाया कि हमें सदा पास ही समझो। ऊपर भरतजी की मन, तन, वचन से विनती हुई तो आपने भी तीनों से उनसे बर्ताव प्रेमपूर्वक ही किया—'कृपासिंधु'—मन, 'सुबानी'—वचन और 'बैठाये समीप गहि पानी'—यह तन से प्रेम बर्ताव किया है।

भरत-बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ ॥८॥

छन्द—रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिलाधनी ।
मन महँ सराहत भरत-भायप-भगति की महिमा घनी ।
भरतहिं प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन-से ।
तुलसी बिकल सब लोगसुनि सकुचे निसागम नलिन-से ।

सोरठा—देखि दुखारी दीन, दुहुँ समाज नर - नारि सब ।
मघवा महामलीन, मुये मारि मंगल चहत ॥३०१॥

शब्दार्थ—धनी = मालिक, राजा, स्वामी । मघवा (सं० मघवन्) = इन्द्र । धनी = बहुत बड़ी ।

अर्थ—श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर और उनका स्वभाव देखकर सारी सभा और श्रीरघुनाथजी स्नेह से शिथिल हो गये ॥८॥ श्रीरघुनाथजी, साधु-समाज, श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीमिथिला के स्वामी श्रीजनकजी स्नेह से शिथिल हो गये । मन-ही-मन सब श्रीभरतजी के भ्रातृत्व और भक्ति की बहुत बड़ी महिमा सराहते हैं । अपने मलिन मन से देवता श्रीभरतजी की बड़ी बड़ाई करते हैं और फूल बरसा रहे हैं । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सबलोग (यह निर्णय) सुनकर ऐसे व्याकुल एवं संकुचित हो गये, जैसे रात के आगमन से कमल ॥ दोनो समाजों के सभी स्त्री-पुरुषों को दुखी और दीन देखकर महामलिन (मनवाला) इन्द्र इन मरे हुए लोगों को मारकर अपना मंगल (भला) चाहता है ॥३०१॥

विशेष—(१) 'भरतहिं प्रसंसत बिबुध···'—'मानस मलिन-से'—अब भी देवताओं के मन में सन्देह-रूपिणी मलिनता है—(क) श्रीभरतजी ने तो आज्ञा माँगी, पर श्रीरामजी ने उनके प्रेम-वश होकर न जाने क्या कहा ? (ख) प्रेमातुर होकर चरण पकड़े और श्रीरामजी ने पास बैठाया, तब फिर सन्देह हो गया कि न जाने अब क्या हो ? अब भी मन में मलिनता है कि श्रीभरतजी किसी तरह शीघ्र लौट जायँ । 'मन महँ सराहत···'—क्योंकि स्नेहाधिक्य से बोल नहीं सकते ।

(२) 'सब लोगसुनि सकुचे निसागम नलिन-से'—आगे वियोग-रूपी रात के आगमन की सम्भावना है, क्योंकि श्रीभरतजी ने श्रीरामजी की आज्ञा पर छोड़ दिया और श्रीरामजी पिता की आज्ञा पालने में दृढ़व्रत हैं ही, इससे स्वयं न लौटकर सबको लौटने को ही कहेंगे । अभी श्रीरामजी की निश्चित आज्ञा नहीं हुई, इसीसे 'निसागम' कहा है ।

(३) 'मघवा महामलीन···'—लोग वियोग और स्नेह से स्वतः शिथिल हैं, सूखे जा रहे हैं, इन दीन-दुखियों को सताना अधमता है । इन्द्र इनपर पूर्व रचित उच्चाटन का प्रयोग करना चाहता है, इसीसे उसे 'महामलीन' कहा और 'मघवा' इस अनादर-सूचक नाम से कहा । इसी नाम से आगे श्रीरामजी भी इसे कुत्ते के समान कहेंगे ।

कपट - कुचालि - सीवँ सुरराजू । पर-अकाज-प्रिय आपन काजू ॥१॥
काक - समान पाकरिपु-रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥२॥
प्रथम कुमत करि कपट सँकेला । सो उचाट सबके सिर मेला ॥३॥
सुरमाया सब लोग बिमोहे । रामप्रेम अतिसय न बिछोहे ॥४॥
भय उचाटबस मन थिर नाहीं । छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं ॥५॥
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी । सरित सिंधु संगम जनु बारी ॥६॥

दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं ॥७॥
लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू ॥८॥

दोहा—भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहिं, जथाजोग जन पाइ ॥३०२॥

शब्दार्थ—पाकरिपु = इन्द्र। मेला = डाला। दुबिध = दुविधा में पड़ी हुई। दुचित = अस्थिर चित्त, सन्देह में पड़ा हुआ, दो ओर चित्त जाना। जुबान् = युवक।

अर्थ—देवराज इन्द्र कपट और कुचाल की हद (मर्यादा) है, उसे दूसरे का कार्य बिगाड़ना और अपना कार्य साधना प्रिय है ॥१॥ पाक नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र की रीति कौए के समान है, वह छली और मलिन है, उसका किसीपर विश्वास नहीं ॥२॥ उसने पहले कुमन्त्र करके कपट एकत्र किया (था), उसी उच्चाटन को (यहाँ, इस समय, उसने) सबके सिर पर डाल दिया ॥३॥ उस देव-माया से सबलोग विशेष मोहित तो हो गये, परन्तु श्रीरामजी के अतिशय प्रेम से उनका अतिशय विछोह नहीं हुआ ॥४॥ उच्चाटन के वश होने से लोगों का मन स्थिर नहीं है, क्षण-भर तो वन की रुचि रहती है, फिर क्षण में घर अच्छे लगने लगते हैं ॥५॥ दुविधामय मन की गति होने से प्रजा दुखी है, (लोगों का हृदय) मानों नदी और समुद्र के संगम का जल है (जो कभी इधर कभी उधर आता-जाता है) ॥६॥ अस्थिर चित्त होने से वे लोग कहीं भी सन्तोष नहीं पाते, एक-दूसरे से अपना भेद नहीं कहते ॥७॥ यह देखकर कृपासागर श्रीरामजी हृदय में हँसकर कहते हैं कि कुत्ता, इन्द्र और युवक समान (प्रकृतिवाले) हैं ॥८॥ श्रीभरतजी, श्रीजनकजी, मुनिलोग, मन्त्री और सज्ञान साधुओं को छोड़कर सभीको मनुष्यों की योग्यतानुसार देवमाया लगी, अर्थात् न्यूनाधिक चेतनता के अनुसार लगी ॥३०२॥

विशेष—(१) 'कपट-कुचालि-सीवँ·····कतहुँ न प्रतीती।'—परम भक्त श्रीभरत की ओर कुदृष्टि देख तथा ऐसे ही और भी भक्तों एवं ऋषियों से छल करने का इसका स्वभाव जानकर यहाँ पर कवि ने इसके लिये सात क्रूर विशेषण दिये हैं—कपट सीवँ, कुचाल सीवँ, पर अकाज प्रिय, आपन काज प्रिय, छली, मलिन और अविश्वासी। इन दुर्गुणों की यह सीमा है। सात गिनाकर अवगुणों की अगाधता में इसे सातो समुद्रों के तुल्य कहा। 'पाकरिपु-रीती'—से सूचित किया कि पाक दैत्य के साथ इसने इन दुर्गुणों का प्रयोग किया है, तभी से इसका यह स्वभाव-सा पड़ गया है। जो स्वयं छली और अविश्वासी होता है, वह दूसरों में भी छल आदि की शंका करता है, वैसा ही यह भी श्रीभरतजी से डरता है।

(२) 'प्रथम कुमत करि कपट·····'—प्रथम दो० २९५ में कुमन्त्र करके उच्चाटन प्रयोग की रचना कही गई थी, उसका प्रयोग होना यहाँ कहते हैं। यह प्रयोग ही उपर्युक्त 'मुए का मारना' है। 'रामप्रेम अतिसय न बिछोहे'—देवमाया लगने पर अतिशय श्रीराम-प्रेम होने के कारण उस प्रेम से अतिशय विछोह भी न हुआ, किन्तु दुचित हो गये।

(३) 'दुबिध मनोगति····'—जैसे नदी का जल वेग से समुद्र में जाता है और समुद्र के वेग से उसका जल नदी में आता है, ठेका-ठेली लगी रहती है। उसी तरह कभी घर की रुचि प्रबल होकर वन की रुचि को दबा देती है और कभी वन की रुचि प्रबल होकर घर की रुचि को दबाती है, चित्त शान्त नहीं हो पाता। जैसे नदी वेग से समुद्र की ओर चलती रहती है, वैसे इनलोगों के मनों की गति श्रीरामजी की ओर थी। जब समुद्र का वेग बढ़ता है, तब समुद्र के जल के साथ नदी का जल भी उलटी गति से लौट पड़ता है, वैसे देवमाया के वेग से कभी इनके मन घर की ओर लौट पड़ते हैं। पर कुछ दूर जाकर वह

जल फिर समुद्र की ही ओर लौट पड़ता है। वैसे ही इनके मन क्षणिक विक्षेप के पश्चात् फिर श्रीरामजी की ओर आ जाते हैं, इसीसे 'राम प्रेम अतिसय न बिछोहे' कहा ही गया है।

(४) 'एक एक सन मरम·····'—लज्जा लगती है कि यह सुनकर दूसरे हँसेंगे कि अरे! श्रीरामजी को छोड़कर घर की रुचि है, वह प्रेम कहाँ गया? 'भय उचाट बस मन थिर नाहीं'—पूर्व दो० २६५ में 'भय भ्रम अरति उचाट' कहा गया था। यहाँ 'भय' को श्लिष्ट मानकर—'हुए' इस अर्थ के अतिरिक्त डर का भी अर्थ होता है तो कहीं व्याघ्र आदि से डर भी लगते हैं, उच्चाटन है ही। 'दुबिध मनोगति ···' में अरति भी चरितार्थ है।

(५) 'लखि हिय हँसि कह·· ···'—कृपानिधान श्रीरामजी की दया भक्तों पर है, इससे इनके प्रति अपचार देखकर निरादर की दृष्टि से इन्द्र पर हँसे कि यह हमारे प्रेम में पगे हुए लोगों के प्रति भी बिना कारण अपचार करता है, जैसे कुत्ता व्यर्थ शंका पर भूँकता, गुर्राता और काटने दौड़ता है। यह समझता है कि श्रीभरतजी श्रीरामजी को छीन ले जायँगे। अच्छा किया है, पाणिनि ने, जो श्वन्, युवन् और मघवन् को एक ही सूत्र में लिखा (पिरोया) है, सत्य ही इनकी प्रकृति एक-सी है, यथा—"सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज। छीन लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिं न लाज॥" (बा० दो० १२५), जवान कामी होता ही है, वैसे ही इन्द्र भी कामी है, इसीसे वह कुटिल है, यथा—"जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं।" (बा० दो० १२४)।

पुनः श्वान अपने गाँव में शंका-रहित रहता है, इसीसे ग्राम-सिंह भी कहा जाता है, जैसे जवान मदान्ध होता है, वैसे ही इन्द्र शंका-रहित है।

इन तीनों शब्दों की बनावट (प्रकृति) एक समान होने से पाणिनि महर्षि ने इन्हें एक सूत्र में रक्खा है, यथा—"श्वयुवमघोनामतद्धिते" (६।४।१३३), इसीपर किसी कवि ने हास्य की रीति से कहा है—"काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे नार्यो निगच्छन्ति न चित्रमेतत्। स शास्त्रकृत् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥" यहाँ काँच-तुल्य 'श्वान', मणि-तुल्य 'युवा' और काञ्चन-तुल्य 'मघवा' को कहा है।

यहाँ ग्रन्थकार ने व्याकरण के सूत्र का आशय लेकर इन्द्र को श्वान के तुल्य कहने में हास्य की रीति से बुद्धि की विलक्षण चातुरी दिखाई है।

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुर-पति-छल भारे॥१॥
सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री। भरतभगति सबकै मति जंत्री॥२॥
रामहि चितवत चित्र लिखे-से। सकुचत बोलत बचन सिखे-से॥३॥
भरत - प्रीति - नति-बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥४॥

शब्दार्थ—जंत्री (यंत्र = ताला) = ताला लगा दिया, यथा—"लोचन निजपद जंत्रित···" (सुं० दो० ३०)।

अर्थ—कृपासागर श्रीरामजी ने लोगों को अपने स्नेह और इन्द्र के छल के भार से दुखी देखा॥१॥ सभा, राजा, गुरु, ब्राह्मणगण और मन्त्रिगण—इन सबकी बुद्धि पर श्रीभरतजी की भक्ति ने ताला लगा दिया, अर्थात् सभी मुग्ध होकर किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ से हो रहे हैं॥२॥ सबलोग लिखे हुए चित्र (तसवीर) की तरह श्रीरामजी को (एकटक) देख रहे हैं और बोलने में सिखे हुए वचन बोलनेवाले की तरह सकुचते हैं॥३॥ श्रीभरतजी की प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुनने में सुख देनेवाली हैं, पर उनके वर्णन करने में कठिनाइयाँ हैं॥४॥।

विशेष—(१) 'कृपासिंधु लखि·····'—भक्तों पर उच्चाटन प्रयोग देखकर दया है।

(२) 'सभा राउ गुरु महिसुर·····'—जो लोग देवमाया से बचकर सचेत थे, वे श्रीभरतजी की

भक्तिमयी वाणी सुनकर अवाक् हो रहे हैं, सबकी बुद्धि पर ताला-सा लग गया। अब श्रीरामजी पर सबकी एकटक दृष्टि है कि देखें अब क्या आज्ञा देते हैं? जैसे पहले—"सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत॥" (दो० २९६), पर कहा गया है। 'चित्र लिखे-से', यथा—"राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि।" (बा० दो० २६०)।

(३) 'सकुचत बोलत बचन लिखे-से।'—बोलने में सकुचते हैं कि घर से आये थे कि श्रीरामजी को लेकर लौटेंगे अथवा उनके साथ ही रहेंगे। पर एक भी न हुआ, और फिर मन में उच्चाटन की दशा विचारकर बोलने में सकुचते हैं कि भीतर से तो घर की ओर वृत्ति लगी है और मुख से कहें कि हम साथ ही रहेंगे, तो बनता नहीं। किसी-न-किसी तरह भीतरी भाव बोलने में प्रकट हो ही जायगा। पूर्व की निश्चित बातें कहने में संकोच लगता है कि हृदय में और होने से अब वे बातें रटी हुई सी जान पड़ेंगी और अप्रामाणिक होंगी, तो फिर लज्जित होना होगा।

(४) 'भरत-प्रीति-नति·····'—'प्रीति'—यह इनके चरित-भर में पूर्ण है। नम्रता यह कि श्रीरामजी पैदल गये, तो मुझे सिर के बल से जाना चाहिये, यह इन्होंने पहले आते समय कहा है। विनय का स्वरूप त्रिवेणी की धार में तीर्थराज के समक्ष में कहा है, वह देखने योग्य है। बड़ाई जैसे कि प्रयाग में धन्य-धन्य की ध्वनि छा गई। श्रीभरद्वाजजी ने और फिर आकाशवाणी एवं श्रीरामजी ने भी बड़ाई की है। इन सब प्रसंगों के सुनने में सुख होता है, पर वर्णन करना कठिन है।

जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेममगन मुनिगन मिथिलेसू॥५॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी॥६॥
आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥७॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मतिगति बालबचन की नाई॥८॥

दोहा—भरत-बिमल-जस बिमल बिधु, सुमति चकोर-कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय-नभ, एकटक रही निहारि॥३०३॥

अर्थ—जिसकी भक्ति का कण-मात्र देखकर मुनि-गण और मिथिलापति राजा श्रीजनकजी प्रेम में डूब गये हैं॥५॥ उन भरतजी की महिमा तुलसीदास क्योंकर कहे? भक्ति के स्वभाव से हृदय में स्वाभाविक सुमति उल्लसित हुई॥६॥ (परन्तु) अपनेको छोटी और भरत-महिमा को बड़ी जानकर पुनः कविवंश की मर्यादा समझकर सकुच गई॥७॥ रुचि तो बहुत है, पर श्रीभरतजी के गुणों को कह नहीं सकती, बुद्धि की गति (व्यवस्था) बाल-वचन की-सी हो रही है, (जैसे छोटा बच्चा कुछ कहना तो चाहता है, पर वह वचनों-द्वारा मन की बातों को कह नहीं पाता)॥८॥ श्रीभरतजी का निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है और सुमति चकोर-कुमारी है, वह निर्मल भक्तों के हृदय-रूपी आकाश में उदित उस चन्द्रमा को एकटक देखती ही रह गई है॥३०३॥

विशेष—(१) 'जासु···प्रेममगन···', यथा—"जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी।" (दो० ३१७), तथा—"भरत महा महिमा···मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला-सी॥" (दो० २५६), "भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम···" (दो० २८८)। 'भगति सुभाय सुमति···'—भक्ति के कारण भक्त लोग कुछ इष्ट के यश-कथन की लालसा करते हैं, यथा—"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥···" से "तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥" (बा० दो० १२) तक। वैसे ही भक्ति के स्वभाव से

मेरे हृदय में भी सुमति का विकास हुआ है। वह कुछ कहना चाहती है, यथा—"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥" (बा० दो० ३५), वहाँ तो 'रामचरितमानस' के कवि हो चले और चरित कहा भी, पर यहाँ श्रीभरतजी की महिमा नहीं कह पाते। 'कहै किमि' पर कहा जा सकता है कि तब चुप हो जाओ, उसपर कहा कि भक्ति के स्वभाव से चुप रहा नहीं जाता। प्रबल इच्छा पर कह उठते हैं, तो बाल-वचन की नाईं दशा होती है—कहना चाहता हूँ कुछ, तो निकलता है कुछ। भाव यह कि श्रीभरत-चरित परम दिव्य है, अतएव मेरी प्राकृत वाणी से परे है।

(२) 'भरत-बिमल-जस बिमल बिधु·····'—श्रीभरतजी का निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है, (अन्य भक्तों के यश तारा-गण हैं) सुमनि चकोर-कुमारी है, यहाँ मति को सुमति कहा, क्योंकि परम भक्त के यश-कथन के लिये उल्लसित है, जब असमर्थ हुई, तब 'मति गति' में मति-मात्र कहा है। 'कुमारी' अर्थात् कन्या और भी असमर्थ होती है। चकोरी चन्द्र-छवि का पार नहीं पाती, किन्तु दर्शनों में ही मुग्ध होकर सुख पाती है। वैसे ही मेरी सुमति उसपर मुग्ध होकर एकटक देखने में ही सुख पा रही है। यहाँ 'एकटक' निहारने के साथ शिथिल होना और सुख पाना भी लेना चाहिये, क्योंकि चकोरी में सर्वत्र तीनों बातें पाई जाती हैं, यथा—"थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकनिहूँ परिहरीं निमेषे॥ अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥" (बा० दो० २३१), "सिय मुख ससि भये नयन चकोरा। ··देखि सीय सोभा सुख पावा।" (बा० दो० २२९), अर्थात् स्नेह से मति भोरी हो गई, मन-चित्त आदि भी उसीमें लय हो सुख पा रहे हैं। जैसा विमल-यश, वैसा ही उसका उपमान विमल विधु और स्थान विमल जन-हृदय है।

भरत-सुभाव न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कवि छमहूँ॥१॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीय-राम-पद होइ न रत को॥२॥
सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥३॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥४॥
धरमधुरीन धीर नय-नागर। सत्य-सनेह-सील-सुख-सागर॥५॥
देस काल लखि समय समाजू। नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥६॥
बोले बचन बानि-सरबस-से। हित परिनाम सुनत ससि-रस-से॥७॥

शब्दार्थ—बाम = विमुख, खोटा। बानि सरबस से = मानो सरस्वती की सब कुछ पूँजी यही है, ऐसा।

अर्थ—श्रीभरतजी के स्वभाव का वर्णन करना वेदों के लिये भी सुगम नहीं है, मेरी तुच्छ बुद्धि की चपलता को कविजन क्षमा करें॥१॥ श्रीभरतजी के सद्भाव को कहते-सुनते श्रीसीतारामजी के चरणों में अनुरक्त कौन नहीं हो जायगा? अर्थात् जो कहे-सुनेगा, वही अनुरक्त हो जायगा॥२॥ श्रीभरतजी का स्मरण करते ही जिसको श्रीरामप्रेम सुलभ नहीं हुआ, उसके समान खोटा (वा भाग्य-विमुख) कौन होगा?॥३॥ दयालु और सुजान श्रीरामजी ने सभी की दशा देख अपने भक्त के हृदय की जानकर॥४॥ धर्म-धुरन्धर, धीर, नीति में निपुण, सत्य, स्नेह, शील और सुख के सागर॥५॥ नीति और प्रीति के संरक्षक श्रीरघुनाथजी देश, काल, समय और समाज को देख (विचार) कर (तदनुसार)॥६॥ वचन बोले, जो सरस्वती के सर्वस्व के समान थे, वे वचन अन्त में हितकारी और श्रवण करने में अमृत के समान थे॥७॥

विशेष—(१) 'कवि छमहूँ'—क्षमा की प्रार्थना करनी है, तो कहने ही से बाज आओ, उसपर

कहते हैं—"कहत सुनत सतिभाउ···" अर्थात् मैं इसीलिये कहता हूँ। यह हुआ भी, यथा—"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।···कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥" (दो० ३२६)। यह भरत-सद्भाव के श्रोताओं और वक्ताओं के लिये आशीर्वाद भी है।

'तेहि सरिस बाम को'—ऐसे सुलभ साधन से भी यदि इसने भरत-भक्ति कर लाभ न उठाया तो वह बड़ा ही खोटा है।

(२) 'देखि दयाल दसा सबही की।···'—श्रीभरतजी के भाषण के प्रभाव से लोग विकल हो गये थे, यथा—"तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥" (दो० ३०१), तब कवि इन्द्र की कुचाल कहने लग गये थे, फिर—"कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह···" से वही प्रसंग लिया, किन्तु फिर श्रीभरत-भक्ति की महिमा पर मुग्ध हो गये। उसे कुछ कहकर तो उसी छोड़े हुए प्रसंग—'कृपासिंधु लखि लोग दुखारे।' को यहाँ—"देखि दयाल दसा···" से फिर उठाते हैं।

'राम सुजान जानि जन जी की।'—भक्तों के मन की जानने के सम्बन्ध से सुजान कहा है।

(३) 'धरमधुरीन धीर·····'—बोलने में पहले धर्म-धुरीण कहकर सूचित किया कि इस भाषण में धर्म (पिता-वचन-पालन) पर ही दृष्टि रहेगी, यथा—"मातु-पिता-गुरु-स्वामि-निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ सो तुम्ह करहु करावहु मोहू।" (दो० ३०५), धर्मधुरीण आदि सात विशेषण कहते हुए अन्त में 'सागर' पद देकर इसे सबों के साथ जनाया कि ये सातो गुण सातो समुद्रों की तरह अपार एवं अगाध हैं। इन सातो के सूक्ष्म भाव—पिता के वचन रक्खेंगे, कष्ट सहने में धीर हैं, नीति भी रक्खेंगे, अपने वचन सत्य करेंगे, सबके स्नेह और शील को भी रक्खेंगे, स्वयं सुख के सागर हैं, औरों को भी सुखद आज्ञा देंगे। 'देस, काल' के भाव ऊपर कहे गये। 'बोले बचन बानि ··'—सरस्वती का सर्वस्व सिद्धान्त इसमें ही आ गया, यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई।" (उ० दो० ९१), ऐसा कहा ही है। जो परिणाम में हितकर और सुनने में प्रिय अमृत के समान मधुर और आह्लादकारक है। वाणी का प्रिय होना और परिणाम (अन्त) में हितकर होना दुर्लभ है, यथा—"बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥" (लं० दो० ८), जो वचन सुनने में प्रिय होते हैं, वे प्रायः परिणाम में दुःखद होते हैं, यथा—"सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥" (लं० दो० ८), परन्तु इस वाणी में दोनों गुण हैं।

श्रीरामजी का भाषण

तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक - बेद - बिद प्रेम-प्रबीना॥८॥

दोहा—करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुरुसमाज लघु - बंधु-गुन, कुसमय किमि कहि जात॥३०४॥

जानहु तात तरनि - कुल - रीती। सत्यसंध पितु-कीरति प्रीती॥१॥
समय समाज लाज गुरुजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥२॥
तुम्हहिं बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥३॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर-अनुसारा॥४॥

अर्थ—हे तात श्रीभरतजी! तुम धर्म-धुरन्धर हो, लोक और वेद (दोनों) के जाननेवाले हो और फिर प्रेम में भी प्रवीण हो॥८॥ हे तात! कर्म, वचन और मन से स्वच्छ तुम्हारे समान तुम्ही हो, गुरुजनों के समाज में और इस कुसमय में छोटे भाई के गुण कैसे कहे जा सकते हैं?॥३०४॥ हे तात! तुम

सूर्यकुल की रीति और सत्य प्रतिज्ञ पिता की कीर्त्ति में प्रीति को जानते हो ॥१॥ समय, समाज, गुरुजनों की लाज तथा उदासीन, मित्र और शत्रु के मन की (बात) ॥२॥ सभीके कर्त्तव्य, अपने और मेरे परम हित और परम धर्म तुमको विदित हैं ॥३॥ मुझे सब तरह से तुम्हारा भरोसा है, फिर भी समय के अनुसार कुछ कहता हूँ, (अन्यथा कहने-समझाने की आवश्यकता न थी) ॥४॥

विशेष—(१)—'तात भरत तुम्ह ···'—श्रीभरतजी ने अपने भाषण में प्रभु की बड़ाई और अपने दोष कहे थे, उसपर श्रीरामजी उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें निर्दोष कहते हैं कि तुम तो धर्मधुरीण हो और मन, वचन, कर्म से निर्मल हो। श्रीभरतजी ने कहा था—'स्वामि गोसाँइहिं सरिस गोसाईं।' उसपर आप कहते हैं—'तुम्ह समान तुम्ह तात।' पहले धर्म-धुरीण कहा, क्योंकि उन्हें पिता-वचन-पालन रूप धर्म पर आरूढ़ करना है।

(२) 'गुरुसमाज लघु···'—एक तो श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी एवं श्रीजनकजी आदि गुरुजनों का समाज है जिसमें बहुत बोलना भी अनुचित है, उसपर भी छोटे भाई की प्रशंसा उसके मुख पर कहना, फिर भी कुसमय में जहाँ किसीकी भी प्रशंसा कहना रुचिकर नहीं होता, कैसे उचित हो? यथा—"लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई ॥ (दो० २५८)

(३) 'जानहु तात तरनि-कुल-रीती।·····'—'रीती', यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई ॥" (दो० २७), 'सत्यसंध पितु···', यथा—"राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी ॥" (दो० २६३), 'तजे राम जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम-बिरहागी ॥ नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रमाना ॥" (दो० १७३), भाव यह कि तुम भी कुल-कीर्त्ति में प्रीति करो और पिता के वचन का पालन करो। पिता की कीर्त्ति, यथा—"जियन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा ॥ जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा ॥" (दो० १५५)। भाव यह कि ऐसे कीर्त्तिमान् पिता के बचन सत्य करो, नहीं तो वे श्रीकैकेयीजी के ऋणी रह जायँगे और यह अपकीर्त्ति होगी कि उन्होंने वरदान देकर फिर उसे पूरा नहीं किया। तुम्हारे द्वारा पूरा किया जाना उन्हींका पूरा करना है। तुम्हें कुल-कीर्त्ति की रक्षा करनी चाहिये।

(४) 'समय समाज लाज···'—यह भी जानते हो कि हमारे तुम्हारे लिये कठिन समय आ पड़ा है। बिना राजा के राज्य रक्षा-रहित हो रहा है। समाज की व्यवस्था भी जानते ही हो कि दंडनीति बिना समाज निरंकुश हो प्रमादी हो जाता है, दो राज-समाजों के रक्षक यहीं पर आ जुटे हैं, इन्हें अपने-अपने कर्त्तव्यों पर आरूढ़ होने चाहिये। गुरु-जन यहाँ हमारे-तुम्हारे निर्णय का बाट देखते हैं। उनकी लाज भी रखनी चाहिये कि शीघ्र अपने-अपने कार्यों में लग जाना चाहिये। तुम यह भी जानते हो कि जो उदासीन लोग हैं, उन्हें हमारे-तुम्हारे बनने-बिगड़ने की परवाह नहीं है। हित लोग सब यहीं उपस्थित हैं, यहाँ से वे प्रजा की रक्षा नहीं कर सकते। शत्रु लोग छिद्र ढूँढ़ा करते हैं, वे इस समय हमारी असावधानी से लाभ उठा सकते हैं।

(५) 'तुम्हहिं बिदित सबही···'—किसे क्या करना चाहिये? यह तुम जानते हो। अब मेरा कर्त्तव्य बनवास और तुम्हारा कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। हम दोनों को पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, यही परम धर्म है, और इसीमें परम हित है।

(६) 'मोहि सब भाँति···'—मुझे सब प्रकार तुम्हारा भरोसा है कि तुम स्वयं सब जानते हो। अतः, स्वयं उचित ही करोगे। पर अवसर आ पड़ा है कि सब चाहते हैं और तुम भी चाहते हो कि मैं कहूँ, इसलिये कहवा हूँ।

तात तात बिनु बात हमारी। केवल कुलगुरु-कृपा सँभारी ॥५॥

नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहिं सहित सब होत खुआरू ॥६॥
जौ बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू ॥७॥
तस उतपात तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा ॥८॥

दोहा—राजकाज सब लाज पति, धरम धरनि धन धाम।
गुरु प्रभाव पालिहि सबहि, भल होइहि परिनाम ॥३०५॥

शब्दार्थ—खुआरू (फा० ख्वार) = बरबाद, नष्ट। पति = प्रतिष्ठा, मर्यादा।

अर्थ—हे तात! पिता के बिना केवल कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी की कृपा ने हमारी बात सँभाल ली है ॥५॥ नहीं तो हमारे साथ प्रजा, कुटुम्बी और परिवार के लोग सभी बरबाद होते ॥६॥ जो बिना समय के ही सूर्य अस्त हो जायँ, तो कहिये, संसार में किसे कष्ट न होगा? ॥७॥ हे तात! उसी तरह का उपद्रव ब्रह्मा ने किया था, पर मुनि श्रीवसिष्ठजी और मिथिलेश श्रीजनकजी ने सबकी रक्षा की ॥८॥ राज्य के सब कार्य, सबकी लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथ्वी, धन तथा धाम, इन सभीका पालन गुरु प्रभाव ही करेगा और परिणाम अच्छा होगा ॥३०५॥

विशेष—(१) 'केवल कुलगुरु-कृपा सँभारी'—वाल्मी० २।६७-६८ में विस्तार से कहा गया है कि राजा के शरीर त्यागने पर ऋषि और मन्त्रिगण डर गये कि शीघ्र ही राज्य-रक्षा के लिये कोई नियुक्त हो, नहीं तो अमुक-अमुक रीति से प्रजा नष्ट हो जायगी और अराजक देश में रहना ठीक नहीं, इत्यादि, तब गुरु श्रीवसिष्ठजी ने ही सबको समझाया और फिर श्रीभरत-शत्रुघ्नजी के बुलाने का प्रबन्ध किया, इत्यादि।

(२) 'नतरु प्रजा परिजन परिवारू।'—इसमें परिजन और परिवार शब्द साथ आये हैं, ये अन्यत्र पर्याय माने जाते हैं, पर यहाँ एक से आश्रित (उपजीवी) और दूसरे से कुटुम्बी लोगों का अर्थ लेना चाहिये। 'हमहिं सहित सब होत खुआरू', यथा—"मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥ गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह-दुख-भारू॥'''जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक-अधिकारी॥" (दो० ७०)।

(३) 'जौ बिनु अवसर'''—राजा के शरीर-त्याग का अभी अवसर नहीं था, क्योंकि अभी तो चौथेपन का प्रारम्भ हुआ था, यथा—"श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा॥" (दो० १) यही बिना अवसर सूर्य का अस्त होना है, यथा—"सहस द्वादस पंचसत में कछुक है अब आउ। भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ॥" (गी० उ० २५)। अनवसर-सूर्यास्त से सबको कष्ट होता है, वैसे गुरुजी न होते तो सबको महान् कष्ट होता।

(४) 'तस उतपात तात '''—पहले पिता के मरने पर गुरुजी ने ही सँभाला था, इससे ऊपर केवल गुरु-कृपा को ही कहा। पीछे रक्षा के लिये मिथिलेशजी आये, इससे पीछे उन्हें भी कहा। श्रीमिथिलेशजी ने अवध पर आपत्ति सुनते ही गुप्तचर भेजा, वे यहाँ की व्यवस्था देखते थे। यदि बाहरी बाधा आती तो वे तुरत आकर रक्षा करते ही। फिर चित्रकूट दौड़े आये। यहाँ भी भरतजी के साथ अवध-रक्षण पर विचार किया। फिर अवध जाकर भी चार दिन राज-कार्य सँभालेंगे। आगे भी देखते-सुनते रहेंगे।

(५) 'राजकाज सब लाज'''—राज्य का कार्य सँभालना गुरु-प्रभाव पर निर्भर किया। लाज, पति आदि सब राज्य-कार्य के ही व्यष्टि भेद हैं। 'गुरु प्रभाव' अर्थात् गुरुजी को कुछ करना न होगा, उनके प्रभाव से स्वतः सब सँभला रहेगा।

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु-प्रसाद रखवारा ॥१॥
मातु-पिता-गुरु-स्वामि-निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू ॥२॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल-पालक होहू ॥३॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी ॥४॥
सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी ॥५॥

अर्थ—समाज के साथ तुम्हारा और हमारा, घर में और वन में रक्षक श्रीगुरुजी का प्रसाद (अनुग्रह) है ॥१॥ माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा सम्पूर्ण धर्म-रूपी पृथ्वी को धारण करने के लिये शेष नाग (रूप) है ॥२॥ वही तुम करो और मुझसे भी कराओ, हे तात! इस सूर्य-कुल के रक्षक होओ ॥३॥ साधकों के लिये सब सिद्धियों को देनेवाली यह एक ही कीर्त्ति, सद्गति और ऐश्वर्यमयी त्रिवेणी है ॥४॥ इसे विचारकर एवं भारी संकट सहकर प्रजा और परिवार को सुखी करो ॥५॥

विशेष—(१) 'सहित समाज तुम्हार·····'—यहाँ यथासंख्य अलंकार की रीति 'तुम्हारा' के साथ 'घर' और 'हमारा' के साथ 'बन' का अर्थ है। 'हमारा'—बहुवचन है। अतः, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ मेरा—यह अर्थ है। 'प्रसाद' का अर्थ उपर्युक्त प्रभाव के समान है। भाव यह कि हमारे बिना राज्य-कार्य की हानि न होगी। श्रीभरतजी के साथ तो गुरुजी राज्य-रक्षण में हैं ही, श्रीरामजी के भी रक्षक रहेंगे, यथा—"गुरु बसिष्ठ···इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥" (उ० दो० ७)।

(२) 'मातु-पिता-गुरु·····'—इनकी आज्ञा में सम्पूर्ण धर्मों का भाव है।

(३) 'तरनिकुल-पालक होहू।'—यह सत्य-सन्ध कुल है, यथा—"जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥" यह ऊपर कहा गया है। भाव यह कि सत्य-धर्म की रक्षा करो। इसीसे कुल का पालन होगा, मर्यादा रहेगी।

(४) 'साधक एक सकल·····'—माता-पिता की आज्ञा का पालन करने से कीर्त्ति, गुरु की आज्ञा पालन करने से सद्गति और स्वामी की (मेरी) आज्ञा का पालन करने से भूति मिलती है। वा, तीनों की आज्ञा पालन करने से तीनों ही प्राप्त होती हैं। त्रिवेणी के अनुरोध से माता-पिता की आज्ञा गंगाजी, गुरु की आज्ञा यमुनाजी और स्वामी की आज्ञा श्रीसरस्वतीजी की तरह गुप्त हैं, तथा—"येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः। प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता। येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद्ब्रह्म पूजितम्॥ सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥" (महा० अनुशा० ७।२५।२६), अर्थात् जिन कर्मों से पिता को प्रसन्न किया जाता है, उनसे प्रजापति को, वैसे ही मातृ-पूजा से पृथ्वी की और गुरु पूजा से ब्रह्म की प्रसन्नता होती है। इनकी प्रसन्नता से सब धर्मों का आदर होता है तथा इनके निरादर से सब धर्म निष्फल हो जाते हैं।

(५) 'सो बिचारि सहि···'—यह विचारकर कि प्रजा-पालन की आज्ञा मानने से कीर्त्ति, सुगति और ऐश्वर्य एवं सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। 'संकट भारी'—मेरे वियोग में तुम्हें भारी दुःख होगा, उसे सहकर, क्योंकि—"संत सहहिं दुख परहित लागी।" (उ० दो० १२०), 'करहु प्रजा परिवार सुखारी।'—अर्थात् घर जाकर वहीं पर रहते हुए इन सबको सुखी करो।

बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई ॥६॥
जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥७॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये। ओड़ियहि हाथ असनिहु के घाये ॥८॥

दोहा—सेवक कर पद नयन-से, मुख-सो साहिब होइ ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकवि सराहहिं सोइ ॥३०६॥

शब्दार्थ—ओड़िपहि = बार-प्रहार रोकने के लिये आड़ की जाती है, (ओड़न = ढाल) ।

अर्थ—हे भाई ! यह विपत्ति सबको और मुझको बाँटी (हिस्से में रक्खी) गई है। पर अवधि (१४ वर्ष) भर तुमको बड़ी कठिनाई है ॥६॥ तुमको कोमल जानकर भी मैं (वियोग की) कठोर बात कहता हूँ, हे तात ! कुसमय से यह कहा जाता है, इसमें मेरा अनौचित्य नहीं है ॥७॥ कुठाँव (आपत्ति) में अच्छे भाई ही सहायक होते हैं, जैसे वज्र के आघात पर भी हाथ ही ओड़ा जाता है ॥८॥ सेवक हाथ, पाँव और आँख के समान तथा मुख के समान स्वामी होना चाहिये, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी सेवक-स्वामी की प्रीति की रीति को सुनकर सुकवि लोग इसकी प्रशंसा करते हैं ॥३०६॥

विशेष—(१) 'बाँटी बिपति·····'—हम सबपर विपत्ति पड़ी है, पर तुमको सबसे अधिक है। यों भी भाव है कि, 'मोहिं' जो विपत्ति पड़ी, उसे सभी ने बाँट लिया है, अर्थात् मेरे दुःख में दुःखी हुए हैं। तुम तो भाई हो, इससे तुम्हारे भाग में बड़ी कठिनाई है, पर वह भी अवधि भर ही है, फिर मैं आकर सँभाल लूँगा। मेरा वियोग सहते हुए राज्य सँभालना बड़ी कठिनाई है, वह अवधि भर ही है। यह श्रीभरतजी को बड़ी सान्त्वना दी है, क्योंकि कैकेयीजी ने भरत-राज की अवधि नहीं दी थी, केवल वनवास १४ वर्ष कहा था। 'बड़ि कठिनाई'—केवल राज्य-भार कठिनाई है, मेरा वियोग सहते हुए राज्य-पालन बड़ी कठिनाई है। श्रीरामजी राज्य-भार को कठिनाई ही मानते हैं—"राज अलान-समान···" (दो० ५१) ।

(२) 'ओड़ियहि हाथ·····'—यहाँ सुबन्धु हाथ, कुठाँव वज्र का वार और सहाय होना ओड़ना है। यह स्वाभाविक रीति है कि जब शरीर पर कोई आघात होता है, तब उसको रोकने के लिये पहले हाथ ही उठता है, वैसे गाढ़ पड़ने पर उत्तम भाई ही काम आते हैं। 'सुबंधु', यथा—"सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना ॥" (दो० २३१), "करुना सिंधु सुबंधु के, सुनि मृदु बचन बिनीत ।" (दो० ७२)—यहाँ लक्ष्मणजी को भी सुबन्धु कहा गया है।

(३) 'सेवक कर पद नयन-से·····'—स्वामी राज-वाचक शब्द है, अंग एवं सेवक से प्रजा का तात्पर्य है। यहाँ राजा-प्रजा का बर्ताव (राजनीति) कह रहे हैं। जैसे नेत्र कोई वस्तु संग्रह-योग्य देखता है, तब पैर चलकर वहाँ पहुँचता है, हाथ उसे उठाता है, फिर खाने के योग्य बनाकर उसे मुख में देता है। मुख स्वाद-मात्र लेकर उसका रस सब अंगों को यथायोग्य बाँट देता है, उन्हें पुष्ट करता है, स्वयं ही नहीं रख लेता। ऐसी ही प्रीति की रीति प्रजा और राजा में होनी चाहिये। आगे—"मुखिया मुख सों चाहिये·····" (दो० ३१५), भी देखिये। राजा-प्रजा में कपट न रहना चाहिये। राजा को चाहिये कि प्रजा से उचित कर लेकर उसे प्रजा के ही काम में लगा दे। राजा सेवकों से सेवा ले और सेवकों का सार-सँभार भी सावधानी से करे। भरत ! तुम इसी तरह प्रजा-पालन करना।

सभा सकल सुनि रघुबर-बानी । प्रेम-पयोधि-अमिअ जनु सानी ॥१॥
सिथिल समाज सनेह समाधी । देखि दसा चुप सारद साधी ॥२॥
भरतहि भयउ परम संतोषू । सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ॥३॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू । भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ॥४॥

अर्थ—प्रेम-सागर के (सम्भूत) अमृत में मानों सनी हुई रघुवर-वाणी सारी सभा ने सुनी ॥१॥

इससे समस्त समाज शिथिल हो गया, स्नेह की समाधि लग गई, उस दशा को देखकर श्रीशारदाजी ने चुप साध ली, अर्थात् वह मौन हो रही है ॥३॥ श्रीभरतजी को परम सन्तोष प्राप्त हुआ, क्योंकि स्वामी की सम्मुखता प्राप्त हुई और दुःख-दोष दूर हुए ॥३॥ उनका मुख प्रसन्न हो गया और मन का दुःख मिट गया, मानों गूँगे पर श्रीशारदाजी की कृपा हो गई ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रेम-पयोधि-अमिअ·····'—प्रेम-रूपी दूध के समुद्र का अमृत अर्थात् परमोत्तम प्रेम में सनी हुई वाणी है। उपक्रम में—'बोले बचन बानि सरबस से।···सकि रस से।' और यहाँ उपसंहार में—'रघुबर बानी। प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी।' कहा है। उससे सबका ऐसा स्नेह उमड़ा कि सब जड़ के समान हो गये। शारदा सबकी वाणी की अधिष्ठात्री देवी है। अतः, सबका चुप रह जाना शारदा का चुप रह जाना है। सब चुपचाप देख रहे हैं कि अब श्रीरामजी की आज्ञा सुनकर श्रीभरतजी क्या कहते हैं? बिना श्रीभरतजी के उत्तर दिये किसीको बोलने का अवसर भी नहीं है। उपक्रम में—'रघुराउ सिथिल सनेह···' कहा गया है और यहाँ उपसंहार पर—'सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा···' यह कहा गया है, तथा—'बोले बचन बानि सरबस से' उपक्रम है और 'देखि दसा चुप सारद साधी।' उपसंहार है।

(२) 'भरतहि भयउ परम संतोषू·····'—पहले दुःख और दोष से दुखी थे, यथा—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (दो० २११), "एकइ उर बस दुसह दँवारी। मोहिं लगि भे सिय राम दुखारी॥" (दो० १८१), दोष—"बिनु समुझे निज अघ परिपाकू।" (दो० २६०)। पाप का फल दुःख है, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख·····" (उ० दो० १००), अर्थात् कारण और कार्य दोनों मिट गये। इसीसे परम सन्तोष हुआ। सबको सन्तोष हुआ, भरत को परम सन्तोष हुआ।

श्रीभरतजी ने 'आज्ञा सम न···सो प्रसाद जन पावै देवा॥' यह माँगा था, वह आज्ञा प्राप्त हो गई—'सो तुम्ह करहु करावहु मोहू।' इससे परम सन्तोष हुआ।

(३) 'मुख प्रसन्न मन ··'—पूर्व कहा गया था—"नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा।" (दो० २२१), उसीकी निवृत्ति यहाँ है। पहले इन्होंने अपनेको स्वामि-विमुख माना था, यथा—"हित हमार सिय-पति-सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु-कुटिलाई॥" (दो० १७७), इससे ये अवाक् हो' गये थे। अब इन्हें स्वामी ने आज्ञा-रूप से सेवा प्रदान की। यही मानों गूँगे को वाणी प्राप्त हो गई, तथा—"मूक बदन जनु सारद छाई।" (बा० दो० ३४९)।

कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानि-पंकरुह जोरी ॥५॥
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनम भये को ॥६॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई ॥७॥
सो अवलंब देव मोहिं देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई ॥८॥

दोहा—देव देव-अभिषेक हित, गुरु अनुसासन पाइ।
आनउँ सब तीरथ-सलिल, तेहि कहँ काह रजाइ ॥३०७॥

अर्थ—तत्पश्चात् प्रेम-पूर्वक प्रणाम किया और हस्त-कमल जोड़कर बोले ॥५॥ हे नाथ! अब मुझे आपके साथ जाने का सुख हुआ, मैंने जगत् में जन्म होने का लाभ पा लिया ॥६॥ हे कृपालु! अब आप-की जैसी आज्ञा हो, मैं शिरोधार्य करके आदर-पूर्वक वही करूँ ॥७॥ (परन्तु) हे देव! मुझे वह आधार दीजिये, जिसका सेवन करके मैं अवधि (१४ वर्ष) का पार पाऊँ ॥८॥ हे देव! आप (देव)-के

तिलक के लिये गुरुजी की आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थों का जल साथ लाया हूँ, उसके लिये अब क्या आज्ञा होती है ? ॥३०७॥

विशेष—(१) 'कीन्ह सप्रेम···'—कृतज्ञता से सप्रेम प्रणाम करते हैं, हाथ जोड़कर बोलना नीति है। 'बहोरी', क्योंकि पूर्व—"करि प्रनाम बोले भरत," (दो० २९७), पर ऐसे ही बोल चुके हैं, यहाँ फिर बोले। 'सप्रेम'—मन से, 'बोले'—वचन से और 'पानि पंकरुह जोरि'—तन से, इन तीनो से भक्ति है।

(२) 'नाथ भयउ सुख साथ···'—पहले दरबार में साथ चलने का प्रस्ताव किया था, यथा—"नाथ चलउँ मैं साथ।" (दो० २६८), अब मुझे उसका भी सुख हो गया। पहले अपना जन्म व्यर्थ माना था, यथा—"बादि मोरि सब बिनु रघुराई ॥" (दो० १७७), "कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही।" (दो० १६३), इत्यादि। उसपर अब कहते हैं—"लहेउँ लाहु जग जनम भये को।"

(३) 'अब कृपाल जस आयसु···'—श्रीरामजी ने अभी तक माता-पिता की आज्ञा पालन करने को कहा है, अपनी आज्ञा नहीं दी। अतः, माँगते हैं। 'करउँ सीस धरि सादर सोई।'—भाव यह कि जाने को तो तैयार हूँ, पर 'जस आयसु' अर्थात् एक तो १४ वर्ष के लिये अवलम्ब माँगते हैं, उसपर और तिलक-सामग्री के विषय में आज्ञा चाहते हैं। पुनः चित्रकूट के दर्शनों की भी चाह आगे कहेंगे।

(४) 'सो अवलंब देव···'—'देव', क्योंकि आप दिव्यगुण विशिष्ट हैं और देवता के समान हैं, यथा—"अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसङ्गरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव ॥" (वाल्मी० २।१०६।६), यह अवलम्ब चलते समय मिलेगा, यथा—"भरत मुदित अवलंब लहे ते।" (दो० ३१५)। 'पार पावउँ'—इससे अवधि को समुद्र के समान जनाया।

(५) 'देव देव-अभिषेक···'—'देव' अर्थात् हमारे इष्टदेव हैं और तेज-प्रताप आदि से युक्त एवं दिव्य हैं। 'गुरु अनुसासन···'—यहाँ जाना गया कि उस समय गुरु-आज्ञा भी ले ली थी, यथा—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देव मुनि रामहि राजू ॥" (दो० १८६), वहाँ तो इतना ही कहा गया था।

एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभय सँकोच जात कहि नाहीं ॥१॥
कहहु तात प्रभु-आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई ॥२॥
चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्झर गिरिगन ॥३॥
प्रभु-पद-अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ त आवउँ देखी ॥४॥
अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत-भय कानन चरहू ॥५॥
मुनि - प्रसाद बन मंगलदाता। पावन परम सुहावन भ्राता ॥६॥
रिषिनायक जहँ आयेसु देहीं। राखेहु तीरथ-जल थल तेहीं ॥७॥
सुनि प्रभुबचन भरत सुख पावा। मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा ॥८॥

दोहा—भरत-राम - संवाद सुनि, सकल - सुमंगल-मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल, बरषत सुर-तरु-फूल ॥३०८॥

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं ॥१॥

अर्थ—और, मेरे मन में एक बड़ा भारी मनोरथ है, वह डर और संकोच से कहा नहीं जाता ॥१॥

(श्रीरामजी ने कहा कि) हे तात ! कहो (वह कौन मनोरथ है ?), प्रभु की आज्ञा पाकर (श्रीभरतजी) स्नेह-पूर्ण सुहावनी वाणी बोले ॥१॥ श्रीचित्रकूट के पवित्र स्थल, तीर्थ और वन, पक्षी, पशु, नदी, तालाब, झरने और पहाड़ों के समूह ॥२॥ और विशेष (खास) कर प्रभु (आप-) के चरण-चिह्नों से अंकित यह पृथ्वी—आज्ञा हो तो (इन सबको) देख आऊँ ॥४॥ (श्रीरामजी ने कहा—) अवश्य, श्रीअत्रिजी की आज्ञा शिरोधार्य करो और निर्भय होकर वन में विचरण करो ॥५॥ मुनि के प्रसाद से हे भ्राता ! वन मंगल का देनेवाला है तथा परम पवित्र और परम सुहावना है ॥६॥ ऋषियों के स्वामी श्रीअत्रिजी जहाँ आज्ञा दें, उसी स्थल में यह तीर्थों का जल रख देना ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीभरतजी ने सुख पाया और (अत्रि) मुनि के चरण-कमलों में आनन्दित होकर सिर नवाया ॥८॥ सम्पूर्ण सुन्दर मंगलों का मूल यह श्रीभरत-राम-संवाद सुनकर स्वार्थी देवतागण इनके कुल की बड़ाई करके कल्पवृक्ष के फूल बरसाते हैं ॥३०८॥ 'धन्य भरत जय राम गोसाईं' ऐसा कहते हैं और बलात् (जबरन) हर्षित होते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'एक मनोरथ बड़'''—मनोरथ छोटा होता तो उसे मन में ही दबा देना, पर यह बड़ा है। पहले के दो इससे छोटे हैं।

'सभय सँकोच'—आज्ञा मिल गई, तो फिर बोलना ढिठाई है। इसका भय और संकोच भी है, यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८), श्रीरामजी को दोनों राजसमाजों का वन में रहना असह्य हो रहा है—"सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥" (दो० २४७), उसपर दो दिन, फिर चार दिन ठहरना हो गया। अब इसमें पाँच दिन और ठहरना होगा, इसपर प्रभु की अप्रसन्नता का भी भय और संकोच है। 'प्रभु-पद-अंकित'''—एक चरण-चिह्न से तो गया तीर्थ का माहात्म्य हुआ, (गया में 'विष्णु-पद' मन्दिर है, जिसका वहाँ बहुत महत्त्व है।) यहाँ तो बहुत-से तीर्थ हैं और सबमें प्रभु के चरण-चिह्न पड़े हैं, इससे लालसा है।

(२) 'अवसि अत्रि आयसु'''—पहले तीसरे प्रश्न के लिये ही आज्ञा हुई, क्योंकि इस मनोरथ को इन्होंने 'बड़' कहा था। साथ ही दूसरे (सर्व-तीर्थ-जल) के लिये भी कह दिया। पहले के प्रति अवलम्ब अन्त में देंगे, क्योंकि उसे पाकर तो फिर चल देना होगा। यहाँ श्रीअत्रिजी को बड़ाई दी। 'बिगत-भय'—वन में भय रहता है, पर मुनि की आज्ञा पर चलने में बाधा न होगा। 'चरहू'—विचरो, जहाँ-जहाँ कहें, वहाँ-वहाँ जाओ। यहाँ श्रीभरत पर वात्सल्य है, इससे 'मुनि-प्रसाद' इनके मंगल का विधान कर रहे हैं कि मुनि के प्रसाद से वन के जीव-जन्तु एवं किसीसे भी भय न होगी। यद्यपि वन का मंगल दातृत्व विशेष कर श्रीरामजी के आने पर हुआ है, यथा—"जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयो बन मंगल-दायक॥" (दो० १३६), पर आप अपनी शिष्टता से मुनि को गौरव दे रहे हैं। 'आवउँ देखी'—मुकाम यहीं रहेगा, नित्य देख आया करूँगा।

(३) 'मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा।'—प्रभु की आज्ञा के अनुसार मुनि के पास जाकर प्रणाम किया। मुनि पास ही थे, श्रीरामजी की बातें सुनते थे, इसीसे इन्होंने और कुछ न कहा। सिर नवाकर आज्ञा भी माँगी, उत्तर में मुनि का कहना आगे—"अत्रि कहेउ तब'''" से कहा है, बीच में संवाद का माहात्म्य कहेंगे।

(४) 'भरत-राम-संबाद सुनि''''''—यहाँ इस संवाद की पूर्त्ति है। इसका उपक्रम—"प्रभु पितु-मातु सुहृद गुरु स्वामी।'''" से हुआ और—"राखेहु तीरथ जल-थल तेहीं।" पर उपसंहार है। पुनः—"करि प्रनाम बोले भरत" पर उपक्रम है और—"सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा।" पर उपसंहार है। इसके भीतर दो-दो बार संवाद हुए हैं। इस प्रसंग की फलश्रुति—'सकल सुमंगल मूल' है। 'सुर स्वारथी सराहि''—देवगण सदा के स्वार्थी हैं, यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०९), यहाँ

उनकी स्वार्थ-सिद्धि हुई, इससे कल्पवृक्ष के फूल बरसाये, क्योंकि निश्चय हो गया कि श्रीभरतजी लौट जायँगे और श्रीरामजी वनवास करेंगे। पहले सन्देह था, तब—"बरषत सुमन-मानस मलिन-से।" (दो० ३०१), कहा है। अब बरियाई भी हर्ष प्रकट करते हैं। 'सराहि कुल'—सराहना यह कि रघुकुल सदा से परोपकारी, सत्यसन्ध और गो-विप्र एवं देवताओं का हित करनेवाला है। इसमें सभी राजा धर्म-धुरन्धर हुए हैं, तो श्रीरामजी और श्रीभरतजी ऐसे क्यों न हों। पुनः कुल के परम्परा-धर्म के निर्वाह की भी सराहना है, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुल-रीति सुहाई॥" (दो० १४), इसके अनुसार श्रीभरतजी आज्ञा पा कृतकृत्य हुए।

(५) 'धन्य भरत जय राम· ····'—श्रीभरतजी को धन्य कहते हैं, ये सन्त हैं, स्तुति में कहते हैं। श्रीरामजी की जय मनाते हैं कि असुरों को जीतें और इनका स्वार्थ सधे।

'हरषत बरियाईं'—कृतज्ञता के रूप में बरियाईं भी हर्ष प्रकट करते हैं, पर भीतर रावण का भय बना है। अथवा, वियोग पक्का जानकर लोगों में करुणा है, तब भी ये कृतज्ञता में बलात् हर्ष प्रकट करते हैं।

मुनि मिथिलेस सभा सब काहू। भरत बचन सुनि भयउ उछाहू॥२॥
भरत - राम - गुन - ग्राम-सनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥३॥
सेवक स्वामि सुभाव सुहावन। नेम प्रेम अति पावन पावन॥४॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥५॥
सुनि सुनि राम - भरत-संबादू। दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू॥६॥
राम-मातु दुख-सुख सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधी रानी॥७॥
एक कहहिं रघुबीर - बड़ाई। एक सराहत भरत - भलाई॥८॥

अर्थ—मुनि श्रीवसिष्ठजी, श्रीमिथिलापति और सभा, सब किसीको श्रीभरतजी के वचन सुनकर उत्साह हुआ॥२॥ श्रीभरतजी के और श्रीरामजी के गुण-समूह और स्नेह से पुलकित होकर विदेहराज उनकी प्रशंसा करते हैं॥३॥ सेवक और स्वामी के सुन्दर स्वभाव और अत्यन्त पावन को भी पावन करनेवाले नेम और प्रेम की॥४॥ मन्त्री और सभासद, सभी अनुरक्त होकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार प्रशंसा करने लगे॥५॥ श्रीरामजी और श्रीभरतजी का संवाद सुन-सुनकर दोनों समाजों के हृदय में आनन्द और दुःख (दोनों ही बरत रहे) हैं॥६॥ श्रीरामजी की माता ने दुःख-सुख को समान ही जाना और श्रीरामजी के गुण कहकर और सब रानियों को समझाया॥७॥ कोई तो रघुबीर श्रीरामजी की बड़ाई करते हैं और कोई श्रीभरतजी की भलाई (भलापन) की प्रशंसा करते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'भरत बचन सुनि भयउ उछाहू।'—श्रीभरतजी की ओर से ही दुविधा थी कि ये वियोग को कैसे स्वीकार करेंगे, जब ये प्रसन्नता से उद्यत हो गये, तब सबको उत्साह हुआ, पुनः चार-छः दिन और रहने को मिले और तीर्थ के दर्शनों का भी संयोग हुआ, इससे सब प्रसन्न हो गये।

'पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू'—श्रीजनकजी ने श्रीसुनयनाजी से कहा था—"साधन सिद्धि राम-पग-नेहू। मोहि लखि परत भरत-मत एहू॥ भोरेहु भरत न पेलिहहिं, मनसहु राम रजाइ।" (दो० २८९), यह यथार्थ निकला, इससे पुलकित हो प्रशंसा करने लगे। 'पुलकि'—तन और मन, 'प्रसंसत'—वचन, तीनों से प्रेम है।

(२) 'सेवक स्वामि सुभाव···'—सेवक श्रीभरतजी का स्वामी श्रीरामजी के प्रति और उनका इनके प्रति, यह सुन्दर भाव सुहावना वा उभयपक्ष का उपयुक्त सुहावन स्वभाव और दोनों का नेम-प्रेम

पवित्रतम है, यथा—"चलत पयादे खात फल,'''जात मनावन ···" (दो० २२२)। "सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥" (दो० ३२५)—ये सेवक भरत के नेम-प्रेम हैं, तथा—"रामहिं बंधु-सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥" (दो० ६)। "भरत दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात॥" (लं० दो० ११६)—ये स्वामी श्रीरामजी के नेम-प्रेम हैं।

(३) 'मति अनुसार सराहन लागे।'''—मति के अनुसार ही कुछ कहते हैं, क्योंकि यथार्थ कोई कह नहीं सकता, यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि-हरि-हर को॥" (दो० २४०), "बिधि गनपति अहिपति सिव सारद।'''" से "अगम सबहि बरनत बरबरनी।'''" (दो० २४८) तक, तथा—"तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभाः तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः। तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह॥" (वाल्मी० २।१०६।३५), अर्थात् व्यापारियों के मुखिया, वेदपाठी ब्राह्मण अथवा ऋत्विज लोग मूर्च्छित हो गये तथा रुदन करती हुई माताएँ भरतजी की प्रशंसा करने लगीं और हाथ जोड़कर भरतजी की ओर से श्रीरामजी से प्रार्थना करने लगीं।

(४) 'दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू।'—(क) श्रीभरतजी की ग्लानि मिटी, कुल-धर्म के अनुसार सेवा-धर्म में दृढ़ हैं, श्रीरामजी का भी धर्म रक्खा, यह समझकर हर्ष है और श्रीरामजी के न लौटने का दुःख है। (ख) पिता के वचन में श्रीरामजी की दृढ़ भक्ति, उनका अद्भुत धैर्य और अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ता देखकर हर्ष और श्रीअवध न लौटने का दुःख हुआ, यथा—"न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्मतिं पितुस्तद्वचने प्रतिष्ठितः॥ तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः। न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः॥" (वाल्मी० २।१०६।३३-३४)।

(५) 'राम-मातु दुख-सुख·····'—दुःख-सुख दोनों ही आगमापायी हैं, यथा—"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।" (गीता २।१४), इससे समान हैं, यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १४९)—इसका भाष्य देखिये। 'गुन राम'—श्रीरामजी के गुण, यहाँ जैसे 'हरन भव-भय-दारुनम्' का-सा प्रयोग है, श्रीकौसल्याजी ने श्रीराम-गुण यह कहा कि वे सद्धर्म पर आरूढ़ हैं, उसे कैसे छोड़ें? वीर और धीर भी हैं, मारीच-सुबाहु आदि के मारने और श्रीपरशुराम-गर्व-हरण से विदित है। इससे वन में भी वे सुखी ही रहेंगे, उन्हें कोई भय न होगा, इत्यादि। माता कौसल्या को अलौकिक विवेक पूर्व जन्म से प्राप्त है। पुनः इस जन्म में भी श्रीरामजी ने इन्हें विराट् रूप दिखाकर इनके विवेक को दृढ़ कर दिया, इससे इन्होंने और रानियों को समझाया है। "मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहु न मिटिहि···" (बा० दो० १५०), बा० दो० २००-२०२ में विराट् रूप दिखाने का प्रसंग है।

द्वितीय दरबार (सार्वजनिक सभा) समाप्त।

दोहा—अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल-समीप सुकूप।
राखिय तीरथ-तोय तहँ, पावन अमिअ अनूप॥३०६॥

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जल-भाजन सब दिये चलाई॥१॥
सानुज आप अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥२॥
पावन पाथ पुन्य-थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा॥३॥
तात अनादि सिद्ध थल येहू। लोपेउ काल बिदित नहिं केहू॥४॥
तब सेवकन्ह सरस थल देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेखा॥५॥

बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू । सुगम अगम अति धरम बिचारू ॥६॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा । अति पावन तीरथ जलजोगा ॥७॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी । होइहहिं बिमल करम-मन-बानी ॥८॥

दोहा—कहत कूप-महिमा सकल, गये जहाँ रघुराउ ।
अत्रि सुनायेउ रघुबरहि, तीरथ - पुन्य-प्रभाउ ॥३१०॥

शब्दार्थ—तोय = जल । दिये चलाई = रवाना कर दिया । सरस = सजल, श्रेष्ठ । बिसेषा = खास ।

अर्थ—तब श्रीअत्रिजी ने श्रीभरतजी से कहा कि इस पहाड़ के समीप एक सुन्दर कुआँ है, इस अनुपम, पावन और अमृत-तुल्य तीर्थ-जल को वहीं रखिये ॥३०६॥ श्रीअत्रिजी की आज्ञा पाकर श्रीभरतजी ने तीर्थ-जल के पात्र सब आगे भेज दिये ॥१॥ अत्रिमुनि एवं साधुओं के साथ और भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ आप (श्रीभरतजी) वहाँ गये, जहाँ वह बड़ा गहरा कुआँ था ॥२॥ उस पवित्र जल को उस पवित्र स्थल में रक्खा, अत्यन्त आनन्दित होकर प्रेम से श्रीअत्रिजी ने ऐसा कहा ॥३॥ कि हे तात! यह अनादि सिद्ध-स्थल है, इसे (चिर) काल ने लुप्त कर दिया था, (अर्थात् बहुत काल में यह क्रमशः आकर फिर लुप्त हो गया था) इससे किसीको ज्ञात नहीं था ॥४॥ तब हमारे सेवकों (एवं शिष्यों) ने इस श्रेष्ठ एवं सजल स्थल को देखा और उन्होंने सुन्दर जल के लिये यहाँ पर एक विशेष (बड़ा) कुआँ बना लिया ॥५॥ इस प्रकार दैवयोग से सारे संसार का उपकार हुआ, जो धर्म का विचार अत्यन्त ही अगम्य था, वह (इससे) सुगम हो गया ॥६॥ अब लोग इसे श्रीभरत-कूप कहेंगे । तीर्थ-जल के सम्बन्ध से यह स्थल अत्यन्त पावन हो गया ॥७॥ नियम से प्रेम-पूर्वक इसमें स्नान करने से प्राणी कर्म, मन और वाणी से निर्मल हो जायँगे ॥८॥ उस कूप की महिमा कहते हुए सब लोग वहाँ पर गये, जहाँ श्रीरघुनाथजी थे, श्रीअत्रिजी ने रघुवर श्रीरामजी को इस पवित्र तीर्थ के पवित्र प्रभाव को सुनाया ॥३१०॥

विशेष—(१) 'अत्रि कहेउ तब·····'—श्रीभरतजी और श्रीअत्रिजी का प्रसंग—"मुनि-पद कमल मुदित सिर नाया ।" (दो० ३०७), से छोड़ा था, वहींसे फिर उठाते हैं कि श्रीभरतजी के प्रणाम करने पर श्रीअत्रिजी ने कहा । यद्यपि यह जल राम-अभिषेक के काम में नहीं आया, तथापि यह जगत् का उपकार करता रहेगा, यह दैवयोग से बड़ा लाभ हो गया ।

(२) तीरथ-तोय तहँ, पावन अमिअ अनूप ।'—पवित्रता तो तीर्थ-जल कहने ही में आ गई, फिर भी पावन कहकर अत्यन्त पवित्र जनाया । अमृत के समान स्वादिष्ट और मृत्यु-रूप संसार से छुड़ानेवाला कहकर इसे अनुपम फलवाला कहा है ।

(३) 'प्रमुदित प्रेम अत्रि·····'—श्रीरघुनाथजी के दर्शन हुए, उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे बड़ाई दी, इससे प्रेमानन्द था । अब समीप ही में सर्वतीर्थमय कूप बना, जिससे यहाँ के सभी लोग कृतार्थ होंगे । अतः, प्रकर्ष प्रेम और आनन्द हुआ । 'पावन पाथ', यथा—"आनहु सकल सुतीरथ पानी ।" (दो० ५) ।

(४) 'अनादि सिद्ध थल येहू ।'—'अनादि'—इतना प्राचीन है कि इसका आदि कोई जानता ही नहीं कि कब से है । प्रत्येक रामावतार में यहीं पर सर्व-तीर्थजल रक्खा जाता है । 'सिद्ध थल'—यहाँ पर बहुत-से साधक लोग सिद्ध हुए हैं और यहाँ सब सिद्धियाँ भी शीघ्र प्राप्त होती हैं ।

(५) 'तब सेवकन्ह सरस थल देखा ।·····'—'तब' अर्थात् जल की आवश्यकता पर, इस स्थल को देखा कि सरस है, अर्थात् जल शीघ्र निकलेगा, तो सुन्दर जल के लिये कूप-विशेष बना लिया, क्योंकि नदी और सरोवर का जल वर्षा में मैला रहता है । कूप का जल साफ रहता है । अतः, 'सुजल' है ।

(६) 'बिधिबस भयउ·····'—यह श्रीअत्रिजी का वचन इस समय के लिये है कि दैवयोग से

ऐसा हुआ, नहीं तो सम्पूर्ण तीर्थों का जल यहाँ कौन और कैसे लाता ? भाव यह कि आया श्रीराम-तिलक के लिये, किन्तु लाकर यहाँ रक्खा गया। 'सुगम अगम अति ·····'—सब तीर्थ एक ही जगह मिल जायँ, यह विचार अगम था, वह विधिवश सुगम हो गया। सब तीर्थों को एकत्र स्थापन करना एवं सब तीर्थों में एकत्र ही स्नान में बड़ा भारी धर्म है, इसकी अगमता इससे दूर हुई, क्योंकि दैवयोग से कठिन कार्य भी सुगम हो जाते हैं।

(७) 'भरतकूप अब·····'—तीर्थ का नाम, उसका माहात्म्य और स्नान आदि की विधियाँ जानकर स्नान करना चाहिये। अतः, 'भरतकूप' नाम कहा गया, क्योंकि सर्व-तीर्थ-जल श्रीभरतजी ही लाये हैं। मन, वचन, कर्म का निर्मल होना फल और प्रेम से नियम-पूर्वक स्नान करना उसकी विधि कही गई। बा० दो० २ और बा० दो० ३४ चौ० ७-१० भी देखिये। 'अति पावन'—पावन तो प्रथम ही था, तीर्थ जल के योग से अब से अति पावन हो गया।

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयउ भोर निसि सो सुख बीती ॥१॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम - अत्रि - गुरु आयसु पाई ॥२॥
सहित समाज साज सब सादे। चले राम - बन - अटन पयादे ॥३॥
कोमल चरण चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं ॥४॥

अर्थ—प्रीति-सहित धर्म के इतिहास कहते हुए वह रात्रि सुख से बीत गई और प्रातः काल हुआ ॥१॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई नित्य प्रातःक्रिया से निवृत्त होकर, श्रीरामजी, श्रीअत्रिजी और श्रीगुरुजी की आज्ञा पाकर ॥२॥ समाज के साथ सब सादे साज से और पैदल श्रीराम-वन में पर्यटन करने (घूमने) चले ॥३॥ चरण कोमल हैं और बिना जूते के चल रहे हैं, मन-ही-मन (यह जानकर) पृथ्वी सकुचाकर कोमल हो गई ॥४॥

विशेष—(१) 'निसि सो सुख बीती'—सज्जनों का कालक्षेप सत्संग एवं कथा में होता है, यथा—"कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥" (बा० दो० २२५)। आज अवरेव मिट जाने से सुख-पूर्वक रात बीती।

(२) 'सहित समाज साज ·····'—इसमें तीर्थाटन की विधि कही गई है कि पैदल ही चले और जूता भी न पहने और विशेष ठाट-बाट से न रहे। यह भी नियम कहा गया कि नित्य-नियम करके तीर्थाटन एवं प्रदक्षिणा करनी चाहिये। प्रायः लोग तीर्थ-यात्रा में नित्य-नियम आधा ही करते हैं, पर ये पूरा निबाहते हैं।

(३) 'भइ मृदु भूमि सकुचि·····'—सकुचने के भाव—(क) सकुची कि पहले हमसे न बना, जो इन्हें फफोले का कष्ट दिया, यथा—"झलका झलकत पायन कैसे।···" (दो० २०३), इसीसे अब सकुचा गई, सकुचने से कोमलता आ गई। कोमल बनकर सुख दिया, क्योंकि ये उसके भार उतारने में सहायक हुए। (ख) जिसपर प्रभु की प्रसन्नता होती है, उसपर जड़-चेतन सभी अनुकूल हो जाते हैं, यथा—"राम सोहाते तोहि जौं तू सबहि सोहातो। काल करम कुलि कारनी कोऊ न कोहातो ॥" (वि० १५१)। जब भक्त भगवान् के सम्मुख प्रीत्यात्मक भाव से रहता है तब वे भी अपने चराचर शरीर से उसके प्रति प्रीत्यात्मक भाव रखते हैं, यथा—"तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों ज्यों दपन मुख काँति ॥" (वि० २३३), तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११), एवं—"यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः। तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥" (भाग० ४।९।४७), अर्थात् मित्रता आदि गुणों से जिसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसके प्रति सभी प्राणी अनुकूल होकर आप ही मिलते हैं जैसे जल नीचे को ही बहता है।

कुस कंटक काँकरी कुराई । कटुक कठोर कुबस्तु दुराई ॥५॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे । बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे ॥६॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाँहीं । बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं ॥७॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी । सेवहिं सकल राम-प्रिय जानी ॥८॥

दोहा—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु, राम कहत जमुहात ।
राम-प्रान-प्रिय भरत कहँ, यह न होइ बड़ि बात ॥३११॥

शब्दार्थ—कुराई = गढ़े आदि से कुराह । कटुक = कष्टदायक, खुजली करनेवाली घास, आदि ।

अर्थ—कुश, (गोखुरू, जवासा, बबूल आदि के) काँटे, कंकड़ियाँ, गढ़े आदि कुराह के दोषों एवं कष्टदायक कठोर और बुरी वस्तुओं (विष्टा, हड्डी आदि) को छिपा दिया ॥५॥ पृथ्वी ने सुन्दर कोमल मार्ग कर दिया, तीनो प्रकार की हवा सुख को लिये हुए चलती है ॥६॥ देवता फूल-वर्षा करके, मेघ छाया करके, वृक्ष फूल-फल प्रकट करके और तृण कोमलता से ॥७॥ पशु देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी बोलकर, सभी इन्हें श्रीरामजी के प्यारे जानकर इनकी सेवा कर रहे हैं ॥८॥ जम्हाते हुए भी 'राम' ऐसा कहने से साधारण लोगों को भी सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं तब श्रीरामजी के प्राणप्यारे श्रीभरतजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है ॥३११॥

विशेष—यहाँ सब अपने-अपने गुण-वैभव से श्रीभरतजी की सेवा कर रहे हैं, मृगों के नेत्र सुन्दर होते हैं, वे उन्हें दिखाते हैं । कोयल आदि पंछी सुरीले बोल सुनाते हैं । वृक्ष फूल-फल दिखाकर प्रसन्न करते हैं, इत्यादि । 'बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे'—सबकी इच्छानुसार सुखद शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु बह रहा है । देवता फूल बरसा कर और मेघ छाया करके सेवा करते हैं, यथा—"बरषहिं सुमन छनहिं छन देवा । नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा ॥" (बा० दो० ३४८) । 'सेवहिं सकल राम-प्रिय जानी ।' —उपर्युक्त सुख-दातृत्व का कारण यहाँ बतलाया कि श्रीरामजी सबके आत्मा हैं, उनका प्रिय होने से प्राणी सबका प्रिय हो जाता है । ऊपर प्रमाण लिखे गये । पूर्व कहा गया—"अचर सचर चर अचर करत को ।" (दो० २३७), वह यहाँ चरितार्थ है कि अचर सचर का कार्य कर रहे हैं । भूमि, वृक्ष, तृण आदि चैतन्य के समान हो रहे हैं । यहाँ जांगल देश की विषमता-निवृत्ति कही गई है और 'सुर घन करि छाँहीं' इसमें एवं पहले भी मार्ग के "किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहहिं बर बात ।" (दो० २१६), इस प्रसंग में ग्रीष्म काल की विषमता निवृत्ति कही गई है, अर्थात् हरि भक्त के प्रति देश-काल की विषमता भी नहीं व्याप्त होती ।

येहि बिधि भरत फिरत बन माहीं । नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं ॥१॥
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा । खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा ॥२॥
चारु बिचित्र पवित्र बिसेषी । बूझत भरत दिब्य सब देखी ॥३॥
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ । हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ॥४॥
कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा । कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा ॥५॥
कतहुँ बैठि मुनि - आयसु पाई । सुमिरत सीय सहित दोउ भाई ॥६॥
देखि सुभाव सनेह सुसेवा । देहिं असीस मुदित बनदेवा ॥७॥
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई । प्रभु-पद-कमल बिलोकहिं आई ॥८॥

दोहा—देखे थल तीरथ सकल, भरत पाँच दिन माँझ ।
कहत सुनत हरिहर सुजस, गयेउ दिवस भइ साँझ ॥३१२॥

अर्थ—इस तरह श्रीभरतजी उस वन में फिरते हैं, उनका नियम और प्रेम देखकर मुनि लोग सकुचा जाते हैं ॥१॥ पवित्र जल के स्थान (नदी, तालाब, कूप आदि), भूमि के पृथक्-पृथक् भाग, पक्षी, पशु, वृक्ष, तृण, पहाड़, वन और बाग ॥२॥ सभी बहुत सुन्दर, विचित्र (रंग-विरंग के) और विशेष करके पवित्र हैं। इन सबको दिव्य देख-देखकर श्रीभरतजी पूछते हैं ॥३॥ सुनकर ऋषिराज श्रीअत्रिजी प्रसन्न-मन से उन सबके कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभाव कहते हैं ॥४॥ कहीं स्नान और कहीं प्रणाम करते हैं और दर्शन करते ही मन रम जाता है ॥५॥ कहीं मुनि की आज्ञा पा बैठकर श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों का स्मरण करते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी का स्वभाव, स्नेह और सुन्दर सेवा देखकर सब वन के देवता प्रसन्न होकर आशिष देते हैं ॥७॥ ढाई पहर दिन बीतने पर लौटते हैं और आकर प्रभु श्रीरामजी के चरण-कमलों के दर्शन करते हैं ॥८॥ पाँच दिनों में श्रीभरतजी ने सब तीर्थ-स्थानों के दर्शन कर लिये, हरि-हर-सुयश कहते-सुनते दिन बीत गया और साँझ हो गई ॥३१२॥

विशेष—(१) 'नेम-प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं ।'—मुनि लोग लज्जित होते हैं, सकुचाते हैं कि हमलोगों ने इसी नियम और प्रेम के लिये घर-बार छोड़ा, फिर भी ऐसा भाव न आया। इनके समक्ष तो हम सबका 'नेम-प्रेम' कुछ भी नहीं है, तो हम व्यर्थ ही साधु हुए, यथा—"तुलसी जो पै राम सों, नाहिंन सहज सनेह । मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ।।" (दोहावली ६३)

(२) 'पुन्य जलाश्रय···'—पुण्य जलाश्रय वे हैं, जिनके दर्शनों से मन पवित्र हो।

(३) 'हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ।'—'हेतु'—ये यहाँ कैसे आये ? यह नाम क्यों पड़ा ? इनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इनके पृथक्-पृथक् गुण क्या-क्या हैं ? इत्यादि। 'दिव्य सब देखी'—श्रीभरतजी का हृदय शुद्ध है, इसीसे इन्हें तीर्थों की दिव्यता का अनुभव हो जाता है। तीर्थों को दिव्य जानकर ही उनके प्रभाव आदि कहने में मुनि को भी आनन्द होता है। माहात्म्य सुनकर तदनुसार वहाँ के स्नान आदि की विधियाँ करते हैं।

(४) 'कतहुँ निमज्जन···'—जहाँ-जैसी विधि है। 'बिलोकत मन अभिरामा'—देखते ही मन रम जाता है, तो रुचि-पूर्वक देखते ही रह जाते हैं। 'कतहुँ बैठि···'—श्रमित जानकर मुनि आज्ञा दे देते हैं, अथवा वहाँ बैठने की भी विधि है। बैठने पर श्रीसीताराम-लक्ष्मण का स्मरण करते हैं।

(५) 'सुभाव सनेह सुसेवा'—सबमें अच्छा भाव है, प्रभु में स्नेह है और ऋषियों की सुन्दर सेवा करते हैं। 'फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई ।'—यही पाँचो दिनों की चर्या रही। ग्रीष्म ऋतु में दिन ढाई पहर चढ़ने पर आते थे, कैसे निर्वाह होता था। यह शंका नहीं, क्योंकि भूमि मृदु होकर एवं मेघ छाया कर सेवा करते थे। 'हरिहर सुजस'—भगवत्-भागवत का यश, अर्थात् नित्य कथा होती थी। भगवान् के साथ उनके भक्तों की भी कथा होती है। अथवा सब कोई विष्णु और श्रीशिवजी का सुयश सुनते और कहते थे, भगवान् के साथ उनके प्रिय भक्त श्रीशिवजी की भी कथा रहती ही है।

कौन तीर्थ कैसे देखा जाता है—यह सब बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में विस्तार से कहा गया है।

चित्रकूट-तृतीय-दरबार

भोर न्हाइ सब जुरा समाजू । भरत भूमिसुर तिरहुतिराजू ॥१॥
भल दिन आजु जानि मनमाहीं । राम कृपाल कहत सकुचाहीं ॥२॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी । सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥३॥
सील सराहि सभा सब सोची । कहुँ न राम सम स्वामि-सँकोची ॥४॥
भरत सुजान राम-रुख देखी । उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी ॥५॥
करि दंडवत कहत कर जोरी । राखी नाथ सकल रुचि मोरी ॥६॥
मोहि लगि सहेउ सबहिं संतापू । बहुत भाँति दुख पावा आपू ॥७॥
अब गोसाइँ मोहि देउ रजाई । सेवउँ अवध अवधि भरि जाई ॥८॥

दोहा—जेहि उपाय पुनि पाय जन, देखइ दीनदयाल ।
सो सिख देइय अवधि लगि, कोसल-पाल कृपाल ॥३१३॥

अर्थ—प्रातःकाल स्नान करके श्रीभरतजी, ब्राह्मण और राजा श्रीजनकजी, इन सबके सब समाज एकत्रित हुए ॥१॥ आज (यात्रा के लिये) अच्छा दिन है, यह मन में जानकर कृपालु श्रीरामजी कहते हुए सकुचाते हैं ॥२॥ गुरुजी, राजा (जनकजी), श्रीभरतजी और सभा की ओर देखकर, फिर श्रीरामजी सकुचकर भूमि की ओर देखने लगे, अर्थात् उन्होंने सिर नीचा कर लिया ॥३॥ उनके शील की सराहना करके सारी सभा सोचने लगी कि श्रीरामजी के समान संकोची स्वामी कहीं भी नहीं है ॥४॥ सुजान श्रीभरतजी श्रीरामजी का रुख देखकर प्रेम-पूर्वक उठे और बहुत धैर्य धरकर ॥५॥ तथा दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे नाथ ! आपने मेरी सभी इच्छाएँ रक्खीं (पूरी कीं) ॥६॥ मेरे निमित्त सबने दुःख उठाये और आपने भी बहुत प्रकार से दुःख पाया ॥७॥ हे गोसाईं ! अब मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं जाकर अवधि-पर्यन्त श्रीअयोध्याजी का सेवन करूँ ॥८॥ हे दीनदयालु ! जिस प्रकार से यह आपका दास फिर श्रीचरणों को देखे, हे कोशलपाल ! हे कृपालु ! अवधि-पर्यन्त के लिये मुझे आप वही शिक्षा दें ॥३१३॥

विशेष—(१) 'भल दिन आजु···'—आज, तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदि सभी यात्रा के योग्य पड़े हैं। पर श्रीरामजी कहने में सकुचाते हैं, क्योंकि 'कृपालु' हैं, इससे 'आज जाओ' ऐसा कहने में वियोग की बात से दुःख होगा, यह समझकर कह नहीं सकते।

(२) 'गुरु नृप भरत···'—मुख से कहने में शील टूटता है, पर सबकी ओर देखकर आँखें नीची कर लीं, यह शील और संकोच की मुद्रा है, इस प्रकार मुख से बिना कहे ही विदाई की चेष्टा जना दी।

(३) 'भरत सुजान राम-रुख···'—श्रीभरतजी सुजान हैं, इसीसे उन्होंने चेष्टा जान ली कि अब हमलोगों को विदा करने की श्रीरामजी की इच्छा है। वियोग का स्मरण होने से भारी अधीरता हो गई, इससे भारी धैर्य धरना पड़ा।

(४) 'राखी नाथ सकल रुचि···', यथा—निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा ॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ ॥" (दो० २६६), साथ जाने की रुचि

भी पूरी की, यथा—"नाथ भयउ सुख साथ गये को।" (दो० ३०६), श्रीचित्रकूट के दर्शनों का बड़ा मनोरथ भी पूरा किया, ध्वनि यह है कि अभी एक अभिलाषा जो बाकी है, वह भी पूरी होगी।

(५) 'मोहि लगि सहेउ सबहिं···'—मेरी प्रार्थना पर ही सभी अयोध्यावासी और मेरा इधर आना सुनकर ही सहायता के लिये श्रीविदेह महाराज भी समाज के साथ आये। ग्रीष्म में भाँति-भाँति के क्लेश मार्ग में सहे तथा यहाँ वन में भी कष्ट सहे। आपने भी विशेष उदासीन वृत्ति के विरुद्ध मेरी भीड़ से दुःख बहुत प्रकार से सहन किये, यथा—"नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥ सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥" (दो० २८६), "राम सत्यव्रत धरम रत, सबकर सील सनेहु। संकट सहत सँकोच बस, कहिय जो आयसु देहु॥" (दो० २९२)।

(६) 'अब गोसाइँ मोहि···'—'गोसाइँ' अर्थात् गो (=पृथ्वी) के स्वामी आप हैं। मैं आपकी आज्ञा से सेवक-रूप में आपकी राजधानी श्रीअवध की सेवा करूँगा। 'अवधि भरि' अर्थात् १४ वर्ष तक के लिये ही, अधिक नहीं, यथा—"बीते अवधि जाउँ जौ, जियत न पावउँ बीर।" (लं० दो० ११५), "तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जौ रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहि न पैहौ॥" (गी० अ० ७६), "चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥" (वाल्मी० २।११२।२५)।

(७) जेहि उपाय पुनि पाय···'—'कोसल-पाल'—कोशला (श्रीअयोध्या) के पालने पर दृष्टि है, 'कृपाल'—क्योंकि श्रीअवधवासियों पर कृपा है। 'दीनदयाल'—मुझ दीन पर दया करके वैसा उपाय और वैसी शिक्षा मिलनी चाहिये। तभी चौदह वर्ष जीता रह सकूँगा, तो इन चरणों के दर्शन हो सकेंगे, यथा—"प्रभु जानत जेहि भाँति अवधि लगि बचन पालि निबहौं गो। आगे की बिनती तुलसी तब, जब फिरि चरन गहौं गो॥" (गी० अ० ७७), तथा—"चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥२३॥ फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन। तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः॥२४॥ (वाल्मी० २।११२), अर्थात् (श्रीभरतजी ने श्रीरामजी से कहा है—) मैं चौदह वर्ष की अवधि तक जटा-चीर धारण कर और फल-मूल खाकर आपके आगमन की राह देखता हुआ, नगर से बाहर रहूँगा।

पुरजन परिजन प्रजा गोसाँई। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥१॥
राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परमपद-लाहू॥२॥
स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥३॥
प्रनतपाल पालिहि सब काहू। देव दुहू दिसि ओर निबाहू॥४॥
अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचार न सोच खरोसो॥५॥
आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू॥६॥
यह बड़ दोष दूरि करि स्वामी। तजि सँकोच सिखइय अनुगामी॥७॥
भरत-बिनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर नीर बिबरन गति हंसी॥८॥

शब्दार्थ—सरस = बढ़े-चढ़े, अधिक, भावुक। बदि (सं० वर्त = बदला, पलटा) = के लिये। राउर बदि = आपकी प्राप्ति के बदले में = आपके लिये। खरोसो = तृण बराबर भी, थोड़ा-सा भी। बिबरन = विवेचन, एक में मिली हुई वस्तुओं का पृथक्करण।

अर्थ—हे गोसाईं! श्रीअवधपुरवासी, कुटुम्बी, प्रजा, ये सभी आपके स्नेह-नाते में पवित्र और बढ़े-चढ़े हैं॥१॥ आपके लिये संसार के दुःख और सन्ताप भी (सहना) अच्छा है और प्रभु (आपके) बिना परम पद प्राप्ति का लाभ भी व्यर्थ ही है॥२॥ हे स्वामी! आप सुजान हैं, सभीके हृदय की रुचि

और मुझ सेवक के हृदय की रुचि, लालसा और 'रहनि' (चाल-चलन) को जानकर ॥३॥ हे प्रनतपाल ! आप सब किसीका पालन करेंगे, और हे देव ! आप दोनों ओर का अन्त तक निर्वाह करेंगे ॥४॥ ऐसा मुझे सब प्रकार बहुत बड़ा भरोसा है और विचार करने पर मेरे लिये कुछ भी सोच करना तृण के समान भी नहीं है ॥५॥ मेरी विपत्ति और स्वामी की कृपा, इन दोनों ने मिलकर मुझे हठात् ढीठ कर दिया है, अर्थात् मैं पहले ढीठ न था, इन कारणों से ही हो गया ॥६॥ हे स्वामी ! इस बड़े दोष को दूर करके और संकोच छोड़कर मुझ दास को शिक्षा दीजिये ॥७॥ श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर सभी ने प्रशंसा की कि उनकी प्रार्थना दूध और जल को पृथक्-पृथक् करने में हंसिनी की तरह है, अर्थात् विवेक-पूर्ण है ॥८॥

विशेष—(१) 'पुरजन परिजन प्रजा···'—'सुचि'—पवित्र, निष्काम। 'सनेह सगाई', यथा—"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।" (दो० ६४), 'सनेह', यथा—"जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान ते प्यारे ॥ तनु धन धाम रामहितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी ॥" (उ० दो० ४६), 'सगाई', यथा—"सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात येहि ओर निबाहू ॥" (दो० २३), इत्यादि।

(२) 'राउर बदि भल भव···', यथा—"तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही।" (दो० २९०), "तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राज समाजा ॥" (दो० २८९), "खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहि हौं। येहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ॥ (वि० २३१), भाव यह कि अब आपका रहकर आज्ञा-पालन सुख से करूँगा।

(३) 'स्वामि सुजान जानि सबही की।···'—ऊपर जो पुरजन आदि की बातें कही गईं, उन्हींको 'सबही की' से सूचित किया गया है। आगे 'रुचि', 'लालसा' आदि अपनी कही हैं कि मुझ जन की रुचि आपकी सेवा करने की है, लालसा साथ रहने की तथा 'रहनि' स्वामी के अनुकूल वानप्रस्थ रीति से है, यह मेरे जी में है, इसे हे स्वामी ! आप जानते ही हैं, भाव यह कि आप प्रणतपाल हैं, सबको पालेंगे। इन तीनो का आगे स्पष्टीकरण है, 'रुचि', यथा—"नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दल मन न मलीना ॥" (दो० ३२४), 'लालसा', यथा—"नित पूजत प्रभु पाँवरी·····" (दो० ३२५), 'रहनि', यथा—"सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥" (दो० ३२५), एवं—"मोहिं भावति, कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि।···" (गी० अ० ८१)—यह पूरा पद देखिये।

'प्रनतपाल पालिहि सब काहू', यथा—"सीलसिंधु, सुंदर सब लायक, समरथ सदगुन-खानि हौ। पाले हौ, पालत, पुनि पालहु गे, प्रीति-रीति पहिचानि हौ ॥" (वि० २२३), 'देव दुहू दिसि···'—हे देव ! आप ही दोनों तरफ (मेरी और अपनी ओर) का निर्वाह अन्त (१४ वर्ष) तक करेंगे। एक, तन से पिता का प्रण पूरा करेंगे। दूसरे, दिव्यतन से (पादुका-द्वारा) मेरी भी रुचि आदि निबाहेंगे। ऐसा समझने से जान पड़ा कि मेरा शोच बेकार था। 'न सोच खरोसो।'—शोच खर = खरा (सच्चा) होने की भ्रान्ति था, पर विचार करने पर वह खर (तृण) भर भी न रह गया।

(४) 'आरति मोर नाथ कर·····'—मैं पहले ढीठ न था, यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बयन।" (दो० २६०), आर्त्तिवश सम्मुख होना पड़ा, यथा—"आरति बस सनमुख भइउँ, बिलग न मानब तात।" (दो० ९७), छोहवश भी, यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।··· तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात। कृपासिंधु प्रियबंधु सन, कहहु हृदय कै बात ॥" (दो० २५९), इत्यादि। सम्मुख बोलना ढिठाई है, इसीको कहते हैं—'यह बड़ दोष दूरि करि·····' —भाव यह कि दोष अब न होने पावे, अब अधिक कुछ कहना न पड़े, मुझे शिक्षा दीजिये, क्योंकि सुहृद् और सुजान स्वामी से बहुत कहना भी भारी दोष है, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहिं···" (दो० ३००)।

(५) 'तजि सँकोच सिखइय अनुगामी।'—श्रीभरतजी तो अनुगामी हैं, यथा—"जेठ स्वामि

सेवक लघु भाई।" (दो० १४)। अतः, स्वामी के मुख से नीति की शिक्षा चाहते हैं कि जिस तरह आज्ञा हो, मैं सेवक रूप से श्रीअवध जाकर करूँगा। पर श्रीरामजी संकोची हैं, यथा—"कहुँ न राम समा स्वामि सँकोची।" (दो० ३१२), इसीसे गुरुजनों के समक्ष में शिक्षा नहीं देना चाहेंगे, संकोच करेंगे, इसलिये 'तजि सँकोच' कहा।

(६) 'खीर नीर बिबरन गति हंसी।'—पहले श्रीभरतजी की वाणी को हंसिनी कहा था, "भरत भारती मंजु मराली।" (दो० २६६), फिर श्रीभरतजी को ही हंस कहा था, यथा—"भरत हंस रबि बंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥" (दो० २३१), यहाँ उनकी विनय को हंसिनी कहा है, क्योंकि यहाँ दोष, स्वार्थ आदि जल का और प्रभु के गुण रूपी दूध का विवरण है। दोनों को अलग-अलग किया गया है, अर्थात् इनकी विनय विवेक-पूर्ण है।

दोहा—**दीनबंधु सुनि बंधु के, बचन दीन छल-हीन।**
देस-काल-अवसर-सरिस, बोले राम प्रवीन॥३१४॥

तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरुहिं नृपहिं घर बन की॥१॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहिं तुम्हहिं सपनेहुँ न कलेसू॥२॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ। स्वारथ सुजस धरम परमारथ॥३॥
पितु-आयसु पालिय दुहुँ भाई। लोक-बेद भल भूप भलाई॥४॥

अर्थ—दीन जनों के सहायक प्रवीण श्रीरामजी भाई के दीन और छल-हीन वचन सुनकर, देश, काल और अवसर के अनुकूल बोले॥३१४॥ हे तात! तुम्हारी, मेरी और कुटुम्बियों की, घर की और वन की चिन्ता गुरुजी और राजा (श्रीजनकजी) को है॥१॥ गुरु, मुनि (श्रीविश्वामित्रजी) और श्रीमिथिलेशजी सिर पर (संरक्षक) हैं, तो हमें और तुम्हें स्वप्न में भी क्लेश नहीं (हो सकता)॥२॥ मेरा और तुम्हारा परम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ, यही है॥३॥ कि पिता की आज्ञा दोनों भाइयों के द्वारा पालन की जाय, यही लोक और वेद (की दृष्टि) से भला है और राजा (पिता) को भी (इसीमें) अच्छी तरह भलाई है॥४॥

विशेष—(१) 'दीनबंधु सुनि···'—दीनता से प्रभु सहायक होते हैं, यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५), और श्रीभरतजी के वचनों में दीनता है, छल हीनता से भी प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—"मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३)।

(२) 'देस-काल···', यथा—"देसकाल लखि समय समाजू।" (दो० ३०३) पर भाव कहा गया। 'प्रवीन', क्योंकि जिस अवरेब को श्रीगुरुजी और श्रीजनकजी आदि भी न मिटा सके, उसे मिटावेंगे। यह 'तजि सँकोच सिखइय····' के प्रति है, प्रवीणता से शिक्षा देते हैं।

(५) 'चिंता गुरुहिं नृपहिं···'—'घर बन को', यथा—"सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु प्रसाद रखवारा॥" (दो० ३०५), 'माथे पर गुरु मुनि···', यथा—"तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबाके।" (वि० २२५), 'गुरु' और 'राजा' के बीच में मुनि (श्रीविश्वामित्रजी) भी थे, इससे आदर के लिये यहाँ उनका भी नाम दिया, उनका छोड़ देना अनुचित होता। 'मुनि' पद में वामदेव और जाबालि आदि भी लिये जा सकते हैं, राजनैतिक कामों में इनकी प्रवृत्ति है, ये धर्म-मन्त्री भी हैं, यथा—"वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः। अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः॥" (वाल्मी० २।११३।२), अर्थात् वसिष्ठ, वामदेव और दृढ़व्रत जाबालि तथा विचार प्रवीण अन्य सब मन्त्री आगे-आगे

(यह पादुका पाकर चलने के प्रसंग में कहा गया है) श्रीरामचरितमानस में भी ये वसिष्ठजी के साथ प्रायः पाये जाते हैं, यथा—"बामदेव बसिष्ठ तब आये।" (दो० १६८), तथा—"बोले बामदेव सब साँची।" (बा० दो० ३५८), तथा—"बामदेव रघुकुल गुरु ज्ञानी।···" (बा० दो० ३६०)। पहले 'गुरुहिं नृपहिं' मात्र कहा गया था। इस अर्द्धाली में इन मुनियों को भी कहकर सँभाल की है।

(४) 'मोर तुम्हार परम···'—श्रीभरतजी के सम्मान के लिये अपना भी नाम साथ में दिया, अन्यथा, आप तो पिता के पालन में तत्पर हैं ही। 'लोक-बेद भल भूप भलाई।'—नहीं तो किसीकी भलाई न होती, हम, तुम और पिता (राजा) तीनो अधर्मी कहाते। भाव यह कि राजा ने कैकेयी के लिये दो वर दिये, उसका ऋण चुकाया, इससे उन्हें स्वर्ग मिला। उन दो वरों में एक की पूर्त्ति श्रीरामजी कर रहे हैं। एक भरतजी को करना चाहिये, तभी राजा कैकेयी से उऋण होंगे और उनका वह स्वर्ग स्थिर रहेगा, यथा—"वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्। अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्॥" (वाल्मी० २।१११।३२), अर्थात् कैकेयी ने राजा से वर माँगा, मैंने राजा की आज्ञा का पालन किया। भरत, उन राजा पिता को असत्य से मुक्त करो, अर्थात् जब भरत १४ वर्ष राज्य ग्रहण करें, तभी राजा कैकेयी के प्रति सत्यवादी हों। वाल्मी० २।११३।१७ में भरद्वाजजी ने इसीकी प्रशंसा की है, कि तुम ऐसे पुत्र से राजा उऋण हुए, यथा—"करहु सीस धरि भूप रजाई। है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥···सुरपुर नृप पाइहि परितोषू।···" (दो० १७३-७४), तथा—"ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥ सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः। अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥" (वाल्मी० २।११२।५-६)—ये गन्धर्वों और महर्षियों के वचन हैं कि हे भरत! यदि पिता को सुखी रखना चाहते हो तो श्रीरामजी के वचन मानो। हमलोग चाहते हैं कि श्रीरामजी अपने पिता से सदा अनृण (उऋण) रहें। राजा दशरथ ने कैकेयी का ऋण चुका दिया है, इसीसे उन्हें स्वर्ग मिला है।

गुरु-पितु-मातु-सचिव-सिख पाले। चलेहु कुमग पग परहिं न खाले॥५॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥६॥
देस कोस परिजन परिवारू। गुरु-पद-रजहिं लाग छरभारू॥७॥
तुम्ह मुनि-मातु-सचिव-सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥८॥

दोहा—मुखिया मुख-सो चाहिये, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिवेक॥३१५॥

राज-धरम सरबस एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥१॥

शब्दार्थ—पुहुमी=पृथ्वी। खाले=नीचे, गड्ढे में। छरभार=उत्तरदायित्व, सार-सँभार।

अर्थ—गुरु, पिता, माता और स्वामी की शिक्षा का पालन करने के लिये कुमार्ग पर भी चलने से पैर नीचे नहीं पड़ता, अर्थात् हानि नहीं होती॥५॥ ऐसा विचार सब शोच छोड़ जाकर अवधि (१४ वर्ष) भर श्रीअयोध्या का पालन करो॥६॥ देश, कोश, परिजन और परिवार, इन सभीका सार-सँभार श्रीगुरुजी के चरणरज पर निर्भर है॥७॥ तुम मुनि, माता और मन्त्रियों की शिक्षा मानकर पृथ्वी, प्रजा और राजधानी का पालन करना, अर्थात् तुम निमित्त मात्र बने रहोगे, सब भार तो इन्हीं सबपर है॥८॥ मुखिया मुख के समान होना चाहिये कि खाने-पीने को तो वह एक है, पर तुलसीदासजी कहते हैं कि वह सब अंगों का विवेक सहित पालन-पोषण करता है॥३१५॥ राजधर्म का सर्वस्व इतना ही है, जैसे मन के भीतर बहुत से मनोरथ छिपे रहते हैं (वैसे ही सभी नीतियाँ इस भाव में हैं)॥१॥

विशेष—(१) 'चलेहु कुमग पग···', यथा—"तनय जजातिहि जौवन···परसुराम पितु अज्ञा राखी।···" (दो० १७३), तथा—"मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम्। हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥" (महा० अनु० १०४।१४५), अर्थात् माता, पिता और गुरुजनों की आज्ञा माननी उचित है, उसमें चाहे भलाई हो, अथवा बुराई—इसका विचार करना उचित नहीं। जैसे द्रौपदीजी को स्वयंवर में मत्स्य वेध कर अर्जुन ने प्राप्त किया। उसपर माता कुन्ती ने सहसा कह दिया कि पाँचो भाई ग्रहण करो। पाँचो भाइयों ने तदनुसार विवाह किया। उसपर उन्हें दोष नहीं लगा।—महा० आदि० १९०-२००। वि० २३९ के 'सिद्धान्त-तिलक' में इसकी विवेचनात्मक व्याख्या है, वहीं देखें। 'गुरु-पद-रजहिं···'—'सिर पर भार' का मुहावरा है, पर श्रीगुरुजी का प्रसंग होने से उनके पद-रज को कहा गया, क्योंकि ऐसे पूज्य-वर्ग के चरण, रज आदि का ही आश्रय कहा जाता है। यह भी जनाया कि उन्हें कुछ करना नहीं होगा। रज के प्रभाव ही से सब होता रहेगा, यथा—"जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥···सब पायेउँ रज पावनि पूजे ॥" (दो० २)।

'तुम्ह मुनि-मातु-सचिव-सिख मानी।···' यथा—"अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः। सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य सुमहान्त्यपि कारय ॥" (वाल्मी० २।११२।१७), अर्थात् अब तुम प्रधान मन्त्रियों (वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि एवं सुमन्त्र आदि), सुहृदों, बुद्धिमानों और उपमन्त्रियों के साथ समस्त बड़े-बड़े-बड़े कार्यों में परामर्श ले राज्य की सुव्यवस्था करो।

(२) 'मुखिया मुख सो चाहिये···'—पहले कहा गया है—"सेवक कर पद नयन-से, मुख-सो साहिब होइ।···" (दो० ३०६), उसे इसके साथ मिलाकर अर्थ करने से सब भाव आ जाते हैं। वहाँ 'कर, पद, नैन' कहा गया, उसे यहाँ 'सकल अँग' से जनाया है। वहाँ 'मुख सों साहिब होइ' कहा गया था, उसका धर्म 'पालइ पोषइ' यहाँ कहा गया है। वहाँ परस्पर प्रीति की रीति कही गई थी, यहाँ मुखिये के धर्म का विवेक दिखलाया गया है। 'सहित बिबेक'—जिस अंग के लिये जितने और जैसे रस की आवश्यकता होती है, उसे उतना ही पहुँचाता है जिससे वे स्वस्थ और पुष्ट रहें, कम या अधिक हो तो रोग पैदा हों। वैसे ही मुखिये को चाहिये। यहाँ राजा को मुख का अनुप्रास लेते हुए मुखिया कहा है। देश, प्रजा, सेना, कोश, मित्र, मन्त्री आदि राजा के अंग हैं, राजा मुख-रूप है। मुख अकेला खाता है, पर वह वस्तुतः सभी को बाँट देता है। (स्वयं कुछ नहीं रखता, खरचे से निकाल कर सफाई रखता है। वैसे ही मुखिया भी सप्तांगों से छिपाकर कुछ न रक्खे, अन्यथा मुख में दुर्गन्धि आने की भाँति इसका अपयश होता है।) वैसे ही राजा एक ही भोक्ता कहा जाता है, पर सब अंगों को यथायोग्य इसी विवेक की रीति से पालन-पोषण करता है। अधिकार के अनुसार सबको कार्य देता है और तदनुसार उसके वेतन आदि पर दृष्टि रखता है। कहा भी है—"आनन छोड़ो साथ जब, ता दिन हिनू न कोइ।" (दोहावली० ५३४)।

(३) 'राज-धरम सरबस एतनोई।'—जो दोहे में कहा गया, इसीमें सब राजधर्म आ गये। दोहा मन रूप हुआ और सब राज-धर्म मनोरथ-रूप हैं, वे सब इसीमें हैं, जितना चाहो, उतना इसीमें से निकलते जायँगे, यथा—"आसन बसन पसु बस्तु···बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ···मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये ॥" (वि० ६६४)। वाल्मीकीय अ० १०० वें सर्ग की सब राजनीतियाँ इसी एक दोहे में आ गईं। राजनीति के और भी सब भेद आ गये। पुनः देश-काल के अनुरोध से मन के मनोरथ बदलते रहते हैं, वैसे ही देश-काल के अनुरोध से नीति भी बदला करती है, इसी दोहे-रूपी सूत्र में सब आ गये। राजा के सभी कर्त्तव्य इस एक ही सूत्र में कह देना इन्हीं महाकवि के द्वारा हुआ है।

बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती ॥२॥

भरत सील गुरु सचिव समाजू । सकुच सनेह बिवस रघुराजू ॥३॥
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही । सादर भरत सीस धरि लीन्ही ॥४॥

अर्थ—भाई को बहुत तरह से समझाया, पर बिना आधार के उनके मन को न सन्तोष हुआ और न शान्ति ही ॥२॥ श्रीभरतजी के शील और गुरु, मन्त्री और समाज के संकोच से श्रीरघुनाथजी संकोच और स्नेह के विशेष वश में होकर ॥३॥ उन प्रभु श्रीरामजी ने कृपा करके खड़ाऊँ दी, श्रीभरतजी ने उन्हें आदर सहित अपने सिर पर रख लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रबोध कीन्ह बहु भाँती'—नीति सिखाई, गुरु, माता, राजा श्रीजनक आदि का पूर्ण आधार बतलाया, पर बिना अवलम्ब के शान्ति-सन्तोष न हुआ।

(२) 'भरत सील गुरु···'—श्रीभरतजी के स्वभाव पर आप विवश हैं, उनका शील तोड़ना नहीं चाहते और वे बिना आधार पाये प्रसन्न नहीं होते। वस्त्र आदि दे नहीं सकते, उससे मानों इन्हें भी उदासीन वेष की आज्ञा देते हैं, यह समझा जायगा। अतः, सकुचे कि क्या दें। पुनः गुरु आदि के सामने खड़ाऊँ कैसे दें ? अन्ततोगत्वा गुरुजी ने संकोच का अभिप्राय जानकर स्वयं कहा कि आप अपनी खड़ाऊँ दीजिये, यह वाल्मीकीय अ० स० ११३ के ११-१३ वें श्लोकों से स्पष्ट है, यथा —"वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।··· एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेम भूषिते। अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव ॥ एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः। पादुके हेम विकृते मम राज्याय ते ददौ ॥" यह श्रीभरतजी ने भरद्वाजजी से कहा है।

(३) 'प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।···'—अन्त में स्नेह की ही जीत हुई। गुरुजी की भी अनुमति हो गई, फिर सबका संकोच तोड़ कृपा करके इन्हें खड़ाऊँ दी।

शंका—श्रीरामजी तो—'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये' आये थे, खड़ाऊँ कहाँ से आई ?

समाधान—इसे भी राज्य-तिलक-सामग्री के साथ श्रीभरतजी ही लाये थे। उसीको गुरुजी की आज्ञा से रख दिया, श्रीरामजी ने पूर्व मुख होकर उसे पहनकर उतार दिया और तब उसे लेकर श्रीभरतजी ने सिर पर धारण कर लिया, यथा—"अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एतेहि सर्वलोकस्य योग-क्षेमं विधास्यतः ॥ सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च। प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥" (वाल्मी० २।११२।२१-२२), 'सादर भरत सीस धरि लीन्ही', यथा—"स पादुके ते भरतः स्वलंकृते महो-ज्ज्वले संपरिगृह्य धर्मवित्। प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥२६॥·····ततः सिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥१॥" (वाल्मी० २।११२-११३), अर्थात् श्रीभरतजी ने पादुका पाकर उसको प्रणाम किया, फिर लेकर श्रीरामजी की प्रदक्षिणा की और पादुका को हाथी पर पधराया, फिर विदा होकर खड़ाऊँ को सिर पर लेकर रथ पर बैठे।

चरनपीठ करुनानिधान के । जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ॥५॥
संपुट भरत - सनेह - रतन के । आखर जुग जनु जीवजतन के ॥६॥
कुलकपाट कर कुसल करम के । बिमल नयन सेवा-सु-धरम के ॥७॥
भरत मुदित अवलंब लहे ते । अस सुख जस सिय-राम रहे ते ॥८॥

शब्दार्थ—चरनपीठ = खड़ाऊँ। जामिक = पहरेदार। संपुट = डब्बा।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरामजी की दोनों (चरण-सिंहासन) खड़ाऊँ मानों प्रजा के प्राणों के रक्षक दो पहरेदार हैं ॥५॥ श्रीभरतजी के स्नेह-रूपी रत्न के लिये सम्पुट (दोनों खड़ाऊँओं के नीचे-ऊपर के फाल)

हैं। जीव के उपाय के लिये मानों युगल अक्षर (श्रीराम-नाम के 'रा' और 'म') हैं ॥६॥ रघुकुल (की रक्षा) के लिये किवाड़ हैं, कुशल-कर्म के मानों कुशल दोनों हाथ हैं। सेवा-रूपी सुन्दर धर्म के लिये विमल (दोनों) नेत्र हैं ॥७॥ श्रीभरतजी अवलम्ब के पाने से ऐसे आनन्दित हैं, जैसे श्रीसीतारामजी के (घर पर) रहने पर सुखी होते ॥८॥

विशेष—(१) 'जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के।'—पहरेदार माल की रक्षा करते हैं, ये प्रजा के प्राणों की रक्षा करते हैं, यथा—"मनहुँ सबनि के प्रान पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे।" (गी० अ० ७५), पहरेदार पगिया बाँधे रहते हैं, वैसे ही इनमें खूँटियाँ हैं। जिसपर पहरा होता है, वह निकलने नहीं पाता। वैसे ही ये पहरेदार श्रीराम-वियोग में किसीके प्राण न निकलने देंगे, यथा—"नाम पाहरू राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट॥" (मु० दो० ३०)' भाव यह कि इनके प्रभाव से प्रजा का योग-क्षेम रहेगा और वे इन्हें श्रीरामजी के प्रतिनिधि-रूप में देख-देखकर जीवेंगे। ये दिव्य पाहरू हैं, इससे ये रात-दिन तैयार रहेंगे।

(२) 'संपुट-भरत सनेह रतन के।'—दोनों पादुकाओं के तलवे मिलकर डब्बा रूप होते हैं। 'आखर जुग जनु···'—जीव के यत्न (उपाय) रूप राम-नाम के 'रा' और 'म' दो अक्षरों की तरह हैं, अर्थात् लोक-परलोक के साधन रूप हैं। श्रीरामनाम का रक्षकत्व—"जीह जसोमति हरि हलधर से।" (बा० दो० १९) देखिये।

(३) 'कुलकपाट कर···'—जैसे किवाड़ से घर की रक्षा होती है, वैसे ही इनसे कुल की रक्षा होगी, क्योंकि इस अवलम्ब के बिना श्रीभरतजी न जीते, यथा—"तुलसी प्रभु निज चरन-पीठ-मिस भरत प्रान रखवारो।" (गी० अ० ६७), इनके अमंगल पर श्रीरामजी न जीते और फिर तो कुल का कोई भी न जीता। कुशल कर्म के लिये कुशल दो हाथ हैं, क्योंकि इन्हींसे श्रीभरतजी के सब कार्य सधे एवं सुकर्मों का संचय हुआ। 'बिमल नयन सेवा-सु-धरम के।'—सेवा-रूपी सुन्दर धर्म के दोनों नेत्र हैं, नेत्र के द्वारा देखकर सेवा ठीक होती है, वैसे खड़ाऊँ की सेवा एवं दर्शनों से इनका सेवा-धर्म निबहा। दोनों पादुकाओं पर श्रीरामजी के दोनों चरणों के चिह्न हैं। श्रीरामजी के दोनों चरणों में २४-२४ चिह्न हैं। वे चौबीस तत्त्व की प्रकृति में व्यापकत्व के परिचायक हैं। जैसे मनुष्य का शरीर उसके चरणों पर रहता है। वैसे ही श्रीरामजी का शरीर रूपी ब्रह्माण्ड उनके चरण-रूपी व्यापक सत्ता पर है, इसीसे "पद पाताल" (लं० दो० १४), यह विराट् रूप में कहा गया है।

इन चरण-चिह्नों से यह दृष्टि मिलती है कि प्रकृति का परिणाम रूप शरीर भगवान् की सत्ता पर है। उन्होंने ही अपने शरीर रूपी चराचर जगत् रूप से इसका पालन-पोषण किया है। अतः, यह उन्हीं की सेवा के लिये है, यथा—"जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत···" (वि० ५८), तथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २३), यही इन पादुकाओं का सेवारूपी सुन्दर धर्म के लिये निर्मल नेत्रों का होना है।

भाव यह कि खड़ाऊँ से प्रजा की रक्षा होगी, श्रीभरतजी का स्नेह स्वच्छ रहेगा, परमार्थ की प्राप्ति होगी, कुल की रक्षा होगी, शुभ कर्मों का संचय होगा और इनकी सेवा करने से इष्ट-सेवा-रूपी सुधर्म भी सुचारू रूप से निबह जायगा। श्रीभरतजी यदि एक दिन के लिये भी राज्यासन पर बैठते तो वह गद्दी इनकी उच्छिष्ट होने से श्रीरामजी के योग्य नहीं रहती। जैसा कि वाल्मी० २।६१।१५-१६ में यही बात श्रीकौसल्याजी ने कही है। अब श्रीराम-पादुका को राज्य देकर भरतजी मन्त्री रूप में राज्य करेंगे, इनका धर्म रहेगा।

(४) 'भरत मुदित अवलंब ····'—प्रियतम के अंगों के वस्त्राभूषण प्रियतम के समान होते हैं,

इसीसे इन्हें श्रीसीतारामजी के साथ रहने का-सा सुख हुआ। श्रीभरद्वाजजी ने कहा था—"सब दुख मिटिहि राम-पद देखी।" (दो० २२१), वह यहाँ चरितार्थ हुआ। इन्होंने खड़ाऊँ को श्रीराम-रूप ही माना है, इसीसे उन्हें लेकर नन्दिग्राम में (अवध से बाहर) रहे हैं कि इस रूप से भी श्रीरामजी की वनवास-प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाय। भगवान् के सब भूषण सायुज्य मुक्त जीव ही है, वे चेतन हैं, बोलते हैं, जैसे मुद्रिका ने श्रीजानकीजी से बातें की हैं, यथा—"बोलि, बलि, मूँदरी !·····' (गी० सुं० ३ और ४) ये दोनों पद देखिये। वैसे खड़ाऊँ से श्रीभरतजी को आज्ञा मिलती थी, यथा—' माँगि-माँगि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति ॥" (दो० ३२५), इसीसे कहा है—"अस सुख जस सिय राम रहे ते।" और इसीसे श्रीभरतजी तुरत मुदित हो गये। 'सिय राम रहे ते'—दोनों खड़ाउओं में जो २४-२४ चिह्न हैं, वे ही चिह्न श्रीसीताजी के भी चरणों में हैं। जो चिह्न श्रीरामजी के दाहिने चरण में हैं वे श्रीसीताजी के बायें में हैं और जो श्रीरामजी के बायें में हैं, वे श्रीसीताजी के दाहिने चरण में हैं। अतः, इन्हींमें दोनों (श्रीसीताराम) की भावनाएँ होती हैं।

चित्रकूट तृतीय दरबार समाप्त।

दोहा—माँगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिये उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ ॥३१६॥

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधिआस सम जीवनि जी की ॥१॥
नतरु लखन-सिय-राम-बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा ॥२॥
रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी ॥३॥

शब्दार्थ—गुनद = गुणदायक। गोहारी = गोहारी का अर्थ रक्षार्थ पुकार है, गोहारी का अर्थ हुआ, सुनकर रक्षार्थ आया हुआ जन-समुदाय, यथा—"धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति···" (क० उ० ७५), धारि = झुंड, सेना, जो लूट-मार के लिये दौड़कर आई हो।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने) प्रणाम करके विदा माँगी, श्रीरामजी ने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया, कुटिल इन्द्र ने बुरा अवसर पाकर लोगों पर उच्चाटन किया ॥३१६॥ उसकी वह कुचाल सबके लिये हितकर हो गई। अवधि (चौदह वर्ष समाप्ति पर मिलने) की आशा के समान (वह देवों की कुचाल) सबके जीवों की, समान रूप से सञ्जीवनी हो गई ॥१॥ नहीं तो, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी वियोग-रूपी कुरोग से सभी लोग भयभीत होकर (हा-हा करके) मर जाते ॥२॥ श्रीरामजी की कृपा ने अवरेब (कठिनाई) को सुधार दिया, देवताओं की सेना गुणदायक-रक्षक-समुदाय हो गई, अर्थात् देवताओं ने तो हानि पहुँचाने की दृष्टि से उच्चाटन किया, पर उनका वह प्रयोग इन्हें लाभदायक हो गया, श्रीराम-कृपा से अहित दृष्टिवालों से भी हित का कार्य हो जाता है ॥३॥

विशेष—(१) 'लोग उचाटे अमरपति·····'—कुटिल लोग कुअवसर की ताक में रहते ही हैं। ऐसे ही कुअवसर ताककर इन्द्र ने भी घात की। पर श्रीराम-कृपा से भला हुआ, वही कहते हैं—

(२) 'अवधिआस सम···'—सबके जी में एक-मात्र यही आशा रह गई कि अब तो प्रभु १४ वर्ष पर ही फिर मिलेंगे, इस आशा पर सब जियेंगे। अतः, वह कुचालि आशा ही की भाँति सञ्जीवनी हो गई। अभी उचाट हुआ कि अब चलें श्रीरामजी को क्यों विक्षेप दें। 'सम'—अर्थात् पहले 'जथा जोग जन पाइ' लगी थी, किन्तु यह माया समान रूप से सबको लगी। नहीं तो क्षण-क्षण कल्प के समान कटता। यहीं से श्रीअवध पहुँचना कठिन होता। 'नतरु···कुरोगा', यथा—"राम लखन सिय बिनु पग पनहीं।

"'एहि दुख दाह'''एहि कुरोग कर औषध नाहीं।" (दो० २११), "खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥" (दो० १५७)।

देवताओं ने 'भय, भ्रम, अरति, उचाट' की रचनाएँ की थीं, पर उनमें उचाट मात्र का लगना यहाँ कहा गया है। शेष दो० ३०१ चौ० ३ में भी देखिये।

भेंटत भुज भरि भाइ भरत-सो। राम-प्रेम-रस कहि न परत सो॥४॥
तनु मन बचन उमग अनुरागा। धीर - धुरंधर धीरज त्यागा॥५॥
बारिज - लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर-सभा दुखारी॥६॥
मुनिगन गुरु धुरधीर जनक-से। ज्ञानअनल मन कसे कनक-से॥७॥
जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये॥८॥

दोहा—तेउ बिलोकि रघुबर-भरत, प्रीति अनूप अपार।
भये मगन मन तन बचन, सहित बिराग बिचार॥३१७॥

अर्थ—भुजा भर कर (दोनों हाथों को पूरे फैलाकर) भाई श्रीभरतजी से भेंट कर रहे हैं। श्रीरामजी का वह प्रेमरस कहते नहीं बनता॥४॥ उनके शरीर, मन और वचन से अनुराग उमड़ पड़ा, धीर धुरन्धर श्रीरामजी ने धैर्य छोड़ दिया, अर्थात् अधीर होकर रोने लगे॥५॥ अपने कमल समान नेत्रों से आँसू गिरा रहे हैं। (श्रीरामजी की) यह दशा देखकर देवताओं का समाज दुखी हुआ॥६॥ मुनि लोग, गुरु वसिष्ठ और श्रीजनकजी के समान श्रेष्ठ धीर, जिन्होंने अपने मन रूपी सोने को ज्ञान रूपी अग्नि से कस लिया है॥७॥ जिन्हें श्रीब्रह्माजी ने निर्लिप्त ही उत्पन्न किया है और जो जगत्-रूपी जल में कमल के पत्र की तरह पैदा हुए हैं॥८॥ वे भी रघुवर श्रीरामजी और श्रीभरतजी की अपार और उपमारहित प्रीति को देखकर वैराग्य और विवेक के साथ मन, तन और वचन से उस प्रेमरस में डूब गये॥३१७॥

विशेष—(१) 'राम-प्रेम-रस'—प्रेम को रस कहा है, रस में स्वाद होता है। स्वाद का भोक्ता ही उसे जानता है, दूसरा क्या जाने? 'कहि न परत', यथा—"भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान॥ मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी॥ परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई॥" (दो० २४०), वे ही सब भाव यहाँ हैं। वहाँ विस्तार से कह चुके हैं, इसीसे यहाँ संकेत मात्र कह दिया।

(२) 'देखि दसा सुर-सभा दुखारी।'—ये लोग इसलिये दुखी हुए कि हमारे लिये प्रभु अपने परम प्रिय भाई के वियोग का दुःख सह रहे हैं। यह भी हो सकता है कि भय से दुखी हुए हों कि कहीं अब भी प्रेमातुर होकर लौट न पड़ें, यथा—"मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी॥" (दो० २४०)।

(३) 'ज्ञानअनल मन कसे·····'—सोना अग्नि में तपाने से परखा जाता है, इससे उसमें अधिक कान्ति भी आ जाती है, यथा—"कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।" (दो० २०४), "कसे कनक मनि पारिख पाये।" (दो० २८२), वैसे ही इनके मन कई बार परखे जा चुके हैं। किसीमें राग, ममत्व आदि छू नहीं गये हैं। मोह, शोक आदि विकार इनमें नहीं आ सकते।

(४) 'जे बिरंचि निरलेप उपाये'''—'उपाये' अर्थात् उत्पन्न हुए। कमल जल में उपजता है। पर उससे निर्लिप्त रहता है, उसके दलों पर जल पड़ने से भी ढरक जाता है, छू नहीं जाता। वैसे

ये जगत् के व्यवहार से निर्लिप्त हैं, यह गुण इनमें सहज है, ब्रह्मा ने ही इन्हें जन्म से ही निर्लिप्त पैदा किया है।

(५) 'तेउ बिलोकि रघुबर···'—'अनूप'—उसकी कहीं भी उपमा नहीं है, 'अपार'—वह समुद्र के समान अपार है, इसीसे जनक आदि भी डूब गये। बिराग-बिचार ही इनके जहाज रूप थे, यथा—"चढ़े बिबेक जहाज" (दो० २२०)। अतः, जहाज सहित डूब गये। 'मन तन बचन', यथा—"बिसरे सबहिं अपान।" (दो० २४०) पर कहा गया, इसीसे आगे 'मति भोरी' कहा है।

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी ॥१॥
बरनत रघुबर - भरत - बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू ॥२॥
सो सँकोच रस अकथ सुबानी। समय सनेह सुमिरि सकुचानी ॥३॥
भेंटि भरत रघुबर समुझाये। पुनि रिपुदवन हरषि हिय लाये ॥४॥
सेवक सचिव - भरत - रुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई ॥५॥
सुनि दारुन दुख दुहूँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा ॥६॥
प्रभु - पद-पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम - रजाई ॥७॥
मुनि तापस बन - देव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी ॥८॥

दोहा—लखनहिं भेंटि प्रनाम करि, सिर धरि सिय-पद-धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि, सकल - सुमंगल - मूरि ॥३१८॥

अर्थ—जहाँ श्रीजनकजी और गुरु श्रीवसिष्ठजी की बुद्धि की गति कुण्ठित हो गई, वहाँ प्राकृत (संसारी जीवों की) प्रीति कहना बड़ा दोष है, अर्थात् इसे प्राकृत कहना वा प्राकृतों की उपमा देना बड़ा दोष है ॥१॥ रघुवर श्रीरामजी और श्रीभरतजी का वियोग वर्णन करते हुए सुनकर लोग कवि को कठोर-हृदयवाला समझेंगे, (कि कठोर हृदय का कवि न होता, तो इस दशा को स्मरण कर विह्वल हो जाता, फिर कैसे कहता ?) ॥२॥ वह 'सँकोच रस' अकथ्य है, उस समय का और उस समय के स्नेह का स्मरण कर सुन्दर वाणी सकुचा गई ॥३॥ रघुवर श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से भेंट करके उनको समझाया, फिर श्रीशत्रुघ्नजी को हर्षित होकर अपने हृदय से लगा लिया ॥४॥ श्रीभरतजी का रुख पाकर सब सेवक और मन्त्री अपने-अपने कार्य में जा लगे ॥५॥ यह सुनकर दोनों समाजों को अत्यन्त कठिन दुःख हुआ। वे चलने के सामान ठीक करने लगे ॥६॥ प्रभु के चरण-कमलों की वन्दना करके दोनों भाई श्रीरामजी की आज्ञा को शिरोधार्य करके चले ॥७॥ मुनियों, तपस्वियों और वन-देवताओं से विनती की और सबों-का बार-बार सम्मान किया ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी से भेंट-प्रणाम करके, श्रीसीताजी की चरण-रज को सिर पर चढ़ा और समस्त सुन्दर मंगलों की जड़ उनको आशिष सुनकर वे प्रेम-पूर्वक चले ॥३१८॥

विशेष—(१) 'प्राकृत प्रीति·····'—यहाँ तो श्रीगुरुजी और श्रीजनकजी की मति को ही कहा गया है, इससे पहले भी कहा गया है, यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि-हरि-हर को ॥" (दो० २४०), जहाँ त्रिदेवों का भी मन नहीं पहुँचता, उसे अप्राकृत कहना ही चाहिये।

(२) 'सो सँकोच रस अकथ·····'—एक तो कठोर हृदय बिना कहा भी न जायगा, पुनः यह रस भी अकथ्य है, फिर वह समय और स्नेह का स्मरण भी संकोच का कारण है इत्यादि कई कारणों को समझकर सुन्दर वाणी सकुचा गई, नहीं तो कुछ-न-कुछ कहती।

(३) 'भेंटि भरत रघुबर समुझाये ।'—'समुझाये', यथा—"तात जात जानिबे न ये दिन करि प्रमान पितु-बानी । ऐहौं बेगि, धरहु धीरज उर कठिन काल गति जानी ॥ तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि···" (गी० अ० ७५), यह भी कहा कि मेरा मन सदा तुम्हारे पास और तुम्हारा मन मेरे पास रहेगा, तो वियोग जान ही न पड़ेगा ।

(४) 'लखनहिं भेंटि·····'—यहाँ भेंट-प्रणाम एक शब्द माने तो, श्रीलक्ष्मणजी से भेंट और प्रणाम किये गये अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने प्रणाम किया और श्रीभरतजी ने उनसे भेंट की यह अर्थ होगा अथवा श्रीभरतजी के साथ श्रीशत्रुघ्नजी भी हैं, श्रीभरतजी ने भेंट की और श्रीशत्रुघ्नजी ने प्रणाम किया । अथवा 'प्रनाम करि' को अगले चरण के साथ लगाना चाहिये । तब यह अर्थ होगा कि श्रीसीताजी को प्रणाम करके उनके चरणों की धूलि शिरोधार्य की और·····'सुमंगल मूरि' को 'धूरि' का भी विशेषण ले सकते हैं ।

सानुज राम नृपहिं सिर नाई । कीन्ह बहुत बिधि बिनय बड़ाई ॥१॥
देव दयाबस बड़ दुख पायेउ । सहित समाज काननहिं आयेउ ॥२॥
पुर पगु धारिय देइ असीसा । कीन्ह धीर धरि गवन महीसा ॥३॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने । बिदा किये हरि-हर-सम जाने ॥४॥
सासु समीप गये दोउ भाई । फिरे बंदि पगु आसिष पाई ॥५॥
कौसिक बामदेव जाबाली । पुरजन परिजन सचिव सुचाली ॥६॥
जथाजोग करि बिनय प्रनामा । बिदा किये सब सानुज रामा ॥७॥
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे । सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥८॥

दोहा—भरत-मातु-पद-बंदि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि ।
बिदा कीन्ह सजि पालकी, सकुच सोच सब मेटि ॥३१६॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी ने राजा जनक को सिर झुकाकर उनकी बहुत प्रकार प्रार्थना और बड़ाई की ॥१॥ कि हे देव ! दया के वश आपने बड़ा दुःख उठाया, समाज के साथ आप वन को आये ॥२॥ अब आशिष देकर अपने पुर को पधारिये, पृथ्वी-पति श्रीजनकजी ने धैर्य धारण करके गमन किया ॥३॥ मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओं को हरि-हर के समान जानकर उनका सम्मान किया और फिर उनको विदा किया ॥४॥ दोनों भाई सास के समीप गये, उनके चरणों की वन्दना कर और आशिष पाकर लौटे ॥५॥ फिर विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, शुभ आचरणवाले पुरवासी, कुटुम्बी और मन्त्री ॥६॥ सबसे भाई के साथ श्रीरामजी ने यथायोग्य विनय और प्रणाम करके उन सबको विदा किया ॥७॥ छोटे, मध्यम और बड़े सभी (श्रेणियों के) स्त्री-पुरुषों का सम्मान कर कृपा के सागर श्रीरामजी ने उनको लौटाया ॥८॥ श्रीभरतजी की माता श्रीकैकेयीजी को प्रभु श्रीरामजी ने पवित्र-स्नेह से वन्दना की और उनसे मिल-भेंट कर, उनका संकोच एवं शोच मिटाकर तथा पालकी सजाकर उनको विदा किया ॥३१६॥

विशेष—(१) 'सानुज राम नृपहिं सिर नाई···'—श्रीजनकपुर से विदा होते समय श्रीजनकजी ने विशाल स्तुति की है, श्रीरामजी में ऐश्वर्य दृष्टि रक्खी थी । तदनुसार श्रीरामजी ने बर्ताव रखते हुए अपने माधुर्य भाव को रक्षा की थी । यहाँ पर श्रीरामजी ने माधुर्य भाव को ही प्रधान कर प्रणाम एवं विनती भी की है । 'हरि-हर-सम जाने'—हरि और हर उपास्य देव हैं, वैसे ही इन्हें इष्टदेव एवं पूज्य करके माना और सम्मान किया । 'सुचाली' विशेषण सबके साथ है, वे सब सच्चरित्र ही थे । तभी तो उस काल

में उनको श्रीअवध में निज बास प्राप्त था, यथा—"सब निर्दंभ धरतरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥" (उ० दो० २०)।

(२) 'भरत-मातु-पद-बंदि ···'—पवित्र निश्छल स्नेह, दिखावटी नहीं। 'सकुच सोच' उन्हें संकोच था कि जिसके लिये मैंने इतना अनर्थ कर डाला, उस पुत्र ने ही मुझे त्याग दिया और कुवाक्य कहा, तो अब मैं संसार में कैसे मुँह दिखाऊँगी। शोच था कि अब मेरी कौन दुर्गति होगी, इत्यादि। पुनः अपनी करनी का भी संकोच था, यथा—"अवनि जमहिं जाँचति कैकेयी। महि न बीच बिधि मीच न देई ॥" (दो०२५१), "गरइ गलानि कुटिल कैकेयी। काहि कहइ केहि दूषन देई ॥" (दो० २७२)। समझाना पूर्व लिखा गया, यथा—"पग परि कीन्ह प्रबोध ···" (दो० २४३), यहाँ शोच आदि का मिटाना यों है कि श्रीरामजी ने कहा कि मैंने श्रीशत्रुघ्नजी को समझाकर कह दिया है, वे आपकी सेवा करेंगे और कोई भी कुछ न कहेगा, यथा—"शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेतमब्रवीत्। मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।···" (वाल्मी० २।११२।२७-२८)।

परिजन मातु पितहिं मिलि सीता। फिरी प्रान-प्रिय-प्रेम-पुनीता ॥१॥
करि प्रनाम भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कबि हिय न हुलासू ॥२॥
सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई ॥३॥
रघुपति पटु पालकी मँगाईं। करि प्रबोध सब मातु चढ़ाईं ॥४॥
बार-बार हिलि मिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननीं पहुँचाईं ॥५॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भरत भूप दल कीन्ह पयाना ॥६॥
हृदय राम सिय लखन समेता। चले जाहिं सब लोग अचेता ॥७॥
बसह बाजि गज पसु हिय हारे। चले जाहिं परबस मन मारे ॥८॥

दोहा—गुरु गुरुतिय पद बंदि प्रभु, सीता लखन समेत।
फिरे हरष-बिसमय सहित, आये परननिकेत ॥३२०॥

अर्थ—अपने प्राण-प्रिय पति के प्रेम में पवित्र श्रीसीताजी कुटुम्बी, माता और पिता से मिलकर लौट आईं ॥१॥ (फिर) प्रणाम करके उन्होंने सब सासों से भेंट कीं, (गले लगकर मिलीं) उनकी उस प्रीति को कहने के लिये कवि के हृदय में उत्साह नहीं होता ॥२॥ उनकी शिक्षा सुनकर और मन-माँगी आशिष पाकर श्रीसीताजी दोनों की प्रीति में समाई रहीं, अर्थात् कुछ देर तक उसीमें निमग्न रहीं ॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर पालकियाँ मँगाईं और सब माताओं को बहुत समझाकर उनपर चढ़ाया ॥४॥ दोनों भाइयों ने बार-बार माताओं से एक समान प्रेम से हिल-मिलकर उनको पहुँचाया ॥५॥ घोड़े, हाथी आदि अनेक सवारियों को सजाकर श्रीभरतजी और राजा श्रीजनकजी के दल (समाज एवं सेना) ने प्रस्थान किया ॥६॥ सब लोग अचेत (देह की सुधि-रहित) चले जा रहे हैं, उनके हृदय में श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी हैं ॥७॥ तथा बैल, घोड़े, हाथी (आदि) पशु हृदय से हारे हुए (लाचार) एवं परवश उदास चले जा रहे हैं ॥८॥ गुरु और गुरु-पत्नी के चरणों की वन्दना करके श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु हर्ष और शोक के साथ लौटे और अपनी पर्ण-कुटी पर आये ॥३२०॥

विशेष—(१) 'भेंटी सब सासू'—सासें ७०० हैं। अतः, अनेक रूप हो क्षणभर में मिलीं,

यथा—"सीय सासु प्रतिबेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥" (दो० २५१)। 'दुहुँ प्रीति'—माताओं और सासुओं, इन दोनों ओर की प्रीति में।

(२) 'करि प्रबोध'—समझाया कि हम आप सबके धर्म के प्रभाव से सदा सुखी रहेंगे। आप लोगों की सेवा हमसे अधिक श्रीभरतजी करेंगे, हम भी अवधि पूरी करके चरणों के दर्शन करेंगे, वे दिन आपको सोये हुए की तरह शीघ्र बीत जायँगे—दो० ६८ चौ० २ देखिये।

(३) 'हरष-बिसमय'—हर्ष अपने धर्म, प्रतिज्ञा एवं देव-कार्य आदि के निर्वाह का और श्रीभरतजी की अनुकूलता एवं भक्ति का। विस्मय प्रियजनों के वियोग का।

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू॥१॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी॥२॥
प्रभु सिय लखन बैठि बट-छाँहीं। प्रिय-परिजन बियोग बिलखाहीं॥३॥
भरत सनेह सुभाव सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी॥४॥
प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेमबस बरनी॥५॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना॥६॥
बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घरघर की॥७॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरोसो॥८॥

दोहा—सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान बैराग्य जनु, सोहत धरे सरीर॥३२१॥

अर्थ—निषाद-राज गुह का सम्मान करके उसको विदा किया, वह भी चला (पर) उसके हृदय में बड़ा विरह-दुख था॥१॥ कोल, किरात, भील आदि वन के विचरनेवाले लौटाने पर बार-बार प्रणाम कर-करके लौटे॥२॥ प्रभु श्रीरामजी, श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी वरगद की छाया में बैठकर प्यारे कुटुम्बियों के वियोग से बिलख (रो) रहे हैं॥३॥ श्रीभरतजी के स्नेह, स्वभाव और उनकी सुन्दर वाणी प्रिया श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी से बखान-बखान कर कह रहे हैं॥४॥ उनके मन, वचन और कर्म की प्रीति-प्रतीति का वर्णन श्रीरामजी ने प्रेमवश होकर श्रीमुख (अपने मुख) से किया॥५॥ उस समय पशु-पक्षी और जल के भीतर रहते हुए भी मछली तक चित्रकूट के जड़-चेतन सभी जीव उदास हो गये॥६॥ देवताओं ने श्रीरघुनाथजी की दशा देख फूल बरसाकर अपने-अपने घर-घर की दशाएँ कहीं॥७॥ प्रभु श्रीरामजी ने प्रणाम करके उनको भरोसा (ढाढ़स) दिया कि तुम्हारा डर खरा (ठीक) सा नहीं है, अर्थात् भ्रम से है, तब वे प्रसन्न मन होकर चले, उनके मन में तृण के समान (जरा सा) भी डर नहीं रह गया॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु पर्णशाला में इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानों भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनो शरीर धारण किये सोह रहे हों॥३२१॥

विशेष—(१) 'फेरे फिरे'—श्रीअवध और श्रीमिथिला के निवासियों की सेवा के लिये जो कोल-किरात आदि आये थे, उन सबको श्रीरामजी ने विदा किया। वे जाना नहीं चाहते थे, लौटाने पर लौटे। बलात् लौटाये गये, प्रेम के वश जाते नहीं थे। 'जोहारि-जोहारी'—बहुत हैं, इससे दो बार कहा गया।

(२) 'बैठि बट-छाँहीं···प्रिय परिजन·····'—जब तक सबकी विदाई में लगे थे, सावधान थे, नहीं तो वे सब भी बहुत रोते। जब सब चले गये, तब सब प्रिय जनों का स्मरण करके विलख रहे हैं।

यह माधुर्य की शोभा है, अन्यथा आप कुछ निष्ठुर कहे जाते। 'प्रेमबस बरनी'—छोटे भाई की प्रशंसा करना लौकिक नियम के विरुद्ध है, पर प्रेमवश हो लौकिक नियम तोड़कर वर्णन किया।

(३) 'जल मीना'—मछलियाँ जल के वियोग में ही तड़पती हैं, पर इस समय जल में रहती हुई भी तड़प रही हैं, क्योंकि इस समय सबकी आत्मा-रूप ब्रह्म में ही वियोग की दशा वर्त्तमान है। 'कहि गति घरघर की'—ये लोग अपने घर-घर की दुर्दशा सुनाकर श्रीअवधवासियों से अपने दुःख को अधिक जनाते हैं कि जिससे हमलोगों के दुःख को देखकर उधर का वियोग-दुःख कम हो और इधर की ओर चित्त दें। पुनः अपने परिजनों के प्रति आर्त्त होकर हमलोगों के उच्चाटन आदि करने को बुरा न मानें। 'खरोसो' यहाँ श्लिष्ट है, इसके 'ठीक-सा' और 'तृण के समान' ये दो अर्थ हैं। यह श्लिष्ट मानकर अर्थ करना उत्तम है, क्योंकि देवों को पहले उनके भ्रम का निराकरण करके ही भरोसा दिया जा सकता है। प्रभु भक्तों के विरह के प्रति विरह का अभिनय कर रहे हैं। देवों को दूसरा ही भ्रम छा गया। उन्हें दो० १३३ चौ० १-४ की सान्त्वना भूल गई।

(४) 'भगति ज्ञान बैराग जनु'—पतिव्रता का भाव पति में भक्ति का है। अतः, पति में निष्ठा से श्रीसीताजी की भक्ति कही गई। श्रीरामजी निर्लिप्त भाव से रहने के कारण ज्ञान रूप, और जगत् का राग तोड़े हुए स्वामी में अनुरक्त रहने से श्रीलक्ष्मणजी वैराग्य रूप कहे गये हैं। भक्ति और ज्ञान में पति-पत्नी का भाव अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥" (बा० दो० १४२)।

श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १ में ज्ञान, वैराग्य भक्ति के पुत्र कहे गये हैं, पर यहाँ पति-देवर। इसका समाधान यह है कि जो ज्ञान भक्ति से प्रथम हो, यथा—होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (दो० ९२), वह पति है और जो नवधा आदि भक्ति करते हुए पीछे हो, वह पुत्र के समान है। जैसे कि शुकदेव और उद्धव को ज्ञान पहले हुआ और भक्ति पीछे हुई एवं ध्रुव-प्रह्लाद को भक्ति ही पहले हुई। पीछे परा भक्ति में ही ज्ञान की वृत्ति स्वतः आ गई।

'परन कुटीर'—पूर्व "रुचिर निकेत" (दो० १३३), एवं "परन निकेत" (दो० १४१), कहा था, क्योंकि वहाँ भोगी 'मदन···रति रितुराज समेत' जिमि बासव बस···' से उपमित किया गया था। यहाँ 'परन कुटीर' कहा है, क्योंकि यहाँ 'भगति ज्ञान बैराग्य' से उपमित किया गया है, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-वाले प्रायः कुटियों में रहते हैं।

मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। रामबिरह सब साज बिहालू॥१॥
प्रभु - गुन - ग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥२॥
जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ॥३॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। राम-सखा सब कीन्ह सुपासू॥४॥
सई उतरि गोमती नहाये। चौथे दिवस अवधपुर आये॥५॥
जनक रहे पुर बासर चारी। राज काज सब साज सँभारी॥६॥
सौंपि सचिव गुरु भरतहिं राजू। तिरहुति चले साजि सब साजू॥७॥
नगर-नारि-नर गुरु सिख मानी। बसे सुखेन राम - रजधानी॥८॥

दोहा—राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥३२२॥

अर्थ—मुनि, ब्राह्मण, गुरुजी, श्रीभरतजी और राजा श्रीजनकजी एवं सारा साज-समाज सभी श्रीरामजी के विरह में विह्वल हैं ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी के गुण-समूह को मन में विचारते हुए मार्ग में सभी चुपचाप चले जा रहे हैं ॥२॥ पहले दिन यमुना उतरकर सब कोई पार हुए, वह दिन उन्हें बिना भोजन के ही बीता ॥३॥ गंगाजी उतरकर (शृंगवेरपुर में) दूसरा निवास हुआ, वहाँ श्रीरामजी के सखा निषाद-राज ने सब सुभीता (सुख का साज) किया ॥४॥ तीसरे दिन सई उतरकर गोमती में स्नान किया और चौथे दिन श्रीअवधपुर में आ पहुँचे ॥५॥ श्रीजनकजी चार दिन श्रीअवध नगर में रहे, राज्य के सब कार्य और सब साज की सँभाल कर ॥६॥ मन्त्री, गुरु और श्रीभरतजी को राज्य सौंपकर और फिर अपना सब साज-सामान ठीक करके (अपने) तिरहुत देश को चले ॥७॥ नगर के सभी स्त्री-पुरुषों ने गुरुजी की शिक्षा मानकर श्रीरामजी की राजधानी श्रीअयोध्याजी में सुख-पूर्वक निवास किया ॥८॥ श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सब लोग नियम और उपवास (वा, उपवास के नियम) कर रहे हैं। भूषण और भोग के सुख को छोड़-छोड़कर अवधि की आशा मात्र से जी रहे हैं ॥३२२॥

विशेष—(१) 'जमुना उतरि पार···'—श्रीअवध से जाते समय यमुना से चित्रकूट दो दिन में पहुँचे थे और लौटने में एक ही दिन लगा, क्योंकि उस समय श्रीभरतजी पैदल थे और अब रथ पर हैं, यथा—"ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥" (वाल्मी० २।११३।१), पुनः इस समय सब लोगों पर देवमाया भी लगी है, जिससे उच्चाटन की उतावली में दूना बल हो गया है।

(२) 'सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू।'—राजा ने यथायोग्य कार्य का विभाग कर दिया कि मन्त्री तो व्यवहार करें, गुरुजी उनपर देखभाल रक्खें और श्रीभरतजी आज्ञा दें।

(३) 'गुरु सिख मानी···'—गुरुजी ने शिक्षा दी कि पुरी श्रीरामजी की है, इसकी रक्षा के लिये उन्होंने पादुकाएँ दी हैं। उनके दर्शनों की लालसा में धैर्य-पूर्वक रहो। अवधि के अन्त में श्रीरामजी आकर अवश्य मिलेंगे।

(४) 'करत नेम उपवास'—किसीने पूजा-पाठ के नियम लिये, किसीने फलाहार, दुग्धाहार एवं जलाहार आदि के भी नियमित अंश के नियम लिये। किसीने अमुक-अमुक तिथियों के उपवास के भी नियम रक्खे, इत्यादि। यह सब श्रीरामजी के दर्शनों के लिये करते हैं कि १४ वर्ष पर उन्हें सकुशल लौटकर आये हुए देखें, वस्तुतः यह श्रीराम-भक्ति ही है। पुनः श्रीरामजी भोग छोड़े हुए हैं तो ये भक्त कैसे भोग ग्रहण करें—"तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही।" (दो० २९०)।

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे ॥१॥
पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु - सेवकाई ॥२॥
भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे ॥३॥
ऊँच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू ॥४॥
परिजन पुरजन प्रजा बुलाये। समाधान करि सुबस बसाये ॥५॥
सानुज गे गुरु - गेह बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी ॥६॥
आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तनु पुलकि सप्रेमा ॥७॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम - सार जग होइहि सोई ॥८॥

दोहा—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु - पादुका, बैठारे निरुपाधि ॥३२३॥

शब्दार्थ—ओधे (ओधना, सं० आबन्धन)=बँधना, लगना। गनक = ज्योतिषी। निरुपाधि = उपद्रव रहित, निर्विघ्न, धर्म-चिन्ता-रहित।

अर्थ—श्रीभरतजी ने मन्त्रियों और अच्छे सेवकों को समझाया, शिक्षा पाकर वे सब अपने-अपने काम में लग गये ॥१॥ फिर छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को बुलाकर शिक्षा दी और उनको सब माताओं की सेवा सौंपी ॥२॥ ब्राह्मणों को बुलाकर श्रीभरतजी ने हाथ जोड़ प्रणाम करके विशेष नम्रता से प्रार्थना की ॥३॥ कि ऊँचा-नीचा, भला-बुरा, जो कुछ कार्य हो, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजियेगा, संकोच न कीजियेगा ॥४॥ फिर कुटुम्बी, पुरवासी और प्रजा को बुलाया, सबको सान्त्वना देकर स्वतन्त्रतापूर्वक (सुख से) बसाया ॥५॥ फिर भाई के साथ गुरुजी के घर गये और दंडवत्-प्रणाम करके हाथ जोड़ उनसे बोले ॥६॥ कि आज्ञा हो, तो नियम-सहित रहूँ, श्रीवसिष्ठ मुनि शरीर से पुलकित होकर प्रेम सहित बोले ॥७॥ कि जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वही जगत् में धर्म का सार तत्त्व होगा ॥८॥ यह सुनकर, शिक्षा और बड़ी आशिष पाकर ज्योतिषियों को बुला उनसे दिन (मुहूर्त्त) शोधवा कर प्रभु श्रीरामजी की पादुकाओं को निर्विघ्न एवं धूमधाम से सिंहासन पर स्थापित किया ॥३२३॥

विशेष—(१) 'ओधे' अर्थात् नियुक्त किये हुए लगे, इससे हर्ष-रहित सूचित किया।

(२) 'ऊँच नीच कारज···'—ऊँचा-नीचा एवं भला-बुरा ऐसा कहने का मुहावरा है, इसका तात्पर्य यह कि जो कोई भी कार्य हो, कहने में संकोच न कीजियेगा।

(३) 'समाधान करि सुबस बसाये'—वाल्मीकीय अ० स० ११५ श्लोक १५-१६ में कहा गया है—"पदुका-रूपी थाती सिर पर रखकर दुःख-सन्तप्त श्रीभरतजी प्रजा से बोले कि ये पादुकाएँ श्रीरामजी के चरणों के प्रतिनिधि हैं, अतएव इनपर छत्र धारण करो, इन्हींसे राज्य में धर्म स्थापित रहेगा।।" इन्हींसे सबका योगक्षेम होगा, यथा—"एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमौ विधास्यतः।' (वाल्मी० २।११२।२१), श्रीभरतजी ने सबको यह भी समझाया कि श्रीरामजी ने वचन दिया है कि वे लौटकर अवश्य राजा होंगे, यथा—"अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः। भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥" (वाल्मी० २।१११।३१), इत्यादि रीति से सबको सान्त्वना देकर सुख पूर्वक बसाया।

(४) 'सानुज गे गुरु-गेह···'—क्योंकि दोनों भाइयों को नियम से रहना है, यथा—"भरत सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है। राम-लखन रन जोति अवध आए, कै धौं मोहि भ्रम, कै धौं काहू कपट ठयो है॥" (गी० लं० १), अर्थात् जैसे श्रीरामजी की भक्ति से श्रीलक्ष्मणजी ने मुनि-वेष आदि रक्खे हैं, वैसे ही श्रीशत्रुघ्नजी भी श्रीरामजी एवं श्रीभरतजी की भक्ति से उन्हींके समान वेष आदि रक्खे हैं।

(५) शत्रुघ्नजी को माताओं की सेवा दी गई है, वे उनकी देख-भाल रखते हैं। सेवा में तो बहुत दासियाँ हैं ही।

(६) 'बोले मुनि तनु पुलकि सप्रेमा।'—यहाँ क्रमशः वचन, तन और मन से गुरुजी की प्रसन्नता है।

(७) 'समुझब कहब करब तुम्ह···', यथा—"सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरतत्वया।" (वाल्मी० २।११५।५), "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥" (गीता ३।२१)

तथा—"यद्यच्छ्रीर्पण्याचरितं तत्तदनुवर्त्तते लोकः ॥" (भाग ५।४।१५), अर्थात् महान् पुरुष जैसा आचरण करते हैं वैसा अन्य साधारण लोग भी अनुकरण करने लगते हैं, तथा—"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥" (महा० वन० ३१३।११७)।

(७) 'बैठारे निरुपाधि'—श्रीरामजी के अभिषेक में उपाधि (विघ्न) हुई, पादुकाओं के अभिषेक में नहीं। वा, पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित कर स्वधर्म-हानि की धर्म-चिन्ता से रहित हुए। सेवक-धर्म-निर्वाह का उत्तम आधार मिल गया, क्योंकि उपाधि का अर्थ धर्म-चिन्ता भी होता है।

'लै पादुका अवधपुर आये'-प्रकरण समाप्त।

'भरत रहनि'-प्रकरण

राममातु गुरुपद सिर नाई। प्रभु - पद - पीठ - रजायसु पाई ॥१॥
नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवास धरम-धुर-धीरा ॥२॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुससाथरी सँवारी ॥३॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा ॥४॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी ॥५॥

शब्दार्थ—तृन तूरी = तृण तोड़े हुए के समान, यथा—"देह गेह सबसों तृन तोरे।" (दो० ६९), देखिये।

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौसल्याजी के और गुरुजी के चरणों में सिर नवा कर तथा प्रभु श्रीरामजी की खड़ाऊँ की आज्ञा पाकर ॥१॥ धर्म की धुरी धारण करने में धीर श्रीभरतजी ने नन्दिग्राम में पर्णकुटी बना करके निवास किया ॥२॥ उन्होंने सिर पर जटाओं का जूड़ा और (शरीर में) मुनि वस्त्र, धारण किया। पृथ्वी को खोदकर (उस गुफा में) कुश की साथरी बिछाई ॥३॥ भोजन, वस्त्र, बरतन और व्रत आदि के नियम (रखते हुए) ऋषियों के कठिन धर्मों को प्रेमपूर्वक करते हैं ॥४॥ भूषण, वस्त्र आदि भोग के सुख-समूह को मन, तन और वचन से तृण के समान तोड़कर (ममत्व रहित एवं अनायास ही श्रीभरतजी ने) त्याग दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-पीठ-रजायसु पाई।'—पूर्व दो० ३१५ चौ० ८ पर कहा गया कि खड़ाऊँ आदि प्रभु के सभी पदार्थ सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, चेतन हैं, बोलते भी हैं। अतः, श्रीभरतजी उनसे आज्ञा पाते थे।

(२) 'नंदिगाँव करि परनकुटीरा।'—श्रीरामजी दक्षिण की ओर गये हैं, इससे आपने भी दक्षिण की ओर ही पहली मंजिल पर निवास किया कि जिससे श्रीरामजी लौटें तो वहीं से अगवानी करें। श्रीरामजी पर्णशाला में रहते हैं, तो आपने भी पर्णकुटी ही बनाई। नन्दी धर्म का स्वरूप है, क्योंकि धर्म भी चतुष्पाद है और उसकी ध्वजा में वृष का स्वरूप रहता है, आप 'धरम-धुर-धीर' हैं, इसीसे आपने नन्दिग्राम को स्वीकार किया। श्रीरामजी ने नगर को छोड़ा है, तो आप भी बाहर ही रहते हैं।

(३) 'जटाजूट सिर···', यथा—"स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः। नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥" से "चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥" (वाल्मी० २।११५।२१-२४)। 'महि खनि कुस-साथरी···'—श्रीभरतजी ने ही कहा है—"सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा।" (दो० २०२), उसका निर्वाह यहाँ भी कर रहे हैं कि जहाँ स्वामी के चरण पड़ें, उससे नीचे ही सेवक का सिर रहना चाहिये। जिससे स्वामी की चरण-रज सिर पर ही रहे, जब श्रीरामजी पृथ्वी

पर ही सोते हैं, तो आप उनसे नीचे भूमि खोदकर रहते हैं। इतना खोदा है कि खड़े होने पर भी सिर नीचे ही रहे। 'कठिन रिषिधरम सप्रेमा'—जो भोजन, वस्त्र आदि के नियम मुनियों के लिये कठिन हैं, उन्हें राजकुमार होकर निबाह रहे हैं—आगे 'सुनि ब्रत नेम साधु···' (दो० ३२५)—देखिये। वह भी ऊपर ही से नहीं, किन्तु 'सप्रेमा' प्रीति और श्रद्धा-सहित करते हैं, क्योंकि धर्म श्रद्धा-सहित ही सार्थक होता है, यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ८६)।

'मन तन बचन तजे···'—मन से स्मरण नहीं, तन से स्पर्श नहीं और वचन से इनकी चर्चा नहीं करते। राजसी भूषण-वस्त्र और अष्टाङ्ग भोग इनका त्याग है। उपर्युक्त ऋषि वृत्ति से रहते हैं।

अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥६॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥७॥
रमा-बिलास राम - अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥८॥

दोहा—राम-प्रेम-भाजन भरत, बड़े न येहि करतूति।
चातक हंस सराहियत, टेक बिबेक बिभूति ॥३२४॥

अर्थ—जिस श्रीअवध के राज्य को इन्द्र ललचाते हुए सराहते हैं और जिस श्रीदशरथजी के धन को सुनकर कुबेर लज्जित होते हैं ॥६॥ उस नगर में भी श्रीभरतजी स्पृहा-रहित होकर इस प्रकार बसते हैं, जिस प्रकार भौंरा चम्पा के बाग में (निःस्पृह होकर रहता है) ॥७॥ श्रीरामजी के अनुरागी बड़भागी लोग लक्ष्मी के विलास को वमन के समान (घृणित मानकर) त्याग देते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी तो श्रीरामजी के प्रेम के पात्र हैं, वे कुछ इस करतूत से बड़े नहीं हुए (अर्थात् उनके विषय में यह सामान्य बात है) क्या चातक टेक की और हंस विवेक की विभूति से सराहे जाते हैं? (अर्थात् टेक और विवेक गुण चातक और हंस में सहज स्वभाव से हैं, वैसे ही नेम-प्रेम एवं विवेक श्रीभरतजी में तो स्वभाव-सिद्ध हैं एवं और भी श्रीरामजी के प्रेमियों में होना ही चाहिये। सराहा तो वह जाता है, जो स्वाभाविक से विलक्षण कार्य हो) ॥३२४॥

विशेष—(१) 'चंचरीक जिमि चंपक बागा।'—श्रीअवधराज का ऐश्वर्य अत्यन्त सुगन्ध-पूर्ण चम्पा के बाग के समान है। भौंरा चम्पा पर नहीं बैठता, उसके रस को नहीं ग्रहण करता। वैसे विभूति-पूर्ण नगर में रहते हुए भी श्रीभरतजी उससे विमुख रहते हैं। तात्पर्य यह कि जब श्रीरामजी इसे भोगेंगे, तब ये भी इसे प्रसाद-रूप से ग्रहण करेंगे, दास बिना इष्ट के भोग लगाये नहीं पाते (भोजन करते)। श्रीरामजी अभी कन्द-मूल, फल ही पाते हैं, वही श्रीभरतजी भी पाते हैं। यहाँ तक उपर्युक्त 'अवधराज' और 'दसरथ धन' के उपलक्ष में कहा। आगे दूसरे दृष्टान्त—'रमा बिलास ···'—से यह दिखाते हैं कि अन्य रामानुरागी भी वैराग्यवान् होते हैं। वे प्रथम रमाविलास (घर का धन-ऐश्वर्य एवं उसकी ममता) त्यागकर भजन करते हैं, तो माया प्रलोभन के लिये बड़े-बड़े ऐश्वर्य प्राप्त कराती है, पर वे उसे वमन (वमन की हुई वस्तु) के समान त्याग देते हैं, उससे घृणा करते हैं कि जिसे एक बार त्याग दिया, वही फिर भोगना श्वान की तरह वमन की हुई वस्तु का खाना है, यथा—"यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गावपनात्पुनः। यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥" (भाग० ७।१५।३६), अर्थात् जो धर्म आदि त्रिवर्ग का आशय रूप गृहस्थी का त्याग कर संन्यास लेकर उसीमें प्रवेश करता है वह वमन किये हुए को फिर खानेवाले के समान निर्लज्ज है। (इस विषय पर दोहावली २५३-२५४ का 'सिद्धान्त-तिलक' देखें)। ऐसी वृत्ति क्यों हो जाती है? इसका भाग 'राम अनुरागी' में है, अर्थात् रामानुराग के समक्ष विषय-सुख फीका एवं अति तुच्छ लगता है, यथा—"जौ मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस

रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।" (वि० १६९), तथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते॥" (आलवन्दारस्तोत्र), जब अन्य रामानुरागियों की यह त्याग-वृत्ति है, तो श्रीभरतजी के लिये क्या कहना ? इनके उपर्युक्त त्याग में आश्चर्य नहीं है।

(२) 'चातक हंस' के उदाहरण दो० २०४ चौ० ४ और बा० दो० ६ भी देखिये। यदि काकु से उपर्युक्त अर्थ न लें तो यों भी अर्थ की संगति की जाती है कि भरतजी में ये टेक और विवेक की विभूतियाँ तो स्वाभाविक हैं, इससे ये सराहनीय नहीं हैं। हाँ, चातक और हंस सराहे जाते हैं, क्योंकि पक्षी योनि में ये टेक एवं विवेक विभूति से सराहनीय हैं। राम-प्रेम-भाजन में तो उपर्युक्त रीति से टेक-विवेक स्वतः रहते ही हैं।

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजबल मुख-छबि सोई॥१॥
नित नव राम-प्रेम-पन पीना। बढ़त धरमदल मन न मलीना॥२॥
जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥३॥
सम दम संयम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥४॥
ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी। स्वामि-सुरति सुरबीथि बिकासी॥५॥
राम-प्रेम-बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा॥६॥
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥७॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस-गनेस-गिरा-गम नाहीं॥८॥

शब्दार्थ—निघटत = घटता है, कम होता है। घटइ = संयुक्त होता है, घट धातु के अनेक अर्थ हैं, पर यहाँ 'संयुक्त होना' अर्थ है, यथा—"सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।" (दो० २५७), "सब बिधि घटब काज मैं तोरे।" (कि० दो० ६), 'घटइ' का घटना अर्थ नहीं है, क्योंकि तप से तेज बढ़ता है। बेतस = आकाश, बेंत। सुरबीथी = नक्षत्रों का मिलित मार्ग, आकाशगंगा। ध्रुव से लेकर उत्तर-दक्षिण में बहुत-से तारे मिले हुए आकाश में दूध की राह-से दीखते हैं, वही सुरबीथी है। चोखा = सुन्दर, स्वच्छ।

अर्थ—(श्रीभरतजी का) शरीर दिनोंदिन दुबला होता जाता है, पर वह तेज से संयुक्त हो रहा है और बल एवं मुख की शोभा वैसी ही है॥१॥ श्रीरामजी के प्रेम का प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है, धर्म का दल बढ़ता है, मन कभी मलिन नहीं होता, अर्थात् स्वच्छ रहता है॥२॥ जैसे शरद ऋतु के प्रकाशित होने से जल घटता है, आकाश शोभित होता है और कमल खिलते हैं॥३॥ शम, दम, संयम, नियम और उपवास श्रीभरतजी के हृदय-रूपी निर्मल आकाश के नक्षत्र (तारे) हैं॥४॥ (उस आकाश में) विश्वास ध्रुव (नक्षत्र) है, अवधि पूर्णिमा है, स्वामी की सुधि (एक तार स्मृति) सुरबीथी-सी शोभित है॥५॥ श्रीरामप्रेम-रूपी अचल और दोष-रहित (निष्कलंक) चन्द्रमा समाज के साथ नित्य स्वच्छ एवं सुन्दर सोहता है॥६॥ श्रीभरतजी की रहनि, समुझनि, करतूत, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और निर्मल विभूति का॥७॥ वर्णन करने में समस्त उत्तम कवि सकुचते हैं, शेषजी, गणेशजी और सरस्वतीजी को भी गम्य नहीं है, अर्थात् उन्हें भी अगम्य है, तो दूसरों की कौन गणना ?॥८॥

विशेष—(१) 'घटइ तेजबल मुख-छबि सोई'—तप से तेज बढ़ता है, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिसतारा।" (उ० दो० ८९), इसलिये 'घटइ' का 'संयुक्त होता है' यह अर्थ किया गया है। आगे 'मुख-छबि सोई' से भी यही सिद्ध होता है। बल की पहचान तो हनुमानजी ने अच्छी तरह की है,

था—"चढ़ मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहिं जहँ कृपा निकेता॥" (लं० दो० ५९), तथा—"तुलसी ों-ज्यों घटत तेज तनु त्यों-त्यों प्रीति अधिकाई। भये न हैं न होहिगे कबहूँ भुवन भरत से भाई॥" (गी० अ० ९), इस पद में 'घटत तेज तनु' में तेज बढ़ना और तनु घटने (दुर्बल होने) का अर्थ है। 'धरमदल', था—"जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। हँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥" (उ० दो० ४८)।

(२) 'जिमि जल निघटत···'—शरद् ऋतु में जल घटता है और निर्मल होता है वैसे ही नित्य ये श्रीराम-प्रेम के प्रकाश से श्रीभरतजी की देह दुबली होती जाती है, पर तेज बढ़ता जाता है। हाँ आकाश निर्मल और कमल का विकसना है वैसे यहाँ हृदय का निर्मल होना और मन का प्रफुल्लित ना है।

(३) 'सम दम संयम नियम उपासा।'—संयम-नियम के योगसूत्र में ५-५, स्मृतियों में १०-१० ोर श्रीमद्भागवत में १२-१२ भेद भी माने जाते हैं। "अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः॥ आस्तिक्यं ह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमा भयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्॥ तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टि-चार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृतः॥" (भाग० ११।१९।३३-३५), यहाँ संयम १२, यम १२ और शम, दम, उपवास भी मिलकर २७ होते हैं। नक्षत्र भी २७ ही होते हैं, जिनकी 'सुरवीथी' ती है, यह उपमा का मेल है। ये सब श्रीभरतजी के हृदय में श्रीराम-प्रेम-रूपी चन्द्रमा के साथ जगमगा हैं। श्रीरामजी उत्तर से दक्षिण लंका तक बराबर गये हैं, निषादराज से समाचार पाकर इनकी सुरति वैसे ही क्रमशः लगी रहती है, साथ ही शम-दम आदि भी स्वतः होते जाते हैं। यही 'सुरवीथी' है, जो उत्तर ध्रुव से लेकर मूल नक्षत्र तक दक्षिण को जाती है।

(४) 'ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी।'—ध्रुव अविचल हैं, वैसे ही श्रीरामजी के मिलने का का विश्वास अचल है। अवधि १४ वर्ष बाद की है, वैसे ही १४ वीं तिथि चतुर्दशी के बाद पूर्णिमा ती है। ध्रुव नक्षत्र से दशतारों के सहित मूल नक्षत्र तक शिशुमार चक्र 'सुरवीथी' है वैसे ही भरतजी के हृदय में भी दशमुख-वध-चरित तक सुरति है। वहाँ चन्द्रमा पूर्ण यहाँ श्रीराम-प्रेम पूर्ण। राम-प्रेम-बिधु अचल अदोषा।' अर्थात् यह प्रेमरूपी चन्द्रमा अचल और निर्दोष है। 'सहित समाज हि···'—वहाँ चन्द्रमा रोहिणी, बुध और नक्षत्र समाज सहित शोभित होता है। यहाँ भी श्रीराम-प्रेम साथ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीजानकीजी एवं उनके परिकरों में प्रेम है, इससे यह प्रेम नित्य नया हता है।

(५) 'भरत रहनि समुझनि·····'—'रहनि', यथा—मोहि भावति, कहि आवति नहिं भरत जू रहनि।···" (गी० अ० ८१), (यह पूरा पद देखिये)। यहाँ भी ऊपर 'रहनि' कही गई है कुश-साथरी छाना, गुफा खोदकर रहना, नियम आदि करना, इत्यादि। 'समुझनि', यथा—"साधन सिद्धि राम-पद-। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥" (दो० २८८), तथा श्रीरामजी को वन में समझकर उनके समान यम करना, पादुका को उनका साक्षात् चरण ही समझना, इत्यादि। 'करतूती', यथा—"राम प्रेम जन भरत, बड़े न येहि करतूत।" (दो० ३२४), 'भगति', यथा—"नित नव राम प्रेमपन पीना।" रति', यथा—"तेहि पुर बसत भरत बिनुरागा।" 'गुन', यथा—विनय शील आदि, यथा—"भूसुर लि भरत कर जोरे।···आयसुदेव···" इत्यादि। 'बिभूती', यथा—"राम प्रेम भाजन भरत···टेक वेक बिभूति" (दो० ३२४)। 'बिमल', यथा—क्योंकि अणिमादि प्रकृत होने से समल बिभूतियाँ हैं, की विभूति भक्ति एवं वैराग्य के सम्बन्ध की है, इससे निर्मल है। यहाँ 'रहनि' आदि सात गुण कहे , इनके भाव "भरत चरित कीरति···" (दो० २८७), में देखिये।

दोहा—नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राजकाज बहु भाँति ॥३२५॥

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥१॥
लखन-राम-सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं ॥२॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥३॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥४॥

अर्थ—प्रभु की पादुकाओं का नित्य-प्रति पूजन करते हैं, उनके हृदय में प्रीति नहीं समाती। वे (पादुकाओं से) आज्ञा माँग-माँगकर बहुत तरह के राज्य सम्बन्धी कार्य करते हैं ॥३२५॥ शरीर पुलकित है, हृदय में श्रीसीतारामजी (विराजते) हैं, जीभ से नाम जपते हैं और नेत्रों से जल चला जाता है ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी वन में बसते हैं और श्रीभरतजी घर में रहकर तप से शरीर को कसते हैं ॥२॥ सब लोग दोनों ओर की (व्यवस्था) समझकर कहते हैं कि श्रीभरतजी सब तरह से प्रशंसा के योग्य हैं ॥३॥ श्रीभरतजी के नेम और व्रत को सुनकर साधुगण भी सकुचा जाते हैं तथा उनकी दशा देखकर श्रेष्ठ मुनि लोग लजा जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'नित पूजत प्रभु पाँवरी·····'—भगवान् के अर्चा-विग्रह की तरह श्रीपादुकाजी की नित्य पूजा करते हैं, पूजा प्रेम से होनी चाहिये, वह भी है, यथा—'प्रीति न हृदय समाति।' अत्यन्त प्रीति से पूजा करते हैं, इससे पादुका रूप से ही भगवान् प्रकट आज्ञा भी देते हैं, यथा—"अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा ॥" (अर० दो० ९), "प्रेम ते प्रगट होहिं मै जाना।" (बा० दो० १८४)। अतः, 'माँगि-माँगि आयसु···' कहा गया है। 'माँगि माँगि आयसु' से पादुका का चिद्रूप होना और बोलना भी सूचित किया। यहाँ 'पूजत' में कर्म, 'प्रीति' में मन और 'माँगि माँगि आयसु' में वचन की भक्ति है। 'राजकाज बहु भाँति', यथा—"सबालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयं। भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् ॥ ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयास सर्वदा ॥ तदाहि यत्कार्यमुपैति किञ्चिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। सपादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥" (वाल्मी० २।११५।२२-२४), अर्थात् उन्होंने स्वयं उन पादुकाओं पर छत्र तान और चँवर डुला, सब राज्य का शासन उन पादुकाओं के प्रति निवेदित किया। श्रीमान् भरतजी इस प्रकार पादुकाओं का राज्याभिषेककर उनके अधीन हो राज्यशासन करने लगे। उस समय राज्य-शासन का जो कार्य होता, वह पादुकाओं से कह कर किया जाता। भेंट आदि आने पर पादुकाओं के समक्ष रक्खी जाती थी, पीछे उसका विधिवत् बर्ताव किया जाता था।

(२) 'पुलक गात हिय·····'—यहाँ इनके उत्तम भजन की रीति दिखाते हैं कि जीभ से नाम जपते है, मन से ध्यान बना रहता है और प्रेम से पुलकावली और अश्रुपात होते रहते है। 'नित पूजत' ···से स्पष्ट है कि नन्दिग्राम में ही पादुका को स्थापित किया था। वाल्मीकीय अ० स० ११५ श्लोक २१ में स्पष्ट कहा गया है, यथा—"नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा।"

(३) 'भरत भवन बसि·····'—जैसे अग्नि में तपाकर सोना कसा जाता है, वैसे श्रीभरतजी तापश्चर्या के क्लेशों से शरीर को कस रहे हैं। भाव यह कि स्वामी तो तप कर रहे हैं, हम भोग-विलास कैसे करें? वन में रहना नहीं है, स्वामी की आज्ञा श्रीअवध का पालन करने के लिये। अतः, यहीं रहकर वन के तपस्वियों की रीति निबाहते हैं। इनकी रीति गी० अ० ७६-८२ में देखिये।

(४) 'दोउ दिसि समुझि···'—उधर—'लखन-राम-सिय कानन बसहीं।' और इधर—'भरत भवन बसि तप तन कसहीं।' ये ही दोनों दिशाओं की व्यवस्था हैं। दोनों तरफ की चर्या को समझकर लोग श्रीभरतजी की ही प्रशंसा करते हैं—

(५) 'सुनि ब्रत नेम साधु···'—प्रशंसा की बात यह है कि उधर तो श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं, परस्पर सापेक्षता से बहुत कुछ सुपास है, पर श्रीभरतजी ने पितृ-दत्त राज्य सुख छोड़कर मन, वचन, कर्म से दुर्घट नियम धारण किये हैं, जिन्हें सुनकर ही साधु सकुच जाते हैं (उन्हें देखने और करने का साहस कैसे होगा ?) कि ऐसे व्रत-नेम के साधन हमसे नहीं होने के, यथा—"गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम्॥ महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम्॥" (भाग० ९।१०।३४-३५), अर्थात् महाकारुणिक श्रीरघुनाथजी यह सुनकर, कि मेरे भाई श्रीभरतजी (मेरे वनवास के कारण) भूमि की वेदी पर शयन करते हुए जटा और वल्कल वस्त्र धारण कर गोमूत्र में पकाया हुआ यव-अन्न मात्र खाकर रहते हैं, बड़े दुःखी हुए। पुनः इनकी प्रेम-दशा देखकर श्रेष्ठ मुनि-गण लज्जित होते हैं कि यह प्रेम-दशा और वैराग्य-वृत्ति हमलोगों में चाहिये, क्योंकि हमलोगों ने इसीलिये घर-बार छोड़ा है, पर हमलोग इनके अल्पांश-भर भी नहीं हैं और ये घर-बार सँभालते हुए ऐसी उच्च दशा को प्राप्त हैं, हमारी दशा तुच्छ है।

परम पुनीत भरत - आचरनू। मधुर मंजु मुद - मंगल-करनू॥५॥
हरन कठिन कलि-कलुप-कलेसू। महा-मोह-निसि-दलन दिनेसू॥६॥
पाप - पुंज - कुंजर - मृगराजू। समन सकल संताप-समाजू॥७॥
जन - रंजन भंजन भव-भारू। राम - सनेह सुधाकर - सारू॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी का परम पवित्र और मधुर-आचरण सुन्दर आनन्द-मङ्गल का करनेवाला है॥५॥ यह कठिन कलिकाल के पापों और दुःखों का हरनेवाला है। मोह-रूपी रात्रि का नाश करने के लिये सूर्य-रूप॥६॥ और पाप-समूह-रूपी हाथी का नाश करने के लिये सिंह है। सम्पूर्ण सन्ताप के समाजों का नाश करनेवाला है॥७॥ भक्तों को प्रसन्नता देनेवाला और भव (जन्ममरण) रूपी भार का नाश करनेवाला है। पुनः श्रीरामजी के स्नेह-रूपी चन्द्रमा का सार (अमृत) है॥८॥

विशेष—(१) 'परम पुनीत भरत···'—स्वार्थ-रूपी अपावनता-रहित, परमार्थमय और परम पवित्र है।। कर्ण-कटुता आदि दोषों से रहित श्रवण-सुखद होने से मधुर है। विचारने से कामादि दोष-रहित 'मंजु' है। 'मंजु मुद-मंगल-करनू', यथा—"मंजुल मंगल मोद प्रसूती।" (बा० दो० × चौ० ३) देखिये।

(२) 'हरन कठिन कलि···'—कलिकाल पापमय है, जब इसके पापों के क्लेशों का हरनेवाला है, तब और युगों के पाप तो इसकी अपेक्षा कम ही होते हैं, उनका नाश होना तो कोई बात ही नहीं। 'महामोह निसि ·'—ईश्वर में सन्देह होना महामोह है, यथा—"महामोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८)—गरुड़ का महामोह, तथा—"महामोह निसि सूतत जागू।" (ल० दो० ५५), रावण का। श्रीभरतजी के आचरण सुनने से ईश्वर में सन्देह नहीं रह जाता। यही महामोह का नाश है।

(३) 'पाप-पुंज-कुंजर-मृगराजू।'—'पाप', यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥" (दो० १६३), ऐसे पाप-समूह हाथी के समान प्रबल हैं, वे सब श्रीभरतजी के आचरण-रूपी सिंह के गर्जन-रूपी श्रवण से डरकर भाग जाते हैं, यथा—"जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।" (दो० २२९), 'समन सकल संताप-समाजू।'—ताप तीन तरह के हैं, यथा—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥" (उ० दो० २०), श्रीरामजी-राज्य के समान ही

यहाँ श्रीभरत-आचरण के श्रवण का भी फल है। इन तीनों तापों के अवान्तर भी बहुत-से भेद हैं, इसलिये 'सकल' कहा है।

(४) 'जन-रंजन भंजन भव-भारू।'—भव को भार कहा है, क्योंकि कर्मों के वश बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है, जीव को बोझे की तरह ढोना पड़ता है, यथा—"जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।" (वि० ९८), "भव पंथ श्रमत अमित दिवस निसि काल करम गुननि भरे॥" (उ० दो० १२), पूर्व भी कहा गया है—"भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥" (दो० २२२)।

'राम-सनेह सुधाकर-सारू।'—श्रीरामजी का स्नेह चन्द्रमा है, सबका आह्लाद-वर्द्धक है, यह श्रीभरतजी का आचरण उसका भी सार है। भाव यह कि इनका आचरण श्रीराम-स्नेह का प्रकाशक है, क्योंकि चन्द्रमा में अमृत ही से गुण-वैभव है। यही बात इसके व्याख्या-रूप आगे छन्द में स्पष्ट है। जिसे श्रीराम-प्रेम का सार तत्त्व देखना हो, वह श्रीभरतजी के आचरण को पढ़े-सुने। यह शुद्ध श्रीराम-प्रेम का निचोड़-रूप है। पूर्व भी कहा गया—"राम-प्रेम-बिधु अचल अदोखा।" (दो० ३२४), "नव बिधु···पूरन राम-सुप्रेम पियूषा।···रामभगत अब अमिअ अघाहू।" (दो० २०८)।

छन्द—सिय - राम-प्रेम - पियूष - पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी-से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

सो०—भरत-चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय - राम - पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस - बिरति॥३२६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रेमवैराग्यसम्पादनो नाम
* द्वितीयः सोपानः समाप्तः *

अर्थ—श्रीसीतारामजी के प्रेम रूपी अमृत से परिपूर्ण श्रीभरतजी का जन्म जो नहीं होता तो मुनियों के मन को भी दुर्लभ यम, नियम, शम, दम आदि विषम व्रतों का आचरण कौन करता? अर्थात् कोई नहीं करता। दुःख, सन्ताप, दारिद्र्य, दम्भ और दूषण को सुयश के बहाने से कौन हरता? तथा इस कलिकाल में तुलसीदास ऐसे शठों को हठ-पूर्वक श्रीरामजी के सम्मुख कौन करता? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (एवं आशिष देते हैं) कि श्रीभरतजी के चरित को जो कोई आदर-पूर्वक नियम से सुनेंगे, उनको श्रीसीतारामजी के चरणों में अवश्य प्रेम होगा और संसार के विषय रसों से अवश्य ही वैराग्य भी होगा॥३२६॥ इति श्री·····प्रेम-वैराग्य प्राप्त करनेवाला दूसरा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) 'होत जनम न भरत को'—इसे छन्द के सब चरणों के साथ लगाना चाहिये। श्रीभरतजी का स्वरूप ही प्रेमामृत का पात्र है, पहले इनके यश को चन्द्रमा कहकर उसमें राम प्रेमामृत का होना कहा गया है, यथा—"पूरन राम सुप्रेम पियूषा।" (दो० २०८), अर्थात् श्रीभरतजी स्वयं प्रेमामृत से पूर्ण हैं और यश के द्वारा औरों को भी इन्होंने प्रेमामृत सुलभ किया है, यथा—"राम भगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥" (दो० २०८)।

(२) 'दुख दाह दारिद ···'—और प्राकृत मनुष्य के यश-कथन में मिथ्यात्व आदि दोष होते हैं, पर परम भक्त श्रीभरतजी के सुयश-कथन-श्रवण से दुःख आदि सब दोष छूटते हैं। यह तो और लोगों की बात हुई, अब ग्रन्थकार अपने सम्बन्ध के विशेष उपकार कहते हैं। 'हठि राम सनमुख करत को।'—भाव यह कि श्रीभरतजी के सुयश के साथ उनके राम-स्वभाव कथन आदि भी आते हैं, यथा—"राउरि रीति सुबानि बड़ाई।·····से "सकृत प्रनाम किये अपनाये॥" (दो० २९८) तक, इनसे भारी से भारी शठ भी श्रीराम-सम्मुख (शरण) होते हैं। यही शठों का हठात् शरण होना है। 'कलिकाल तुलसी···'—कलियुग में शरणागति मात्र रह गई, उसमें दृढ़ प्रतीति श्रीभरतजी के चरित्र से ही होती है। पूर्ण प्रतीति बिना शरणागति होती ही नहीं।

(३) 'भरत-चरित करि नेम·····'—इस काण्ड का पूर्वार्द्ध श्रीरामचरित है, इसलिये उसकी फलश्रुति आदि ही में कही गई है, यथा—"बरनउँ रघुबर बिमल यस, जो दायक फल चारि।" पीछे का आधा काण्ड श्रीभरत-चरित है। उसकी फलश्रुति यहाँ कहते हैं। इनके चरित में प्रेम-भक्ति और वैराग्य प्रधान हैं। इसीसे उन्हींकी प्राप्ति का माहात्म्य कहा गया कि इनका प्रेम सुनकर प्रेम होगा और ऐश्वर्य-त्याग सुनकर त्याग होगा। साधन एक-मात्र यही है कि नियम से और आदर-पूर्वक सुने। 'सुनहिं' में पठन, कथन आदि सभी अन्तर्भूत हैं। 'सादर' अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुने, यथा—"सुनहुँ तात मन मति चितलाई।" (अर० दो० १४), आदर-सहित वक्ता की ओर दृष्टि रहे, मन से मनन करते हुए बुद्धि से अर्थ समझते हुए और चित्त से अनुराग रक्खे। ग्रन्थ के चारो मुख्य वक्ताओं ने सादर सुनने को कहा है, श्रीगोस्वामीजी, यथा—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (बा० दो० ३४), श्रीयाज्ञवल्क्यजी—"तात सुनहु सादर मन लाई।" (बा० दो ४६), शिवजी—"सादर सुनु गिरिराज-कुमारी।" (बा० दो० ११३), भुशुंडीजी—"तात सुनहु सादर अति प्रीती।" (उ० दो० २२०), इत्यादि। 'करि नेम'—क्योंकि कवि ने भी इस काण्ड को अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक नियम-बद्ध रचा है।

जैसे श्रीरामजी के नाम, रूप और चरित मंगलकारी हैं—बा० दो० ६ चौ० २ देखिये, वैसे श्रीभरतजी के भी—

नाम—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार।···सुमिरत नाम तुम्हार।" (दो० २६३)।

रूप—"सकल सुमंगल मूल जग, भरत चरन अनुराग।" (दो० २६५)।

चरित—"परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥" (दो० ३२५)।

'इतिश्री ·····'—कितनी प्राचीन प्रतियों में इस काण्ड की इतिश्री नहीं पाई जाती। इसपर कहा जाता है कि श्रीभरतजी के चरित को अपार एवं अमित सूचित करते हुए यहाँ इति नहीं लगाई गई। आगे चलकर अर० दो० ६ पर इति है, वहाँ पर इति की रीति के अनुसार छन्द, दोहा और सोरठा साथ दिये गये हैं। वहाँ श्रीराम-चरित के प्रसंग को लेकर उसपर इति लगी है। श्रीवाल्मीकीजी ने भी उसी प्रसंग पर अयोध्याकाण्ड की इति लगाई है। पर इसमें कहा जा सकता है कि श्रीरामचरित भी तो अति अमित ही है, ऐसा बहुत स्थलों पर कहा गया है, तो उसकी ही इति क्यों लगाई गई ?

वस्तुतः इतिश्री तो अपनी रचना के सोपान की लिखी गई है, चरित की नहीं। इसका 'प्रेम-वैराग्य' सम्पादन नाम है, क्योंकि ऊपर यही काण्ड की फलश्रुति कही गई है, यथा—"सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति॥"

'भरत-रहनि'-प्रकरण समाप्त।

—:※:—